Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपाध्याय श्री मान विजय जी रचित

धर्म संग्रह

(तृतीय भाग)

पन्यास

श्री पदम विजय महाराज गणीवर्य

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

For Private and Personal Use Only

।। कोबातीर्थमंडन श्री महावीरस्वामिने नमः ।।

।। अनंतलब्धिनिधान श्री गौतमस्वामिने नमः ।। ।। गणधर भगवंत श्री सुधर्मास्वामिने नमः ।।

।। योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।। ।। चारित्रचूडामणि आचार्य श्रीमद् कैलाससागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।।

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर

(जैन व प्राच्यविद्या शोधसंस्थान एवं ग्रंथालय)

पुनितप्रेरणा व आशीर्वाद

राष्ट्रसंत श्रुतोद्धारक आचार्यदेव श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी म. सा.

जैन मुद्रित ग्रंथ स्केनिंग प्रकल्प

ग्रंथांक : १८६१

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-३८२००७ (गुजरात)
(079) 23276252, 23276204
फेक्स : 23276249
Websiet : www.kobatirth.org
Email : Kendra@kobatirth.org

शहर शाखा

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
शहर शाखा
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
त्रण बंगला, टोलकनगर
हॉटल हेरीटेज़ की गली में
पालडी, अहमदाबाद – ३८०००७
(079) 26582355

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

卐 नमः श्री जिन प्रवचनाय 卐

धर्म संग्रह

(साधु आचार धर्म पर अनेक शास्त्रों का आस्वादन)

तीसरा भाग

ग्रन्थकार व स्वोपज्ञकार :

पूज्य परम गुरु भट्टारक श्री विजयानंद सूरीश्वर जी के प्रशिष्य रत्न
परम पूज्य महोपाध्याय श्री मानविजय जी गणीवर्यः

संशोधक-संयोजक :

परम पूज्य विद्वच्छिरोमणि न्याय विशारद न्यायाचार्य
महोपाध्याय श्री यशोविजय जी गणीवर्यः

अनुवाद कर्ता :

परमपूज्य आचार्य श्री आत्म वल्लभ, ललित, पूर्णानंद सूरीश्वर जी
के कृपापात्र, अनेक तीर्थ उद्धारक
आचार्य देव श्रीमद् विजयप्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी
के शिष्य रत्न पन्यास प्रवर श्री पद्म विजयजी महाराज गणीवर्य

प्रकाशक :

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

हस्तिनापुर-250 404 (मेरठ) (यू० पी०)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रन्थ का नाम
धर्म संग्रह

ग्रन्थकार व व्याख्याकार :
महोपाध्याय श्री मानविजय जी

संशोधक :
महोपाध्याय श्री यशोविजय जी

हिन्दी अनुवादक :
पन्यास श्री पद्मविजय जी

भाग-तृतीय

प्रकाशक :
श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

आवृत्ति :
प्रथम 2200 प्रतियां

संस्करण :
प्रथम 1994

मूल्य : 90-00 रुपये

मुद्रक :
प्रिन्टोनिक्स
वैस्टर्न कचहरी रोड,
मेरठ-250 001 । फोन : 542302

प्राप्ति स्थान

श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम
हस्तिनापुर, मेरठ, यू० पी०
पिन कोड - २५०४०४

श्री नगीन चन्द जैन
नगीन प्रकाशन
वैस्टर्न कचहरी रोड,
मेरठ (यू० पी०)

कस्तूर चन्द अमीचन्द
१६, खान बिल्डिंग,
नवाब टेंक ब्रिज,
मझगांव, बम्बई-10

सरस्वती पुस्तक भंडार
रतन पोल, हाथी खाना,
अहमदाबाद (गुजरात)

सोमचन्द डी० शाह
जीवन निवास के सामने
पो०- पालीताणा (गुजरात)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पुरोवाक्

ज्ञान ही अमृत है, ज्ञान ही रसायन है और ज्ञान ही ऐश्वर्य है। अमृत समुद्र से उत्पन्न होता है, रसायन औषधियों से बनता है तथा ऐश्वर्य भौतिक सामग्री से अपेक्षित है, किन्तु ज्ञान समुद्र के बिना उत्पन्न होने वाला अमृत है। ज्ञान औषधियों के बिना बनने वाला रसायन है और ज्ञान भौतिक सामग्री के बिना ही उत्कृष्ट ऐश्वर्य है। ज्ञान प्रकाश का पुंज है। यह विशाल जगत् के संस्कारी जीवन को प्रकाश देने वाला है। मोक्ष सुख रूप सम्पत्ति का बीज भूत ज्ञान ही है। ज्ञान दान से जीव पुण्य-पाप आदि को समग्र रूप से जान लेता है। इससे अनेक प्रकार के पापों से निवृत्ति और समग्र पुण्य कार्यों की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । पुण्य कार्य में प्रवृत्ति करने वाला शीघ्र ही मनुष्य एवं देवलोक के सुख को प्राप्त करता है। पाप की निवृत्ति से नरक एवं तिर्यंच के दु:खों से मुक्त होता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष सुख भी परम्परा से मिलता है। इसलिए तीर्थंकर भगवंतों ने ज्ञान का अमूल्य दान दिया है। यह 'धर्म संग्रह' महान ग्रन्थ उसका ही एक अंश है।

यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १७३१ वर्ष में वैशाख सुदि तीज (अक्षय तृतीया) के दिन उपाध्याय श्रीमान विजय जी गणीवर्य द्वारा की गई है। इस उल्लेख से सहज ही यह जानकारी प्राप्त होती है कि यह ग्रन्थ अर्वाचीन है फिर भी इसकी महत्ता कम नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकार श्री ने इस ग्रन्थ में अनेकों प्राचीन शास्त्रों का सार संग्रह किया है। इसमें नया कुछ भी नहीं है। श्री तीर्थंकर परमात्मा ने भी जगत् का जो त्रिकालिक स्वरूप है उसे ही जगत् के सामने यथा स्वरूप वर्णित किया है। उसी अर्थ को श्रीगणधर देवों ने ग्रन्थ रूप में गुन्थन कर जगत् को शास्त्र रूप में अमूल्य भेंट दी है। यह काल बल से कम न हो जाय, इसलिये अमूल्य शास्त्र सम्पत्ति में से ही उद्धरित कर अनेक पूर्ववर्ती महर्षियों ने तत्वों को अखण्ड रखकर विशाल संख्या में संकलित-संग्रहीत कर ग्रन्थ रूप में विकसित किया है। ग्रन्थकार ने इन सबको (श्री तीर्थंकर परमात्मा, गणधर देव एवं पूर्वधर आचार्यों) के बचनों के १५० ग्रन्थों के सार रूप खजाने को एकत्र- संग्रहीत कर दिक् दर्शन कराया है। इस प्रकार तीन शताब्दी पूर्व रचित ग्रन्थ होने पर भी इसकी वस्तुत: प्राचीनता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

इन प्रमाणों से केवल प्राचीनता ही ग्रन्थ की विशेषता नहीं है अपतु ग्रन्थकार जी ने जो भिन्न-भिन्न शास्त्र आधारों को मूल रूप में उल्लिखित करके (उत्सर्ग-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपवाद अथवा निश्चय-व्यवहार) इत्यादि भिन्न-भिन्न दृष्टियों से पारस्परिक(एक दूसरे के) सम्बन्धों की अखण्डता को अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। इसी प्रकार द्रव्य-क्षेत्र, काल-भाव एवं पुरुष आदि अनेक अपेक्षाओं के अनुरूप जो व्याख्या संकलना (संग्रह) की है, वे ही इस ग्रन्थ की मुख्य विशिष्टतायें हैं ।

इस ग्रन्थ के अभ्यास से यह स्पष्ट रूप में सिद्ध हो जाता है कि ग्रन्थकार श्री स्वयं भी शास्त्रों के पारगामी थे। उनमें ज्ञान की श्रेष्ठ प्रतिभा थी । उन्होंने विपुल ज्ञान गर्भित प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन करते समय पूर्वाचार्य भगवंतों के उस विषय के अनेक ग्रन्थों के ग्रन्थकारों की दृष्टि भी अपने सामने रक्खी है। अपने निरूपण में स्थान-स्थान पर उन-उन ग्रन्थों का साक्षी पाठ भी उन्होंने विपुल मात्रा में नाम पूर्वक उल्लिखित किया है। बहुत स्थानों पर तो प्रतिपाद्य विषय का विवेचन भी अन्य ग्रन्थों अथवा ग्रन्थ की टीका से लगभग अक्षरश: ग्रन्थकार का ही अवतरित किया है। ऐसा करने में व्याख्या भले ही बड़ी हो गई हो परन्तु उस विषय का भावार्थ सम्पूर्ण रूप से ग्रन्थकार महापुरुष के आशय के अनुरूप ही किया गया है। अनेक स्थानों पर उन ग्रन्थों के समान पाठों की तुलना भी की है और भिन्न-भिन्न अनेक ग्रन्थों में उक्त विषयक चर्चा मतभेद-पाठान्तर आदि का उल्लेख भी किया है। इतनी सुन्दर रचना होने पर भी इसमें कथंचित् भी दोष न रह जाय, इसके लिये अपने समकालीन विद्वान् मनीषी पूज्य प्रवर न्याय विशारद न्यायाचार्य उपाध्याय प्रवर श्री मद् यशोविजय जी महाराज द्वारा इस अदभुत ग्रन्थ का संशोधन कराया है। पूज्य उपाध्याय भगवन्त ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को सर्वप्रकोरण शुद्ध संशोधित करके कितनी ही आवश्यक वृद्धि करके अपने हाथों से सुशोभित किया है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति के तेरहवें श्लोक में यह स्पष्ट लिखा है कि- आगम- व्याकरण- छंद शास्त्र तथा काव्य शास्त्र आदि सर्वशास्त्रों में निष्णात वाचकेन्द्र श्री लावण्य विजय जी ने इस ग्रन्थ को सम्यग् प्रकार से शुद्ध किया है। यह इस ग्रन्थ की दूसरी विशिष्टता है। हो सकता है उन्होंने व्याकरण व छन्द आदि की दृष्टि से इस ग्रन्थ का संशोधन किया हो ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वप्रथम 'जैन धर्म विद्या प्रसारक वर्ग' (पालीताणा) नामक संस्था द्वारा वि० सं० १९६० में 'धर्म संग्रह' भाग प्रथम रूप प्रसिद्ध हुआ था । इस संस्करण में प्रस्तुत ग्रन्थ की २९ गाथाएं, टीका और उसका गुजराती भाषान्तर छपा है, उसके बाद आगे का भाग प्रकाशित न हो सका। इसके बाद यह ग्रन्थ सम्पूर्ण सटीक दो विभागों में "श्री देवचंद लाल भाई पुस्तकोद्धार फण्ड" द्वारा अनुक्रम से वि० सं० १९७१ तथा १९७४ में प्रसिद्ध हुआ । इसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संशोधन, सम्पादन प० पू० पन्यास श्री आनंद सागर जो (श्री सागरानंद सूरीश्वर) महाराज द्वारा हुआ है। इसके पश्चात् इसका सम्पूर्ण गुजराती अनुवाद करके दो विभागों में मुनिराज श्री भद्रंकर विजय जी महाराज ने वि० सं० २०१२ तथा २०१४ में छपवाया है। श्री सुबा जी खचंद जैन विद्याशाला की ओर से उनकी आवृत्ति बहुत बार छप चुकी है। वर्तमान आचार्य श्री भद्रंकर सूरीश्वर जी तथा प० पू० श्री विजय भुवन भानु के प्रशिष्य श्री हेमचंद विजय जी (वर्तमान आचार्य श्री) की प्रेरणा से वही दो विभाग तीन विभागों में "श्री जिन शासन आराधना ट्रस्ट" बम्बई-2 से वि० सं० २०४० तथा २०४३ में छपे हैं। उन्ही तीन भागो को मैंने हिन्दी भाषा में अनुवाद करके तीन भागों में ही प्रथम बार छपाने का उपक्रम किया है।

पूज्य आचार्य श्री सागरानंद सूरी जी (उस समय पन्यास पद पर सुशोभित थे) ने धर्म संग्रह की संस्कृत प्रस्तावना में इस ग्रन्थ को 'ग्रन्थराज' रूप में स्वीकार किया है एवं महत्वपूर्ण अग्रस्थान दिया है। इसकी यथार्थ सार्थकता तो इस महाग्रन्थ राज को यथा स्वरूप अभ्यास करने वाले सुधिजनों को ही हो सकती है।

इस ग्रन्थ को चार विभागों में विभाजित किया गया है। (पहले) विभाग में सामान्य गृहस्थ धर्म के वर्णन का अधिकार आया है। (दूसरे) विभाग में विशेष गृहस्थ धर्म का वर्णन करने का अधिकार आया है। (तीसरे) विभाग में सापेक्ष यति धर्म के वर्णन का अधिकार आया है तथा (चौथे) विभाग में निरपेक्ष यति धर्म वर्णन का अधिकार कहा गया है। इसकी विशेष विषय की सूची विषयानुक्रमणिका में दी गई है, उसी से जान लें।

प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वोपज्ञवृत्ति सहित रचयिता श्री महामहोपाध्याय श्रीमान विजय जी ने चौदह हजार छः सौ दो श्लोक प्रमाण में इसकी रचना की है। इन्हीं ग्रन्थकार के समान नाम वाले अन्य बहुत से ग्रन्थकार हुए हैं। तपागच्छ में पाँच तथा खरतर गच्छ में दो मान विजय जी का नामोल्लेख मिलता है। इसे उपरान्त एक मान मुनि का नाम भी आया है। 'धर्म संग्रह' रचयिता के जन्म तथा स्वर्गवास की तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। ये महान विद्वान् थे। अहमदाबाद के प्रसिद्ध अग्रेसर सेठ श्री जवेरी शान्तिदास जी की प्रार्थना से उन्होंने यह एक अद्भुत ग्रन्थ रचा था, इनकी और भी श्रेष्ठ रचनायें हैं। "नय विचार" नामक ग्रन्थ का प्रमाण २४० श्लोक है जो वि० सं० १७२८ के आस-पास रचा गया था। इसी प्रकार "नय तत्व प्रकरण विवरण" वि० सं० १७३५, "सुमति कुमति (जिन प्रतिमा) स्तवन" वि० सं० १७२८, "गुरु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तत्व प्रकाश'' चौबीसी सं० १७२५ के आसपास ''गजसुकुमार रास'', ''भगवती रास'' अर्थात् सज्झाय पोढी वि० सं० १७४३ तथा ''मद की सज्झाय'' इत्यादि कृतियां भक्ति भाव से परिपूर्ण हैं एवं गायी जा रही हैं। इस प्रकार इनकी साहित्य साधना अद्वितीय है।

मैंने यह महाग्रन्थ स्वोपज्ञवृति सहित पढ़ा और सर्व शास्त्रों की अमूल्य निधि का आभास हुआ, तभी यह भावना जागृत हुई कि इस महानतम ग्रन्थ को सम्पूर्ण व्याख्या सहित हिन्दी अनुवाद के रूप में प्रस्तुत किया जाय कि सर्व साधारण जन भी पूज्य उपाध्याय भगवंत के अनुभव वचनों से लाभान्वित हो सकें। तद्भाव को साकार रूप देने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद लिखने का साहस किया। परम पूज्य गुरुदेवों की परम कृपा से लगभग डेढ़ वर्ष में लिखकर सुज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सका हूँ।

वस्तुतः इस महानतम ग्रन्थ का अनुवाद करने में भी आगम के गहन ज्ञान, अभ्यास एवं अनुभव की आवश्यकता है। इस सबके अभाव में अवश्य ही त्रुटियां रही होंगी। छद्मस्थावस्था के कारण अथवा असावधानी या दृष्टिदोष के कारण कोई भी आगम सिद्धान्त विरुद्ध बात लिखी गई हो या मेरे द्वारा इस ग्रन्थ में पूज्य ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो उन सबका यहाँ मिच्छामि दुक्कड़म् देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि ऐसी क्षतिपूर्ण त्रुटियों के लिये विद्वान्, आगम अभ्यासी, सुविज्ञ पाठक वृन्द मुझे सुझायेंगे तो मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूंगा।

अन्त में मैं आशा करता हूँ कि धर्म प्रेमी पाठक गण इस ग्रन्थराज का पठन-पाठन करने व कराने से अधिकाधिक लाभ उठाकर, श्रुत ज्ञान प्राप्त करें तथा भव्य आत्मा, आत्म विकास करें। इसी शुभ आकांक्षा के साथ-

– पन्यास पद्म विजय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकाशकीय



परम पूज्य महोपध्याय श्री मान विजयजी रचित धर्म संग्रह का तृतीय विभाग प्रकाशित करते हुए अत्यन्त हर्षानुभूति हो रही है। यह तीसरा भाग प्रकाशित होते ही सम्पूर्ण ग्रन्थ राज का प्रकाशन कार्य परिपूर्ण हो जाता है। इसमें साधु आचार धर्म पर लिखा गया है। इसमें भी अनेक शास्त्रों का आस्वादन मिलता है। साधु धर्म भी दो प्रकार का होता है- नं० १- सापेक्ष साधु धर्म अर्थात स्थविर कल्पी (जो गच्छ की मर्यादा को पालने वाले होते हैं) तथा नं० २ निरपेक्ष यतिधर्म अर्थात जिन कल्पी आदि (जिसको गच्छ आदि की किसी की अपेक्षा नहीं होती) इससे योग्यता प्राप्त कर केवल उत्सर्ग मार्ग में स्थिर रहने वाला होता है। सम्पूर्ण जीवन तक संसार का सर्व सम्बध, आरंभ, परिग्रह स्त्री संग आदि का त्यागी, सर्व प्रकार से अहिंसा आदि महाव्रतों को स्वीकार करना यह यति साधु धर्म कहलाता है। इसमें ग्रन्थकार ने साधु धर्म का समग्र अधिकार सम्पूर्ण रूप में वर्णन किया है। फिर भी श्रावक-श्राविका को गुरुतत्व की आराधना के लिये गृहस्थों को भी इसका ज्ञान प्राप्त करना अति आवश्यक है। इसके बिना उनकी गुरुतत्व अराधना विशुद्ध होती है। इससे यह ग्रन्थ चतुर्विध श्री संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) के लिये उपयोगी है एवं उपकारक भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पूज्य उपाध्याय जी महाराज ने मार्गानुसारी से प्रारंभ करके सर्व विरति धर्म तक के धर्मों का सुन्दर संग्रह किया है। इससे ग्रन्थकार द्वारा ग्रंथ का "धर्म संग्रह" यह नाम रखना यथार्थ ही है। अब तक 'धर्म संग्रह' नाम से प्राप्त तीन ग्रंथ मिलते हैं- १- श्री विजयानंद सूरी रचित, २- मुनि श्री शेखर सूरी रचित तथा ३-उपाध्याय श्री मान विजय रचित यह तृतीय आपके हाथों में है। पूर्व के दोनों अप्रकाशित हैं। यह तीसरा आपके समक्ष प्रकाशित है। संग्रहात्मक इस ग्रन्थ में अनेक ग्रन्थों की छाया देखने को मिलती है। इसमें साधु धर्म का आचार तथा श्रावक धर्म का आचार का सम्यकत्व आचार का सर्व वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के अभ्यास से अभ्यासी को गहन ज्ञान मिलता है। यह ग्रन्थ मुख्यतः आचार विषयक होने से साधु और श्रावक जीवन की प्रतिदिन की क्रियाओं पर सुन्दर प्रकाश डालता है। चरण करणानुयोग का यह ग्रन्थ अनेक जीवों के पंचाचार के पालन में अतिशय उपयोगी बनकर, मोक्ष साधनों में प्रचण्ड वेग लाकर शीघ्र ही मोक्ष दायक बन सकता है।

यह महाग्रन्थ चतुर्विध श्री संघ के लिये, उसमें भी साधु के लिये तो अतीव उपकारक है। पूर्व महार्षियों के उत्कृष्ट जीवन से साक्षात्कार करने के साथ-साथ साधु जीवन को अतिचार रहित पालन करने के लिये तथा उसमें प्रवेश करने के बाद दोषों से बचने के लिये यह ग्रन्थ वास्तविक मार्ग दर्शक है। गुरु के समान यह ग्रन्थ मार्ग दर्शक और अतीव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

माननीय है । इस ग्रन्थ के अध्ययन से मुनि जीवन में अनुवादकारक को अपूर्व प्रेरणा मिली है । समस्त संघ को प्रेरणा मिलती है तथा साधु-साध्वी वर्ग को शस्त्रोक्त जीवन जीने के लिये सर्वश्रेष्ठ मार्ग दर्शन मिलता है ।

ग्रन्थ में केवल विषय का निरुपण ही नहीं किया गया है परन्तु स्थान-स्थान पर उस विषय का अन्तिम निष्कर्ष तथा वास्तविकता की सिद्धि की गई है । वास्तव में मनुष्य अपने जीवन में कहाँ भटक गया है । भूल गया है । मानवता के विकास का सच्चा उपाय कौन सा हो सकता है ? इस विषय को यह ग्रन्थ पूर्ण से समझता है । मानव जीवन को आलोकित करने के लिये प्रकाश स्तंभ है । इस ग्रन्थ में प्रत्येक विषय के औचित्य-अनौचित्य को पूर्णतया समझाया गया है । कौन सी भूमिका वाले जीवों को कौन सा और कितना धर्म किस रूप में मोक्ष का हेतु बनता है । अपने स्थान पर धर्म के प्रत्येक विषय का महत्त्वरूप सुस्पष्ट विवेचन इस ग्रन्थ में देखने को मिलता है । इस ग्रन्थ को पढ़कर आत्मा का तात्त्विक स्वरूप जानकार, वहिरात्मा भाव से मुक्त बन कर मुक्तिगामी बन सके उसका सरल उपाय बताया गया है । भव्यात्मा उसका प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करके उसकी आराधना द्वारा स्व-परकल्याण साधे, यह ही इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का मुख्य कारण है ।

परम कृपालु देवीदेव जिनेश्वर भगवन्त की अनन्त कृपा के बल पर तथा परम तारक सद्गुरु देवों की कृपा व आशीर्वाद से यह सम्पूर्ण ग्रन्थ रत्न तीन भागों में प्रकाशित हुआ है । अन्त में इस ग्रन्थ प्रकाशन में प्रमाद अथवा अज्ञानता वश या प्रेस आदि के कारण त्रुटियाँ रह गई हों तो हम अंत:करण से मिच्छामि दुक्कडं देते हैं । वाचक वृन्द इसमें सुधार करके पढ़ें । अभी आगे भी हमारी श्रुतभक्ति ज्ञान के विशाल कार्य करने की तीव्र भावना है । सकल श्री संघ से विनती है कि धर्म के पुनीत कार्य में हमारी भरपूर सहायता करें ।

इस महानतम ग्रन्थ के प्रकाशन में माननीय श्री नगीन चंद जी जैन मालिक फर्म नगीन प्रकाशन, मेरठ वालों का अत्यधिक सहयोग रहा है। एतर्थ उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ । ग्रन्थ के अति शीघ्र मुद्रण कार्य के लिये श्री सुभाष जैन (प्रिन्टोनिक्स, वैस्टर्न कचहरी रोड, मेरठ) को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अपने समस्त आवश्यक कार्यों को स्थगित करते हुए ग्रन्थ को संशोधित कराकर इसके मुद्रण एवं प्रकाशन को प्राथमिकता प्रदान की । अन्त में उन सभी ज्ञात-अज्ञात महानुभावों को धन्यवाद दिये बगैर नहीं रह सकता जिन्होंने ज्ञानावरणीय क्षेत्र के कारण जो भी सहयोग प्रदान किया है, उनके प्रति हम कृतज्ञ हैं ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जो भी मति दोष अथवा दृष्टि दोष से त्रुटि रह गई हैं, वह हमारे प्रमादवश है। सुविज्ञ पाठक वृन्द भूल सुधार करते हुए, चिन्तन एवं मनन पूर्वक पढ़ें, यही शुभ अभिलाषा है ।

प्रो० जे० पी० सिंह (जैन)
मन्त्री
श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

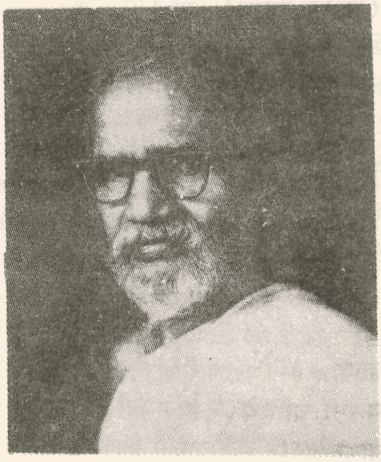
परम पूज्य पन्यास श्री पद्म विजय जी महाराज साहब के द्वारा प्रकाशित सरल अध्यात्म हिन्दी साहित्य

		रू०- पै०
१.	योग शास्त्र	६०-००
२.	संवेग रंगशाला	३०-००
३.	जैन रामायण	१५-००
४.	महाभारत (पांडव चरित्र)	१५-००
५.	उपदेश माला	१५-००
६.	वंदित्तु सूत्र	२५-००
७.	समरादित्य महाकथा	३०-००
८.	अध्यात्म सार	१२-५०
९.	युगादि देशना	५-००
१०.	पूर्व कथा संग्रह	३-००
११.	ज्ञान सार	१-५०
१२.	प्रशम रति	२-००
१३.	देव वंदन माला	७-००
१४.	पूजा कैसे करनी चाहिये	२-००
१५.	तीर्थ हस्तिनापुर	०-५०
१६.	प्राचीन तीर्थ पुरिमताल (इलाहाबाद)	५-००
१७.	ललित भक्ति दर्पण	०-३५
१८.	श्री शान्तिनाथ चरित्र	२५-००
१९.	श्री नेमिनाथ चरित्र	२०-००
२०.	श्री पार्श्वनाथ चरित्र	२५-००
२१.	श्री धर्म संग्रह भाग-१	४०-००
२२.	श्री धर्म संग्रह भाग-२	५०-००
२३.	श्री धर्म संग्रह भाग-३	५५-००
२४.	श्री वीस स्थानक तप आराधना विधि	१२-००
२५.	धर्म संग्रह भाग-१	६०-००
२५.	धर्म संग्रह भाग-२	६०-००

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समर्पण



मेरे परम पूज्य गुरुदेव, महा तपस्वी, अनेक तीर्थ उद्धारक
आचार्य भगवन्त श्रीमद् प्रकाश विजय जी
को हार्दिक श्रद्धा भक्ति पूर्वक
इस महा ग्रन्थ को
सादर समर्पित
करता हूँ ।

चरण रेणु
पन्यास पद्म विजय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस ग्रन्थ में आधारभूत ग्रन्थों की नामावली

१. अध्यात्म मत परीक्षा
२. अनुयोग द्वार मूल
३. अनुयोग द्वार टीका
४. अनेकार्थ संग्रह
५. अयोग व्यव० द्वाद्विंशिका
६. अष्टक प्रकरण मूल
७. अस्वाध्याय निर्युक्ति
८. आचारांग सूत्र
९. आचारांग सूत्र टीका
१०. आचारांग सूत्र चूर्णि
११. आयुर्वेद
१२. आवश्यक सूत्र मूल
१३. आवश्यक निर्युक्ति
१४. आवश्यक चूर्णि
१५. आवश्यक भाष्य
१६. आवश्यक संग्रहणी
१७. उत्तराध्ययन मूल
१८. उत्तराध्ययन टीका
१९. उत्तराध्ययन निर्युक्ति
२०. उपदेश पद
२१. उपदेश माला
२२. उपदेश रत्नाकर
२३. उपासक दशांग सूत्र
२४. ओघ निर्युक्ति मूल
२५. ओघ निर्युक्ति चूर्णि
२६. ओघ निर्युक्ति टीका
२७. ओघ निर्युक्ति भाष्य
२८. कम्म पयडी टीका
२९. कल्प व्यवहार
३०. कल्प सूत्र टीका
३१. कल्याण कलिका
३२. किरातार्जुनीयम्
३३. गणि विज्ज प्रकीर्णक
३४. गच्छा प्रकीर्णक
३५. गुरु वंदन भाष्य
३६. चउसरण पयन्ना
३७. चरमावर्त द्वात्रिंशिका
३८. चेइयवंदन महा भाष्य
३९. चैत्यवंदन भाष्य
४०. चैत्यवंदन संघाचार भाष्य
४१. जीवाभिगम सूत्र
४२. ठाणांग सूत्र
४३. तत्वार्थ सूत्र
४४. त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र
४५. दशवैकालिक सूत्र
४६. दशवैकालिक टीका
४७. दशवैकालिक निर्युक्ति
४८. दशाश्रुत स्कंध चूर्णि
४९. दर्शन शुद्धि प्रकरण
५०. दिनचर्या
५१. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
५२. धर्म बिन्दु प्रकरण
५३. धर्म बिन्दु टीका
५४. धर्म रत्न प्रकरण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५५. धर्म संग्रहणी
५६. ध्यान शतक
५७. नव तत्त्व प्रकरण
५८. नव्य यति जित कल्प
५९. निशीथ सूत्र
६०. निशीथ चूर्णि
६१. निशीथ भाष्य
६२. नीति शास्त्र
६३. पच्चक्खान लघुभाष्य
६४. पंचकल्प भाष्य
६५. पंच निर्ग्रन्थी प्रकरण
६६. पंच वस्तु
६७. पंच वस्तु टीका
६८. पंच संग्रह
६९. पंचाशक
७०. पंचाशक टीका
७१. पद्म चरित्र
७२. परिशिष्ट पर्व
७३. पाक्षिक सूत्र चूर्णि
७४. पाक्षिक सूत्र वृत्ति
७५. पाराशर स्मृति
७६. पिण्ड निर्युक्ति
७७. पिण्ड निर्युक्ति टीका
७८. पिण्ड विशुद्धि
७९. पिण्ड विशुद्धि टीका
८०. पूजा प्रकरण
८१. पूजा विधि प्रकरण
८२. पूजा विंशिका
८३. पन्नापना सूत्र
८४. प्रतिक्रमण हेतु गर्भ
८५. प्रतिष्ठा पद्धत्ति
८६. प्रवचन सारो द्वार
८७. प्रवचन सारोद्धार वृत्ति
८८. प्रशमरति प्रकरण
८९. प्राचीन समाचारी
९०. बुद्ध शास्त्र
९१. वृहत्कल्प सूत्र मूल
९२. वृहत्कल्प भाष्य
९३. वृहत्छान्ति
९४. वृहत्संग्रहणी
९५. भगवती सूत्र
९६. भगवती सूत्र टीका
९७. भाषा रहस्य
९८. मनु स्मृति
९९. महानिशीथ सूत्र
१००. यति दिनचर्या
१०१. योग दृष्टि समुच्चय
१०२. योग बिन्दु
१०३. योग विधि
१०४. योग शास्त्र मूल
१०५. योगशास्त्र वृत्ति
१०६. योग सूत्र (पात०)
१०७. रायपसेणीय सूत्र
१०८. लघु क्षेत्र समास
१०९. ललित विस्तरा
११०. लोक व्यवहार शास्त्र
१११. लौकिक नीति शास्त्र
११२. वसुदेव हिंडी
११३. व्यवहार पीठिका
११४. व्यवहार चूर्णि
११५. व्यवहार चूला
११६. व्यवहार भाष्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

११७. व्यवहार सूत्र मूल
११८. विचारामृत सार संग्रह
११९. विचार सार प्रकरण
१२०. विवाह चूलिका
१२१. विवेक विलास
१२२. विशेषावश्यक भाष्य
१२३. वीतराग स्तोत्र
१२४. शतक वृहत्चूर्णि
१२५. शिव पुराण
१२६. श्रवण प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति
१२७. श्राद्ध जित कल्प
१२८. श्राद्ध दिन कृत्य
१२९. श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णि
१३०. श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति
१३१. श्राद्ध विधि प्रकरण
१३२. श्राद्ध समाचारी
१३३. श्रावक धर्म प्रज्ञप्ति
१३४. श्रावक धर्म विधि प्रकरण
१३५. श्रावक व्रत भंगावचूरि
१३६. षोडशक मूल
१३७. षोडशक वृत्ति
१३८. सद्धर्म विंशिका
१३९. सन्मति प्रकरण
१४०. समवायाङ्ग सूत्र
१४१. संबोध प्रकरण
१४२. सम्यकत्व विंशिका
१४३. संसक्त निर्युक्ति
१४४. स्कन्द पुराण
१४५. समाचारी प्रकरण
१४६. सिद्ध प्राभृत
१४७. सिद्ध सेनीय द्वात्रिंशिका
१४८. सिद्ध हेम शब्दानुशासनम्
१४९. सुदंसणा चरित्रम्
१५०. सूत्रकृताङ्ग सूत्र
१५१. हितोपदेश माला
१५२. विचारामृत सार संग्रह
१५३. विचार सार प्रकरण

इसके अतिरिक्त अन्य कितने ही ग्रन्थों का आधार लिया गया है, उनके स्थान और नाम नहीं मिले हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्रुत ज्ञान की भक्ति का लाभ लेने वालों की शुभ नामावली

२१०००/= मैसूर श्री संघ के ज्ञान खाता की चन्द्र प्रभु मंदिर शताब्दी निमित्त ।
२१०००/= सुलै श्री संघ, मद्रास ज्ञान खाता ।
२००००/= मद्रास सिद्धाचल चौमासा आराधना संघ ।
११००१/= बेलगाम श्री संघ ज्ञानखाता ।
११०००/= गुजराती श्री संघ, गांधी नगर, बेंगलौर ।
११०००/= श्री चन्द्र प्रभु जुना मंदिर, ज्ञानखाता ।
५५०१/= चूलै श्री संघ, मद्रास ज्ञान पेटी में से मंदिर जी की शताब्दी के निमित्त।
५१०१/= गुजराती वाडी जैन संघ, मद्रास ।
५०००/= श्री राजस्थान श्री सुपार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मूर्ति पूजक संघ, कोयम्बटूर।
२१००/= साध्वी कल्पलता श्री के उपदेश से साधारण भवन की बहिनो के ज्ञानखाता से, मद्रास ।
११००/= साध्वी श्री कल्पलता श्री के उपदेश से आयंबिल खाता की बहिनो की ओर से, मद्रास ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषयानुक्रमणिका

विभाग तीसरा

दीक्षा की योग्यता के गुण १
दीक्षा की अयोग्यता के दोष ८
गुरु की योग्यता का वर्णन १६
गुरु-शिष्य की योग्यता में अपवाद २३
दीक्षा लेने वाले का कर्त्तव्य २८
दीक्षा देने वाले का कर्त्तव्य

सापेक्ष यति धर्म ३७

गुरुकुल वास,
उसका महत्त्व तथा लक्षण
शास्त्र अध्ययन की विधि
औध समाचारी का वर्णन
दिनचर्या के सात द्वारादि
प्रतिलेखना का स्वरूप व विधि
स्वाध्याय का स्वरूप तथा विधि
गोचरी जाने की विधि
वसति शुद्धि और गुणदोष
वस्त्र शुद्धि और उसके गुण दोष
पात्र शुद्धि और उसके भेद
गोचरी लाने के बाद का कर्त्तव्य
आहार की विधि
आहार के बाद का कर्त्तव्य
स्थंडिल शुद्धि और जाने की विधि
शाम को प्रतिलेखना की विधि
अपधि के भेद प्रमाण व प्रयोजन
सूर्यास्त के पहले का कर्त्तव्य
प्रतिक्रमण विधि-सूत्रार्थ
श्रमण प्रतिक्रमण सूत्रार्थ
पाक्षिक सूत्र अर्थ सहित
प्रतिक्रमण के बाद का कर्त्तव्य
दस प्रकार समाचारी का स्वरूप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपस्थापना की विधि
चरण सित्तरी का स्वरूप
करण सित्तरी का स्वरूप
महाव्रत और उसका स्वरूप
पंचाचार का वर्णन
गच्छ वास का स्वरूप
कुसंसर्ग त्याग व संसर्ग का प्रभाव
विहार का महत्त्व और स्वरूप
विहार विधि और लाभ
पाँच निर्ग्रन्थों का स्वरूप
दस प्रकाट प्रायश्चित का विधान
गणी आदि पद पदान विधि
संलेखना के भेद और स्वरूप
अनशन के भेद और स्वरूप
महापारिष्ठापनिका की विधि
बृहत्कल्पोक्त स्थविर कल्प का स्वरूप
बृहत्कल्पोक्त यथालन्दि का स्वरूप

विभाग चौथा

निरपेक्षयतिधर्म ५८३
जिनकल्प का स्वरूप और सामाचारी
परिहार विशुद्धि कल्प व उसकी मर्यादा
यथालन्दिक का स्वरूप
निरपेक्ष यति धर्म का औधिक वर्णन
गन्थकार की प्रशस्ति ६०१
अनुवाद की प्रशस्ति ६०४

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ॐ अर्हते नमः

श्री आत्मवल्लभ ललित पूर्णानंद प्रकाश सूरि सद्गुरुभ्यः नमः

धर्म संग्रह

सापेक्ष यति धर्म

तृतीय विभाग

पूर्वार्द्ध प्रथम विभाग के अन्दर सामान्य एवं विशेष दो प्रकार के गृहस्थ धर्म का वर्णन किया है, अब यति (साधु) धर्म का वर्णन करने का अवसर आया है, इसलिए मूल ग्रन्थकार स्वयं "यति धर्म गृहस्थ का विशेष धर्म का फल रूप है", इस तरह कहने के लिए यति धर्म की स्तुति करते हैं –

एनं धर्म च निखिलं, पालयन् भाव शुद्धितः ।
योग्यः स्याधति धर्मस्य, मोचनात् पाप कर्मणः ॥७१॥

मूलार्थ – पहले विभाग में जो पूर्व कहे गये हैं, उन समस्त गृहस्थ धर्मों को भावशुद्धि से पालन करते आत्मा के पाप कर्म समाप्त होने से यति (साधु) धर्म के योग्य होता है ।

व्याख्या – यह समस्त अर्थात् सम्यकत्व के आरम्भ से लेकर श्रावक की ग्यारह पडिमा तक गृहस्थ के विशेष धर्म का पालन करता आत्मा यति धर्म के लिए योग्य बनता है । धर्म का पालन तो अभव्य जीव के समान द्रव्य से भी हो सकता है परन्तु इससे वह आत्मा साधु धर्म के लिए योग्य नहीं बनता, इसलिए 'भाव शुद्धि' कहा है अर्थात् धर्म में आवरणभूत (चरित्र मोहनीयादि) कर्मों के क्षयोपशम होने से जिस आत्मा में परिणाम रूप भाव विशुद्धि प्रगट होती है वही गृहस्थ धर्म का पालन करने वाला आत्मा योग्य बनता है । इस तरह समझना । वह कैसा योग्य बनता है, उसे कहते हैं कि – 'यति धर्म के लिए योग्य बनता है', यहां 'यति' अर्थात् योग्य आत्मा, जिसने योग्य गुरु के पास में शास्त्रोक्त विधि से दीक्षा ली हो इत्यादि । स्वरूप आगे कहा जायेगा, उसका 'धर्म' अर्थात् मूल गुण और उत्तर गुण रूप आचार है उसके लिए योग्य बनता है, अर्थात् **उसको स्वीकार और पालन** करने में समर्थ होता है । किससे वैसा योग्य बनता है ? **चारित्र में विघ्न करने वाले** कर्म की प्रकृति रूप चारित्र मोहनीय कर्म से मुक्त होने से यानि 'क्षायोपशमिक' आदि आत्मा के विशुद्ध परिणाम द्वारा उन कर्मों की उदित्त अवस्था (उदय नहीं होने से) हट जाने से वह योग्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बनता है । इस से ही कल्याण का दान करने वाली और अशिव (विघ्न) को खतम करने वाली दीक्षा की योग्यता ऐसी आत्मा में घटती है । इस बात को पू० आचार्य श्री हरिभद्र सूरि जी ने षोडशक प्रकरण में कहा है कि-

श्रेयोदानादशिव क्षपणाच्च सतां मतेह दीक्षेति ।
सा सानिनो नियोगाद्यथोदिततस्यैव साध्वीति ।।१२-२।।

अर्थात् – कल्याण का दान करने से 'दी' और अशिव का क्षय करने से 'क्षा' इस तरह दो कारण से जैन शासन में सत्पुरुषों ने उसे दीक्षा कहा है । वह दीक्षा यथोक्त तीन गुण वाले ज्ञानी में ही नियोजन करने से – दीक्षा देने से श्रेष्ठ बनता है । वह ज्ञानीत्व इस प्रकार होता है – १. गुरु चरण की सेवा में रत २. दृढ़ सम्यग् दर्शन वाला, और ३. श्रावक के समग्र आचारों का अच्छी तरह पालन करते हुए संवेग के परिणाम प्रगट हुए आत्माओं में दीक्षा देने से वह दीक्षा सिद्ध ही होती है ।

अब ग्रन्थकार यति धर्म की योग्यता के लिए कितने गुणों की आवश्यकता है, उसका स्वरूप नामपूर्वक गुणद्वार छह श्लोक से कहते हैं:-

आर्यदेश समुत्पन्नः शुद्धजाति कुलान्वितः ।
क्षीणप्रायाऽशुभकर्मा, तत एव विशुद्ध धीः ।।७२।।

दुर्लभं मानुषं जन्म, निमित्तं मरणस्य च ।
सम्पदश्चपला दुःख हेतवो विषयास्तथा ।।७३।।

संयोगे विप्रयोगश्च, मरणं च प्रतिक्षणम् ।
दारुणश्च विपाकोऽस्य, सर्व चेष्टानिवर्तनात् ।।७४।।

इति विज्ञात संसार-नैर्गुण्यः स्वतः एव हिं ।
तद्विरक्तस्तत एव, तथा मन्द कषाय भाक् ।।७५।।

अल्पहास्यादि विकृतिः कृतज्ञो विनियान्वितः ।
सम्मतश्च नृपादिना मद्रोही सुन्दराङ्ग भृत् ।।७६।।

श्राद्धः स्थिरश्च समुपसंपन्नश्चेति सद्गुणः ।
भवेद्योग्यः प्रव्रज्याया, भव्य सत्त्वोऽत्र शासने ।।७७।।

।। षडभि कुलकम् ।।

मूलार्थ - १. जो आर्य देश में जन्मा हो, २. विशुद्ध जाति-कुल वाला हो, ३. अशुभ कर्म जिसके बहुत क्षीण हुए हों, ४. इससे जिसकी बुद्धि निर्मल हो, और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. 'मनुष्य जीवन अति दुर्लभ है, जन्म मरण का निमित्त है, संपत्तियां चंचल हैं, विषय भयंकर है, संयोग का वियोग अवश्य है, प्रति समय आयुष्य कम होते मृत्यु की ओर बढ़ रहा है और अन्तिम मरण के समय सर्व चेष्टायें रुक जाने से उसका विपाक अति दारुण होता है।' इस तरह स्वयमेव जिसने संसार की असारता समझ ली हो, इससे ही ६. जो संसार से वैरागी बना हो, और ७. कषाय मन्द हो गये हों, ८. हास्य आदि विकार अल्प मात्र हो, ९. कृतज्ञ हो, १०. विनीत हो, ११. राजा मन्त्री आदि का जो मान्य हो, १२. द्रोही न हो, १३. सुन्दर शरीर वाला हो, १४. श्रद्धावान हो, १५. स्थिरता गुणवाला हो, और १६. जो समर्पण भाव से स्वयं दीक्षा लेने के लिए आया हो। इस प्रकार सद्गुणी भव्य आत्मा जैन शासन में दीक्षा के लिए योग्य है।

व्याख्या – सतहत्तरवीं गाथा में 'इति' शब्द कहने से ये गुण जिसमें हैं, वह सद्गुणी भव्यात्मा प्रव्रज्या के लिए अर्थात् पापों से मुक्त होकर प्रकर्षणीय शुद्ध चारित्र के योगों में गति करने के लिए लायक (अधिकारी) होता है, इस तरह वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना। यह दीक्षा द्रव्य से द्रव्य दीक्षा तो चरक आदि अन्य मत वालों की भी होती है। इसलिए यहाँ बतलाया है कि – 'इस शासन में अर्थात् जैन शासन में उपर्युक्त गुण वाला दीक्षा के लिए लायक है। क्योंकि पंचवस्तु में कहा है कि–

नामाइचउब्भेआ, एसा दव्वम्मि चरगमाईणं ।
भावेण जिणमयंमि उ, आरंभ परिग्गहच्चाओ ॥६॥

अर्थात्– यह दीक्षा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इस तरह चार प्रकार से कही है। उसमें द्रव्य दीक्षा चरक, परिव्राजक, बौद्ध भौतिक आदि में होती है और भाव से तो श्री जैन शासन में होती है। इस भाव दीक्षा में तो आरंभ और परिग्रह का त्याग होता है।

उन गुणों में दीक्षा योग्य आत्मा प्रथम –

१. आर्य देश में जन्मा होना चाहिए। यहाँ आर्य देश का मतलब यह है कि तीर्थंकर प्रभु चक्रवर्ती, वासुदेव आदि उत्तम पुरुषों की जन्मभूमि वाला देश हो, जैसे मगध देश आदि संख्या से साढ़े पच्चीस देश हैं। प्रवचन सारोद्धार में इस तरह बतलाया है–

रायगिह मगह चंपा, अंगा तह तामलिति बंगा य ।
कंचणपुरं कलिंगा, वाराणसी चेव कासी अ ॥१॥
साकेअ कोसला गयपुरं च कुरु सोरिअं कुसत्ता य ।
कंपिल्लं पंचाला, अहिछत्ता जंगला चेव ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वारावई सुरट्ठा, मिहिल विदेहा च वच्छ कोसंबी ।
नंदिपुरं संडिल्ला, भद्दिलपुरमेव मलया य ॥३॥

वर राउ वच्छ वरणा तह मत्ति आवइ दसण्णा ।
सोत्ति अवई अ चेदी, बीअभयं सिंधु सोविरा ॥४॥

महुरा य सूरसेणी, पावाभङ्गी अ मास पुरि वट्टा ।
सावत्थी अ कुणाला, कोडी वरिसं च लाडा य ॥५॥

सेअंबिया य नगरी, केअइ अद्धं च आरिअं भणिअं ।
एत्थूप्पत्ति जिणाणं, चककीणं राम कण्हाणं ॥६॥

अर्थात्- १- राजगृहनगर मगधदेश, २- चंपा नगरी अंग देश, ३- ताम्रलिप्ती नगरी बंगदेश, ४- कंचनपुर नगर कलिंग देश, ५- वाराणसी नगरी काशी देश, ६- साकेतपुर कोशल देश, ७- गजपुर नगर कुरु देश, ८- सौरिक पुर कुशात् देश, ९- कम्पिल्यपुर पंचाल देश, १०- अहिछत्रा नगरी जंगल देश, ११- द्वारिका नगरी सौराष्ट्र देश, १२- मिथिला नगरी विदेह देश, १३- कौशाम्बी नगरी वत्स देश, १४- नंदीपुर नगर साण्डिल्य देश, १५- भद्दिलपुर- मलय देश, १६- वच्छा राजधानी वैराट देश, अन्य आचार्य वैराट नगर वच्छ देश इस तरह कहते हैं । १७- वरुणापुरी-अच्छ देश, यहाँ भी अन्य आचार्य अच्छापुरी वरुण देश ऐसा कहते हैं, १८- मृत्तिका वती नगरी दशार्ण देश, १९- शुक्तिमती नगरी चेदीदेश, २०- वीतभय नगर सिन्धु सौवीर देश, २१- मथुरा नगरी सौरसेन देश, २२- पापापुरी भंगी देश, २३- मासपुर नगर वत्तदेश, अन्य आचार्यों के मतानुसार चेदी देश में सौक्तका वती, सिन्धु देश में वीतभय नगर, सौवीर देश में मथुरा, सौरसेन देश में पापा नगरी, और भंगी देश में मासपुरी वट्टा नगरी कहते हैं, वह रूढ़ व्यवहार समझना, परन्तु बहुश्रुत परम्परा प्रमाण रूप समझना, २४- श्रावस्ती नगरी कुणाल देश, २५- कोडी वर्ष नगर लाट देश, और २६- श्वेताम्बिका नगरी केकयदेश आधा । इस तरह साढ़े पच्चीस देश रूप आर्य क्षेत्र कहे हैं, जहां पर श्री तीर्थंकर परमात्मा, चक्रवर्ती बलदेव और वासुदेव आदि का जन्म होता है । आवश्यक चूर्णी में तो आर्य-अनार्य देश की व्यवस्था बतलाई है कि-जिस किसी देश में हकारादि नीति चालू हो- रूढ़ हो वह देश आर्य है और जहा न्याय नीति न हो वह अनार्य देश जानना ।

उपर्युक्त आर्यदेश में जन्मा हुआ हो वही दीक्षा के लिए योग्य गिना जाता है, वहाँ का जीवन वातावरण भी आत्मा के लिये सन्मार्ग प्रेरक होता है, वहाँ की भूमि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का परमाणु भी जीव की जीवन शुद्धि के लिए अनुकुल होता है । परन्तु मरुदेश में कल्प वृक्ष की प्राप्ति के समान अनार्य देश में धर्म की प्राप्ति अति दुर्लभ कही है।

२. शुद्ध जाति और कुल वाला- इसका वर्णन प्रथम भाग में आ गया है। चार वर्ण में किसी भी वर्ण में मातृपक्ष हो वह जाति और पितृपक्ष जन्म हो वह कुल कहलाता है । इस तरह शुद्ध जाति और शुद्ध कुल से युक्त हो । उत्तम, सदाचारी, संयमी हो । उपा० कयोंकि- जाति और कुल से जो आत्मा विशुद्ध हो उसे कभी दुष्कर्म के उदय से चारित्र के प्रति विपरीत परिणाम हो जाय फिर भी रथनेमि के सदृश राजीमती ने कुल के गौरव से बचा लिया था, उसी तरह उसके जाति कुल की महत्ता समझाकर पुनः चारित्र में स्थिर कर सकते हैं । अतः आत्मार्थी को यह जाति और कुल की खास आवश्यकता है ।

३. प्रायः अशुभ कर्मों का क्षीण हुआ हो- प्रायः अर्थात् अधिकतः चारित्र में विघ्न करने वाले चारित्र मोहनीय रूप कठोर कर्म जिसके क्षय हो गये हों वही जीवात्मा दीक्षा के योग्य हो सकता है । ऐसे क्लिष्ट कर्मों का क्षय न हुआ हो तो उस आत्मा को, किसी कारण से दीक्षा स्वीकार कर ले फिर भी 'सहस्र भल्ल' आदि के समान, उल्टा अनर्थ होने का कारण हो सकता है। अतः यह गुण होना आवश्यक है ।

४. निर्मल बुद्धि वाला- पूर्व गुण कहे अनुसार प्रायः बहुत अशुभ कर्म क्षीण होने से बुद्धि विशुद्ध (निर्मल) हुई हो । 'बुद्धि कर्मानुसारिणी' इस तरह कहा है, इसलिए जिसके अशुभ कर्म क्षीण प्रायः हों उसकी बुद्धि भी निर्मल होती है।

५. संसार की असारता जिसके समझ में आ गई हो- उसमें मनुष्य जीवन मिलना दुर्लभ है, मृत्यु का निमित्त जन्म है, क्योंकि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है । संपत्ति चपल है तथा शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वरूप विषय दुःख के कारण हैं, अर्थात् विषय संक्लेश उत्पन्न करने वाले हैं, संयोग का वियोग अवश्य होता है और उसे सहना पड़ता है। शास्त्र में कहा है कि आवीचि मृत्यु की अपेक्षा से प्रति समय में मृत्यु चालू है । धर्म बिन्दु अध्ययन चौथे की टीका में कहा है कि-

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति, गर्भे वसत्यै नरवीर! लोकः ।
ततः प्रभृत्यस्खलित प्रयाणः, स प्रत्यहं मृत्यु समीपमेति ॥

अर्थात्- "युधिष्ठिर को व्यास जी ने कहा कि- हे नरवीर! जीव जब पहली रात्रि से गर्भ में निवास करने के लिये आता है तब से लेकर वह प्रतिदिन अस्खलित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(रुके बिना) गति से मृत्यु के समीप में ही जाता है। अर्थात् प्रतिदिन उसकी आयुष्य घटती है उतनी मृत्यु समीप में आती है।'' और उस मृत्यु का विपाक भी दारुण है अर्थात् मृत्यु जीव का अति क्रूर पराभव है क्योंकि मृत्यु से सर्व प्रकार की चेष्टाएं बंद हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए की गई सारी प्रवृत्तियां रुक जाती हैं। इस तरह 'यह मनुष्य जीवन अति दुर्लभ है इत्यादि से लेकर मृत्यु का विपाक दारुण्य है' वहाँ तक जो भाव बतलाए हैं उन्हें समझने से अपने आप ही स्वभाव से ही उसे संसार की असारता-निगुर्णता का निश्चय हुआ हो (उपा०-क्योंकि जिसने मन में संसार की ऐसी असारता नहीं समझी हो उससे विषय की तृष्णा रुकती नहीं है) इस संसार की असारता उसे समझना आवश्यक है और-

६. इससे संसार के प्रति वैराग्य वाला हो- इससे अर्थात् संसार की निर्गुणता समझने से ही संसार के प्रति हृदय में अनादर प्रगट हुआ हो- वैरागी बना हो, क्योंकि जो संसार में वैरागी न बना हो उसे मधुबिन्दु के स्वाद लेने के समान संसार के सुखों का त्याग दु:ख रूप लगता है। तथा

७. अल्प कषायी- चारित्र का प्राणभूत समता है और कषाय का उदय मन्द हुए बिना क्षमादि दस धर्म प्रगट नहीं होते हैं, अल्प कषाय वाला निश्चय से अपना और दूसरे के क्रोध का अनुबन्ध- परम्परा को रोककर योग्यता प्राप्त कर सकता है।

८. अल्पहास्यादि विकारवान्- वस्तुत: हास्यादि नौ कषाय अल्प हो अर्थात् पतले हो गये हों, हास्य रति अरति भय शोक दुर्गछा तथा वेदना का विकार आदि विशेष करना अर्थात् हास्य आदि बहुत करना अनर्थ दंड रूप है और गृहस्थों को भी उसका निषेध है, अत: साधु जीवन की साधना करने वाले को अल्प ही होना चाहिए। इतना गंभीर न हो तो हास्यादि के वश बना दीक्षित भी कषायों का पोषक रूप बन जाता है।

९. कृतज्ञ- अन्य के किए उपकार को जानना, समझना, उनके प्रति सम्मान करना (उपा० क्योंकि जो उपकारी के उपकार को नहीं समझता वह सामान्य लोगों से भी अति अधम गिना जाता है।)

१०. विनयवान्- धर्म का मूल विनय है और संयम का शरणगार भी वही है अत: दीक्षार्थी को विनीत होना चाहिए। अविनीत से शासन की निंदा होती है।

११. राजादि की संमत- राजा मन्त्री आदि की संमति होनी आवश्यक है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिसकी दीक्षा हो उसका राजादि विरोध न होना चाहिए क्योंकि राजादि का जो विरोधी हो उसे दीक्षा देने से उलटा अनर्थ होने की संभावना हो सकती है । तथा

१२. अद्रोही- द्रोही अविश्वासी बनता है और मलिन परिणाम होने के कारण आराधना के स्थान पर विराधना भाव होते हैं, इससे निंदा होती है । इसलिए किसी को भी ठगने वाला न हो ।

१३. सुन्दर शरीर वाला- सुन्दर का अर्थ है जिसके कोई भी अवयव-इन्द्रियाँ आदि कमी न हों, पाँचों इन्द्रियाँ पूर्ण शरीर वाला हों, क्योंकि धर्म की साधना में शरीर का मुख्य कारण है इसलिए विनष्ट अवयव वाला दीक्षा के लिए अयोग्य है। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

इत्थे पाए कन्ने, नासा उट्ठे विवज्जिआ चेव ।
वामणगवडभखुज्जा, पङ्गुल टुंटा य काणा य ॥७६५॥

अर्थात्- जो हाथ, पैर, कान, नाक अथवा होठ बिना हो या जिसके ये अंग काटे हुए अथवा अन्य रूप में नष्ट हुए हों तथा छोटे हों अथवा माप बिना के हाथ-पैर आदि अवयव हों, जो वामण हो, आगे छाती या पीछे पीठ निकली हो, कुरूप हो, पैर से चलने की शक्ति न हो, हाथ से काम न कर सके या आंख से काना हो, इत्यादि शरीर सम्बन्धी दोष वाले को दीक्षा के अयोग्य समझना । पांचों निर्विकारी इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीर दीक्षा पालन में आवश्यक है।

१४. श्रद्धालु- श्रद्धा वाला होना चाहिए । श्रद्धा बिना की गई ज्ञान क्रिया निष्फल है, श्रद्धा के बिना वाली आत्मा ने दीक्षा ली हो तो भी अंगार मर्दकाचार्य के समान उसका त्याग करना चाहिए । तथा

१५. स्थिर- स्थैर्य गुण वाला अर्थात् स्वीकार किए कार्य को बीच में अधूरा नहीं छोड़ने वाला हो (उपा० क्योंकि अस्थिर चित्त वाला स्वयं स्वीकार किए हुए भी तप अभिग्रह आदि कार्यों को भी पूर्ण नहीं करता)। इसलिए चित्त की स्थिरता आवश्यक है। तथा

१६. समर्पित भाव से आया हो- सर्व प्रकार से आत्म समर्पण भाव से गुरु महाराज के पास दीक्षा लेने आया हो । यह गुण परम आवश्यक है, पूर्व कहे सारे गुण वाला हो परन्तु गुरु को जो समर्पित न हो उसे दीक्षा सिद्ध -सफल नहीं होती है। इसलिए दीक्षित को सर्व विषय में गुरु समर्पित रहना चाहिए ।

इस तरह यहाँ दीक्षा की योग्यता रूप गुणों का वर्णन किया। उसके द्वारा परमार्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से उसके प्रतिपक्षी दीक्षा की अयोग्यता रूप दोष भी कहते हैं। उनकी संख्या अठारह है। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

बाले वुड्ढे नपुंसे अ कीबे जड्डे अ वाहिए ।
तेणे रायावगारी अ, उम्मत्ते अ अदंसणे ।।७६०।।

दासे दुट्ठे अ मूढे अ, ऋणत्ते जुंगिए इअ ।
ओबद्धए अ भयए, सेहनिप्फेडिआ इअ ।।७६१।।

इस अट्ठारस भेअग, पुरिसस्स तहित्थि आए ते चेव ।
गुव्विणी सबाल वच्छा , दुन्नि इमे हुंति अन्ने वि ।।७६२।।

अर्थात् १- बाल, २- वृद्ध, ३- नपुसंक, ४- क्लीव, ५- जड़, ६- व्याधित, ७- चोर, ८- राजापकारी, ६- उन्मत्त, १०- दृष्टि बिना का, ११- दास, १२- दुष्ट, १३- मूढ, १४- देनदार, १५- जुंगित, १६- पराधीन, १७- चाकर और १८- शैक्ष निष्फेटिका। ये अठारह दोष पुरुष सम्बन्धी हैं, दूसरे दो दोष विशेष रूप में स्त्री के होते हैं गर्भवती और सबाल वत्सा। इस तरह अयोग्य स्त्री के बीस भेद होते हैं।

१. बाल- यहाँ दीक्षा विषय में जन्म से लेकर आठ वर्ष की उम्र होती है, वहाँ तक बाल कहलाता है। वह दीक्षा को अंगीकार नहीं कर सकता क्योंकि आठ वर्ष से कम उम्र वाले सारे जीवों को जीव स्वभाव से ही देश विरति अथवा सर्व विरति धर्म की प्राप्ति का, उसके परिणाम का, अभाव होता है। पंचवस्तु में कहा है कि-

एएसि वयपमाणं, अट्ठसमाउत्ति बीअरागे हिं ।
भणियं जहन्नथं, उक्कोसं अणावगल्लो त्ति ।।५०।।

अर्थात्- "श्री जिनेश्वर भगवान् ने दीक्षा के योग्य द्रव्यलिंग (साधुवेश) धारण करने के लिए कम से कम मनुष्य की उम्र का प्रमाण आठ वर्ष का और उत्कृष्ट से अति वृद्ध न हो तब तक हो सकता है। अन्य आचार्य तो गर्भ से आठवें वर्ष वाले को भी दीक्षा मान्य करते हैं क्योंकि निशीथ चूर्णि में कहा है कि "**आदेसेण वा गब्भट्ठ मस्स दिक्खत्ति**" अर्थात् 'विकल्प से गर्भ से आठवें वर्ष वाले को भी दीक्षा हो सकती है।'

यहाँ प्रश्न करते हैं कि-भगवान श्री वज्रस्वामी की दीक्षा के साथ तो यह बात नहीं घटती ? क्योंकि "**छमासिअं छसु जसं, माऊए समन्निअं वंदे ।**" अर्थात् 'छह महीने की उम्र वाले छ काया की जयना में यतना वाले श्री वज्रस्वामी तथा उनकी माता को भी मैं वंदन करता हूँ।' इस तरह कहा है, इससे वे छह महीने की उम्र में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दीक्षित हुए थे, ऐसा सूत्र का प्रमाण है, उसका क्या मतलब है ? उसका सामधान करते हैं कि ऐसा प्रसंग किसी समय ही बनता है, इसलिए वह बतलाया हुआ उम्र का कोई दोष नहीं है । पूज्य हरिभद्र सूरि जी ने पंच वस्तु में कहा है कि-

तदहो परिभवरिवत्तं, चरण भावो वि पायमेएसिं ।
आहच्च भाव कहगं, सुत्तं पुण होइ णायत्वं ॥५१॥

अर्थात्- 'आठ वर्ष से नीचे को दीक्षा देने वाला पराभव का पात्र बनता है, बालक होने से जिस किसी से पराभव हो सकता है और इससे कम उम्र वाले बालक को प्राय: चारित्र के परिणाम भी नहीं होते । यहां शिष्य प्रश्न करता है कि- 'इस तरह कहने से तो सूत्र के साथ में विरोध आता है, क्योंकि छह महीने की उमर वाले श्री वज्रस्वामी छह काय में यतना वाले कैसे हो सकते हैं ?' इसका उत्तर देते हैं कि " श्री वज्रस्वामी के विषय का सूत्र वचन किसी समय भाव का सूचन है, हमेशा के लिए नहीं है । यहां प्राय: शब्द से वह विरोध रोका है, इससे विरोध नहीं रहता। इस तरह एक तो आठ वर्ष से कम होने से पराभव होने का संभव है और दूसरा उसे चारित्र के प्राय: परिणाम का अभाव होने से उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए । दूसरी बात यह भी है कि छोटे को दीक्षा देने में उससे संयम की विराधना आदि दोष लगते हैं जैसे कि अज्ञान से वह जहाँ जहाँ फिरेगा वहाँ वहाँ तपे हुए लोहे के गोले के समान छह काय जीवों की विराधना करने वाला होता है और 'साधुओं में तो दया भी नहीं है कि देखो ऐसे छोटे बालक को भी जबरदस्ती दीक्षा रूप जेल में बन्दकर उसकी स्वतन्त्रता लूट ली है' इस तरह लोक निन्दा भी होती है और माता के करने योग्य उसकी सार संभाल साधु को करनी पड़ती है। यह करने से साधु को स्वाध्याय करने में भी विघ्न होता है, इत्यादि कारणों से आठ वर्ष से कम उम्र वाले दीक्षा के लिए अयोग्य जानना ।

२. **वृद्ध**- सत्तर वर्ष से अधिक उम्र वाला दीक्षा के लिए वृद्ध कहलाता है। अन्य आचार्य तो कहते हैं कि सत्तर वर्ष के पहले भी इन्द्रियों के कमजोर हो जाने से साठ वर्ष से अधिक भी वृद्ध कहलाता है। ऐसे वृद्ध को भी विनय सिखाना, समझाना आदि मुश्किल होता है । धर्म बिन्दु वृत्ति में कहा है कि-

उच्चासणं समीहइ, विणयं ण करेइ गत्वमुत्वहइ ।
वुड्ढो न दिक्खि अव्वो, जइ जाओ वासुदेवेण ॥१॥

अर्थात्- 'वृद्ध साधु ऊँचे आसन पर बैठने की इच्छा करता है, विनय नहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करता, गर्व करता है, इसलिए वासुदेव का पुत्र भी हो फिर भी दीक्षा नहीं देनी चाहिए।' वृद्ध का उपर्युक्त आयुष्य का प्रमाण सौ वर्ष की अपेक्षा से कहा गया है, वस्तुतः तो जिस काल में उत्कृष्ट आयुष्य जितना हो उसका दसवाँ भाग करना । उसका यदि आठवां, नौवां दसवीं दसांश में पहुंचा हो, उसे वृद्धत्व समझना ।

३. **नपुंसक**- स्त्री और पुरुष दोनों को भोगने की अभिलाषा वाला पुरुषाकृति मनुष्य नपुंसक कहलाता है, वह भी बहुत दोषों का कारणभूत होने से दीक्षा के योग्य नहीं कहा है ।

४. **क्लीव**- स्त्रियों द्वारा भोग के लिए निमन्त्रण करने से या बिना वस्त्र की स्त्री के अंगोपांग देखने से अथवा स्त्रियों के कोमल शब्द आदि सुनने से प्रगट हुई भोग की इच्छा को रोकने में-सहन करने में जो शक्तिमान न हो, वह पुरुषाकृति मनुष्य 'क्लीव' कहलाता है। वह पुरुष वेद की प्रबलता के कारण तीव्र वेदोदय से अपने में प्रगट हुई भोग की इच्छा के जोर से कभी बलात्कार से भी किसी स्त्री का आलिंगनादि करे, इत्यादि कारण बनता है इससे शासन की निन्दा होती है। अतः वह दीक्षा में अयोग्य ही समझना ।

५. **जड़**- जड़ के तीन प्रकार होते हैं- १- भाषा से जड़ २- शरीर से जड, और ३- क्रिया से जड़ । इसमें भाषा जड़ भी तीन प्रकार का होता है- एक जड़मूक दूसरा मन्मनमूक और तीसरा एलकमूक । जो पानी में डूबे हुए के समान बुड़ बुड़ आवाज करते बोले वह जड़मूक, जीभ खिचती हो इस तरह बोले, उसका वचन बीच में टूटे वह 'मन्मनमूक' और जो गूंगापने के कारण बकरे के समान अव्यक्त उच्चारण मात्र ही करे वह 'एलकमूल' जानना । दूसरा शरीर से जड़ स्थूल शरीर वाला होने से विहार करने में, भिक्षार्थ जाने में तथा वंदनादि करने में अशक्त होता है और समिति गुप्ति के पालने में, या पडिलेहण आदि क्रिया को बारम्बार समझाने पर भी अतिशय जड़ता के कारण नहीं समझ सकता । वह तीसरा करण अर्थात् 'क्रिया में जड़' समझना । इस प्रकार तीनों प्रकार के भाषा जड़ ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ होने से और शरीर जड़ भी मार्ग में चलने में, विहार आदि करने में या आहार पानी लाने आदि में अशक्त होने के अतिरिक्त शरीर अति स्थूल होने से पसीने के कारण उसके कांख आदि विभाग में दुर्गन्ध होती है उन अवयवों को पानी से धोने में चींटियाँ आदि जीवों की विराधना रूप असंयम होता है, तथा 'बहुत खाकर शरीर बढ़ाया है' इस तरह कहकर लोग भी अति निन्दा करते, एवं वह उच्च श्वास वाला हो तो उसे श्वास चढ जाता है इसलिए उसे दीक्षा नहीं देना । तीसरा क्रिया जड़ तो क्रिया को वह समझ नहीं सकता इसलिए वह स्पष्ट अयोग्य ही है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६. व्याधित- जो महान रोग से पीड़ित हो वह रोगी भी दीक्षा के लिए अयोग्य है, क्योंकि उसकी चिकित्सा करने कराने में छह काय जीवों की विराधना होती है और स्वाध्याय में अन्तराय आदि होता है।

७. चोर- चोरी करने की आदत वाला भी गच्छ को अनेक प्रकार के अनर्थों का कारण बनता है इसलिए वह भी दीक्षा के लिए अयोग्य ही है ।

८. राजापकारी- राज्य का धन, परिवार आदि का द्रोह करने वाले को दीक्षा देने से राजा कोपायमान होकर 'साधुओं का वध करता, देश से बाहर कर देता' इत्यादि उपद्रव होने संभव होने से उसकी अयोग्यता भी स्पष्ट ही है ।

९. उन्मत्त- यक्ष, व्यंतर आदि दुष्ट देवों से या अति प्रबल मोह के उदय से परवश बना हो वह उन्मत्त कहलाता है । उसे रुकावट यक्ष आदि की ओर से उपद्रव होने संभव होने से तथा स्वाध्याय, ध्यान आदि संयम योग की हानि होने से वह भी दीक्षा के लिए अयोग्य जानना ।

१०. बिना दृष्टि का- यहाँ बाह्य दृष्टि- नेत्र- जिसको न हों इस प्रकार द्रव्य से अन्ध और अन्तर्दृष्टि अर्थात सम्यकत्व जिसको न हो ऐसा स्त्यानर्द्धि निद्रा वाला (जो दिन में शत्रु मारने का चिन्तन करता हो वह रात्रि में नींद में ही कठोर कार्य कर देता है) वह भाव से अंधा । इस तरह नेत्र से अन्धा और स्त्यानर्द्धि निद्रावाला मिथ्या दृष्टि- इन दोनों को दीक्षा देने से भी अनर्थ ही होता है। इसलिए वे अयोग्य हैं।

११. दास- किसी के घर की दासी का पुत्र, अथवा दुष्काल आदि में धन आदि से खरीद किया गया हो ऐसे दास को दीक्षा देने से उसका मालिक उपद्रव करेगा अत: वह भी अयोग्य है।

१२. दुष्ट- दुष्टता दो प्रकार की होती है- १. कषायदुष्ट और २. विषय दुष्ट, उसमें प्रथम उत्कट क्रोध आदि करने वाला और दूसरा परस्त्री आदि में अतीव आसक्त । इस प्रकार अति संक्लिष्ट अध्यवसाय होने के कारण दोनों दीक्षा के अयोग्य हैं ।

१३. मूढ़- स्नेह राग अथवा अज्ञानादि के वश परतन्त्रता से यथार्थ स्वरूप से वस्तु को समझने में शून्य मन वाला हो उसे 'मूढ़' जानना। ऐसे ज्ञान और विवेक मूलक भी भगवती दीक्षा में अधिकारी नहीं हैं । अर्थात् दीक्षा में मूल योग्यता रूप, ज्ञान और विवेक का अभाव होने से अधिकारी नहीं है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१४. देनदार- जिसके सिर पर कर्ज हो उसे भी दीक्षा देने से लेने वालों की ओर पराभव होता है, अत: वह भी स्पष्ट अयोग्य है।

१५. जुगित- जाति से, कर्म सेऔर शरीर आदि से दूषित हो वह 'जुंगित' कहलाता है, उसमें चण्डाल, कोली, बरूद, दरजी आदि को अस्पृश्य माना जाता है वे जाति जुंगित, स्पृश्य होते हुए कसाई, शिकारी इत्यादि निन्दित व्यापार करने वाले वे 'कर्म जुंगित' हैं और पागल, कुबड़ा, वामण, बिना कान का बहरा आदि 'शरीर जुंगित' समझना। दीक्षा के लिए ये तीनों भी अयोग्य हैं, क्योंकि ऐसों को दीक्षा देने से लोगों में साधुता की निंदा होती है।

१६. पराधीन- जो धन लेकर या विद्या आदि ग्रहण करने के कारण अमुक समय के लिए अन्य के बन्धन में हो उसे पराधीन-अवबद्ध जानना, ऐसे को दीक्षा देने से कलह आदि होने का कारण होने से वह अयोग्य समझना।

१७. चाकर- कुछ पैसे आदि वेतन लेकर धनिक के घर नौकरी करने के लिए रहा हो उसे दीक्षा देने से भी उस धनिक आदि को अप्रीति होती है, इससे वह अयोग्य ही समझना।

१८. शैक्षनिष्फेटिका- 'शैक्ष' अर्थात् जिसे दीक्षा देने की इच्छा हो उसका 'निष्फेटिका' अर्थात् अपहरण करना उसे शैक्षनिष्फेटिका कहते हैं। इससे माता पितादि ने आज्ञा न दी हो उसका भी अपहरण करके दीक्षा देना वह भी 'शैक्षनिष्फेटिका' होता है, अत: अपहरण करना भी अयोग्य समझना, क्योंकि अपहरण से उसके स्वजनादि का कर्मबन्धन होता है, और दीक्षा देने वाले को अदत्तादान (चोरी) आदि दोष लगते हैं।

ये अठारह दोष पुरुष के विषय में समझना। स्त्रियों के विषय में भी यही अठारह दोष हैं। इसके अतिरिक्ति अन्य भी दो दोष स्त्रियों के विषय में अधिक हैं, एक 'गर्भवती' अर्थात् सगर्भा और दूसरी 'सबालवत्सा' अर्थात् जिसका बच्चा स्तनपान करता हो। इस तरह सब मिलाकर दीक्षा के लिए अयोग्य स्त्रियों के बीस भेद हैं। उसके दोष भी जैसे पुरुष के विषय में बताया है वैसे ही स्त्री के सम्बन्ध में भी समझ लेना। दीक्षा के लिए अयोग्य नपुंसक के दस भेद हैं वह प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

पंडए वाइए कीवे, कुंभी ईसालु यत्ति अ ।
सउणी तक्कम्म सेवी अ, पक्खि आपक्खिए इअ ॥७६३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सोगंधिए अ आसत्ते, दस एए नपुंसका ।
संकिलिट्ठत्ति साहूणं, पव्वावेउं अकप्पिआ ।।७६४।।

अर्थात्- १- पण्डक, २- वातिक, ३- क्लीव, ४- कुम्भी, ५- इर्ष्यालु, ६- शकुनी, ७- तत्कर्म सेवी, ८- पाक्षिकापाक्षिक, ९- सौगन्धिक, और १०- आसक्त, ये दस प्रकार के नपुंसक संक्लिष्ट चित्तवाले होने से साधुओं को उन्हें दीक्षा देना योग्य नहीं है। वे नगर दाह के समान भोग के लिए अति तीव्र अध्यवसाय वाले होने से स्त्री और पुरुष दोनों को भोगने की इच्छा वाला होता है इससे दोनों को संक्लिष्टता (दुष्टता) एक समान जानना। उसमें अब पण्डक का लक्षण धर्म बिन्दु अध्ययन पांचवें की टीका में कहते हैं कि-

महिलासहावो सरवण्ण भेओ, मिण्ढं महन्तं मउआ य वाणी ।
ससद्दयं मुत्तमफेणयं च एआणि छप्पंडगल वखणाणि ।।१।।

अर्थात् - पुरुष के आकार वाला होने पर भी स्वभाव स्त्री के समान होता है, इसका स्वभाव इस तरह होता है, कि इसकी चाल गति त्रास युक्त पैर वाली, आकुल और मन्द होती है, शंकापूर्वक पीछे देखते हुए चलता है, शरीर ठंडा और कोमल स्पर्श वाला हो, दो हाथ से स्त्री के समान बारम्बार तालियां दे, बोलते समय स्त्री के समान बायें हाथ की हथेली सीधी पेट पर रखकर उसमें दाहिने हाथ की कोहनी रखकर दाहिने हाथ की हथेली में मुख की स्थापना कर भुजा को उछालते बोले, बारम्बार कटि प्रदेश पर दो बाहु, दो हाथ रखे, वस्त्र न हो तब स्त्री के समान दो हाथ से हृदय को ढके, बोलते समय बारम्बार दोनों भ्रकुटी को टेढी फेंके, कटाक्ष करे, सिर के केश बांधना, वस्त्र ओढ़ना, इत्यादि स्त्री के समान करे, स्त्रियों के आभूषण आदि पहनने में बहुमान-आदर रखे, स्नान आदि एकान्त में गुप्त रूप में करे, पुरुष की सभा में भयभीत शंका शील रहे, और स्त्रियों की सभा में नि:शंक रूप में बैठे, पकाने पीसने आदि स्त्रियों के कार्य करे इत्यादि उसमें स्त्री रूप का स्वभाव हो, वह पंडक का एक लक्षण है, दूसरा स्वर अर्थात् शब्द आवाज तथा शरीर का वर्ण और उपलक्षण से शरीर का गन्ध आदि स्त्री पुरुष की अपेक्षा से उसका विलक्षण विपरीत होता है तीसरा-पुरूष चिहन मोटा होता है चौथा वाणी कोमल होती है, पांचवां- स्त्री के समान मूत्र करते अवाज होती है और छठा वह बिना झाग का होता है, ये छह लक्षण पंडक के जानना।

२. वातिक- वायु की प्रकृति वाला हो। वह वातिक अपने कामोदय से अथवा अन्य कारण से विकार होने से स्त्री के भोग के बिना जो नहीं रह सके, वेदोदय को रोकने में असमर्थ हो।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. क्लीव- असमर्थ हो वह 'क्लीव' कहलाता है, उसके- दृष्टिक्लीव, शब्द क्लीव, आश्लिष्ट क्लीव और निमन्त्रण क्लीव इस तरह चार भेद होते हैं। उसमें १- जो वस्त्र रहित स्त्री को देखकर क्षोभ विकार प्राप्त करे वह दृष्टि क्लीव है, २- स्त्री के शब्द सुनकर ही क्षोभ हो वह शब्द क्लीव है, ३- स्त्री के आलिंगन से क्षोभ हो वह आश्लिष्ट क्लीव है और ४- स्त्री द्वारा भोग के लिए निमंत्रण करने से क्षोभ प्राप्त करे वह निमंत्रण क्लीव जानना ।

४. कुम्भी- जिसको वेद मोहनीय कर्म उदय से पुरुष चिन्हन अथवा अण्ड-कोष कुंभ के समान स्तब्ध रहे ।

५. ईर्ष्यालु- स्त्री को भोगते किसी पुरुष को देखकर जिसे अतीव ईर्ष्या हो।

६. शकुनी- वेद की अति उत्कटता से चकवा के समान बारम्बार स्त्री सेवन करने में आसक्त ।

७. तत्कर्म सेवी- मैथुन से वीर्यपात होने पर भी कुत्ते के समान वेद की अति तीव्रता से जीभ से चाटना आदि निन्दनीय आचरण में सुख अनुभव करना वह तत्कर्म सेवी है ।

८. पक्षिकापक्षिक- जिसे शुक्लपक्ष में अतीव और कृष्ण पक्ष में स्वल्प वासना जागे वह पक्षिकापक्षिक है।

९. सौगन्धिक- सुगंध वाला मानकर स्वलिंग को सूंघे वह । और

१०. आसक्त= मैथुन से वीर्यपात होने के बाद भी स्त्री को आलिंगन देकर उसकी कांख, गोदी, अचल, गुह्य भाग आदि अंगों में अपना अंग लगा कर पड़े रहना वह आसक्त है ।

ये दस प्रकार के नपुंसक दीक्षा के लिए अयोग्य कहे हैं। ये 'पंडक' इत्यादि परिचय उससे या उसके मित्र आदि के कहने से हो सकता है । यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि- पुरुष की अयोग्यता में नपुंसक कहा है और यहाँ भी कहा है तो उसमें क्या अन्तर है ? तब गुरु महाराज कहते हैं कि- पुरुष की अयोग्यता में कहा है वह पुरुष आकृति वाला और यहां नपुंसक आकृति वाला कहा है वह नपुंसक समझना । श्री निशीथ चूर्णि में कहा है कि **"एआणि नपुंसया दस, ते पुरिसेसु चेव वृत्ता नपुंसदारे, जइ जे पुरिसेसु वुत्ता ते चेव इहं पि किं कओ भेओ ? भन्नइ, तहिं पुरिसा गिरगहणं सेसयाण भवति ।"**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् 'यहाँ दस नपुंसक कहे हैं, तो पुरुषों की अयोग्यता के नपुसंक द्वार में कहा है और यहाँ भी कहे हैं उसमें भेद क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि- वहाँ पुरुष की अयोग्यता के वर्णन में कहा है । वह तो केवल पुरुष आकृति वाला ही समझना, शेष वहाँ वर्णन नहीं किया । इसी तरह स्त्रियों में भी स्त्री आकृति वाली होने पर नपुंसक अयोग्य समझना । शिष्य फिर प्रश्न करता है- आपका समाधान सम्यग् रूप नहीं लगता, क्योंकि शास्त्र में नपुंसक सोलह प्रकार के सुने जाते हैं तो यहाँ दस ही क्यों कहा ? गुरु देव कहते हैं- तुम्हारी बात सत्य है, परन्तु उन सोलह में से दस प्रकार के दीक्षा के लिए अयोग्य हैं, इसलिए उसका ही स्वरूप यहाँ कहा है । शेष छह तो दीक्षा के लिए योग्य हैं । इस विषय में धर्म बिन्दु अध्ययन पांचवें की टीका में कहा है-

वडिढ्ए चिप्पिए चेव, मंत ओसहिउवहए ।
इसि सत्ते देव सत्ते अ, पव्वावेज्ज नपुंसए ।।१।।

अर्थात्- **१- वर्द्धितक**- अर्थात् भविष्य में राजा के अंत:पुर की निगरानी रखने के लिए कंचुकी रूप में नौकरी मिले आदि के उद्देश्य से बचपन में ही छेदन करके जिसके अण्डकोष गलवा दिये हों । **२- चिप्पिट**- जन्म के समय में ही जिसके अण्डकोष अंगुठे अंगुलियों द्वारा मसल कर गला दिये हों । **३- मन्त्र बल**- इन दोनों प्रकार के प्रयोग से अण्डकोष गला देने से नपुंसक वेद का उदय होता है तथा किसी स्त्री अथवा पुरुष को मन्त्र बल से, तथा **४- औषध प्रयोग**- किसी स्त्री या पुरुष को औषधि के प्रयोग से उसको स्त्रीवेद अथवा पुरुषवेद नाश करने से नपुंसक वेद प्राप्त होता है। **५- ऋषि शाप**- वह किसी ऋषि मुनि तपस्वी आदि के शाप से और **६- देव के शाप**- से नपुंसक वेद का उदय हुआ हो अथवा वह नपुसंक बना हो, ये छह प्रकार के नपुंसक बने स्त्री या पुरुष को उसमें दीक्षा के योग्य दूसरे लक्षण हों तो दीक्षा दे सकते हैं ।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि-प्रारंभ में यतिधर्म की योग्यता की प्रस्तावना करने पर भी यहाँ केवल दीक्षा की योग्यता बतलाकर उस विषय को समाप्त करने में आता है, तो पूर्वापर का क्या विरोध नहीं आता ? इसका गुरु उत्तर देते हैं कि- सुनो ! तुम जो प्रश्न करते हो वह ऐसा नहीं है, क्योंकि तुम परमार्थ नहीं समझते। हमने यहाँ जो यतिधर्म का वर्णन प्रारंभ किया है वह धर्म आचार रूप है अर्थात् उसका और दीक्षा का अर्थ एक ही है । पूज्य हरिभद्र सूरीश्वर जी ने पंच वस्तुक में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पव्वज्जा निक्खमणं, समया चाओ तहेव वेरग्गं ।
धम्मचरणं अहिंसा दिक्खा एगट्ठिआइं तु ।।६।।

अर्थात्- पाप से हटकर शुद्ध चरित्र के योग में 'प्र' =विशेष रूप में, 'व्रजनम्'= गमन करना वह १- **प्रव्रज्या** है। द्रव्य और भाव संयोग से बाहर 'निष्क्रमण' अर्थात् निकलना वह २-**निष्क्रमण** है। इष्ट अनिष्ट सर्व में समभाव रखना वह ३- **समता** है। बाह्य - अभ्यन्तर परिग्रह की मूर्छा छोड़नी वह ४- **त्याग** है। विषयों का राग छोड़ना वह ५- **वैराग्य** है। क्षमा आदि दस प्रकार के धर्म का पालन करना वह ६- **धर्म चरण** है। प्राणियों के घात का त्याग करना वह ७- **अहिंसा** है और सर्व जीवों को अभय दान देना भय रहित कर देना- भावदानशाला वह ८- **दीक्षा** है । ये आठ अर्थ दीक्षा के जानना ।

अब यह 'यति धर्म' शब्द में रहा 'यति' और 'धर्म' दो अंशों के अर्थ ज्ञान बिना समासान्त 'यतिधर्म' शब्द का ज्ञान मुश्किल होता है, इस लिए प्रथम 'यति' शब्द का अर्थ कहते हैं-

यतिरेवं विधो भव्यो, गुरोर्योग्यस्स सन्निधौ ।
विधिप्रव्रजितः शुद्ध व्यवहारज्ञिनैर्मतः ।।७८।।

मूलार्थ- जो दीक्षा की योग्यता प्राप्त करने वाला तथा भव्य= मोक्ष के लिए योग्य एवं योग्य गुरु के पास में विधिपूर्वक दीक्षित बना हो, उसे श्री जिनेश्वर प्रभु ने शुद्ध व्यवहारनय से 'यति' कहा है।

व्याख्या- पूर्व कहे अनुसार यह अर्थ हुआ है कि स्वयं योग्य होना चाहिए और योग्य के पास में विधिपूर्वक दीक्षा लेने वाला यति कहलाता है । उसमें दीक्षा लेने वाले की योग्यता कही है। अब पांच श्लोक द्वारा योग्य गुरु का स्वरूप कहते हैं -

योग्योगुरुस्तु पूर्वोक्त गुणैः सङ्गत एवहि ।
विधिप्रपन्न प्रव्रज्य, आसेवित गुरुक्रमः ।।७९।।

अखण्डित व्रतो नित्यं, विधिना पठितागमः ।
तत एवातिविमल-बोधयोगाच्च तत्ववित् ।।८०।।

उपशान्तश्च वात्सल्य युक्तः प्रवचनेऽखिले ।
सर्वसत्व हितान्वेषी, आदेयश्चानुवर्त्तकः ।।८१।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गम्भीरश्चाविषादी , चोपसर्गादि पराभवे ।
तथोपशम लब्ध्यादि युक्तः सूत्रार्थ भाषकः ॥८२॥
स्वगुर्वनुज्ञात गुरु पदश्वेति जिनैर्मतः ।
पादार्द्धगुण हीनौ च, योग्यौ तौ मध्यमावरौ ॥८३॥पञ्चभिकुलकम्

मूलार्थ- जिसने १- विधिपूर्वक दीक्षा ली हो, २- गुरु के चरणों की सेवा की हो, ३- जिसके व्रत खण्डित न हों, ४- विधिपूर्वक जिसने नित्य सिद्धान्त का अभ्यास किया हो, इससे ५- अति निर्मल बोध होने से जो तत्व को जानता हो, ६- विकार शान्त हो गया हो, ७- चतुर्विध श्री संघ के प्रति वात्सल्य भाव रखता हो, ८- सर्व जीवों का हित चिन्तक हो, ९- आदेय वचन वाला हो, १०- भिन्न भिन्न प्रकृति वाले जीवों को भी संभाल सके, ११- गम्भीर हो, १२- उपसर्गादि पराभव के समय में भी खेद न करे, १३- अन्य के कषाय आदि शान्त करने की शक्ति वाला हो १४- सूत्र और अर्थ को समझने वाला और १५- अपने गुरु ने जिसे गुरु पद पर स्थापित किया- मान्य किया हो । ये पंद्रह गुण वाला हो, उसे श्री जिनेश्वर परमात्मा ने योग्य (उत्तम) गुरु कहा है। उसमें से चतुर्थांश कम गुण वाले गुरु मध्यम और आधे से कम हो वह गुरु जघन्य कोटि के होते हैं ।

व्याख्या- दीक्षा देने की योग्यता वाले गुरु का परिचय प्राप्त करने को श्री जिनेश्वर ने कहा कि- पहले कहे अनुसार दीक्षा लेने की योग्यता रूप गुण से युक्त बनकर जिसने दीक्षा नहीं ली हो, जैसे तैसे कारण से अथवा स्वयं में यदि गुण का अभाव हो तो वह किसीको दीक्षा देकर उसमें गुणों का बीज किस तरह बो सकेगा ? इसलिए इस प्रकार विधि पूर्वक दीक्षित होना आवश्यक है, इसके उपरांत उसमें गुरुता रूप में अन्य कौन से गुण होने चाहिएं ? वह कहते है:-

१- विधिपूर्वक दीक्षा लेने वाला- इसकी विधि आगे कही जायेगी उस क्रम से जिसने दीक्षा स्वीकार की हो ।

२- गुरू का उपासक- गुरु महाराज के चरणों की सेवा करने वाला अर्थात् गुरु कुलवास में रहकर गुरु बड़े पूज्य साधु की यथायोग्य सेवा जिसने की हो ।

३- अखण्डित व्रत- दीक्षा के प्रारम्भ से लेकर हमेशा शुद्ध दोष रहित अखण्डव्रत युक्त चारित्र की आराधना की हो, अल्प भी विराधना न की हो ।

४- विधिपूर्वक आगम पढ़े हों- शास्त्र में कथनानुसार योग वहन-तप और क्रिया करके आगम शास्त्र का अभ्यास किया हो, तात्पर्य यह है कि सूत्र अर्थ और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सूत्रार्थ के ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला हो, ज्ञान क्रिया के पात्र गुरु महाराज की सेवा करके विनयपूर्वक अध्ययन करने वाला और जिनाग मा का रहस्य जिसने प्राप्त किया हो । श्री हरिभद्र सूरि जी उपदेश पद में कहा है कि-

तित्थे सुत्तत्थाणं, गहणं विहिणा उ एत्थ तित्थमियं ।
उभयन्नू चेव गुरु, विही उ विणयाइओ चित्तो ॥८५१॥

उभयन्नू वि अ किरिया परादढं पवयणा णुरागी अ ।
ससमय पन्न वओ, परिणओ अ पन्नो अच्चत्थं ॥८५२॥

अर्थात्- सूत्र और अर्थ पढ़ने का कार्य विधिपूर्वक तीर्थ में करने को कहा है, वह तीर्थ कौन सा है ? सूत्र और अर्थ दोनों के ज्ञाता-व्याख्याता जो गुरु हैं 'वही तीर्थ हैं' और उनका कायिक, वाचिक, मानसिक विनय करना इत्यादि अनेक जाति की विधि जानना ॥ ८५१॥ पूर्व कहे उस तीर्थ स्वरूप गुरु से सूत्र-अर्थ उभय पद जाना हो, उपरान्त मूल-उत्तर गुण की आराधना रूप क्रिया में तत्पर हो, जिन वचन प्रति बहुत ही बहुमान वाला हो, चरणकरणानुयोग आदि चार प्रकार के अनुयोग रूप श्री जैन सिद्धान्त हैं उसी प्रकार उपदेश देने वाला हो । वय से और व्रत से परिणत-पूर्ण हो तथा बहु बहुविध इत्यादि श्रुतज्ञान को ग्रहण करने वाली श्रेष्ठ तीक्ष्ण बुद्धि वाला हो, इस तरह गुरुदेव द्वारा समझाये अर्थ को कभी भी विपरीत भाव को प्रगट नहीं करने वाला हो ॥ ८५२॥ इस तरह जिनागम के रहस्य को प्राप्त किया हो ।

५- अति निर्मल बोध वाला- पूर्व जो गुण कहे हैं उस विधि से शास्त्र पढ़ने के योग से ही अति निर्मल बोध-बुद्धि का विकास होने से जीव अजीव आदि तत्वों का यथा स्वरूप जानकार तत्व वेत्ता होता है ।

६- उपशान्त- निर्मल बोध होने से मन वचन काया के विकारों से मुक्त, कषायादि उपशमभाव प्रगट होता है।

७- अखिल संघ प्रति वात्सल्य भाव- साधु साध्वी श्रावक श्राविका ये चार वर्ण रूप श्री श्रमण संघ के प्रति हृदय में वात्सल्य भाव रखने वाला हो। वात्सल्य भाव के बिना श्री संघ उपकार नहीं हो सकता है।

८- सर्व जीवों का हित चिन्तक- स्वभाव से ही सर्व जीवों के हितों का चिन्तन करने वाला हो अर्थात् उस प्रकार के चिन्तन, विचार, उपाय आदि से सामान्यतया सभी जीवों का हित करने में उद्यमी रहे। अर्थात् वात्सल्य भाव से सर्व आत्मोपकारक होते हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६- आदेय वचन वाले- पुण्य प्रकृति रूप शुभ कर्म के उदय से वचन अन्य सब जीव स्वीकार करे- मान्य करे, ऐसा जिसका वचन माननीय हो।

१०- अनुवर्तक- अलग अलग स्वभाव वाले जीवों को भी सविशेष गुणवान बनाने की बुद्धि से उनके स्वभाव के अनुसार विरोध न आए इस तरह शिष्यादि के अनुकूल होकर पालन कराने वाला हो। वस्तुतः शिष्य आदि आश्रित वर्ग की प्रकृति के अनुकूल बनकर सन्मार्ग में जोड़ना ही गुरु का गुरुत्व है। शिष्यों को इस तरह पालन नहीं कराने से उल्टे वे शासन के शत्रु होते हैं आदि दोष ही होते हैं। पू० आचार्य हरिभद्र सूरि जी ने पंच वस्तुक में कहा है कि-

एत्थ य पमाय खलिया, पुव्वब्भासेण कस्स व नहुंति ।
जो तेऽवणेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलं ति ॥१८॥

को णाम सारहीणं, स होज्ज जो भद्दवाइणो दमए ।
दुट्ठे वि अजो आसे, दमेइ तं आसियं विंति ॥१६॥

जो आयरेण पढमं, पव्वावेऊण नाणु पालेइ ।
सेहे सुत्त विहीए सो पवयण पच्चणीओ त्ति ॥२०॥

अविको विअपरमत्था, विरूद्ध मिह परभवे अ सेवंता ।
जं पावंति अणत्थं, सो खलु तप्पच्चओ सव्वो ॥२१॥

अर्थात्- दीक्षा के पालन में पूर्व जन्मों के अभ्यास से भूल किसकी नहीं होती ? अर्थात् छअस्थ की भूल होती है क्योंकि अनादिकाल से अभ्यस्त= रूढ़ बने प्रमाद का आमतौर से त्याग नहीं हो सकता है इसलिए उन भूलों को शास्त्रोक्त विधि से जो दूर करे उसका गुरुत्व होना सफल है क्योंकि वही गुणों से भाव गुरु है (१८)। सीधे और अच्छे घोड़े को शिक्षा देने से सारथी की विशेषता नहीं है, वह सारथी नहीं कहलाता। वस्तुतः वक्र तूफानी आदि दुष्ट घोड़े को सरल शान्त बना दे, उसे लोग सारथी अश्वपालक कहते हैं इसी तरह शिष्य को सरल शान्त करे वही गुरु कहलाता है (१६)। और यदि पहले आदर पूर्वक दीक्षा देकर पीछे से सूत्रों के वचनानुसार उसका पालन नहीं करता उस गुरु को शासन का शत्रु कहा है (२०)। शिष्य को शास्त्र के रहस्यों को नहीं समझाने से शास्त्र विरुद्ध वर्तन करने वाला शिष्य इस जन्म में और पर जन्म में जो अनर्थ प्राप्त करता है, उन सारे अनर्थों का कारण गुरु को ही निमित्त समझना (२१)।

११. गम्भीर- गुरु गम्भीर होना चाहिए, किसी भी प्रसंग पर हर्ष-विषाद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिखाना नहीं चाहिए उसे गम्भीर कहते हैं, गुरु में यह गुण अवश्य होना चाहिए।

१२. अविषादि- उपसर्ग- परीषह आदि से पराभव होने पर भी छह काय जीवों की रक्षा आदि संयम पालन करने में दीनता नही होती परन्तु उत्साह रखने वाले हों।

१३. उपशमलब्धि आदि युक्त- उपशम लब्धि अर्थात् अन्य को शान्त करने की सामर्थ्य = शक्ति होनी चाहिए। यह आध्यात्मिक बल है, और आदि शब्द से वस्त्र- पात्रादि संयम में उपकारक वस्तुयें प्राप्त करने की शक्ति, तथा स्थिर हस्त लब्धि आदि अर्थात् जिस को व्रत नियमादि दे वह आत्मा उसके पालन में स्थिर- सशक्त बनता है इत्यादि आत्म शक्ति (लब्धियों) से युक्त होते हैं।

१४. सूत्रार्थ का प्ररूपक- आगम के अर्थों को यथावस्थित रूप में समझाने वाले हों, जिससे संयम का भावपूर्वक पालन कर सके। ऐसे ज्ञान दाता हों, और

१५. स्वगुरु ने गुरुपद पर स्थापना किया हो- गुरु महाराज ने योग्य मानकर उसे स्वयं गुरुपद पर स्थापित किया हो। यहाँ धर्म बिन्दु की टीका के अनुसार स्वगुरु अर्थात् गच्छ के नायक और पंच वस्तु की टीका अनुसार स्वगुरु अर्थात् गच्छ नायक या गच्छ नायक के अभाव में दिगाचार्य आदि समझना। उन्होने जिसे गुरु पद पर स्थापित किया हो।

मूलगाथा ८३ में 'च' शब्द है। वह विशेषण के समुच्चय अर्थ में है और 'इति' शब्द है वह गुरु के गुणों की संख्या की मर्यादा करने के अर्थ में है। अर्थात् इतने गुण युक्त गुरु को हित करने की बुद्धि से शिष्य को दीक्षा देने का अधिकारी समझना। पंचवस्तुक में कहा है कि-

एआरिसेण गुरुणा, सम्मं परिसाइ कज्जरहिए णं ।
पव्वज्जा दायत्वा, तयणुग्गहणिज्जराहेऊ ॥१६॥

अर्थात्- ऐसे गुरु को भी 'अपने शिष्य बढ़ेंगे या दीक्षा देने से आहार पानी आदि लाने का काम करेंगे' आदि इस लोक के कार्यों की अपेक्षा छोड़कर केवल दीक्षा लेने वाले के ऊपर उपकार करना चाहिए और अपने कर्मों की निर्जरा के लिए सम्यग् विधि से दीक्षा देनी चाहिए।

यहाँ दीक्षा लेने वाले के सोलह और देने वाले गुरु के पंद्रह गुण कहे हैं। परन्तु वह उत्सर्ग पक्ष से समझना, अर्थात् इतने गुण वाला दीक्षा लेने वाला अथवा देने वाला योग्य गिना जाता है, इसमें अपवाद यह है कि इन सोलह और पंद्रह में से चौथा भाग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कम हो तो वह दीक्षा लेने वाला अथवा देने वाला मध्यम कक्षा के माने जाते हैं। और जिनमें आधे गुण कम हो वह जघन्य कक्षा के गिने जाते हैं। विशेष में कहा है कि–

काल परिहाणि दोसा, एत्तो एक्काइ गुण विहीणा वि।
जे बहु गुण संपन्ना, ते जोग्गा हुंति णायव्वा ॥३७॥

अर्थात् – काल की हानि रूप दोष (अव सर्पिणी काल) के प्रभाव से पूर्व कहे उसमें से एक, दो आदि गुण कम होने पर भी उनमें बहुत गुण हों वे गुरु और शिष्य योग्य समझना।

द्वितीय पद में अर्थात् अपवाद मार्ग में दीक्षा की यह योग्यता कही है। इससे ही जैसे देश विरति धर श्रावक को दीक्षा देते हैं वैसे इसमें के कई गुण वाले यथा भद्रक – सरल परिणामी (पूर्व जन्म की आराधना से कर्मों की लघुता से कोई जीव गृहस्थ धर्म के बल से सर्वविरति गुण स्थानक प्राप्त कर दीक्षा लेने योग्य बनता है) प्रथम गुण स्थान वर्ती जीवों को भी उन में संयम का निर्वाह करने की योग्यता देखकर गीतार्थ दीक्षा देते हैं। इस तरह दीक्षा देने से वह गुण वाला उसको उत्तरोत्तर विशेष गुण प्रगट होने में हेतु रूप होता है। और अव्युत्पन्न दशा में (विशेष समझने के अभाव में) भी जीव को केवल सम्यक् क्रिया के राग से भी उस धर्म के ही हेतु रूप में सफल होता है। पूजा के अधिकार में पूजा विंशिका में भी आचार्य श्री हरिभद्र सूरि जी ने कहा है कि–

पढयकरणभेएणं, गंथासन्नस्स धम्ममित्त फला।
साहू ज्जुगाइ भावो, जायइ तह नाणुवंधत्ति ॥१॥

अर्थात् – वहाँ पूजा के अधिकार में 'प्रथम करण' अर्थात आखिर यथा प्रवृत्ति करण पूर्ण होने से ग्रन्थी देश के पास में आये जीव को श्री जिन पूजा मात्र धर्म रूप में ही सफल होता है, अर्थात् उसका फल धर्म रूप में ही आता है, 'सद् योगावंचक भाव' प्रगट होता है और 'सम्यग् दृष्टि' आदि उत्तर उत्तर भावों का अविच्छेद होता है। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थी भेद होने के पहले भी अपुनर्बन्धक को श्री जिन पूजा का फल रूप में धर्म ही प्रगट होता है। इसमें संसार बढ़ता नहीं है अर्थात् श्री जिन पूजा से उसे सद्योगावंचकत्व और आगे बढ़कर सम्यग् दृष्टि भाव आदि उत्तरोत्तर आत्म गुणों के विकास की परम्परा चलती है। श्री पंचाशक में तप के वर्णन प्रसंग में उन्होंने कहा है कि–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एवं पडिवत्तीए, एतो मग्गाणुसारि भावाओ ।
चरणं विहियं बहवो, पत्ता जीवा महाभागा ॥१६-२७॥

अर्थात् – इस तरह करने से अथवा धर्म क्रिया में होने वाले उपसर्गादि उपद्रवों का निवारण आदि करने वाले साधार्मिक देव आदि की सहायता से "प्रतिपत्ति = तप रूप उपचार (आचार) को अंगीकार करने से और कषाय आदि को रोकने में भी तप समर्थ होने से, उस तप के आराधकों में से बहुत महा भाग्यवन्त जीव मोक्ष मार्ग के अनुकूल अध्यवसाय के बल से श्री जिनेश्वर देव कथित चारित्र को भी प्राप्त कर गये हैं। अर्थात् तप के आसेवन से बहुत से जीवों ने मार्गानुसारी के बल से आगे बढ़कर चारित्र को भी प्राप्त किया है।" इस तरह मार्गानुसारी द्वारा किया हुआ तप सम्यकत्व के अभाव में भी परम्परा से चारित्र का कारण बनता है। दीक्षा के उद्देश्य से भी पंचाशक में कहा है कि–

दिक्खाविहाणमेयं, भाविज्जं तं तु तंतणीईए ।
सइ अपुण बंधगाणं, कुग्गह विरहं लहुं कुणइ ॥२-४४॥

अर्थात् – श्री जिनेश्वर ने यह दीक्षा विधान कहा है, उसके आचरण की बात तो दूर रही, परन्तु शास्त्रोक्त नीति से केवल पर्यालोचन (ध्यान से देखा जाए) तो भी सकृद् बन्धक और अपुनर्बन्धक जीवों को वह शीघ्रतया कुग्रह का नाश करता है। उसमें 'सकृद् बन्धक' अर्थात् इसके बाद बारम्बार नहीं परन्तु एक ही बार मोहनीय कर्म की स्थिति का उत्कृष्ट बन्ध करने वाला, और अपुनर्बन्धक अर्थात् इसके बाद मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध नहीं करने वाला होता है। उनका स्वरूप इस तरह कहा है – यथाप्रवृत्त करण द्वारा जिसने कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति घटाकर एक कोडा कोड सागरोपम में भी पल्योपम के असंख्यात वें भाग इतनी कम कर दी है– अर्थात् जो ग्रन्थी प्रदेश में आया है, परन्तु ग्रन्थी भेद न किया हो और एक ही समय सीत्तेर कोडा कोडी सागरोपम प्रमाण मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति को भविष्य में पुनः बन्धन करेगा, वह सुकृद् बन्धक कहलाता है और जो उसी तरह स्थिति को खतम कर आखिर ग्रन्थी प्रदेश में आया फिर वह उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बंधन करते ग्रन्थी का भेदन करता है वह अपुनर्बन्धक कहलाता है। क्योंकि 'पावं न तिव्व भावा कुणइ' अर्थात् वह अपुनर्बन्धक 'तीव्रभाव से पाप को नहीं करता है'। ऐसा शास्त्र में कहा है।

इन दोनों प्रकार के आत्माओं को ग्रन्थी भेद नहीं होने से कुग्रह अर्थात् असत्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का आग्रह होता है, परन्तु अविरति सम्यग् दृष्टि आदि का ऐसा संभव नहीं है। इसलिए यहां सकृद् बन्धक, अपुनर्बन्धक दो कहे हैं जो कि मार्गाभिमुख और मार्गपतित अवस्थान प्राप्त करने वाले को ग्रन्थी भेद के अभाव में कुग्रह होना संभव है तथापि प्राप्त हुआ मार्गाभिमुख तथा मार्ग पतित अवस्था के कारण उनको उस कुग्रह का त्याग हो सकता है, इसलिए यहां उसको भी नहीं गिनते। जिसका कुग्रह बलवान है वह केवल सकृद् बंधक और अपुनर्बन्धक ये दोनों दीक्षा का पर्यालोचन करने से कुग्रह का शीघ्रतया विरह हो जाता है इस तरह यहां कहा है। अर्थापत्ति से अन्य को तो होता ही है। इन दोनों को भाव सम्यकत्व का अभाव होने से दीक्षा देते द्रव्य से ही सम्यकत्व का आरोप करने में आता है। उसके आलम्बन से वह कुग्रह का विरह अर्थात् असत्य के पक्ष का त्याग जल्दी कर सकता है। दीक्षा देने वाले के लिए भी अपवाद मार्ग में आ० हरिभद्र सूरि जी ने पंचवस्तुक में कहा है कि–

काल परिहाणि दोसा, इत्तो एक्काइ गुण विहीणेणं ।
अन्नेण वि पव्वज्जा दायत्वा सीलवंतेणं ॥३०॥
गीअत्थो कड जोगी, चारित्ती तह य गाहणा कुसलो ।
अणुवत्तगोऽविसाई, बीओ पव्वावणायरिओ ॥३१॥

अर्थात् - दीक्षा देने वाले के विषय में योग्यता कही, उसमें अपवाद मार्ग को बतलाते हैं - काल परिहाणि रूप दोष के कारण से अर्थात् वर्तमान में सर्वगुण संपन्न गुरु का योग दुर्लभ होने से पूर्व कहे उन पंद्रह में से एक दो आदि गुण कम हो ऐसे अन्य भी शीलवान् गुरु महाराज ने दीक्षा देनी चाहिए। इससे भी आगे बढ़कर वर्तमान में उचित गुरु का स्वरूप बतलाते हैं कि - जो '**गीतार्थ**' अर्थात् सूत्र अर्थ के जानकार हों, '**कृत योगी**' = साधु के योग करणी करता हो, '**चारित्री**' = शील-सदाचार पालन करने वाला हो, '**ग्राहणा कुशल**' = शिष्य को क्रिया अनुष्ठान आदि सिखाने में पालन कराने में कुशल हो, शिष्य के स्वभाव को 'अनुवर्तक' = अनुसरण पूर्वक उसके चारित्र की रक्षा करने वाला हो एवं चारित्र में उपसर्गादि आपत्ति आ जाय तो उस प्रसंग में भी विषाद-खेद करने वाला न हो, अपवाद मार्ग में वह भी दीक्षा देने वाले रूप में योग्य समझना। अर्थात् अपवाद से ऐसे गुरु भी दीक्षा देने के लिए उपयुक्त है।

इस तरह दीक्षा देने वाले गुरु की योग्यता का वर्णन किया। इस विषय में दस पर दर्शन के मत विषेष जिज्ञासुओं को धर्म बिन्दु में से जानने योग्य हैं–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१) वायुवादी, (२) वाल्मिक ऋषि, (३) व्यास ऋषि, (४) सम्राट नामक राजर्षि, (५) नारद मत, (६) वसु राजा, (७) क्षीरकद्म्बक, (८) विश्व, (९) वृहस्पति, और (१०) सिद्धसेन नामक नीतिकार। इसमें प्रथम मत तो परस्पर एक दूसरे से असत्य ठहरते है इसलिए आदर के योग्य नहीं हैं और अन्तिम तीन मत असाधारण गुणों को अनादर पूर्वक केवल योग्यता को ही आगे करते हैं, इससे वे भी योग्य नहीं हैं। आखिर आचार्य श्री हरिभद्र सूरि जी महाराज अपने मत कहते हैं कि थोड़ा भी असाधारण गुण कल्याण का उत्कर्ष साध सकता है, केवल सामान्य गुण ही नहीं इसलिए 'आर्य देश में जन्मा हुआ' आदि जो असाधारण गुण कहे हैं उनमें से आधे तो होने ही चाहिएं। असाधारण गुण नियम से अन्य कम रहे गुणों को प्रकट कर सकते हैं।

इस तरह दीक्षार्थी और दीक्षादाता का स्वरूप कहा। अब पहले मूल गाथा ७८ वीं में 'विधि पूर्वक दीक्षित बना हो' इस तरह कहा है। इससे दीक्षा की विधि को कहने की इच्छा से पहले श्लोक में दीक्षा लेने वाले की और दूसरे श्लोक में देने वाले की विधि कहते है–

गुर्वनुज्ञोपधा योगो, वृत्त्युपाय समर्थनम् ।
ग्लानौषधादिदृष्टान्तात् त्यागो गुरु निवेनम् ॥८४॥

प्रश्नः साधुक्रियाख्यानं, परीक्षा कण्ठतोऽर्पणम् ।
सामायिकादि सूत्रस्य, चैत्यनुत्यादि तद्विधिः ॥८५॥युग्मम्।

मूलार्थ - दीक्षार्थी को बड़े बुजुर्गों की आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। मोह के कारण आज्ञा न दे तो उनकी संमति मिले वैसा कपट भी करना, उनकी आजीविका का प्रबन्ध करना, इस तरह करने पर भी आज्ञा न दे तो ग्लान औषधादि दृष्टान्त के समान छोड़कर जाय (यह बात आगे कही जायेगी) इस तरह विधि पूर्वक गुरु के पास आकर गुरु महाराज को निवेदन करना। गुरु को भी उससे वैराग्य का कारण पूछना, साधु क्रिया की कठिनता बतानी, योग्यता की परीक्षा करनी, सामायिकादि सूत्र मुखपाठ करवाना और चैत्य वंदनादि विधि करवानी– यह दीक्षा देने की विधि है।

व्याख्या – गुरु की आज्ञा प्राप्त करनी आदि दीक्षा विधि का एक कर्त्तव्य रूप है, ऐसा ग्रन्थकार का उपदेश है, इस तरह अन्तिम पद के साथ में वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना। उसमें गुरु यहाँ माता पितादि को समझना, उनकी आज्ञा अर्थात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'तू दीक्षा ले' इस तरह अनुमति प्राप्त करनी चाहिए। इस तरह वह उपयोग पूर्वक अनुज्ञा मांगने पर भी नहीं छोड़े तब क्या करना चाहिए? वह कहते हैं कि – उपधायोग अर्थात् उपधा यानि माया का प्रयोग करना। उस माया को अन्य न जान सके इस तरह करना। इस माया का भेद धर्म बिन्दु ग्रन्थ में कहा है कि- दुष्ट स्वप्न आदि कहना, अर्थात् 'गधे, ऊँट, पाड़े आदि के ऊपर बैठा था' इत्यादि अनिष्ट सूचक मैंने स्वप्न देखा है, आदि शब्द से 'मैंने अपनी दो आंखों के मध्य भाग को देखा है, देवियों का टोला देखा है, आदि मनुष्य से न दिख सके ऐसा विपरीत दिखा है, इत्यादि कपट से माता पिता को कहे कि जिससे वे दीक्षा की अनुमति दें, तथा प्रकृति विपरीत करना, अर्थात् मृत्यु समय में प्रायः स्वभाव प्रकृति का भेद होने से 'अब इसकी मृत्यु नजदीक में है' ऐसा समझकर बुजुर्ग आज्ञा दे, इस उद्देश्य से स्वभाव बदलना। अर्थात् बाहर से मृत्यु के चिह्न दिखाने।

इस तरह विपरीत प्रकृति आदि चेष्टाएँ करने पर भी वे स्वयमेव न समझे तो क्या करना? वह कहते हैं – दैवज्ञ अर्थात् निमित्त शास्त्रादि के जानकार पुरुषों द्वारा उनको इस तरह से निमित्त शास्त्रों की बात सुनानी, अथवा 'इस तरह अमुक चेष्टायें हों तब मृत्यु नजदीक में होता है' आदि उन विपरीत चेष्टाओं के फल ज्योतिषियों द्वारा बताना। यहाँ किसी का 'इस तरह कपट द्वारा दीक्षा स्वीकार करने से क्या लाभ होता है?' ऐसा प्रश्न हो तो उसका समाधान देना कि – **'न धर्मे माया'** अर्थात् धर्म की साधना के लिए जो माया की जाय वह माया कपट नहीं कहलाती है, क्योंकि इसमें किसी का अहित करने का उद्देश्य नहीं है, परन्तु मूढ़ात्मा को समझाने की शुभ दृष्टि होने के परमार्थ से उसमें माया का अभाव है। इसमें भी प्रश्न उठता है कि 'इस तरह कैसे कह सकते हैं कि वह माया नहीं है?' इसका उत्तर देतें है कि – 'ऐसा करने में दोनों का हित है अर्थात् दीक्षा की आज्ञा प्राप्त करने के लिए जो माया करनी पड़े वह अपने को हितकारी है और माता पिता को भी हितकारी-कल्याण रूप है। उसका फल रूप में दीक्षा लेने के बाद स्व-पर का उपकार करने वाला होता है। धर्मबिन्दु अ० ४-३१ की टीका में कहा है कि-

अमायोऽपि हि भावेन, माय्येव तु भवेत् क्वचित्।
पश्येत् स्वपरयोर्यत्र सानुबन्धं हितोदयम् ॥१॥

अर्थात् – "हृदय से बिना माया का होने पर भी स्व-पर का उत्तरोत्तर हित होते देखे तब कोई हितार्थी द्रव्य-क्षेत्र काल भावादि के कारण किसी विषय में बाहर से माया भी करे।" इस तरह शुभ आशय होने से हित साधना हेतु जो माया की जाय वह माया कपट नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'दीक्षा चाहने वाला इस तरह करे, परन्तु उसकी अनुपस्थिति में माता-पितादि अपने निर्वाह के लिए आजीविका को प्राप्त न कर सके, इसलिए वे अनुमति न देते हों तो क्या करना चाहिए ?' वह कहते हैं - 'उनकी आजीविका का प्रबन्ध करना चाहिए अर्थात् आनंद पूर्वक उनकी आजीविका चल सके ऐसा पैसों का साधन आदि कर देना चाहिए या उत्पन्न कर देना चाहिए कि जिससे स्वयं दीक्षा लेने के बाद माता-पिता आदि आश्रित जन आजीविका से दु:खी न हों। ऐसा करने से उपकारी के उपकार की कृतज्ञता और भक्ति भी हो सकती है तथा इस तरह गुरु वर्ग की भक्ति करना जैन मार्ग का महत्व बढ़ाना है, अन्य भी हों उनके लिए भी ऐसा प्रबन्ध करके ही उनकी अनुमति से दीक्षा स्वीकार करे।'

फिर यहां प्रश्न होता है कि - 'ऐसा करने पर भी मान ले कि मोह के योग से वे पुत्र को छोड़ने तैयार न हों तो क्या करना ?' उसके उत्तर में कहते हैं कि- 'कोई सुपुत्र जिस प्रकार व्याधि की पीड़ा से पीड़ित माता पितादि को जंगल में छोड़कर उनकी औषधि के लिए और अपने निर्वाह के लिए जाना आवश्यक होने के कारण शहर में जाता है, वैसे ही आजीविका की व्यवस्था करने पर भी यदि बुजुर्ग अनुमति न दें तो उनको छोड़कर भी दीक्षा अंगीकार करे। दृष्टान्त रूप में माना कि- कोई एक कुलीन पुत्र अपने माता पितादि के साथ में महान अटवी में गया, वहां माता पिता के साथ में वह चल रहा है, उनकी सेवा स्वयं करता है। इसी बीच इनको महा आतंक -मरणान्तक रोग उत्पन्न हुआ, अब उनके उस पुत्र ने उनके राग से विचार किया कि 'ये मेरे पूज्य माता पिता औषधि आदि के अभाव में रोग मुक्त नहीं होंगे, औषधि मिल जाय तो संभव है कि रोग से मुक्त हो जायं अथवा अधिक समय निकाल सकते हैं, अत: तुरन्त ही उनको आराम हो जाय इसलिए शहर में जाकर औषधि ले आऊँ। ऐसा सोच विचार कर जल्दी युक्ति से यह बात उनको समझाकर औषधि और अपने आहार पानी के लिए उनको वहाँ छोड़कर शहर में जाता है तो वह पुत्र उत्तम ही गिना जाता है, उसके द्वारा उनका त्याग करने पर भी त्याग किया नहीं गिना जाता। उल्टा इस प्रसंग पर उनके राग के कारण कोई पुत्र औषधादि के लिए भी बीमार माता पितादि को नहीं छोड़ता, उनके पास ही रहता हो तो उसके द्वारा त्याग न करने पर भी उनका त्याग करने के समान माना जाता है, क्योंकि यहाँ क्रिया की नहीं परन्तु फल की मुख्यता है। वस्तुत: सात्त्विक पुरुष प्रत्येक प्रवृत्ति में फल को ही देखने वाले होते हैं। वास्तव में वह उनको छोड़ता नहीं है परन्तु सेवा करता है और पास में बैठा रहने वाला उनको निरोगी बनाने के लिए उद्यम नहीं करता, इससे वस्तुत:

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सेवा को छोड़ता है– उनके आरोग्य की या भविष्य के हित की उपेक्षा करता है। इसके बजाय औषधि प्राप्त कर उन्हें देकर जीवन दान भी हो सकता है। अतः ऐसा करना ही सत्पुरुष के लिए उचित है।

इस न्याय से यहां भी संसार रूपी अटवी में आया हुआ शुक्ल पाक्षिक उत्तम आत्मा (पुत्र) माता पितादि के साथ घर में रहे तो भी धर्म के बन्धन से रहता है अर्थात् माता पितादि के प्रत्युपकार करने की बुद्धि से रहता है और वहां उस बुजुर्ग के मिथ्यात्व मोहनीय आदि कर्म के उदय रूप रोग उत्पन्न होता है जो कि कर्म रोग नियम से आत्म सुख का विनाश करने वाला, संसार में परिभ्रमण कराने वाला, सम्यकत्व के बीज आदि की प्राप्ति रूप औषधि बिना उस कर्मोदय को रोकने की बुद्धि वाला हितैषी पुरुष भी उसे मिटाने में अशक्त है, और सम्यकत्व आदि औषधि मिले तो उससे मिटने की सम्भावना है। ऐसा समझकर वह शुक्ल पाक्षिक पुत्र धर्म के बन्धन (प्रत्युपकार करने की अपनी जवाबदारी) से विचार करे कि सम्यकत्वादि औषधि बिना (कर्म रोग से) अवश्य उनका विनाश होगा, और धर्म औषध मिलने से जीने की सम्भावना है, इसलिए उनका घर वास–जीवन का निर्वाह हो इस तरह यथा योग्य व्यवस्था करके और उसी तरह समझाकर उनके लिए सम्यकत्व आदि औषधि के निमित्त तथा अपने चारित्र धर्म की प्राप्ति के लिए, अपने जीवन को योग्य बनाने के लिए संयम की सिद्धि करूँ। ऐसा विचार कर उनको छोड़े तो वह मार्ग भी अच्छा ही है। तत्त्वतः विचार करने पर माता पिता का वह त्याग त्याग नहीं है, तात्त्विक भावना होने से वह त्याग नहीं करता है। इस समय पर बुद्धिमान के लिए क्रिया की नहीं परन्तु फल की प्रधानता होती है, क्योंकि निकट में मोक्ष प्राप्त करने वाले धीर पुरुष फल को देखने वाले होते हैं। इसलिए उनको सम्यकत्व आदि औषधि प्राप्त कराकर सदा के लिए जन्म–मरण से मुक्त करवा देता है। इस तरह माता पिता का प्रत्युपकार करना सत्पुरुष के विषय में युक्तिसंगत है, यह सज्जन पुरुषों का धर्म है। इस विषय में भगवान श्री महावीर परमात्मा दृष्टान्त रूप हैं, क्योंकि जिसमें अकुशल कर्मों की अनुबन्ध–परम्परा चलती है उन माता पिता के शोक को उन्होंने रोका था।'

'इस तरह प्रव्रज्या के लिए तैयारी करके फिर क्या करना चाहिए?' उसे कहते हैं कि – 'गुरु को अपना भाव निवेदन करे अर्थात् गुरु को अपनी आत्मा समर्पित करनी चाहिए। समर्पित भाव बिना गुरु की निष्ठा का फल प्राप्त नहीं कर सकता। स्वयं अज्ञान मोहावृत होने से कार्याकार्य का विवेक नहीं कर सकता, हिताहित नहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जान सकता। अतः आत्म-शुद्धि के लिए गुरु को समर्पित होना युक्तिसंगत हैं।' यहां तक दीक्षा लेने वाले के कर्त्तव्य (विधि) कहकर अब दीक्षा देने वाले के कर्तव्य कहते हैं।

गुरु महाराज को उससे प्रश्न करना चाहिए अर्थात् दीक्षा लेने केआए शिष्य से वैराग्य का कारण पूछना, फिर साधु के आचार बताना, उसकी योग्यता की परीक्षा करना, मुखपाठ से उसे सामायिकादि सूत्र पढ़ाना और चैत्यवन्दन आदि दीक्षा देने की क्रिया करवानी- यह दीक्षा देने की विधि है। इस तरह पहले की तरह यहां भी वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना। कहने का भावार्थ यह है कि - उत्तम धर्मकथा-धर्म का स्वरूप सुनकर आकर्षित होने के कारण दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए भव्य जीवात्मा से पूछे कि- 'हे पुत्र! तुम कौन हो ? किस कारण से दीक्षा लेने की इच्छा करते हो ?' उसके उत्तर में यदि वह कहे कि - 'हे भगवन्त ! मैं कुल पुत्र हूँ, मैंने उच्च कुल में जन्म लिया है, तगरा नगरी आदि सुन्दर - आर्य क्षेत्र में उत्पन्न हुआ हूँ और सारे अशुभ कर्मों की खान समान संसार रूप व्याधि का क्षय करने के लिए मैं दीक्षा लेने तैयार हुआ हूँ।' इत्यादि कहे, तो उसे शुद्ध समझकर दीक्षा दे, ऐसा न हो तो उसे दीक्षा का निषेध भी करना चाहिए। इस तरह प्रसंगानुसार समझ लेना। क्योंकि पंच वस्तुक में कहा है कि-

कुलपुत्तो तगराए, असुह भवक्खयणि मित्तमेवेह ।
पव्वामि अहं भंते ! इइ गिज्झो भयण सेसेसु ॥११७॥

अर्थात् - दीक्षा लेने वाला इस तरह निवेदन करे कि - 'मैं ब्राह्मणादि कुल का पुत्र हूँ, तगरा, मथुरा आदि आर्य क्षेत्र में जन्म लेना वाला हूँ और दुःखों की खान रूप संसार के क्षय करने के लिए हे भगवन्त ! दीक्षा लेना चाहता हूँ।' उसे दीक्षा के लिए योग्य समझना। अन्य अकुल पुत्रादि के विषय में भजना (अयोग्य) समझना। यह भजना विशेष सूत्र के अनुसार जानना।

उसके बाद उसे समझाना कि - 'कायर पुरुषों को दीक्षा का पालन दुःखदायी है, फिर भी आरंभ का त्याग करने वाले सत्त्वशाली को दीक्षा से इस जन्म में और अन्य जन्म में परम कल्याण रूप लाभ होता है। और जैसे जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा अच्छी तरह पालन करने से मोक्ष रूप फल मिलता है वैसे उलट में उसकी विराधना करने से वह संसार की वृद्धि रूप दुःख को भी देता है। जैसे कोई कोढ़ी आदि रोगी रोग के प्रतिकार के लिए औषधादि चिकित्सा का प्रारंभ करके कुपथ्य का सेवन करे तो औषधि नहीं लेने वाले से भी अधिक और जल्दी नाश को आमंत्रित करता है,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वैसे ही कर्म रूप व्याधि का नाश करने के लिए संयम रूपी भाव औषधि को स्वीकार कर बाद में असंयम रूप कुपथ्य का सेवन करने वाला (संयम नहीं लेने वाले से) अधिक कर्मो का बंधन करता है।' इस तरह साधु का आचार बताना। इससे दीक्षार्थी का वैराग्य दृढ़ होता है और उसके वैराग्य की परीक्षा भी होती है। उसके बाद भी उसकी अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिए। धर्मबिन्दु अध्ययन ४ की टीका में कहा है कि –

असत्याः सत्यसंकाशाः, सत्याश्चासत्य सन्निभाः ।
दृश्यन्ते विविधा भावा स्तस्माद्युक्तं परीक्षणम् ॥१॥
अतथ्यान्यपि तथ्यानि, दर्शयन्त्यति कौशला ।
चित्रे निम्नोन्नता नीव, चित्रकर्म विदो जनाः ॥२॥

अर्थात् – ''जगत् में असत्य होने पर भी सत्य समान और सत्य भी असत्य समान, इस तरह विविध भाव बदलते दिखते हैं इसलिए पदार्थ की परीक्षा करना योग्य है। जैसे कुशल चित्रकार समभूमि या दीवार पर चित्र में खाई पर्वत बना सकता है, वैसे ही अति कुशल मनुष्य गलत को भी सत्य दिखा सकता है।''

इस तरह दीक्षार्थी के सम्यकत्व, ज्ञान और चारित्र आदि गुणों से उसकी भावना की यह परीक्षा तथाविधा उपाय से करनी चाहिए। उसका काल सामान्य रूप में छह महीने का और तथाविध योग्यायोग्य की अपेक्षा इससे थोड़ा या अधिक भी जानना। पंच वस्तुक में कहा है कि–

अब्भुवगयं पि संतं, पुणो परिक्खिज्जं पवयण बिहिए ।
छम्मासं जाऽऽसज्ज व पत्त, अद्धाए अप्पबहुं ॥१२२॥

अर्थात्– ''प्रश्न आदि विधि से 'संत' अर्थात् योग्य जानने पर भी साधुता का आचार आदि समझाना (छहकाय जीवों की हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों का उसे भय है या नहीं है यह जानना) छह महीने तक परीक्षा करना अथवा किसी परिणत पात्र की अपेक्षा से उस परीक्षा का काल अल्प और अपरिणत की अपेक्षा से बहुत काल भी हो सकता है।''

यदि उपधान न किया हो तो अच्छे दिन सामायिक सूत्र मुख पाठ से सिखाना, आरम्भ से ही तख्ती पर लिखकर नहीं देना, अन्य भी 'इरियावही आदि सूत्र उसकी पात्रता अनुसार पढ़ाना, और 'चैत्य स्तुति' अर्थात् चैत्य वदंन आदि विधि करवाना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और आदि शब्द से वासक्षेप करना, रजोहरण देना, कायोत्सर्ग कराना, इत्यादि दीक्षा की सारी क्रिया करवायें। उसकी विधि समाचारी से जानना। यह पाठ आगे अभी कहा जायेगा। प्रथम तो गुरु को दीक्षा लेने आने वाले शिष्य को उपकार, = उद्धार करने की बुद्धि से स्वीकार करना, उसके बाद शकुन आदि शुभाशुभ निमित्त देखना, क्योंकि सर्व कार्यों में निमित्त की शुद्धि एक उत्साह है एवं विविध कार्यों की सिद्धि का चिह्न रूप है। इसके उपरांत क्षेत्र, काल और दिशा शुद्धि का भी आश्रय लेना। अच्छे स्थान पर, अच्छे मुहूर्त्त में और पूर्व-उत्तर दिशा सन्मुख रखकर दीक्षा देनी चाहिए। **क्षेत्र शुद्धि** में गन्ने का वन आदि उत्तम स्थल समझते हैं विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि-

उच्छुवणे सालिवणे, पउमसरे कुसुमिए व वणसंडे ।
गंभीरसाणुणाए, पयहिणजले जिणाहरे वा ॥३४०४॥

अर्थात् - गन्ने के वन में, धान पक्का हो ऐसे क्षेत्र में, पत्र-कमल वाला सरोवर हो, जहाँ फूल खिले हों ऐसे बगीचे आदि में, जहाँ शब्द का प्रतिशब्द (प्रतिध्वनि) होता हो ऐसे स्थल में, जहाँ पानी प्रदक्षिणा देता हो ऐसे जलाशय के पास अथवा श्री जिन मंदिर में दीक्षा देनी चाहिए।''

कालशुद्धि में - 'गणि विधा' नामक पयन्ना में कहे अनुसार उत्तम तिथि, नक्षत्र, वार, योग, करण रूप पंचांग शुद्ध लेना। वहाँ कहा है:-

चाउद्दसिं पन्नरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमीं च नवमीं च ।
छट्ठीं च चउत्थीं बारसी च दोण्डं पि पक्खाणं ॥७॥

तिहिं उत्तराहिं तह रोहिणीहिं कुज्जा उ सेहनिक्खमणं ।
गणि वायए अणुण्णा, महत्व यांणं च आहरणा ॥२६॥

अर्थात् - 'शुक्ल-कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी, नवमी, षष्ठी, चतुर्थी और द्वादशी की तिथियों का दीक्षादि में त्याग करना तथा तीन उत्तरा और रोहिणी नक्षत्र में शिष्य को दीक्षा देना, गणिपद, वाचक पद की अनुज्ञा देना और महाव्रतों का आरोपण करना चाहिए।'

दिशाशुद्धि में - प्रशस्त दिशा आदि देखना। जैसा कि विशेषावश्यक में कहा है कि-

पुव्वाभिमुहो उत्तर-मुहो व देज्जाऽहवा पडिच्छिज्जा ।
जाए जिणादयो वा दिसाइ जिण चेइ आइं वा ॥३४०५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् 'पूर्व दिशा या उत्तर दिशा के सन्मुख रहकर अथवा 'जिन' यानि मनः पर्यवसानी, चौदह पूर्वी, दस पूर्वी या नौ पूर्वी जिस दिशा में विचरते हों, अथवा जिस दिशा में जिन मंदिर, तीर्थ आदि नजदीक हो उस दिशा के सन्मुख रहकर गुरु दीक्षा दे या शिष्य ग्रहण करे।'

इस तरह क्षेत्रादि की शुद्धि आदि विधि पालन करते सामायिक आदि उच्चारण करने से, आत्मा में उच्चारण करने से पहले न हों तो भी' इस प्रकार के सामायिकादि के परिणाम प्रगट होते हैं और हों तो वह स्थिर होते हैं, विपरीत में इस शुद्धि का आचरण नहीं करने से जिनाज्ञा का भंग आदि दोष लगते हैं। पंचवस्तुक में कहा है कि-

एसा जिणाणमाणा, खेत्ताईआ य कंमुणो हुंति ।
उदयाइ कारणं जं, तम्हा एएसु जइ अव्वं ॥११४॥

अर्थात् -''क्षेत्र (द्रव्य-काल-भाव-भव) आदि कर्मों के उदय अर्थात् क्षय-क्षयोपशमादि में निमित्त कारण बनता है, इसलिए प्रत्येक शुद्धि की सावधानी रखनी चाहि यह श्री जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा है।'' फिर दीक्षार्थी श्री जिनेश्वर की पूजा तथा साधुओं की भक्ति पूजा करे। क्योंकि शुभ कार्य की सिद्धि के लिए मन की पवित्रता आवश्यक है, यह पवित्रता देव-गुरु आदि की भक्ति बहुमान करने से जीव प्रगट करते हैं, फिर गुरुदीक्षा की विधि-क्रिया करे-करावे। वहां पंच वस्तुक में ही कहा है कि-

ततो अ जहाविहवं, पूअं स करेज्ज वीअरागाणं ।
साहूण य उवउत्तो, एअं च विहिं गुरु कुणइ ॥१२४॥

अर्थात् - 'सामायिक सूत्रादि पढ़ने के बाद अपनी शक्ति-वैभव के अनुसार दीक्षार्थी श्री जिनेश्वर की पुष्प आदि से पूजा करे और साधु, गुरु महाराज वह विधि करें (उसे करवाएँ)।'

वह विधि समाचारी के पाठ के आधार पर यहां बतलाते हैं- दीक्षार्थी शुभ दिन सुन्दर वेश धारण कर समृद्धि पूर्वक अर्थात् जलूस आदि आडम्बर के साथ घर से निकल दीक्षा स्थान पर आकर श्री जिन मन्दिर (नन्दी) में प्रवेश करके दो हाथ की अंजली में अक्षत भरकर जिन मंदिर और समवसरण (नन्दी) को तीन बार प्रदक्षिणा दे। (पूर्वकाल में जिन मंदिर के बाहर मंडप में व्याख्यानादि देने की प्रथा

For Private and Personal Use Only

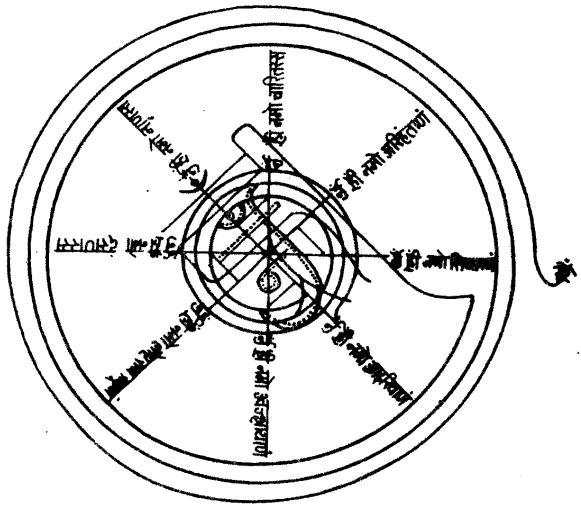
Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

थी, उस काल में मंदिर की प्रदक्षिणा होती थी। आजकल अन्यत्र दीक्षा होती है तब केवल नन्दी की प्रदक्षिणा होती है।) फिर गुरु महाराज अनुक्रम से अपने अंग सिर, मुख, हृदय, नाभि और अधोगात्र (नाभि के नीचे पैर आदि भाग) को दाहिने हाथ की अनामिका (पूजा करने की) अंगुली से स्पर्श करते आरोहण क्रम से **'क्षि-प-ओं-स्वा-हा'** इन मन्त्राक्षरों का मन से उच्चारण करे, फिर अवरोहण (नीचे उतारने के) क्रम से, इन्हीं पांच अंगों को अनामिका से स्पर्श करते उत्क्रम से **'हा-स्वा-ओं-प-क्षि'** इन मन्त्रोक्षरों का क्रमशः मन में उच्चारण करे, और पुनः आरोहण के क्रम से अंगों को अनामिका से स्पर्श करते **'क्षि-प-ओं-स्वा-हा'** इन मन्त्राक्षरों का क्रमशः मन में उच्चारण करे। इस तरह तीन बार अपनी आत्म रक्षा करके शिष्य की भी इस विधि से तीन बार आत्म रक्षा करे। फिर उत्तरासंग-दुपट्टा पहनकर मुख कोष बांधकर घुटनों के बल पर बैठकर उत्तम भव्य श्रावक को दोनों हाथों में पकड़े हुए चन्दन चूर्ण के थाल के चन्दन चूर्ण को गुरु मन्त्रे- यदि आचार्य श्री हो तो सूरिमन्त्र से, उपाध्याय पाठक मन्त्र से और इनके सिवाय अन्य गुरु वर्धमान विधा के मन्त्र से वासित करे। उसकी विधि-अनामिका अंगुलि से पहले थाल के अन्दर मध्य में दक्षिणावर्त करके ऊपर स्वस्तिक और उसके मध्य में 'ओं' अक्षर का आलेखन करे। उसके बाद १-पूर्व से पश्चिम तक, २- उत्तर से दक्षिण तक, ३-ईशान से नैऋत्य तक, और ४- अग्नि कोण से वायव्य तक इस तरह चार रेखाएँ कर आठ आरे वाला चक्र आलेखन करे। उसके मध्य में मूल बीज अर्थात् 'ह्रीँ' मन्त्र का आलेखन कर आसपास तीन आवर्त्त बनाकर आवर्त्त के आखिर में 'क्रौ' का आलेखन करे, फिर ह्रीँ मन्त्राक्षर के सामने पूर्व दिशा में 'ओँ-ह्रीँ नमो अरिहंताणं'' की स्थापना मन से ही मन्त्राक्षरों का चिन्तन करते हुए करे। फिर इसी तरह अग्निकोण में 'ओँ ह्रीँ नमो सिद्धाणं', दक्षिण दिशा में 'ओँ ह्रीँ नमो आयारियाणं,' नैऋत्य कोने में 'ओँ ह्रीँ नमो उवज्झायाणं' पश्चिम दिशा में 'ओँ ह्रीँ नमो लोए सव्व साहूणं, वायव्य कोण में 'ओँ ह्रीँ नमो नाणस्स', उत्तर दिशा में 'ओँ ह्रीँ नमो दंसणस्स' और अन्त में ईशान कोण में 'ओँ ह्रीँ नमो चारित्त स्स' पद की स्थापना मन से चिन्तन करता हुआ करे। इस चक्र- आलेख्य, तस्वीर और मन्त्राक्षर की स्थापना आदि का चित्र इस तरह है:-

उसके बाद पूर्व कहे अनुसार अपने सूरिमन्त्र आदि का स्मरण करते शरीर और हाथ की विशिष्ट आकृतियों रूपी सात मुद्राओं से वासक्षेप को स्पर्श करे, वह मुद्राए इस प्रकार से हैं- **१ - पंच परमेष्ठि** = दोनों हाथ की अंगुलियों का वेणी बन्धन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कर-एक दूसरे में फँसाकर दो अंगूठे से दो कनिष्ठा (सब से छोटी) अंगुली, और दो तर्जनी से दो मध्यमा अंगुली को पकड़कर और दो अनामिकाओं को खड़े करने से परमेष्ठि मुद्रा होती है। यह मुद्रा आह्वान करने में उपयोगी है। २- **सुरभी** = परस्पर गुंथी हुई अंगुलियों में की कनिष्ठिकाओं को अनामिकाओं के साथ में और मध्यमाओं को तर्जनियों के साथ जोड़ने से गोस्तन के आकार की सुरभी मुद्रा होती है। इसे धेनुमुद्रा भी कहते हैं। इससे अमृत झरता है। ३- **सौभाग्य** = दोनों हथेली एक दूसरे के सामने खड़ी रखकर अंगुलियाँ परस्पर गूंथ लीं, फिर दो तर्जनी अंगुलियों द्वारा दो अनामिकाओं को पकड़ा और मध्यमाओं को खड़ी करके उनके मूल में दो अंगूठे रखने से सौभाग्य मुद्रा होती है। इससे सौभाग्य मन्त्र का न्यास होता है। ४- **गरूड** = अपने सन्मुख दाहिना हाथ खड़ा कर कनिष्ठा से बायें हाथ भी कनिष्ठा अंगुली पकड़कर दोनों हाथ नीचे की ओर पलट देने से गरुड़ मुद्रा होती है। इस मुद्रा से दुष्ट से रक्षा के लिए मन्त्रकवच किया जाता है। ५- **पद्म** = अविकसित कमल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पुष्प के आकार से दोनों हथेली को इकट्ठी करके बीच में कर्णिका के आकार में दोनों अंगूठों की स्थापना करने से पद्म मुद्रा होती है । यह मुद्रा प्रतिष्ठा स्थापना के लिए की जाती है। ६- **मुद्गर** = दो हथेली एक दूसरे से उलटे जोड़कर अंगूलिया गूंथना और हथेलियाँ अपने सन्मुख करने से मुद्गर मुद्रा होती है । वह विघ्न विधातार्थ में की जाती है। ७- **कर** = मूल में 'कराय' पाठ होने से कर मुद्रा अर्थ किया है, परन्तु कर मुद्रा दिखती नहीं है, अत: अंजलि मुद्रा समझ लेना, उसका स्वरूप इस प्रकार है - दोनों हाथ की अंगुलियाँ जरा टेढ़ी कर दोनों हाथ जोड़ने से खोखले आकार से अंजलि मुद्रा होती है । इससे पुष्पारोपणादि आरोपण होते हैं ।

इस तरह वासक्षेप मन्त्रित कर खमासमण दिलवाकर, 'सम्यकत्व समयिक, श्रुत सामायिक, सर्व विरति सामायिक '**आरोवावणिय नन्दी करावणिय वास निक्खेवं करेहि**' अर्थात् सम्यकत्व, श्रुत ज्ञान और सर्व विरति देने के लिए और मंगलिक करने केलिए मुझे वासक्षेप दे । इस तरह शिष्य के मुख से कहलवाते हुए गुरु शिष्य के मस्तक पर वासक्षेप करे । जिसने पहले सम्यकत्व सामायिक आदि उच्चारण किया हो उससे तो 'सर्व विरति सामायिकादि' ही उच्चारण करावे । उसके बाद पूर्व के समान जय वीयराय तक देव वंदन करवाए (धर्म संग्रह के प्रथम विभाग में विधि आई है)। उसके बाद गुरु महाराज अपने मन्त्र से (सूरिमन्त्र, पाठक मंत्र या वर्द्धमान विधा से) वासक्षेप मंत्र कर शिष्य को खमासमण दिलवाकर, उसके मुख से '**ममं पव्वावेह, ममं वेस समप्पेह**' अर्थात् मुझे दीक्षा दीजिये । मुझे साधुवेष समर्पण करो ।' इस तरह विनती करावे । उसके बाद आचार्य आसन पर से खड़े होकर श्री नमस्कार महामन्त्र तीन बार गिनकर पूर्व सन्मुख या उत्तर सन्मुख रहकर ओधे की दसियां शिष्य के दाहिने रहे वैसा ओधा (रजोहरण) को पकड़ कर '**सुगृहितं करेह**' अर्थात् 'अच्छी तरह से स्वीकार करो ।' इस तरह बोलते हुए शिष्य को ओधा और साधुवेष समर्पण करे, शिष्य की '**इच्छं**' कहकर ईशान दिशा में जाकर आभूषण आदि उतारे और गृहस्थ वेश का त्याग करे, मुण्डन कराकर स्नानादि क्रिया कर साधुवेष धारण करके पुन: आचार्य के पास आकर वंदन (खमासमण) देकर '**इच्छाकारि भगवन् मम मुण्डावेह, सव्वविरइ सामाइयं मम आरोवेह**' अर्थात् 'हे भगवन् ! आपनी इच्छानुसार मेरा मुण्डन करो और मुझे सर्व पाप का त्याग रूप सामायिक उच्चारण कराओ ।' इस तरह बोलकर द्वादशावर्त्त वन्दन करे । फिर गुरु शिष्य दोनों सर्व विरति सामायिक के आरोपण के लिए सत्ताईस श्वासोच्छ्वास (सागरवट गंभीरा तक का) कायोत्सर्ग करे, पार कर ऊपर प्रगट लोगस्स बोले ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसके बाद जब शुभ मुहूर्त्त आए तब आचार्य खड़े होकर तीन बार नमस्कार मन्त्र को गिनकर श्वास अन्दर लेते (उच्छ्वास पूर्वक) शिष्य के मस्तक में से तीन चपटी से थोड़े-थोड़े बाल ले अर्थात् लोच करे। लोच करके भी नमस्कार मन्त्र पूर्वक तीन बार सामायिक सूत्र उच्चारण करे, तब शुद्ध परिणाम से भावित और सामायिक उच्चारण से अपने आपको कृतार्थ मानता शिष्य भी खड़े-खड़े ही गुरु से बोले, वैसे उनके साथ में सामायिक सूत्र को मन में बोले। उसके बाद गुरु यदि पहले वासक्षेप को संक्षेप से मन्त्रित किया हो तो यहां विस्तार पूर्वक मन्त्रित करे और चतुर्विध श्री संघ को वासक्षेप दे।

उसके बाद शिष्य प्रथम खमासमण दे कर 'इच्छाकारि भगवन् तुम्हें अम्हं सम्यकत्व सामायिक, श्रुत सामायिक, सर्व विरति सामायिक आरोवउ !' अर्थात् 'हे भगवन् ! आपनी इच्छानुसार आप मेरे में सम्यकत्व, श्रुत और सर्व पाप का त्याग रूप सामायिक का आरोपण (उपचार) करें। गुरु कहे **'आरोविमि'** इत्यादि सात खमामसण पूर्व (प्रथम विभाग में) आया है- उसके समान विधि करे, उसमें पांचवे खमासमण देकर समवसरण अर्थात् नन्दी को और गुरुदेव को प्रदक्षिणा दे, तब प्रथम गुरु और बाद में श्री संघ भी उसके मसस्तक पर वास निक्षेप करे, इस प्रकार तीन बार प्रदक्षिणा देकर फिर छठा खमासमण देकर - **'तुम्हाणं पवेइअं, साहूणं पवेइअं संदिसह का उस्सग्गं करेमि ?'** अर्थात् - 'आप को निवेदन किया, साधुओं को निवेदन किया। अब आप आज्ञा दीजिये जिससे का उस्सग्ग करूं ?' इस तरह पूछे। गुरु कहे **'करेह'** तब **'इच्छं'** कहकर फिर सातवां खमासमण देकर **'सर्व विरति सामायिक स्थिरी करणार्थं करेमि का उस्सग्ग'** अर्थात् 'सर्व पाप के त्यागरूप सामायिक में स्थिर होने के लिए काउस्सग्ग करता हूँ।' ऐसा कहकर 'अन्नथ०' बोलकर सत्ताईस श्वासोछ्व्वास प्रमाण (सागरवर गंभीरा तक) का उस्सग्ग कर पारकर प्रगट **'लोगस्स'** बोले फिर शिष्य पुनः खमासमण देकर **'इच्छाकारि भगवन्त मम नामदृठवणं करेह।'**

अर्थात् - 'हे भगवन् ! आपनी इच्छानुसार मेरा नाम स्थापित करो।' कहे, तब गुरु महाराज शिष्य के मस्तक पर वास निक्षेप करते हुए नमस्कार मन्त्र सहित कुल, गण और शाखा तथा गुरु का नाम जानकर गुरु के नाम के साथ में वर्ग आदि दोष न आए इस तरह ज्योतिष शास्त्र में कहे अनुसार षड्वर्ग की शुद्धि वाला नाम तीन बार स्थापित करे श्री संघ को सुनावे, उसके बाद नवदीक्षित ज्ञानादि गुणरत्नों से अधिक रत्नाधिक के क्रम से सर्व साधुओं को वंदन करे और सर्व श्रावक श्राविका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा साध्वी भी उस नवदीक्षित को वंदन करें। उसके बाद गुरु महाराज हित शिक्षा दे जैसे कि –

माणुस्सखित्त जाइ, कुलरूवारोग्ग माउयं बुद्धी ।
सवणोग्गह सद्धा संजमो य लोगं मि दुल्लहाइं ॥

अर्थात् – 'आवश्यक नियुक्ति गाथा ८३२ में कहा है कि – 'मनुष्य जीवन, आर्य क्षेत्र, उत्तम जाति, उत्तम कुल, पंचेन्द्रिय की सम्पूर्णता, अव्यंग शरीर, आरोग्य, दीर्घ आयुष्य, परलोक के कार्यों में क्रमशः बुद्धि, धर्म का श्रवण और उसका अवधारण, धर्म कर्म की रुचि रूप श्रद्धा और निष्पाप जीवन रूप संयम– इन प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति होना जगत् में उत्तरोत्तर अतीव दुर्लभ है।' उत्तराध्ययन के अध्ययन तीन में कहा है कि –

चत्तारी परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतूणी ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमं मि अ वीरिअं ॥१॥

अर्थात् – 'मनुष्य जीवन, धर्म श्रवण का योग, उसमें श्रद्धा रखनी और निष्पाप जीवन रूप संयम में पुरुषार्थ करना, मोक्ष की साधना के ये चार परम अंग हैं। इस जगत् में जीव को प्राप्त होना अधिक दुर्लभ है।' इसलिए मनुष्य जन्म अतीव दुर्लभ है, उसे पाकर उसकी सफलता संयम की साधना से है, अतः संयम में पुरुषार्थ करना अति आवश्यक है। अथवा –

देवो यत्र जिनो गुरुः शमनिधिर्धर्मः कृपावारिधिः,
शुद्धैर्वर्तनमन्नपानवसनैर्विधा मनः प्रीतये ।
रक्षायै वपुषः क्षमा गुणर्माण श्रेणी परं भूषणं,
श्रामण्य तदवाप्यमाद्यति न कः कल्पद्रुमाप्तौ यथा ॥१॥

अर्थात् – 'जहां पर भी जिनेश्वर भगवान देव हैं, शमगुण के भंडार गुरु महाराज हैं, कृपा रूपी समुद्र समान धर्म है। बयालिस दोष से रहित शुद्ध निर्मिष आहार–पानी, वस्त्र–पात्रादि से जीवन को जीना है, मन की प्रीति–प्रसन्नता के लिए विद्याभ्यास है, शरीर की रक्षा के लिए जहां क्षमा है और दस प्रकार के यति धर्म रूप गुण रत्नों की श्रेणि–हार रूप अलंकार है, उस साधुता को प्राप्त करके कल्पवृक्ष की प्राप्ति के समान कौन खुश नहीं होता ?' इत्यादि धर्म की दुर्लभतादि सुनाना, जिससे सुनकर, अन्य जीव भी वैरागी बनकर संयम आदि धर्म को स्वीकार करे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसके बाद आयंबिल, उपवास आदि यथाशक्ति तप का पच्चक्खान करे। इस प्रकार जिसने विधि पूर्वक दीक्षा ली हो उसे यति (साधु) कहते हैं– ऐसा समझना। श्री धर्म बिंदु चौथे अध्ययन में कहा है कि–

एवं यः शुद्ध योगेन, परित्यज्य गृहाश्रमम् ।
संयमे रमते नित्यं, स यतिः परिकीर्तितः ॥२२॥

अर्थात् – 'इस तरह जो भव्यात्मा शुद्ध आचार विधि पूर्वक गृहस्थावस्था का त्याग करके हिंसादि के त्याग रूप संयम में हमेशा रमण करता है, वह यति (साधु) कहलाता है।'

यहां प्रश्न करते हैं कि– जिनेश्वर का उपदेश तो इस प्रकार है कि– आत्मा की विरति के परिणाम को भाव दीक्षा (शुद्ध दीक्षा) कहते हैं। उसके लिए तो विरति के परिणाम प्रगट करने के लिए हमेशा उद्यम करना चाहिए। पूर्व में कही वह चैत्यवंदन आदि निरर्थक बाह्य क्रियाएँ किसलिए करनी चाहिएँ? सुना जाता है कि– इस क्रिया के बिना ही श्री भरत चक्रवर्ती आदि को विरति के परिणाम प्रगट हुए थे, नहीं तो केवल ज्ञान कैसे होता? विरति के परिणाम बिना कभी केवल ज्ञान नहीं है। दूसरी बात यह है कि – क्रियाओं के करने वाले को विरति परिणाम होते ही हैं– ऐसा नियम भी नहीं है। सुना जाता है कि – अभव्य जीव भी ये सारी क्रिया करता है, विधि पूर्वक दीक्षा लेता है, फिर भी उसको उसके फलस्वरूप विरति परिणाम नहीं होते। इस तरह अन्वय-व्यतिरेक (परिणाम हो या न हो) दोनों प्रकार से व्यभिचार नहीं घटता, इससे उपर्युक्त चैत्यवंदन आदि विधि करने का कोई प्रयोजन नहीं है।'

इसका उत्तर देते हैं– 'तुम्हारा यह प्रश्न यहां उपयुक्त नहीं है, क्योंकि – चैत्यवंदनादि करने से विरति का परिणाम होता ही है, ऐसा एकान्त नहीं है। विरति परिणाम में चैत्यवन्दनादि क्रिया 'प्रायिक कारण' रूप में बताया है। यह विधि जिसको प्राप्त हुई हो, वह प्रायः अकार्य-हिंसादि अनुचित प्रवृत्ति करता हो ऐसा देखने में नहीं आता है, प्रायः वह पापरहित प्रवृत्ति वाला ही देखने में आता है। इस तरह उसके बाह्य वर्तन से ऐसा अनुमान हो सकता है कि वह सावध प्रवृत्ति नहीं करता, इसलिए उसके अभ्यंतर में विरति का परिणाम है और उसका कारण यह चैत्य वन्दनादि है। दूसरी बात यह है कि-तुम कहो कि व्यभिचार तो किसी भी काल में किसी भी जीव में सम्भव हो सकता है। इस तरह तो किसी प्रसंग पर बिना दण्ड

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ही केवल हाथ आदि से चाक को घुमाकर घट बना सकते हैं, इससे घट में दण्ड का कारण उड़ नहीं जाता है, दण्ड घट का कारण है ही, वैसे ही चैत्यवन्दनादि विधि बिना भी किसी भरत चक्री आदि को पूर्वजन्म में दीक्षा स्वीकार रूप उस विधि का अभ्यास हुआ हो और इससे भव्यता का परिपाक होने से कभी चैत्यवन्दनादि बिना भी विरति के परिणाम हो जायँ तो सर्व जीवों को लिए आत्म विरति परिणाम रूप निश्चय चारित्र धर्म में चैत्यवंदानादि विधि करने रूप व्यवहार धर्म की कारणता उड़ नहीं जाती। घट में दण्ड की कारणता चक्र भ्रमण रूप व्यापार द्वारा सिद्ध है, भ्रमण बिना केवल दण्ड कारण नहीं है, वैसे ही प्रत्येक हेतु अपने व्यापार द्वारा स्वकार्य में कारण माना जाता है। यह व्यापार किसी समय पर कारण द्वारा तो किसी समय पर अन्य उपाय से भी सिद्ध होता है तब ही कार्य बनता है। दण्ड बिना भी अन्य किसी उपाय से चक्र भ्रमण होता है तब ही घट बनता है, वैसे ही यहां भी इस जन्म के चैत्यवन्दनादि विधि द्वारा नहीं तो पूर्व जन्म के उस तरह की विधि द्वारा विरति परिणाम रूप चारित्र धर्म प्रगट होता है। इतने मात्र से इस विधि की कारणता असत्य नहीं मानी जा सकती। भरत चक्री आदि के द्वारा पूर्व जन्म में चैत्यवंदनादि भी हुआ है, पूर्वजन्म में उन्होंने चारित्र स्वीकार किया ही था और इससे इस जन्म में यह परिणाम उनको प्रगट हुआ था। तात्पर्य यह है कि- कोई भी हेतु अपने व्यापार द्वारा ही कारण बनता है। चाहे वह व्यापार किसी समय में किसी अन्य से भी सिद्ध होता हो। व्यापार बिना कार्य नहीं होता है, इसलिए केवल हेतु की हेतुता का बाध नहीं होता।

अभव्य को यह विधि करने पर भी विरति परिणाम नहीं होते, इससे भी चैत्य-वन्दनादि विधि की हेतुता का बाध नहीं होता क्योंकि उनको चैत्यवंदन आदि बाह्य हेतु होता है फिर भी अभ्यन्तर हेतु का निश्चय ही अभाव होता है। किसी भी कार्य को कोई एक ही हेतु सिद्ध नहीं कर सकता, परन्तु समग्र कारणों का समूह रूप-पूर्ण सामग्री ही कार्य को सिद्ध करती है। अभव्य जीव द्वारा चैत्यवन्दनादि करने पर सम्पूर्ण सामग्री नहीं है। अभ्यन्तर हेतु रूप जीव की योग्यता (भव्यता) का अभाव है, इसलिए विरति परिणाम रूप कार्य सिद्ध नहीं होता। इस तरह तुम्हारे बिना समझ के विरोध से विवेकियों को चैत्यवंदनादि के विधान में अश्रद्धा होती है। यदि ऐसा होता है तो अविवेक से उसे अविश्वास होता है जो महा अनर्थ का निमित्त बनता है। इस तरह तुम्हारा अन्वय-व्यतिरेक उभय प्रकार का व्यभिचार (दूषण) भी अविवेक मूलक है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पत्ते अबुद्धकर (ह) णे चरणं णासंति जिण वरिं दाणं ।
आहच्चभाव कहणे, पंचहिं ठाणेहिं पासत्था ।।११५१।।

अर्थात् - ''प्रत्येक बुद्ध जिन्होंने पूर्वजन्म में 'ज्ञान-क्रिया' का अभ्यास किया है । इसी तरह भरत चक्री आदि की बातें आगे करके जो श्री जिन कथित चारित्र-अनुष्ठान का विरोध करता है, वह मन्दमति पासत्थ हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का सेवन करते कराते स्व-पर का घात करते हैं ।'' इसलिए यहां जो चैत्य-वन्दनादि विधि बतायी गयी है, वह व्यवहार नय से योग्य ही है, आगम में व्यवहार और निश्चय दोनों की उपयोगिता समान कही गई है । पंचवस्तुक में कहा है कि-

जइ जिणमयं पवज्जह, तामा ववहार णिच्छए मुअह ।
ववहारण उच्छेए, तित्युच्छेओ जओऽवस्सं ।।१७२।।

अर्थात् - 'यदि तुम श्री जिनमत को स्वीकार करते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों में से एक का भी त्याग नहीं करना, क्योंकि व्यवहार का विच्छेद होने से तीर्थ-शासन का नाश अवश्य होगा ।'

इससे यह निश्चय हुआ कि व्यवहार से दीक्षित हुआ भी साधु ही गिना जाता है । व्यवहार से भी चैत्यवंदनादि विधि करने वाले को उस विधि से 'मैं दीक्षित हुआ' इत्यादि शुभ परिणाम प्रगट होता है, उससे उसके कर्मों का क्षयोपशम होता है और इस क्षयोपशमादि से निश्चय ही नय मान्य विरति के शुभ परिणाम उसमें प्रगट होते हैं । इस तरह व्यवहार निश्चय का कारण होने से निश्चय जितनी ही व्यवहार की आवश्यकता है, और 'मुक्ति रूप कार्य में नैश्चयिक बल (परिणाम) मुख्य कारण है और व्यवहारिक चैत्यवन्दनादि विधि परम्परा का कारण है, इसलिए निश्चय (परिणाम) की उपयोगिता है और व्यवहार की नहीं है' ऐसा भी भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि निश्चय क्रिया व्यापार रूप व्यवहार का कार्य है, इससे स्व व्यापार द्वारा व्यवहार का साक्षात् हेतु रूप अखण्ड रहता है और इससे उसकी उपयोगिता अल्पमात्र भी कम नहीं होती ।

तर्कवादी कहते हैं कि **'नहि व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथा सिद्धि'** अर्थात् 'फल व्यापार से मिलता है, व्यापारी से नहीं मिलता, इसलिए व्यापारी निरुपयोगी है ।' इस प्रकार किसी से नहीं कह सकते, क्योंकि व्यापारी बिना व्यापार या फल एक भी न होता, वैसे ही अपने व्यापार द्वारा कार्य साधन करने वाला व्यवहार भी निष्फल नहीं है । चक्र द्वारा घट कार्य का साधन दण्ड अपने चक्र रूप व्यापार से घट रूप कार्य का कारण माना जाता है, वैसे ही यहां दीक्षा की विधि के लिए भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समझना। परिणाम को प्रगट करने के लिए व्यवहार-अनुष्ठान भी मुक्ति का कारण है और 'विरति परिणाम बिना शिष्य को चैत्यवंदनादि विधि कराने से गुरु को मृषावाद लगता है।' ऐसा भी नहीं है, क्योंकि- उसे विधि करवाकर जिनेश्वर की आज्ञा पालन कराने से 'तुम दीक्षित (साधु) बने हो' आदि कहना 'व्यवहार सत्य' माना जाने के कारण सत्य को क्षति नहीं पहुँचती। उलटे यह विधि नहीं करवाने से तीर्थ का उच्छेद, जिनाज्ञा का भंग आदि दोष बताया गया है क्योंकि-विधि बिना तो विरति परिणाम की सिद्धि हो अथवा न भी हो, फिर भी दोनों प्रकार से 'दीक्षा देना' इत्यादि व्यवहार धर्म का नाश ही होता है। इसलिए ऐसा प्रसंग तो किसी विशेष काल में ही होता है अतः भरत चक्रवर्ती आदि के दृष्टान्त लेना अशास्त्रीय है। यह तो उनके पूर्वजन्म के व्यवहार धर्म की आराधना का फल रूप है। इसलिए यह सिद्धान्त सब स्थान पर लागू नहीं होता।

अन्य मत वाले तो इस तरह कहते हैं कि - 'साधु होने वाला पापोदय से घरवास को छोड़ता है, क्योंकि-पूर्वजन्म में दान नहीं देने से इस जन्म में शीतल जल, सुन्दर स्वादिष्ट आहार आदि भोग सामग्री नहीं मिल सकी, अति प्रयास से प्राप्त की हो। परन्तु निष्पुण्यक जीव का धन भोगे बिना ही नाश हो जाता है, वैसे ही साधु होने वाले को भी पुण्योदय से मिला हुआ घर वास पापोदय के कारण बिना भोगे नाश होता है, उसे भोग नहीं सकता, इसलिए छोड़ देता है, तो ऐसे घर-बार विहीन भूखे प्यासे साधु को पापोदय से घिरा हुआ कयों न माना जाय ? तथा घर, आहार, पानी आदि जीवन सामग्री के अभाव में साधु को शुभ ध्यान भी किस तरह हो सकता है? और शुभ ध्यान बिना धर्म भी किस तरह हो सकता है? इसलिए गृहस्थाश्रम में रत संतुष्ट चित्त वाला, परहित करने के प्रति आदर वाला और मध्यस्थ स्वभाव वाला गृहस्थ ही धर्म की आराधना कर सकता है।' इत्यादि। उनसे पूछे कि 'पाप का क्या लक्षण है?' यदि इस तरह कहता हो कि 'चित्त में क्लेश संताप का अनुभव हो वह पाप है', तो धन की आकाँक्षा आदि से चित्त क्लेश गृहस्थ को ही होता है। कहा भी जाता है कि-

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थेऽनर्थभाजनम् ॥१॥

अर्थात्- 'धन को प्राप्त करने में दुःख होता है, और मिलने पर उसकी रक्षा करने में दुःख होता है, इस तरह धन आते दुःख, रक्षण में दुःख और जाता है तब उससे ज्यादा दुःख होता है, इस प्रकार सर्व रीति से दुःख के कारण रूप अर्थ को धिक्कार है।' तो फिर अर्थ के लोलुप गृहस्थ का चित्त शान्त कैसे हो सकता है?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और यद्यपि मुनिवर्य को घर आदि नहीं होते, फिर भी उनको राग नहीं होने से उनको आर्त्तध्यान के विकल्पों से होने वाले दु:ख का अभाव होता है, इससे उल्टा संयम में संतोष का आनंद होता है। उनको दु:खी कैसे कह सकते हैं और उनके चित्त में क्लेश भी कैसे होगा? यदि ऐसा कहते हो कि दु:खदायी क्रिया का कष्ट करने से वे दु:खी हैं, तो उसमें किसी साधु के लिए कष्ट का भाव नहीं है, क्योंकि साधु को ये कष्ट आत्मा की अतीव उन्नति रूप महान लाभ प्रदान करने वाले होने से उनसे प्रगट होते हुए शुभ अध्यवसाय रूप आनंद के बल से साधु को क्लेश अल्पमात्र भी नहीं होता। उल्टा यह कष्टकारी क्रिया करते समय उन्हें आनन्द का अनुभव होता है इसके विपरीत गृहस्थ तो 'अरे! यह विषम कार्य कब किस तरह पूर्ण होगा?' अथवा 'यह कैसा खराब समय आया है ?' या 'राजा चोर आदि से इस धनधान्यादि का रक्षण किस तरह किया जाय ?' इत्यादि अनेक प्रकार की चिन्ता के कारण दुविधा में पड़कर दु:ख संताप का अनुभव करता है, विषयों से विरागी बने मुनियों के समान वह स्वानुभव सिद्ध संतोष का सुख नहीं भोगता है, चित्त के संतोष के लिए अकेली बाह्य संपत्ति कुछ उपकार नहीं कर सकती। एक योगी ने एक राजा को कहा कि- 'हे राजन! हम वल्कल (पेड़ के छिलके) के वस्त्रों में और तुम रेशमी पोशाक में सन्तुष्ट हो इस तरह हमारा दोनों का सन्तोष समान होने से तेरा और हमारा भेद विचार अभेद स्वरूप बन गया है अर्थात् हम दरिद्र नहीं है। दरिद्र तो उसे कहते हैं जिसकी तृष्णा विशाल होती है। मन में संतोष होने के बाद धनिक कौन है और दरिद्र कौन है?'

'इच्छित पदार्थ न मिलने से साधु दु:खी है' इस तरह कहना भी गलत है क्योंकि वस्तुत: इच्छा से ही दु:ख है, इष्ट प्राप्ति से होने वाली इच्छा की पूर्ति का सुख 'आभास मात्र' है, वास्तविक सुख तो अनिच्छा में रहता है। 'इच्छा का नाश हुआ' यही साधुओं के चरित्र की विशुद्धता का फल है, यद्यपि ऐसी इच्छा का सर्वथा नाश सर्वज्ञ वीतराग के लिए ही होता है, यह सत्य है। हम भी इस तरह कुछ नहीं कहते कि 'दीक्षा को स्वीकार करने से ही मुनि की इच्छा का नाश होता है।' उस समय में तो मुनि को भी इच्छा होती है, परन्तु वह मुक्ति की इच्छा होती है। वह इच्छा अन्य जड़ इच्छाओं से रहित और प्रशस्त होने से दुष्ट नहीं है। वस्तुत: प्रारम्भ में मात्र 'सामायिक चारित्र वाले' साधु द्वारा करणीय अनुष्ठानों का आसेवन करने से बढ़ती हुई वह मुक्ति की इच्छा ही अन्त में सर्व इच्छाओं का नाश करती है। यद्यपि विषय तृष्णा का वैराग्य रूप- प्रारम्भिक वैराग्य मुक्ति की इच्छा को रोक नहीं सकता, परन्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस वैराग्य से अध्यात्म शुद्धि का परिपाक (विकास) होने से जो उत्तरोत्तर वैराग्य प्रगट होता है, उसमें अन्त में सर्वथा अनिच्छा रूप होता है। यही बात 'पातंजल योगसूत्र १/१६' में योगाचार्य पतंजली ने भी कही है कि "**तत्परं पुरूषख्यातेर्गुण वैतृष्णयमिति**" अर्थात् 'उस मुक्ति की इच्छा के बल से पुरुष द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होने से (राजस् आदि) गुणों की वितृष्णा प्रगट होती है, अर्थात् कोई इच्छा-तृष्णा नहीं रहती। क्योंकि इच्छा का मूल 'राजस्' आदि गुण है, इसलिये उसके नाश से सर्व इच्छाओं का भी नाश होता है ।

श्री गौतम गणधर के प्रश्न पूछने पर श्रमण भगवान महावीर प्रभु ने भी कहा है कि-एक मास से बढ़ते अनुक्रम से बारह महीने चारित्र पर्याय वाला साधु क्रमशः वाण व्यन्तर देवों से लेकर अनुत्तर विमान वासी देवों के सुख का भी अतिक्रमण कर देता है, और फिर तो चारित्र की विशुद्धि के बढ़ते वह शुक्ल =कर्मों से निर्मल और शुक्लाभिजात्य=परिणाम से भी अति विशुद्ध होकर आत्मसुख का अनुभव करते हुए श्रेष्ठातिश्रेष्ठ भावों का चिन्तन करते हुए सर्वोत्तम स्थान रूप मोक्ष को प्राप्त करता है। इस तरह विशुद्ध होते शुक्ललेश्या=शुद्ध आशय के बल प्रगट होते हैं और अन्त में निर्मम भाव से साधुओं को ही वास्तविक सुख होता है। यह बात युक्ति संगत है, और इससे उसको गृह वास का त्याग पापोदय का नहीं परन्तु पुण्य का परिपाक स्वीकार किया जाता है, यह निश्चित है।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर श्री भगवती सूत्र अध्ययन १४ उद्देश ६ सूत्र ५३७ में इस तरह से है- प्रश्न है कि 'हे भगवन्त ! वर्तमान में जो श्रमण साधु हैं वे किससे अधिक सुखी हैं ?' उत्तर - 'हे गौतम ! एक मास के चारित्र पर्याय वाले श्रमण साधु वाण व्यंतर देवों से भी अधिक सुखी हैं दो महीने के चारित्र पर्याय वाले असुर कुमार निकाय सिवाय शेष भवनपति देवों से, तीन मास पर्याय वाले असुर कुमार निकाय देवों से चार मास पर्याय वाले ग्रह, नक्षत्र और ताराओं से, पाँच मास पर्याय वाले चन्द्र सूर्य के सुखों से, इसी तरह छह मास पर्याय वाले सौधर्म ईशान देव लोक के, सात मास के पर्याय वाले सनत्कुमार महेन्द्र के, आठ मास के पर्याय वाले ब्रह्म और लान्तकदेव लोक के, नौ मास के पर्याय वाले महाशुक्र और सहस्रार देव लोक के, दस मास के पर्याय वाले आनत-प्राणत-आरण और अच्युत देवलोक के, ग्यारह मास के पर्याय वाले नौ ग्रैवेयक के और बारह मास के पर्याय वाले साधु अनुत्तर विमानवासी देवों के सुखों से भी अधिक सुखी होते हैं । उसके बाद पर्याय लगातार बढ़ने से शुक्ल अर्थात् अखण्ड आचार वाले मत्सर से रहित, कृतज्ञ, सत्प्रवृत्ति और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उत्तरोत्तर हित को साधन करते हुए वे परिणाम से शुक्लाभिजात्य अर्थात् परम निर्मल होकर सिद्ध होते हैं। अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करते हैं, सर्व दु:खों का सर्वकाल के लिए अन्त करते हैं। इस प्रकार यति का वर्णन किया, अब उसके धर्म का वर्णन करते है-

सापेक्षो निरपेक्षश्च, यति धर्मो द्विधा मतः ।
सापेक्षस्तत्र शिक्षायै, गुर्वन्तेवासिताऽन्वहम् ॥८६॥

मूलार्थ- 'सापेक्ष और निरपेक्ष इस तरह यति धर्म दो प्रकार का कहा गया है, उसमें शिक्षा के लिए हमेशा गुरु के पास में रहना सापेक्ष यति धर्म जाना जाता है।'

व्याख्या- 'यति' जिसका लक्षण पूर्व में कहा है, उसका धर्म अर्थात् अनुष्ठान विशेष ही यति धर्म है। जिनेश्वर भगवन्त ने उस धर्म के दो भेद कहे हैं, एक सापेक्ष और दूसरा निरपेक्ष। उसमें गुरु गच्छ (साधु समुदाय) आदि की सहायता की अपेक्षापूर्वक दीक्षा का पालन किया जाता है तो उस धर्म को सापेक्ष कहते हैं और उसकी अपेक्षा बिना स्वाश्रय भाव से दीक्षा का पालन करना निरपेक्ष धर्म कहा जाता है। यहाँ यति धर्म के गच्छ में रहना आदि प्रथम प्रकार के साधु के धर्मानुष्ठान को और 'जिन कल्प' आदि अन्य प्रकार के साधु के धर्मानुष्ठान को यहाँ अनुक्रम से सापेक्ष और निरपेक्ष धर्म कहा गया है।

इन सापेक्ष और निरपेक्ष दो धर्मों में प्रथम सापेक्ष यति धर्म है, इस तरह वाक्य सम्बन्ध जोड़ना, आगे भी क्रियापद का सम्बन्ध इसी तरह स्वयं समझना। उस धर्म के लिए अर्थात् प्रतिदिन शिक्षा (ज्ञान और क्रिया के अभ्यास) के लिए गुरु की छाया में रहना आदि साधु का आचार- इस शिक्षा के दो भेद हैं। एक ग्रहण शिक्षा और दूसरी आसेवना शिक्षा। उसमें ग्रहण शिक्षा अर्थात् प्रतिदिन गुरु के पास में सूत्र-अर्थ को पढ़ने रूप श्रुत ज्ञान का अभ्यास करना- इन दोनों प्रकार की 'शिक्षा के लिए' न कि उदर पूर्ति अथवा आजीविका आदि के लिए ! गुरू अर्थात् दीक्षा देने वाले आचार्य का अन्त:वासी रूप (शिष्य रूप) स्वीकार करना ही सापेक्ष यति धर्म कहलाता है। यह अन्त:वासी रुप कुछ अल्पकाल के लिए भी हो सकता है, इस तरह कोई न समझ ले इसलिए कहा है कि '**अन्वहम्**' अर्थात् सम्पूर्ण जीवन तक गुरु का अन्त:वासी रूप स्वीकार करने को ही सापेक्ष यति धर्म कहा गया है। अन्त:वासी का क्या अर्थ है? अन्त:वासी उसे कहते हैं जो कि प्रत्येक प्रवृत्ति में 'अन्त:' गुरु के समीप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में 'वासी' वास करना-रहना अर्थात् ज्ञानादि गुण रूप आत्म योग का आश्रय लेकर श्रद्धा और समझपूर्वक प्रवृत्ति करना हुआ गुरु महाराज के साथ में रहना, साथ में भोजन करना, साथ में शयन करना, साथ में प्रतिक्रमण करना, साथ में ग्रामानुग्राम विहार करना इत्यादि। महाभाष्य में कहीं गुरु के साथ की चर्चा समझायी है। आगम में भी कहा है कि-

उपा० "तद्दिट्ठीए तम्मोत्तिए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिसेवणे जयं विहारी चित्तणिवाई पंथणिज्झाई पलि वाहिरे पासीय पाणे गच्छेज्जा।" इत्यादि।

व्याख्या- '**तद्दिट्ठी**'= उनकी (गुरु की) दृष्टि से वर्तन करना। तात्पर्य यह है कि हेय- उपादेय भावों में गुरु की आँखों को देखना, उनके मन्तव्य के अनुसार आचार करना, '**तम्मोत्तिए**'= उनके बताये हुए बाह्य अभ्यन्तर सर्व संयोग से जो विरति यानि मुक्ति प्राप्त हो उसी के बल से सदा जीना अर्थात् बाह्य अभ्यन्तर सर्व संयोग में से आसक्ति दूर करने का सदा प्रयत्न करना। 'तप्पुरक्कारे' उस गुरु का पुरस्कार करना, अर्थात् सारे कार्यों में गुरु को आगे रखना, प्रत्येक विषय में उनकी कृपा मानना तात्पर्य में 'गुरुकृपा से ही, उनके आशीर्वाद से ही इन कार्यों में सफलता प्राप्त कर सकता हूं।' ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखना तथा '**तस्सण्णी**' = उनकी संज्ञा (ज्ञान) बाला बनना, अर्थात् सभी कार्यों में गुरु के ज्ञान का (हित शिक्षा का) उपयोग करना, अपनी बुद्धि-कल्पना का कोई कार्य नहीं करना। '**तण्णिसेवणे**' उस गुरु के स्थान को ही अपना स्थान बनना, अर्थात् सदा गुरुकुल वास में गुरु के समीप में ही रहना। अब वह गुरुकुल वास से साधु कैसे बनता है? उसे कहते है- '**जयं विहारी**' = सर्व व्यापारों में जयणा पूर्वक प्रवृत्ति करने के स्वभाव वाला तथा '**चित्तणिवाई**' = गुरू के चित्त-अभिप्राय या आशय के अनुसार प्रत्येक क्रिया में प्रवृत्ति करने के स्वभाव वाला अर्थात् गुरु आज्ञा या उपदेश न करे फिर भी गुरु महाराज के हृदय के भाव समझकर उनके अनुसार आचरण करने वाला, '**पंथणिज्झाई**'=गुरु किसी स्थान पर बाहर गये हो तब उनके आने के मार्ग-रास्ते को बारम्बार देखते रहे 'कब गुरुजी पधारे' इस प्रकार ध्यान करने वाला, गुरु के विरह को सहन करने में अशक्त, उपलक्षण से गुरु को शयन करने की इच्छा हो तब संथारा बिछाना इत्यादि उनकी सर्व सेवा करने का स्वाभाव वाला अगर गुरु निद्रा ले तब बारम्बार उनकी सार-संभाल करने वाला, क्षुधित हो तब शुद्ध आहार प्राप्त कर देने वाला इत्यादि गुरु भक्ति करने का स्वभाव से गुरु का आराधक और '**पलि बाहिरे**'= यहां 'परि' अर्थात् चारों दिशाओं में गुरु के अवग्रह से प्रयोजन न हो उस समय बाहर पीछे आगे रहे तात्पर्य यह है कि बिना प्रयोजन से अवग्रह में न जाए, गुरू से साढ़े तीन हाथ दूर बैठे या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खड़े रहे, इस तरह गुरू की विनय करने वाला तथा **'पासिय पाणे गच्छेज्जा'**= गुरु महाराज किसी कार्य पर किसी स्थान को भेजें तब हिंसा न हो, इस तरह भूमि के जीवों को देखकर इर्या समिति का पालन करते चलने वाला सूत्र कृताङ्ग १४ अध्ययन में कहा है कि–

ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिएऽणंत करेत्ति णच्चा ।
ओभासए ता दवि अस्स वित्तं, ण णिक्क से बहिआ आसुपन्ने ॥४१॥

अर्थात्– 'सन्मार्ग का आसेवन पूर्वक मेरा अन्तकाल भी गुरु की निश्रा में ही होवे इस तरह चाहता यावत्जीवन गुरु की निक्षा में रहे। अपनी इच्छानुसार वर्तन करने वाला जो गुरु के पास न रहे, वह अपने कर्मों का अन्त नहीं कर सकता है और जो गुरु सेवा से रहित हो, उसका विज्ञान भी हंसी का पात्र बनता है, ऐसा समझ कर स्वयं गुरुसेवादि शुद्ध आचरण करे और 'मुक्ति के योग्य साधु का आचरण कैसा होता है ?' उसका स्वयं में प्रकाश करते हुए निरतिचार मुक्तिमार्ग की साधना करते हुए बुद्धिमान साधु गच्छ को छोड़कर बाहर न निकले।' इससे जो बाह्य वर्तन मात्र से नाम मात्र गुरु कुलवास को मानता है, और सम्यग् गुरुकुलवास का सेवन नहीं करता वह उसकी सेवा के फल स्वरूप से ही ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति, संयम की रक्षा या वृद्धि के लक्ष्य से वंचित रहता है और वह गुरुकुलवास की मान्यता को दूषित करता है। क्योंकि जीवन के अन्त तक गुरु प्रति शिष्य भाव की शिक्षा ही गुरुकुलवास का फल है। विशेषावश्यक में कहा है कि–

णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते अ ।
धण्णा आवहहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥३४५६॥

अर्थात्– 'गुरुकुलवास में रहने वाला सम्यग् ज्ञान का पात्र बनता है और दर्शन तथा चारित्र में दृढ़-अति दृढ़ बनता है, इसलिए वह पुरुष धन्य है जो यावत्जीवन में गुरुकुलवास को नहीं छोड़ता।' इस हेतु से ही श्री सुधर्मा स्वामी ने श्री जम्बू स्वामी के उद्देश्य से कहा है – **'सुअं मे आउसं तेणं भगवया एवम करवायं' (आचरांग सूत्र १)** अर्थात् 'हे आयुष्यमान् जम्बु ! भगवान श्री महावीर प्रभु को इस तरह कहते मैंने सुना है, अथवा भगवन्त की निश्रा में हमेशा रहते मैंने भगवान को इस तरह कहते सुना है। इत्यादि वचनों द्वारा 'गुरूकुलवास सकल सदाचार का मूल है' इस तरह कहा है। भावसाधु का मुख्य लिंग भी गुरुकुल वास ही है। अतः उपदेश पद में कहा है कि –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एयं च अत्थि लख्खण मिमस्स नीसेसमेव धन्नस्स ।
तह गुरू आणासंपाडणं च गमगं इहं लिंग ॥२००॥

अर्थात्- यहाँ माष तुषादि के उद्देश्य से कहा है कि- 'उनमें गुरु के प्रति श्रद्धा तो होती ही है, उपरान्त धर्म रूपी धन के योग्य उनके 'मार्गानुसारीत्व' आदि भाव साधु के ये सारे लक्षण भी होते हैं ।' 'इसकी क्या निशानी है?' ऐसा पूछने वाले से कहते हैं कि गुरु के समक्ष करे वैसा ही परोक्ष में भी गुरु आज्ञा के पालन रूप में **'पडिलेहन प्रमार्जन'** आदि साधु समाचारी का पालन यथाविधि करे, यही उनके भाव साधु रूप की निशानी समझना । यह गुरुकुलवास गुण के योग्य ही ज्ञान रहित भी माष तुष मुनि आदि का चारित्र माना है। पञ्चशक में कहा है कि-

गुरूपारतंत नाणं, सद्दहणं एयसंगयं चेव ।
इत्तो उ चरित्तीणं, मासतुसाई ण णिद्दिट्ठं ॥११-७॥

अर्थात्- ''गुरु प्रति समर्पित भाव यही ज्ञान है और श्रद्धा भी इसमें ही होती है, इससे ही अति जड़ भी माष तुष मुनि आदि को भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा है क्योंकि वे गुरु के परतन्त्र (समर्पित) थे, इससे गुरु के ज्ञानादि गुणों का फल उनको प्राप्त हुआ था।'' यहाँ प्रसंगोपात धर्मरत्न प्रकरण में भावयति का लिंग कहा है, वह अब कहते हैं -

एअस्स उ लिंगाइं, सयला मग्गाणुसारिणी किरिआ ।
सद्धा पवरा धम्मे, पन्नवणिज्जत्त मुजु भावा ॥७८॥

किरिआसु अप्पमाओ, आरंभे सक्कणिज्जऽणुट्ठाणे ।
गुरुओ गुणाणुराओ गुरू आणाराहणं परमं ॥७९॥

अर्थात्- 'इस भाव साधु के लिंग में १- उसकी प्रतिलेखनादि सारी क्रिया मोक्ष मार्ग के अनुसार होती है, २- धर्म करने में दृढ़ श्रद्धा होती है, ३- बिना प्रयत्न के दुराग्रह से बचा रहे इस तरह सरल हो, ४- शास्त्र कथित क्रिया में प्रमाद न हो, ५- तप आदि शक्य अनुष्ठान में प्रवृत्तिशील हो अर्थात् शक्ति को छुपाय वाला या शक्ति से अतिरिक्त प्रवृत्ति करने वाला न हो, ६- गुणो का दृढ़ पक्षपाती हो और ७- सर्व गुणों में प्रधान गुण रूप गुरु आज्ञा की आराधना (पालन) करने वाला हो, जिसमें आगम के अनुसार अथवा बहुसंवेगी पुरुषों ने आचरण किया हो उस मोक्ष मार्ग के अनुसार मार्गानुसारिणी क्रिया जानना' आगे कहा है कि-

मग्गो आगमणीई, अहवा संविग्ग बहुजणइण्णं ।
उभययाणु सारिणी जा, सा मग्गणुसारिणी किरिआ ॥८०॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- यहाँ सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप अथवा आत्मा के क्षायोपशमिक भाव रूप मार्ग ही मोक्षनगर का मार्ग है और उसके कारणो को भी कार्य रूप में मानने से १- आगम नीति अर्थात् सिद्धान्त में कथित आचार विशेष, अथवा २- मोक्षार्थी बहुसंविज्ञ पुरुषों द्वारा आचरण किया हुआ अनुष्ठान, इन दोनों के अनुसार अर्थात् आगम और बहु गीतार्थ पुरुषों द्वारा आचरण किये गये मार्ग को भी बाधा न पहुँचे ऐसी जो जो क्रिया है वह मार्गानुसारिणी क्रिया जानना । शेष छह लिंगों का अर्थ सुगम है। प्रवर (श्रेष्ठ) श्रद्धा के चार लक्षण धर्मरत्न प्रकरण में इस प्रकार बताये गये हैं -

सद्धा तिव्वभिलासो, धम्मे पवरत्तणं इमं तीसे ।
विहिसेव अतित्ती सुदेसणा खलिअ परिसुद्धी ॥६०॥

अर्थात्- श्रद्धा अर्थात् ज्ञान क्रिया रूप धर्म में शुद्ध समझपूर्वक आत्मा की अभिलाषा है। उसकी प्रबलता के यह चार फल हैं १- विधि की सेवा, अर्थात् प्रत्येक धर्म कार्य में अविधि का त्याग कर, शक्ति अनुसार विधि का पालन करे, २- ज्ञान, चारित्र, तप आदि धर्म कार्य करते हुए भी तृप्ति (संतोष) न हो, ३- उपदेश शुद्ध आगम सिद्धान्त के अनुसार दे और ४- जहाँ भूल हो वहाँ-वहाँ प्रायश्चित्त स्वीकार कर आत्मा की शुद्धि करे । 'गुरुकूल वास' यह भाव यति का मुख्य लिंग होने से, उसके अभाव में दुष्कर क्रिया करने वाले को भी पंचाशक में प्राय: बिना ग्रन्थी भेद का (मिथ्यादृष्टि) माना है। वहाँ कहा है कि-

जे उ तह विवज्जत्था, सम्मं गुरु लाघवं अयाणंता ।
सग्गाहा किरियरया, पवयण खिं सावहा खुद्दा ॥११-३७॥

पायं अहिण्ण गंठीतमा उ तह दुक्करंपि कुव्वंता ।
बज्झा व ण ते साहू, खंधा हरणेण विण्णेया ॥११-३७॥

अर्थात्- 'जो उत्तम गुरुकुल वास से विपरीत है, वह दुष्ट स्वभाव वाला और अकृतज्ञ होकर गुरुकुल वास के लाभ और एकाकी विहार के नुकसान को यथार्थ स्वरूप में नहीं समझता, अर्थात् गुरुकुल वास में अनेक साधु साथ में रहने से आहारादि दोष की सम्भावना होती है या परस्पर के राग दोष आदि दोषों को महान् दोष रूप कल्पना कर एकाकी विहार में दोष का अभाव समझकर अकेला रहने में जो अल्पदोष को मानता है, उसका ज्ञान वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह सिद्धान्त के वचनों में बाधा-रुकावट करने वाला है। ऐसा साधु आग्रह के वश होकर स्वबुद्धि कल्पना से 'शुद्ध आहार पानी का उपयोग करे, शरीर की ममता छोड़े, अल्प और सामान्य उपधि से निर्वाह करे, आतापना ले, या मासक्षमण सदृश महान कठोर तपस्या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करे, फिर भी वह आगम के अनुसार नहीं होने से स्वयं एकाकी रहने वाला होने से शासन की अपभ्राजना करने वाला है और अपने को महान मानते गुरुजनों की अवज्ञा करने वाला होने से तुच्छ है, अथवा तथाविध भोले लोगों को वश में करने वाला होने से कृपण या अन्य साधुओं के महत्व को तोड़ने वाला होने से क्रूर है। प्राय: उन्होंने एक बार भी ग्रन्थि भेद नहीं किया, ऐसा समझना क्योंकि जिसने ग्रन्थि भेद करके समकित प्राप्त कर पुन: मिथ्यादृष्टि गुण वाले स्थान को प्राप्त किया हो वह भी इस प्रकार अविचारणीय कार्य नहीं करता। इसलिए हलकी प्रवृत्ति करने वाले ऐसा अकेले विहारी को प्राय: एक बार भी ग्रन्थि भेद नहीं हुआ, ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ प्रश्न होता है कि- 'तो फिर किसलिए वह ऐसी दुष्कर तपक्रिया करता है?' उत्तर में समझना कि 'वह अज्ञान-मोह से केवल काया कष्टों को उठाता है, इसलिए उसे अन्य दर्शनी साधु के समान जैनत्व से बाह्य समझना। जैसे कौवा बावड़ी का पवित्र पानी छोड़कर गन्दे पानी अथवा मृगजल की ओर दौड़ता है, वैसे ही ऐसे एकाकी रहने वाला अज्ञानता से शुद्ध आराधना की कल्पना में भ्रमित बना ज्ञान की बावड़ी तुल्य उत्तम गुरुजन को छोड़कर मृगजल तृष्णा के समान विहार करता है, गच्छ- गुरुकुल वास को छोड देता है। इस कारण से ही स्व पर पर्याय अपेक्षा से एक वस्तु में अनन्त धर्म को जानने वाले अनन्त ज्ञानी भी गुरुकुल नहीं छोडते। इस विषय में परमर्षि श्री शय्यंभव सूरि जी ने दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ६ उद्देश प्रथम में कहा है कि-

जहाहि अग्गी जलण नमंसे, नाणा हुईमंत पयाभिसित्तं ।
एवायरिअं उवचिट्ठ इज्जा, अणंतनाणो वग ओवि संतो ॥११॥

अर्थात्- 'जैसे नाना प्रकार की घी आदि की आहुतियों से तथा 'स्वाहा' आदि मन्त्र पदों से संस्कृत किए- पूजित अग्नि को याज्ञिक नमस्कार करते हैं, वैसे ही अनन्त ज्ञानी को भी आचार्य गुरु की सेवा करनी चाहिए अर्थात ज्ञान प्राप्त होने पर गुरु की सेवा नहीं छोडनी चाहिए। गुरु का अनादर करने से महादोष लगता है। इस विषय में उसी सूत्र में और भी कहा है कि-

जो आवि मंदित्ति गुरू विइत्ता, डहरे इमे अप्पुसुअ त्ति नच्चा ।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, कुणंति आसायण ते गुरुणं ॥२॥

पगईइ मंदावि हवंति एगे, डहरावि जे सुअबुद्धो ववेआ ।
आयारमंता गुणसुट्ठि अप्पा, जे हीलिआ सिहीरिव भासकुज्जा ॥३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जे आवि नागं डहरंति णच्चा, आसायए से अहि आय होइ ।
एवायरिअंपि हु हीलयंतो निअच्छई जाइपहं खु मंदे ॥४॥

अर्थात्- (१) जो कोई क्षुद्र प्रकृतिवाला साधु अपने आचार्य गुरु में तथाविध क्षयोपशम की कमी होने से, उनको शास्त्रानुसार आलोचनादि कार्यों में असमर्थ जानकर तथा किसी कारण से लघु वय में भी आचार्य पद में स्थापित किया हो, उनको 'यह तो बालक के समान है' ऐसा समझकर तथा अल्प श्रुत वाला= 'आगम के विशिष्ट बोध से रहित' जानकर, उनकी 'तुम तो बहुत बुद्धिमान हो, वृद्ध हो, बहुश्रुत हो' इत्यादि बोलकर उपहास करे, अथवा 'बुद्धिहीन है' इस तरह निन्दा करे, उस अल्प वय गुरु की अवहेलना नहीं करना, ऐसा साधु शास्त्र वचन से विरुद्ध वर्तन करने वाला है, उस गुरु की आशातना करता है। गुरु में आचार्य पद की स्थापना हुई है- उसका अपमान करने वाला है, इस तरह वह एककी ही नहीं किन्तु एक द्वारा सर्व आचार्यों की आशातना करता है, अथवा उस निमित्त से अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र का भी नाश करता है। इसलिए छोटेअथवा अल्प बोध वाले भी आचार्य-गुरु की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। (२)

अब उसके लिए कहते हैं यदि जो कर्म की विचित्रता से काई वयोवृद्ध होने पर भी सद्बुद्धि से रहित हो और कोई अपरिणत वय वाला (लघु वय वाला) होने पर भी कुशल, निर्मल बुद्धिवाला, ज्ञानाचारादि आचारों से युक्त और आचार्य पद के योग्य गुण वाला भी हो, अतः छोटे या अल्पज्ञ समझकर उनका अनादर नहीं करना चाहिए। ऐसा अनादर करने से अग्नि जैसे ईन्धन को जला देती है, वैसे उस गुरु की अवज्ञा करने वाले के ज्ञानादि गुणों का भी नाश हो जाता है, अर्थात् अग्नि को स्पर्श करने वाला जैसे भस्मीभूत होता है, वैसे ही आयु में छोटे किन्तु गुणी आचार्य की आशतना करने वाला अपने गुणों को भस्मसात् करता है। (३)

अब छोटा समझकर अनादर करने वाले को जो विशेष दोष लगते हैं वह कहते हैं- जैसे कोई 'यह तो छोटा है' इस तरह समझकर यदि सर्प को सताता है-कदर्थना करता है तो उस सर्प के डङ्क से उसके प्राण का नाश होता है। वैसे ही किसी कारण से लघु वय वाले भी योग्य को आचार्य पद पर स्थापित किया हो- उसका अपमान करने वाला दो इन्द्रिय आदि क्षुद्र जातियों में जन्म लेकर संसार में परिभ्रमण करता है अर्थात् अपना संसार बढ़ाता है और नीच योनियों में उत्पन्न होकर दुःखी होता है। (४)

इसलिए मूल गुणों से युक्त होने पर, अन्य एक-दो आदि थोड़े सामान्य गुणों से रहित हो, फिर भी गुरू को नहीं छोड़ना चाहिए। पंचाशक में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुरु गुण रहितओऽवि इहं दट्ठव्वो मूलगुण विउत्तो जो ।
ण उ गुणमेत्त विहिणो त्ति, चंडरूद्दो उदाहरणं ॥११।३५॥

अर्थात्- गुरुकुल वास के उद्देश्य से कहा है कि-'यहाँ ऐसे गुरु को गुरु के गुणों से रहित समझना, जैसे कि महाव्रत रूप मूल गुण हो और सम्य् ज्ञान, क्रिया से रहित हो या विशिष्ट उपशम भाव आदि सामान्य गुणों से रहित हो, ऐसे गुरु को गुण रहित नहीं समझना। इस विषय में चण्डरुद्राचार्य का उदाहरण समझना अर्थात् वे तथा- विधकषाय मोहनीय कर्म के उदय से क्रोधी थे- फिर भी ज्ञान, क्रिया और महाव्रतादि गुणों से युक्त होने के कारण बहुत संविज्ञ और गीतार्थ शिष्यों ने उनको नहीं छोड़ा था। सदा सेवा में रहे थे।'

कुछ अमुक ही गुण कम हों ऐसे गुरु को भी त्याग करने योग्य मान लें तो 'भगवान श्री महावीर प्रभु का शासन बकुश- कुशील मुनियों के द्वारा ही चलेगा' इस तरह कहने से पंचम आरे में निर्ग्रन्थ साधुता का अभाव होता जायेगा, और सर्व साधुओं का त्याग करने वाले प्रसंग की ही उपस्थिति होगी। अत: धर्मरत्न प्रकरण में कहा है कि-

बकुल कुसीला तित्थं, दोसलवा तेसु नियसंभविणो ।
जइ तेहि वज्जणिज्जो, अवज्जणिज्जो तओ नत्थि ॥१३५॥

अर्थात्- यदि बकुश और कुशील साधुओं से जैन शासन (तीर्थ) चलेगा, एवं बकुश-कुशील चारित्र में तो आंशिक दोष अवश्य होते हैं। इस तरह ऐसे दोषों से त्याग करने योग्य मानें तो इस काल में अवर्जनीय कोई नहीं रहेगा। सब माननीय रहेंगे। इसलिए ही गाढ़ प्रमादी होते हुए भी शैलक गुरु की सेवा महामुनि पन्थक ने नहीं छोड़ी थी। धर्मरत्न प्रकरण में कहा है कि-

मूलगुण संपउत्तो, न दोस लव जोगओ इमो हेओ ।
महुरोव्व क्कमओ पुण, पवत्ति अव्वो जहुंत्तमि ॥१३१॥
पत्तो सुसीस सद्दो, एवं कुणंतेण पंथ गेणावि ।
गाढप्प माइणो विहु, सेलग सूरिस्स सीसेणं ॥१३२॥

अर्थात्- 'जो मूल गुण से युक्त है वह लेश मात्र दोष के योग से त्याग करने योग्य नहीं है, परन्तु उनकी अनुकुल परिचर्या (सेवा) करके फिर शुद्ध आराधना में जोड़ना चाहिए। अति गाढ़ प्रमादी आचार्य शैलका सूरि के शिष्य पन्थक मुनि भी इसी तरह प्रमादी गुरु की अनुकुल सेवा करके सम्यग् मार्ग पर ले आये और अपना 'सुशिष्य' नाम सार्थक किया।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शैलक जी राजा था और पन्थक जी मन्त्री था, दोनों गुरु शिष्य बने थे। जब शैलक सूरि राजमन्दिर के सुखों में आसक्त बन गये थे तब भी वे मूल गुणों में अखंड थे। शास्त्र में 'शय्यातर का पिंड उपयोग करना' आदि दोष से 'पासत्था रूप आदि' और 'शैथिल दोष' को छोड़ने से अभ्युद्यत विहार कहा है। तदुपरान्त शय्यातर पिंड उपयोग करने आदि का किसी प्रायश्चित ग्रन्थों में 'छेद या मूल' आदि में कठोर प्रायश्चित भी नहीं बताया है। अपने प्रमादी गुरु श्री शैलक सूरि जी की वैया वच्च में पन्थक मुनि को रोकने वाले जो पाँच सौ साधु थे, उनको भी अभ्युद्यत विहारी (जिनाज्ञापालक) कहा है। यदि शैलक जी अयोग्य थे तो ऐसे असाधु की सेवा में गीतार्थ साधुओं ने श्री पन्थक जी को क्यों रोका? इत्यादि सूक्ष्म बुद्धि से विचार करना चाहिए। उस समय पन्थक ने भी उनकी अखण्ड सेवा करके उन्हें पुनः आराधना में जोड़ा था। उस कार्य में गुरु के उपकार का बदला विनिमय का ध्येय था। क्योंकि गुरु महाराज के उपकार बहुत महान हैं, करोड़ों जन्म तक सेवा करने पर भी उनका बदला नहीं दे सकता, इसलिए इस विनिमय का एक उपाय है कि किसी अशुभ कर्मोदय से यदि गुरु धर्म से विमुख बने हों तो योग्य उपाय से उनको पुनः धर्म में जोड़ना स्थिर करना चाहिए। इसी कारण से पन्थक आदि मुनियों ने ऐसा किया था।

इस प्रकार होने पर भी नाममात्र गुरु की सेवा करने वाले का गुरुकुल वास भी वास्वविक नहीं माना जाता। द्रव्यादि चार में भाव निक्षेप को ही सूत्रकारों ने स्वतंत्र रूप में स्वीकार किया है, अर्थात् मुख्य रूप से भाव निक्षेप आराध्य है। यदि ऐसा न हो तो अपने अभिप्राय से अभिमत=अपने मन से स्वीकार किये गुरु की सेवा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ही गुरुकुल वासी मानने का प्रसंग आता है, यह इष्ट नहीं है क्योंकि इससे तो धर्म अधर्म का शंभुमेला जैसा प्रसंग आएगा। सुगुरु कुगुरु का विवेक नाश होगा। इस विषय में महा निशीथ अध्ययन ४ सूत्र १२ में इस तरह कहा है कि-

''से भयवं। तित्थयर संतिअं आणं नाइक्कमिज्जा अदाहु आयरिय संतिअं? गोयमा! चउव्विहा आयरिया पन्नत्ता, तं जहा नामायरिया ठवणा यरिया दव्वा यरिया, भावा यरिया, तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयर समा चेव दट्ठत्वा, तेसि संतिअं आणं नाइक्क मिज्जा सेसा निज्जू हिअव्वा।''

अर्थात्-'हे भगवन्त! साधु तीर्थंकर भगवन्त की आज्ञा का पालन करे अथवा आचार्य श्री की ?' इस प्रश्न का उत्तर प्रभु महावीर ने दिया कि- 'हे गौतम! आचार्य चार प्रकार का होते हैं- १- नामाचार्य, २- स्थापनाचार्य, ३- द्रव्याचार्य, और ४- भावाचार्य। इनमें भावाचार्य को तीर्थंकर समान मानना, उनकी आज्ञा का उल्लंघन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं करना । शेष के तीन गौण समझना। तथा गच्छाचार प्रकीर्ण में भी कहा है कि-

तित्थयर समो सूरी, सम्मं जो जिण मयं पया सेइ ।
आणं अइक्कमंतो, सो कापुरिसोण सप्पुरिसो ॥२७॥

अर्थात् - जो जिन प्रवचन का सम्यग् रूप में उपदेश देते हैं, वह आचार्य श्री तीर्थंकर के समान हैं । जो उनकी आज्ञा का उल्लंघन करता है वह सत्पुरुष नहीं है परन्तु कापुरुष = दुष्ट पुरुष है । जो उनकी आज्ञा का पालन करता है वही सत्पुरुष है ।

कहने का आशय यह है कि-शुद्ध भाव गुरु का नाम, स्थापना और द्रव्य- ये तीनों पाप का हरण करने वाले हैं । उनके साथ में शब्द, आकार या पर्याय रूप सम्बन्ध रखने वाले वे नामादि तीन भी शुद्ध वस्तु के शुद्ध रूप में आत्मा का उपकार करते हैं । इस तरह शुभ भाव प्रगट कराने में निमित्त कारण होने से उनको उपकारी रूप बताया है । क्योंकि उनके नाम स्थापना आदि के श्रवण से या उनकी स्थापना को देखने से 'यह नाम शुद्ध भाव गुरु का है, यह स्थापना उनकी है' इत्यादि उनके शुद्ध भाव गुरु रूप में परिचय द्वारा अथवा परिचय बिना ही स्वतंत्र रूप में भी शुभ भाव को प्रगट करवाते हैं । आगम में भी कहा है कि-"**महाफलं खलु तहारूवाणं थेराणं भगवंताण णामगोत्तस्सवि सवणयाए ।**" अर्थात्- 'इस प्रकार के शुद्ध भाव गुरु रूप स्थविर भगवन्तों के नाम-गोत्र का श्रवण भी महा फलदायी है ।' इस न्याय से अशुद्ध भाव गुरु के नामादि तीनों निक्षेप पाप का बंधन करने वाले हैं, क्योंकि वह अशुद्ध भावना जनक है । इस कारण से ही महानिशीथ सूत्र में कहा हुआ प्रसिद्ध है कि -

ती आणागय काले केई होहिंति गोयमा ! सूरी ।
जेसिं णामग्गहणे हुज्जा णिअ मेण पच्छित्तं ॥१॥

अर्थात् - 'हे गौतम ! अतीत-अनागत काल में कितने ही ऐसे आचार्य हुए हैं और होंगे, कि जिनका नाम लेने मात्र से ही अवश्य प्रायश्चित लगता है ।'

इसलिए भाव गुरु की ही उपासना रूप गुरुकुल वास को मुख्य यति धर्म समझना । बहुत समझाने की आवश्यकता नहीं है । गुरु के पास रहने का प्रयोजन 'शिक्षा ग्रहण' कहा है । इससे अब दो प्रकार की शिक्षा को बताने की इच्छा से ग्रन्थकार सूत्रदान की विधि कहते हैं । प्रथम ग्रहण शिक्षा का प्रतिपादन करते हैं-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विशुद्धमुपधानेन, प्राप्तं कालक्रमेण च ।
योग्याय गुरुणा सूत्रं, सम्यग् देयं महात्मना ।।८७।।

मूलार्थ - ''जिस जिस सूत्र को पढ़ने के लिए शास्त्र में आयंविल आदि जो जो तप करने को कहा है वह तप करने से शुद्ध और शास्त्रोक्त दीक्षा पर्याय के योग से जिस सूत्र को पढ़ने में अधिकारी बना हो, उस शिष्य को महात्मा-गुरु द्वारा वह सूत्र सम्यग् रूप से दिया जाना चाहिए ।''

व्याख्या – आयंविल आदि तप करने से पढ़ने वाले शिष्य में तथाविध योग्यता प्रगट होने से वह उस सूत्र के पठन के लिए निर्दोष बनता है, और उतने दीक्षा पर्याय होने से उस सूत्र को पढ़ने के लिए योग्य बनता है । उत्क्रम से पढ़ने में सूत्र का औचित्य नष्ट होता है । यहां 'सूत्र' अर्थात् कामशास्त्रादि पाप-सूत्र नहीं, अपितु आत्महितकर 'आवश्यकादि सूत्र' समझना । सूत्र देने वाले 'महात्मा' अर्थात् जिनका साधु आचार अस्खलित-अखंड हो ऐसे दीक्षा देने वाले को गुरु समझना और योग्य शिष्य अर्थात् विनीत आत्मार्थी को मुनि समझना । इस प्रकार गुरु द्वारा शिष्य को सम्यग्-जिज्ञासा के अनुसार सूत्र देना, वह सापेक्ष यति धर्म समझना । यहां 'उपधान' अर्थात् 'आयंविल आदि तप से विशुद्ध हो' ऐसा कहा है, इससे उपधान किए बिना श्रावक को और योगोद्वहन बिना साधु को अपने अपने उचित पढ़ना वाचना आदि भी अधर्म हैं– इससे यह निश्चय हुआ । योगोद्वहन के लिए शास्त्राक्षर इस तरह हैं, स्थानांग सूत्र के तीसरे स्थान में कहा है कि–

''तिहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाइअं अणवदग्गं दीह मद्धं चाउरंत संसार कंतारं वितिवएज्जा, तंजहा अणि दाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए जोगवाहित्ताए ।''

अर्थात् – 'तीन स्थानों में व्युत्पन्न (योग्य) साधु अनादि-अनन्त दीर्घ कामवाली चार गति रूप संसार अटवी को पार कर सकते हैं । वह तीन स्थान इस प्रकार हैं - १. अनियाणा से, २. दृष्टि (सम्यग् दर्शन) की प्राप्ति से, और ३. योगोद्वहन करने से ।' तथा स्थानांग के दसवें स्थान में कहा है कि–

''दसहिं ठाणेहिं जीवा आगम सिभद्दगत्ताए कम्मं पकेरंत्ति, तंजहा अणियाणयाए, दिट्ठीस संपन्नयाए जोगवाहित्ताए, खंति खमणयाए, जिइं दिअत्ताए, अमाइल्लयाए, अपासत्थाए, सुसामन्नत्ताए, पवयण वच्छल्लयाए, पवयण उब्भावण याए ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "दस स्थानों के द्वारा जीव भविष्य में कल्याण कारक कर्मबन्धन करता है- १. अनियाणा से, २. सम्यकत्व की प्राप्ति से, ३. योगोद्वहन करने से, ४. क्षमा पूर्वक सहन करने से, ५. इन्द्रियों का विजय करने से, ६. माया रहित आचरण करने से, ७. अयार्श्वस्थ रूप से, ८. सुसाधु जीवन से, ९. शासन (सिद्धान्त) के वात्सल्य से, और १०. शासन (धर्म) की प्रभावना करने से।" उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३४ में भी कहा है कि-

णीयावित्ती अचबले, अमाई अकुऊ हले।
विणी अ विणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥२७॥

अर्थात्-"योगवाही साधु तथा उपधान वाही श्रावक नम्रता युक्त, अचपल, मायारहित, कुतूहल रहित, विनय से विनीत और जितेन्द्रिय होते हैं।" इसी तरह इसी सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में कहा है कि -

पयणुक्कोहमाणे अ, मायालोभपयणुए ।
पसंत चित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥२९॥

अर्थात् - "योगवाही साधु और उपधान वाही गृहस्थ पतले अर्थात् अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ वाले, प्रशान्त चित्त वाले और दांत-जितेन्द्रिय आत्मा होते हैं।" तथा **'ओणिस्सिओ वहाणे'** अर्थात् अनासक्त भाव से योगोद्वहन करने वाला होता है, ऐसा श्री समवायांग सूत्र में बत्तीस योगसंग्रह अधिकार में भी कहा है। अनुयोग द्वार में भी कहा है कि-

"नाणं पंचविहं पन्नतं, तं जहा - आभिणि बोहिअनाणं जाव० केवलनाणं, तत्थ चतारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं, णो उद्दिस्सं (स्सिज्जं) ति णो समुद्दिस्सं (स्सिज्जं) ति णो अणुण्ण विज्जंति, सुअनाणस्स (पुण) उद्देसो- १. समुद्देसो, २. अणुण्णा, ३. अणुओगो, ४ पवत्तई।"

अर्थात्- "ज्ञान पाँच प्रकार का कहा है। इनमें से अभिनिबोधिक (मति) ज्ञान आदि केवल ज्ञान पर्यन्त हैं, इस प्रकार पांचों में से चार ज्ञान स्थापना करने योग्य (व्यवहार में अनुपयोगी) हैं। उनका उद्देश, समुद्देश या अनुज्ञा एक भी नहीं हो सकता। केवल एक श्रुतज्ञान का ही १. उद्देश, २. समुद्देश, ३. अनुज्ञा और ४. अनुयोग करना सम्भव है।" आदि

ये उद्देश-समुद्देशादि करना भी योग की ही क्रिया है। इस प्रकार अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से योग की करणीयता सिद्ध ही है। अत: योग-उपधान करना एक महान्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आचार है । उसका आचरण करने से ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट होते है और आत्मा में ज्ञान प्रगट होता है– तब ही सूत्र से मिला ज्ञान 'भाव श्रुत' बनता है । तथा 'काल ग्रहण' आदि योग विधि भी उत्तराध्ययन सूत्र में जिस तरह बताई गई हैं उसी तरह से और अंग उपांग आदि सूत्रों के लिए जो तप करने का कहा है वह भी योग विधि के ग्रन्थों में से जान लेना । आचारांग आदि सूत्रों को पढ़ने के लिए भी योग्यता का 'तीन वर्ष' आदि दीक्षा पर्याय और सूत्र का क्रम भी सूत्रों में कहा है । उसका उल्लघंन करके जल्दी सूत्र देना–पढ़ाने वाले को आज्ञाभंग आदि दोष लगता है । पंचवस्तुक ग्रन्थ में कहा है कि–

तिवरिस परिआगस्स उ आयारपकप्पाणाम मज्झयणं ।
चउवरिसस्स उ सम्मं सूअगडं नाम अंगं ति ॥५८२॥

दसा कप्प ववहारा, संवच्छरपणगदि क्खि अस्सेव ।
ठाणं समवाओ अ अंगे ए अट्ठवासस्स ॥५८३॥

दसावासस्स विवाहा, एक्कारस वास यस्स य इमाओ ।
खुड्डि अ विमाणमाई, अज्झयणा पंच णा यव्वा ॥५८४॥

बारसवासस्स तहा, अरूणुववायाइ पंच अज्झयणा ।
तेरस वासस्स तहा, उट्ठाण सुआइआ चउरो ॥५८५॥

चउदस वासस्स तहा, आसीविस भावणं जिणा बिंति ।
पण्णरस वासगस्स य, दिट्ठि विस भावणं तह य ॥५८६॥

सोल सवासाईसु अ, एकुन्तर बुड्ढिएसु जह संखं ।
चारण भावना मह सुविण, भावना ते अगनि सग्गा ॥५८७॥

एगुणवा सगस्स उ दिट्ठिवाओ दुवाल सममंगं ।
संपुण्ण वीस वरिसो, अणु वाई सव्वसुत्तस्स ॥५८८॥

अर्थात् – "तीन वर्ष के दीक्षा पर्याय वाले को 'आचार प्रकल्प' नाम का अर्थात् आचारांग सूत्र का अध्ययन, चार वर्ष के पर्याय वाले को सम्यग् 'सूत्र कृतांग' नामक अंग, पांचवें वर्ष के दीक्षित को ही 'दशा कल्प व्यवहार', आठ वर्ष पर्याय वाले को 'स्थानांग और समवायांग,' दस वर्ष वाले को 'विवाह प्रज्ञप्ति, भगवती सूत्र', ग्यारह वर्ष के दीक्षित को 'क्षुल्लिका विमान प्रविभक्ति' आदि पांच अध्ययन, बारह वर्ष वाले को 'अरुणोपपात' आदि पांच, तेरह वर्ष के बाद 'उत्थान श्रुत' आदि चार, चौदह वर्ष के पर्याय के बाद 'आशी विष भावना' पंद्रह वर्ष के पर्याय में 'दृष्टि विष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भावना' और उसके बाद सोलह, सत्तरह, अठारवें वर्ष के दीक्षा पर्याय में अनुक्रम से 'चारण भावना, महा स्वप्नभावना, तैजस निसर्ग' ये तीन शास्त्र, उन्नीस वर्ष वाले को बारहवां 'दृष्टिवाद अंग' और सम्पूर्ण बीस वर्ष बाद सर्व सूत्रों को देना-पढ़ाना- इस तरह से श्री जिनेश्वर भगवन्त ने कहा है।'' उम्र बढ़ते जैसे-जैसे 'पारिणामिकी' बुद्धि खिलती है, वैसे-वैसे दीक्षा पर्याय बढ़ते आत्मिक शुद्धि बढ़ती है। प्रत्येक पर्याय पूर्ण होने के साथ ही उस सूत्र को पढ़ाने से हजम करने की शक्ति प्रगट होती है। यह शक्ति प्रगट हुए बिना पढ़ाने से वह ज्ञान नहीं पचता, अजीर्ण होने से अभिमान का निमित्त बनकर आत्म शत्रुओं का पोषक बन जाता है। इसलिए इस विधि से पर्याय के अनुसार योगोद्वहन के साथ सूत्र वाचन देना चाहिए।

आवश्यक आदि का पठन काल तो उसके योगोद्वहन के साथ दीक्षा के बाद तुरन्त ही समझना। यद्यपि जो दीक्षा के योग्य हो, उसे सूत्र पढ़ाने की योग्यता होती ही है, फिर भी मूल गाथा में पुनः 'योग्य को' इस तरह विशेष रूप में कहा है, वह 'सूत्र पढ़ाने में योग्यता की प्रधानता निर्विवाद है' इस तरह बताने के लिए अथवा सामान्य रूप से 'अधिकतर गुणवान् साधु को सूत्र पढ़ाने के लिए' कहा है, अथवा 'दीक्षा समय में योग्यता देखने पर भी गुरु को पीछे से सहवास के योग से यदि साधु की अयोग्यता दिखे तो उसे सूत्र या अर्थ नहीं पढ़ाया जाय।' कुपात्र को श्रुत ज्ञान देने पर भी स्व-पर आदि अनेकों अनर्थों का कारण बनता है। शास्त्र होने पर भी शस्त्र का काम करता है। इसलिए जो उत्तम ज्ञानी के ज्ञान का उपहास करे ऐसे अयोग्य को कभी पढ़ाना नहीं चाहिए। श्री भद्रबाहु स्वामी ने श्री स्थूलभद्र स्वामी को भी अयोग्य समझ कर आगे पढ़ाने का निषेध किया था, तो फिर सामान्य मनुष्य की बात ही क्या करना ? अतः योग्य पात्र में विधा देने वाला आराधक बनता है। इस तरह समझकर पूर्वर्षियों ने विधा का नाश होने दिया परन्तु अयोग्य को वह विधा नहीं दी। इत्यादि समझाने के लिए कहा है। पंचवस्तुक में कहा है कि-

सन्तुस्स हुंति जोग्गा, जे पवज्जाए णवरमिह गहणं ।
पाहण्ण दंसणत्थं, गुणाहि गयरस्स वा देयं ॥५७१॥

छलिएण व पव्वज्जा काले पच्छवि जाणि अम जोग्गं ।
तस्सवि न होइ देयं, सुत्ताइ इमं च सूचेइ ॥५७२॥

अर्थात् - ''जो दीक्षा के योग्य होता है, वह सूत्र दान के योग्य होता ही है। फिर भी यहां जो 'योग्य को देना चाहिए' इस तरह कहा है वह 'पढ़ाने में योग्यता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की प्रधानता होनी चाहिए' ऐसा बताने के लिए अथवा 'गुणातिशय वाले को पढ़ाना चाहिए' ऐसा सूचक है अथवा दीक्षा काल में ठगे गये गुरु को बाद में भी अयोग्यता दिखे तो उस शिष्य को सूत्रादि का दान नहीं करना चाहिए। ऐसा कहने के लिए समझाया है" अर्थात् यह विशेषण योग्यता सूचक है। इसी बात को पंचवस्तुक में पुनः भावपूर्वक कहते हैं कि-

पव्वावि अस्सवि तहा, इत्थ मुंडावणाइवि णि सिद्धं ।
जिणमय पडिकुट्ठस्सा, पुव्वायरिया तहा चाहू ॥५७३॥

अर्थात् - "दीक्षित होने के बाद भी यदि वह जिन शासन का विरोधी दिखई दे तो आगे मुंडन आदि करने का निषेध है।" इस बात के अनुसार भाष्यकार भी कहते हैं कि-'अयोग्य को दीक्षा देने से, वेश देने वाले अयोग्य का मुंडन करने से, मुंडन हुए अयोग्य को शिक्षण देने से, अयोग्य शिक्षित को महाव्रत उच्चारण करने (देने) से अयोग्य महाव्रत के साथ में आहार (भोजन) करने से, और साथ में भोजन करने के बाद भी यदि अयोग्य जानने के बाद उसके साथ में सम्बन्ध रखने से, चारित्र में स्थित भी गुरु अपने चारित्र का घात करता है।' इस तरह सूत्रों में कहा है। पंचवस्तुक में आगे और भी कहा है कि-

जिणवयणे पडिकुट्ठं, जो पव्वावेइ लोभ दोसेणं ।
चरणट्ठिओ तवस्सी लोवेइ तमेव चारित्ती ॥५७४॥

पव्वाविओ सिअत्ति अ, मुंडावेउं अणायरण जोग्गो ।
जो तं मुंडावेई, दोसा अणि वारिआ पुरिमा ॥५७५॥

मुंडाविओ सिअत्ति अ, सिक्खावेउं अणायरण जोग्गो ।
अहवा सिक्खावें ते, पुरिमा अणि वारिआ दोसा ॥५७६॥

सिक्खाविओ सिअत्ति अ, उट्ठावेउं अणायरण जोग्गो ।
अहवा उवट्ठविंति, पुरिम पयणि वारिआ दोसा ॥५७७॥

उट्ठाविओ सिअत्ति अ, संभुंजेतुं अणायरण जोग्गो ।
अहवा संभुंजंते, पुरिम पयणि वारिआ दोसा ॥५७८॥

संभुंजिओ सिअत्ति अ, संवासेउं अणायरण जोग्गो ।
अहवा संवासंते, दोसा अणि वारिआ पुरिमा ॥५७९॥

एमाई पडि सिद्धं, सव्वं चिअ जिणवरेहऽजोगस्स ।
पच्छा विन्नायस्सवि, गुणठाणं विज्जणाएणं ॥५८०॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्– ''लोभ के वश होकर जो जिन वचन के विरोधी को साधु वेश देता है, वह गुरु चारित्र में रहते हुए भी अपने चारित्र का लोप-विच्छेद करता है, कभी वेश देने के बाद भी मुंडन के अयोग्य जानने के बाद यदि उसका मुंडन करे तो उसे पूर्व कहा दोष अनिवार्य रूप में लगता है। कदाचित् मुंडन के बाद भी शिक्षण के लिए अयोग्य लगे फिर भी उसे शिक्षण दे तो पूर्व के दोष अवश्य लगते हैं। इस तरह शिक्षण देने के बाद कभी अयोग्य दिखाई दे फिर भी यदि महाव्रत दे तो, महाव्रत उच्चारण करने के बाद अयोग्य दिखे तो भी साथ में-मंडली में भोजन-आहार-पानी करवाए तो, और मंडली में मिलाने के बाद भी कदाचित् अयोग्य दिखाई दे तथापि यदि उसे साथ में रखे तो पूर्व कहे सभी दोष अनिवार्य रूप में लगते ही हैं। श्री जिनेश्वर भगवन्त ने बाद में भी जानकारी में आए अयोग्य को पढ़ाना आदि सर्व कार्य का वैद्य के दृष्टान्त से निषेध किया है अर्थात् समझदार वैद्यराज जैसे रोग को असाध्य जानकर तुरन्त ही चिकित्सा को रोक देता है, वैसे ही गुरु को भी अयोग्य शिष्य को जानकर 'सूत्र पढ़ाना' आदि कुछ भी नहीं करना चाहिए। फिर भी करता है तो अधर्म ही जानना।

इस प्रकार उपधान-योग वहन करने से शुद्ध होते हुए, उस सूत्र को पढ़ने के लिए दीक्षा का पर्याय पूर्ण होने के पहले पढ़ाया जाय या पढ़ा जाय तो उसे अधर्म ही कहा है। इस प्रकार 'ग्रहण शिक्षा' को पढ़ाने वाले की विधि कही है। अब दूसरी 'आसेवना शिक्षा-क्रिया' का विधान पूर्वक वर्णन करते हैं –

औधिकी दशधाख्या च, तथा पद विभाग युक् ।
समाचारी त्रिधेत्युक्ता, तस्याः सम्यक् प्रपालनम् ॥८८॥

मूलार्थ – '१. औधिकी, २. दशधा, और ३. पद विभाग युक्, इस तरह समाचारी तीन प्रकार से कही है। उसका सम्यग् रूप से पालन करना वह सापेक्ष यति धर्म है।'

व्याख्या – 'श्री जिनेश्वर ने जो समाचारी कही है (जिसका वर्णन हम आगे करेंगे), वह तीन प्रकार से समाचारी कही है। प्रथम उस समाचारी शब्द का अर्थ कहते हैं कि– 'शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरण किया हुआ क्रिया-कलाप ही समाचारी है' उसमें 'सम+आचार' = समाचार और उसका भाव वह समाचारते अर्थात् समाचार्य है, उसमें स्त्रीलिंग का 'ङी' प्रत्यय लगाने से व्याकरण के नियम के अनुसार 'समाचारी' शब्द की सिद्धि होती है। इस तरह 'समाचारी' का अर्थ 'सम्यग् आचार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का पालन' होता है । [उपा०- इस समाचारी के भिन्न-भिन्न नयों की अपेक्षा से विभाग करने पर सात प्रकार के सम्यग् आचार बनते हैं जैसे कि १. संग्रह नय के मत से आत्मा ही समाचारी, अनात्मा नहीं, क्योंकि - सकल समाचारी रूप विशेषण से विशिष्ट आत्मा को वह नय समाचारी मानता है । २. व्यवहार नय के मतानुसार समाचारी का आचरण करने वाली आत्मा को भी समाचारी कहा है, जो आचरण न करती हो उसे नहीं कहते, क्योंकि - बिना आचरण की आत्मा को भी समाचारी मानने में अतिप्रसंग - अलक्ष्य में भी लक्षण घटाने का दोष आता है । ३. ऋजु सूत्र नय के अभिप्राय से आचरण करते हुए भी उसमें उपयोग वाली आत्मा भी समाचारी है, न कि उपयोग रहित है । क्योंकि- व्यवहार के लिए सम्यग् आचरण करने वाली केवल द्रव्यवेशधारी अज्ञ आत्मा में भी समाचारी मानना, उसके मत से असत्य है। वह नय तो जानने योग्य और पच्चक्खाण करने योग्य उन भावों का जिसे ज्ञान हो, ऐसे ज्ञान वाले को ही उपयोग वाले मानते हैं । ४. शब्द नय तो उपयोग वाला भी जो छह जीव निकाय की रक्षा में प्रयत्नशील हो, उस आत्मा को समाचारी मानते हैं, असंयमी-प्रमादी को नहीं मानते, क्योंकि छह जीव निकाय की रक्षा मात्र उपयोग-परिणाम रूप समाचारी है, असंयमी अविरति समकित दृष्टि आदि आत्माओं में भी यह हो सकती है और उसमें यह व्याख्या घटाने से शब्द नय के मतानुसार अतिप्रसंग दोष आता है । ५. समभिरूढ नय के मतानुसार तो सुसंयत भी जो पाँच समिति से समित और तीन गुप्ति से गुप्त इस- तरह आठ प्रवचन माता का पालक हो उस आत्मा को समाचारी कहते हैं, उससे विलक्षण को नहीं, क्योंकि इससे प्रमत्त संयत आदि में अतिप्रसंग दोष लगता है और ऐसे प्रमादी आदि में समभिरूढ नय आत्मत्व को स्वीकार नहीं करता । ६. एवंभूत नय तो पूर्व कहे अनुसार सारे गुणवाली भी सावध योग से रुकी हुई आत्मा को ही समाचारी मानते हैं । उसमें कारण यह है कि - **'सावज्जो कम्म बंधो'** इस तरह आवश्य चूर्णि में कहा है । यहां सावध- जो कर्म बन्धन है, उसके साथ में योग अर्थात् जोड़ना- जो आत्मवीर्य है, उससे विश्राम करना अर्थात् कर्म बन्धन करने वाले अशुभ वीर्य से विराम प्राप्त करना, और जिसने आत्मज्ञान से कर्मबंधन का स्वरूप जाना है वही आत्मा समाचारी है, और जो वैसी न हो वह नहीं है क्योंकि उस भाव को प्राप्त करने वाले अप्रमत्त संयत आदि को भी अशुभ वीर्य से निवृत्ति और कर्मबन्धन के ज्ञान बिना अप्रमत्त आदि प्राप्त भावों-गुणों का फल नहीं मिलता । यह नय उसे ही कारण मानता है जो कारण अपने कार्य को सिद्ध करता हो । इस कारण अशुभ कर्मबन्धन विराम जिससे न हो- ऐसे भाव,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुण को वह सत्य नहीं मानता । ७ नैगम नय शुद्ध-अशुद्ध उभय रूप होने से शुद्धाशुद्ध सकल भाव विशिष्ट आत्म को अथवा द्विक्-त्रिकादि भावों को प्राप्त करने वाली आत्मा को समाचारी मानते हैं । निश्चय और व्यवहार नय से समाचारी का विचार करने पर व्यवहार नय से समाचारी का आचरण रूप बाह्य लिंग जन्य अनुमान से पहिचाना जाता है और निश्चय नय से चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम आदि से प्रगट हुई आत्मा के अनेक परिणाम-अध्यवसाय को समाचारी कहते हैं । इसी तरह निश्चय नय से तथा बिना विध आचरण वाली आत्मा भी समाचारी कहलाती है, क्योंकि बाह्य आचरण रूप लिंग बिना भी लिंगी अर्थात् ऐसे आत्म परिणाम होते हैं, परन्तु व्यवहार नय के अभिप्राय से तो 'सम्यग् आचरण' हो तभी समाचारी माना जाता है। उसमें भी शुद्ध व्यवहार नय भाव पूर्वक बाह्य आचरण को माना है और अशुद्ध व्यवहार नय तो केवल बाह्य आचरण को भी समाचारी मानता है । इतना दोनों में अन्तर है। इस तरह प्रंसगोपात भिन्न भिन्न नयों से समाचारी का स्वरूप कहा गया है ।]

अब ग्रन्थकार द्वारा कहे समाचारी के तीन भेदों का वर्णन करते हैं- १. ओधिकी, २. दशधा और ३. पद विभागयुक्। अतः कहा है कि- "**समाचारी तिविहा, आहेदसहा-पयविभागे**" अर्थात् १. ओध, २. दसधा और ३. पद विभाग, इस तरह समाचारी के तीन प्रकार हैं । उसमें १. ओध अर्थात् सामान्य यानि सामान्य विषय रूप ओघ समाचारी, अर्थात् सामान्य से केवल संक्षेप रूप से '**ओधनिर्युक्ति**' ग्रन्थ में साधु क्रिया ओघ समाचारी कही गई है । किसी समय वाच्य (विषय) को और उसके वाचक (प्रतिपादक) ग्रन्थ को अभिन्न मानकर उस ग्रन्थ को भी 'ओघ समाचारी' कहा है । इस तरह आगे भी उस व्याख्या में विवक्षा समझ लेना । २. 'दशधा' इसका नाम है, इसमें 'इच्छाकार' आदि दस प्रकार वाली समाचारी है इसलिए 'दसधा समाचारी' और ३. पद अर्थात् उत्सर्ग और अपवाद बताने वाले वचन, उनके विभाग अर्थात यथा स्थान उपयोग । तात्पर्य यह है कि उत्सर्ग का आलंबन कब लेना चाहिए और अपवाद का कब- ऐसा विभाग बताने वाली जो छेद सूत्रों में कही हुई समाचारी है, वह पद विभाग युक् समाचारी है । उसमें जिस आचरण में कुछ भी कारण न हो वह उत्सर्ग समाचारी है, और जो आचरण तथा विधि कुछ कारण से करनी पड़े वह अपवाद समाचारी समझनी चाहिए । इस तरह इन तीनों प्रकार की समाचारी का 'सम्यक्' = उस सूत्र में कही विधि पूर्वक 'प्र' अर्थात् मन वचन काया का उत्कर्ष से शुद्ध 'पालन' = आचरण करना वह सापेक्ष यति धर्म है । इस तरह यहां भी पूर्व के समान क्रिया का सम्बन्ध समझना ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहां तत्काल दीक्षित बना जो साधु श्रुत ज्ञान को पढ़ने में शक्ति रहित हो उनसे आयुष्य अल्पता के कारण, थोड़े समय में बहुत ज्ञान देने के लिए ओध समाचारी बताना। वह नौंवे पूर्व की आचार नाम की तीसरी वस्तु के बीसवें प्राभृत में से ओध प्राभृत में से निकाली है। यह समाचारी प्रतिदिन क्रिया में उपयोगी होने के कारण साधु को दीक्षा के प्रथम दिन से ही सिखायी जाती है, इसलिए उसे यहाँ प्रथम कहा है। दस समाचारी छब्बीसवें उत्तराध्ययन में से थोड़े समय पूर्व के दीक्षित को बोध कराने के लिए निकाली है। उसका उपयोग ओध समाचारी के बाद होने से, उसका दूसरा नम्बर कहा है और बारहवें दृष्टिवाद नामक अंग में कहा गया 'पद विभाग' समाचारी- बारहवें दृष्टिवाद में से निकला कल्प-व्यवहार ग्रन्थ रूप में होने से 'कल्प-व्यवहार' नाम से पहिचाना जाता है। उस विशिष्ट श्रुत ज्ञान का अभ्यास करते हुए क्रम से पढ़ा जा सकता है। इस तरह लम्बे समय के दीक्षित साधु के लिए पढ़ने योग्य होने से उसे अंतिम कहा गया है। इस प्रकार से नाम मात्र से त्रिविध समाचारी का वर्णन करके उसका विशेष वर्णन करने के लिए प्रथम ओध समाचारी का स्वरूप निर्देश पूर्वक कहते हैं कि-

प्रतिलेखनिका पिण्डो पध्य नायतनानि च ।
प्रतिसेवाऽऽलोचने च, शुद्धिश्चेत्यौधिकी मता ॥८६॥

मूलार्थ = १. पडिलेहणा, २. पिण्ड, ३. उपधि, ४. अनायतन, ५. प्रतिसेवा, ६. उसकी आलोचना और ७. शुद्धि, इस तरह ओध समाचारी सात प्रकार की कही है।''

व्याख्या – १. प्रतिलेखना– यहां 'प्रतिलेखना' शब्द 'अक्षर लिखने' के अर्थ में है, लिख् धातु का 'प्रति' उपसर्ग और भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगने से व्याकरण के नियम के अनुसार सिद्ध होता है। 'धातु का अर्थ उपसर्ग पर आधार रखता है' ऐसा शब्द शास्त्र का नियम होने से यहां आगम के अनुसार प्रतिलेखना का अर्थ 'क्षेत्र-वसति, वस्त्र, पात्र आदि का निदर्शन करना' होता है। सर्व क्रियाएं प्रतिलेखना पूर्वक करने का नियम होने से यहां प्रथम द्वार रूप में इसका निरूपण किया है। यह प्रतिलेखना १. प्रतिलेखना करने वाला और २. प्रतिलेख्य पदार्थ- इन दो के बिना संभव ही नहीं है, इसलिए इन दो का स्वरूप भी प्रतिलेखना द्वार में ही कहा जायेगा।

२. पिण्ड – अर्थात् समुदाय यानि यहाँ दोष रहित आहार का पिण्ड समझना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वह प्रतिलेखना के बाद लिया जाता हैं इसलिए दूसरे द्वार में उसका निदर्शन है।

३. उपाधि– इस शब्द में 'उप' अर्थात् आत्मा के समीप में 'दधाति' अर्थात् संयम को धारण करे अथवा पोषण करे वह 'उपाधि' कहलाती है, अर्थात् वस्त्र पात्रादि वस्तुएँ समझना। इन वस्त्र पात्रादि के बिना पिण्ड का ग्रहण होता, इसलिए पिण्ड के बाद उन वस्त्र पात्रादि की कितनी संख्या और कितने माप वाले छोटे बड़े रखना– उन दोनों का प्रमाण इस तीसरे द्वार में कहा जायेगा।

४. अनायतन– अर्थात् वसति– रहने का स्थान, जो साधु के रहने के लिए कल्प्य–योग्य न हो उसे 'अनायतन' कहते हैं अर्थात् स्त्री–पशु–पक्षी–नपुंसकादि जिसमें रहते हों वह साधु के रहने के लिए अयोग्य स्थान होता है और उसे 'अनायतन' कहते हैं। उपधि द्वारा पिण्ड (आहार) मिलने के बाद भी योग्य स्थान बिना उसका उपयोग नहीं कर सकता, अत: चौथे द्वार में अनायतन का त्याग करके आयतन का आश्रय करना। यह चौथा द्वार कहा जायेगा।

५. प्रतिसेवा– 'प्रति' = विपरीत, 'सेवा' = सेवना अर्थात् संयम के अनुष्ठान से विरुद्ध आचरण करना ही प्रतिसेवा है। प्रतिलेखना से लेकर अनायतन वर्जन तक के आचार का पालन करने पर भी साधु द्वारा कदाचित् किसी स्थान पर किसी विषय में कोई अतिचार– भूल संभावित है, इसके लिए चौथे के बाद पांचवें द्वार में उसका निरूपण करने में आता है।

६. आलोचना– यहाँ 'आ' उपसर्ग मयार्दा वाचक है। इसका अर्थ यह है कि इस तरह अतिचार मर्यादा (विधि) पूर्वक 'लोचन' आचार्य आदि के आगे प्रगट रूप में कहना ही 'आलोचन' कहा जाता है। मोक्षार्थी को छोटा भी अपराध= भूल होते ही गुरु के सन्मुख उसकी आलोचना करनी चाहिए। इसलिए प्रतिसेवा के बाद छठे द्वार में आलोचना का निरूपण होगा।

७. शुद्धि – शुद्ध करना ही शुद्धि कहलाती है, जब शिष्य अपने अपराध की आलोचना करे, तब गुरु महाराज द्वारा उसे उचित प्रायश्चित्त दिया जाना ही शुद्धि है। आलोचना के बाद योग्य प्रायश्चित्त लेना होने से सातवें द्वार से प्रायश्चित्त रूप शुद्धि का निरूपण होगा।

सामान्यत: इन सात द्वारों से ओध निर्युक्ति में कही गई क्रियाओं के समूह को ओध समाचारी कहा है अर्थात् ओध निर्युक्ति रूप ओध समाचरी के ये सात द्वार हैं। उसमें प्रथम प्रतिलेखन–प्रतिलेखक और प्रतिलेख्य पदार्थ का वर्णन ओध निर्युक्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में क्षेत्रादि विषयों का निदर्शन पूर्वक अनेक प्रकार से कहा गया है। वह बहुत विस्तार पूर्वक होने से यहाँ उसका विस्तृत वर्णन नहीं करेंगे। विस्तार से जानने की इच्छा वालों को उस ग्रन्थ में ही जान लेना चाहिए। यहाँ तो दिनचर्या में साधु को प्रतिदिन उपयोगी होने से उपकरण सम्बन्धी प्रतिलेखना ही कहेंगे। पंचवस्तुक में भी इसी तरह कहा है कि-

उवगरण गोअरा पुण, इत्थं पडिलेहणा मुणे अव्वा ।
अप्पडि लेहिअ दोसा, विण्णेआ पणिधायाई ॥२३१॥

अर्थात्- 'उपकरणों की प्रतिलेखना पुनः प्रतिदिन की क्रिया रूप में इस तरह (जो कही जायेगी) समझना। यदि वह प्रतिलेखना न करे अथवा जैसे-तैसे करे तो जीव हिंसादि दोष लगते हैं।' पंचवस्तुक ग्रन्थ में साधु की प्रतिदिन की क्रिया इस तरह से दस द्वारों से वर्णन की गई है:-

पडिलेहणा पमज्जण भिक्खरियाऽऽलोअभुंजणा चेव ।
पत्तगधुवण विअवरा, थंडिलमावस्स याई आ ॥२३०॥

अर्थात्- "१. प्रतिलेखना, २. प्रमार्जना, ३. भिक्षा लाना, ४. इरियावहि कायोत्सर्ग, ५. गोचरी की आलोचना, ६. भोजन करना, ७. पात्र धोना, ८. लघु-बड़ी नीति के लिए जाना, ९. उसके लिए स्थण्डिल= शुद्ध भूमि देखना और १०. आवश्यक (प्रतिक्रमण) करना तथा आदि शब्द से 'कालग्रहण' आदि भी समझना।" यह गाथा प्रवचन सारोद्धार के अन्दर ७६८ वीं गाथा है।

अब ओध समाचारी में उपकरण भी प्रतिलेखना जिस क्रम से करनी चाहिए, वह क्रम भी दिनचर्या रूप में कहते हैं कि-

निशान्तयामे जागर्या, गुरुरोश्चावश्यकक्षणे ।
उत्सर्गो देवगुर्वादि नतिः स्वाध्याय निष्ठता ॥९०॥

मूलार्थ- "साधु को रात्रि के अन्तिम पहर में और गुरु को प्रतिक्रमण के समय जागना, कुस्वप्न-दुःस्वप्न का कायोत्सर्ग करना, देव-गुरु को नमस्कार (चैत्यवंदन-गुरुवंदन) करना और स्वाध्याय (सज्झाय) निष्ठ बनना।"

व्याख्या- रात्रि के अन्तिम पहर में निद्रा का त्याग करना आदि सापेक्ष यति धर्म है, इस तरह आगे भी सर्वत्र समझना। उसमें जागने की विधि यति दिनचर्या में इस तरह कही है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जामिणी पच्छिमजामे, सव्वे जग्गंति बाल वुड ढाई ।
परमिट्ठि परम मंतं, भणंति सत्तट्ठ वारा उ ॥३॥

अर्थात् - 'रात्रि के अंतिम पहर के प्रारंभ में ही बाल वृद्ध आदि सब साधुओं को जागना चाहिए और प्रथम सात आठ बार श्री पंच परमेष्ठि नमस्कार महामंत्र का जाप जपना चाहिए।'' इत्यादि । इस क्रिया में नमस्कार मंत्र किस तरह गिनना चाहिए ? प्रथम भाग में दिन कृत्य के प्रारंभ में गृहस्थ के विशेष धर्म में जिस तरह वर्णन किया है, उस तरह वहाँ से समझ लेना। यहाँ अंतिम पहर के प्रारंभ में जागना चाहिए। यह नियम सभी के लिए है या अमुक के लिए ? यह जानने की इच्छा वाले को कहते हैं कि- गुरु अर्थात् प्रव्रज्या देने वाले गुरु अथवा दिगाचार्य आदि को या ग्लान-बीमार आदि अशक्त साधुओं की प्रतिक्रमण के प्रारंभ में जागना । इसका कारण आगे कहेंगे । वैसे गुरु तीसरे पहर में जागने से और ग्लानादि को शरीर अशक्त होने से बाद में जागना उचित ही है। प्रवचन सारोद्धार में भी कहा है कि-

सव्वे वि पढमयामे, दुन्नि अ वसहाण आइमा जामा ।
तइओ होइ गुरुणं, चउत्थे सव्वे गुरु सुअइ ॥८६१॥

अर्थात् - ''सर्व साधु प्रथम पहर में, वृषभ (प्रौढ़) साधु प्रथम के दोपहर तक, तीसरे पहर में गुरु के और चौथे पहर में सभी जाग जायँ, तब गुरु पुनः शयन करे (और प्रतिक्रमण के समय पुनः जागे)।'' प्रतिक्रमण का समय यह समझना कि प्रतिक्रमण पूर्ण होने के बाद दस उपकरण (उपधि) का पडिलेहन पूर्ण होने के बाद सूर्य उदय हो । यति दिनचर्या में कहा है कि-

आवस्सयस्स समए, णिद्दामुद्दं चयंति आयरिआ ।
तह तं कुणंति जह दस पडिलेहाणं तरं सूरो ॥१३॥

अर्थात् - ''प्रतिक्रमण करने के समय में आचार्य निद्रा का त्याग करे और उस समय प्रतिक्रमण पारम्भ करे कि प्रतिक्रमण के बाद दस उपकरणों का पडिलेहन करने के बाद सूर्योदय हो।''

अब जागने के बाद क्या करना चाहिए ? वह कहते हैं कि-का उस्सग्ग करना । यह का उस्सग्ग इरिया पथिकी प्रतिक्रमण पूर्वक कुस्वप्न- दुःस्वप्न के अतिचारों को निवारणार्थ करने के लिए होता है । उसमें जो हिंसादि कोई पापाचरण करने रूप कुस्वप्न आया हो, तो एक सौ श्वासोच्छ्वास प्रमाण (चार लोगस्स चन्देसु निम्मलयरा तक) का और स्वयं मैथुन सेवना रूप जो दुःस्वप्न आया हो तो पूर्व के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुसार चार लोगस्स उपरान्त एक नवकार के चिन्तन से १०८ श्वासोच्छ्वास का 'का उस्सग्ग' समझना। इसके लिए यति दिनचर्या में कहा है कि-

इरिअं पडिक्कमंतो, कुसुमिण दुसुमिण निवारणुस्सग्गं ।
सम्मं कुणंति निज्जिअ पमायणिद्दामहा मुणिणो ॥४॥

पाणि वहप्पमुहाणं, कुसुमिण भावे भवंति उज्जो आ ।
चत्तारि चिंतणिज्जा, सनमुक्कारा चउत्थस्स ॥५॥

अर्थात् - "प्रमाद और निद्रा के विजेता महामुनि इरिया वही प्रतिक्रमण करके कुस्वप्न-दुःस्वप्न का निवारण करने कि लिए सम्यग् प्रकार से काउस्सग्ग को करे। उसमें यदि जीव हिंसा आदि का 'कुस्वप्न' आया हो तो चार लोगस्स 'चंदेसु निम्मलयरा' पद तक और चतुर्थ व्रत की विराधना रूप यदि 'दुःस्वप्न' आया हो तो नवकार सहित चार लोगस्स का काउस्सग्ग रूप चिन्तन करे।"

इस काउस्सग्ग के बाद देव-गुरु आदि को नमस्कार करना। उसमें देव को नमस्कार अर्थात 'जगचिन्तामणि' आदि से लेकर जयवीयराय' तक का चैत्यवंदन और गुरु को नमस्कार अर्थात खमासमण पूर्वक 'भगवान हं' आदि खमासमण से गुरु आदि को नमस्कार करना। उसके बाद तुरन्त ही स्वाध्याय में निष्ठ बनना। स्वाध्याय अर्थात वाचना- पृच्छना आदि जो पहले कहा गया है उसमें यथा संभव एकाग्रता प्राप्त करनी। उपलक्षण से पूर्व ग्रहण किए तप-नियम अभिग्रह का चिन्तन करना तथा धर्म जागरण करना आदि भी समझ लेना। यति दिनचर्या में आगे और भी कहा है-

जिणणमण, मुणिण मंसण पुव्वं तत्तो कुणंति सज्झायं ।
चिंतंति पुव्वगहिअं, तवणियमाभिग्गह प्पमुहं ॥६॥

किं सक्कणिज्ज कज्जं, न करेमि ? अभिग्गहो अको उचि ओ ?

किं मह खलियं जायं ? कह दि अहा मज्झ वच्चंति ॥७॥

कह न हु पमायपंके, खुप्पिस्सं ? किं परो व अप्पो वा ।
मह पिच्छइ अइआरं, इअ कुज्जा धम्म जागरिअं ॥८॥

अर्थात् - "जिन नमन और मुनि नमन पूर्वक मैं सवाध्याय करता हूँ। पूर्व में स्वीकार किये हुए तप, नियम, अभिग्रह आदि का चिन्तन करता हूँ। फिर कौन सा कार्य शक्ति होते हुए मैं नहीं करता ? कौन सा अभिग्रह मुझे करना उचित है ?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चारित्र में मेरी भूल कहां पर हुई ? मेरा दिन आराधना अथवा विराधना में किस तरह जाता है ? मैं प्रमाद रूप कीचड़ में न फंसने के लिए क्या करूँ ? मैं या अन्य कोई मेरे कौन से अतिचार को जानते हैं ?'' इत्यादि चिन्तन रूप धर्म-जागरण करे । धर्म जागरण का फल यह है कि - प्रात: काल के ब्राह्म मुर्हुत में बुद्धि निर्मल रहती है, इससे धर्म कार्य के उपाय का चिन्तन सफल होता है । इसलिए धर्म के मनोरथ का चिन्तन करे । यह इसका भावार्थ है । आगे यति दिनचर्या में कहा है कि-

जामिणी विराम समए, सरए सलिलं व निम्मलं नाणं ।
इअ तत्थ धम्म कम्मे, आय मुवायं विचिंतेज्जा ॥६॥

अर्थात् - ''शरद ऋतु में पानी जैसे निर्मल होता है, वैसे रात्रि के अन्तिम समय में (चार घड़ी शेष रहे तब) ज्ञान निर्मल (विषय कषाय के विकारों से रहित) होता है, इससे उस समय धर्म कार्यों में लाभ हो ऐसा उपाय चिन्तन करना चाहिए।'' निर्मल बुद्धि से चिन्तन करने से आत्मार्थी को आत्म सुख के वास्तविक अनुभव का मार्ग दर्शन होता है ।

उसके बाद उग्घाड पोरसी = सूर्योदय से पौन पहर तक करने के कार्य अब क्रमश: कहते हैं -

काले च काल ग्रहणं, ततश्चावश्यक क्रिया ।
द्राक् प्रत्युपेक्षणा सम्यक्, स्वाध्यायश्चाद्यपौरुषीम् ॥६१॥

मूलार्थ - ''उसके बाद समय होने पर शास्त्रोक्त विधि से काल ग्रहण करना। फिर प्रतिक्रमण करना, फिर तुरन्त वस्त्रों की पडिलेहन करना और फिर पहली पोरिसी पूर्ण होने तक स्वाध्याय करना चाहिए ।''

व्याख्या - शास्त्रोक्त समय में 'प्राभातिक' काल का काल ग्रहण करना, अर्थात् काल ग्रहण का निरूपण करना यह सापेक्ष यति धर्म है । इस तरह क्रिया पद का सम्बन्ध समझना । प्राभातिक काल लेने का समय रात्रि के चौथे पहर के चौथे भाग में समझना । उत्तराध्ययन सूत्र २६ अध्ययन में कहा है कि-

पोरिसीए चउब्भाए, सेसे वंदित्तु तो (वंदित्ता णं तओ) गुरुं।
पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए ॥४५॥

अर्थात् - ''रात्रि के अन्तिम पहर का चौथा विभाग शेष रहे, तब गुरु का वंदन करके, विरति काल का प्रतिक्रमण करके प्राभातिक काल का पडिलेहन अर्थात् निदर्शन करे और प्राभातिक काल ग्रहण ले ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

काल ग्रहण की विधि योग-विधि के ग्रन्थों में से जान लेनी चाहिए। उसमें इतना विशेष है कि- **''ताहे एगो साहू उवज्झायस्स अण्णस्स वा संदिसावित्ता पाभाईकालं गिण्हइ, तओ गुरु उट्ठेइत्ति।''** अर्थात् 'प्राभातिक काल ग्रहण के समय में एक साधु उपाध्याय अथवा अन्य बड़े साधु की आज्ञा लेकर प्राभातिक काल ग्रहण करे, उसके बाद गुरु निद्रा में से जागे।' उसके बाद इरियावही प्रतिक्रमण आदि प्रतिक्रमण की सारी क्रिया मन्द स्वर से करना। फिर काउस्सग्ग कितना करना चाहिए? इत्यादि विधि पहले भाग में कह दी है। प्रतिक्रमण के समय जागने वाले आचार्य, ग्लान आदि भी इरियावही प्रतिक्रमण कर, कुस्वप्न-दुःस्वप्न निवारण के लिए काउस्सग्ग, देव-गुरु वंदन, आदि सर्व विधि उसी समय प्रतिक्रमण के पहले करे। यति दिनचर्या में कहा है कि-

आयारिय गिलाणाई, जे नवि जग्गंति पच्छिमे जामे।
आवस्स यस्य समए, कज्जं, इरिआइ तेहिं तु ॥१४॥

अर्थात् - ''आचार्य, ग्लान आदि जो अंतिम पहर के प्रारंभ में न जागें, उन्हें इरियापथिकी आदि जागने के बाद का कार्य-आवश्यक क्रिया प्रतिक्रमण से पहले करनी चाहियें।''

उसके बाद तुरन्त ही राइ प्रति क्रमण करना चाहिए, इसकी विधि भी पहले भाग में कही गयी है। जो अन्तर साधु के लिए बताने योग्य है वह दैवसिक प्रतिक्रमण के फर्क के साथ सम्बन्धित होने से वहीं कहा जायेगा। राइ प्रतिक्रमण के अन्त में गुरु के समक्ष 'बहुवेल' की आज्ञा प्राप्त करके 'बहुवेल' किया जाता है। उसमें 'बहुवेल' अर्थात् बारम्बार होने वाला, उसे रोक नहीं सकते हैं जैसे आंखें, भ्रकुटी या पलक का फरकना, श्वासोच्छ्वास लेना छोड़ना आदि सूक्ष्म कार्य भी गुरु की आज्ञा के बिना साधु को नहीं कल्पता है, इसलिए बारम्बार होने वाले उस कार्य रूपी सूक्ष्म योग की आज्ञा लेने के लिए 'बहुवेल' द्वारा आज्ञा लेना उचित है। पंचवस्तुक में कहा है कि-

गुरुणाऽणुण्णा याणं, सव्वं चिय कप्पई उ समणाणं।
किच्चंपि जओ काउं, बहुवेलं ते करंति तओ ॥५५३॥

अर्थात् - ''गुरु ने यदि साधु को अनुज्ञा दे दी हो तो उन साधुओं को स्वाध्याय आदि सर्व कार्य करने का अधिकार है। गुरु की आज्ञा बिना आत्म कल्याणकारी स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि महत्वपूर्ण कार्य करने का भी अधिकार नहीं है, इसलिए वह बहुत बार होने वाले सूक्ष्म कार्य के लिए एक साथ में ही 'बहुवेल' की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विधि करके आज्ञा प्राप्त करे अन्यथा श्वास लेने छोड़ने में भी दोष लगता है।'' उसके बाद स्वाध्यायादि प्रत्येक कार्य गुरु की आज्ञा लेकर ही करना चाहिए। गुरु वास्तविक वैद्य के समान होते हैं। जैसे वैद्य किसको क्या, कितनी, कौन सी औषधि देनी, किस तरह उपकारी बने– इस तरह समझकर रोगियों को भिन्न भिन्न औषधि देते हैं वैसे ही निःस्वार्थ परोपकारी गुरु आत्मा के अंतरंग शत्रु-कर्मरोग को जानकर जिस आराधना से आत्मशुद्धि हो उस आराधना में शिष्य को लगा सकते हैं। इसलिए आत्मार्थी को सर्व प्रयत्नों से गुरु आज्ञा का पालन करने का प्रत्यन करना चाहिए। यह आत्म कल्याण के लिए परम हितकर है।

उसके बाद वस्त्रों को दोनों तरफ से सम्पूर्ण देखते हुए शास्त्रोक्त विधि से प्रतिलेखना करनी चाहिए। यह भी सापेक्ष यति धर्म है, इस तरह क्रिया पद के साथ सम्बन्ध जानना। 'प्रतिलेखना' यह जैन धर्म में पारिभाषिक शब्द है और यह वस्त्र, पात्र आदि वस्तुओं का बारम्बार प्रमार्जन करने की क्रिया में उपयोग होता है। शास्त्र में प्रतिलेखना के हेतु बताये हैं कि– प्रतिलेखना का सामान्य हेतु तो जीव रक्षा और जिनाज्ञा का पालन है, फिर भी मुख्य हेतु इस मन रूपी बन्दर को वश में करने का है– ऐसा श्री जिनेश्वर प्रभु ने कहा है। यहां 'प्रतिलेखना सामान्य तथा उपकरण को समझना' ऐसा पहले समझाया है, फिर भी पात्रों की प्रतिलेखना का वर्णन आगे किया जायेगा, इसलिए यहां प्रातः काल में वस्त्रों की प्रतिलेखना समझना। यति दिनचर्या में भी इसी तरह कहा है कि–

पेहिज्ज दिणारंभे, दसगं उग्घाड पोरिसीसमए ।
पत्ताणं निज्जोगं, सव्वं पुण पच्छिमे जामे ।।२८७।।

अर्थात् – 'दिन के प्रारंभ में वस्त्रादि दस वस्तु की उग्घाडा पोरिसी समय में पात्र और पात्र बंधन, पल्ले, गुच्छा आदि पात्र के उपकरणों की तथा आखिरी पहर में वस्त्र-पात्र आदि सारी वस्तुओं की प्रतिलेखना करनी चाहिए।''

यहां दस अर्थात् १. मुखवस्त्रिका, २. रजोहरण, ३-४ दो निषधा (ओधा) के अन्दर तथा ऊपर के दो वस्त्र, ५. चोल पट्टा, ६ से ८ तीन कपड़े (कमली और दो सूती कपड़े), ९. संथारा और १०. उत्तरपट्टा वस्तुओं की प्रतिलेखना सूर्योदय होने के पूर्व ही करनी चाहिए। यति दिनचर्या में कहा है कि–

मुहपत्ती रयहरणं, दुन्नि निसज्जा य चोल कप्पतिगं ।
संथारूत्तर पट्टो, दस पेहाणुग्गए सूरे ।।६०।।

अर्थात् – ''सूर्योदय के पहले मुहपत्ति, रजोहरण, दो निषध, चोलपट्टा, तीन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कपड़े, संथारा और उत्तरपट्टा- इन दस की प्रतिलेखना करनी चाहिए।" निशीथ चूर्णि में और बृहत्कल्प की चूर्णि में ग्यारहवां दण्ड भी कहा है। इस पडिलेहन का क्रम इस प्रकार है- प्रथम खमासमण देकर प्रतिलेखन की अनुमति लेकर फिर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर, प्रकाश वाले स्थान पर उत्कुटुक आसन पर (खड़े पैर से) बैठकर रजोहरण का प्रतिलेखन करे- उसमें भी प्रातः काल पहले अंदर का सूत्रमय निषेथिया और चौथे पहर में बाहर का ऊन का ओधारिया पडिलेहन करना चाहिए। क्योंकि यति दिनचर्या में कहा है कि-

दाऊण खमासमणं, पुत्तिं पडिलेहिऊण उक्कुडुओ ।
पडिलेहइ रयहरणं, पयासदेस ट्ठिओ सम्म ॥८०॥

पडिलेहिज्जइ पढमं, पभाय पडिलेहणाइ रयहरणं ।
अब्भंतरा निसज्जा, मज्झण्हे बाहिरा पढमं ॥८१॥

अर्थात्- "खमासमण देकर प्रथम मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके प्रकाश वाले स्थान पर उत्कुटुक आसन से बैठकर विधि पूर्वक रजोहरण का प्रतिलेखन करे। उसमें प्रभात काल के रजोहरण के प्रतिलेखन में प्रथम अन्दर के निषेथिया का और मध्याह्न (चौथे पहर में) बाहर के निषेथिया (ओधारिया) पडिलेहन करे। उसके बाद चोलपट्टे का पडिलेहन करना। (प्राचीन काल में कंदोरा-करधनी रखने का व्यवहार न था, वर्तमान में तो कंदोरा का रखने का रिवाज है- उसकी प्रतिलेखना कर उसको बांधना (गाठ लगानी) होता है, इसलिए इरियावही प्रतिक्रमण करे।) फिर खमासमण देकर 'इच्छाकारी भगवन् पसाउ करी (प्रसन्न होकर) पडिलेहणा (स्थापनाचार्य तथा बड़े आदि के उपकरण आदि) पडिलेहवो जी (पडिलेहन की अनुमति देना जी) इस तरह आदेश मांगकर तेरह बोल बोलकर श्री स्थापनाचार्य की पडिलेहन करे।

वह तेरह बोल इस प्रकार हैं - "१. शुद्ध स्वरूप के धारक गुरु, २. शुद्ध ज्ञानमय, ३. शुद्ध दर्शनमय, ४. शुद्ध चारित्रमय, ५. शुद्ध श्रद्धामय, ६. शुद्ध प्ररुपणा, ७. शुद्ध स्पर्शनामय, ८. पंचाचार वाले, ९. पलावे १०. अनुमोदे, ११. मनगुप्ति, १२. वचन गुप्ति और १३. काय गुप्ति से गुप्त।" इन बोलों से पडिलेहन कर योग्य स्थान पर स्थापना (विराजमान) कर फिर खमा समण देकर **'उपधिमुहपत्ति पडिलेहु'** इस तरह कहकर आदेश प्राप्त कर मुखवस्त्रिका का पडिलेहन करे। उसके बाद एक खमासमण देकर **'उपधि संदि साहू'** दूसरा खमासमण देकर **'उपधि पडिलेह करू'** यह आदेश मांगकर शेष उपधि (वस्त्र) का प्रतिलेखन करे। उसमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रथम ऊन के कपड़े कमली आदि, बाद में सूत के दो वस्त्र, उसके बाद संथारा, फिर उत्तर पट्टा, इस तरह सूर्योदय से पहले प्रतिलेखना का क्रम कहा है। यह बात यति दिनचर्या में रजोहरण के पडिलेहन के बाद के प्रसंग में कही है कि–

अहं लहुवंदण जुयं, काउं निम्मवइ अंगपडिलेहं ।
ठवणायरिअं तत्तो, पडिलेहइ ठवइ ठाणंमि ॥८२॥

मुहणंतग पडि लेहा, पुव्विं दो चेव थोमबंदणए ।
काऊण संदिसावइ, उवहिं पडिलेहए तत्तो ॥८३॥

अर्थात् – 'उसके बाद दो लघुवंदन (खमा) देकर अंग का पडिलेहन करे। फिर स्थापनाचार्य का प्रतिलेखन करके–उसे योग्य स्थान पर विराज कर उपधि–मुहपत्ति का प्रतिलेखन करे। दो थोमवंदन (खमासमण) देकर 'उपधि संदिसाहू' फिर 'उपधि–पडिलेहन करूं'। (८२)। उपधि की प्रतिलेखना में प्रथम वस्त्रादिकी उपकरणों का लेना, स्थान और पकड़ने–छोड़ने और उसको रखने का स्थान और एक से दूसरे स्थान पर फिराना हो तो वह भी स्थल दृष्टि से देखना और रजोहरणादि से प्रमार्जन करना चाहिए। (८३)। यह बात ओध निर्युक्ति भाष्य में भी कही है कि–

उवगर णाई याणं, गहणे निक्खेवणे य संकमणे ।
ठाण निरिक्खपमज्जण, काउं पडिलेहए उवहिं ॥१५७॥

अर्थात् – ''उपकरणादि को लेने में, रखने में और एक स्थान से दूसरे स्थान पर फेरने में उन स्थानों को दृष्टि से देखकर–प्रमार्जन कर उपधि का पडिलेहण करना।'' यहां मूल श्लोक में 'सम्यक्' पद कहकर वस्त्रों के प्रतिलेखन की सारी विधि का सूचन किया है। वह विधि ओध नियुक्ति, पंचवस्तुक आदि ग्रन्थों में इस तरह कही है –

उड्ढं १ थिरं २ अतुरियं ३, सव्व ता वत्थ ४ पुव्व पडिलेहे ॥
तो बीयं पप्फोडे, तइअं च पुणो पमज्जे ज्जा ॥२६४॥

अर्थात् – ''यहां १. ऊर्ध्व शब्द से आचार्य – भाष्यकार के मतानुसार वस्त्र और शरीर दोनों का, इस तरह अर्थ किया जाता है। प्रश्नकार का इस विषय में जो मत है, वह आगे कहा जायेगा। वस्त्र का ऊर्ध्वरूप अर्थात् वह जमीन को स्पर्श न हो इस प्रकार ऊँचा पकड़कर प्रतिलेखना करना चाहिए। २. 'थिरं' अर्थात स्थिर = अच्छी तरह पकड़कर जिससे गिर न जाये इस तरह पडिलेहना करना,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३.'अतुरिअं' अर्थात् शीघ्रता रहित धीरे-धीरे पडिलेहन करना और ४.'सव्व' अर्थात् सर्व = सम्पूर्ण। उसमें प्रथम दृष्टि से एक ओर से वस्त्र को सम्पूर्ण देखना और फिर पासा बदलकर दूसरी ओर से इसी तरह सम्पूर्ण देखना।'तो बीअं पप्फोडे' अर्थात् उसके बाद दूसरी बार वस्त्र का प्रस्फोटन करना अर्थात दो छोरों से तीन तीन बार नचाना। 'तइ अं च पुणो पमज्जिज्जा' अर्थात् तीसरी बार वस्त्र में से हाथ के ऊपर गिरते हों उन जीवों का उस वस्त्र से ही प्रमार्जन करना। अब इस गाथा की भाष्यकार ने जो व्याख्या लिखी है उसे कहते हैं –

वत्थे काउद्धंमि अ, परवयण ठिओ गहाय दसि अंते ।
तं न भवइ उक्कुडुओ, तिरिअं पेहे जह विलित्तो ॥१५६॥

अर्थात् – ''ऊर्ध्व दो प्रकार से– एक वस्तु का, दूसरा काया का। इस तरह आचार्य ने कहा है, तब 'परवयण' = प्रश्नकार प्रश्न करता है कि – 'ठिओ गहाय दसिअंते' = खड़े खड़े दशियों के अन्त-छोरों से पकड़कर यदि प्रस्फोटन करे तभी यहां कहा है। वैसे वस्त्र और काया दोनों ही ऊर्ध्व बनता है। तब आचार्य कहते हैं कि-प्रश्नकार का प्रश्न बराबर नहीं है, क्योंकि–'उक्कुडुओ तिरिअं पेहे' अर्थात् खड़े पैर से बैठकर वस्त्र के सामने तिरछा चौड़ा करके पडिलेहन करे। वही हमारे मतानुसार कायोर्ध्व और वस्त्रोर्ध्व है, अन्य प्रकार से नहीं है। जैसे शरीर में कुछ चन्दनादि का विलेपन किया हो तब विलेपन के रक्षण के लिए परस्पर अंग का अथवा अंग के साथ वस्त्र का स्पर्श न हो इस तरह रखते हैं। उसी तरह यहाँ पर भी परस्पर अंग का या अंग के साथ वस्त्रों का स्पर्श न हो। इस प्रकार वस्त्र को पकड़ कर प्रतिलेखना करे। इस तरह खड़े पैर से बैठना– यहां 'कार्योर्ध्व' और वस्त्र को तिर्च्छा चौड़ा करना वह 'वस्त्रोर्ध्व' समझना। यह निर्युक्ति की गाथा का 'उड्ढ' पद कहा है। अब 'स्थिर' आदि पदों की भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि–

धित्तुं थिरं अतुरिअं, तिभाग बुद्धीई चक्खुणा पेहे ।
तो विइअं पप्फोडे, तइअं च पुणो पमज्जे ज्जा ॥१६०॥

अर्थात् – ''वस्त्र को स्थिर अर्थात दृढ़ पकड़कर 'अत्वरित' अर्थात् शीघ्रता रहित प्रतिलेखना करनी चाहिए– उसमें बुद्धि से वस्त्र के तीन भागों की कल्पना कर चक्षु से एक एक भाग देखते तीन बार में पूर्ण वस्त्र देख लेना चाहिए। उसके बाद दूसरी बार 'प्रस्फोटन' और तीसरी बार में 'प्रमार्जन' करना चाहिए। इन दोनों का अर्थ पूर्व में जैसा कह गया है उसी तरह समझ लेना। अन्यत्र पंचवस्तुक में तो ऐसा पाठ है कि–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अंगुट्ठ अंगुलीहिं, घेत्तुं वत्थं तिभाग बुद्धीए ।
ततो अ असंभंतो, थिरं ति थिरचक्खुणा पेहे ॥२३५॥

अर्थात् – ''हाथ के अंगूठे और अंगुलियों से वस्त्र को पकड़कर, वस्त्र के तीन भाग की कल्पना कर एकाग्र चित्त से चक्षु को स्थिर रखकर देखे ।'' तथा पंचवस्तुक में कहा है कि–

परिवत्तिउं (अ) च सम्मं, अतुरिअमिति, अद्दुअं पयत्तणं ।
वाउजयणा निमित्तं, इहरा तक्खोभमाई आ ॥२३६॥

अर्थात् – 'अच्छी तरह फेरना, दूसरी ओर वायु काय की विराधना न हो इसके लिए धीरे-धीरे पडिलेहन करना, अन्यथा वायुकाय को क्षोभ (विराधना) आदि दोष लगते हैं ।'' तथा आगे कहा है कि–

इअ दोसुवि पासेसु, दंसणओ सव्वगहण भावेणं ।
सव्वं ति निरवसेसं, ता पठमं चक्खुणा पेहे ॥२३७॥

अर्थात् – ''सव्वं = दो किनारों से देखने से सारा दिखायी देता है वैसे ही वस्त्र को सम्पूर्ण इस तरह से चक्षु से देखे ।' फिर पडिलेहन नहीं करने से अथवा जैसे तैसे करने से दोष लगता है । वह आगे कहते हैं –

अद्दंसणंमि अ तहा, मुइगई आइआण जीवाणं ।
तो बीअं पप्फोडे, इहरा संकामणे विहिणा ॥२३८॥

अर्थात् – ''पडिलेहन करते हुए चींटी आदि जीव यदि देखने में न आए तो प्रथम किए पुरिम की अपेक्षा से दूसरी बार प्रस्फोटन करे और यदि जीव दिखे तो उनको विधि पूर्वक-हिंसा न हो इस तरह– अन्यत्र संक्रमण करे अर्थात् वहां से उठाकर दूसरे स्थान पर रखे ।'' अब प्रस्फोटन किस तरह करे, वह ओध नियुक्ति में कहा है कि–

अणच्चा विअं अचलिअं, अणाणुबंधि अमोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा नव खोडा, पाणीपाण पमज्जणं ॥२६५॥

अर्थात – ''पडिलेहन करने वाले को 'अणच्चापिअं' = वस्त्र को अथवा आत्मा को (मन को-ध्यान को) नहीं नचाना चाहिए । तथा 'अचलिअं' = वस्त्र और शरीर को नहीं नमाना-अचल रखना (प्रतिलेखना की क्रिया बिना जैसे तैसे ऊंचा नीचा नहीं करना।) 'अणाणुबंधि' = प्रतिलेखना में आस्फोटन-प्रस्फोटन-प्रमार्जन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि लगातार नहीं करते तथा अन्तर से भी नहीं करते, विधि अनुसार करना । 'अमोसलिं' = पडिलेहन में मूसल के समान क्रिया नहीं करना । जैसे मूसल एकदम ऊंच और वहां से नीचा या तिरछा टकराये वैसे प्रतिलेखना नहीं करना परन्तु पडिलेहन करने वाले के ऊपर, पीठ भाग में, वस्त्र तिरछा, दीवार या नीचे जमीन के साथ स्पर्श न हो, इस तरह पडिलेहन करना चाहिए । 'छप्पुरिमा' = वस्त्र को अपने सामने करके एक ओर दृष्टि से सम्पूर्ण देखकर पहले तीन 'पुरिम' करना, फिर दूसरी ओर बदल कर उसे सम्पूर्ण देखकर दूसरी बार तीन 'पुरिम' करना । इस तरह दो बार मिलाकर छह 'पुरिम' अर्थात् छह बार 'प्रस्फोटन' करना । यह प्रस्फोटन = वस्त्र को एक एक ओर से देखकर तीन तीन बार नचाना, उसके बाद वस्त्र को अंगुलियों के बीच में दबा-पकड़कर हथेली से कोहनी की तरफ ले जाते तीन बार तीन तीन समय नचाना- यह 'नवखोडा' पडिलेहन में हाथ के ऊपर 'नौ आस्फोटक' करना, वह 'पाणी पाण पमज्जणं' = और उसके बीच में वस्त्र को कोहनी से हथेली की ओर ले जाते वस्त्र द्वारा हाथ पर कुंथुआ आदि जीव आए हों तो उनकी रक्षा के प्रमार्जन करना, वह भी तीन बार तीन तीन समय करते नौ प्रमार्जन होते हैं । इस तरह आस्फोटन और प्रमार्जन एक दूसरे के अन्तर में तीन तीन समय तीन तीन करने से कुल नौ नौ बार होता है । यह निर्युक्ति के द्वारा गाथा कही अब इसके भाष्यकार व्याख्या करते हैं-

वत्थे अप्पाणंमि अ, चउह अणच्चावि‌अं अवलि‌अं च ।
अणुबंध निरंतरया, तिरिउड्ढह घट्टणा मुसली ॥भा०१६१॥

अर्थात् - ''यहां 'वस्त्र और आत्मा' दो पदों से चतुर्भंगी का सूचन किया है । वह 'चार प्रकार से नचाना नहीं है' इस तरह बनता है । पहले विभाग में 'वस्त्र और आत्मा दोनों को नहीं नचाना' अर्थात् आत्मा को नहीं नचाना, मन को नहीं चंचल बनाना बल्कि एकाग्र बनाना । दूसरे विभाग में 'वस्त्र को नहीं नचाना, आत्मा को नचाना,' तीसरे विभाग में 'वस्त्र को नचाना, आत्मा को नहीं नचाना' और चौथे विभाग में 'दोनों को नचाना' - इनमें पहला विभाग शुद्ध जानना । इस प्रकार से 'अवलित' पद के भी 'वस्त्र और शरीर' दोनों के योग से चार विभाग होते हैं । उसमें पहला विभाग शुद्ध जानना । अनुबंध का अर्थ 'निरन्तर-लगातार' होता है, इससे निरन्तर प्रतिलेखना नहीं करना, लेकिन 'पुरिम, प्रस्फोटन, प्रमार्जन आदि एक दूसरे के अन्तर पर करना। 'मूसली क्रिया' तीन प्रकार से होती है- १. तिर्छु, २. ऊर्ध्व और ३. अधः, इस प्रकार तीन स्थल पर स्पर्श होता है अर्थात् प्रत्युपेक्षण करने वाला वस्त्र से तिर्छु दीवार आदि को, ऊपर छत आदि को और नीचे जमीन को स्पर्श करे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तो वह 'मूसल क्रिया' कहलाती है ।' इस तरह मूसल क्रिया नहीं करना । अर्थात् प्रत्युपेक्षण करते समय वस्त्र को कहीं पर स्पर्श नहीं होने देना चाहिए । अब छह पुरिम की व्याख्या पंचवस्तुक ग्रन्थ के द्वारा कहते हैं –

छप्पुरिमा तिरिअ कए, नव अक्खोडा तिन्नि तिन्नि अंतरिआ ।
ते उण बिआणिव्वा, हत्थंमि पमज्जाण तिएणं ॥२४२॥

अर्थात् – ''छह प्रस्फोटन को 'पुरिम' अर्थात् प्रथम वस्त्र को सामने चौड़ा करके दोनों तरफ से देखना । फिर नौ 'आस्फोटक' तीन तीन के अंतर में करना । वह कहां करना ? हाथ ऊपर करके करना । किसके अंतर में करना ? तीन-तीन प्रमार्जन के अंतर में करना । अब उस प्रमार्जन का स्वरूप पंच वस्तुक द्वारा कहते हैं –

तइअं पमज्जणमिणं, तव्वण्णऽहिस्स सत्तरक्खट्ठा ।
तक्खण पमज्जि आए, तब्भूमीए अभोगाओ ॥२४३॥

अर्थात् – तीसरे द्वार में प्रमार्जन है । यह प्रमार्जन 'तद्वर्ण' अर्थात् हाथ के समान वर्ण वाले होने से जो दिखाई नहीं देते ऐसे जीवों के रक्षण के लिए किया जाता है एवं प्रस्फोटक करते 'हाथ से जीव उतर गया हो तो उसकी रक्षा होती है' इस कारण से यह प्रमार्जन सफल है । यहां शास्त्रकारों की यह युक्ति है कि-जहां तत्क्षण प्रमार्जन किया हो, उस भूमि की पडिलेहन किए बिना पुनः प्रमार्जन न हो वहां तक वह अभोग – उपयोग करने योग्य नहीं है, इसलिए प्रमार्जन सफल है । तथा–

विहिपा हणणेणेवं, भणिअं पडिलेहणं अओ उड्ढं ।
एअं चेवाह गुरु, पडिसेह पहाण ओ णवरं ॥२४४॥

अर्थात् – ''यहां तक पडिलेहन का स्वरूप, विधि की प्रधानता अर्थात् पडिलेहण में क्या क्या करना चाहिए – उसका विधान रूप कहा । अब यहां गुरु-भाष्यकार प्रतिषेध की प्रधानता से अर्थात् पडिलेहन में क्या क्या नहीं करना चाहिए ? अर्थात् निषेध रूप में अन्य प्रकार से कहते हैं । उसमें केवल यह हेतु है कि धर्म का वर्णन विधि (करणीय विधान) और निषेध (अकरणीय का निषेध) इस तरह उभय विषयक होता है ।'' इसलिए अब निषेध प्राधान्य प्रतिलेखना कैसे करना ? वह ओध नियुक्ति द्वारा कहते हैं -

आरभडा संमद्दा वज्जेअव्वा य मोसली तइआ ।
पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइआ छट्ठी ॥२६६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''एक आरभटा, दूसरा संमर्दा, तीसरा मूसली, चौथा प्रस्फोटना, पांचवां, विक्षिप्ता, और छठा वेदिका बद्ध, ये छह प्रकार की पडिलेहना नहीं करना। पंच वस्तुक में तो मूसली के स्थान पर 'आस्थान स्थापना' ऐसा पाठ है अर्थात् पडिलेहन में छह दोष सेवन नहीं करना चाहिए।'' अब इस गाथा में कहे छह दोषों की भाष्यकार व्याख्या करते हैं -

वितह करणे च तुरिअं, अण्णं अण्णं च गिण्हणाऽऽ रभडा।
अंतो तु हुज्ज कोणा, निसिअण तत्थेण सम्मद्दा ॥भा० १६२॥

अर्थात् - ''वितथ'' अर्थात् विपरीत करना, अथवा व्याकुलता से अन्य अन्य वस्त्र लेकर शीघ्रता से पडिलेहन करना, उसे- १. 'अरभटा' पडिलेहन कहते हैं। इसलिए ऐसी विपरीत या शीघ्रता से पडिलेहना नहीं करना। 'अतो' अर्थात् पडिलेहणा करते समय वस्त्र का घेरा वस्त्र का मध्यभाग की ओर मुड़ जाय उसे अथवा पडिलेहण उपधि पर बैठकर उसकी प्रतिलेखना करना उसे २. संमर्दा कहा है। इसलिए वैसी प्रतिलेखना नहीं करना। तथा-

मोसलि पुव्वुद्दिट्ठा, पप्फोडण रेणुगुंडिए चेव ।
विक्खेवं तुक्खेवो, वेइ अपणगं च छद्दोसा ॥भा० १६३॥

अर्थात् - ३. ''मूसली'' का वर्णन पहले किया गया है। पंचवस्तुक में तो **'गुरु वग्गाहा अठाणं'** पाठ आया है। इसका अर्थ 'गुरु के अवग्रह में आदि अस्थान' होता है। अर्थात् प्रतिलेखन की हुई अपनी उपधि को गुरु के अवग्रह में नहीं रखना। क्योंकि- गुरु की अवग्रहीत भूमि का उपयोग करने से शिष्य को दोष लगता है। ४. 'प्रस्फोटन' अर्थात् रज-नार्द वाले वस्त्र को गृहस्थ झाड़े, वैसे पडिलेहन करते वस्त्र को झटके नहीं, ५. 'विक्षेपण' अर्थात् वस्त्र की प्रतिलेखना करके पास रखे बिना परदे आदि ऊपर नीचे रखना अथवा छेड़े ऊँचे डालना, ऊँचे टांगना इत्यादि विक्षेपण नहीं करना, और ६. 'वेदिका पंचक' अर्थात् ऊर्ध्व वेदिका आदि पांच प्रकार की वेदिका प्रतिलेखना में नहीं करना। ये छह दोष प्रतिलेखना में त्याग करने चाहिएँ।' अब 'वेदिकापंचक' के लिए पंचवस्तुक में कहा है कि-

उड्ढमहो एगतो, दुहओ अंतो अ वेइ आपणगं ।
जाणूण मुवरि हेट्ठा, एगयरे दुण्ह बीअं तु ॥१४८॥

अर्थात् - ''१. घुटने पर हाथ-कोहनी रखकर पडिलेहन करना, २. घुटनों के नीचे दोनों जांघों के बीच हाथ रखकर करना, ३. एक घुटने के अंतर में दोनों हाथ रखकर करना, ४. दोनों हाथों के बीच दो घुटने रखकर करना और ५. दो घुटनों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के बीच-गोद में दो हाथ रखकर करना। इस तरह हाथ रखने से पांच वेदिका रूप दोष का प्रतिलेखना करने वाले को त्याग करना चाहिए।'' प्रतिलेखना के अन्य दोष भी ओधनिर्युक्ति में कहे हैं –

पसिढिल पलंबलोला, एगामोसा अणेगरु वधुणा ।
कुणइ पमाणि पमायं, संकिअ गणणो वगं कुज्जा ॥२६७॥

अर्थात् – '' १. '**प्रशिथिल**' अर्थात् वस्त्र को मजबूत नहीं पकड़ना या सम्पूर्ण चौड़ा-विस्तार किए बिना पकड़ना। २. '**प्रलम्ब**' अर्थात् टेढ़ा पकड़कर लम्बा करना, अथवा जिससे लम्बकोन हो इस तरह पकड़ना, अर्थात एक छोर से पकड़कर लम्बा करना। ३. '**लोलन**' अर्थात् पडिलेहना करते अनादर से हाथ के ऊपर या जमीन के ऊपर जैसे तैसे वस्त्र का स्पर्श करना। ४. '**एकामर्ष**' अर्थात् –पडिलेहन करते वस्त्र को बीच में पकड़कर इतना ही चौड़ा कर या उसका तीसरा विभाग ही शेष रह जाये अर्थात् तीन विभाग चौड़ा करके देखने के बदले बीच से पकड़कर एक साथ में उतना चौड़ा करके शेष भाग देखे बिना ही रह जाये, इस तरह पडिलेहना करना अथवा तीन अंगुलियों से नहीं पकड़ते, केवल एक एक-दो अंगुलियों से पकड़ना या एकामर्ष के बदले 'अनेकामर्ष' ऐसा यदि शब्द मानें तो वस्त्र का विस्तार करते और पकड़ते अनेक स्थान पर स्पर्श करे – इस तरह अनेक बार वस्त्र को जहां तहां स्पर्श करते पडिलेहना करना, ५. '**अनेक कम्पन**' अर्थात् तीन पुरिमा करने के उपरान्त भी वस्त्र को अनेक बार कम्पाना अथवा तीन के स्थान पर बहुत पुरिमा करना या दूसरे अर्थ में बहुत वस्त्रों को एकत्रित पकड़कर एक साथ में पुरिमा करना, ६. '**प्रमाण में प्रमाद**' अर्थात् नौ अक्खोडा और नौ प्रमार्जना के बदले प्रमाद से कम अधिक करना और ७. '**शंकित गणनोपगत**' अर्थात् पडिलेहन में पुरिमा, अक्खोडा या प्रमार्जन आदि की तीन, नौ आदि गिनती में शंका होनी। ऐसी शंका रहे वैसे न करना। तात्पर्य यह है कि – पुरिमादि करते समय उसे गिनने में यदि साधु प्रमादी हो, वह पीछे से 'पुरिम' आदि कितने रहे ? ऐसी शंका से उसे गिने– इस तरह किसी तरह से दोषित पडिलेहन न करना चाहिए। तो पडिलेहन किस तरह करना चाहिए? वह अब ओध निर्युक्ति में कहते हैं–

अणूणाइरित्त पडिलेहा, अविवच्चासा तहेव य ।
पढमं पयं पसत्थं, सेसाणि उ अप्प सत्थाणि ॥२६८॥

अर्थात् – १. '**अन्यूनातिरिक्त**' = अर्थात् जिसमें पडिलेहना–प्रमार्जन आदि कम या अधिक न हो वह, तथा २. '**अविपर्यासा**' अर्थात् वस्त्र के क्रम से और बाल–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वृद्ध आदि पुरुष के क्रम से पडिलेहन करना चाहिए। इस तरह १. अन्यून, २. अनतिरिक्ता और ३. अविपर्यासा, इन तीन पदों की अष्टभंगी होती है, उसमें 'अन्यून, अनतिरिक्ता और अविपर्यासा' यह पहला विभाग श्रेष्ठ-मोक्ष का अविरोधी जानना और सेष सात विभाग में 'विपर्यास' आदि दोष होने से वह अप्रशस्त जानना । वे आठ विभाग इस तरह हैं ।

ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ।
। ऽ ऽ	। ऽ ।
ऽ । ऽ	ऽ । ।
। । ऽ	। । ।

१. अन्यूना, अनतिरिक्ता, अविपर्यासा, २. अन्यूना अतिरिक्ता, अविपर्यासा, ३. न्यूना, अनतिरिक्ता, अविपर्यासा, ४. न्यूना, अतिरिक्ता, अविपर्यासा, ५. अन्यूना, अनतिरिक्ता, विपर्यासा, ६. अन्यूना, अतिरिक्ता, विपर्यासा, ७. न्यूना, अतिरिक्ता, विपर्यासा, और ८. न्यूना, अतिरिक्ता, विपर्यासा । अब न्यूना, अतिरिक्ता के कारण पंचवस्तुक में कहते हैं कि-

खोडण पमज्जण वेलासु, चेव ऊणा हिआ मुणेअव्वा ।
कुक्कुड अरूणापगासं, परोप्पं पाणि पडि लेहा ॥२५५॥

अर्थात् - यहां प्रस्फोटन, प्रमार्जन और समय में कम अधिक समझना । नौ से कम या अधिक प्रस्फोटन और प्रमार्जना नहीं करना तथा पडिलेहन के समय की अपेक्षा से भी कम या अधिक समय में पडिलेहन नहीं करना, यह तात्पर्य जानना। उसमें समय जानने के लिए '**कुक्कुड**' आदि गाथा जो उत्तरार्द्ध में कही है, उसके अर्थ से सम्बन्धित वृद्ध परम्परा ऐसी है कि-काल से न्यून (कम) में वह पडिलेहणा कहलाती है या-पडिलेहण का जो काल हो उससे कम काल में जल्दी करे इस विषय में शिष्य प्रश्न करते हैं कि 'पडिलेहन का कौनसा समय है ?' उत्तर में एक आचार्य कहते हैं कि 'प्रतिक्रमण करके जब मुर्गा बोले तब पडिलेहन करना' उसके बाद सज्झाय करना-अध्ययन करना ।' दूसरे आचार्य कहते हैं कि 'जब शरीर लाल हो अर्थात् सूर्योदय की पहली प्रभा पड़े-अरुणोदय हो तब करे ।' और तीसरे कहते हैं कि 'जब सुबह की प्रभा हो जाये तब करे ।' अन्य आचार्य कहते हैं कि- 'जब परस्पर एक दूसरे का मुख दिखे तब करे ।' अन्य कहते हैं कि 'जब हाथ की रेखा दिखाई दे तब पडिलेहन करे ।' इस तरह इस विषय में प्रत्येक का विभ्रम होने का निमित्त बनता है । अतः वह कहते हैं कि-

देवसिआ पडिलेहा, जं चरिमाए त्ति विब्भमो एसो ।
कुक्कुड गादेसिस्सा, तहिं ध्यारंति तो सेसा ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''वस्त्रादि की दैवसिक पडिलेहना चौथे पहर के प्रारम्भ में करना बताया है और उसके बाद तुरन्त ही स्वाध्याय का विधान है। इससे जब प्रभात में मुर्गा बोले तब पडिलेहण करने के लिए कहते हुए आचार्य श्री के सामने शिष्य को यह भ्रान्ति हुई कि- 'उस समय तो अंधेरा होता है, उस अंधेरे में पडिलेहन किस तरह हो सकती है ? शेष विकल्प तो स्वच्छंद कल्पना रूप है।' इसका समाधान सिद्धान्तवादी ओधनिर्युक्ति तथा पंचवस्तुक में कहते हैं कि–

एए उ अणाएसा, अंधारे उग्गएवि हु ण दीसे ।
मुहर यणि सिज्ज चोले, कप्पति अदुपट्ट थुई सूरो ॥२७०॥

अर्थात् – ''यह सब विकल्प स्वच्छंद कल्पना रूप होने से आदणीय नहीं हैं, क्योंकि अंधकार वाले उपाश्रय में तो सूर्य उदय होने पर भी हाथ की रेखा नहीं दिखती। इसलिए प्रतिलेखन का काल यह समझना कि – आवश्यक प्रतिक्रमण करके अंत में देव वन्दन की चार स्तुति बोलने के बाद तुरन्त पडिलेहन प्रारंभ करे और दस वस्तु की पडिलेहन पूर्ण होते सूर्य उदय हो। ये दस पडिलेहन **'मुहपति रयहरणं'** (यति दिनचर्या) ६० की गाथा पहले कही है, उसे समझ लेना। पडिलेहन का सारांश यह है – पंचवस्तुक में कहा है कि–

जीवदयट्ठा पेहा, ऐसो कालो इमीइ ता णेओ ।
आवस्सय थूइ अंते, दसपेहा उट्ठई सूरो ॥२५८॥

अर्थात् – ''पडिलेहणा जीव दया के लिए कहा है, इसलिए इसका काल यही समझना कि–प्रतिक्रमण और स्तुति कहने बाद पडिलेहन प्रारंभ करने पर दस वस्तु की पडिलेहन पूर्ण होते सूर्य का उदय हो।''

अब पडिलेहन में पुरुष और उपधि का क्रम कहते है। उसमें पुरुष क्रम इस तरह से है –सर्व प्रथम गुरु महाराज की उपधि की पडिलेहन करना, उसके बाद तपस्वी की, फिर बीमार-ग्लान की, फिर नव दीक्षित, उसके बाद वैया वच्च करने वाले साधु, यदि वह अन्य कार्यों में रुके हों तो उनकी और फिर अपनी उपधि की पडिलेहन करना। वस्त्र के लिए यह क्रम है कि– पहले जो वस्त्रादि यथाकृत हो उसकी पडिलेहना करनी चाहिए, क्योंकि–ऐसा वस्त्रादि बहुमान का पात्र गिना जाता है (जो वस्त्र गृहस्थ के पास से ऐसा मिला हो कि सीना-फाड़ना आदि का प्रयोजन न रहे वह यथाकृत और जिसमें ऐसी कोई क्रिया करनी पड़े वह परिकर्म वाला कहलाता है।) अन्य परिकर्म वाले वस्त्रादि भी एक अल्पपरिकर्म वाले और दूसरे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बहुपरिकर्म वाले होते हैं । उसमें अल्पपरिकर्म वाला प्रथम और बहुपरिकर्म वाला बाद में पडिलेहन करना चाहिए, यह उत्सर्ग मार्ग से कहा है । निशीथ चूर्णि में भी इस विषय में कहा है कि –उपधि में सुबह प्रथम मुहपत्ति, फिर रजोहरण, उसके बाद अंदर का निषेथिया, उसके बाद बाहर का निषेथिया (ओधारिया), फिर चोलपट्टा, कपड़ा, उत्तर पट्टा और संथारा और आखिर में दण्ड का पडिलेहण करना। इस क्रम से पडिलेहन करना चाहिए । यह उपधिक्रम और इससे विपरीत उत्क्रम समझना । पुरुष क्रम में भी प्रथम आचार्य की बाद तपस्वी की और फिर ग्लान आदि की पडिलेहना करनी चाहिए– यह क्रम है और इससे विपरीत उत्क्रम समझना । अब इसमें अपवाद कहते हैं । ओध निर्युक्ति और पंचवस्तुक गाथा २६१ में कहा है कि –

पुरिसुवहि विवज्जासे, सागारिए करेज्ज उवहिवच्चासं ।
आपुच्छित्ताण गुरुं, पहुव्वमाणे अरे वितहं ॥२७१॥

अर्थात् – एक पुरुष और दूसरी उपधि का– इस तरह दो प्रकार के क्रम में भी (विपर्यास) उत्क्रम हो सकता है । उसमें यदि प्रतिक्रमण के समय में कोई गृहस्थ या चोर आदि आया हो और वह देखे – इस तरह हो तो उपधि के पडिलेहन का क्रम बदल देना । पहले पात्रों और फिर वस्त्रों की पडिलेहन करना । इसके बिना पडिलेहन में क्रम नहीं बदलना चाहिए । इसी तरह यदि पडिलेहन के समय कोई गृहस्थ आया हो तो शाम में भी क्रम बदल देना । यह उपधि के विषय में कहा है। पुरुष के विषय में इस तरह समझना– जब किसी साधु को गुरु आदि की उपधि की पडिलेहन करने का अभिग्रह हो तब अन्य साधु को पूछकर, गुरु आदि को छोड़कर, अपनी अथवा बीमार साधु की पडिलेहन करे, परन्तु ऐसा अभिग्रह वाला कोई साधु न हो फिर भी यदि पहले अपनी करे, तब अविधि अर्थात् अनाचार समझना । इस तरह अनाचार केवल पडिलेहण समय में उपधि के विषय में ही नहीं है, यह दूसरे रूप में भी होता है । ओध निर्युक्ति में कहा है –

पडिलेहणं करें तो, मिहो कहं कुणइ जणवय कहं वा।
देइ व पच्चक्खाणं, वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥२७२॥
पुढवीआक्काए, तेऊ वाऊ वणस्सइत साणं ।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हंपि विराहओ होइ ॥२७३॥

अर्थात् – "यदि पडिलेहना करते समय परस्पर वार्तालाप करे, अथवा अन्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मतानुसार मैथुन की बात करे, देश आदि विकथा करे पच्चक्खान दे और स्वयं वाचना ले अथवा दूसरे को वाचना दे तो पडिलेहण में प्रमादी वह साधु पृथ्वीकाय, अपकाय, तेऊकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छहकाय जीवों का विराधक होता है।'' यहां प्रश्न होता है कि 'केवल बोलने मात्र से छहकाय जीवों की विराधना कैसे होती है ?' इसका उत्तर आगे ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

घडगाइ पलोट्टणया, मट्टि अ अगणी अ बीअ कुंथाई ।
उद्‌गगया व तसेअर, उम्मुअसंघट्ट झावण या ॥१॥

अर्थात् – पडिलेहण करने वाला साधु किसी कुम्हार आदि के स्थान पर पडिलेहन करते हुए यदि बीच में कुछ बोले तो एक समय में जीव का एक ही उपयोग होने से पडिलेहण का उपयोग चूक जायेगा। इससे पडिलेहन करते पानी का पात्र-घट आदि का धक्का लग जाने से उस घड़े आदि में यदि संचित मिट्टी, अग्नि, अनाज के कण रूप, बीज आदि वनस्पति अथवा कुंथु आदि त्रस जीवों के ऊपर पड़े, इससे गिरने से उसमें रहे उस काया के जीवों का नाश करता है, जहां अग्नि हो वहां वायु भी अवश्य होती है, इससे उसकी भी विराधना होती है अथवा ढुला हुआ घड़े का पानी हो और उसमें पोरा आदि त्रस जीव हों तो वह भी मरते हैं, और अन्य वनस्पति-काय आदि जीवों का भी नाश होता है। तथा यदि वस्त्र छेड़े से पडिलेहन में अनुपयोगी साधु अग्नि वाले प्रदेश में लग जाय तो उसमें आग लग जाती है, और उसका स्पर्श होने से अन्यत्र भी आग लग सकती है तब तो संयम और आत्मा दोनों की विराधना (नाश) होता है। इस तरह से अनुपयोगी द्वारा विराधना सम्भावित है – इस तरह कहा है। वस्तुतः प्रमादी साधु को परिणाम अशुद्ध होने से किसी एक काया के वध में भी छह काया का वध हो सकता है। ओध निर्युक्ति में कहा है कि – **''जेवि ण वावज्जंति, णिअमा ते सिंपि हिंसगो होइ'** (गा० ७५३) अर्थात – 'वह जीव मरा नहीं हो फिर भी प्रमाण के कारण से वह अवश्य हिसंक बनता है।' अतः उपयोग पूर्वक पडिलेहण करने वाला रक्षा का ध्येय होने से छह काया का आराधक होता है। इसके लिए ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

पुथ्वी आउक्काए, तेऊ वाऊ वणस्स इत साणं ।
पडिलेहण माउत्तो, छण्हं आराहओ होइ ॥२७५॥

अर्थात् – ''पडिलेहन में एकाग्र उपयोग वाले मुनि पृथ्वीकाय, अपकाय तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छहकाय का आराधक-रक्षक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बनता है।" इसलिए पडिलेहन अच्छी तरह विधि पूर्वक करनी चाहिए। ऐसा न करने से भी दोष लगता है। पंचवस्तुक में कहा है कि–

अप्पडिलेहिअ दोसा, आणाई अविहिणावि ते चेव ।
तम्हा उ सिक्खि अव्वा, पडिलेहा से वि अव्वा य ॥२६२॥

अर्थात् – "जिनाज्ञा का भंग, अनवस्था–छहकाय विराधना और मिथ्यात्व आदि दोष प्रतिलेखना नहीं करने से लगता है। अविधि से प्रतिलेखना करने से भी वही दोष लगता है, अत: पडिलेहन करना सीखना चाहिए और वह शुद्ध ही करना भी चाहिए।" इस तरह पडिलेहन करते सूर्योदय होने के बाद शेष उपधि की पडिलेहन कर वसति का प्रमार्जन करना (काजो लेना)। पंचवस्तुक में कहा है कि–

पडिलेहि ऊण उवहिं, गोसंमि पमज्जणा उ वसहीए ।
अवरण्हे पुण पढमं, पमज्जणा पच्छ पडिलेहा ॥२६३॥

अर्थात् – "प्रात: काल में पहले पडिलेहन करके फिर वसति का प्रमार्जन करना और शाम को पहले वसति का प्रमार्जन कर फिर पडिलेहन करना चाहिए।" यति दिनचर्या में भी कहा है कि–

सिज्जा पमज्जि अव्वा, पभाय समयंमि सव्वओ पच्छा ।
पुन्तीतणु पडिलेहा, समणंतरमेव मज्झण्हे ॥८७॥

अर्थात् – "प्रभात में वसति का सब से पीछे प्रमार्जन करना और मध्याह्न में मुहपत्ति और काया का २५-२५ बोल से पडिलेहन करके वसति का तुरन्त ही प्रमार्जन करना।" इस तरह वसति यदि जीव रहित हो तो भी सिवाय चौमासा के शेष बद्धकाल में हमेशा दो बार, वर्षाऋतु में तीन बार और जीव के उपद्रव वाली हो तो बहुत बार भी प्रमार्जन करना। इस तरह करने पर भी यदि जीवों का उपद्रव अधिक रहे तो उसे बदल भी देना।" यति दिनचर्या में कहा है कि–

"दुन्नि पडिलेहणाओ, उउम्मि वासा सु तइअ मज्झण्हे ।
वसहिं वहुस पमज्जइ, अइसंघट्टे ऽन्नहिं गच्छे ॥१॥

अर्थात् – "वसति (उपाश्रय) की पडिलेहन ऋतुबद्ध काल में दो बार और वर्षाकाल में तीन बार मध्याह्न में भी करना। यदि जीवों का उपद्रव अधिक हो तो ज्यादा बार भी वसति का प्रमार्जन करना। फिर भी यदि जीवों का उपद्रव अति प्रमाण में रहे तो अन्य वसति में जाना चाहिए।" वसति का प्रमार्जन जयणा के उद्देश्य से कहा है। वह जयणा अंधकार में नहीं हो सकती है, इसलिए सुबह उपधि की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पडिलेहन के बाद ही वसति प्रमार्जन करना कल्याणकारी है । इसके लिए यति दिनचर्या में कहा है कि–

को हेऊ? जिण आणा, एसा जयणा निमित्तमहवा वि ।
रविकर हयं धयारे, वसहीइ पमज्जणं सेयं ॥८८॥

अर्थात् – "प्रश्न – 'उपधि के बाद वसति प्रमार्जन करने में क्या हेतु है ?' उत्तर – श्री जिनेश्वर भगवन्त की ऐसी आज्ञा है अथवा जयणा निमित्त प्रमार्जना होने से सूर्योदय होते समय अंधकार हट जाय तब वसति का प्रर्माजन श्रेयस्कर होता है ।" वसति का प्रमार्जन किसी प्रकार की व्यग्रता बिना– उपयोग पूर्वक गीतार्थ साधु को करना चाहिए । इससे विपरीत अज्ञ साधु नहीं करे, क्योंकि इससे अविधि आदि दोष लगते हैं । पंचवस्तुक में कहा है कि–

वसही पमज्जि अव्वा, विक्खेवविवज्जिएण गीएणं ।
उव उत्तेण विवक्ख, णायव्वो होइ अविही उ ॥२६४॥

अर्थात् – "मन में किसी प्रकार के विक्षेप रहित उपयोग पूर्वक गीतार्थ साधु ने वसति प्रमार्जन की है, इससे विपरीत अल्पज्ञ साधु अथवा गीतार्थ भी यदि उपयोग बिना वह प्रमार्जन करे तो अविधि होती है । ऐसा समझना ।"

गीतार्थ साधु को भी हमेशा कोमल तंतु वाले, चिकनाई–मैल आदि से रहित प्रमाण युक्त दंड के साथ में विधि पूर्वक दंडासण से वसति का प्रमार्जन करना, झाडु आदि से नहीं करना चाहिए । पंचवस्तुक में कहा है कि–

सइ पम्हलेण मिउणा, चोप्पडमाइ रहिएण जुत्तेणं ।
आविद्धदंड गेणं, दंडग पुच्छेण णऽण्णेणं ॥२६५॥

अर्थात् – "हमेशा कोमल दसिया वाले चिकनाई मैल आदि लेप से रहित प्रमाण युक्त दण्ड के साथ में विधि पूर्वक गांठ बां हुए दंणासण से वसति शुद्ध करनी चाहिए । उसके बिना झाडू आदि से प्रमार्जन न करे ।" वसति का प्रमार्जन करके एकत्रित हुए रज: पुज (काजा) को जयणा पूर्वक परढने की विधि कहते हैं यति दिनचर्या में कहा है कि–

अह उग्गयं मि सूरे, वसहिं सुपमज्जिऊण जयणाए ।
ऊद्धरिअ रेणु पुंजं, छायाए विक्खिरे ऊणं ॥८४॥
संग हिअ छप्पयाओ, म आण कीडाण लहइ तो संखं ।
पुव्वं च लेइ (खेल) भूइं वोसिरिअ नवं च गिण्हंति ॥८५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जो तं पुंजुं छंडइ, इरिया वहिआ हवेइ नियमेणं ।
संसत्तग वस हीए, तह हवइ पमज्ज माणस्स ॥८६॥

अर्थात् – "फिर सूर्य उदय हो तब यतना से वसति को अच्छी तरह से प्रमार्जन कर रज (धूल) के पुंज (काजा) को एकत्रित करे। फिर छाया में बखेर कर उसमें देखे, यदि जूं हो तो उसे रक्षण करने के योग्य घर-वस्त्र में ग्रहण करके फिर मरे हुए कीड़े आदि जीवों की संख्या गिने और पहले की थूकने की कुंडी की राख को भी उसके साथ में वोसराकर कुंडी में नयी राख भर दे, इसमें जो साधु उस काया को त्याग वोसराये उसे तो अवश्य इरियावहि प्रतिक्रमण करना चाहिए, और यदि वसति जीवाकुल हो तो वसति का प्रमार्जन करने वाले को भी इरियावहि प्रतिक्रमण करना चाहिए।" वर्तमान काल में कोई साधु काजा लेने से पहले और बाद में इरियावही करते हैं।

इस समय में यदि अभिग्रह वाला कोई हो और वह नहीं ले तो बिना अभिग्रह का साधु प्रथम दण्डों का प्रमार्जन करे और फिर जिसके आधार पर वह रखना हो उस भूमि के ऊपरी भाग दीवार का प्रमार्जन करे। यति दिनचर्या में कहा है कि–

अभिग्गहिओ अणभिग्गहिओ, वदंडे पमज्जए साहू ।
पडिलेहिज्जइ कमसो दंडो कुड्डी वरिं भूमिं ॥९६॥

अर्थात् – "अभिग्रह वाला अथवा अभिग्रह रहित साधु दंडों का क्रमशः प्रमार्जन करे और ऊपर की भूमि का भी पडिलेहन करे।"

इस गाथा की व्याख्या में 'अभिग्रहीत' अर्थात् वहोरा हुआ और दूसरा 'अनभिग्रहीत' अर्थात् गृहस्थ से मांगकर लाया हुआ। इस तरह दंड दो प्रकार से कहा है। उसका यथाक्रम प्रमार्जन करना और '**कुड्डोवरिं भूमिं**' अर्थात् दंड को पैर के ऊपर रखकर पडिलेहन करना, ऐसा अर्थ किया।' यहां 'प्रतिलेखन अर्थात् चक्षु से निरीक्षण करना और प्रमार्जन अर्थात् रजोहरण आदि से प्रमार्जन करना।' इस तरह भेद जानना। क्योंकि यति दिनचर्या में कहा है कि–

चक्खूहि णिरिक्खिज्जइ, जं किर पडिलेहणा भवे एसा ।
श्यहरणमाइएहिं, पमज्जणं बिंति गोअत्था ॥९०॥

अर्थात् – "चक्षुओं से देखना– वह पडिलेहन और रजोहरण आदि से प्रमार्जन करना– वह प्रमार्जन कहलाता है, इस प्रकार गीतार्थी ने कहा है।"

इस तरह से प्रभात में प्रतिलेखन की विधि कही है। अब उसके बाद का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्त्तव्य कहते हैं कि - उसके बाद 'स्वाध्याय' करना वह सापेक्ष यति धर्म है, इस तरह वाक्यों का सम्बन्ध पहले कहा गया है। यह स्वाध्याय कितने काल का है ? उसे कहते हैं कि-पहली पोरसी तक अर्थात सूर्योदय से पौन पहर पूर्ण हो तब तक करना चाहिए।

स्वाध्याय के विषय में विधि इस प्रकार से है - वसति से सौ हाथ तक की क्षेत्र शुद्धि करके-देखकर वहां हड्डी आदि पड़ी हो तो उसे विधि पूर्वक - औचित्य का रक्षण हो इस तरह दूर करके साधुओं, गुरु महाराज को वसति का प्रवेदन करे अर्थात् 'वसति शुद्ध है' इस तरह कहे। फिर जो साधु काल ग्रहण करने वाला हो, वह मुंहपत्ति का पडिलेहन कर के गुरु को दो वंदना देकर 'शुद्ध वसति और शुद्ध काल का' प्रवेदन (प्रज्ञापन) करे। फिर प्रथम उपयोग पूर्वक वाचनाचार्य स्वयं और फिर उनकी अनुज्ञा प्राप्त करने वाले अन्य मुनि भी सूत्र में कही विधि के अनुसार सज्झाय पढ़ावें। यति दिनचर्या में कहा है कि-

हत्थ संय सोहित्ता, जाणित्ता पमवमित्थि माईणं ।
परिठविअ अट्ठिपमुहं, विहिणा वसहिं पवेइंति ॥६१॥

जे उण कालग्गाही, ते पुत्तिं पेहिऊण किइकम्मं ।
काउं वसहिं तत्तो, कालं सु पवे अंति ॥६२॥

सिद्धंत सिट्ठ विहिणा, उवउत्तो पट्ठ वेइ सज्झायं ।
पढमं वायणा यरि ओ, तयणुण्णाया तहा इयरे ॥६३॥

अर्थात् - "साधु सौ हाथ में क्षेत्र शुद्धि करके, स्त्री-पशु आदि की यदि प्रसूति हुई हो तो वह भी जानकर तथा हड्डी आदि कोई अस्वाध्याय स्थान हो तो विधि पूर्वक उस परखकर गुरु को वसति का प्रवेदन करे। फिर जो कालग्राही हो वह साधु मुहपत्ति का पडिलेहन करके गुरु को कृतिकर्म-वदंन करके, शुद्ध वसति का और फिर शुद्ध काल का निवेदन करे। फिर सिद्धान्त में कही गई विधि के अनुसार पहले उपयोग पूर्वक वाचनाचार्य और उनकी अनुज्ञा से अन्य सज्झाय पढ़े।" यह साधु मण्डल के लिए उन सूत्रों की वाचना के लिए होने से 'सूत्र मण्डली' कहलाती है और वह पोरिसी-मर्यादा होने से प्रथम पोरिसी भी 'सूत्र पोरिसी' कहलाती है। वर्तमान काल में तो गीतार्थों ने उपयोग करते ही सज्झाय करके सूत्र मण्डली की विधि को संभाल कर रखा है। यति दिनचर्या में कहा है-

उवओग करण काले, गीअत्था जं करेंति सज्झायं ।
सो सुत्त पोरसीए, आयारो दंसिओ तेहिं ॥६५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''वर्तमान काल में उपयोग करते समय गीतार्थ सज्झाय करते हैं, उससे उन्होंने सूत्र पोरिसी का आचार दिखाया है अर्थात् वह सूत्र पोरिसी के अनुकरण रूप में है।'' दूसरी पोरिसी को अर्थ पढ़ने के लिए होने से 'अर्थ पोरिसी' समझना। यह विधि उत्सर्ग रूप में समझना। अपवाद से तो जिन्होंने मूल सूत्र नहीं पढ़े हों उन बाल नये दीक्षित मुनियों को दोनों पोरिसी में सूत्र पढ़ने के लिए ही समझना। जो मूल सूत्र पढ़ गये हों वे दोनों पोरिसी अर्थ के लिए जानना। इस विषय में भी वहां आगे कहा है कि–

उस्सगेणं पढमा, छग्घडिआ सुत्त पोरिसी भणि आ ।
बिइआ य अत्थ विसया, निद्दिट्ठा दिट्ठ समएहिं ॥९६॥

बिइअपयं वालां, अगहि असुत्ताण दो वि सुत्तस्स ।
जे गहिअ सुत्त सारा, ते सिं दो चेव अत्थस्स ॥९७॥

अर्थात् – ''सिद्धान्त के ज्ञाताओं ने उत्सर्ग मार्ग से पहले छह घड़ी की पोरसी को सूत्र पोरिसी और दूसरी को अर्थ पोरिसी कहा है। अपवाद मार्ग से तो मूल सूत्र नहीं पढ़ा ऐसे बाल नये साधु को दोनों पोरिसी सूत्र की और सूत्र रूपी सार ग्रहण करके भूले हुए को दोनों अर्थ की बतलाए।'' यह स्वाध्याय १. वाचना, २. पृच्छना, ३. परावर्त्तन, ४. अनुप्रेक्षा और ५. धर्म कथा– इस तरह पांच प्रकार का है। उसमें वाचना देने लेने की विधि इस प्रकार से है। यतिदिन चर्या में कहा है कि–

उव विसइ उवज्झाओ, सीसा विअरंति वंदणं तस्स ।
सो तेसि सव्व समयं, वायइ सामाइअप्पमुहं ॥१००॥

सो गाहणाइ कुसलो, विअरइ वयरूव्व वायणं तेसिं ।
सीसा वि जह मुणंति अ, जह सीसा सिंह गिरि गुरुणो ॥१०१॥

अर्थात् – ''उपाध्याय–वाचना देने वाले के आसन पर बैठने के बाद वाचना लेने वाला शिष्य उनको वंदन करे और उपाध्याय उसको सामायिक आदि सर्व सिद्धान्त पढ़ाये–समझाये। शिष्यों को शास्त्र ग्रहण करवाने में कुशल वाचनाचार्य आर्य वज्र स्वामी के समान वात्सल्य भाव से वाचना दे और शिष्य भी पूज्य भाव से इस तरह अध्ययन करे जिस तरह आर्य सिंह गिरि के शिष्यों ने आर्य वज्र स्वामी जी के पास में अध्ययन किया था। अन्य भी कहा है कि–

पर्यस्ति कामवष्टम्भं, तथा पाद प्रसारणम् ।
वर्जयेद्वि कथां हास्यमधीयन् गुरू सन्निधौ ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – "गुरु महाराज के पास अध्ययन करते हुए शिष्य को पैर की पलथी, चौकड़ी लगाकर, दीवार आदि का सहारा लेकर, पैर लम्बे चौड़े करना, विकथा करना तथा हंसना आदि अविधि-अविनय का त्याग करना चाहिए।" पृच्छना के लिए विधि इस तरह है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि–

आसणगओ न पुच्छिज्जाणेव सिज्जागओ क याइ वि ।
आगम्मुक्कुड्डुओ संतो, पुच्छिज्जा पंजलिउडो ॥१-२२॥

अर्थात् – "आसन पर बैठे-बैठे न पूछे, शय्या में सोये-सोये तो कभी भी न पूछे, किन्तु गुरु भगवन्त के सन्मुख आकर उत्कुटुक आसन = खड़े पैर से बैठकर दो हाथ से अंजलि करके पूछना चाहिए।" तीसरे परावर्तन के स्वाध्याय की जो विधि श्रावक की है वही साधु की भी है। वह इस प्रकार से है –

इरियं सुपडिक्कंतो, कडसामाइओ अ सुट्ठु पिहिअमुहो ।
सुत्तं दोसविमुत्तं, सपयच्छेयं गुणइ सड्ढो ॥१॥

अर्थात् – "सामायिक वाला श्रावक इरियावही प्रतिक्रमण करके, मुख वस्त्रिका मुख के आगे रखकर 'कामा, मात्रा, अनुस्वार' आदि भूल न हो– इस तरह शुद्ध उच्चारण पूर्वक, पदच्छेद का ख्याल रखकर, जहां-जहां रुकना हो वहां-वहां रुककर सूत्र बोलना चाहिए।" अब चौथे स्वाध्याय– अनुप्रेक्षा अर्थात् अर्थ चिन्तन की विधि कहते हैं कि–

जिणवर पवयण पायडण पउणे, गुरुवयणओ सुणि अपुव्वे ।
एगग्गमणो धणियं, चित्ते चिंत्तेइ सुविआरं ॥१॥

अर्थात् – "श्री जिनेश्वर के सिद्धान्त-हेय-उपादेयादि तत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ और गुरु के मुख से पहले सुने हुए श्री जिन वचनों को चित्त में अत्यन्त स्थिरता पूर्वक सुन्दर रूप में चिन्तन करना – नय– निक्षेपादि के बल से उसके रहस्य को खोजना, तात्त्विक अर्थ को समझना।" अब धर्म कथा नामक स्वाध्याय का स्वरूप कहते हैं –

सुट्ठु धम्मु वएसं, गुरुप्पसाएण सम्ममव बुद्धं ।
सपरोवयार जणगं, जोग्गस्स कहिज्ज धम्मत्थो ॥१॥

अर्थात् – "धर्म का अर्थी उपदेशक द्वारा गुरु कृपा से अच्छी तरह समझाये हुए धर्म के उपदेश– योग्य धर्मार्थी श्रोता को सुन्दर स्व-पर का उपकार हो– इस तरह करने चाहिएं।" इस तरह स्वाध्याय करने से बहुत गुणकारी होता है। श्री पंचवस्तुक में कहा है कि–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आयाहिअ परिन्ना, भाव संवरो णवणवो अ संवेगो ।
निक्कंपया तवो, णिज्जरा य परदेसि अत्तं च ॥५५५॥

अर्थात् – ''स्वाध्याय से आत्महित का ज्ञान होता है । जो जीव आत्महित को नहीं जानता, वह मोह के वश होता है । मोह वश में मूढ़ बना वह जीवात्मा ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बन्धन करता है, और उन कर्मों से अनन्त संसार तक जन्म मरणादि करता हुआ अलग-अलग गतियों में परिभ्रमण करता है । इससे उलटा, आत्महित को समझने से वस्तुतः हिंसा, झूठ, आदि अकार्य रूप अहित मार्ग से रुकता है और परोपकारादि हित के मार्ग में मुड़ता है, इसलिए आत्महित जानना चाहिए। वह स्वाध्याय से जाना जा सकता है और स्वाध्याय से 'भाव संवर' प्रगट होता है। वह इस प्रकार से- स्वाध्याय करने से यथा स्थान आवश्यक हिताहित भाव का ज्ञान होता है और ऐसे ज्ञान से आत्मा में अकार्य का भावपूर्वक अनादर प्रगट होता है । इसको 'भाव संवर' कहते हैं । स्वाध्याय से 'नया-नया संवेग उत्पन्न होता है, क्योंकि जैसे-जैसे मुनि अतिशय रसपूर्वक प्रतिदिन श्रुत ज्ञान में आगे बढ़ता है वैसे-वैसे शुभ भाव स्वरूप आत्मा की शीतलता से वह नया-नया वैराग्य के वेग वाला और श्रद्धा वाला होता है तथा स्वाध्याय करने से मोक्ष मार्ग में 'निश्चलता' भी आती है तथा स्वाध्याय उत्कृष्ट तप है । इसलिए आगे पंचवस्तुक में कहा है कि-

बारस विहंमि वि तवे, सब्भिंतर बाहिरे कुसम दिट्ठे ।
णवि अत्थि णवि अ होही, राज्झाय समं तवो कम्मं ॥५६२॥

अर्थात् – ''श्री जिनेश्वर भगवान ने बारह प्रकार का बाह्य और अभ्यन्तर तप कहा है, उनमें स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप नहीं है और होगा भी नहीं अर्थात् स्वाध्याय स्वोत्कृष्ट तप है ।'' इस कारण से ही स्वाध्याय से कर्मों की उत्कृष्ट निर्जरा होती है । पंचवस्तुक में कहा है कि-

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुआहिं वास कोडीहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥५६४॥

अर्थात् – ''अज्ञानी जीव करोड़ों वर्ष में जिन कर्मों को खपाते है उन कर्मों को तीन गुप्ति से गुप्त ज्ञानी पुरुष एक उच्छ्वास मात्र में खतम करते हैं ।'' इन सब लाभों के उपरान्त 'परदेशकत्व' अर्थात् स्व-पर के संसार से पार उतरने का लाभ भी स्वाध्याय से होता है । इस परदेशक गुण से श्री जिन आज्ञा के प्रति वात्सल्य भाव होता है, उसका प्रचार तथा उसके प्रति भक्ति भाव जागृत होता है और इस तरह जैन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शासन का अविच्छेद होता है। जिन शासन अखण्ड रूप में चलता है, कभी विच्छेद नहीं है। उपदेश से भविष्य में भी जीवों को उत्तरोत्तर जिन शासन की आराधना का लाभ प्रवाह रूप में मिलता रहता है। इसलिए विधि पूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए स्वाध्याय नहीं करने से उन्माद आदि दोष लगते हैं। अत: पंचवस्तुक में कहा है कि–

उम्मायं व लभिज्जा, रोगायंकं च पाउणे दीहं ।
केवलि पन्नत्तओ, धम्माओ वावि भंसिज्जा ॥५६८॥

अर्थात् – "स्वाध्याय के अभाव में विपरीत मार्ग में चढ़ने से उन्मादी होता है। दीर्घ कालीन क्षय-ताव आदि रोग आतंक प्रगट होता है और परिणाम स्वरूप केवली भगवंत द्वारा कथित चारित्र धर्म से भ्रष्ट भी होता है।"

अत: जिस मुनि ने सूत्र अर्थ सम्पूर्ण ग्रहण करके और शिष्यों को सूत्र-अर्थ पढ़ाकर अपनी जवाबदारी पूर्ण की हो, अथवा जो मंद बुद्धि के कारण पढ़ नहीं सकता हो वह आतापनादि तप करे। यति दिनचर्या में कहा है कि–

जे समय सार गहणे, निम्माया सीस दिन्न सुत्तत्था ।
अहवा वि मंद मइणो, तेसि इमो उज्जमो भणिओ ॥१०५॥

अर्थात् – "जिन्होंने सिद्धान्त का सार ग्रहण कर लिया हो और शिष्यों को सूत्रार्थ पढ़ा भी लिया हो, अथवा जो मंद बुद्धि वाला हो उसको क्या करना चाहिए?" उसके लिए दशवैकात्मिक सूत्र के अध्ययन तीन में कहा है कि–

आया वयंति गिम्हेसु, हेमन्तेसु अवाउडा ।
वासासु पडि संलीणा, संजया सुसामाहि आ ॥१२॥

अर्थात् – "ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना में तत्पर साधु ऊष्णकाल में आतापना ले, शीतल काल में वस्त्र का त्याग करके शीत परीषह को सहन करे और वर्षाकाल में एक स्थान में रहकर - अंगो पांग संकोच कर विराधना से बचे। अर्थात् चौमासे में जाना-आना कम करके विविध तपस्या करते कर्म निर्जरा करे।" तथा जब अन्य मुनि वाचना ले तब धीर मुनि एकान्त में कायोत्सर्ग को भी करे। यति दिनचर्या में कहा है कि–

वायंति जत्थ सीसे, उज्झाया जत्थ सूरिणो अत्थं ।
साहंति तत्थ धीरा, कुणंति उस्सग्गमेगंते ॥१०७॥

अर्थात् – "जहां उपाध्याय भगवन्त शिष्यों को सूत्र वाचना देते हों और जहां

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आचार्य भगवन्त अर्थ की वाचना देते हों वहां एकान्त में धीर मुनि भगवन्त कायोत्सर्ग ध्यान करे ।'' और आगे उसी सूत्र में कहा है कि–

तम्हा उ निम्ममेणं, मुणिणा उवलद्ध सुत्त सारेणं ।
काउस्सग्गो उग्गो, कम्मखयट्ठा य कायव्वो ॥११०॥

अर्थात् – ''इससे जिस मुनि ने सूत्र को पढ़कर उसके रहस्य को समझा हो, उसे कर्म को क्षय करने के लिए शरीर आदि की ममता छोड़कर उग्र–महान कायोत्सर्ग का ध्यान करना चाहिए ।'' अब साधु की दूसरी पोरसी पूर्ण होने तक का कर्त्तव्य कहते हैं –

प्रतिलिक्ख्य ततः पात्राण्यर्थस्य श्रवणं गुरोः ।
एवं द्वितीय पौरुष्यां, पूर्णायां चैत्यवन्दनम् ॥६२॥

मूलार्थ – ''उसके बाद दूसरी पोरिसी में पात्र पडिलेहण करके गुरु मुख से अर्थ का श्रवण करना चाहिए, और उसके पूर्ण होते ही चैत्य वंदन करे । ''

व्याख्या – 'उसके बाद अर्थात् प्रथम पोरिसी तक स्वाध्याय करने के बाद दूसरी पोरसी के प्रारंभ में पात्रों का प्रतिलेखन करके गुरु आचार्य के मुख से सूत्र की व्याख्या रूप अर्थ का श्रवण करना, वह सापेक्ष यति धर्म जानना ।' यहां साधु को पहली पोरसी पूर्ण हो तब पात्र का प्रतिलेखन करने के लिये बताया है । उसके लिए पंचवस्तुक में कहा है कि–

चरिमाए(पढमाए)पोरिसीए,पत्ताए भायणाण पडिलेहा ।१।
सा पुण इमेण विहिणा, पण्णत्ता बीअराए हिं ॥२६७॥

अर्थात् – ''प्रथम पोरिसी अर्थात् सूर्योदय से पौन पहर पूर्ण होते ही पात्र का पडिलेहण करना । वह पडिलेहन श्री जिनेश्वर ने इसी विधि से करने के लिए कहा है ।'' पात्र प्रतिलेखन का प्रथम कर्तव्य यति दिनचर्या की गाथा में इस तरह कहा है –

सुत्तत्थ निवह संगह–काउस्सग्गाइ धम्म कम्मे हिं ।
उग्घाड पोरसीए, जईण पत्तो इमो समओ ॥१११॥

अर्थात् – ''साधुओं को पहली पोरसी में सूत्र तथा अर्थ का सग्रह करना (गुरु के पास पढ़ना), कायोत्सर्ग करना आदि धर्म प्रथम पोरसी पूर्ण होने तक करणीय हैं, उसके बाद का समय दूसरी उद्घाट पोरसी के कार्य करने का आया है, ऐसा समझना चाहिए ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पोरसी का प्रमाण तो गृहस्थ धर्म केअधिकार में पच्चक्खान के वर्णन के समय कहा गया है । यदि इस पोरसी की प्रतिलेखना का काल उल्लंघन हो जाय, बाद में पोरसी पढ़ावे तो 'एक कल्याणक' का प्रायश्चित्त आता है । कहा है कि- **''पडिलेहणिया काले, फिडिए कल्लाणगं तु पच्छित्तं ।''** (ओध निर्युक्ति भाष्य १७४) अर्थात् 'यदि प्रतिलेखना का काल उल्लघंन करे तो एक कल्याणक का प्रायश्चित्त आता है ।' इस कारण से यति दिनचर्या में कहा है कि-

नाऊण इमं संम, ततो नमिऊण भणइ गीअत्थो ।
भयवं ! बहु पडि पुन्ना संजाया पोरिसी पढमा ॥११८॥

अर्थात् - ''इस उग्घाड पोरसी का समय अच्छी तरह जानकर गीतार्थ मुनि गुरु महाराज को नमस्कार-वंदन करके (खमासमण देकर) विनती करे कि-हे भगवन्त ! प्रथम पोरसी सम्पूर्ण हो गयी है ।''

तत्तो उट्ठित्तु गुरु, काउणं लहुअ वंदणं पुत्ति ।
पेहंति तओ पत्ते, सीसाण विहि पया संता ॥१२०॥

अर्थात् - ''यह विनती सुनने के बाद गुरु महाराज आसन से उठकर खमासमण देकर इरियावही करके पोरसी मुहपत्ती की पडिलेहन करे । उसके बाद शिष्य भी पात्र प्रतिलेखन करे । तब गुरु शिष्य को पात्र पडिलेहन की विधि समझाये।'' वह इस प्रकार -

वंदित्तु तओ समणा, गिण्हिअ सव्वंपि पत्त निज्जोगं ।
पाउंछणग निविट्ठा, पुत्तिं पत्ताणि पेहंति ॥१२५॥

पाउंछण मुउबद्धे, वासा समयंमि पीठ पट्टाइं ।
आसणमिणं जईणं, भूमि फलि आणि सयणंमी ॥१२६॥

पत्तं पत्ता बंधो, पायठवणं च पाय केसरिआ ।
पडलाइं रयत्ताणं, गुच्छ ओ पायणि ज्जोगो ॥१२७॥

अर्थात् - ''शिष्य भी गुरु द्वारा मुहपत्ति का पडिलेहन करने के बाद गुरु को वंदन (खमासमण) देकर पात्र और पात्र की सर्व सामग्री लेकर आसन पर बैठकर पहले खमासमण पूर्वक इरियावही करके मुहपत्ति पडिलेहन करके फिर पात्र का प्रतिलेखन करे । साधु को ऋतुबुद्ध काल में आसन रूप में पादप्रोच्छन और वर्षा काल में पाट तख्ता आदि उपयोग करना तथा शयन के लिए शेष काल में जमीन और वर्षा काल में तख्ते का उपयोग करना । पात्र का निर्योग - उसकी आवश्यक वस्तुएं सात

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार की हैं । १. पात्र, २. पात्र बंधन = झोली, ३. पात्र ठवण = (नीचे के गुच्छे), ४. पात्र केसरिका = प्रमार्जन करने की चखली, ५. पल्ले= गोचरी में पात्रा ढांकने के लिए वस्त्र के तीन-चार-पांच टुकड़े, ६. रजस्त्राण = रज से रक्षण करने के लिए जिसमें पात्र लपेटा जाय वह वस्त्र और ७. गुच्छा = ऊपर का गरम कपड़ा ।''

इन पात्रादि का वर्णन-स्वरूप उपकरण अधिकार में कहा जायेगा । पात्र की प्रतिलेखना की विधि इस तरह से है – पात्रों के पास आसन के ऊपर बैठकर पहले पूर्व में कथनानुसार मुख वस्त्रिका का और फिर कान आदि इन्द्रियों से उपयोग करते पात्रों का प्रतिलेखन करे । पंचवस्तुक में कहा है कि-

भाणस्स पास वेट्ठो, पढमं सोआइएहिं काऊण ।
उव ओगं तल्लेसो, पच्छा पडिलेहए एयं ॥२६६॥

अर्थात् – ''पात्रों के पास बैठा साधु प्रथम श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा उपयोग करके उसमें एकाग्र चित्तवाला होकर पात्रों की प्रतिलेखना करे ।'' ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

उवउं जिऊण पुव्वं, तल्लेसो जइ करेइ उवओगं ।
सोएण चक्खुणा, घाणओ अ जीहाए फासेणं ॥२८७॥

अर्थात् – ''मुझे अमुक समय में पात्र प्रतिलेखन करना है' इस तरह पहले से ही उपयोग रखकर पुनः पात्र प्रतिलेखन के समय उसमें ही एकाग्र बना साधु पात्रों के पास बैठकर इस तरह से उपयोग करे- प्रथम कान से पात्र का ख्याल करे, यदि उसमें भौंरा-भौरीं आदि घुस गये हों और उनके भृं-भृं गुंजार आदि शब्द सुनाई देता हो, तो उस जीव को जयणापूर्वक दूर रखकर, फिर उन पात्रों का पडिलेहन करे। इसी तरह नेत्रों से भी उपयोग रखे। कदाचित् उसमें चूहा आदि अथवा कचड़ा धूल-रज आदि यदि दिखे तो उसे जयणापूर्वक दूर करे, नासिक से भी उपयोग करे । कभी उसमें कोमल जीव फिरते हुए यदि मर्दन हो गये हों उसका लेप लगा हो तो गंध से जानकर दूर करे । इसी तरह जीभ इन्द्रिय से उपयोग करे अर्थात् जो कोई अपद्रव्य हो तो उसको रस से जानकर दूर करे। वह इस तरह-जहां रस हो वहा गंध होती है, गंध के पुद्गल अपने उच्छ्वास आदि से होठ को लगते हैं, तब वहां होठ के साथ में जीभ का स्पर्श करके उसके रस से यदि कुछ दिखे तो उसे जयणापूर्वक दूर करे। इस तरह स्पर्शेन्द्रिय से भी उपयोग करे । यदि कभी उसमें चूहा आदि हो तो उसके निःश्वास की वायु शरीर के लगने से उसकी खात्री हो और उसे दूर करे। इस तरह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पांच इन्द्रियों से उपयोग देकर पात्र पडिलेहन करे। पुनः पडिलेहन के लिए ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

मुहणं तएण गुच्छं, गोच्छं गहिअंगुलिहिं पडलाइं ।
उक्कुडुअ भाण वत्थे, पलिमंथाईसु तं न भवे ॥२८८॥

अर्थात्- "जिसका लक्षण आगे कहेंगे, उस गुच्छा का मुखनन्तक अर्थात् रहोहरण तथा मुख वस्त्रिका से प्रमार्जना करे, पुनः उसी गुच्छो को अंगुलियों से पकड़कर पडलों का प्रर्माजन करे। प्रश्न करते हैं कि वस्त्रों की प्रतिलेखना उत्कट आसन से बैठकर करने का कहा है तो पात्र के वस्त्र- पल्ले, झोली, गुच्छे आदि भी उत्कट आसन से बैठकर ही करना चाहिए ? इसका उत्तर देते हैं- जैसा तुमने कहा है वैसा नहीं है। वैसा करने से तो सूत्र अर्थ के अध्ययन में विलम्ब रूप 'विघ्न' आता है, क्योंकि पहले साधु आसन पर बैठे, फिर पात्र वस्त्र की प्रतिलेखना के लिए उत्कट आसनी बने, पुनः पात्र प्रतिलेखना के लिए आसन पर बैठे – इस तरह करते तो साधु को विलम्ब होता है , इसलिए आसन पर बैठकर ही पात्र और वस्त्रों की भी प्रतिलेखना करनी चाहिए। यह प्रतिलेखना प्रत्येक पच्चीस बोल से करनी चाहिए। यति दिनचर्या में कहा है कि-

मुह वत्थे तह देहे, गुच्छे पडलाइसु पत्तेयं ।
पणवीसा पणवीसा, ढाणा भणिया जिणिं देहिं ॥१३८॥

अर्थात् - "मुखवस्त्रिका, शरीर, गुच्छ तथा पल्ले आदि प्रत्येक की प्रतिलेखना के पच्चीस पच्चीस स्थान श्री जिनश्वर ने कहे हैं।" उसके बाद क्या करना चाहिए ? वह ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

चउ कोण भाणकण्णं, पमज्ज पाए सरीइ तिगुणं तु ।
भाणस्सा पुप्फगं तो, इमेहिं कज्जेहिं पडिलेहे ॥२८६॥

अर्थात् - "पल्ले का पडिलेहन करके फिर गुच्छे को बायें हाथ की अनामिका अंगुली से पकड़े , फिर पात्र-केसरिका को (पात्र पलेटने का वस्त्र) पात्र में से लेकर, झोली के चार कोनों को पात्र के ऊपर ही एकत्रित रखकर उसका प्रमार्जन पात्र-केसरिका से करे, फिर वही पात्र केसरिका से पात्र के किनारे का प्रमार्जन करे, फिर अन्तर अन्तर में तीन बार बाहर से और तीन बार अन्दर से पात्र का प्रमार्जन करे, और आखिर में पात्र का तलवा (बाहर के नीचे का मध्य भाग) प्रमार्जन करना चाहिए। परन्तु इतना विशेष है कि- अब कहते हैं वह कार्य यदि करवाना हो तो वह करके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फिर पात्र के तलवा का प्रर्माजन करना। वह कार्य आगे ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

मुसगर य उक्केरे, घणसंताणए इअ ।
उदए मट्टि आ चेव, एमेआ पडिवत्ती ओ ॥२६०॥

अर्थात् - "कभी चूहे ने जमीन में बिल किया हो और उसकी धूल यदि पात्र में नीचे लगी हो, रात्रि में मकड़ी ने तंतु का जाल कर दिया हो अथवा कभी नीचे की जमीन भोगी होने से उसमें तरी होने के कारण पानी लगा हो' इस तरह यदि कुछ हो तो उसे दूर करे, यह दूर करने में जयणा किस तरह करना चाहिए – वह आगे कहते हैं। यहाँ जो ऊपर कहा है वह यदि कुछ हो तो जयणा से दूर करके तभी तलवा का पडिलेहन करे। अब पात्र को 'यह चूहे के बिल की धूल लगना' इत्यादि किस तरह लग सकती है ? उसके कारण कहते हैं कि-

णवग निविसे दूरा, उक्करो मूसएहिं उक्किण्णे ।
निद्धमहि हरतणू वा ठाणं भेत्तूण पवि सेज्जा ॥२६१॥

अर्थात् - "जिस गांव आदि में साधु रहता हो, वह यदि नया बसा हो तो वहां पात्र के समीप में जमीन की गहराई में से चूहा बिल खोद सकता है, इससे उसकी धूल पात्र को लग सकती है, जहाँ पात्र रखे हों वहाँ यदि नीचे की जमीन भीगी हो तो तरी के बिन्दु जमीन से निकलकर बाहर भी आ सकते हैं। और वह पात्र स्थापन के नीचे वाले गुच्छे को भेदन कर भी पात्र को लग सकते हैं, क्योंकि हरत के पानी बिन्दु उर्ध्व गामी होते हैं, इससे तरी का पानी इस तरह पात्र में भी लगता है। उसे दूर करने में जयणा किस तरह करनी चाहिए ? वह आगे कहेंगे। यहाँ पहले २६० वीं गाथा के अनुसार क्रम से दूसरे नम्बर का 'मकड़ी के जाल का' हेतु छोड़कर, तीसरा 'पानी के बिन्दु' का हेतु पहले बतलाया। उसका कारण यह है कि 'मिट्टी और पानी' ये दोनों एकेन्द्रिय रूप में समान हैं। अब शेष हेतु कहते हैं कि-

कोत्थ लगारि अघरगं, घण संताणा इआ व लग्गेज्जा ।
उक्केरं सट्ठाणे, हरतणु संचिट्ठ जा सुको ॥२६२॥

अर्थात् - "कोल्थल कारिका नामक जन्तु भौंरी जो मिट्टी का घर बनाती है, वह घर उसने यदि पात्र के नीचे बनाया हो तो उसकी जयणा किस तरह करनी चाहिए- वह भी आगे कहा जायेगा। यदि मकड़ी का जाल आदि कुछ लगा हो या आदि शब्द से किसी जीव ने अण्डे आदि रखे हों तो उसकी भी जयणा करना। अब इन सबकी जयणा किस तरह करनी चाहिए- वह कहते हैं कि-चूहे के बिल का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि रज-पुंज (धूल का ढेर) हो तो उसे उस चूहे के बिल के पास जयणा से रखना, यदि पानी के बिन्दु लगे हों तो जब तक वे स्वयं सूख न जायें तब तक पात्र पडिलेहन नहीं करना, सूखने के बाद करना। यह गाथा पंचवस्तुक २७४ में भी आयी है। अब शेष जयणा कहते हैं कि-

इतरेसु पोरिसि तिंग, संचिक्खा चित्तु ततिअं छिंदे ।
सव्वं वा वि विगिंचइ, पोराणं मट्टिअं ताहे ॥२६३॥

अर्थात् - "इतर अर्थात् कोत्थल कारिका, (भौंरी) का घर, मकड़ी आदि का जाल इत्यादि यदि हो तो ऐसे प्रसंग पर तीन पहर तक पात्र को रख छोड़ना चाहिए। यदि तब भी वह स्वयमेव दूर न हो, दूसरा साधन न हो और आवश्यक कार्य हो तो उस पात्र स्थापनादि के नीचे के गुच्छा आदि जितने भाग में वह लगा हो, उतने भाग को काटकर उसका त्याग करना- परठ देना चाहिए, परन्तु उसके बदले यदि अन्य पात्र स्थापनादि हो तो जिसमें वह जाल या घर आदि किया हो उसको सम्पूर्ण परठ दे। उसमें भी यदि भौंरी ने घर सचित्त मिट्टी से न किया हो, पुरानी अचित्त मिट्टी का हो और उसमें उसने कीड़े, इयल न रखी हों तो पात्र पडिलेहन के समय में ही उसे दूर करना आदि यथायोग्य जयणा समझ लेना। अब पात्र किस तरह पडिलेहन करना चाहिये ? वह कहते हैं कि-

पत्तं पमज्जि ऊणं, अं तो वाहिं सइं तु पप्फोडे ।
केइ पुन तिन्नि वारा, चउरंगुल भूमि षडणभया ॥२६४॥

अर्थात्- "उस पात्र का पात्र-केसरिका के द्वारा बाहर से तीन बार सम्पूर्ण प्रमार्जन करना, फिर हाथ में रखकर अन्दर से सर्व ओर से तीन बार प्रमार्जन करे, फिर अधोमुख उल्टा करके एक ही बार सब तलवा का प्रस्फोटन-प्रतिलेखन करे। कई आचार्य ऐसा कहते हैं कि प्रथम एक बार बाहर से प्रमार्जन करे, फिर एक बार अन्दर से प्रमार्जन करे, पुनः उलटा कर दूसरी बार बाहर से, फिर अन्दर से, फिर उल्टा तीसरी बार बाहर से, पुनः अन्दर से, इस तरह पहले बाहर से, फिर अन्दर से प्रमार्जन करना और तीसरी बार उल्टा करके आखिर में पुनः सब का प्रमार्जन करे। नीचे गिर जाने के भय से पात्र को जमीन से केवल चार अंगुल ऊँचे रखकर प्रतिलेखना करनी चाहिए, इससे अधिक ऊँचा नहीं रखना चाहिये । इन पात्रों की प्रतिलेखना भी पच्चीस बोल बोलकर के करनी चाहिए। यति दिनचर्या में कहा है कि-

वारसं वाहिं ठाणा, बारस ठाणा य हुंति मज्झंमि ।
पत्त पडिलेहणाए, पण वीसइमो करप्फासो ॥१४२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''पात्र की पडिलेहन के बारह स्थान बाहर के, बारह स्थान अन्दर के और पच्चीसवां कर स्पर्श, इस तरह पच्चीस स्थान होते हैं।'' यहां तक सुबह की वस्त्र-पात्र की पडिलेहन विधि कही। अब पडिलेहन करके उपधि का क्या करना और पात्र कहां रखना चाहिये ? वह ओध निर्युक्ति द्वारा कहते हैं कि-

विंटि अबंधण घरणे, अगणी तेणे य दंडियाक्खो में।
उउबद्ध धरण बंधण, वासासु अबंधणा ठवणा ॥२६५॥

अर्थात् - ''प्रतिलेखना करके के बाद सर्व वस्त्रों का विंटीया बाँधना और पात्र तथा रजस्त्राण को अपनी गोद में रखना, नीचे नही रखना क्योंकि यदि कभी अग्नि, चोर, दण्डिक, पर राजा आदि का भय खड़ा हो जाय तो बचाव कर सकते हैं अर्थात् लेकर तुरन्त वहां से अन्य स्थान पर जा सकते हैं। यह विधि ऋतु बद्ध अर्थात् सरदी, गरमी के लिए समझना वर्षा काल में तो उपधि सामान बांधने की भी आवश्यकता नहीं है वैसे पात्र भी अन्य किसी सुरक्षित स्थान पर रखना चाहिये। इस विषय में श्री ओध निर्युक्ति के भाष्यकार कहते हैं कि-

रयत्ताण भाण धरणा उउबद्धे निक्खिवेज्ज वासासु।
अगणीतेण भएण व, रायक्खोमे विराहणया ॥१७५॥

अर्थात्- सरदी और गरमी में रजस्त्राण और पात्र को धारण करके रखना अर्थात् अन्य स्थान पर नहीं रखना- पास में ही रखना और वर्षा काल में एकान्त में रखना, क्योंकि पास में नहीं रखने से अग्नि का उपदव, चोर का भय तथा राजा का उपद्रव यदि हो जाय तो, जहां रखा हो वहां से शीघ्र लेने में विलम्ब होने से संयम और शरीर का भी नुकसान न हो। वह किस तरह होता है ? यह कहते हैं यह गाथा पंचवस्तुक की गाथा २५३ की है। अब ओध निर्युक्ति भाष्यकार गाथा १७६ तथा पंचवस्तुक २८४ में कहा है कि-

परिगलमाणो हीरिज्ज डहणं भेओ तहेव छक्काया।
गुत्तो (मूढो) व सयं उज्झे, हीरिज्ज व जं च तेण विणा ॥१७६॥

अर्थात्- ''अग्नि आदि के भय से क्षोभ होने पर साधु द्वारा शीघ्रता से अलग पड़ी उपधि लेते-बांधते उसमें से कोई वस्त्रादि गिर जाय और गिर जाने से उसे कोई उठा ले जाय अथवा अलग-अलग वस्तुएं लेने में विलम्ब होने से स्वयं अग्नि में जल जाय या शीघ्रता से निकलने के लिए दूर रखे पात्र को लेने जाते समय यदि वे टूट-फूट जायं तो इससे छहकाय जीवों की विराधना भी होती है अथवा क्षोभ से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूढ़ बन जाने से उपधि-पात्र आदि लेने जाते समय ही जल जाय, अलग उपधि को तथा दूर रखे पात्र को लेने में भय से व्यग्र बने हुए उसको सरलता से चोर भी लूट सकता है। और इससे वस्त्र-पात्र बिना संयम तथा शरीर- दोनों की विराधना (अड़चनें) होना इत्यादि भी हो सकता है। वर्षा काल में उपधि नहीं बांधने का तथा पात्र एक स्थान पर रखने का कारण ओध निर्युक्ति के भाष्यकार ने बताया है कि-

वासासु नत्थि अग्गी, णेव य तेणा अ दंडिआ सत्था ।
तेण अवंधण ठवणा, एवं पडिलेहणा पाए ॥१७७॥

अर्थात् -"वर्षा काल में पानी की अधिकता से, अग्नि का उपद्रव न होने से, पल्लीपति आदि चोर-डाकू भी वर्षा के कारण भागने का विषय बने इत्यादि कारणों से उनका उपद्रव भी न हो, और वर्षा में प्रयाण की सामग्री के अभाव में अन्य राजाओं के उपद्रव भी नहीं होते। इस कारण से उपधि को बांधने या पात्र पास में रखने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए उपधि को अलग रखने का और पात्र को एकान्त में रखने का विधान है। इस तरह पात्र की प्रतिलेखना विधि कही।" अब वृहत्कल्प भाष्य में पांच द्वार के आधार पर प्रतिलेखना इस प्रकार से बताई गई है-

पडिलेहणा उ काले, ऽ पडिलेहण दोस छसु वि काएसु ।
पडिगह निक्खेवणाया, पडिलेहणिया सपडिवक्खा ॥१६६०॥

अर्थात् - "१. योग्य काल में प्रतिलेखना करनी चाहिये, २. न करने से प्रायश्चित्त लगता है, ३. 'आरभडा' आदि दोष लगाकर करने से प्रायश्चित्त लगता है, ४. छहकाय जीवों के ऊपर उपधि रखने से या स्वयं बैठने - खड़े रहने से प्रायश्चित्त आता है। इसके चार विभाग होते हैं। ५. वर्षाकाल में प्रतिलेखन करके पात्र को एकान्त में रखना। ये पांचों द्वार उत्सर्ग से और अपवाद से दो प्रकार से समझना। उसमें उत्सर्ग से तो पांचो का वर्णन किया है। अपवाद इस प्रकार से १. अशिव-उपद्रव आदि के कारण से अकाल भी प्रतिलेखना कर सकते हैं। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

असिवे ओमोअरिए, सागार भए व राय गेलन्ने ।
जो जंमि जया जुज्जइ, पडिवक्खोतं ता जोए ॥१६६५॥

अर्थात्-"मृत्यु आदि उपद्रव के योग से पडिलेहण न कर सके तब, 'दुष्काल' आदि में आहार की दुर्लभता हो, इससे सुबह शीघ्र ही आहार के लिए जाने के कारण प्रतिलेखना के लिए समय न मिले तब, कोई गृहस्थ प्रतिलेखना करते श्रेष्ठ उपधि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देख रहा हो इस तब, चोर आदि के उपद्रव से उत्तम उपकरण देखने से चोरी हो जाने का भय हो तब, कोई राजा साधु का प्रत्यनीक (शत्रु) हो उसके भय से, रात-दिन पंथ रास्ता पार करना हो तब और बीमारी के कारण अकेला रहने का समय आया हो और शक्ति के अभाव में इत्यादि कारणों से २- प्रतिलेखना न करे अथवा भविष्य काल में देरी से करे, ३. शीघ्रता से 'आरभडा'आदि दोष युक्त करे अथवा अशक्त होने से गुरु आदि की प्रतिलेखना न करके अपनी ही करे, इस तरह आशिवादि के कारण पडिलेहन न करना, देरी जल्दी करना इत्यादि जब जो अपवाद घटता हो तब उसे उसी तरह सेवन करना।

अब ४ छह काय जीव हों- ऐसी भूमि पर प्रतिलेखना नहीं करनी चाहिये' इसका अपवाद कहते हैं कि- निर्जीव अचित स्थान के अभाव में अस्थिर-कोमल संघयण वाले की रक्षा के लिए दृढ़ संघयण वाले के ऊपर प्रतिलेखना करने से प्रायश्चित्त नहीं लगता। यहां 'दो इन्द्रिय' आदि त्रस जीव और धान आदि दाने के जीव अस्थिर कोमल संघयण शरीर वाले समझने चाहियें। वृहत्कल्प भाष्य गाथा १६६६ में कहा है कि-

''तसबीअरक्खणट्ठा, काएसु वि होज्ज कारणे पेहा।''

अर्थात्- 'त्रस और अन्य की रक्षा के कारण से पृथ्वी कायादि के ऊपर भी प्रतिलेखना कर सकता है।' इत्यादि।

इस प्रकार पात्र पडिलेहन करके फिर तुरन्त दूसरी पोरसी में आचार्य सूत्र के अर्थों को समझाते हैं और शिष्य सुनते हैं। इससे ही इस वाचना को 'अर्थ मण्डली' और उस समय वाली पोरसी को भी उपचार से अर्थ पोरसी कहा जाता है। वाचना के समय में बीच में विक्षेप-विघ्न न हो- इस उद्देश्य से किसी को पच्चक्खान मात्र भी नहीं दे। यति दिनचर्या में कहा है कि -

आरंभि अ अणु ओगं, पच्चक्खाणं न दिज्जए जत्थ।
अन्नस्स तत्थ वत्ता मित्त स्स, विनाम का वत्ता ॥१५३॥

अर्थात्- ''साधु के आचार में प्रमादी भी जो मुनि विशुद्ध भाव से करण चरणानुयोग की प्रशंसा और परूपणा करता है- वह कर्म निर्जरा करता है तथा बोधि सुलभ होता है।'' अत: सब दानों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान दान है। यह दान देने वाले को कभी ज्ञान की कमी नहीं होती अपितु बढ़ता जाता है तथा अगले जन्म में साथ जाता है। इस तरह ज्ञान एक अमूल्य वस्तु है। मुनि जीवन में अन्य दान गौण हैं परन्तु ज्ञान दान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप एक महान दान है। व्याख्यान सुनने वाले को भी वह ज्ञान देने से –सुनाने से गृहस्थ धर्म और साधु धर्म में से किसी एक की प्राप्ति रूप फल मिलता है। इन दो में से एक भी यदि प्राप्त न करे तो भी उससे उतना काल तक छह काय जीव की रक्षा होती है, वह फल तो स्पष्ट ही है। यति दिनचर्या में कहा है कि–

जे अगहि अधम्मा विहु, जत्तिअकालं सुणंति वक्खाणं ।
नियमा छज्जीव दया, तेहि कया तत्तिअं काल ॥१५५॥

जे उण सम्मत्तं वा, गिहत्थ धम्मं व समण धम्मं वा ।
गिण्हंति देसणाए, परमत्थो तेहि पडि वन्नो ॥१५६॥

अर्थात्– ''जो व्याख्यान सुनने पर भी धर्म को स्वीकार नहीं कर सका, वह आत्मा भी, जितने समय तक धर्म सुने, इतने काल तक अवश्य ही छह काय जीवों की दया–रक्षा करता है और जो उपदेश सुनकर सम्यकत्व, देश विरति रूप गृहस्थ धर्म अथवा सर्व विरति रूप साधु धर्म को प्राप्त करता है उसने तो महान परमार्थ को प्राप्त किया है– ऐसा समझना चाहिये ।''

यह व्याख्यान का फल कहा है। अब उसके बाद करने का कार्य कहते हैं कि इस तरह सूत्र–अर्थ का व्याख्यान करते और सुनते जब दूसरी अर्थ पोरसी पूर्ण हो तब चैत्य वंदन जिनमन्दिर में देवदर्शन–वंदन करना वह सापेक्ष यति धर्म है। इसमें इतना विशेष है कि भिक्षा काल की (गृहस्थों के भोजन करने में) यदि देरी हो तो चैत्यवंदन विशिष्ट रूप में करना, अथवा गोचरी जाने का समय हो गया हो और गृहस्थ जल्दी भोजन करते हों और इस कारण यदि जल्दी जाना पड़े इस तरह हो तो दो पोरसी में थोड़ा–थोड़ा समय चैत्यवंदन करना चाहिए । यति दिनचर्या में कहा है कि–

विइआए पोरसीए, पुण्णाए चेइ आइं वंदिज्जा ।
खित्तं मि पहुप्पंते, भिक्खा यरि आई कालं मि ॥१६३॥

अह न पहुप्पइ कालो, भिक्खाए तयणु पोरिसी जुअलं।
हाविज्ज सु लवमित्तं, चेइ अजिणनाह नमणत्थं ॥१६४॥

अर्थात्– 'जिस क्षेत्र में भोजन का समय देरी से आता हो, वहां दूसरी पोरसी पूर्ण होने पर चैत्य वंदन करना। यदि दो पोरसी के बाद गोचरी–मधु करी के लिये जाने से पहले चैत्यवंदन का समय आ जाये– इस तरह न हो तो चैत्यवंदन करने के लिए दो पोरसी में थोड़ा–थोड़ा समय कम करना अर्थात् गृहस्थ के भोजन करने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के समय में भिक्षा के लिए जा सके – इस तरह सूत्र-अर्थ पढ़ने का समय रखना चाहिये ।' यति दिनचर्या में कहा है कि –

खित्तंमि जत्थ जो खलु, गोअर चरि आइ वट्टए कालो ।
त्तं साहिज्ज सु पोरिसी, जुअलं पुण तयणुसारेणं ॥१७१॥

अर्थात्–''जिस क्षेत्र में गोचरी–आहार ले आने का जो समय हो उसी समय गोचरी के लिए जाना चाहिए और दोनों पोरसी तदनुसार हो कम ज्यादा करनी चाहिएँ।'' गोचरी का समय उत्सर्ग से तीसरी पोरसी का है और मासकल्प के अन्तिम दिन में विचरने का समय भी वही है। यति दिनचर्या कहा है कि–

तइ आइ पोरिसीए, पज्जत्त दिणंमि मासकप्पस्स ।
विहिणा कुणसु विहारं, दूरंमि उ बिइ अपढ मासु ॥१७०॥

अर्थात् – ''विधि के अनुसार विहार मास कल्प के अन्तिम दिन तीसरी पोरसी में करना चाहिए, परन्तु यदि दूर अथवा अति दूर जाना हो तो दूसरी पोरसी या पहली पोरसी में भी विहार कर सकता है।'' अष्टमी चतुर्दशी के दिन सर्व जिन मन्दिरों में और शेष दिनों में एक मन्दिर में जिन दर्शन–वंदन करना चाहिए । यति दिनचर्या में कहा है कि –

अट्ठमि चउद्दसीसुं, सव्वाणि वि चेई आइ वंदिज्ज ।
सव्वे वि तहा मुणिणो, सेसदिणे चेइअं इक्कं ॥१६५॥

अर्थात् – ''अष्टमी एवं चतुर्दशी के दिन सर्व जिन मन्दिरों में और सर्व साधुओं को वंदन करना चाहिए, शेष दिनों में एक मंदिर में जिन दर्शन–वंदन करना चाहिए।'' इस चैत्य वंदन के भेद और विधि पहले भाग में गृहस्थ धर्म के अधिकार में कहे गये हैं, इसलिए यहाँ उनका वर्णन नहीं करते । अब तीसरी पोरसी के कर्त्तव्य की मूल गाथा कहते हैं कि–

कृत्वोपयोगं निर्दोष भिक्षार्थमटनं तदा ।
आगत्यालोचनं चैत्य वन्दनादि विधिस्ततः ॥६३॥

मूलार्थ– ''भिक्षा के समय में उपयोग का कायोत्सर्ग करके 'निर्दोष' अर्थात् बयालीस दोष रहित, यानि सर्व संपत् कारी भिक्षा के लिए पर्यटन करना, फिर आकर गुरु के समक्ष उसकी आलोचना करना और फिर पच्चक्खान पारने के लिए चैत्य वन्दनादि क्रिया करना।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याख्या- '**तदा**' = उस भिक्षा के समय में, '**उपयोगम्**'= उस समय करने योग्य उचित कर्तव्य को, 'कृत्वा' = करके, '**निर्दोष**' इसका स्वरूप आगे बताया जायेगा, वह गवेषणा आदि के बयालीस दोष से रहित अर्थात् 'सर्व सम्पतकरी' 'भिक्षार्थम्' = भिक्षा के लिए, 'अटनम्' = गृहस्थों के घरों में घूमना– यह सापेक्ष यति धर्म है, इस तरह वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। तात्पर्य यह है कि भिक्षा तीन प्रकार की होती है– १. सर्व सम्पत्करी, २. पौरुषघ्नी और ३. वृत्तिकरी। उनके लक्षण इस तरह हैं। हरिभद्र पांचवें अष्टक में कहा है कि–

यतिर्ध्यानादि युक्तो यो, गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः ।
सदाऽनारम्भिणस्तस्य, सर्वसम्पत्करी मता ॥२॥

वृद्धाद्यर्थमसङ्गस्य, भ्रमरोपम याऽटतः ।
गृहिदेहोपकाराय, विहितेतिशुभाशयात् ॥३॥

प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो य स्तद्विरोधेन वर्तते ।
असदारम्भिणस्तस्य, पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता ॥४॥

निःस्वाऽन्ध पङ्गवो ये तु न शक्ता वै क्रियान्तरे ।
भिक्षामटन्ति वृत्यर्थं, वृत्ति भिक्षेयमुच्यते ॥५॥

अर्थात्– "शुभ-ध्यान आदि साधुतापूर्ण जीवन में रहने वाले, गुरु आज्ञा का पालन करने वाले, आजीविका आदि के लिए भी आरंभ का जिसने त्याग किया है, वह साधु वृद्ध-ग्लान आदि के लिए निर्मम भाव से भ्रमर-भौंरे के समान घर-घर में फिरकर दाता को अरुचि आदि न हो इस तरह थोड़ा लेने वाला तथा 'यह भिक्षा गृहस्थ और साधु के शरीर के उपकार के लिए श्री जिनेश्वर भगवान ने फरमायी है, इसलिए मुझे लज्जा बिना वह मांगनी चाहिए।' ऐसे शुभ आशय से उत्साहपूर्वक फिरने वाले साधु की भिक्षा को 'सर्व सम्पत्तिकरी' कहा गया है। जो दीक्षित होने पर भी साधुता के विरुद्ध आचरण करता है, पापारंभ में प्रवृत्ति करता है और भिक्षा से जीवन चलाता है, उसकी भिक्षा उसके वीर्यान्त राय कर्म के क्षयोपशम से प्रगट हुए पुरुषार्थ का घातक होने से 'पौरुषघ्नी' कहा है, जो अंध, निर्धन या पंगु, आश्रयहीन होने के कारण किसी उपाय द्वारा आजीविका प्राप्त न कर सके वह केवल उदर-भरण (जीने) के लिए भिक्षा मांगता है– उसकी भिक्षा को 'वृत्ति भिक्षा' कहते हैं। उसमें यहां जो निर्दोष भिक्षा कही गयी है, वह सर्व सम्पत्करी जानना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वस्तुतः तो स्वाश्रयी जीवन जीना मनुष्य का धर्म है । जैन मुनि भिक्षा से आजीविका चलाते हैं उसमें केवल जीने का उद्देश्य नहीं है, परन्तु गृहस्थ के उपकार का भी ध्येय है । गृहस्थ द्वारा अपनी लक्ष्मी का उत्तम पात्र को दान करने से निर्मल पुण्यानुबन्धी पुण्यकर्म बन्धन होता है और उत्तरोत्तर आत्मा को निर्मल कर सर्व विरति की योग्यता भी प्रगट करता है । इस तरह गृहस्थ को दान धर्म-उत्तम साधुओं को आहारादि देने से संभाल होती है । जैन मुनि यह दान लेने पर भी आसक्त नहीं होते, और उनको दान नहीं देने वाले के प्रति अनिष्ट नहीं चाहते, अपितु उसका भी कल्याण चाहते हैं । वे अपना अधिकार मानकर दान नहीं लेते परन्तु दातार की दान रुचि को सफल करने के लिए लेते हैं । जैन मुनि की भिक्षा प्राप्ति का आचार और ध्येय स्व-पर कल्याण कारक है ।

भिक्षा के लिए परिभ्रमण का क्रम इस तरह से है जब भिक्षा का समय हो तब साधु मात्रादि की शंका निवारण कर गुरु महाराज को खमासमण देकर मुख वस्त्रिका का पडिलेहन करके पुनः खमासमण देकर **'भगवन पात्रादि स्थाने स्थापयामि'** कह कर पात्रों का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके पल्ले के साथ झोली में ग्रहण करे और दाहिने हाथ में हाथ दण्डा पकड़ कर गुरु सन्मुख खड़े होकर उपयोग का कायोत्सर्ग करे । वर्तमान समाचारी के अनुसार तो बाल-ग्लान-वृद्ध आदि सभी साधुओं के अनुग्रह (भक्ति) के लिए प्रभात में ही उपयोग का कायोत्सर्ग करवाते है । यति दिनचर्या में कहा है कि -

पते भिक्खा समये, पणमिअ पडिलेहिऊण मुहपुत्तिं ।
नमिऊण भणइं भयवं ! ठाणे ठावेमि पत्तानि ॥१७२॥

पडिलेहिअ सुपमज्जिअ, तत्तो पत्ताणि पडल जुत्ताणि ।
उग्गाहिअ गुरुपुरओ, उव ओगं कुणइ उव उत्तो ॥१७३॥

संपइ समाचारी, दोसइ एसा पभाय समयं मि ।
जं किज्जइ उव ओगो, वालाइ अणुग्ग हट्ठाए ॥१७४॥

अर्थात् - 'जब भिक्षा का समय हो तब गुरु को नमस्कार करके मुंहपत्ति का पडिलेहन करे, फिर खमासमण देकर 'हे भगवन्त ! पात्र स्थान पर स्थापन करूँ?' इस तरह कहकर पात्र का पडिलेहन-प्रमार्जन कर पल्ले साथ में ग्रहण करके गुरु जी के आगे आकर उपयुक्त होकर उपयोग करे । वर्तमान काल में यह समाचारी प्रभात काल में करने का नियम देखने में आया है, क्योंकि बाल आदि मुनियों के अनुग्रह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के लिए प्रभात समय में उपयोग करने के लिये पूर्व गुरु देवों ने कहा है।'' पंचवस्तुक में भी कहा है कि -

काइ अमाइ अ जोगं, काउं धेत्तूण पतए ताहे ।
डंडं च संजयं तो, गुरु पुरओ ठाउमुवउत्तो ॥२८७॥

अर्थात् - ''लघु - बड़ी नीति आदि की शंका निवारण करके, पात्र दण्ड को लेकर स्थिर चित्त से गुरुदेव के सन्मुख खड़े रहकर चित्त की एकाग्रता करके इस तरह उपयोग करे।'' उपयोग करने की विधि भी वहीं कही है कि -

संदि सह ? भणंति गुरुं, उवओग करेमु ? तेणणुण्णाया ।
उव ओग करावणिअं करेमु (मि) उस्सग्ग मिच्चाइ ॥२८८॥

अह कड्ढि ऊण सुत्तं, अक्खलि आइ गुण संजुअं पच्छा ।
चिट्ठंति काउस्सग्गे, चिंत्तिति अतत्थं मंगलयं ॥२८९॥

अर्थात् - ''मैं उपयोग करूँ ? मुझे आदेश दीजिये।'' इस तरह शिष्य गुरु से कहे। अर्थात् ' इच्छा कारेण संदि सह भगवन् ! उपयोग करूँ ?' इस तरह आज्ञा मांगे, उसके बाद गुरु '**करेह**' कहकर आज्ञा दे, तब शिष्य '**उवओग करा वणिअं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थं**' आदि सूत्र पाठ अस्खलित बोले, फिर कायोत्सर्ग करे और '**मंगलयं**' अर्थात् पंचपरमेष्ट नमस्कार महामंगल का ध्यान-चिन्तन करे। इस विषय में दो मत हैं। वह आगे पंचवस्तुक में कहते हैं -

तत्पुव्वयं जयत्थं, उन्ने उ भणंति धम्म जोगमिणं ।
गुरु बाल बुड्ढ सिक्खग, एसेमि न अप्पणो चेव ॥२९०॥

चिंतित्तु तओ पच्छा, मंगल पुव्वं भणंति विणयणया ।
संदिसहति गुरुविअ लोभा त्ति भणइ उवउत्तो ॥२९१॥

अर्थात् - '' एक पक्ष इस तरह कहते हैं कि इस कायोत्सर्ग में नमस्कार मंत्र-पूर्वक आहारादि जो लाना हो उसका भी चिन्तन करे क्योंकि सम्यग् आलोचना (विचार) किए बिना कुछ भी बहोरने का निषेध है, साधु को जब तक हृदय में चिन्तन न किया हो तब तक कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। अन्य आचार्य का कहना है कि - उपयोग के कायोत्सर्ग में उत्तम मुनि को इस तरह धर्मयोग का चिन्तन करना चाहिए कि 'गुरु-बाल-वृद्ध-नवदीक्षित आदि के लिए भी अमुक-अमुक लाऊंगा।' 'केवल मेरे लिए ही लाऊंगा ऐसा विचार न करे, इस प्रकार चिन्तन करके, 'नमो अरिहंताणं' आदि प्रगट नमस्कार मन्त्र कहकर विनस से नमस्कार पूर्वक मुनि कहे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि - '**इच्छाकारेण संदिसह भगवन्त !**' अर्थात् 'हे भवगन ! आज्ञा दो ।, गुरु भी निमित्त दोषों के वश में हुए बिना उपयोग पूर्वक कहे कि - '**लाभः**' अर्थात् 'काल के उचित अनुकूल होने से - अपाय जनक न होने से - यह लाभ तुम स्वीकार करो !' इस तरह संमति दे । उसके बाद क्या करना चाहिये । वह पंचवस्तुक में कहा है कि-

कह घेत्थामोत्ति पच्छा, सवि सेसणया भणंति ते सम्मं ।
आह गुरुवि तहत्ति अ, जह गहिअं पुव्वसाहूहिं ॥२६२॥

आवस्सि आए जस्स य, जोगुत्ति भणित्तु ते तओ णिंति ।
निक्कारणे ण कप्पइ, साहूणं वसहि णिग्गमणं ॥२६३॥

अर्थात् - ''उसके बाद '**कह लेसु ?**' अर्थात् 'किस तरह ग्रहण करना है?' इस तरह शिष्य जब विशेषतया नम्र होकर सम्यग् प्रकार से पूछता है, तब गुरू भी कहते हैं - 'तहत्ति' अर्थात '**जहगहिअं पुव्व साहूहिं**' जैसे पूर्व साधुओं ने ग्रहण किया है उसी तरह तुम भी ग्रहण करना । इससे यह जानकारी मिली कि- 'उत्तम गुरु शिष्यों को कुसाधु के समान आचरण नहीं करने के लिये कहते हैं ।' फिर साधु '**जस्स जोगो**' कहकर '**आवस्सही**' करते हुए उपाश्रय में से निकले । उसमें '**जस्स**' अर्थात् वस्त्र-पात्र-आहार या शिष्यादि संयमोपकारक जिस जिस वस्तु का '**जोग**'= जोग बनेगा या मिलेगा उसे मैं ग्रहण करूँगा । इस तरह पूछने का कारण कहते हैं कि-निष्कारण साधु को वसति से बाहर जाना कल्पता नहीं है, क्योंकि इससे दोष होने की संभावना है । अर्थात् '**जस्स जोग**' यदि कहने में नहीं आए तो दोष है । ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

जस्स य जोगम काऊण, निग्गओ न लभेज्जा सच्चित्तं ।
न य वत्थपायमाई, तेण्णं गहणे कुणसु तम्हा ॥४२८॥

अर्थात् - ''अनुमति के लिए गुरु को '**जस्स य जोगं**' कहे बिना गोचरी के लिए निकले साधु को सचित्त अथवा अचित्त कोई भी पदार्थ बहोरने का अधिकार नहीं है, इसलिए दीक्षा लेने के लिए तैयार हुआ सचित्त गृहस्थ को या वस्त्र पात्रादि कोई अचित्त भी नहीं ले सकता है । यदि कोई लेता है तो उसे अदत्तादान, गुरु की चोरी करने का पाप लगता है । यह साधु जीवन में गुरु के प्रति पूज्यभाव, समय का सदुपयोग और गुरुआज्ञा का मूल्य आदि विशिष्टता का सूचक है । यहाँ कहे अनुसार 'आवस्सिआए' और 'जस्स जोगो' ये दो पाठ बोलकर शिष्य को 'शय्यातर कौन है?'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वह भी पूछना चाहिए । यति दिनचर्या, ओधनिर्युक्ति, पंचवस्तुक आदि साधु सामाचारी ग्रन्थों में इसी तरह कहा है । अत: 'जस्स य जोग' कहकर ही साधु को निकलना चाहिए । उपयोग की विधि करने में चार स्थान होते हैं । ओध निर्युक्ति भाष्य में कहा है कि–

आपुच्छणत्तिपढमा, बिइआ पडिपुच्छणा य कायव्वा ।
आवस्सिया य तइआ, जस्स य जोगो चउत्थो उ ॥२२८॥

अर्थात् – ''गुरु से पूछे कि **'संदिसह ! उपयोगं करेमि'** यह प्रथम पृच्छा है, फिर उपयोग करावणिअं का उस्सग्ग में आठ श्वासोच्छ्वास चिन्तन करे, ऊपर प्रगट नवकार कहकर शिष्य **'संदिसह'** कहे, उसके उत्तर में गुरु **'लाभ'** कहे, तब शिष्य **'कहं'** अर्थात् किस तरह ? इस तरह दूसरी प्रतिपृच्छा के बाद उसके उत्तर में गुरु **'तहत्ति'** अर्थात् **'जह गहियं पुव्व साहूहिं'** कहे तब शिष्य **'आवस्सि आए'** कहे वह तीसरा स्थान, **'आवस्सहीका'** और गुरु **'जस्स य जोगो'** कहे यह चौथा स्थान अनुज्ञा का समझना ।''

यहाँ गोचरी के विषय में इस प्रकार समझना कि – 'एषणा' तीन प्रकार की है । एक गवेषणाषणा, दूसरी ग्रहणैषणा और तीसरी ग्रासैषणा । उसमें 'गवेषणा' अर्थात् आहार आदि के ग्रहण करने के लिए देखने-शोधन के लिए फिरना यानि उसमें ऐषणा अर्थात् शोधन के समय या शोधन के लिए उद्गमादि दोष का विचार करना । इस तरह गवेषणा और एषणा ये दो पद मिलकर १–'गवेषणैषणा' समझना। आहारादि लेना या लेने के लिए विचार करना वह २–'ग्रहणैषणा' है । और 'ग्रास' अर्थात् भोजन के समय में अथवा उस सम्बन्ध में विचार करना वह ३–'ग्रासैषणा, समझना । उसमें गोचरी के लिए निकलने के पहले 'लघुशंका' निवारण आदि जो पूर्व में कहा वह सारी गवेषणैषणा की विधि समझना । गवेषणैषणा का वर्णन इस तरह आठ द्वार से किया है । ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

पमाणे १ काले २ आवस्सए अ ३ संघाडए ४ अ उवगरणे ५।
मत्तय ६ काउस्सग्गो ७ जस्स य जोगो ८ सपडिवक्खो ॥४११॥

अर्थात् – 'प्रमाण' = कितनी वार गृहस्थों के यहाँ भिक्षा के लिए जाना चाहिए? उसका विधान करना, अर्थात् दो बार जाना । एक बार अकाल में बड़ी नीति-स्थण्डिल जाने की शंका होने पर उसके लिए पानी लेने और दूसरी बार भिक्षा लेने। पूर्व काल में परिग्रह के त्याग रूप पांचवें महाव्रत में 'संनिधि' नामक दोष भी न लगे–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस उद्देश्य से मुनि पानी भी रात में नहीं रखते थे, इसलिए स्थण्डिल के लिए जब पानी की आवश्यकता पड़े तब ही वह लाते थे। परन्तु वर्तमान काल में चूने का पानी रात को रखने का व्यवहार है। इस तरह ओध निर्युक्ति के भाष्य में कहा हुआ निर्णय यहां द्वार गाथा के सम्बन्ध में जानना। आगे भी इसी तरह समझना। दूसरा '**काल**' अर्थात् भिक्षा की गवेषणा कब करना ? उत्तर - भिक्षा गृहस्थ के भोजन समय और प्रथम सूत्र पोरिसी आधी हो तब निकले। (बृहत्कल्प की टीका में तो कहा है कि - जो तपस्वी, बालक अथवा वृद्ध साधु गृहस्थ के घर से पहले दिन का बासी रहा जो कल्पनीय मिले उससे 'प्रथमालिका' अर्थात् प्रातः भोजन की इच्छावाला प्रथम पोरसी पूर्ण करके लेने के लिए निकले। यदि इतने समय में भी निर्वाह न हो तो आधी पोरसी होने पर निकले। क्योंकि यदि साधु अति प्रभात में आहारादि के लिए फिरे तो 'मास लघु' का प्रायश्चित्त लगता है और भद्रिक गृहस्थ दोषित होने पर भी आहार देते हैं जो प्रान्त = क्षुद्र अथवा साधु का द्वेषी हो वह निद्रा भी करे इत्यादि दोष लगते हैं।) '**आवश्यक**' अर्थात् लघु बड़ी नीति आदि शंका दूर करके जाये, नहीं तो मार्ग में करने से धर्म का उपहास होता है। चौथा '**संघाटक**' अर्थात् अकेला न जाये अन्य साधु के साथ में जाना चाहिए। एकाकी जाने से किसी स्त्री का या किसी द्वेषी आदि का उपद्रव हो सकता है, यह स्पष्ट है। साधु को अकेला होने के कारण होने वाली हानियाँ कहते हैं। बृहत्कल्प में कहा है कि-

गारविए काहीए, माइल्ले अलस लुद्ध निद्धम्मे ।
दुल्लह अत्ता हिट्ठिअ, अमणुन्ने वा असंघाडो ॥१७०३॥

अर्थात् - **१. गर्विष्ठि** - 'मैं ही गोचरी की लब्धि वाला हूँ' इत्यादि अन्य प्रकार से अभिमानी होना। तात्पर्य यह है कि समुदाय के दो साधुओं में से एक रत्नाधिक- बड़ा होने पर भी आहारादि प्राप्त करने की लब्धि रहित हो और दूसरा अवमरत्नाधिक - लघु होने पर भी लब्धिवान हो, इस कारण अलग होकर उस भिक्षा को प्राप्त करे, परन्तु दोनों जब उपाश्रय में आएँ तब मंडली के आहार आदि की व्यवस्था करने वाले स्थविर उनमें से बड़े को कहें कि - हे ज्येष्ठ आर्य ! भोजन पात्र यहां रखो, अथवा छोटे साधु को कहें कि - ज्येष्ठार्य को पात्र सौंप दो (ओध निर्युक्ति)। उस समय अवमरत्नाधिक लघु मुनि अपनी लब्धि के गर्व से ऐसा सोचने लगे कि 'मैंने अपने लब्धि-पुण्य के बल से यह आहारादि प्राप्त किया है और यहां तो बड़े रत्नाधिक मुनि इसके मालिक माने जाते हैं, इसी कारण तो स्थविर ने पात्र उसके पास से मांगा है।' इस तरह अभिमान रूपी कषाय के आधीन महत्व चाहता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हुआ स्वयं एकाकी विचरण करे समुदाय का साथ न रखे ।

२. काथिक - बात करने वाला । यदि कोई साधु गोचरी करते समय किसी के साथ बातें करने लगे और साथ के अन्य मुनि उसे रोकें - इस कारण उनका साथ छोड़कर स्वयं एकाकी बने ।

३. मायावी - प्राप्त हुए आहार में से अच्छा-अच्छा खाकर शेष बचे हुए आहार को लेकर उपाश्रय में आने वाला कपटी साधु । यह भी यदि अन्य साधु के साथ में रहेगा तो कपट न कर सकेगा । इस कारण से ऐसा कपटी साधु अकेला बने।

४. आलसु - गोचरी के लिए बहुत समय तक या बहुत दूर तक घूमने की इच्छा न होने से नजदीक के थोड़े से घरों में घूम-फिरकर लाने की वृत्ति वाला साधु भी एकाकी बन जायेगा ।

५. लुब्ध - रसना से जीता हुआ । दूध-दही आदि विगइयों की गृहस्थ के पास से याचना करने वाला साधु भी अकेला विहार करे ।

६. निर्धर्मा - दोष का उपयोग नहीं रखने वाला, दोष लगी हुई भी इष्ट वस्तु प्राप्त करने वाला साधु भी एकाकी ही बनता है ।

७. दुर्लभ - दुष्कालादि के कारण जब भिक्षा मिलना दुर्लभ हो, तब एक-एक साधु को अलग-अलग भी जाने का अधिकार होने से भी अकेला हो जाये ।

८. आत्मार्थिक - अपनी लब्धि वाला । ढंढण मुनि के समान जो अपने पुण्य से ही मिले- उसी को ही उपयोग करने के नियम वाला भी विशेष आराधनार्थ एकाकी बने ।

९. अमनोस - कलहकारी । ऐसा साधु सबु साधुओं का अनमीष्ट होता है। किसी अन्य की कोई भी बात नहीं सहन करने वाला ऐसा साधु भी अकेला फिरता है ।

इन नौ में से सातवाँ और आठवाँ- आराधना के लिए एकाकी विहार करना-घूमना लाभदायक है, परन्तु शेष किसी भी प्रकार से एकाकी बनने से प्रायश्चित्त लगता है । एकाकी भ्रमण करने से भूतकाल में महापुरुषों को भी अनिष्ट परिणाम हुआ है जैसे झाँझरिया मुनिवर, नन्दिषेण मुनि, अरणिक मुनि आदि की कथा प्रसिद्ध है । उनका पतन हुआ । ऐसी दशा में सत्त्वहीन आत्माओं के लिए तो एकाकी होने के परिणाम का क्या पूछना ? अत: जिनाज्ञा का अनादर नहीं करना चाहिए, इससे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अहित बढ़ता है । ऐसी परम्परा चलने से जीवों में मिथ्यात्व बढ़ता है । इसलिए आत्मार्थी को श्री जिन कथित समाचारी का प्रयत्न पूर्वक पालन करके संयम का रक्षण करना चाहिए । समाचारी ही समग्र भव्य आराधक आत्माओं की वास्तविक धन-दौलत है । उसका मनस्वी रूप में उपयोग करने वाला अपना जन्म-मरण खतम करता है । समाचारी बाह्य अनुष्ठान की रक्षक है, उसके पालन से द्रव्य अनुष्ठान का रक्षण होता है । इस तरह चौथे संघाटक द्वार के विषय में समझाया गया है ।

५. **'उपकरण'** - क्या भिक्षा के लिए फिरते हुए साधु को सभी अथवा अमुक- थोड़े उपकरणों को साथ में लेकर घूमना चाहिए ? उत्तर-उत्सर्ग मार्ग में तो सारे उपकरणों को साथ में रखकर ही भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए । जो अशक्त हो उसे भी 'आचार भाण्ड' अर्थात् पात्र तथा पल्ले, रजोहरण, दण्डा, ऊन की कमली और सूत्ती- दो कपड़े तथा मात्रक इतनी वस्तुएँ तो साथ में रखनी ही चाहिएँ ।

६. **'मात्रक'** - भिक्षा के लिए फिरते समय साधु मात्रक साथ में रखे, क्योंकि कोई संसक्त = जीव युक्त पदार्थ आ गया हो तो उसे अलग करने के लिए मात्रक के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है । ऐसे समय पर उपयोग करने के लिए ही मात्रक रखने की अनुज्ञा है । ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

आयारिए अ गिलाणे, पाहुणए दुल्लहे सहसलाभे ।
संसत्त भत्तपाणे, मत्तगगहणं अणुन्नायं ॥४२६॥

अर्थात् - "आचार्य श्री जी के लिए कोई योग्य आहार अलग लेने के लिए, इसी तरह ग्लान के योग्य या प्राधुर्णक साधुओं के योग्य आहार अलग लेने के लिए, घी आदि कोई दुर्लभ वस्तु मिले उसे लेने के लिए, अचानक जब किसी समय बहुत आहार मिले- तब जिसको थोड़े आहार के कारण निर्वाह न हो पा रहा हो और इस कारण कठिनाई से संयम का निर्वाह करता हो, उसको अनुग्रह भक्ति करने के उद्देश्य से अधिक आहार लेने के लिए और सक्तु = सेका हुआ चने का आटा गेहूं आदि वस्तु संसक्त - सजीव आ गया हो तो उसे मात्रक में डालकर, जीव की रक्षापूर्वक अलग करने के लिए मात्रक रखने की अनुज्ञा है ।

७. **'कायोत्सर्ग'** - उपयोग का काउस्सग्ग करके निकलना चाहिए ।

८. **'जस्स य जोग'** - भिक्षा के लिए जाते समय गुरु के आगे **'जस्स जोगो'** कहकर आज्ञा लेकर जाना चाहिए । आठ द्वारों का वर्णन 'सप्रतिपक्ष' अर्थात् उत्सर्ग और अपवाद दोनों प्रकार से करना चाहिए । उसमें उत्सर्ग से तो ऊपर कहा है । अब अपवाद से कहते हैं कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. प्रमाणद्वार में- आचार्य, गुरु, ग्लान, तपस्वी, प्राधुर्णक आदि के लिए कई बार भी गोचरी के लिए गृहस्थों के घर में जा सकता है ।

२. कालद्वार में – बीमार या तपस्वी के पारणादि कारण सुबह जल्दी या भिक्षा का समय व्यतीत हो जाने के बाद भी जा सकता है ।

३. आवश्यक द्वार में –अनाभोग से विचार किए बिना, लघु बड़ी नीति की शंका निवारण किए बिना, गोचरी के लिए गये हों– उनको यदि नजदीक में ही शंका हो जाय तो वापिस आकर शंका निवारण कर के जायें, यदि दूर चला गये हों तो पात्र अन्य साधु को सौंपकर शंका निवारण करने जायें, परन्तु यदि बहुत समय तक शंका को रोकने में असमर्थ हों और नजदीक में एक समाचारी आचार वाले साधुओं का स्थान मिले तो वहाँ जायें, यदि वैसा स्थान न मिले तो भिन्न समाचारी वाले साधु जहाँ रहते हों उस स्थान पर जाय, उसके अभाव में उन्मार्गी पासत्यादि के स्थान में, उसके अभाव में श्रद्धालु श्रावक के घर, यदि वह भी न मिले तो नजदीक में रह रहे किसी वैद्य के घर जाकर 'शरीर के मल-मूत्र आदि तीन शल्य कहलाते हैं' इत्यादि उसे समझाकर अपनी 'लघु-बड़ी शंका की शंका है' ऐसा कहे । इसके बाद अपने घर के पीछे या वह जहाँ अनुमति दे वहा शंका निवारण करे । यदि ऐसा न हो सके तो राजमार्ग में दो घरों के बीच में जहाँ गली हो वहां, या किसी गृहस्थ के मालिक की जगह में शंका निवारण करे । उसमें इतना विशेष है कि राजमार्ग आदि जाहिर स्थल पर यदि शंका निवारण करनी पड़े तो बड़ी नीति करना, लघु नीति नहीं करनी चाहिये क्योंकि कभी राज-अदालत में यदि फरियाद हो जाय तो उस बड़ी नीति को वहां से उठा लिया जा सकता है । ओध निर्युक्ति में तो कहा है - यदि लघु नीति न की हो तो केवल बड़ी नीति करने से दोष नहीं गिना जाता । चाणाक्य नीति में कहा है कि-यदि लघु नीति न की हो तो गुनाह नहीं है । इससे फरियाद होने पर भी साधु गुनाहगार -दोषी नहीं होता । इसलिए बड़ी नीति करे परन्तु लघु नीति न करे । यह तीसरे द्वार में यतना कहा है अर्थात् साधु जीवन में शिस्त का कितना महत्व है– वह यहां समझाया है । इसके उपरान्त यदि साधु धर्म के प्रति अप्रीति हो तो ऐसा वर्तन करने से स्व पर मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बंधन होने से दोनों का संसार बढ़ता है ।

४. संघाटक द्वार में – जो लब्धि के गर्व से एकाकी होता है उसे धर्म कथा से गुरु समझाते हैं कि- यह तेरा ही उपकार है कि तेरी लब्धि के आलम्बन से साधु स्वाध्याय आदि करते हैं । इस तरह बातूनी, मायावी आलसी, रसना का लोभी और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निधर्मा जो भी एकाकी बना हो उसको भी समझाये। भिक्षा की दुर्लभता के समय यदि दो साधु साथ में फिरें और गृहस्थ एक को इतनी थोड़ी सी भिक्षा दे और इस तरह जब पूर्ण आहार न मिले, तब भिक्षा की दुर्लभता से एकाकी जाना ही पड़े। ऐसे प्रसंग पर सर्व धूर्त साधु जब अपने लिए अकेले गोचरी के लिए जाना चाहे तब आचार्य उनको निषेध करके जो श्रद्धालु-धर्मप्रिय लब्धिवंत हो, उसे अनुज्ञा यदि दे तो वह एकाकी गोचरी के लिए जाय। और जो साधु कलहकारी होने से प्रत्येक को अप्रीतिकर हो, उसे भी अन्य मनोज्ञ साधु का साथ करवाकर भेजे, फिर भी उसे यदि साथ में रखना कोई भी न चाहे तो उसे छोड़ दे, समुदाय से दूर कर दे। उसमें यदि कलह करने का एक ही दोष हो और दूसरे संतोष आदि बहुत गुण हों, और एषणा की शुद्धि के लिए दृढ़ता हो तो उसका त्याग नहीं करना, एकाकी भी भेजना। अब मानो कि इस तरह एकाकी निकलने के बाद यदि उससे कोई स्त्री उपद्रव-भोग की प्रार्थना करे, उसे अस्वीकार करे तो कलंक चढ़ावे, ऐसी दशा में उसे धर्म कहकर समझायें। समयानुसार कपट करके, असत्य आदि का आश्रय लेकर भी उसे ठगकर वहां से भाग जाय, जिससे इस अधर्म से बच जाय। इस तरह करने पर भी भागने का मौका न मिले तो स्वयं मर जाय, परन्तु अकृत्य तो बिल्कुल भी न करे। इसी प्रकार कुत्ते आदि का जब उपद्रव हो तब भी यथा-योग्य उपाय करने की चेष्टा करनी चाहिये। यह चौथे द्वार की यतना कही।

५. **उपकरण द्वार** में तो यतना का अपवाद-उत्सर्ग के साथ में वहीं कह दिया है।

६. **मात्रक द्वार में** - बीमार के लिए जल्दी जाना हो तब अथवा भूल से मात्रक बिना जाना हो जाय या उसमें रंग किया हो तो साथ में न ले जा सके।

७. **काउस्सग्ग द्वार में**- अनाभोग, जल्दी आदि के कारण से उपयोग का काउस्सग्ग किए बिना जान हो जाय और

८. **आठवें द्वार में** - गुरु के समक्ष 'जस्स जोग' कहना ही चाहिए, नहीं तो गुरु की चोरी गिनी जाती है।

पूर्व कहे अनुसार विधि करके श्री गौतम स्वामी का नाम स्मरण करते हुए जिस ओर नासिका में से वायु बहता हो उस तरफ का, दाहिना या बायां पैर प्रथम उठाकर दण्डे का सिरा जमीन का स्पर्श किए बिना ही अधर पकड़कर भिक्षा के लिए स्वयं जहाँ रहेता हो उस गांव में जाय। यति दिनचर्या में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आवस्सियं भणित्ता, गुरुणा भणियंमि भवइ उवउत्ता ।
सिरि गोयमं सरित्ता, सिणअं उक्खिविअ तो दंडं ॥१७५॥

वायवहनाडि पायं, पढमं उप्पाडिऊण वच्चिज्जा ।
धरणि अलग्गं दंडं, धरिज्ज जा लब्भए भिक्खा ॥१७६॥

अर्थात् गुरु कहे कि – 'उपयुक्त बनो । उपयोग करो ।' तब 'आवस्य ही' कहकर श्री गौतम स्वामी का स्मरण करके धीरे से दण्डे को हाथ में लेकर, उपाश्रय के द्वार के पास खड़े होकर हाथ की अंगलियों से नासिका में बहते वायु को तलाश करे । दाहिना या बांया– जिस नाड़ी में वायु चलता हो, उस तरफ का प्रथम पैर उठाकर चलना । जब तक गोचरी न ले तब तक दण्डा जमीन को न छुए, इस तरह कुछ ऊँचा पकड़े, आहार लेते समय या लेने के बाद जमीन में लगाना निषेध नहीं है ।

यदि नजदीक के दूसरे गांव में जाय तो वहाँ इस तरह विधि का पालन करे– गांव के बाहर रुककर किसी से भिक्षा का समय पूछे । यदि समय पूर्ण हो गया हो तो उसी समय पैर प्रमार्जन कर दो पात्र को भी देखकर, प्रमार्जन-प्रतिलेखना करते हुए गांव में प्रवेश करे और भिक्षा में यदि समय की देरी हो तो इतना समय विलम्ब करके प्रवेश करे । गांव में जाते हुए किसी साधु अथवा गृहस्थ आदि को पूछकर– किस ओर साधु है, या नहीं है यह जान ले, यदि उस गांव में साधु हों तो उनके स्थान पर जाकर, यदि वे एक समाचारी वाले हों तो उपकरण सहित प्रवेश करके द्वादशावर्त से गुरुवंदन करे । यदि वे भिन्न समाचारी वाले हों तो उपकरण बाहर रखकर उपाश्रय में प्रवेश करके (ओध निर्युक्ति गाथा ४३३ के अभिप्राय से बृहन्वंदन से) उनको वंदन करे, शिथिल होने पर भी संवेगी के पक्षकार हों तो बाहर खड़े होकर ही उनको वंदन करके सुखशातादि पूछे, और यदि वे धूर्त जैसे उन्मार्गी हों तो उनको केवल 'थोभवंदन' (मत्थएण वदांमि) करे, उसके बाद उनका कुशल समाचार पूछकर अपना आने का कारण भी कहे और उनके स्थापना कुल अर्थात् जहाँ वे हमेशा नहीं जाते– विशेष कारण से आहार के लिए उन्होंने अमानत रखा हो– उन गृहस्थ के घर कहां-कहां हैं, उनसे जयणापूर्वक पूछे । वे भी उसी तरह आने वाले को वह घर बतावें । यह जयणा अर्थात् 'घरों को सामने अंगुली करके नहीं बताना, परन्तु औचित्य से समझाना चाहिए । इस तरह से पूछकर वह स्थापना कुलों में और दरजी आदि निषिद्ध घरों में गोचरी लेने के लिए न जाए । ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

ठवणा मिलक्खु निंदुं, अचियत्तधरं तहेव पडिकुट्ठं ।
एअं गणधरमेरं, अइक्कमंतो विराहेज्जा ॥४४०॥

अर्थात् "स्थापना कुल, म्लेच्छों के घर, निन्दनीय आचार वालों के घर,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अप्रीति वाले - अश्रद्धालु के घर, दरजी आदि या बढ़ई के घरों में साधु आहारादि के लिए नहीं जाए। जो गणधर आदि की इस मर्यादा का उल्लंघन करता है, वह दर्शन ज्ञानादि की विराधना करता है ऐसा जानना।'' निषिद्ध घरों में जाने वाले को महादोष लगता है। अत: शास्त्रोक्त व्यवहार धर्म का पालन करना अति आवश्यक है। व्यवहार धर्म की उपेक्षा आत्मत्व की उपेक्षा करने के समान होती है। शास्त्र में उसका फल दुर्लभ बोधि आदि की प्राप्ति है। ओध निर्युक्ति में कहा है कि

छक्काय दयावंतो वि, संजओ, दुल्लहं कुणइ बोहिं।
आहारे निहारे, दुंगुछिए पिंड गहणे अ ॥४४१॥

अर्थात् ''छहकाय की दया-रक्षा करने वाला भी साधु यदि आहार निहार प्रगट रूप (गुप्त न) करे, अथवा दरजी आदि निषिद्ध-हलके आचार वालों के घरों में से आहारादि को ग्रहण करता है तो वह बोधि को दुर्लभ करता है।'' इस तरह भिक्षा के लिए फिरते हुए साधु को इस विधि के अनुसार आचरण करने से मोक्ष रूप महाफल मिलता है, क्योंकि 'साधु को भिक्षा के लिए भ्रमण करना' ऐसा श्री जिनेश्वर भगवान ने फरमाया है। पंचवस्तुक में कहा है कि-

हिंडंति तओ पच्छा, अमुच्छिआ एसणाए उवउत्ता।
दव्वाद (इअ) भिग्गहजुआ, मोक्खट्ठा सव्व भावेणं ॥२६७॥

अर्थात् ''विधि पूर्वक गोचरी निकला हुआ साधु आहारादि में मूर्छारहित ग्रहण करने वाला, दोष निवारण आदि विधि में सावधान रहने वाला, द्रव्यादि चार अभिग्रह धारण करने वाला और मोक्ष की साधना के लिए भिक्षार्थ के लिए फिरने का विधान होने से' केवल एक मोक्ष का ध्येय वाला इस तरह पवित्र आशयवाला होकर भिक्षा के लिए भ्रमण करे।''

उसमें 'अभिग्रह' साधु का विशिष्ट आचार है। वह अभिग्रह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव - इस तरह विषय में भेद से चार प्रकार का है। उसमें 'अमुक वस्तु या अमुक साधन से आहार देगा उसी द्रव्य को ग्रहण करूँगा' इत्यादि द्रव्य का नियम करना वह १. द्रव्य अभिग्रह है। इसे आगे कहेंगे। 'आठ गोचर भूमिओं के क्रम को अथवा अमुक संख्या के घरों में से जो भिक्षा मिलेगी वही लेऊंगा' वह क्षेत्र सम्बन्धी नियम होने से २. क्षेत्र अभिग्रह है। 'भिक्षा का समय व्यतीत होने के बाद या समय होने के पहले ही जो मिलेगा वही लेऊगा।' ऐसा काल का नियम करना वह ३. काल अभिग्रह है और 'बर्तन में से अपने लिए उठाया अथवा अमुक रुप में या अमुक स्थिति में आहार आदि जो मिले, वही आहार लेऊंगा' ऐसा विविध नियम धारण करना वह ४. भाव अभिग्रह जानना। पंचवस्तुक में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लेवडमलेवडं वा, अमुगं दव्वं च (वा) अज्ज घेच्छामो।
अणुगेण व दव्वेणं, अह दव्वाभिग्गहो णाम ॥२६८॥

अट्ठ य गोअर भूमी, एलुगविक्खंभमित्त गहणं च ।
सग्गामपरग्गामे एव इ अघरा य खित्तंमि ॥२६६॥

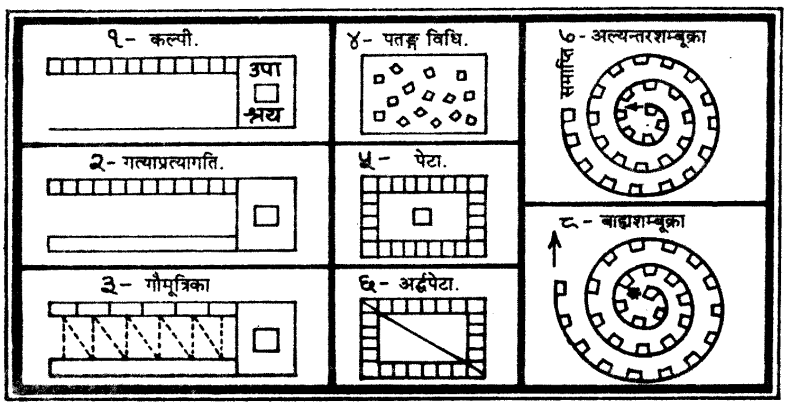
अर्थात् – "अमुक लेपकृत वस्त = जिससे पात्र लिप्त हो जैसे राब दूध-घी आदि अथवा उससे मिश्रित वस्तु, अथवा अमुक अलेपकृत वस्तु सूखा अनाज आदि, अथवा अमुक रोटी आदि को ही लेना है, अथवा अमुक ही द्रव्य-चम्मच, कटोरी, भाला के अणी आदि से यदि दो, तो ही लेने का नियम हो –वह द्रव्य अभिग्रह समझना।"

"आठ 'गोचरी भूमि' अर्थात भिक्षा के लिए फिरने का मार्ग। जिसका लक्षण आगे कहा जायेगा, उस मार्ग में फिरते हुए जो मिले उसे लेना अथवा पर गाँव में से जो मिले वही लेना या अमुक संख्या जितने घरों में से जो मिले वही ग्रहण करने का नियम लेना वह 'क्षेत्र अभिग्रह' जानना। यह गोचर भूमि आठ प्रकार की है। पंचवस्तुक में कहा है कि–

उज्जुग गंतुं पच्छा गई अ गोमुत्तिआ पयंगविही ।
पेडा य अद्धपेडा अब्भितर वाहि संबुक्का ॥३००॥

अर्थात् –१. ऋजवी, २. गतोत्वा प्रत्यागति, ३. गोमूत्रिका, ४. पतंग विधि, ५. पेटा, ६. अर्द्धपेटा, ७. अभ्यन्तर शम्बूका, ८. बाह्य शम्बूका ये आठ गोचर भूमि कही हैं। ग्रन्थ के अन्दर इनका चित्र इस प्रकार दिया है:–

[गोचरभूमि चित्रं ग्रन्थान्तरत उद्दत्य प्रदर्श्यते]



For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसमें १- अपने उपाश्रय से सीधे मार्ग में एक श्रेणी में रह रहे गृहस्थ के घरों में अनुक्रम से भिक्षा के लिए फिरे और इतने घरों में यदि भिक्षा पूर्ण न हो तो भी फिर वापिस फिर कर अन्य से लिए बिना सीधे मार्ग से उपाश्रय में आना- वह प्रथम 'ऋजवी' गोचरभूमि जानना। २- ऋजवी के समान एक श्रेणी में घूमकर फिर वापिस आते समय दूसरी श्रेणी के घरों में भी आहार के लिए जाकर फिर उपाश्रय में आना- वह दूसरी 'गत्वाप्रत्यागति' भूमि कही है। ३- परस्पर आमने-सामने रहे घरों में दोनों श्रेणियों में प्रथम बायीं श्रेणी के प्रथम घर में, फिर दाहिनी श्रेणी के प्रथम घर में, पुनः बायीं श्रेणी में दूसरे घर में, वहाँ से दाहिने श्रेणी में दूसरे घर में, वहाँ से फिर बायीं ओर तीसरा घर, वहाँ से दाहिना तीसरा घर, इस तरह अनुक्रम से दोनों श्रेणियों के आमने सामने घरों में भिक्षा लेते हुए दोनों श्रेणियाँ पूर्ण करे- यह तीसरी 'गोमूत्रिका' भूमि जानना। ४- पतंग के समान अनियत क्रम से इधर उधर के घरों में फिरकर आहार ले - वह चौथी 'पतंग विधि' भूमि कही है। ५- पेटी के समान गांव की चारों दिशाओं में चार श्रेणियों में घरों का विभाग (कल्पना) करके, उसके बीच के घर छोड़कर चार दिशाओं में कल्पना की चार लाईनों में ही गोचरी के लिए घूमना, वह पांचवीं 'पेटा' भूमि जानना। ६- पेटा के समान चार श्रेणि की कल्पना करके चारों में न घूमकर दो श्रेणियों में ही घूमना वह छट्ठी 'अर्द्धपेटा' भूमि समझना। ७- गांव के मध्य भाग में से प्रारंभकर, शंख के आवर्त्त के समान गोलाकार श्रेणि से रहे घरों में फिरते उत्तरोत्तर आखिर में गांव के अन्त में रहे चार दिशा के घरों में फिरना, वह सातवीं 'अभ्यन्तर शम्बूका' भूमि है और ८- अभ्यन्तर शम्बूका से उल्टे क्रम में अर्थात् पहले बाहर के (गांव के आखिर में आये हुए) अन्तिम घरों में गोलाकार श्रेणी से फिरते अनुक्रम से अन्दर के घरों में फिरते हुए अन्त में गांव के बीच के घरों में फिरना, वह आठवीं 'बाह्य शम्बूका' गोचर भूमि समझना। अब काल अभिग्रह कहते हैं। पंचवस्तुक में कहा है कि-

काले अभिग्गहो पुण, आई मज्झे तहेव अवसाणे ।
अप्पत्ते सइकाले, आई बितिमज्झतइ अंते ॥३०१॥

अर्थात् - "भिक्षा काल होने से पहले आहार के लिए फिरना पहला आदि काल है, भिक्षा काल में फिरना - वह दूसरा मध्य काल और भिक्षा काल व्यतीत हो जाने के बाद आहार के लिए घूमना- वह तीसरा अन्त्य काल है। इस तरह आदि, मध्य अथवा अन्त्य काल में से किसी एक काल में आहार के लिए घूमने का निश्चय करना वह तीसरा 'काल अभिग्रह' समझना अब भाव अभिग्रह का वर्णन करते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पंचवस्तुक में कहा है कि-

उक्खित्तमाइ चरगा, भावजुआ खलु अभिग्गहा हुंति ।
गाअंतो अ रूअंतो, जं देइ निसण्णमाई वा ॥३०३॥

उस्सक्कण अहिसक्कण परं मुहोऽलंकिए अरो वापि ।
भावन्नयरेण जुओ, अह भावाभिग्गहो नाम ॥३०४॥

अर्थात् "मूल पात्र में से यदि गृहस्थ हाथ, चम्मच आदि में उठायी हो, अथवा मूल बर्तन में से लेकर भोजन करने के पात्र में रखी हो, इस स्थिति में भिक्षा मिलेगी तो ही आहार लेऊंगा अथवा गीत गाते, रोते, बैठते या खड़े रहते दाता यदि भिक्षा देगा तभी लेऊंगा, अथवा पीछे हटते, सन्मुख आते, पराङमुख होते, आभूषण-अलंकार पहने हुए अथवा अलंकार रहित वाला, आदि अमुक रूप में दाता यदि आहार देगा तभी स्वीकार करूंगा । ऐसे नियम को 'भाव अभिग्रह' जानना।" इस तरह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अभिग्रह का स्वरूप कहकर अब पुरुष की अपेक्षा से – ऐसा अभिग्रह कौन करता है? वह कहते हैं। पंचवस्तुक में कहा है कि-

पुरिसे पडुच्च एए, अभिग्गहा णवरि एत्थ विण्णेया ।
सत्ता विचित्त चित्ता, केई सि ज्झंति एमेव ॥३०५॥

अर्थात् "केवल ऐसे अनुष्ठान की रुचि वाले सत्वशाली साधुओं के उद्देश्य से ही जैन शासन में ये अभिग्रह कहे हैं, क्योंकि- वे साधु ही विचित्र अभिप्राय रुचि वाले होने से अभिग्रह पालन कर कर्ममल का क्षय करके शुद्ध होते हैं ।"

अभिग्रह का अर्थ- अमुक वस्तु में निश्चय, प्रतिज्ञा अथवा पच्चक्खान आदि 'अभिग्रह' कहलाता है। अभिग्रह करते समय पहले साधु अपने को असमर्थ समझता है, परन्तु अभिग्रह करने के बाद वह जीव समर्थ बन जाता है। अभिग्रह का बल मिलते ही उसका वीर्य उत्साह बढ़ता है, यह केवल कल्पना मात्र नहीं है, अनुभव से समझ में आने वाला तत्व है। क्योंकि अभिग्रह निश्चय रूप है, और निश्चय का बल अचिंत्य है। इसलिए शास्त्रकारों ने किसी भी कार्य की सिद्धि में प्रणिधान रूप में निश्चय को प्राथमिक रूप में स्वीकार किया है। ऐसा निश्चय करते ही उसका विरोधी बल कम जोर होता है और सहायक तत्व प्रगट होते हैं । यहाँ अनादि आहार संज्ञा अथवा रस की लोलुपता को निर्बल करने के लिए ऐसे अभिग्रह अति उपयोगी हैं, इससे साधुता को अति निर्मल बनाकर जिनाज्ञा का शुद्ध पालन करने की सामर्थ्य एवं उत्साह प्रगट करता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसके वर्णन में शास्त्रकारों ने इस तरह बतलाया है कि-पूर्व कही गोचरी जाने के लिए विधि से, पिण्ड की शुद्धि अशुद्धि को जानने में कुशल जो हो वही साधु है। जिससे ज्ञान दर्शन चारित्र का उपघात-नाश हो उस आहारादि को नहीं लेकर जो संयम का उपकारक हो उस आहारादि की गवेषणा करे-प्राप्त करे। अर्थात् जिसने पिण्डैषणा (दशवैकालिक सूत्र के पांचवें) अध्ययन आदि का अभ्यास किया हो उसी साधु ने वहोरकर लाया हुआ आहारादि वस्तुएं साधु को कल्पनीय हैं, अज्ञानी साधु द्वारा अविधि से लायी हुई गोचरी दूषित होने से कल्पनीय नहीं है। यति दिनचर्या में कहा है कि-

अणहिआ खलु जेणं, पिंडसणवत्थ सिज्जपाएसा ।
तेणाणि आणि जइणो, कप्पंति न पिंड माई णि ॥१८३॥

अर्थात् "जिस साधु ने बयालीस दोष रहित-विशुद्ध पिण्डैषणा के प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास नहीं किया हो, तथा वस्त्र, शय्या (उपाश्रय) और पात्र की एषणा को जो नहीं जानता उसके द्वारा लाया हुआ पिण्ड आदि मुनियों को नहीं कल्पता।" यहां जो 'पिण्ड आदि' कहा है, इससे शय्या, मकान, वस्त्र और पात्र भी समझना चाहिए। श्री शय्यंभव सूरि जी ने दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि-

पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पिअं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥अ. ६-४८॥

अर्थात् "१- पिण्ड-अशनादि, २- शय्या-मकान, ३- वस्त्र और ४- पात्र, इन चारों अकल्पनीय की अभिलाषा भी न करनी चाहिए, जो कल्पनीय हो एवं संयमोपकारक-निर्दोष हो वही ग्रहण करना चाहिए।" क्योंकि पिण्ड आदि जो उद्गम-उत्पादन आदि सैंतालीस दोष से दूषित हो वह ज्ञानादि गुणों का उपघात (नाश) करता है। इस कारण से ही आहार की निर्दोषता पर बहुत भार दिया है, केवल बाह्य दृष्टि से पवित्र माना जाता आहार एकान्त से शुद्ध नहीं है, परन्तु तत्व दृष्टि से अहिंसक उपायों से बना हुआ निर्विकारी आहार शुद्ध है, जिस आहार से काम क्रोधादि अंतरंग शत्रु शान्त हो जायें और उपशम आदि शुभ भाव प्रगट हों, जो आहार मन व शरीर को पवित्र बना सके, आत्मा में संयम सदाचार का वह पोषक बने। इसलिए दोष रहित विधिपूर्वक आहार लाये। वे दोष इस प्रकार हैं। पिण्ड विशुद्धि वृत्ति में कहा है कि-

सोलस उग्गम दोसा, सोलस उप्पाय जाइ दोसा य ।
दस एसणार दोसा गासे पण हुंति सग याला ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् ''उद्गम= उत्पत्ति अर्थात् आहारादि पिण्ड को तैयार करते समय गृहस्थ जिन दोषों को सेवन करते हैं वह 'उद्गम दोष' कहलाते हैं और वह सोलह प्रकार के होते हैं। 'उत्पादना' अर्थात् आहार को प्राप्त करना और उस विषय में साधु के द्वारा लगे दोष उत्पादना दोष हैं, अर्थात् पिण्ड मूल में यदि निर्दोष हो फिर भी साधु उसे लेने के लिए 'धात्रीकर्म' आदि अतिचार सेवन करके उसे दूषित करता है, ये साधु से होने वाले 'उत्पादन दोष' कहलाते हैं। वे भी सोलह हैं तथा एषणा अर्थात् अशनादि पिण्ड लेते समय 'शंकित' आदि प्रकार से उसे तलाश करना, शुद्ध अशुद्ध का निर्णय करना। इस विषय में गृहस्थ और साधु दोनों से लगने वाले दोष 'एषणा दोष ' कहलाते हैं वे दस हैं। इसके उपरांत 'ग्रास' अर्थात् भोजन करना। उसमें लगने वाले दोष 'ग्रासैषणा दोष' कहलाते हैं, वे पांच हैं। इन सब का स्वरूप इनके अधिकार में कहा जायेगा। इस तरह कुल १६+१६+१०+५=४७ सैंतालीस होते हैं। उसमें से उद्गम के और उत्पादन के मिलाकर बत्तीस गवेषणैषणा में, एषणा के दस ग्रहणैषणा में और भोजन के पांच ग्रासैषणा में- इस तरह त्रिविध एषणा में ४७ दोष का विवेक समझना चाहिए। यति दिनचर्या में कहा है कि-

भणिआ गवेसणाए, गहणे गासे अ एसणा तिविहा।
बत्तीस दसग पंचग दोस विमुक्का इमा कमसो ॥२१५॥

अर्थात् ''एक अन्वेषण (शोध) करने में, दूसरा ग्रहण करने में और तीसरा भोजन करने में- इस तरह तीन प्रकार से एषणा कही है। वह अनुक्रम से बत्तीस, दस और पांच दोषों से रहित-निर्दोष करनी चाहिए।'' उसमें सोलह उद्गम दोष कहते हैं।

आहा कम्मुद्देसिअ, पूइकम्मे अ मीसजाए अ।
ठवणा पाहुडिआए, पाओअर की पामिच्चे ॥१॥

परियट्टिए अभिहडुब्भिन्ने, मालोहडे अ अच्छिज्जे।
अणि सिट्ठे अज्झोयर, सोलस पिंडुग्गमे दोसा ॥२॥

अर्थात् ''ये दोनों श्लोक पण्डि विशुद्धि ३-४ में, पंच वस्तुक ७४१-७४२ में और प्रवचन सारोद्धार ५६४, ५६५ आदि में आए हैं। इनका अर्थ १- आधा कर्म, २- औद्देशिक, ३- पूतिकर्म, ४- मिश्रजात, ५- स्थापना, ६- प्राभूतिका, ७- प्रादुष्करण, ८- क्रीत, ९- प्रामित्यक, १०- परावर्तित, ११- अभ्याहृत, १२- उद्भिन्न, १३- मालापहृत, १४- आछिद्य, १५- अनिसृष्ट और १६- अध्यवपूरक। इस तरह पिण्ड- आहार बनाने में सोलह दोष लगते है। उनमें-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१- आधा कर्म - 'आधा' अर्थात् साधु को चित्त में धारण करके, या साधु का निमित्त लेकर 'कर्म' अर्थात् सचित को अचित करना या अचित्त को पकाना- उसे 'आधाकर्म' कहते हैं । पचंवस्तुक में भी कहा है कि -

सच्चित्तं जमचित्तं, साहूणट्ठाए कीरई जं च ।
अचित्तमेव एच्चइ, आहाकम्मं तयं भणिअं ॥७४२॥

अर्थात् '' साधु के लिए जो सचित्त वस्तु हो उसे अचित्त करे अथवा अचित्त हो परन्तु वह साधु के लिए पकाया जाय, उसे आधा कर्म आहार कहा है । '' आधा कर्म में हिंसा होती है, और साधु ने हिंसा का त्रिविध से त्याग किया है, इसलिए वह अकल्पनीय है ।

यहां प्रश्न होता है कि - ''गृहस्थ ने आहार को बनाकर हिंसा तो कर ली, और उसमें साधु ने आदेश तो नहीं दिया, तो फिर साधु वह हिंसा किस तरह लगेगी?'' इसका उत्तर देते हैं कि - ''हिंसा करना, करवाना और अनुमोदन का भी साधु को निषेध है। आधा कर्मी आहार में उसने स्वयं हिंसा न की, न ही करवाई, परन्तु उसको यदि स्वीकार करे तो हिंसा की अनुमोदना होती है, इस लिए उसे नहीं लेना चाहिए क्योंकि अनुमोदना के १ - अनिषेध, २ -उपभोग और ३ - सहवास, ये तीन भेद हैं । अधिकार होने पर भी पाप कार्य का निषेध नहीं करने से अनिषेध अनुमोदना, पाप से तैयार हुई वस्तु का उपभोग करने से उपभोग अनुमोदना और पाप करने वाले के साथ बसने से सहवास अनुमोदना होती है । अत: साधु के निमित्त गृहस्थ ने स्वयं आहार आदि तैयार किया हो, वह साधु ले तो दोष लगता है और नहीं लेता तो दोष नहीं लगता है । ऐसा आहार आदि नहीं लेना चाहिए । न ही उसमें प्रेरणा दे ।

२. औद्देशिक - उद्देश अर्थात् किसी भी याचक के उद्देश्य को, उसके प्रयोजन से जो संस्कारादि करने में आता है, वह औद्देशिक कहलाता है । उसकेओध से और विभाग से दो भेद हैं, उसमें स्व, पर का विभाग (विकल्प) किए बिना अपने लिए ही भोजन बनाने के समय उसमें से कुछ याचकों को देने की भावना से उसमें अमुक प्रमाण (जो तैयार होता हो वह) चावल आदि अधिक डालकर जो तैयार किया जाता है वह ' औधौद्देशिक' कहलाता है । ऐसा प्राय: कर दुष्काल पूर्ण होने के बाद उसमें से बचा रहा कोई धनिक विचार करे कि - ' देखो, दुष्काल में मुश्किल से जी रहे थे, तो अब नित्य थोड़ा थोड़ा दान देना चाहिए' इस तरह पुण्य उपार्जन करने की भावना से अमुक भेद बिना जब किसी भी याचक को दान देने के लिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधिक भोजन एकत्रित करे, तब ' इतना भोजन खाने के लिए, और इतना दान के लिए' ऐसा विभाग नहीं करने से वह 'औधौद्देशिक' कहलाता है । ऐसा पिण्ड भी, दातार ने जितनी दान की इच्छा थी उतना दान दे जाने के बाद, बढ़ा हुआ आहार शुद्ध है, क्योंकि वह अपने लिए किये गये दान की कल्पना बिना का होता है' विभाऔद्देशिक उसे कहते हैं कि - 'किसी दातार ने विवाहादि भोजन के समय बढ़े हुए आहार में से अमुक भाग याचकों को देने के लिये अलग कर रखा है । 'तैयार' करने में दान का उद्देश्य नहीं होने से निर्दोष होने पर भी इस तरह विभाग करके अपनी सत्ता उतार कर दान देने के लिए अलग किया, इससे वह दूषित गिना जाता है । ऐसा समझना ।

यह विभागौद्देशिक के - १- उद्दिष्ट, २ - कृत, और ३ - कर्म, इस तरह तीन भेद होते हैं । उसमें यदि भोजन आदि अपने लिए तैयार किया हो और उसमें यदि बढ़ गया हो, उसमें से अमुक विभाग याचको को देने के लिए कुछ भी संस्कार किए बिना अलग किया जाता है वह १ - उद्दिष्ट औद्देशिक जानना । परन्तु पकाये हुआ चावल आदि बढ़ गये हों और दान के लिए अलगकर उनमें दही आदि मिला दे तो वह २ - ' कृत औद्देशिक' कहलाता है । उसके उपरान्त विवाहादि में बचे हुए लड्डू आदि का चूरा दान में देने के लिए अलग करके जब चाशनी आदि करके उसमें मिलाकर पुनः लड्डू बनाये जायें तब वह ३ - ' कर्म औद्देशिक' कहलाता है । पुनः उद्दिष्ट, कृत और कर्म ये तीनों प्रकार याचकों की कल्पना के भेद से १ - उद्देश, २- समुद्देश, ३- आदेश और ४- समादेश, इस तरह चार भेद वाला बनता है । उसमें १ - गृहस्थ या घर त्याग करने वाले साधु- संन्यासी आदि किसी याचकों को देने की कल्पना करना ' उद्देश' कहा गया है । २ - चरक, त्रिदंडी, सन्यासी, पांखडी आदि के लिए जो कल्पना करके रखा हो उसे ' समुद्देश' कहा है । ३ - निर्ग्रन्थ - जैन मुनि, शाक्य, बौद्ध भिक्षु, तापस - पंचाग्नि आदि के ताप को सहन वाले सन्यासी, लाल भगवे वस्त्र घारण करने वाले गैरिक और गौशालक मत के अनुयायी आजीविक, इन पांच प्रकार के श्रमण के लिए कल्पना की हो उसे ' आदेश' और केवल ४- निर्ग्रन्थ जैन मुनि को देने की भावना (कल्पना) की हो उसे ' समादेश' कहते है । पिण्ड निर्युक्ति में कहा है कि -

जावंति समुद्देसं, पासंडीणं भवे समुद्देसं ।
समणाणं आए सं, णिग्गंथाणं समाएसं ॥२३०॥

अर्थात् "किसी भी याचक को देने की कल्पना करना- वह उद्देश है,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पांखडियों के लिए कल्पना करना– वह समुद्देश है, श्रमणों को देने की कल्पना करना– वह आदेश है और निर्ग्रन्थ मुनियों को देने की कल्पना करना– वह समादेश कहलाता है। इस तरह तीन के चार चार भेद होने से विभागौद्देशिक के बारह भेद और एक ओधौद्देशिक इस प्रकार औद्देशिक के कुल तेरह भेद जानना। यहाँ प्रथम से ही साधुओं के लिए तैयार किया जाय वह आधाकर्म और अपने लिए बनाया हो उसमें बाद में दान देने की कल्पना या संस्कार करना वह औद्देशिक कहलाता है। इस तरह दोनों में भेद समझना।

३- **पूति कर्म** - आधाकर्मिक पिंड का एक अंश मात्र भी मिश्र हुआ आहारादि द्रव्य शुद्ध हो फिर भी अशुचि पदार्थ से लिप्त पवित्र द्रव्य भी अपवित्र गिना जाता है, इस प्रकार पूति कर्म दोष वाला समझना। इस लिए आधाकर्मिक आदि के एक अंश मात्र से भी लिपटा हुआ पात्र कड़छी, कडाई, कुडी आदि की सहायता से शुद्ध भी आराहादि नहीं देना चाहिए। इससे शुद्ध आहार भी दोषित होता है।

४. **मिश्रजात** - अपने लिए और साघु आदि के निमित्त एकत्रित करके पहले से तैयार किया हो, वह ' मिश्रजात ' आहार कहलाता है। इसके यावदर्थिक मिश्रजात, पाखंडी मिश्रजात, और साधुमिश्रजात तीन भेद होते हैं। किसी भी याचक को देने के लिए एकत्रित तैयार किया वह १- यावदर्थिक मिश्र है। पांखडी, चरक आदि पांच प्रकार के श्रमणों के लिए एकत्रित करना वह २ - पाखण्डि मिश्र है और केवल जैन मुनियों को देने के लिए एकत्रित बनाना वह ३ - साधुमिश्र समझना। यहां श्रमणें को पाखंडी में एक साथ ही गिनने से ' श्रमण मिश्रजात ' अलग भेद नहीं बताया गया।

५. **स्थापना** - साधु आदि को देने के लिए बहुत समय तक रख छोड़े, अथवा ' यह साधु को देने के लिए है ' हृदय से यह कल्पना करके अमुक समय तक संभालकर रखे वह ' स्थापना ' आहार कहलाता है। यदि पिण्ड आदि की स्थापना की जाय, वह दान के लिए पिण्ड -आहारादि भी स्थापना कहलाता है। यह स्थापना १ - स्व-मूल स्थान पर और २ - पर- अन्य स्थान पर, इस तरह दो प्रकार से हो सकता है। उसमें भोजन का स्वस्थान जहां चूल्हा आदि से उसे तैयार किया हो वह स्थान स्वस्थान है और पर स्थान वहाँ से अलग स्थान पर छींका आदि स्थान पर रखा जाये तो वह पर स्थान होता है। इन दोनों के भी अनन्तर और परस्पर दो भेद हैं। उसमें घी आदि रखने पर भी उसका स्वरूप नहीं बदलता, उस पदार्थ की स्थापना को ' अनन्तर स्थापना ' समझना। काल की अपेक्षा से वह स्थापना उत्कृष्ट से कुछ कम करोड़ पूर्व वर्ष तक की हो सकती है, इससे उसे ' चिर स्थापना ' भी कह सकते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं, क्यों कि उस पदार्थ का अस्तित्व वहाँ तक रह सकता है । अन्य विकार होने के स्वभाव वाले दूध, दही, मक्खन आदि की स्थापना को 'परस्पर स्थापना' जानना । दूध की स्थापना को उसी दिन में 'अनन्तर' समझना । इसके उपरांत साधु जहां आहार लेते हों वहाँ से अपने घर सहित तीन घर छोड़ कर बाद के घरों में आहार देने के लिए किसी ने हाथ आदि में ली हो– ऐसी भिक्षा को भी स्थापना कहते हैं, क्योंकि एक श्रेणी में रहे घरों के अन्दर साथ में बहोरने निकले कई साधुओं में एक साधु एक घर में लेते हों और दूसरे साधु उसके बाद के दो घरो में उपयोग रख सकें, ऐसा संभव होने से तीन घर तक बहोराने की कोई वस्तु कोई हाथ में लेकर खड़ा रहे तो भी वह इत्वरी (अल्प काल के लिए) होने से कल्पनीय है, यह स्थापना दोष से दूषित नहीं है । उसके बाद के घरों में यदि कोई वैसा करता है तो वह दोष गिना जाता है । अन्य बर्तन आदि में रखने से और फिर उसे मांजने आदि से जीव हिंसा आदि दोष लगता है ।

६. **प्राभृतिका** – किसी को अमुक काल में विवाहादि कार्य करना हो, वह इस तरह विचार करे कि 'अभी यहां साधु विराजमान हैं, उनको दान देने का लाभ मिलेगा । इसलिए विवाहादि कार्य अभी ही करना अच्छा रहेगा ।' ऐसा सोचकर गृहस्थ उस कार्य को जब जल्दी करता है उस समय वहां से आहार पिण्ड लेना– उसे आगम सिद्धान्त की भाषा में 'प्राभृतिका' कहा है । इसी तरह शीघ्र करने का विवाहादि कार्य 'साधु का अमुक समय के बाद योग मिलेगा' ऐसी भावना से देरी से मिठाई आदि कार्यक्रम करे उसे भी 'प्राभृतिका' दोष कहते हैं । अर्थात् साधु को दान देने की भावना से गृहस्थ विवाहादि कार्य जल्दी या देरी से करे तो उसे 'प्राभृतिका' जानना । विवाहादि बड़े कार्य में अमुक दिन या महीनों की जल्दी या देरी हो तो उसे 'बादर प्राभृतिका' कहते हैं, और उसी दिन करने के कार्य को भी थोड़ा जल्दी देरी करना– उसे 'सूक्ष्म प्राभृतिका' कहते हैं । जैसे कि– कोई स्त्री सूत की कताई आदि कार्य में व्यग्र हो, उस समय बालक खाने के लिए रोटी आदि मांगे, उसे रोने से रोकने के लिए वह स्त्री आश्वासन दे कि 'रो मत, पास के घर में मुनि पधारे हैं, वे अपने घर में पधारेंगे तब उन्हें दान दूंगी– तब तुझे भी दूंगी ।' फिर जब साधु पधारें तब उनको भिक्षा देने के लिए उठे तब वह स्त्री बालक को भी दे । इस तरह जल्दी किए जाने वाले कार्य को देरी से करे वह 'उत्ष्वष्कण' कहलाता है। इसी तरह रुई धूनने का कार्य पूर्ण होते समय तक बालक को विलम्ब कराने की इच्छा वाली स्त्री भी बीच में साधु के आने से जब आहार देने के लिए उठे तब फिर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उठना न पड़े इस कारण से बालक को भी उसी समय भोजन दे– वह देरी करने का कार्य जल्दी करने से ' अवष्वष्णा ' कहलाता है । इन शब्दों की सिद्धि इस तरह होती है कि जिस काम को करने का जो समय हो वह उस समय से ' उत् ' अर्थात् आगे –भविष्य में ' ष्वष्कण ' अर्थात् खींचना ही उत्+ष्वष्कण = उत्ष्वष्कण है और काम करने का जो समय हो उससे ' अव ' अर्थात् जल्दी ' ष्वष्कण ' = कर लेना वह अव+ष्वष्कण = अवष्वष्कण कहलाता है । इस तरह बादर और सूक्ष्म दो दो भेद होते हैं ।

७. प्रादुष्करण – देने योग्य पदार्थ यदि अंधरे में हो तो उसे चक्षु द्वारा देख न सकने से साधु आहार नहीं लेते, ऐसा समझकर वहां अग्नि या दीपक, बिजली जलाये, अथवा मणि आदि से प्रकाश करे अथवा दीवार तोड़ कर झरोखा कर प्रकाश करे या बहोरने की वस्तु अंधकार में से बाहर प्रकाश में लाकर रखे, इस तरह करने से ' प्रादुष्करण ' नामक दोष कहलाता है । वह १ – जहाँ दान में देने योग्य वस्तु हो वहाँ प्रकाश करने से और २ – यदि घर के अन्धकार में हो तो वहाँ से वस्तु को बाहर प्रकाश में लाने से– इस तरह दो भेद होते हैं । दीपक आदि का प्रकाश करने से अग्नि आदि से जीवों की हिंसा स्पष्ट है, तथा अंधकार में से प्रकाश में लाकर रखने से त्रस आदि जीवों की हिंसा होती है । अत: वह आहार लेने से साधु को दोष लगता है ।

८. क्रीत – साधु के लिए जिस वस्तु को मूल्य से खरीदे वह ' क्रीत ' कहलाती है । उसके चार भेद हैं । १ – स्वद्रव्य क्रीत, २ – स्वभाव क्रीत, ३ – परद्रव्य क्रीत और ४ – परभावक्रीत । उसमें साधु द्वारा गृहस्थ को, अपना भक्त बनाना, मंत्रित चूर्ण गोली आदि द्रव्य देकर उसके बदले में आहारादि वस्तु प्राप्त करना, वह प्रथम ' स्वद्रव्य क्रीत ' है, और आहार आदि की प्राप्ति के लिए धर्मकथा – व्याख्यान आदि कर श्रोता आदि को आवर्जन – निषेध करके उसके बदले में वह वस्तु प्राप्त करना, यह दूसरा ' स्वभाव क्रीत ' कहलाता है । साधु के प्रति अति भक्ति होने से उसे दान देने की भावना से गृहस्थ स्वयं सचित्त–अचित्त या मिश्र कुछ भी द्रव्य दूसरे को देकर उसके बदले में उसके पास से साधु को देने योग्य वस्तु प्राप्त करे, वह तीसरा ' परद्रव्य क्रीत ' है और साधु का भक्त कोई मंख अर्थात् लोगों को चित्र बताकर आजीविका प्राप्त करने वाला भिक्षुक विशेष या गायक आदि– अपनी कला से अन्य को खुश करके उसके बदले में उसके पास से साधु को देने योग्य वस्तु प्राप्त कर साधु को दे तो वह चौथा ' परभाव क्रीत ' कहलाता है । ये सब दोष के कारण होने से ऐसा दान साधु को नहीं कल्पता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

९. प्रामित्यक - साधु को देने के लिए जो वस्तु उधार वापिस देने का स्वीकार कर- ले आए, वह 'प्रामित्यक' दोष है। इसके लौकिक और लोकोत्तर दो भेद होते हैं। उसमें यदि गृहस्थ उधार लेकर साधुओं को दान दे तो वह 'लौकिक प्रामित्यक' है और परस्पर साधु ही वस्त्र आदि अन्य वस्तु वापिस देने की करार कर उधार लें, वह 'लोकोत्तर प्रामित्यक' जानना। इसमें जो उधार लाया हो फिर वह देना भूल जाए अथवा देने जैसी स्थिति बाद में न रहे तो दातार को लेने वाले की ओर से कष्ट भोगने पड़ते हैं उसमें साधु निमित्त होने से साधु को भी दोष लगता है। अत: उसका निषेध है।

१०. परिवर्तित - अपना बिगड़ा हुआ घी आदि दूसरे को देकर उसके बदले में उसके पास से अच्छा ताजा घी आदि प्राप्त कर साधु को दे, वह 'परिवर्तित' कहलाता है, इस तरह के दाने से घर में कलह का कारण होने से वह साधु के लिए अकल्पनीय है। इसके भी प्रामित्यक के समान लौकिक और लोकोत्तर दो भेद होते हैं।

११. अभ्याहृत - घर से अथवा अपने गांव से साधु को बहोराने की वस्तु जहां साधु हो, वहां सामने जाकर देना उसे 'अभ्याहृत' दोष कहते हैं। क्योंकि सामने लाने में, आने-जाने में रास्ते के अन्दर जीव विराधना होती है। अलग बर्तनों में लाना, उन्हें मांजना आदि नाना प्रकार के दोष लगते हैं। इसलिए साधु को सामने लाये आहारादि नहीं लेने चाहिएं। उसे दूसरे जान जायें इस तरह लेना प्रगट, और कोई नहीं जाने इस प्रकार लेने जाना गुप्त (प्रच्छन्न)- इस तरह दो भेद जानना। तदुपरान्त उसके 'आचीर्ण-अनाचीर्ण' आदि भी बहुत भेद हैं। उसमें उत्कृष्ट से सौ हाथ के अन्दर से अथवा घरों की अपेक्षा से श्रेणीबद्ध घरों के अन्दर से सामने लाया द्रव्य, वह 'आचीर्ण' साधु ले सकते हैं क्योंकि तीन में से एक घर में भिक्षा लेना और बाद के दो घर में साथ का दूसरा साधु 'सामने ले आने वाला गृहस्थ सचित्त का स्पर्श करने आदि की भूल करता है या नहीं करता' इत्यादि शुद्धि-अशुद्धि देखने में उपयोग रख सकता है। इससे अधिक दूर का उपयोग नहीं रख सकते हैं इसलिए वह 'अनाचीर्ण' समझना। पांचवें स्थापना दोष में तीन घरों के अन्दर की हुई स्थापना इत्वरी 'अल्पकालीन' होने से, उसे 'कल्पनीय' बताया है। फिर भी पुन: अभ्याहृत में तीन घरों के अन्दर से आई हुई वस्तु को 'आचीर्ण' कहा है। उसमें यह कारण समझना कि स्थापना में अल्पकाल की और अभ्याहृत में अल्प क्षेत्र की- इस तरह दोनों अलग-अलग अपेक्षा होने से भिन्न हैं।

१२. उद्भिन्न - वस्तु को खोल कर- उघाड़ कर दे- वह 'उद्भिन्न' दोष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहलाता है । जैसे कि किसी ने गुड़, घी आदि के बर्तन को मिट्टी आदि से लिपाई कर बंद किया हो, उसके ऊपर की मिट्टी आदि उखाड़ कर उसमें से वस्तु दे तो साधु को यह दोष लगता है । इस तरह साधु के निमित्त यह प्रवृत्ति करने से त्रस स्थावर आदि जीवों की हिंसादि होती है । अत: वह साधु को लेना नहीं चाहिए । यहां गांठ खोलना, ताला खोलना, पेटी-अलमारी आदि खोल कर देना इत्यादि भी उद्भिन्न समझ लेना ।

१३. मालापहृत - माला अर्थात् छिक्का-छज्जा आदि से 'अपहृत' अर्थात् साधु के लिए लाना- वह 'माला+अपहृत=मालापहृत' समझना । उसके ऊर्ध्व स्थित, अध:स्थित, उभयस्थित और तिर्यक् स्थित- ये चार भेद होते हैं । उसमें १- अटारी, मंजिल, छज्जे या छिक्के आदि पर रखा हो, वहां से लेकर आहार दे- वह ऊर्ध्वस्थित मालापहृत है, २- भौंरा, तलघर आदि नीचे रखे आहार लाकर देना वह 'अध:स्थित' मालापहृत है, ३- कोठा, भंडार, ऊँची पेटी, पतारे आदि में रखे आहार को लाकर या उसे लाते समय बाहर से पैर अधर कर ऊँचे होना हो और अन्दर नीचे झुककर दो हाथ लम्बे करके ले सके, इस तरह जिसके लेने में शरीर को ऊँचा और नीचा भी करना पड़े इस तरह लाकर आहार दिया जाए वह 'उभयस्थित मालापहृत' है और ४- तिरछा, दीवार में, झरोखे आदि में रखा हुआ, बैठे-बैठे या खड़े-खड़े उठा सके फिर भी स्थान विषम होने से जिसे लेते समय गिर जाने का भय रहे, कष्ट पूर्वक लिया जाय- ऐसे स्थान पर रखा हुआ हो- वहां से लेकर दे- वह 'तिर्यक्स्थित मालापहृत' समझना । इससे भी जीव हिंसा होती है और गिर जाने से हाथ पैर आदि अवयवों को चोट लग सकती है इत्यादि दोष लगने से इस तरह का आहार लेना साधुओं को कल्पनीय नहीं है ।

१४. आच्छेघ - दूसरे की वस्तु हो उसे खींच कर साधु को दे- वह 'आच्छेघ दोष' कहलाता है । उसके १- स्वामी अर्थात् राजा प्रजाजन के पास से जबरदस्ती लेकर दे वह 'स्वामी आच्छेद्य' २- प्रभु अर्थात् कुटुम्ब परिवार का प्रधान, घर के किसी आदमी से बलात् लेकर आहार दे तो, वह 'प्रभु आच्छेद्य' है और ३- चोर आदि किसी की चोरी कर या लूट कर साधु दे तो वह 'स्तेनाच्छेद्य' समझना । ये तीन भेद होते हैं । इससे साधु के प्रति अन्य को अप्रीति होती है, असद् भाव जागता है । इससे मिथ्यात्व का बंध होता है और दुर्लभ बोधित्व प्राप्त करता है, तथा ऐसा आच्छेद्य आहारादि लेने से साधु के दुश्मन खड़े हो जाते हैं । इसलिए ऐसा आहारादि साधु को लेना योग्य नहीं है ।

१५. अनिसृष्ट - जो आहार आदि अमुक समूहसभा अर्थात् अमुक मनुष्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की मंडली आदि का हो, उस आहार में से उस मंडली में से कोई एक मनुष्य अन्य मनुष्यों द्वारा अनुमति दिये बिना अथवा निषेध करने पर भी साधु को आहार दे, वहाँ साधु को 'अनिसृष्ट' दोष लगता है। उसके भी भेद बताते हैं। १- **'साधारण'** - अर्थात् बहुत हो फिर भी दूसरों की इच्छा बिना उनमें से कोई एक या दो चार आहार दे तो वह 'साधारण अनिसृष्ट' है। २- **चौल्लक** - अर्थात् किसी खेत के मालिक आदि ने खेत आदि में काम करने वाले बहुत नौकरों के लिए भोजन आदि भेजा हो और वह बांटा न हो- वहाँ तक खेत मालिक आदि वह भेजा हुआ गिना जाता है, उसकी इच्छा या अनुमति बिना कोई आहार दे तो वह 'चौल्लक अनिसृष्ट' दोष है, और ३- **जड्डु** - अर्थात् हाथी- उसके मालिक राजा आदि ने हाथी के लिए महावत आदि को सौंपा हो, उस हाथी या राजा आदि उसके मालिक की इच्छा या आज्ञा बिना महावत आदि किसी साधु को दे तो वह 'जड्डु अनिसृष्ट' कहलाता है। यह तीन प्रकार का है। इस प्रकार देने से दूसरों को अप्रीति होती है। वह दोष का कारण होने से साधु को अकल्पनीय है।

१६. अध्यवपूरक - अपने लिए भोजन बनाना आरंभ करने बाद समाचार मिले कि कोई साधु, मुनिराज आदि पधारे हैं, इससे उनको दान देने की भावना से रसोई में नया बढ़ावा कर दे तो वह 'अध्यवपूरक' दोष कहलाता है। इसमें भी चौथे दोष मिश्रजात के समान १- यावदर्थिक अध्यवपूरक, २- पाखंडी निमित्त अध्यवपूरक, और ३- साधुनिमित्त अध्यवपूरक- ये तीन भेद होते हैं। इसमें भी रसोई का बढ़ावा करने से साधु भी हिंसा के हिस्सेदार होते हैं। अतः उसका त्याग करे।

इस तरह सोलह उद्गम दोष कहे हैं। उसमें १ आधा कर्म, २ से ४ तक औद्देशिक के तेरह भेद में पाखंडी श्रमण और निर्ग्रन्थ के उद्देश्य से कर्म किया हो वह अनुक्रम से 'समुद्देश कर्म औद्देशिक, आदेशकर्म औद्देशिक और समादेश कर्म औद्देशिक' तक ये आखिरी तीन भेद, ५ से ८ तक मिश्रजात और अध्यवपूरक के तीन भेदों में आखिरी पाखंडी और साधु के उद्देश्य के दो दो भेद हैं, ९ पूति कर्म में आहार पूतिकर्म और १० बादर प्राभृतिका, इन दस दोषों को 'अविशोधि कोटी' कहा है। जिस दोष वाली वस्तु को अलग करने पर भी अन्य दोष शेष रहे, ऐसी निर्दोष वस्तु भी शुद्ध नहीं है, वह कल्पनीय नहीं है। वह अविशोधि, वही कोटी है अर्थात् भिन्नता जिसमें है- उस दोष को 'अविशोधि कोटी' समझना चाहिए। पिण्ड विशुद्धि में कहा है कि -

इअ कम्मं उद्देसिअ - तिअ मीसज्झोयरं तिमदुगं च।
आहारपूइ बायर पाहुडि अविसोहि कोडित्ति ॥५३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्-''इसमें आधा कर्म औद्देशिक के अंतिम तीन भेद, मिश्रजात और अध्यवपूरक के अन्तिम दो-दो भेद, आहार पूतिकर्म और बादर प्राभृतिका, इतने अविशोधि कोटी होते हैं ।''

यह अविशोधि कोटी के अवयव मात्र अर्थात् सूखा दाना, कण आदि से पात्र चिपक जाय - ऐसा द्रव्य छाछ आदि कि जिसका लेप भी न लगे, ऐसे मूंग आदि अनाज के दाने आदि यदि शुद्ध भोजन में भी लगे हों तो उस शुद्ध भोजन को परठने के बाद भी पात्र को पानी से तीन बार शुद्ध किए बिना यदि उसमें शुद्ध-निर्दोष भोजन लिया जाय फिर भी शुद्ध नहीं गिना जाता । आगे कहा है कि-

तीइ जुअं पत्तंपि हु करीसनिच्छोडिअं कयतिकप्पं ।
कप्पइ जं तदवयवो, सहस्स घाई विसलवु व्व ॥५४॥

अर्थात् -''उस अविशोधि कोटी आहार से लिप्त पात्र को भी निश्चय ही सूखे गोबर से घिसकर पानी से तीन बार शुद्ध न किया जाय तो उसमें लिया दूसरा शुद्ध आहार भी नहीं कल्पता, क्योंकि जहर के एक कण के समान अविशोधि कोटी का अवयव भी सहस्रघाती होता है । जैसे तीव्र जहर खाने से एक जीव मरता है फिर उसके मांस से दूसरा, फिर उसका मांस खाने से तीसरा- इस तरह परस्पर से हजार जीव मरते हैं, वैसे ही अविशोध कोटि से मिश्रित-दूषित आहार आदि एक से दूसरे घर, वहां से तीसरे घर, इस तरह हजार घरों तक भी यदि जाय तो भी अन्य शुद्ध पिण्ड को वह दोषित बनाता है, किन्तु इस प्रकार भी वह आहार निर्दोष नहीं होता है ।'' इसके अतिरिक्त उन दस के सिवाय शेष दोष विशोधि कोटी कहे जाते हैं । पिण्ड निर्युक्ति में कहा है कि -

उद्देसिअंमि नवगं, उवगरणे जं च पूइअं होइ ।
जावंतिअ मीसगयं, अज्झोअरए अपढमपयं ॥१॥

परिअट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडे इअ ।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे, पाओअर की अपामिच्चे ॥२॥

सुहुमा पाहुडिआ विअ, ठवियग पिंडो अ जो भवे दुवहो ।
सव्वोवि एस रासी, विसोहि कोडी मुणे अव्वो ॥३६७॥

अर्थात् ''औद्देशिकना के नौ भेद, उपकरण पूतिकर्म, यावदर्थिक मिश्र जात और यावदर्थिक अध्यवपूरक परिवर्तित अभ्याहृत, उद्भिन्न, मालापहृत, आच्छेद्य, अनिसृष्ट, प्रादुष्करण, क्रीत, प्रामित्यक, सूक्ष्मप्राभृतिका और दो प्रकार के स्थापना पिण्ड ये सब दोष समूह विशोधि कोटी जानना ।'' इन दोषों में से किसी एक भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दोष वाला भोजन का दोषित अंश अलग निकाल देने बाद निर्दोष आहार शुद्ध गिना जाता है अर्थात वह आहार कल्पनीय है । पिण्ड विशुद्धि में कहा है कि -

सेसा विसोहि कोडी, तदवयवं जं जहिं जहा पडिअं ।
असढो पासइ तं चिअ, तओ तया उद्धरे सम्मं ॥५५॥

अर्थात् "शेष दोष विशोधि कोटी है । उसके अवयव = अंश जिसमें जितने लगे हो उन्हें मुनि को अशर - शुभभाव से जानकर, उतना अंश ही दूर कर देना चाहिए- संपूर्ण रूप में निकाल देना चाहिए ।"

यहां विशोधि कोटी का अंश ही त्याग करने के लिए कहा गया है, वह तब जबकि सारा आहार आदि त्याग करने से निर्वाह न होता हो, तब ऐसा समझना । यदि निर्वाह शक्य हो तो शुद्ध-अशुद्ध सारे आहार का त्याग कर देना चाहिए । उसमें भी यदि घी आदि दुर्लभ वस्तु हो तो वह संपूर्ण रूप में त्याग न करे- जितना अशुद्ध हो उतना ही केवल त्याग करे। इतना विशेष विवेक से समझना चाहिए । आगे कहा है कि -

तं चेव असंथरणे, संथरणे सव्वभवि विगिं चिंति ।
दुल्लहदव्वे असढा, तत्तिअमित्तं चिअ चयंति ॥५६॥

अर्थात् "यदि निर्वाह होना असम्भव हो तो उसमें से अशुद्ध अंश ही त्याग करना चाहिए और यदि निर्वाह होना संभव हो तो शुद्ध-अशुद्ध सारा त्याग करना चाहिए । उसमें भी यदि दुर्लभ वस्तु जैसे घी, दूध आदि वस्तु हो जिससे जीव विराधना अधिक होने का भय हो तो निष्कपट भाव से उसमें जितना दोषित हो उतना ही त्याग करे ।" इस तरह से उद्गम दोष कहे । अब उत्पादन के भी जो सोलह दोष हैं वह पिण्ड निर्युक्ति तथा प्रवचन सारोद्धार ५६६-७ गाथा में बताये गये हैं वह कहते हैं :-

धाई दूई निमित्ते आजीव वणी मगे तिगिच्छा य ।
कोहे माणे माया लोहे अ हवंति दस एए ॥४०८॥

पुव्विं पच्छा संथव विज्जा मंते अ चुन्न जोगे अ ।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूल कम्मे अ ॥४०९॥

अर्थात् "१- धात्री दोष, २- दूति दोष, ३- निमित्त दोष, ४- आजीवक दोष, ५- वनीपक दोष, ६- चिकित्सा दोष, ७- क्रोध दोष, ८- मानदोष, ९- माया दोष और १०- लोभ दोष, ये दस तथा ११- पूर्व वा पश्चात् संस्तव-दोष, १२- विद्या दोष, १३- मंत्र दोष, १४- चूर्ण दोष, १५- योग दोष और १६- मूलकर्म दोष, इस प्रकार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उत्पादन में सोलह दोष लगते हैं । उनके विषय में अनुक्रम से कहते हैं -

१- धात्री दोष - धायी माता के समान कार्य करना- जैसे कि १- पर बालक को दूध पिलाने का कार्य करना, २- स्नान करवाना, ३- कपड़े आभूषण आदि पहनाने, ४- खेल क्रीड़ा करवानी, और ५- गोद में बैठाना, उठाकर घूमना, इस तरह कार्य की भिन्नता से पांच प्रकार का कहा है । मुनि द्वारा भिक्षादि के लिए गृहस्थ के बालकों का इस तरह धात्री कर्म करके आहार पानी प्राप्त करना ही धात्रीपिण्ड कहलाता है । इस तरह लेने में दोष लगता है ।

२- दूति दोष - एक दूसरे का संदेश - समाचार देना, वह दूतिका कर्म कहलाता है । ऐसे समाचार देकर गृहस्थ से प्रेम जागृत कर आहार प्राप्त करना वह 'दूति पिंड' कहलाता है ।

३- निमित्त दोष - साधु भिक्षा के लिए भूत, भविष्य अथवा वर्तमान काल में होने वाला लाभ-हानि आदि गृहस्थ को बताकर उनके पास से आहार प्राप्त करना 'निमित्त पिण्ड' कहलाता है ।

४- आजीवक दोष - भिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से साधु गृहस्थ के मन में अपने लिए प्रीति उत्पन्न करने के लिए वह जिस जाति, कुल, गण, कर्म या शिल्प के योग से अपने आप को श्रेष्ठ मानता है- उस जाति, कुल, गण आदि से अपने आपको उसके समान बताये अर्थात् साधु ब्राह्मण आदि को कहे- मैं भी ब्राह्मण आदि हूँ । इससे प्रसन्न - आदर-मान वाला बना गृहस्थ जो आहारादि दे वह 'आजीवक पिण्ड' कहलाता है ।

५- वनीपक दोष - श्रमण, बौद्ध, ब्राह्मण, दापण, तपस्वी, अतिथि या श्वान ' कुत्ता' आदि के भक्त के समक्ष आहार लेने के लिए साधु भी 'उस श्रमणादि का मैं भी भक्त हूँ' इस तरह कहे, इससे दातार प्रसन्न होकर जो दान दे वह आहार 'वनीपक दोष' वाला कहलाता है ।

६- चिकित्सा दोष - आहारादि प्राप्ति के लिए साधु किसी रोगी को उलटी, जुलाब, बस्तिकर्म (मुख द्वारा कपड़ा डाल कर गुदा द्वारा निकालना यह मल शुद्धि के लिए एक प्रयोग है) आदि करवा दे या किसी रोग वाले को उसका प्रतिकार करने वाले वैद्य की सिफारिश करे अथवा उसे औषधियों की सलाह दे । इस तरह रोगियों को प्रसन्न करके उनके पास से प्राप्त किया आहार ' चिकित्सा दोष ' वाला कहलाता है ।

७- क्रोध दोष - 'दातार' से साधु ' मैं अमुक विद्यावान् या तप आदि से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रभावशाली हूँ,' इस तरह कहे, अथवा 'राजा आदि भी मेरा भक्त है, मेरी पूजा करता है' इस तरह बताये, इससे दातार को ' यदि दान नहीं देऊगा तो विद्या आदि से मेरा पराभव करेगा अथवा राजा आदि मुझे शिक्षा करेगा' ऐसा भय उत्पन्न हो, अथवा 'यदि तू नहीं देगा तो मैं तेरा अमुक काम खराब करूंगा ।' इस तरह क्रोध करके दाता को भय उत्पन्न कर आहार प्राप्त किया हो तो वह 'क्रोध पिण्ड' कहलाता है।

८- **मान दोष** - आहारादि प्राप्ति की अपनी लब्धि की प्रशंसा सुनकर गर्विष्ठ बना अथवा अपनी प्रशंसा बढ़े ऐसा सोचकर जब दूसरे ने मान पर चढ़ाया हो कि 'यह तो तू ही ला सकता है' तब मान की रक्षा के लिए, अथवा ' तू क्या ला सकता है ? तेरे में क्या लब्धि है ?' इत्यादि बातों से दूसरे से अभिमान में चढ़ा साधु अहंकार से गृहस्थ को भी उस युक्ति सें अभिमान चढ़ाकर आहार ले आये तो वह आहार 'मान पिण्ड' दोष से युक्त होता है ।

९- **माया दोष** - स्वादिष्ट आहारादि की प्राप्ति के लिए अलग-अलग रूप में वेष बदल कर, अथवा अवाज, भाषा आदि बदलकर गृहस्थ को ठग कर आहारादि ले वह 'माया पिण्ड' दोष समझना चाहिए ।

१०- **लोभ दोष** - बहुत अच्छे या ज्यादा आहार के लोभ से बहुत से घरों में घूमकर आहारादि लाना, वह ' लोभ पिण्ड' कहलाता है ।

११- **पश्चात् संस्तव पिंड दोष** - यहां पूर्व अर्थात् पितृ पक्ष और पश्चात् अर्थात् ससुर पक्ष बताना, उसमें दातार के समक्ष अपने माता-पिता या भाई-बहन या पुत्र-पुत्री के विषय में कहना जैसे कि तुम्हारे जैसे मेरे भी माता-बहन आदि थे, या पिता -भाई थे इत्यादि ढंग से अथवा अपने और देने वाले की उम्र का अनुमान कर के सम्बन्ध जोड़कर आहार प्राप्त करना, वह 'पूर्व संस्तव पिण्ड' है और दातार के सामने ससुर पक्ष के सम्बन्ध रूप घटना बताकर के आहार आदि प्राप्त करना वह 'पश्चात् संस्तव पिंड' कहलाता है । यहाँ गृहस्थ को भक्ति के बदले राग उत्पन्न होता है तथा साधु अपना संयम सत्त्व खतम कर दीनता दिखाता है ।

१२- **विद्या दोष** - जिसमें मंत्र जाप, होम आदि से सिद्धि मिलती हो और जिसकी अधिष्ठात्री देवी हो वह 'विद्या' कहलाती है । उस विद्या के बल से आहार प्राप्त करे वह ' विद्या पिण्ड' कहलाता है ।

१३- **मंत्र दोष** - मंत्र पाठ बोलने मात्र से जो सिद्ध हो अथवा जिसका अधिष्ठायक देव हो वह ' मंत्र' कहलाता है, उसका उपयोग करके आहार प्राप्त करना ' मंत्र पिण्ड ' कहलाता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१४- चूर्ण दोष - जिसके नेत्र में अंजन करने से रूप परिवर्तन हो, या अदृश्य आदि हो वह 'चूर्ण' कहलाता है। उसके बल से आहार प्राप्त करना 'चूर्ण पिण्ड' है।

१५- योग दोष - जिसका पैर पर लेप आदि करने से प्रेमी बनते हैं, या सौभाग्य, दुर्भाग्य आदि होते हों वह 'योग' कहलाता है। उसके बल से आहारादि प्राप्त करना 'योग पिण्ड' जानना।

१६- मूलकर्म दोष - भिक्षा प्राप्त करने के लिए गृहस्थ स्त्री का गर्भ स्तंभित करना, गर्भ रहे- ऐसा प्रयोग करना, प्रसूति करवाना, उसके लिए किसी औषधि का स्नान करवाना, जड़-मूलों का प्रयोग करना या बंधन-धागा आदि करना और फिर उसके बदले में भिक्षा प्राप्त करना वह 'मूलकर्म पिण्ड' कहलाता है। इस तरह सोलह उत्पादन के दोष कहे हैं। ये दोष साधु स्वयं सेवन करता है। ज्ञानियों ने इन दोषों का त्याग करने के लिए कहा है।

पहले कहे गये गृहस्थ द्वारा सेवित उद्गम के सोलह दोष और उत्पादन रूप में साधु द्वारा स्वयं सेवित सोलह दोष- कुल बत्तीस दोष से रहित -निर्दोष आहार आदि को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए, वह 'गवेषणैषणा' है। अब 'ग्रहणैषणा' कहते हैं, उसके दस दोष हैं। पिण्ड विशुद्ध में कहा है कि -

इअ बुत्ता सुत्ताओ, बन्तीस गवेसणेसणा दोसा ।
गहणे सण दोसे उस , लेसेण भणामि ते अ इमे ॥७६॥

संकिय मक्खिय, निक्खित्त, पिहिय साहरिय दाय गुम्मिस्से ।
अपरिणय लित्त छड्डिय, एसणदोसा दस हवंति ॥७७॥

अर्थात् - यह गाथा पिण्ड नियुक्ति प्रवचन सारोद्धार में आई है। इस तरह पिण्ड निर्युक्ति आदि शास्त्रों में से सोलह उद्गम के और सोलह उत्पादन के इस प्रकार गवेषणैषणा के बत्तीस दोष कहे गये हैं। इसके बाद यहाँ संक्षेप में ग्रहणैषणा के दस दोषों का वर्णन किया जा रहा है। वह इस प्रकार से है - १- शंकित, २- म्रक्षित, ३- निक्षिप्त, ४-पिहित, ५- संहत, ६- दायक, ७- उन्मिश्र, ८- अपरिणत, ९-लिप्त और १०- छर्दित, ग्रहणैषणा के ये दस दोष हैं।'' इनका वर्णन इस प्रकार है -

१. शंकित - पहले बताये गये आधाकर्म आदि में से किसी दोष की मन में शंका हो, फिर भी साधु यदि आहारादि लेता है तो शंकित दोष कहलाता है। इसमें शंका- पूर्वक लेना और शंकाहोने पर भी भोजन करना, इन दो पदों की इस तरह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चतुर्भंगी होती है १- लेते समय मन में शंका परन्तु लज्जादि के वश पूछे बिना ले ले और शंका दूर न होने पर भी भोजन काल में भोजन भी करे। २ - लेने के समय शंका होने पर भी ले परन्तु वह पूछकर किसी के कहने आदि से वह शंका निवारण होने से - निर्दोष का विश्वास होने के बाद भोजन करे। ३ - लेते समय शंका बिना ही निर्दोष समझकर ले और बाद में किसी कारण से दोषित होने की शंका होने पर भोजन करे और ४ - लेते और भोजन करते भी शंका न हो, निर्दोष समझकर ले और उपयोग करे। इन चार में दूसरा और चौथा विभाग में भोजन समय निर्दोष का विश्वास वाला होने से शुद्ध है। यह शंका भी आधा कर्मादि सोलह उद्गम दोष और इसके बाद म्रक्षितादि नौ ग्रहणैषणा दोष कहे जायेंगे उसे मिला कर पच्चीस में जो किसी दोष की शंका हो, वह दोष वाला पिण्ड माना जाता है।

२. **म्रक्षित** - सचित्त, पृथ्वी काय, अप काय, वनस्पति काय से अथवा अचित होने पर निन्दनीय शराब आदि से लप्ति आहारादि पिण्ड 'म्रक्षित' कहलाता है। निन्दनीय पदार्थ से लिप्त पिंण्ड सर्व प्रकार से अकल्पनीय ही होता है, और घी, दूध आदि खाद्य पदार्थ से यदि लिप्त हो तो उसे लगी चींटी आदि जीव की जयणा करने के बाद कल्पनीय भी हो सकता है। यहाँ भी हाथ और बहोराने का पात्र लिप्त के योग से चार विभाग होता है- १- हाथ और पात्र दोनों बिगड़े, २ -हाथ बिगड़े- पात्र नहीं, ३ - पात्र बिगड़े-हाथ नहीं, और ४ - हाथ और पात्र दोनों न बिगड़े। इसमें चौथा विभाग शुद्ध समझना चाहिए। पहले तीन भाग में बिगड़े हुए के कारण से 'पुरः कर्म, पश्चात् कर्म, आदि दोषों की संभावना होने से उसे अशुद्ध जानना।' उसमें पुरः कर्म अर्थात् दान देने से पहले गृहस्थ साधु के निमित्त हाथ-पात्र आदि को सचित वस्तु से धोवे, साफ करे और पश्चात् कर्म अर्थात् गृहस्थ द्वारा आहार देने के बाद बिगड़े हुए हाथ- पात्र को धो कर साफ करे उसे कहते हैं।

३. **निक्षिप्त** - सचित पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति या त्रस जीवो के ऊपर जो अचित भी अन्नादि रखा हो, वह 'निक्षिप्त' कहलाता है। उसमें भी किसी पदार्थ के अंतर बिना सीधा पृथ्वी आदि पर जो अन्नादि रखा हुआ हो वह 'अनन्तर निक्षिप्त' और वस्तु के अन्तर से रखा हो 'परंपर निक्षिप्त' इस तरह दो भेद होते हैं। वे छहकाय निक्षिप्त में भी स्वयं समझ लेना। उसमें अनन्तर निक्षिप्त तो अग्राह्य ही है, 'परंपर निक्षिप्त' भी सचित का स्पर्श किए बिना यदि ले सकते हो तो ग्राह्य - ग्रहण करने योग्य है। अग्नि काय ऊपर का परंपर निक्षिप्त अन्नादि लेने की विधि प्रवचन सारोद्धार की टीका में बताई गई है कि चूल्हे ऊपर रखा कड़ाही आदि पात्र चौड़े मुख वाला हो, चूल्हे के ऊपर का पात्र हलवाई के चूल्हे के समान चारों तरफ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिट्टी से छाजा हुआ हो और उसमें गरम करने के लिए गन्ने का रस डाला हो, उपलक्षण से प्रवाही वस्तु- दूध आदि थोड़े समय पहले डाला हो बहुत ज्यादा गरम न हुआ हो, ऐसा गृहस्थ यदि सावधानी पूर्वक बहोरावे तो वह कल्पता है, क्योंकि- मिट्टी से चूल्हे की छाजन होने से उसका छींटा चूल्हे में गिरने का भय नहीं होता, चौड़े मुख का बर्तन होने से उसमें से छोटे बर्तन से लेते समय बर्तन के किनारे आदि का स्पर्श किये बिना ले सकते हैं। यदि लेते समय चूल्हे के ऊपर के बर्तन के साथ में छोटा बर्तन टकराये, तो उसके नीचे लगा काजल - मेंस चूल्हे में गिरने से अग्नि काय की चिराधना होती है इसलिए वह कल्पनीय है। और अति ऊष्ण नहीं होने से देने वाले या लेने वाले को जलने का भय नहीं रहता, इस लिए विशेष कारण से वह संपूर्ण सावधानी पूर्वक ले सकते हैं।

४. पिहित - देने योग्य अन्नादि वस्तु, सचित फल आदि से ढकी हो या फलादि के नीचे रखी हो, वह 'पिहित' कहलाता है। इसके भी निक्षिप्त के समान 'अनन्तर पिहित' और 'परंपर पिहित' भेद होते हैं। उसमें परंपर पिहित जयणा से- सचित का स्पर्श आदि न हो इस तरह यदि ले सकते हो तो वह लेना कल्पता है।

५. संहृत - दाने देने के लिए आवश्यक पात्र की अनुकुलता न हो अर्थात् यदि वह पात्र दान देने योग्य न हो, पृथ्वी सचित वस्तु में अथवा किसी अचित वस्तु में डालकर पात्र को खाली करके यदि उस पात्र से आहार दिया जाय तो इससे 'संहृत' दोष लगता है। उसके १. सचित वस्तु सचित में, २. सचित अचित में, ३. अचित सचित्त में और ४. अचित्त अचित में डालने रूप चार भेद होते हैं। इनमें चौथा भाग शुद्ध माना जाता है।

६. दायक - आहार देने योग्य यदि बालक, वृद्ध, नपुंसक, कम्पन शरीर वाला, बुखार वाला, अंधा, नशा आदि पीकर मत्तोन्मत्त बना, उन्मादी-अति हर्ष, शोकादि से बेसुध बना, हाथ या पैर में बेड़ी-बन्धन वाला, पैर में पादुका-खड़ाऊं वाला, रुई को धुनते, अनाज आदि दलते, बिलोना करते समय, भोजन बनाते समय, तथा जो छह काय जीवों की विराधना करता हो, उसके हाथ से आहारादि लेने का निषेध है और जिस स्त्री के गर्भावस्था के आठ महीने पूर्ण हो गये हों, जो बालक को गोद में लिये हुए हो, या जिसका बालक महीने दो महीने का बहुत छोटा हो, ऐसी स्त्री के हाथ से भी साधु को आहार लेना नहीं कल्पता। इन दायकों में किसके हाथ से कब, किस तरह लेना कल्पता है तथा कब नहीं कल्पता आदि उत्सर्ग - अपवाद आदि ग्रहणैषणा के दस दोष बाद में बतायेंगे। उनका वर्णन ग्यारह द्वार के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्दर दूसरे द्वार में किया जायेगा। इस तरह जिस दायक के हाथ से लेने का निषेध किया है उनके हाथ से लेना- वह 'दायक' दोष कहलाता है ।

७. उन्मिश्र – बहोराने वाली खांड-चीनी आदि कल्पनीय अचित वस्तु में भी यदि अनाज के दाने आदि सचित्त वस्तुए पड़ी हों या मिश्रित हुई हों तो ऐसी वस्तुएं लेने से 'उन्मिश्र' दोष लगता है ।

८. अपरिणत - दान देने की जो वस्तु पूर्ण रूप में अचित्त न हो पायी हो- कुछ कच्ची रही हो, वह अपरिणत कहलाती है । उसे सामान्य से 'द्रव्य अपरिणत' और 'भाव अपरिणत' दो भेद हैं । उन दोनों के भी दाता को अपरिणत और ग्रहण करने वाले को अपरिणत, इस तरह दो भेद होते हैं । उसमें यदि पूर्ण अचित न हो, वह द्रव्य अपरिणत है, द्रव्य पदार्थ दातार के पास से यदि लिया न हो, तो दातार को 'द्रव्य अपरिणत' जानना और यदि साधु ने ले लिया हो तो उस दशा में ग्रहण करने वाले को 'अपरिणत' जानना। भाव अपरिणत उसे कहते हैं कि जिसके मालिक अनेक हों, वह वस्तु देने में एक की देने की भावना हो और अन्य की न हो, उस दाता को 'भाव अपरिणत' और बहोरने वाले दो साधुओं में से एक साधु निर्दोष और दूसरा सदोष (अकल्पनीय) समझता हो, वह ग्रहण करने वाला 'भाव अपरिणत' गिना जाता है । ऐसा द्रव्य साधु को लेना नहीं कल्पता, क्यों कि अपरिणत लेने से दातारों में कलह होता है और ग्रहण करने वाले को अपरिणत लेने से शंकितादि लेने का प्रसंग सामने आ जाता है । यही दाता का 'भाव अपरिणत' है वह दाता के समक्ष देना और साधारण अनिसृष्ट (उद्गम में १५वां दोंष) उस दाता के समक्ष नहीं देना, इस तरह दोनों में भेद समझना ।

९. लिप्त – दही, दूध, छाछ, साग, दाल, कढ़ी आदि से हाथ, पात्र आदि लिप्त हो जाता है, इसलिए ऐसी वस्तुएँ 'लिप्त' कहलाती हैं। उत्सर्ग मार्ग में साधुओं को वह द्रव्य तो लेना ही नहीं चाहिए जिससे लेपन-लिप्त न लगे, ऐसे दाल, चने, मूंग आदि लेना, पुष्ट कारण से तो वैसा लेपकृत भी लेना कल्पता है । योग शास्त्र की वृत्ति में तो चरबी आदि अशुचि से यदि लिप्त हो उसे लिप्त कहा है । उसमें १. लिप्त हुआ या नहीं लिप्त हुआ हाथ, २. लिप्त हुआ या नहीं लिप्त हुआ वहोरने का पात्र और ३. वहोराने की वस्तु संपूर्ण या असंपूर्ण लेना, इन तीन विकल्प के आठ विभाग होते है । इसका कोष्टक इस प्रकार से है–

इसमें विषम अंक वाले (१-३-५-७) भाग से ले सकते हैं, सम अंक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१ सं० हाथ सं० पात्र, सावशेष द्रव्य
२ सं० हाथ सं० पात्र निरवशेष द्रव्य
३ सं० हाथ असं० पात्र सावशेष द्रव्य
४ सं० हाथ असं० पात्र निरवशेष द्रव्य
५ असं० हाथ सं० पात्र सावशेष द्रव्य
६ असं० हाथ सं० पात्र निरवशेष द्रव्य
७ असं० हाथ असं० पात्र सावशेष द्रव्य
८ असं० हाथ असं० पात्र निरवशेष द्रव्य

(२-४-६-८) भाग से आहार नहीं ले सकते। तात्पर्य यह है कि -हाथ या पात्र यदि लिप्त हो या नहीं हो, फिर भी यदि द्रव्य सम्पूर्ण न बहोरा हो तो पश्चात् कर्म का दोष न हो, वह रने के बाद हाथ-पात्र धोना आदि न हो, पश्चात् कर्म का सम बन्ध सम्पूर्ण द्रव्य लेने से है। यदि सम्पूर्ण नहीं ले, पात्र में थोड़ा भी शेष रखे तो पुनः उसे परोसने आदि की सम्भावना होने से हाथ या पात्र यदि लिप्त हुए हों तो भी धोने का पश्चात् कर्म होना संभव नहीं है, इसलिए सावशेष द्रव्य वाला एक भाग में लेना कल्पता है।

१०. छर्दित - दाता द्वारा घी, दूध आदि वस्तु को देते समय छींटे गिराते हुए बहोराना 'छर्दित' दोष कहलाता है। घी, दूध आदि गिरने से वहां रहे या उसमें आकर पड़े जन्तुओं की 'मधुबिन्दु' के दृष्टान्त के अनुसार विराधना हो सकती है। जैसे कि- वारत्तपुर नगर में अभयसेन राजा था और वारत्तक नामक मन्त्री था। उसके घर संयम साधना में विशुद्ध चारित्रवंत धर्मघोष नामक साधु भिक्षार्थ पधारे। मन्त्री की पत्नी ने भिक्षा देने के लिए घी, खांड मिश्रित खीर से भरा पात्र उठाया। उसमें से कुछ पदार्थ का बिन्दु जमीन पर गिर पड़ा। 'यह पिंड छर्दित दोष से दूषित है' ऐसा समझ कर साधु लिए बिना वापिस आ गये। झरोखे में बैठे मन्त्री ने यह सारा दृश्य देखा और विचार करने लगे कि- 'मेरे घर से कुछ भी लिये बिना ही यह साधु वापिस कैसे चले गये ?' इतने में उस गिरे बिन्दु पर मक्खियां आकर बैठीं, उनको पकड़ने के लिए छिपकली आई, उसे खाने गिरगिट आया, उसका भक्षण करने के लिए बिल्ली आई, उसे देखकर मेहमान का पालन किया कुत्ता आ गया। उसी समय मौहल्ले का कुत्ता उसके ऊपर भौंकता हुआ वहां आया- दोनों का युद्ध होने से, अपने कुत्ते का पराभव नहीं सहन करने से उन कुत्तों के मालिकों में प्रतिस्पर्धी कुत्ते को दूर करने की बात पर ही लड़ाई प्रारंभ हुई। यह सारा देखकर मन्त्री ने सोचा कि- 'घी का केवल एक बिन्दु गिरने से भी ऐसा अनर्थकारी परिणाम आया है' सर्वज्ञ परमात्मा के बिना ऐसा निर्दोष धर्म कौन बता सकता है ? वही मेरे देव और उन्हीं का कहा धर्म मेरा धर्म है।' इस तरह निश्चय करके वैराग्यवान और सत्त्व से गृहवास

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

छोडकर वह मन्त्री साधु बन गया, और अतिचार रहित चारित्र का पालन कर उसी ही जन्म में वह सिद्धात्मा बन गया।

इस तरह ग्रह णैषणा के दस दोष बताये गये हैं। इन्हें मिलाकर कुल बयालीस दोष होते हैं। इन दोषों से रहित पिण्ड की विशुद्धि जो संक्षेप में पहले बताई गई है, उसके नौ प्रकार इस तरह होते हैं – साधु स्वयं हणे (सचित का अचित करता) नहीं है, खरीद नहीं करता और अग्नि से पकाता नहीं है। ये तीन भेद, इसी तरह दूसरे के पास से तीन प्रकार से कोई आरंभ नहीं करवाता, ये तीन भेद तथा अन्य की बिना प्रेरणा से भी साधु को बहोराने के लिए इन तीन में यदि कोई आरंभ कर तो अनुमोदन भी नहीं करते ये तीन भेद, इस तरह कुल नौ भेद में सम्पूर्ण पिण्ड विशुद्धि आ जाती है। इसके लिए दशवैकालिक निर्युक्ति में कहा है कि–

पिंडेसणा य सव्वा, संखित्ता अव तरइ नवसु कोडीसुं।
न हणइ न किणइ पयइ, कारावण अणुमई हिं वा ॥२४०॥

अर्थात् "सारी पिंडेसणा संक्षेप से नौ कोटि में आ जाती है। वह नौ कोटि- स्वयं हनन नहीं करे, खरीद न करे, पकाये नहीं, दूसरे द्वारा वह तीन करावे नहीं, और इन तीन की अनुमोदना भी नहीं करे- इस तरह होती हैं।" इस तरह सकल दोष रहित आहारादि पिण्ड को ग्रहण करने रूप ग्रहणैषणा बताई गई है। इस का पालन ग्यारह द्वार से करना चाहिए। ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

ठाणे अ दायए चेव गमणे गहणाऽऽगमे।
पत्ते परिअत्ते पाडिए अ गुरुअं तिहा भावे ॥४६२॥

अर्थात् १. स्थान, २. दायक, ३. गमन, ४. ग्रहण, ५. आगमन, ६. पात्र अथवा प्राप्त, ७. परावर्तित, ८. पातित, ९. गुरुक, १०. त्रिविध, और ११. भाव- इस तरह पिण्ड के ग्यारह द्वार हैं, इसलिए उस प्रकार से शुद्ध पिण्ड लेने के लिये बतलाया है। इन द्वारों की व्याख्या इस तरह से है–

१. स्थान -पिण्ड- आहार लेने में तीन स्थान छोड़ने चाहिएं – १. आत्मोपघाती, २. संयमोपघाती और ३. प्रवचनोपघाती। उसमें **पहला**- गाय आदि पशुओं वाला स्थान वहा खड़े होकर भिक्षा नहीं लेना, क्योंकि गाय आदि पशुओं से उपद्रव होने की संभावना का भय रहता है, इसी तरह आगे भी जो दोष लगता है वह स्वयं विचार कर ले। **दूसरा**- सचित पृथ्वी-पानी आदि हो ऐसा स्थान, वहां खड़े रहने से उसकी विराधना होती है। अथवा आहार लेने वाला जहां खड़ा होकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आहार ले, वहां ऊपर या नीचे सचित फल आदि का स्पर्श हो- ऐसा स्थान संयमोपघाती होता है, इसलिए उसका त्याग करे। **तीसरा** - खाल आदि अशुचि वाले स्थान पर खड़े होकर भिक्षा लेने से शासन का हलकापन-मान हानि होती है, इसलिए प्रवचनोपघाती जानकर उसका भी त्याग करना चाहिये।

२. दायक – साधु को आहार आदि ग्रहण करते समय दातार की परीक्षा करनी चाहिए, अर्थात् निषिद्ध बालक आदि के हाथ से नहीं लेना चाहिए। निषिद्ध दातार की व्याख्या ओध निर्युक्ति में इस तरह कही है-

अव्वत्त अपहु थेरे, पंडे मत्ते अ खित्त चित्ते अ।
दित्ते जक्खा इट्ठे करचरणछिन्नंध णि अले अ ॥४६७॥

तोहोस गुव्विणी बाल-वच्छ कंडंत पीसभज्जंती।
कंतंती पिंजंती, भइआ दग माइणो दोसा ॥४६८॥

अर्थात् - "अव्यक्त, अप्रभु, स्थविर, पण्डक, मत्त, क्षिप्तचित्त, दीप्त यक्षाविष्ट, छिन्नहस्त, छिन्नचरण, अन्ध, निगडित, त्यगूदोषी गर्भिणी, बाल वत्सा, खांडती, दलते, चूरते, सेखते, कातते और पिंजते- इतने दायक के हाथ से भिक्षा न लेने में विकल्प समझना अर्थात् इसमें एकान्त विधि निषेध नहीं है। ऐसे दाता को आहार वहोराते अपकाय विराधना आदि दोष लग सकते हैं।" इसका विशेष वर्णन इस प्रकार से है-

१. अव्यक्त – आठ वर्ष से कम उम्र वाला बाल कहलाता है, वह यदि भिक्षा दे तो भी नहीं ले सकता क्योंकि - उसके हाथ से लेने से 'साधु ने बालक के पास से सारा लूट लिया।' इत्यादि उसकी माता आदि को द्वेष होने का प्रसंग आता है। आगे के दायकों में भी इस तरह यथा संभव दोष समझ लेना।

२. अप्रभु – नौकर-चाकर आदि के हाथ बहोरने से भी जैसे बालक के विषय में बतलाया उसी तरह से घर के स्वामी को द्वेषादि होने का प्रसंग आता है।

३. स्थविर – सत्तर अथवा मतान्तर द्वारा साठ वर्ष से अधिक उम्र वाले वृद्ध के हाथ से बहोरते समय हाथ, शरीर आदि कम्पायमान होने से पिंड गिर जाये अथवा वह स्वयं गिर जाय, इत्यादि दोष जानना।

४. पण्डक – नपुंसक के हाथ से भिक्षा लेते, उसकी चेष्टाएं कामजनक होने से वेदोदय रूप क्षोभ आदि होने का प्रसंग आता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. मत्त – शराब आदि पीने से जो व्यक्ति उन्मत्त बना हो, उसके हाथ से भिक्षा लेते समय वह अचानक साधु को चिपट जाय, इससे पात्र भी खण्डित हो जाय इत्यादि दोष लग सकते हैं ।

६. क्षिप्त चित्त– भ्रान्ति वाले चित्त से युक्त व्यक्ति के हाथ से आहार न ग्रहण करे ।

७. दिप्त – किसी बड़े कार्य करने के योग से बहुत हर्षित बने व्यक्ति से आहार आदि नहीं लेना ।

८. यक्षाविष्ट– भूत-प्रेत आदि का जिसमें प्रवेश हुआ हो ऐसे व्यक्ति के हाथ से आहार पानी नहीं लेना चाहिए । वे साधु को अचानक चिपट जाते हैं, पात्र फोड़ दे- इत्यादि दोष का कारण हो सकते हैं ।

९. छिन्नकर– कटे हाथ वाले से आहार लेते समय उससे हाथ में लगे खून, पीब आदि अशुचि पदार्थ से साधु धर्म की निन्दा होती है अथवा हाथ के अभाव के कारण वह अपने शरीर की अशुचि भी साफ नहीं कर सकता इससे उस शरीर का अशुचि पिण्ड में लगता है अथवा उसके हाथ में से देने की वस्तु गिर जाती है इत्यादि दोषों का कारण है ।

१०. छिन्न चरण– कटे पैर वाले के हाथ से भी भिक्षा लेते समय वह गिर जाय आदि दोषों का प्रसंग आता है ।

११. अंधा– नहीं देखने से बहोरने में छह काय की विराधना के दोष का कारण होता है ।

१२. निगडित– हाथ या पैर बेड़ी से बंधन वाले हों, ऐसे व्यक्ति के हाथ से भिक्षा लेते समय उसके गिर जाने या भिक्षा गिर जाना आदि दोष का कारण होता है ।

१३. त्वग्दोषी– चमड़ी के रोग वाला, कोढ़ी आदि के हाथ से लेते समय अशुचि का तथा कोढ़ का चेप रोग लगना आदि का संकट हो सकता है ।

१४. गर्भिणी– गर्भवती स्त्री के हाथ से भिक्षा लेने में उठते बैठते समय उसके गर्भ को पीड़ा होती है ।

१५. बालवत्सा– छोटे बालक वाली स्त्री जब बालक को नीचे रख कर आहार देने की प्रवृत्ति करे तब बालक छोटा होने के कारण उसे बिल्ली आदि क्रूर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीवों से उपद्रव आदि हो सकते हैं ।

१६. कण्डन्ती– ओखली आदि में अनाज कूटते समय सचित दाने, बीज का स्पर्श होता है ।

१७. पेषयन्ती– गेहूं आदि सचित दलते या पत्थर पर घोंटते समय आहार दे तो तथा यदि हाथ धोकर दे तो भी दोष लगता है ।

१८. भुज्जंती– अनाज चने आदि को कड़ाही में सेंकते समय यदि दान दे तो उसमें भी सचित का संघट्टा आदि होता है ।

१९. कर्त्तयन्ती– रुई कात कर सूत बनाते समय आहार दे तो उसके हाथ थूक से लिप्त होते है, यदि धोवे तो 'पुरः कर्म' आदि लगते हैं ।

२०. पिंजती– रूई का पिंजन करते समय आहार दे तो कातने वाले के समान दोष लगता है । इसलिए अव्यक्त से लेकर पिंजन करते तक सर्वदायकों के हाथ से उत्सर्ग मार्ग से भिक्षा नहीं लेनी चाहिए । इस विषय में अब अपवाद मार्ग कहते हैं:–

अपवाद मार्ग – यहां हाथ से आहार देने का विकंल्प समझना अर्थात् यहां एकान्त निषेध नहीं है । गाथा में **'दग माइणो दोस'** का अर्थ यह है कि – ऐसा दायक जब दान दे तब हाथ धोना, आहार नीचे गिर जाना आदि विविध दोष लगने का प्रसंग आता है, वह पहले ही विचार कर लिया । अब उनके हाथ से लेने में अपवाद समझाते हैं । १. बालक यदि प्रमाणोपेत भिक्षा दे या घर के मालिक की उपस्थिति में उसके कहने से वह बहुत भी भिक्षा तो ले सकता है । यह अव्यक्त में जयणा अपवाद है । इसी तरह २. नौकर–चाकर आदि यदि भिक्षा दे तो उसमें भी अव्यक्त के समान ही जयणा समझना । ३. वृद्ध यदि दूसरे की सहायता से भिक्षा दे तो ले सकते हैं । ४. नपुंसक होने पर भी यदि दुराचारी न हो तो उसके हाथ से भिक्षा ले सकते हैं । ५. नशेबाज के हाथ से यदि वह श्रद्धालु हो तो अन्य गृहस्थ की उपस्थिति में भिक्षा ले सकते हैं । ६. चित्त भ्रम वाला ७. दीपी – पागल बना और ८. भूत प्रतादि लगे हों– ये तीनों भी साधु के प्रति यदि पूज्य भाव वाले हों तो उनके हाथ से भिक्षा ले सकते हैं । ९. कटे हाथ वाले से अल्प गृहस्थों की उपस्थिति में भिक्षा ले सकते हैं। १०. पैर कटे के हाथ से थोड़े गृहस्थ के सामने बैठे–बैठे यदि भिक्षा दे तो ले सकते हैं । ११. अंधा भी दूसरे की सहायता प्राप्त करे तो वह अपने हाथ से भिक्षा दे सकता है । १२. पैर–हाथ में बेड़ी बन्धन वाला हो, फिर भी कठोर बन्धन यदि न हो– वह खिसक सकता हो तो उसके हाथ से भिक्षा ले सकते हैं । १३. कोढ आदि रोग गलता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न हो ऐसा चमड़ी के रोग वाले के हाथ से भी आहार ले सकते हैं। १४. आठ महीने तक की गर्भ वाली स्त्री के हाथ से स्थविर कल्प वाले मुनि भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। प्रसूति समय का नौंवा महीना प्रारंभ होने के बाद भिक्षा नहीं ली जाती है। जिन कल्पी आदि का तो चारित्र निरपवाद होने से, जब से गर्भ की उत्पत्ति हो तभी से गर्भिणी के हाथ से आहार आदि का निषेध जान लेते हैं। क्योंकि वे विशिष्ट ज्ञानी होने से उस गर्भवती को प्रारंभ से जान सकते हैं। १५. स्तनपान से ही जीने वाले बालक वाली बाल वत्सा स्त्री के हाथ से स्थविर कल्पी आहार न ले, किन्तु जिन कल्पी आदि तो इससे अधिक बढ़कर– जहां तक बालक बाल्यावस्था वाला माना जाय तब तक उसकी माता के हाथ से भिक्षा नहीं लेते। १६. खांडने वाली स्त्री ने मूसल खांडने के लिए यदि हाथ में लेकर ऊँचा किया हो, और मूसल नीचे सचित दाने आदि में लगा न हो, ऐसे अवसर पर साधु आने से उस मूसल को निरवध स्थान पर रखकर वह स्त्री आहार दे तो ले सकते हैं। १७. दलने वाली या पीसने वाली यदि अचित द्रव्य दलती हो या पीसती हो तो उसके हाथ से ले सकते हैं, सचित द्रव्य यदि पहले डालकर सचित दलन-पीसन कर दिया हो और दूसरा डाला न हो, उस समय साधु के आने पर उठकर भिक्षा दे तो लेना कल्पता है। इसी तरह १८. अनाज को कड़ाही आदि में सेंकने वाली के लिए भी यही जयणा समझना। १९. भोजन करने वाली के हाथ से भी आहार ले सकते हैं यदि उसने बर्तन में से भोजन अभी तक झूठा न किया हो। २०. कातने वाली ने भी यदि मोटा सूत काता हो तो उसके हाथ से भी ले सकते हैं, क्योंकि मोटा सूत कातने पर थूक लगाना नहीं पड़ता, इससे हाथ धोने का समय नहीं आता। २१. रूट उठाने वाली स्त्री के लिए दलने वाली के समान ही यतना समझना। २२. पिंजने वाली स्त्री भी यदि शोचवाद वाली न हो और हाथ धोये बिना ही आहार दे तो लेना कल्पता है। यह दायक के विषय में अपवाद मार्ग कहा, अब मूल गाथा का तीसरा द्वार कहते हैं।

३. **गमन** – बहोरने की भिक्षा लेने के लिए दातार यदि घर-रसोई आदि में प्रवेश करे तो उसकी 'गमन' क्रिया साधु को देखनी चाहिए, क्योंकि अजयणा से दातार नीचे जमीन पर छह काय जीवों की, ऊंचे वृक्ष का डाली आदि की विराधना या तिर्यग् दिशा में छोटे बालक आदि संघटा-स्पर्श यदि करता हो, तो साधु के लिए संयम विराधना होती है और दातार को भी यदि सर्प आदि डंक मार दे तो आत्म विराधना (मृत्यु) होती है, इसलिए इस प्रकार अजयणा से गमन करने वाले के पास से भिक्षा नहीं लेनी चाहिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. ग्रहण – जहां से भिक्षा का पदार्थ दातार बहोराने के लिए ग्रहण करे, वह 'ग्रहण' स्थान कहलाता है। साधु को उसे देखना चाहिए। यदि दरवाजा छोटा-नीचा होने से, किवाड़ बंद होने से अथवा दाता के शरीर का अन्तर रुकावट होने से उसे ग्रहण करते नहीं देखता हो तो ऐसी भिक्षा उत्सर्ग मार्ग से नहीं लेनी चाहिए। अपवाद मार्ग से तो ग्रहण क्रिया न दिखे फिर भी स्थविर कल्प वाले मुनि श्रवण आदि इन्द्रियों द्वारा उपयोग देकर – ख्याल रखकर दोष को जान सकते हैं। जैसे कि – गृहस्थ आहारादि ग्रहण करते हाथ या पात्र धोवे तो कान से पानी का 'फल-फल' शब्द सुनने से और विकलेन्द्रिय-तेइन्द्रियादि जीव यदि कुचलते हों, तो गंध से जान सकते हैं, और जहां गंध हो, वहां रस भी हो इसलिए रस द्वारा भी जान ले, पानी का बिन्दु आदि उछलकर शरीर से लगते समय स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा भी जान सकते हैं, और नेत्र से तो दाता का गमन, आगमन या ले आये गई वस्तु हाथ, पात्र आदि को कुछ पानी या पृथ्वी इत्यादि लगे हों उन सब को देख सकता है। इस तरह इन्द्रियों के द्वारा उपयोग करके यदि पुरः कर्मादि दोष की शंका न रहे तो भिक्षा ग्रहण करे।

५. आगमन – आहार देने की वस्तु लेकर साधु के सन्मुख यदि दातार आये तो उस दातार का 'आगमन' भी साधु को देख लेना चाहिए। इसमें भी गमन के समान विवेक समझना चाहिए।

६. पत्त – प्राप्त अथवा पात्र। उसमें जो गृहस्थ अपने नजदीक आहार देने आये, वह प्राप्त कहलाता है। उसके हाथ पानी से गीले हैं या नहीं ? इत्यादि देखना और पात्र अर्थात् गृहस्थ जिसमें आहार लाया हो उस पात्र को ऊपर से, नीचे से और दूसरी ओर से देखना अथवा पात्र यानि 'भिक्षा की वस्तु उस जीव से संसक्त है या असंसक्त' इत्यादि देखना। यहां वत्स और पुत्रवधू का दृष्टान्त समझना। जैसे कि – किसी एक बनिये के घर गाय का बछड़ा था। एक दिन उसके घर बहुत सारे महेमान आने से भोजन का कार्यक्रम था इससे बछड़े को कोई चारा पानी नहीं दे सका। सभी अपने काम में व्यस्त थे। इस तरह मध्याह्न काल हो गया। भूखा बछड़ा रंभाने लगा, उसे सुनकर सेठ की पुत्रवधू ने, जिसने बहुत मूल्यवान आभूषण-अलंकार धारण किये थे, उसने बछड़े को चारा पानी खिलाया। उस समय बछड़े की दृष्टि केवल चारा पानी में ही थी, पुत्रवधू के रूप या वस्त्रालंकार की ओर न थी। वैसे ही साधु को पात्र या पिंड का ही सदोष-निर्दोष देखना चाहिए। परन्तु दान देने वाले के रूप रंग या आभूषण की ओर लक्ष्य न रखे।

७. परावर्तित – जो गृहस्थ आहार देने का पात्र उलटा करे, उसे 'परावर्तित'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहते हैं। उसे साधु को देखना चाहिए, यदि वह पानी वाला अथवा त्रसजीव युक्त हो तो उससे आहार नहीं लेना चाहिए।

८. पातित – साधु द्वारा अपने पात्र में 'पातित' पड़े हुए पिण्ड = अशनादि आहार को देखना। वह चावल या चूरा पदार्थ चूरमा आदि स्वाभाविक है या सेके हुए जौं-चने आदि का आटा अथवा मूंग के आटे के बने लड्डू आदि कृत्रिम है– इस बात का विचार करना। यदि लड्डू आदि कृत्रिम बना हो तो उसे तोड़वा कर देखना, यदि न देखे और दाता ने साधु के प्रति द्वेषादि कारण से उसमें रत्न-अंगूठी आदि रखकर वह लड्डू आदि बनाया हो, तो वह अंखड लेने से बाद में साधु के ऊपर चोरी का कंलक आने की संभावना से संयम विराधना और राजदण्ड आदि होने से आत्म विराधना भी होती है, अत: कृत्रिम पिण्ड-आहार तोड़वा कर ही लेना चाहिए। जिससे दोष का कारण न बने।

९. गुरुक – गृहस्थ के आहार देने का पात्र या उसके ऊपर ढक्कन आदि बहुत भारी हो तो वह 'गुरुक' कहलाता है। ऐसा भारी उठाने में या नीचे रखने में दाता की कमर तोड़ दे अथवा गिर जाने से पैर पर चोट लग जाये– इससे साधु का हलकापन भी होता है, इसलिए ऐसे भार वाले पात्र से आहार नहीं लेना चाहिए। परन्तु सरलता से दे सके ऐसे पात्र से लेना चाहिए।

१०. तिहा – तीन प्रकार से – इसमें काल, दातार आदि का तीन प्रकार से ख्याल करना चाहिए। उसमें १. ग्रीष्म, हेमन्त और वर्षा ऋतु ये तीन प्रकार के काल और २. स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक ये तीन दाता भी तीन प्रकार के होते हैं, उसमें स्त्री उष्ण, पुरुष मध्यम और नपुंसक शीतल जानना। ३. 'पुर: कर्म, उदकार्द्र और सस्निग्ध– इस तरह पुर: कर्म के तीन भेद जानना। उसमें भिक्षा देने से पहले हाथ, पात्र आदि धोना, यह 'पुर:कर्म' कहलाता है। हाथ, पात्र आदि से पानी के बिन्दु गिरते हों, वह 'उदकार्द्र' कहलाता है। और बिन्दु रहित होने पर भी यदि हाथ-पात्र गीले हों वह 'सस्निग्ध' समझना। इन तीन के भी सचित, अचित और मिश्र– इस तरह तीन भेद होते हैं। उसमें पुर:कर्म और उदकार्द्र ये दो तो सचित, अचित या मिश्र किसी भी प्रकार के होते हैं, फिर भी उसके हाथ आदि से बहोराया नहीं जाता। इसलिए तीसरे सस्निग्ध के विषय में यहां यह समझते हैं कि इसमें भी अचित से सस्निग्ध हो उसके हाथ से भिक्षा ली जाती है, इसलिए उसमें कुछ भी कहने की विशेष बात नहीं है। केवल सचित या मिश्र से सस्निग्ध हो तो उसके विषय में विशेष रूप से समझना है, वह इस तरह-हाथ सस्निग्ध हो तो वे हाथ १. कुछ भीने हों,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. कुछ सूखे हों और ३. कुछ सूखे न हों, इस तरह तीन प्रकार के होते हैं। ऐसे हाथ से एक-एक सूखे हुए भाग की वृद्धि से पूर्वानुपूर्वी से, अथवा एक-एक सूखे हुए भाग की हानि से पश्चानुपूर्वी से ग्रहण करना। यह एक-एक भाग की हानि-वृद्धि स्त्री, पुरुष और नपुंसक के हाथ का नीचे-ऊँचे, और ऊँचे विभाग के आश्रय से करनी चाहिये। वह इस रीति से-अंगुलियों के पर्व के बीच की तीन रेखाएं, वह नीचे भाग, अंगुलियों के पूव ऊँचे विभाग और हथेली के नीचे-ऊँचे (मध्य) भाग समझना। उसमें तीन पर्व, तीन उनके ऊपर नीचे की रेखाएँ और एक हथेली को मिलाकर कुल सात भाग की कल्पना करना। जितने समय में ऊँचे का भाग (पर्व) सूख जाय, उतने समय में मध्यम भाग-हथेली कुछ गीली और नीचे का भाग इससे विशेष गीला होता है, इस तरह कुछ सूखे भाग की वृद्धि होते हुए जिस ऋतु में जिसके हाथ से आहारादि ले सके, उसे कहते हैं-

युवती स्त्री के हाथ का ऊँचा एक भाग जब एक पर्व सूख जाय, तब ऊष्ण काल में उसके हाथ से आहार ले सकते हैं, क्योंकि-स्त्री के हाथ की ऊष्णता और काल भी ऊष्ण होने से जितने में ऊँचा एक भाग (पर्व) सूख जाता है उतने में शेष दो ऊँचे, एक मध्यम और तीन नीचे के भाग भीने होने पर ऊष्णता से अचित बने होते हैं। हेमन्त ऋतु-ठंडी में युवती स्त्री के दो सात अर्थात् पूर्व रूप दो ऊँचे भाग जब सूख जायें तब और वर्षा ऋतु में तीन सात ऊँचे भाग अर्थात् जब तीन पर्व सूख जायें तब उसके हाथ से भिक्षा ले सकते हैं। मध्यम वय वाली स्त्री के हाथ से ऊष्ण काल में दो ऊँचे भाग, शीतल काल में तीन ऊँचे भाग और वर्षा काल में चार सात तीन-तीन पर्व और हथेली सूख जायें तब भिक्षादि ले सकते हैं। इसी तरह वृद्ध स्त्री के ऊष्ण काल में तीन ऊँचे पर्व, शीतल काल में तीन ऊँचे पर्व और एक मध्य हथेली मिलकर चार और वर्षा काल में एक नीचे का भाग पर्व रेखा सहित कुल पांच भाग जब सूख जायें तब शेष भीने भी भाग अचित होते हैं, इसलिए आहार ले सकते हैं।

इस क्रम से सामान्यतया तीन प्रकार के पुरुष की अपेक्षा से दो भाग से लेकर छह भाग जब सूख जायें, तब आहार ले सकते हैं। जैसे कि-युवा के हाथ से ऊष्ण काल में उसके हाथ के दो ऊँचे भाग (दो पर्व), शीतल काल में तीन ऊँचे भाग (तीन पर्व) और वर्षा काल में चार सातवें भाग (तीन पर्व और हथेली) जब सूख जायें, तब भिक्षा ले सकते हैं, मध्यम वय वाले पुरुष के ऊष्ण काल में तीन भाग (पर्व) शीतल काल में चार भाग (तीन पर्व और साथ में हथेली) और वर्षा काल में पांच भाग (तीन पर्व, हथेली और एक पर्व रेखा) जब सूख जायें, तब भिक्षा ले सकते हैं। जब वृद्ध पुरुष के हाथ से ऊष्ण काल में चार भाग (तीन पर्व और हथेली),

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शीतल काल में पांच भाग (तीन पर्व, हथेली और एक पर्व रेखा) तथा वर्षा काल में छह भाग (तीन पर्व, हथेली और दो पर्व रेखा) सूख जायें उस समय भिक्षा ले सकते हैं ।

नपुंसक के तीन प्रकार की अपेक्षा से तीन भाग द्वारा आरंभ कर सात भाग तक जब सूख जायें, तब आहार ले सकते हैं । जैसे कि - युवा नपुंसक के हाथ के ऊष्ण काल में तीन भाग (पर्व), शीतल काल में चार भाग (तीन पर्व तथा हथेली) और वर्षा काल में पांच भाग (तीन पर्व, हथेली और एक पर्व रेखा) जब सूख जायें, उस समय आहार ले सकते हैं । मध्यम वय के नपुंसक के हाथ के ऊष्ण काल में चार भाग (तीन पर्व और हथेली), शीतल काल में पांच भाग (तीन पर्व, हथेली और एक पर्व रेखा) और वर्षा काल में छह भाग (तीन पर्व, हथेली और दो पर्व रेखा) जब सूख जायें तब भिक्षा ले सकते हैं, और वृद्ध नपुंसक के हाथ से ऊष्ण काल में उसके हाथ के पांच भाग (तीन पर्व, हथेली और एक पर्व रेखा), शीतल काल में छह भाग (तीन पर्व, हथेली और दो पर्व रेखायें तथा वर्षा काल में सात भाग (सम्पूर्ण हाथ) जब सूख जाय उस समय भिक्षा ले सकते हैं । इस न्याय से सब से ज्यादा ऊष्णता युवती स्त्री के शरीर में, इससे कम मध्यम स्त्री और युवा पुरुष में, इससे कम वृद्धा स्त्री, मध्यम वय के पुरुष और युवा नपुंसक में, इससे कम वृद्ध पुरूष और मध्यम वय के नपुंसक में और इससे कम वृद्ध नपुंसक में समझना ।

११. भाव - अर्थात् अध्यवसाय । आहार लेने में मलिन - अप्रशस्त भाव नहीं करना, परन्तु निर्मल-प्रशस्त भाव रखना । उसमें अप्रशस्त भाव उसे गिना जाता है कि जो शरीर के वर्ण-बल-स्वाद आदि के लिए आहार लिया हो । आचार्य, बाल, वृद्ध या बीमार साधु के लिए आहार ले तो वह भाव अप्रशस्त नहीं है, इसके विपरीत आचार्य आदि के लिए आहारादि जो साधु लेते हैं, वे साधु तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, गुण के पात्र, महा भाग्यवान् कहलाते हैं ।

इस तरह ग्यारह द्वार से ग्रहणैषणा का विचार किया गया । आहार के विषय में और पानी के विषय में इस ग्रहणैषणा के - १. असंसृष्टा, २. संसृष्टा, ३. उद्धता, ४. अल्पलेपा, ५. अवगृहीता, ६. प्रगृहीता और ७. उज्झित धर्मा- ये सात प्रकार हैं। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह अप्प लेविया चेव ।
उग्गहिआ पग्गहिआ उज्झिअधम्मा उ सत्तमिआ ॥७३६॥

अर्थात् "१. असंसृष्टा, २. संसृष्टा, ३. उद्धता, ४. अल्प लेपा, ५. उद्गृहीता (अवगृहीता), ६. प्रगृहीता और ७. उज्झित धर्मा- इस तरह सात ऐषणाए हैं ।" इसमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पहली के बाद दूसरी ऐषणा विशेष शुद्ध होने के कारण यह क्रम दिया है। मूल गाथा में 'संसट्ठ' शब्द छंदोभंग निवारण के लिए प्रथम कहा गया है।

यहां आहार आदि लेने की ऐषणा (लेने के भेद) सात कहे हैं। इनका वर्णन क्रमशः इस प्रकार समझना चाहिए –

१. **असंसृष्टा** – गृहस्थ के जिस हाथ और पात्र से आहार ले वह लिप्त न हो और बहोरने की वस्तु गृहस्थ के पात्र से सम्पूर्ण खाली न हो– इस तरह लेना अर्थात् कम लेना चाहिए, वह असंसृष्टा भिक्षा कहलाती है। उसमें सम्पूर्ण द्रव्य-आहार लेने से पश्चात् कर्म (बाद में हाथ, पात्र धोने के कारण) लगता है। गच्छ में बाल, वृद्ध-असहिष्णु, बीमार आदि साधुओं के लिए विशेष कारण से लेना पड़े तो गच्छवासी साधुओं को उसका निषेध नहीं है। इसलिए ही सूत्र में उस विषय में विचार किया ही नहीं है।

२. **संसृष्टा** – लिप्त हाथ और पात्र से भिक्षा ले सकते हैं इसमें संसृष्ट या असंसृष्ट हाथ और पात्र तथा सम्पूर्ण या असंपूर्ण आहार लेने के योग से आठ भाग होते हैं। इसका कोष्ठक पहले पृष्ठ ..... पर दिया गया है। उस कोष्ठक का आठवां भाग जिसमें कि संसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र और सावशेष द्रव्य कहा है, वह गच्छ से निरपेक्ष जिन कल्पिक, परिहार विशुद्धिक आदि साधु को कल्पनीय है। गच्छ-वासियों को तो आहार की दुर्लभता से सूत्र अर्थ को पढ़ने आदि में हानि होती है, इत्यादि कारणों से शेष भाग वाले भी आहार कल्पते हैं।

३. **उद्धृता** – गृहस्थ द्वारा अपने प्रयोजन से मूल पात्र में से अन्य पात्र में निकाला हुआ आहार उद्धृत कहलाता है और उसे लेने वाले साधु की भिक्षा 'उद्धृता' कहलाती है।

४. **अल्प लेपा** – इसमें 'अल्प' शब्द अभाववाचक होने के अर्थ में जिससे पात्रादि को लेप न लगे ऐसे निरस दाल, चने आदि पदार्थ लेना– उस भिक्षा को अथवा जिसमें 'पश्चात् कर्म' आदि आरंभ जन्य लेप अर्थात् कर्मों का बंधन अल्प हो– उस भिक्षा को 'अल्प लेपा' समझना। आचारंग सूत्र के द्वितीय श्रुत स्कंध की प्रथम चूलिका सूत्र ६२ में कहा है कि– **अस्सिं खलु पडिग्गहि यंसि अप्पे पज्ज वजाए।'** अर्थात् निश्चयपूर्वक ऐसा आहार ग्रहण करने में अल्प मात्र पश्चात् कर्म और अल्प मात्र पर्याय जात होता है। इस आहार को आचारांग सूत्र में पोंख (सेंका हुआ अनाज) आदि बताया है और 'अल्प पर्याय जात' अर्थात् छिलके आदि जिसमें अंश अल्प

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मात्र त्याग करने योग्य हो- ऐसा अर्थ किया गया है । तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु से पात्र को लेप न लगे या अल्प लगे, उसे साफ करने में बहुत पानी का उपयोग न हो, दाल, चने, सेंका हुआ पोंख आदि अनाज वस्तु लेना- उस भिक्षा को 'अल्पलेपा' कहते हैं ।

५. अवगृहीता - भोजन के समय थाली, कटोरी आदि में निकाल कर भोजन करने के लिए दिया हो, उस आहार को बहोराने वाले साधु की भिक्षा को 'अवगृहीता' कहा जाता है ।

६. प्रगृहीता - भोजन के समय खाने के लिये बैठे हुए किसी को परोसने के लिए परोसने वाले ने मूल भोजन में से चमच आदि से निकाला हो, वह भोजन करने वाले ने भोजनार्थ में प्रयोग न करके साधु को आहार देने में अथवा भोजन करने वाले ने स्वयं खाने के लिए भोजन के थाल में से स्वयं हाथ में लिया हो वह स्वयं बहोरावे तो उसका अशनादि लेने वाले साधु की भिक्षा 'प्रगृहीता' कहलाती है ।

७. उज्झित धर्मा - गृहस्थ के लिए निरुपयोगी- त्याग करने योग्य हो, उस पिण्ड को लेने वाले साधु की भिक्षा को 'उज्झित धर्मा' कहते हैं ।

भिक्षा के उपरोक्त सात प्रकारों में 'संसृष्ट-असंसृष्ट, पात्र-हाथ और सावशेष, निरवशेष द्रव्य, के योग से अष्टभंगी होती है । इसमें केवल चौथी भिक्षा अलेप-अल्पलेपा में लिप्त वर्तन न होने से यह अष्टभंगी नहीं घटती- यह भिन्न समझना। पानैषणा अलग कहने से पिण्ड शब्द का अर्थ यहां केवल भोजन समझना। सात पानैषणा भी पिंडैषणा के समान ही समझना । केवल चौथे में यह भेद है कि-कांजी का पानी, ओसामण, गरम पानी, चावल के धोवण आदि का पानी अलेपकृत और शेष गन्ने का रस, द्राक्ष का पानी, इमली का पानी आदि लेपकृत समझना । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

पाणेसणावि एवं, नरवि चउत्थीइ होइ नाणत्तं ।
सोवीराया माइं जमले वाडत्ति समओत्ति (युत्ती) ॥७४४॥

अर्थात् "इसी तरह पानैषणा भी असंसृष्टादि सात प्रकार की समझना । केवल चौथ अल्प लेपा में भेद है, क्योंकि 'कांजी-ओसामण आदि अलेपकृत हैं' इस तरह शास्त्र में कहा है । गन्ने का रस आदि शेष पानी लेपकृत हैं । उसे उपयोग करने से साधु को कर्म का लेप (बंधन) होता है ।" उपर्युक्त पानी में यदि किसी प्रकार का पानी न मिले, तो वर्णादि बदल जाने से अचित हुआ पानी भी ले सकते हैं । यति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिनचर्या में कहा है कि–

गिण्हिज्ज आर नालं अहवा धोवण तिदंड उक्कलिअं ।
वन्नंतराइपत्तं, फासुअसलिलंपि तय भावे ॥२२४॥

अर्थात् "साधु दातार से कांजी अथवा इमली का पानी, धोवण का पानी और तीन उकाले से उकाला हुआ अचित पानी और इसके अभाव में वर्ण-गंधादि बदल गया हो ऐसा भी अचित पानी ले सकते हैं ।"

यह पानी सम्बन्धी ऐषणा बतलाई गई है । अब पहले कहे गये शुद्ध पिण्ड भी शय्यातर का नहीं लेना चाहिए । उसमें 'शय्या' अर्थात् वसति = मकान, वह साधु को उतरने-रहने के लिए देना, जिसके द्वारा जो संसार से तरते हैं, वह शय्या+तर= शय्यातर कहलाता है अर्थात् जिसके मकान में साधु रहे उस मकान का मालिक । उसके दो भेद होते हैं– एक तो स्वयं मकान मालिक और दूसरा मालिक के आदेश से मकान की सार संभाल करने वाले ट्रस्टी वर्ग आदि । इन दो में भी किसी मकान का मालिक एक और किसी के अनेक होते हैं तथा मालिक के कहने से सार संभाल करने वाले ट्रस्टी भी किसी मकान का एक और किसी के अनेक होते हैं, इसलिए दो के एक-अनेक इस तरह दो भेद हुए, वह इस तरह - १. मालिक एक- सार संभाल वाला एक, २. मालिक एक-सार संभाल वाले अनेक, ३. मालिक अनेक- सार संभाल वाला एक, और ४. मालिक अनेक को सार संभाल वाले भी अनेक । इस तरह चार विभाग होते हैं । उन सब में साधु को उत्सर्ग से तो उन सभी प्रकार के मालिक का बारह प्रकार का पिण्ड त्याग करना चाहिए । इस तरह करते यदि निर्वाह न हो तो अपवाद से प्रतिदिन उनमें से एक-एक तो अवश्य त्याग करना चाहिए । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि–

सागारिय संदिट्ठे, एग मणेगे चउक्कभयणा उ ।
एग मणेगे वज्जा, णेगेसु अ ठावए एगं ॥८०१॥

अर्थात् "यह गाथा निशीथ भाष्य में ११४५ वीं वृहत्कल्प भाष्य के अन्दर ३५२६ में भी आई है कि- साधु के उपाश्रय का मालिक और सार संभाल करने वाले एक-एक अथवा अनेक भी हों, इससे उसकी चतुर्भंगी होती है (उत्सर्ग से) । वह चतुर्भंगी एक या अनेक (सर्व) का पिण्ड त्याग करना और अपवाद से अनेक में से किसी एक का ही शय्यातर निश्चय करना और उसका पिण्ड का त्याग करना। तात्पर्य यह है कि - बहुत मालिकों वाला मकान उतरने को मिला हो, वहां साधु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के आचार को समझने वाला श्रावक विनती करे कि- 'हमारे में से कोई एक श्रावक घर का त्याग करे, सब त्याग न करें तो एक का शय्यातर छोड़ कर शेष के घरों में से भिक्षा ले, अथवा वहां साधु बहुत हों फिर भी सभी साधुओं का निर्वाह यदि होता हो तो सभी साधु मकान मालिक का या सार- संभाल करने वालों का शय्यातर रूप में त्याग करे ।

शय्यातर बारह प्रकार का पिण्ड होता है- उन सबका त्याग करने के लिए कहा गया है १. अशन, २. पान, ३. खादिम, ४. स्वादिम, ५. पाद प्रोच्छन (रजोहरण), ६. वस्त्र, ७. पात्र, ८. कंबल, ९. सुई, १०. धूरिका (मुंडन के लिए अस्त्र), ११. कान की शोधन की शली और १२. नख काटने वाला । यति दिनचर्या में कहा है कि-

असणाईआ चउरी, पाउंछण वत्थपत्त कंबलयं ।
सूई छुरि कन्न सोहण, नहरणिया सागरिय पिण्डो ॥१८६॥

अर्थात् ''अशनादि चार पाद प्रोच्छन, वस्त्र, पात्र, कम्बल सुई, छुरिका, कर्ण शोधन और नख रदनी, ये बाहर शय्यातर के पिण्ड साधु को नहीं लेने चाहिएं ।'' तृण-ईंट पत्थर आदि वस्तु तो शय्यातर की भी कल्प सकती है । यति दिनचर्या में कहा है-

तण डगल छार मल्लग सिज्जा संथारपीठ लेवाई ।
सिज्जायर पिंडो सो, न होई सेहो वि सोवहि ओ ॥१८७॥

अर्थात् ''१. तृण - संथारे के लिए धान आदि का घास, २. डगल- शरीर शुद्धि के लिए उपयोगी ईंट, मिट्टी, पत्थर आदि के टुकड़े, ३. भस्म = राख, ४. मात्रक = प्याला आदि, ५. शय्या - शयन के लिए पाट-तख्ता आदि, ६ शंथारा- छोटा तख्ता, ७. पीठ- सहारा लेने लिए तख्ता, ८. लेपादि- औषध या पात्र के लिए लेप आदि, और ९. उसके ही घर में से कोई वस्त्र पात्र आदि उपधि सहित भी दीक्षा लेने के लिए आया शिष्य । इतनी वस्तुएं शय्यातर पिण्ड त्याग के रूप में नहीं गिना जाता, अर्थात् ये सब उसके घर से ले सकते हैं ।

यदि किसी अवसर पर समुदाय आदि के साथ में विहार करने का योग हो और पराधीनता के कारण किसी एक गांव या स्थान में सोये और सुबह का प्रतिक्रमण अन्य स्थान पर जाकर करे, तो दोनों स्थान के मालिक शय्यातर होते हैं, परन्तु यदि समग्र रात्रि जागते रहें और समुदाय आदि संगत की पराधीनता से अथवा चारों आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के भय से प्रतिक्रमण अन्य स्थान पर जाकर करे तो पहले मकान का मालिक शय्यातर नहीं गिना जाता है, परन्तु प्रतिक्रमण जहाँ किया हो वही घर शय्यातर गिना जाता है। यदि गिनती में बहुत साधु होने से अनेक मकानों में एक ही गच्छ के साधु उतरे हों तो जिस मकान में गच्छाधिपति रहे उस मकान का मालिक शय्यातर गिना जाता है, अन्य मकान वाला नहीं गिना जाता। ऐसा प्रवचन सारोद्धार गाथा ८०३ में कहा गया है। यदि मकान मालिक साधु को उतारकर दूर देशान्तर चला गया हो तो शय्यातर वही माना जाता है। निशीथ भाष्य गाथा ११६३ तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि –

दाऊण गेहं तु सपुत्त दारो, वणिज्ज माईहि उ कारणेहिं।
तं चेव अन्नं व वइज्ज देसं, सिज्जायरो तत्थ स एव होई ॥८०४॥

अर्थात् "यदि कोई गृहस्थ अपने घर साधु को उतरने का स्थान देकर व्यापारादि प्रयोजन के लिए अपने पुत्र, स्त्री आदि सारे परिवार के साथ उस देश से दूर अन्य गांव या अन्य देश में जाय तो भी शय्यातर वही गिना जाता है।" तथा किसी अन्य मकान में साधु केवल वेशधारी हों, शय्यातर पिंड छोड़ते हों या नहीं छोड़ते हों, फिर भी सुसाधु के शय्यातर के समान उसके शय्यातर का पिंड भी साधु अवश्य छोड़े। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि –

लिंगत्थस्स वि वज्जो, तं परिहरओ व भुंजओ वा वि।
जुत्तस्स अजुत्तस्स व, रसावणे तत्थ दिट्ठंतो ॥८०५॥

अर्थात् "शय्यातर पिंड का त्यागी या भोगी भी जो केवल वेशधारी साधु हो, उसके शय्यातर का भी पिण्ड नहीं लेना चाहिए, चाहे फिर वह साधु साधुता से युक्त हो अथवा अयुक्त हो, परन्तु उसके शय्यातर का त्याग अवश्य करना चाहिए। इस विषय में रस (शराबी) की दुकान का दृष्टान्त समझना।" जैसे अनेक देशों में शराब की दुकान के ऊपर चाहे दुकान में शराब हो अथवा उस समय न हो फिर भी, शराब की दुकान के संकेत के लिए ध्वज बांधते हैं। उसे देखकर जैसे याचक 'यहां शराब है' ऐसा समझकर उस दुकान को छोड़ देते हैं, वैसे ही कोई साधु साधुता से युक्त हो या अयुक्त हो परन्तु रजोहरण रूप साधुता की निशानी देखकर उसे साधु ही माना जाता है, होने से उसके शय्यातर का त्याग करना चाहिए। ऐसा प्रवचन सारोद्धार गाथा ८६४ की टीका में आया है।

यहां शय्यातर एक अहोरात तक गिना जाता है, उसके बाद नहीं। कहा है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि - "पुच्छे (वुत्थे) वज्जेज्जऽ होरत्त ति" अर्थात् - "साधु जिस स्थान में रहे हों, उस स्थान से जिस दिन जिस समय विहार कर जायें उस समय से दूसरे दिन के उसी समय तक उसका पिण्ड त्याग करे।" बीमारी आदि विशेष कारण से तो शय्यातर का भी पिण्ड ले सकते हैं। प्रवचन सारोद्धार की गाथा ८०८ की टीका में कहा है कि -'जब बीमारी आगाढ़ - भय रूप न हो तब तो तीन बार गांव में बीमार के योग्य वस्तु की गवेषणा करने पर भी यदि वह न मिले तो वह शय्यातर के यहां से ले सकते हैं, और यदि बीमारी प्रगाढ़ जोर की हो तो उसी समय वहां से ले सकते हैं। शय्यातर बहुत आग्रह से यदि निमंत्रण करे तो एक बार वहां से बहोर ले, फिर बहोरने का प्रसंग न आने दे (शय्यातर को फिर समझा दे) तथा आचार्य के योग्य क्षीर आदि विशिष्ट द्रव्य यदि दूसरे स्थान से मिलना दुर्लभ हो तो, अथवा व्यन्तरी- भूत प्रेत आदि का उपद्रव हुआ हो तो, दुष्काल के कारण यदि आहार न मिलता हो तो, राजा ने साधु को दान नहीं देने का आदेश दिया हो तो, गुप्त रूप में और चोर आदि के उपद्रव के कारण बाहर आहार लेने न जाया जाता हो तो- इत्यादि कारणों से शय्यातर का पिंड भी ले सकते हैं।

आठ प्रकार के राजपिण्ड का त्याग करना चाहिए। यति दिनचर्या में कहा है कि -

असणाई आ चउरो, पाउंछण वत्थ पत्तत्कंबलयं ।
पुरपच्छिमाण वज्जो, अट्ठ विहो राय पिंडो उ ॥१६०॥

अर्थात् " अशन, पान, खादिम और स्वादिम- ये चार, पाद प्रोच्छन, वस्त्र, पात्र और कम्बल- ये चार, इस प्रकार आठ जाति का राजपिण्ड प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन के साधुओं ने त्याग करे।" इस तरह विशुद्ध आहार का उपयोग करते हुए भी मूर्च्छा के अभाव में साधु को हमेशा उपवास का फल प्राप्त होता है। यति दिनचर्या में कहा है कि -

निरवज्जा हारेणं, साहूणं निच्चमेव उववासो ।
देसूण पुत्व कोडिं (पि), पालयं ताण सामन्नं ॥१८२॥

अर्थात् " कुछ कम पूर्व करोड़ वर्ष तक भी निरवध दोष रहित- आहार लेने वाले भी शुद्ध चारित्र का पालन करते साधु नित्य उपवासी होते हैं।" साधु धर्म में आहार शुद्धि बहुत ही दुर्लभ है, इसलिए उसमें दृढ़तापूर्वक प्रयत्नशील रहना चाहिए। यति दिनचर्या में कहा है कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आहरे खलु सुद्धी, दुलहा समणाण समण धम्मंमि ।
वव हारे पुण सुद्धी, गिहि धम्मे दुक्करा भणिआ ॥ १८० ॥

अर्थात् '' निश्चय रूप में साधु को साधु धर्म में आहार शुद्धि दुर्लभ है और गृहस्थ को गृहस्थ धर्म में व्यवहार शुद्धि दुष्कर कही गई है ।''

इस प्रकार से निर्दोष - शुद्ध आहार प्राप्तकर तीन कारणों से उपाश्रय में आये बिना ही, वहां गांव के बाहर अथवा योग्य स्थान पर ही प्रथम भोजन करे । ऐसी जिनाज्ञा है । वह तीन कारण लिखते हैं कि - १. ऊष्ण काल हो इससे क्षुधाप्यास का कारण हो, २. संघाटक - साथ के साथी सहनशील न हों इससे उनमें उपाश्रय में पहुंचने की शक्ति - धैर्य न हो, और ३ - उपवासी हों, इससे अशक्य बने हों। कहा है कि '' **पुरिसे काले खवगे (मणे) पठमालिअ तीसु ठाणे सु**'' (ओध निर्युक्ति २५०) । अर्थात् ''पुरुष (साधु) यदि असहनशील हो, काल से गरमी हो या तपस्वी हो तो वह तीन कारणों से प्रथम भोजन कर सकता है ।

उसमें विधि इस प्रकार है - भिक्षा का समय यदि न हुआ हो, उसके पहले आहार की आवश्यकता हो तो पहले दिन का भी अन्न ग्रहण करके, जघन्य से तीन और उत्कृष्ट से पांच कोर से अथवा पांच घर की भिक्षा से जितना मिला हो, उसमें से अन्य पात्र में अलग करके या एक हाथ में लेकर प्रथम भोजन करे । गुरु के लिए तो एक पात्र में उनके योग्य आहार और दूसरे पात्र में संसक्त पानी पहले से अलग कर रखे । इस तरह भी क्षेत्र - काल आदि से अति क्रान्त बना, दूषित न हो वही आहार लेने में उपयोग ले, परन्तु क्षेत्राति क्रान्तादि दोष वाला आहार उपयोग न करे, क्यो वह साधु के लिए अकल्पनीय कहा गया है । प्रवचन सारोद्धार में कहा कि -

जमणुग्गए रबिं मि, अताव खेत्तं मि गहि अमसणाइ ।
कप्पइ न तमु बभोत्तुं, खित्ताई यति समउत्ती ॥८११॥

असणाई अ कप्पइ, कोस दुगब्भंतराउ आणेउं ।
परओ आणिज्जंतं, मग्गाई अंति तम कप्पं ॥८१२॥

पढमप्पह राणी अं, असणाइ जईण कप्पए भोत्तुं ।
जाव तिजाये उड्ढं तम कप्पं काल इक्कं तं ॥८१३॥

अर्थात् ''जो अशनादि सूर्योदय के पहले लिया हो वह 'क्षेत्रातीत ' होने से साधु को खाना पीना नहीं कल्पता इस तरह शास्त्र वचन है ॥ ८११ ॥ दो कोस दूर तक गांव के अन्दर से लाया हुआ अशनादि साधु को कल्पता है, इससे अधिक दूर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से लाया हुआ 'मार्गातीत' होने से अकल्पनीय है ॥८१२॥ पहले प्रहर में लाया हुआ अशनादि, जब तक साधु को दिन का तीसरा पहर पूर्ण न हो तब तक ले सकते हैं, उसके बाद वह 'कालातीत' होने से वह अकल्पनीय है ॥८१३॥" इस तरह यहां तक पिंड विशुद्धि का प्रतिपादन किया गया है। प्रवाही होने पर भी पानी को भी सिद्धान्त की परिभाषा में पिण्ड कहा जाता है। इसके लिए यति दिनचर्या में कहा है कि -

पिंडो देहो भन्नइ, तस्सयऽवट्टं भकारणं दव्वं ।
एगंमणेगं पिंडं, समयपसिद्धं विआण हि ॥१८५॥

अर्थात् "पिंड शब्द का अर्थ देह-काया होता है, और उसको आधार देने वाले कारण रूप द्रव्यों को भी कारण में कार्य के उपचार से पिण्ड कहा जाता है। वह पिंड सिद्धान्त की परिभाषा से अशन, पान, खादिम आदि अनेक प्रकार के होते हैं - यह जानना चाहिए।"

अब शय्या - वसति - मकान की शुद्धि बताते हैं। वह शुद्धि दो प्रकार की है- एक मूल गुण शुद्धि और दूसरी उत्तर गुण शुद्धि। उसमें एक घर का पृष्टवंश (मकान का आधारभूत), मध्य तिरछा लकड़े दो धारण करने वाला खड़ा खंभा और चारों तरफ मूल बल्ली, एक, एक स्तंभ के साथ में जोड़ा हुआ, दो तरफ दो दो हों- वह साता घर का मूल आधारभूत होने से मूल गुण वाला कहलाता है। जो मकान गृहस्थ ने अपने लिए बनाया हो वह वसति मूल गुण शुद्ध कहलाता है। यति दिनचर्या में कहा है कि -

पिट्ठी वसों दो धारणाओ, चत्तारि मूल वेलीओ ।
मूल गुणेहि विशुद्धा, साहूण अहा गडा वसही ॥१६१॥

अर्थात् "पृष्टवशं (मकान का आधारभूत), उसके नीचे के दो स्तंभ और बड़ेर के साथ जोड़े दो, अन्त में दो दो ओर की चार मूल बल्ली- ये सात मूल गुण दोष से दूषित वसति साधु के लिए आध कर्मिक कहा है।"

उत्तर गुण के मूल और उत्तर दो भेद हैं। १ - ऊपर छप्पर के लिए तिरछा डाला हुआ बांस, २ - उसके ऊपर ढांकने के लिए डाली हुई बांस की चटाई आदि से चारों तरफ से ढंकना, ३ - उसे रस्सी से गूंथना, ४ - ऊपर दर्भ आदि सूखी वनस्पति से किया ढंकन, ५ - सर्वत्र लिपाई करना, ६ - दरवाजा बनाना और ७ - जमीन समान करना। ये सात उत्तर गुण कहे गये हैं। गृहस्थ ने जो अपने लिए तैयार किया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो वह मकान साधु को मूल उत्तर गुण से शुद्ध जानना। यह गाथा पंचवस्तुक गाथा ७०७, प्रवचन सारोद्धार गाथा ८७१, तुला - वृहत्कल्पभाष्य गाथा ५८२ में भी आई है। यति दिनचर्या में भी कहा है। शेष पूर्व तीनों ग्रन्थों में भी आगे की गाथाओं में कहा है कि -

वंसगक उगुक्कडंवण, छायण लेवण दुवार भूमी य।
परिकम्मं विप्प मुक्का, एसा मुलुत्तर गुणेसु ॥१६२॥

अर्थात् " १ - बांस ऊपर डालना, २ - ढंकने के लिए चटाई डालना, ३ - बांस और चटाई को रस्सी से गूंथना - बांधना, ४ - खपरैल के स्थान पर घास का ढक्कन, ५ - पास की दीवार आदि पर लिपाई करना, ६ - दरवाजा, और ७ - भूमि समतल करना। यदि उसमें ये सब साधु के लिए न किया हो तो वह वसति 'मूल -उत्तर' गुण से शुद्ध जानना।"

इन सात मूल गुण और सात मूल - उत्तर गुणों को मिलाने से चौदह दोष अविशोधि कोटी हैं, वे दोषित भाग निकाले बिना वह मकान साधु के लिए रहने के लिए शुद्ध नहीं माना जाता है। उत्तर -उत्तर गुणो को विशोधि कोटी कहा है। वह इस तरह हैं - १ - दुमिता, २ - धूमिता, ३ - वासिता, ४ - उधोतिता, ५ - बली कृता, ६ - आवर्ता, ७ - सिक्ता और ८ - संमृष्टा। इसमें जो चूना आदि सुवासित (सफेदी) की है वह ' दूमिता ' कहलाता है। कुन्दरूक आदि से धूप किया हो वह ' धूमिता ' है, पुष्प आदि से सुवासित किया हो वह ' वासिता ' है, दीपक आदि से प्रकाशमान किया वह ' उद्योतिता ' है। बली आदि चढ़ाकर रखी हो वह ' बलकृता ' है, गोबर - मिट्टी आदि से लिपाई की हो वह ' आवर्त्ता ' है, केवल जल का छिड़काव किया हो वह ' सिक्ता ' है और झाड़ू आदि से संमार्जन (साफ) किया हो वह ' संमृष्टा ' समझना। ये कार्य साधु के निमित्त यदि गृहस्थ ने किये हों तो वह वसति मूल उत्तर गुण से शुद्ध होने पर भी ' विशोधि कोटी ' दोष वाली जानना। यदि सफेदी उतर गयी, धूप की गन्ध, पुष्प आदि की सुगन्ध निकल गयी हो, प्रकाश हो जाने से, बली उठा देने से, लिपाई पुरानी हो गयी हो, पानी सूख गया हो और साधु द्वारा पुनः स्वयं प्रमार्जन करने से वे दोष निवारण हो जाते हैं, वह ' विशोधि कोटी ' कहलाता है। यति दिनचर्या में कहा है कि -

दूमिय धूमिय वासिय, उज्जोइय बलिकडा अवत्ता य।
सित्ता संमट्ठावि य, विसोहि कोडिं गया वसही ॥१६३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् '' दूमिता, धूमिता, वासिता, उद्योतिता, बलीकृता, आवर्ता, सिक्ता और समृष्टा वसति -निर्दोष हो फिर भी विशोधि कोटी दोष को प्राप्त करता है।'' यही वर्णन पचंवस्तुक गाथा ७०६ में और प्रवचन सारोद्धार गाथा ८७३ में आया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्व कथित उन दोषों से रहित और स्त्री, पशु, नपुंसक रहित वसति (उपाश्रय) का साधु को संयम केलिए उपयोग करना चाहिए। यति दिनचर्या में कहा है कि -

मूलुत्तर गुण सुद्धं थीपसुपण्ड गवि वज्जियं वसहिं ।
सेविज्ज सव्वकालं, विवज्जए हुंति दोसा उ ॥१६४॥

अर्थात् '' मूल -उत्तर गुण से शुद्ध और स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित वसति का साधु को उपयोग करना चाहिए। इससे विपरीत उपयोग करने से संयम में दोष लगता है।'' यह श्लोक पंच वस्तुक गाथा ७०६ तथा प्रवचन सारोद्धार गाथा ८७४ में भी आया है।

यहां गांव के मिट्टी के घर, झोंपड़ी के विभाग करके मूल -उत्तर गुण कहे गये हैं। इसी के अनुसार से चतु:शाला (चार दिशा वाली धर्मशाला) आदि में भी मूल-उत्तर गुण का विभाग स्वयं समझ लेना। यहां चतु: शाला आदि बड़े मकान की अपेक्षा से मूल गुण - उत्तर गुणों के विभाग नहीं कहे हैं अन्य के कहे हैं। उसमें कारण यह है कि स्वाध्याय में विक्षेप होता है, और साधु को प्राय: छोटे गांव आदि में रहने की संभावना होती है। वहां संयम की श्रेष्ठ आराधना होने से, और वहां पृष्ठ वंश आदि से युक्त मकान विशेष रुप से संभव होने से उस वसती का यहां साक्षात् वर्णन किया है। पंचवस्तुक में भी कहा है कि -

चाउ सालाईए, विण्णेओ एवमिव उ विभागो ।
इह मूलाइ गुणाणं, सक्खा पुण सुण ण जं भणिओ ॥७१०॥
विहरंताणं पायं, समत्त कज्जाण जेण गामेसुं ।
वासो तेसु अ वसही, पिट्ठाइजुआ अओ तासिं ॥७११॥

अर्थात् ''इसी तरह चतु: शालादि में भी मूल गुण-उत्तर गुणों के विभाग स्वयं समझ लेना। यहां उसे साक्षात् नहीं कहने का कारण सुनो। (७१०)॥ प्राय: अपने गच्छ में ही श्रुत ज्ञानादि कार्य सिद्ध हो सकते हैं, अन्यत्र जाने का उसे प्रयोजन नहीं होता। इस प्रकार से विचार करते हुए साधु को प्राय: छोटे गांव में रहना चाहिए और वहां के मकान के विषय में कहा है। ऐसे पृष्ठ वंश आदि से युक्त छोटे मकान होते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं, उसका विशेष उपयोग होना संभावित होता है, यहां उस मकान का वर्णन किया है । (७११)॥''

इस प्रकार निर्दोष वसति हो फिर भी नगर-गांव आदि में जहां रहना हो उस गांव अथवा नगर की ओर स्व बुद्धि से एक आगे का पैर लम्बा करके पूर्व सन्मुख बायीं ओर बैठे बैल के समान कल्पना करके, कल्पा हुआ वह वृषभरूप नगर-गांव के प्रदेश में से प्राप्त करे, तब जाये । यति दिनचर्या में कहा है कि –

नगराइएसु धिप्पइ, वसहीं पुव्वामुहं ठविअ वसहं ।
वाम कडीइ निविट्ठं दीही कयं अग्निमिक्क पयं ॥१६५॥

अर्थात् ''आगे का एक पैर लम्बा करके बायीं ओर, पूर्व दिशा में सन्मुख और बैठे आकार वाले वृषभ (बैल) के समान नगर-गांव आदि की कल्पना करके, उसका प्रशस्त प्रदेश जहां आए, उस प्रदेश में से वसति स्वीकार करना ।'

दुष्ट प्रदेश में यदि वसति मिलती हो तो उसमें निवास करने से दुःख आ जाता है । इसलिए उस प्रदेश में मकानों का साधु को त्याग करना चाहिए । ओध निर्युक्ति भाष्य में कहा है कि –

सिंगक्खोडे कलहो, ठाणं पुण होइ नेव चलणेसुं ।
अहिठाणि पुट्ठ रोगो, पुच्छंमि य फेडणं जाण ॥७६॥

मूह मूलमि य चारी, सिरे य कउहे य पूय सक्कारो ।
खंधे पिट्ठीइ भारो, पेट्टंमि य, धायओ वसही ॥७७॥

अर्थात् ''गांव अथवा नगर की वृषभ रूप में कल्पना करना, उस वृषभ रूप के सींग वाले प्रदेश में वसति प्राप्त करके उसमें रहने से कलह होता है, पैर के प्रदेश की वसति में स्थिरता न होनी चाहिए (वहां से विहार जल्दी करना पड़ता है), अधि स्थान (अपान) प्रदेश की वसति में रहने वाले साधुओं को पेट का रोग उत्पन्न होता है, पूंछ प्रदेश में वसति में रहने से उस वसति का नाश होता है अर्थात् दूसरे मनुष्य का कब्जा हो जाता है । मुख के प्रदेश की वसति में रहने से भोजन की प्राप्ति अच्छी होती है, दोनों सींगों के बीच मस्तक के ऊपर की तथा कंधा प्रदेश में रही वसति में उतरने से लोगों की ओर से श्रेष्ठ वस्त्र-पात्रादि प्राप्ति रूप पूजा-सन्मान-विनयादि सत्कार होता है, खंभा या पीठ के प्रदेश में आई वसति में रहने से भार बढ़ता है और पेट के प्रदेश में उपस्थित वसति में वास करने से उसमें रहने वाला साधु वर्ग तृप्त होता है अर्थात् संयमोपयोगी सर्व सामग्री मिलती है ।'' ये दो श्लोक वृहत्कल्प भाष्य में १४६-१५० तथा प्रवचन सारोद्धार में ८७६ तथा ८८० गाथाओं में आये हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साधु को रहने का स्थान संयम में अति उपकारक होने से उनको रहने के लिए स्थान देने वाले दातार को भी महान फल मिलता है । इस विषय पर कहा है कि –

जो देह उवस्सयं मुणि वराण तवनाण जोग धारीणं ।
तेणं दिण्णा विच्छिण्ण पाय सयणासण विगप्पा ॥१॥
जं तत्थं ठि आण भवे सव्वे सिं तेण तेसिमुव ओगो ।
रक्खण परिपालणा विअ, ओदिन्ना एव ते सव्वे ॥२॥
सीआयव चोराणं, दंसाणं तहय बालम स गाणं ।
रक्खं तो मुणि वसहे, सुरलोग सुहं समज्जिणइ ॥३॥

अर्थात् ''तप और ज्ञान और संयम योग के साधक मुनिवर को जो गृहस्थ रहने के लिए उपाश्रय-मकान देता है, उसने वस्तुतः पात्र, शयन, आसन, आहार, पानी आदि सम्पूर्ण दिया है- ऐसा समझना चाहिये (१)॥ क्योंकि – वे सारी वस्तुएं जो साधु अन्य से मांग कर लाते हैं, उन वस्तुओं का रक्षण संभाल या उपयोग उस मकान में रहने से (मकान की सहायता से) कर सकते हैं । इसलिए मकान देने वाले ने सारा दिया है- ऐसा समझना चाहिए । (२)॥ ठंडी, गरमी, चोर, डांस, सर्प, मच्छर आदि उपद्रवकारी प्रसंग पर भी आश्रय देकर मुनिवरों का रक्षण करते हुए गृहस्थ द्वारा वसति देने से उस गृहस्थ को फल रूप में देव लोक के सुख प्राप्त होता है । (३)॥ यह शय्या, मकान- उपाश्रय की शुद्धि बताई गई है । अब वस्त्र की विशुद्धि का वर्णन करते हैं ।

यहां वस्त्र के १. एकेन्द्रिय २. विकलेन्द्रिय (दो-तीन-चार इन्द्रिय वाले) और ३. पंचेन्द्रिय- इस तरह तीन प्रकार के जीवों के शरीर के अवयवादि से बना वस्त्र भी तीन प्रकार का कहा है । उसमें कपास-रुई, सन आदि से बने हुए सूती आदि पहले प्रकार के कौशेय आदि के अवयवों से बना रेश्मी वस्त्र दूसरे प्रकार के और भेड़-बकरी आदि के ऊन-बाल आदि से बने आसन-कम्बल आदि तीसरे प्रकार के समझना । इन तीनों के भी १. यथाकृत, २. अल्प परिकर्म और ३. बहुपरिकर्म- इस तरह तीन भेद होते हैं । जो सिलाई आदि कोई भी क्रिया किए बिना अखंड एक पट्ट रूप मिले वह यथाकृत कहलाता है, एक बार फटे हुए की सिलाई की हो वह 'अल्प परिकर्म' कहलाता है, और बहुत क्रिया वाला-अनेक टुकड़ों से जोड़ा हो अथवा अनेक स्थान पर फटे हुए की सिलाई आदि की गई हो वह 'बहुपरिकर्म'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जानना। इन तीनों में उत्तरोत्तर बहुपरिकर्म से अल्प परिकर्म और अल्प परिकर्म से यथाकृत शुद्ध है, इनमें से प्रथम लेना चाहिये, यदि न मिले तभी उत्तर, उत्तर का लेना। ऐसा भी जो साधु के लिए खरीद न किया हो, न करवाया हो अथवा बनाया या बनवाया न हो- ऐसा निर्दोष लेना चाहिए। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि -

जं न तयट्ठा कीअं, नेअ बुअं जं न गहि अमन्नेसिं ।
आहडपामिच्चं चिअ, कप्पए साहूणो वत्थं ॥८४६॥

अर्थात् "जो वस्त्र साधु के लिए खरीद न किया हो, बुना न हो, गुंथन न किया हो और दाता ने पुत्रादि से जबरदस्ती न लिया हो अथवा अन्य की चोरी आदि करके न लाया हो वह वस्त्र साधु को लेना कल्पता है, किन्तु जो दूसरे गांव से देने के लिए सामने लाया हो या दुकान आदि अन्य स्थान से लाते समय साधु न देख सके हों, ऐसा वस्त्र नहीं कल्पता, वह यदि लाते हुए देखा हो तो कल्पता है। साधु को देने के लिए दूसरा वैसा ही वापिस देने का स्वीकार करके दूसरे से उधार न लाया हो तो वह भी कल्पता है।"

वस्त्र में भी अविशोधि कोटी और विशोधि कोटी ये दो प्रकार समझने चाहिएं। उसमें जो मूल से साधु के लिए बुना या बनवाया हो इत्यादि अविशोधि कोटी दोष वाला गिना जाता है, इसलिए ऐसा वस्त्र नहीं लेना चाहिए। साधु को बहोराने के लिए धोया हुआ आदि विशोधि कोटी कहलाता है। यदि निर्दोष न मिलता हो तो वह ले सकते हैं। इस तरह पहले वस्त्र के विषय में जानना चाहिए और यदि वह कल्पनीय हो फिर भी लेने से पहले उसे दो हाथ से छोर पकड़कर देख लेना चाहिए कि कभी छोरों में गृहस्थ ने यदि मणि, सुवर्ण मुद्रा आदि कुछ बांधा हो तो चोरी आदि का कलंक न आ जाये, इसलिए स्वयं देखकर और गृहस्थ को भी अच्छी तरह दिखाकर लेना चाहिए। उसके बाद वह वस्त्र यदि अंजन, खंजन और लिप्त आदि से विभाग वाला हो तो उस लेने में शुभाशुभ परिणाम-फल का विचार करना चाहिए। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

अंजण खंजण कद्दम लित्तो, मूसग भक्खिअ अ अग्गिदड्ढोअ ।
तुन्निय कुट्टिअ पज्जवलीढो होइ विवाग सुहोऽसुहो वा ॥८५०॥

नव भाग कए वत्थे, चउरो कोणा य दुन्नि अंता य ।
दो कन्ना वट्टीओ मज्झो वत्थस्स एगं तु ॥८५१॥

चत्तारि देवया भागा, दुवे भागा य माणुसा ।
आसुरा य दुवे भागा, एगो पुण जाण रक्खसो ॥८५२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देवेसु उत्तमो लाभो, माणुसेसु अ मज्झिमो ।
आसुरेसु अ गेलन्नं, मरणं जाण रक्खसे ॥८५३॥

अर्थात् "आंख का सुरमा या तेल का काजल आदि से अंजन वाला, दीपक की कालिमा या काजल आदि से खंजन वाला, और पंक अर्थात् कीचड़ इत्यादि से वस्त्र लिप्त हो, चूहे आदि ने काटा हो, अग्नि से जला हो, रफूकार ने रफू किया हो, धोणी के धोने से छिद्र पड़ गये हों और अति जीर्ण होने से अन्य अन्य खराब वर्ण के टुकड़ों से जोड़ा हो, ऐसा वस्त्र लेने से शुभ-अशुभ फल देने वाला होता है, अर्थात् वस्त्र के नौ विभाग की कल्पना करके देखते हैं- यदि उसके अमुक विभाग में ये दोष हो तो शुभ और यदि वह अमुक विभाग में हो तो अशुभ फल देता है । उस विभाग आदि का स्वरूप इस प्रकार से होता है – वस्त्र के स्वकल्पना से चार कोने के चार विभाग, छेडे के दो विभाग, किनारे के मध्य के दो विभाग और एक वस्त्र का मध्य भाग, इस तरह नौ विभाग की कल्पना करना । उसमें कोने के चार विभाग में दिव्य, छेड के मध्य के दो विभाग में मनुष्य, किनारे के मध्य दो विभागों में आसुरी और मध्य के एक विभाग में राक्षस कहा है । (देखो स्थापना कोष्ठक)। इन विभागों में अनुक्रम से दिव्य विभाग में अंजनादि दाग या लेप आदि पहले बतलाये अनुसार यदि कोई दूषण हो तो वह वस्त्र लेने से साधु को वस्त्र-पात्रादि का उत्तर लाभ होता है । यदि मनुष्य विभाग में दूषित हो तो मध्यम लाभ होता है, यदि आसुरी विभाग में दूषित हो तो मुनियों को बीमारी होती है और यदि राक्षस विभाग में दूषित हो तो मृत्यु होती है ।" ये चार श्लोक वृहत्कल्प भाष्य में २८३२ से २८३४ तक और निशीथ भाष्य में ५०८७ से ५०८६ तक आए हैं ।

दिव्य	आसुरी	दिव्य
मनुष्य	राक्षस	मनुष्य
दिव्य	आसुरी	दिव्य

इस तरह शुभाशुभ फल का विचार करके शुभ फल वाला वस्त्र ही लेना चाहिए। मूल्य की अपेक्षा से अठारह रुपये से कम मूल्य वाला लेना चाहिए। पंचकल्प वृहद् भाष्य के अन्दर स्थविर कल्प के अस्थिर कल्प में कहा है कि-

ऊणग अट्ठारसगं, वत्थं पुण साहूणो अणुण्णायं ।
इत्तो वइस्ति पुण, नाणुण्णायं भवे वत्थं ॥२०६६॥

अर्थात् "साधु को अठारह रुपये से कम मूल्य वाला वस्त्र लेने की आज्ञा है, इससे अधिक मूल्य वाला वस्त्र लेने की आज्ञा नहीं है ।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहां रुपया किसको कहा गया है ? उसका प्रमाण क्या है ? वह अन्य ग्रन्थों में से जान लेना। यह वस्त्र विशुद्धि बताई गई है। अब पात्र विशुद्धि कहते हैं। पात्र १. तुम्बा, २. लकड़ी और ३. मिट्टी का, इस तरह तीन प्रकार का होता है, वे साधु को कल्पनीय हैं। वह भी 'आधा कर्म' आदि दोषों से रहित निर्दोष लेना चाहिए। यति दिनचर्या में कहा है कि-

तुंबयदारू अमट्ठिअ पत्तं कम्माइ दोस परिसुद्धं ।
उत्तम मज्झ जहन्नं, जईण भणियं जिणिं देहिं ॥२०४॥

दारूमयं लाबुमयं, अहवा गिण्हिज्ज मट्टिया मइअं ।
कंसमयं तंबमयं, पत्तं वज्जे अकल्पं ति ॥२०५॥

अर्थात् "साधु के लिए श्री जिनेश्वर भगवान ने 'आधा कर्म' आदि दोषों से रहित तुम्बे का, लकड़ी का और मिट्टी का पात्र अनुक्रम से उत्तम, मध्यम और जघन्य कहा गया है। अत: तुम्बे, लकड़ी और मिट्टी का पात्र ही ग्रहण करना चाहिए। कांसे, तांबे आदि धातु के पात्र अकल्पनीय होने से उनका त्याग करना चाहिए।" वह भी अच्छे लक्षण वाला लेना, लक्षण के बिना स्वीकार नहीं करना। ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

पासस्स लक्खणमलक्खणं च, भुज्जो इमं विआणित्ता ।
लक्खण जुचस्स गुणा, दोसा य अलक्खणस्स इमे ॥६८५॥

वट्टं सम चउरंसं, होइ थिरं थावरं च वण्णं च ।
हुंडं वाया इद्धं, भिन्नं च आधारणिज्जां ॥६८६॥

अर्थात् "पात्र के लक्षण और अलक्षणों को पुन: पुन: देखकर जो लक्षण वाला हो उसे ग्रहण करना चाहिए। अच्छे लक्षण के गुण और खराब लक्षण के दोष इस प्रकार से हैं। (६८५)॥ चारों तरफ समान गोलाकार हो वह स्थिर, अच्छी बैठन का पडधी वाला हो वह भी कायमी हो अर्थात् दूसरे का अमुक काल के बाद वापिस देने वाला न हो और स्निग्ध अर्थात् टिकाऊ वर्ण वाला पात्र सुलक्षण वाला होने से लेना चाहिए। जिसका कोई भाग ऊँचा हो, कच्चा सूखा हुआ होने से टेढ़ा बना हुआ और टूटा हुआ, दरार वाला अथवा छिद्रवाला-सूराख वाला हो वह खराब लक्षण वाला होता है- उस पात्र को ग्रहण नहीं करना चाहिए।" ॥६८६॥

लक्षणवान् पात्र का फल ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संठि अंमि भवे लाभो, पइट्ठा सुपइट्ठिए ।
निव्वणे कि त्ति मारोग्गं, वण्णड्ढे नाण संपया ॥६८७॥

अर्थात् "चारों तरफ समान गोलाकार पात्र रखने से लाभ होता है। अच्छी तरह बैठने वाले पात्र से गच्छ में प्रतिष्ठा बढ़ती है, नाखून आदि से निशान न लगे हों उस पात्र से कीर्ति और आरोग्य बढ़ता है और अच्छे रंग वाले पात्र से ज्ञान रूपी संपत्ति बढ़ती है।" अब अलक्षण वाले पात्र का फल ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

हुंडे चरित्रभेद, सबलं मि य चित्त बिब्भमं जाण ।
दुप्पए खील संठाणे, गणे चरणे च नो ठाणं ॥६८८॥

पउमुप्पले अकुसलं, सव्वणे वणमादिसे ।
अंतो वहिं चदड्ढंमि मरणं तत्थ निहिसे ॥६८९॥

अर्थात् "नीचे ऊँचे पात्र से चरित्र का विनाश होता है। एक पात्र ही यदि भिन्न-भिन्न वर्ण वाला हो तो उससे चित्त विभ्रम होता है। नीचे की बैठक से रहित तथा कील के समान यदि ऊँचे-लम्बे घाट वाला हो तो उस पात्र वाले साधु की गच्छ में और चरित्र में स्थिरता नहीं होती और यदि पात्र के नीचे कमल का आकार हो तो अकुशलता रहती है, यदि पात्र दाग-क्षत वाला हो तो उसका उपयोग करने वाले साधु को भी फोड़ा होता है और अन्दर या बाहर दुग्ध-जला हुआ यदि हो तो मृत्यु होती है- ऐसा समझना।" इस प्रकार पात्र की विशुद्धि बताई गई है। पात्र रंगने की ऐषणा तो पात्र की ऐषणा में ही आ जाती है, इससे इस अलग से नहीं बतलाया। ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

पायग्गहण मि अ देसि अंमि लेवे सणा वि खलु वुत्ता ।
तम्हा आणयणा लिंपणा य पायस्स जयणाए ॥३७५॥

अर्थात् "पात्र को ग्रहण करने के उपदेश के साथ में लेप लाने, पात्र को लगाने इत्यादि के विषय में भी कहा है- वही समझना, इसलिए लेप जयणा से लाना और पात्र को विधिपूर्वक रंग करना - लेपन करना।" उसकी विधि इस प्रकार से है। ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

दुविहा य हुंति पाया, जुन्ना य णवा य जे उ लिप्पंति ।
जुन्ने दाए ऊणं, लिंपइ पुच्छा य इअरेसिं ॥३७७॥

अर्थात् "रंगने वाले पात्र दो प्रकार के होते हैं- नये और पुराने। उनमें पुराने पात्र गुरु महाराज से 'ये रंगने वाले हैं अथवा नहीं हैं ?' इस तरह पूछ कर उनकी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आज्ञा लेकर रंगने चाहिएँ और नये पात्रों के लिए गुरु से 'ये रंगने वाले हैं या रखने वाले है ? इस तरह पूछना चाहिए । यदि आज्ञा मिले तभी रंगना चाहिए ।''

रंगने का कार्य सुबह ही करना चाहिए जिससे पात्र जल्दी सूख जाये । लेप ग्रहण करने के लिए वस्त्र से अच्छी तरह बांधकर कसोरे के संपुट में लाना चाहिए। ओध निर्युक्ति में कहा है कि –

पुव्वण्हे लेव दाणं, लेवग्गहणं सुसंवरं काउं ।
लेवस्स आणणा लिंपणाय, जयणा विहिं वोच्छं ॥३७६॥

अर्थात् ''लेप-रंग सुबह करना चाहिए । लेप वस्त्र से अच्छी तरह बांधकर, ऊपर नीचे ढके हुए कसोर-सुंपट में ग्रहण करना चाहिए । अब लेप को लाने की तथा पात्र को लेप करने की विधि कहते हैं ।''

वह विधि इस प्रकार से है – ''पात्र को लेप-रंग करने की इच्छा करते साधु उस दिन उपवास करे जिससे कि पात्र की जरूरत न होने से रंग अच्छी तरह से कर सके । यदि ऐसी शक्ति न हो तो सुबह ही आहार को कर ले, यदि सुबह आहार न मिले तो दूसरे साधु लेकर दें और वह आहार करे । फिर लेप (रंग) लेने के लिए जाते समय पहले गुरु महाराज को वंदन कर आज्ञा मांगें । जब गुरु आज्ञा दें तब पूछे कि- 'मैं रंग लाऊगा, उसका आपको भी प्रयोजन है ?' इस तरह अन्य सर्व साधुओं से भी पूछे । वे अपनी आवश्यकता के अनुसार जितना कहें उतने प्रमाण में लाने के लिए स्वीकार करे । फिर उपयोग के एक नवकार का काउस्सग्ग करके ऊपर प्रगट नवकार आदि उपयोग की विधि करके, स्वयं वस्त्र--पात्रादि लाने की विधि का यदि जानकार-गीतार्थ हो तो रंग लेने के लिए संपुट (दो कसोर) और लेप ढंकने के लिए रुई गृहस्थ के वहां से प्राप्त करे । यदि स्वयं उसे प्राप्त करने में अनुभवी न हो तो अन्य गीतार्थ साधु लाकर दे। वह लेकर उसमें छार (भस्म) भरकर जाय। जहां कसोरे लेप ले, वहां लेप के ऊपर एक कपड़े का टुकड़ा रख दे । उसमें त्रस जीव न चढ़े, मरे न, इसलिए रुई रखकर ऊपर भस्म (राख) डाले । इस तरह लेप (रंग) लेने की सब सामग्री लेकर जाय। फिर बैलगाड़ी के पास जाकर जिस गाड़ी में से लेप (पहिये का मैल) लेना हो, उसके मालिक की आज्ञा प्राप्त करके, लेप शय्यातर की गाड़ी का भी ले सकते हैं । कड़वा-मीठा लेप जानने के लिए नाक से सूंघना चाहिए, उसकी गंध से कड़वा-मीठा निर्णय करे, कड़वे तेल का कड़वा लेप पात्र के ऊपर टिकता नहीं है, उतर जाता है । अत: वह नहीं लेते, मीठे तेल का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लेप लेना चाहिए। यदि गाड़ी में भी हरी वनस्पति या सचित बीज आदि ऊपर न हों, वहां भ्रमण करते उड़ते जीव न हो, महा वायु न हो अथवा आकाश में से कुहरा न पड़ता हो तो लेप सकते हैं, वह भी आवश्यकता के अनुसार ही लेना अधिक नहीं लेना। इस तरह योग्य स्थान से गाड़ी का लेप लेकर उसके ऊपर वस्त्र का टुकड़ा, फिर रुई और रुई के ऊपर भस्म दबाकर वस्त्र से उस संपुट को बांधकर गुरु महाराज के पास आकर इरियावही प्रतिक्रमण करके लेप की आलोचना करे अर्थात् वह लेप किस तरह लाया कैसे लाया, आदि गुरुदेव को बताये, फिर गुरु को विनती करके अपने पात्र पर लेप करे।

पात्र लीपने की विधि इस प्रकार है – लेप की पोटली बनाने के लिए पात्र उलटा करके उसके ऊपर वस्त्र का एक टुकड़ा बिछाकर, उसमें रुई का स्तर बिछाये, फिर उसमें लेप डालकर, उसकी पोटली बनाकर, उस पोटली को अंगूठे, तर्जनी और मध्यमा इन तीन से पकड़े। इस तरह पकड़ी हुई पोटली के मोटे वस्त्र के टुकड़े से निकलते हुए लेप के रस से पात्र का लेप करे। लीपने के एक, दो या तीन पात्रों की लिपाई कर अंगुली से घिसकर कोमल-मुलायम करे। उसमें भी एक पात्र को गोद में रखकर दूसरी अंगुली से घिसे। इस तरह बारम्बार एक या दो पात्रों को गोद में रखकर एक पात्र को लेकर घिसे, फिर उसे गोद में रखकर दूसरा गोद में से लेकर उसे घिसे। इस तरह घिसा हुआ गोद में रखकर दूसरा घिसने के लिए ले। अनुक्रम के अनुसार बदलते हुए प्रत्येक को अंगुली से घिसता रहे। यदि एक ही पात्र की उत्कृष्ट लेप से लिपाई की गई हो तो जब वह सूख जाय तब उसी दिन भी उसमें पानी ला सकते हैं। पात्र रंगने वाला उपवासी हो– उसके लिए यह विधि कही गई है।

अब जो स्वयं उपवासी होने पर भी बीमार आदि साधुओं की वैया-वच्च-सेवा करने वाला हो, तो उसका रंगा हुआ पात्र सूखे बिना उसे सूना रखकर बाहर नहीं जा सकता हो और वे बीमार आदि साधु आहार-पानी के अभाव में कष्ट उठाते हों तब अथवा स्वयं उपवास करने में अशक्त हो तब क्या करना चाहिए? इस विषय में कहते हैं कि– अन्य उपवासी साधु को अथवा उपवासी नहीं परन्तु गोचरी के लिए नहीं जाने वाले अन्य साधु को लेप किये हुए पात्र को सौंपकर, जिस पात्र का उस दिन लेप न किया हो ऐसा पात्र लेकर गोचरी के लिए जाये। यदि इस तरह उसके पात्र की संभाल रखने वाला दूसरा साधु न हो तो १. रंग किया पात्र, २. आहार लेने वाला पात्र और छोटा (मात्रक) पात्र – इस तरह तीनों पात्र साथ में ले जाना। यदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसमें भी समर्थ न हो तो चींटी आदि का उपद्रव-विराधना न हो, इसके लिए रंगे हुए पात्र को और लेप से युक्त पोटली का कपड़ा, रुई तथा संपुट कसोरा आदि को अन्य भस्म से मिश्रित करके रंगदानी में कोई जीव न मरे – इस तरह निर्जन स्थान पर रखकर गोचरी के लिए जाय, पानी तो उसके लिए दूसरे साधु ले आएँ। इस तरह लेप लेने की, लाने की और पात्र पर लिपाई की विधि और जयना कही गई है।

अब उसका परिकर्म – तपाने की विधि कहते है – लेप-रंग किए पात्र को गोबर, भस्म घिस कर - पोत कर- झोली सहित रजस्त्राण में लपेटकर, कुत्ते, बिल्ली आदि खींचकर न ले जायें इसलिए गांठ दिये बिना ही फूटे घड़े की पडिलेहन कांठे आदि के ऊपर तपाने के लिए रखे, जैसे-जैसे ताप-धूप फिरती जाये वैसे ही पात्र को भी पासा बदलते हुए धूप में रखना चाहिए। रात्रि में तो अपने समीप में ही उसे रखे। परिग्रह दोष के निवारण के लिए उस दिन में उपयोग किए घड़े के कांठे आदि को 'कल और मिलेगा' ऐसा मानकर परठ दे, शेष रुई सहित बढ़ गये लेप को कदाचित् उस पात्र को या अन्य पात्र को यदि जोड़ लेप देना हो तो हाथ से मसलकर अष्टक बनाकर टूटे पात्र में जोड़ रूप में लगा दे और यदि प्रयोजन न हो तो राख मिलाकर परठ दे। इस तरह जघन्य से एक बार और उत्कृष्ट से पांच बार कर सकता है।

पात्र को ताप में रखने की विधि में शीत काल में प्रथम और अन्तिम पहर सम्पूर्ण छोड़ना चाहिए और ऊष्ण काल में प्रथम पहर का पूर्वार्द्ध और अन्तिम पहर का उत्तरार्द्ध- आधा-आधा पहर त्याग करना चाहिए, क्योंकि वह काल स्निग्ध हवा वाला होने से लेप का नाश होने का भय रहता है इसलिए उस समय में पात्रों को धूप में न रखना चाहिए। वर्षा तथा कुत्ते आदि से रक्षण करने के लिए सूखते हुए पात्र को बारम्बार देखते रहना चाहिए अथवा स्वयं यदि बीमार, वृद्ध आदि साधु कार्य में रुके हों तो अन्य साधु को उन पात्रों की सार-संभाल का अनुरोध करे। यह गाड़ी के मैल के लेप की विधि कही है।

दूसरा लेप '**तज्जात**' नाम का बताया गया है। '**तत्र जात इतिं तज्जातः**' इस व्युत्पति से गृहस्थ के तेल भरने के बर्तन के ऊपर चिकनाई में गाढ़ापन आ गया हो- उस मैल को 'तज्जात' लेप कहा है। इस लेप से पात्र पर लिपाई करना, फिर घिस कर कोमल बनाना, बाद में कांजी = चावल के मांड से धोना, इसकी यह विधि है। तीसरे लेप का नाम 'युक्ति जात' है। 'योजनं युक्ति' ऐसी व्युत्पति से वह लेप पत्थर आदि के टुकड़े को पीसकर उसमें तेल आदि मिला कर बनाया जाता है। इस लेप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का संग्रह करना पड़ता है, इसलिए निषेध किया है । इस तरह लेप तीन प्रकार का जानना चाहिए ।

जो पात्र टूटे हों, उनको जोड़ने का बन्धन भी तीन प्रकार का है- १. मुद्रिका बंध, २. नावा बंध और ३. चोर बन्ध । उसमें फटे-टूटे पात्र को दोनों तरफ आमने-सामने छिद्र करके उसमें धागा डालकर आमने सामने धागों के दो छोरों को प्रत्येक छिद्र में गाठ बांधने से प्रथम 'मुद्रिका बन्ध' कहलाता है । दूसरे नावा बन्ध में एक गोमूत्रिका के आकार से और दूसरी चोकड़ी के आकार से धागे को डालने से इस तरह दो प्रकार होता है । तीसरा चोर बंध उसे कहा है कि जिसमें जोड़ने का धागा गुप्त रहे अर्थात् दरार की बाजू में पात्र की लकड़ी को खोद कर उसमें इस तरह धागा डाले कि धागा बाहर न दिखाई दे । इस तरह चोर बन्ध करने में पात्र के काष्ठ को खोदने से वह जर्जरित हो जाये, इसलिए यह चोर बन्ध करने का निषेध किया गया है । ये तीनों बंधन कोष्ठ के अनुसार समझना । ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

तज्जाय जुत्ति लेवो, खंजण लेवो य होइ बोधव्वो ।
मुद्दियनावा बंधो, तेणय बंधेण पडि कुट्ठो ॥४०२॥

अर्थात् "तज्जात लेप, युक्ति लेप और गाड़ी का मैल (खंजन) लेप तीन प्रकार का जानना तथा मुद्रिका बन्ध, नावा बंध और चोर बंध में भी तीन प्रकार से जानना । उसमें स्तेन (चोर) बन्ध का निषेध किया है ।"

लेप के उत्तम, मध्य और जघन्य तीन भेद होते हैं । उनमें तिल के तेल का उत्कृष्ट, अलसी के तेल का मध्यम और सरसों के तेल का बना हुआ जघन्य जानना। घी, गुड़ आदि से बने लेप का निषेध किया है, रत्न आदि से फर्श जैसे समान होता है, वैसे ही लेप भी सर्वत्र समान करना चाहिए । ओध निर्युक्ति तथा पंच-कल्प भाष्य में कहा है कि -

कुट्टिमतलसं कासो, भिसिणी पुक्खर पलास सरिसो वा ।
सामासधु वण सुक्का-वणा य सुद्दमेरिसे होइ ॥४०६॥

अर्थात् "पात्रलेप रत्न से सज्जित फर्श के समान अथवा कमलिन या पुष्कर नामक कमल के पत्ते के समान मुलायम करना चाहिए । क्योंकि इस तरह लिपाई करने से पात्र में दाने आदि लेप फंस न जायें, कचरा आदि हो तो वह सरलता से संपूर्ण दूर कर सके और इससे पात्र तीन पानी से अच्छी तरह धो सके और सूखा कर सके ।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह लेप की एषणा की सम्यग् विधि कही है। यह एषणा पात्र के विषय में ही है, इसलिए पात्र एषणा में उसका समावेश होता है। अलग नहीं समझना चाहिए। इस तरह पिंड अर्थात् आहार, वसति, वस्त्र और पात्र इन चारों की विशुद्धि कही गई है। इन चार की विशुद्धि से ही साधु संयम का निर्वाह कर सकता है। इसमें दोष सेवन करने वाला दीक्षा का वास्तविक पालन नहीं कर सकता है। यति दिनचर्या में कहा है कि -

पिण्ड़ असोहयंतो अच रित्ती इत्थ संसओ नत्थि ।
चारित्तं मि असंते, सव्वा दिक्खा णिरत्थ या ॥२१०॥
सिज्जं असोहयतो० ॥२१२॥ वत्थं असोहयंति० ॥२१३॥
पंत असोहय तो० ॥२१४॥ शेष गाथा पूर्व गाथा वत् ॥

अर्थात् "अशन,पान आदि पिंड की शय्या अर्थात् वसति-मकान की, वस्त्र की और पात्र की शुद्धि की जो सावधानी नहीं रखता उसे बिना कारण दोष लगता है, वह साधु चारित्र रहित है, इसमें संशय नहीं है और चारित्र के अभाव में उसने जो दीक्षा ली वह सर्वथा निरर्थक है।"

यह कथन जिसका उत्सर्ग से संयम का निर्वाह हो सके- उसके लिए समझना, जब संयम निर्वाह न होता हो तब अशुद्ध अशनादि लेने में कोई दोष नहीं है। कहने का भावार्थ यह है कि निष्कपट भाव से सेवन करने वाला संयम का पात्र है, अतः यह कथन दोष-सेवन की अनुमति नहीं है, परन्तु कपट रहित भाव से- केवल संयम की रक्षा के ध्येय से- किसी विशेष कारण से यह मार्ग कहा है। ऐसे दोषित कार्य को करने के बाद भी प्रायश्चित अवश्य करना चाहिए नहीं तो आत्मा शल्य वाला होता है। वास्तविकता में तो तीन बार पर्यटन करने के बाद भी यदि शुद्ध न मिले तो बहुत अल्प दोष वाला लेना, यदि वैसा न मिले तो इससे अधिक दोष वाला लेना, वैसा भी न मिले तो उससे भी अधिक दोष वाला लेना। इस तरह क्रमशः वैसा भी न मिले, तब ही अशुद्ध लेने वाले को प्रायश्चित प्रायः नही होता। ऐसा प्रयत्न किए बिना न मिलने का केवल मनः कल्पित निमित्त तो आत्मा को माया दोष से दूषित करता है। यति दिनचर्या में कहा है कि-

संथ रणंमि अशुद्धं, दुण्हवि गिण्हंतदिंतयाण हियं ।
आउर दिट्ठं तेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥२३५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् "संयम का निर्वाह जब हो सके, तब भी अशुद्ध अशनादि को लेने से, लेने वाले-देने वाले दोनों का 'रोगी यदि कुपथ्य का सेवन करे तो मृत्यु होती है और वैद्य यदि कुपथ्य दे तो उसकी आजीविका जाती है', इस तरह अहित होता है। जब संयम का निर्वाह न हो सके तब अशुद्ध आहारादि को भी देने वाला और लेने वाला दोनों 'संयम की रक्षा तथा उसमें सहायक कारण रुप में' हितकारी होते हैं।" यह बात प्रथम भाग में गृहस्थ के मध्याह्न के सुपात्र दान की विधि में भी कही गई है।

अब इस तरह से साधु पूर्व में बताये गये उद्गम के १६, उत्पादन के १६ और एषणा के १०- इस तरह बयालीस दोषरहित पूर्ण भिक्षा लेकर और शुद्ध करके वसति में आए। वहां आने की और भिक्षा शुद्ध करने की विधि इस तरह है - वसति की ओर जाते हुए साधु यदि मार्ग में मिलें तो किसी खाली घर में या देव मंदिर में और यदि ऐसा स्थान न मिले तो उपाश्रय के द्वार में आकर भी आहार पानी की जांच करे, भिक्षा लेते नहीं देखा गया हो अथवा देखते हुए भी उस समय गृहस्थ अधर्म प्राप्त करे इत्यादि भय से न त्याग किया हो - ऐसा कोई कांटा-कंकर आदि हो तो वहां उसे परठ दे। यदि वह अशन-पानी जीव युक्त हो तो उसे परठ-त्याग कर पुनः दूसरा आहार पानी ले आये। इस तरह अशनादि को लाकर, शुद्ध करके उपाश्रय में प्रवेश करे। ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

सुन्नघर देउले वा, असई अ उवस्सयस्स वा दारे।
संसत्त कंट गाई, सोहेउमुवस्सयं पविसे ॥५०३॥

अर्थात् - "शून्य घर या शून्य देवकुल में, उसके अभाव में उपाश्रय के द्वार पर आकर त्रसादि जीव या कांटा आदि तो हो उसे दूर करके अथवा लाया हुआ आहारादि यदि सचित हो तो उसे परठ कर, दूसरा लाकर उपाश्रय में प्रवेश करे।"

यदि पहले लाया हुआ अशनादि सचित हो, तो उसे परठ कर दूसरा लाए। उसके गांव, पात्र और काल की अपेक्षा से आठ विभाग होते हैं। उसमें काल पहुँचता हो वह चार विभाग से ही लाये, नहीं तो लिए बिना उपाश्रय में प्रवेश करे। उसमें जघन्य समय इस तरह जानना- गोचरी लाकर आहार कर, स्थंडिल बाहर भूमि में जाए, वापिस आकर स्थंडिल का पात्र सूर्यास्त से पहले सूख जाए इसलिए पोंछकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुखा दे, उसके सुखाने के बाद सत्ताईस मांडला करे (स्थंडिल - मात्रा के लिए चौबीस और काल ग्रहण के लिए तीन, इस तरह कुल मांडला २७ करे) तब सूर्यास्त हो। यदि इतना समय कम से कम हो तो दूसरी बार आहार लेने जाय। यह जघन्य समय जानना, आहार लाकर, करे, स्थंडिल भूमि से जाकर वापिस आए तब चौथी पोरिसी (पहर) प्रारंभ हो, इतना समय उत्कृष्ट जानना।

वसति में प्रवेश करते समय पैर प्रमार्जन करना - तीन बार 'निसीहि' बोलना और दोनों हाथ से अंजलि कर गुरु को 'नमो खमासमणाणं' कहना इत्यादि विधि करे। प्रवेश करके दण्डा तथा झोली, पल्ले एवं साथ में रखी उपधि को रखने का स्थान शुद्ध कर-प्रमार्जन करे। ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

पायपमज्जण निसीहि आय, तिन्नि उ करे पवेसंमि।
अंजलिठाण विसोही, दंडगउवहिस्स निक्खे वो ॥५०६॥

अर्थात् "उपाश्रय में प्रवेश करते समय पहले बाहर-सचित-अचित रज का मिश्रण न हो सके इसके लिए पैर प्रमार्जन करे, फिर उपाश्रय में प्रवेश करते समय तीन बार निसीहि कहे और अंजलि जोडकर गुरु को 'नमो खमासणाणं' कहे। प्रवेश के बाद दण्ड-उपधि रखने के स्थान का प्रमार्जन करे।"

इसमें तीन निसीहि अनुक्रम से बाहर मुख्य द्वार = बरामदा आदि के बाहर द्वार पर, दूसरी मध्य में - बरामदा आदि मर्यादा के अन्दर और तीसरी मूल उपाश्रय के अन्दर करे। पैर प्रमार्जन - यदि वहां गृहस्थ न हो तो बरामदे आदि के बाहर ही करे और गृहस्थ यदि देखे तो अन्दर आकर करे। वहां भी यदि गृहस्थ हो तो मध्य निसीहि कहने के स्थान पर और वहां यदि गृहस्थ देखते हों तो उपाश्रय में प्रवेश करके करे। इसी कारण से ही ओध निर्युक्ति में भाष्यकार ने निसीहि द्वार के बाद पैर प्रमार्जन द्वार का वर्णन किया है। वे गाथा इस तरह से हैं -

एवं पडुपन्ने पविसओ उ तिन्नि य निसीहिया होंति।
अग्गद्दारे मज्झे पवेसणे पाया सागरिए ॥भा०२६२॥

अर्थात् "इस तरह पूर्ण रूप में अशनादि प्राप्त होने के बाद प्रवेश करते समय तीन निसीहि क्रमशः अग्र द्वार में, मध्य में और प्रवेश द्वार में करना चाहिए, और पाद प्रमार्जन तो गृहस्थ की मौजूदगी में न करे, आखिर में उपाश्रय में प्रवेश के बाद भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करे। इस तरह पैर प्रमार्जन अनियत स्थल पर करने की व्यवस्था होने से, उसका वर्णन बाद में कहा है। अन्यथा पहले प्रमार्जन कर फिर प्रवेश करते समय अग्रद्वार में निसीहि कहने के लिए कहते हैं। यह गाथा पंचवस्तुक गाथा ३१२ में भी मिलती है।

तथा अंजलि अर्थात् गुरु के सन्मुख दोनों हाथ उँचे कर, मस्तक नमाकर तथा वचन से 'नमो खमासमणाणं' कहे। यदि हाथ में पात्र भारी हो तो अंजलि किए बिना ही मस्तक नमाकर केवल वचन से 'नमो खमासमणाणं' कहे। भारी पात्र गिर जाने के भय से हाथ ऊँचे न करे। ओध निर्युक्ति भाष्य में आगे कहा है कि -

हत्थुस्सेहा सीसप्पणामणं, बाइओ नमोक्कारो ।
गुरु भायणे पणामो, बायाए नमो न उस्सेहो ॥२६३॥

अर्थात् ''नमस्कार के लिए दो हाथ ऊँचे-अंजलि बद्ध करे, मस्तक नमाये और 'नमो खमासणाणं' कहकर वाचिक नमस्कार करे। परन्तु यदि आहार के पात्र भारी हों तो केवल मस्तक को नमाकर नमस्कार और वचन से 'नमो खमासमणाणं' कहे, हाथ से अंजलि न करे।''

उपाश्रय में प्रवेश करने के बाद ऊपर दीवार और नीचे भूमि का प्रमार्जन कर वहा दंडा रखना, चोल पट्टे को उपधि के ऊपर और पल्ले के ऊपर रखना। प्राचीन काल की समाचारी के अनुसार उस समय के मुनि चोल पट्टे को पास में लेकर बैठते थे, बाहर जाते समय अथवा गृहस्थ के आगमन आदि कारण से वे चोलपट्टा पहनते थे। सर्वथा वस्त्र रहित रहना लोक विरुद्ध है तथा वस्त्र को शरीर को सुख प्रदान करने के लिए उपयोग करना असंयमरूप है। यह गाथा भी पंचवस्तुक ३१३ में आई है। आगे भी दोनों शास्त्र में कहा है कि -

उवरिं हेट्ठा य पमज्जिऊण लट्ठिं ठवेज्ज सट्ठाणे ।
पट्टं उवहिस्सुवरिं भायण वत्थाणि भाणे सु ॥२६४॥

अर्थात् ''दण्डा रखने के स्थान पर ऊपर नीचे से प्रमार्जन कर वहां दण्डा रखे, चोल पट्टा उपधि के ऊपर, और पात्रों के वस्त्र पात्र के ऊपर रखे।'', यदि मात्रा आदि शंका हो तो पल्ले सहित आहार के पात्र अन्य साधु को सौंपकर पहले उस शंका का निवारण करे। आगे भी उस शास्त्र में कहा है कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जइ पुण पासवणं से, हवेज्ज तो उग्गहं सपच्छांग ।
दाउं अन्नस्स सचोल पट्टओ काइअं निसिरे ॥२६५॥

अर्थात् –''यदि आहार पानी ले आने के बाद लघुनीति आदि की शंका हो गई हो तो पल्ले सहित पात्र अन्य साधु को सौंपकर, चोल पट्टा रखकर उस शंका का निवारण करे ।''

इस तरह से भिक्षा के लिए घूमना आदि के विषय में विस्तार पूर्वक बताया गया है । अब वसति में आने के बाद का कर्त्तव्य कहते हैं । मूल ६३ वीं गाथा में **'आगत्य'** आदि शब्द से जैसा पहले कहा है, वैसे ही विधि पूर्वक आकर, वसति में प्रवेश कर गुरु महाराज के सन्मुख 'आलोचना' करे अर्थात् भिक्षा लेने में लगे अतिचार यथा रूप बतला दे, यह सापेक्ष यति धर्म है । उसमें क्रम इस तरह से है– वसति में प्रवेश करने के बाद आया हुआ साधु मात्रा की शंका टालकर जहाँ भोजन की मंडली में बैठना हो उस भूमि का प्रमार्जन करे और वहीं इरियावही प्रतिक्रमण करे । यति दिनचर्या में कहा है कि–

सिज्जामज्झे पविसइ पडिलेहइ मंडलीइ जं ठाणं ।
वच्चइ गुरुस्स पासे, इरिया वहियं पडिक्कमइ ॥२२७॥

अर्थात् ''वसति में प्रवेश करे, जहां भोजन की मंडली बैठनी हो उस भूमि का पडिलेहन (चक्षु से देखकर दण्डासन से प्रमार्जन)करे फिर गुरु महाराज के पास जाए और वहाँ इरियावही प्रतिक्रमण करे ।'' यहां पहले मंडली में इरियावही करने के लिए कहा है और इस गाथा में गुरु के समक्ष करने के लिए कहा है– यह मतान्तर देखा जाता है ।

इसमें कायोत्सर्ग करते समय घुटने से चार अंगुल ऊँचे और ऊपर नाभि से चार अंगूल नीचे रहे, इस तरह दोनों कोहनी से चोल पट्टा दबाकर रखे । यदि चोल पट्टे में छिद्र हो तो वहाँ पल्ले रखे, इस प्रकार खड़े-खड़े काउस्सग्ग में ही 'गोचरी के लिए जाने के लिए मकान में से निकला, वहां से लेकर पुनः आहार लेकर मकान में प्रवेश किया' वहां तक जो कोई अतिचार लगा हो उस को गुरु को बताने के लिए मन में अवधारणा (चिन्तन) करे । ओध निर्युक्ति गाथा ५१२ में तथा पंचवस्तुक में कहा है कि –

काउस्सग्गंमि ठिओ, चिंते समुयाणिए अई आरे ।
जा निग्गमप्पवेसो, तत्थ उ दोसे मणे कुणइ ॥३२०॥

अर्थात ''काउस्सग्ग में साधु वसति से निकलने से लेकर वापिस वसति में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रवेश करने तक भिक्षा लेना इत्यादि में लगे अतिचार का चिन्तन करे और उसमें लगे दोषों की मन में अवधारणा करे ।''

यह चिन्तन (यदि स्वयं प्रायश्चित्त के क्रम का जानकार गीतार्थ न हो तो) जिस क्रम से अतिचार लगे हों, उस क्रम से करे और यदि गीतार्थ हो तो पहले थोड़े प्रायश्चित वाले छोटे, फिर उत्तरोत्तर अधिक प्रायश्चित वाले बड़े- इस तरह प्रायश्चित क्रम से चिन्तन कर उस क्रम से ही मन में अवधारणा (निश्चय) करे। इन दो पदों की चतुर्भंगी होती है- १. याद करना चाहिये लगे क्रम से और धारणा रखे प्रायश्चित क्रम से, २. याद करे लगे क्रम से और धारण भी उसी क्रम से करें, ३. याद करे प्रायश्चित के क्रम से और धारण कर रखे लगे क्रम से तथा ४. याद करे प्रायश्चित क्रम से और धारण भी उसी क्रम से करे। इस तरह सारे दोषों का चिन्तन कर (निर्णय) करके 'नमो अरिहंताण' कहकर कायोत्सर्ग पारे (पूर्ण करे) इसके बाद प्रगट रूप में 'लोगस्स, बोल कर लगे हुए दोष गुरु महाराज के समक्ष निवेदन करे। पंचवस्तुक में कहा है कि -

चिंतित्तु जोगमखिलं, नवकारेणं तओ अ परित्ता ।
पढिऊण थयं ताहे, साहू आलोअए विहिणा ॥३२६॥

अर्थात् ''गोचरी (आहार) लाने वाला साधु मन-वचन-काया के सकल व्यापार का चिन्तन करके नवकार से कायोत्सर्ग पार कर, चतुर्विंश स्तव कहकर विधि पूर्वक गुरु के सामने आलोचना कहे ।''

आलोचना की विधि इस तरह है - गुरु महाराज धर्म कथादि में रुके हुए न हों तब इरियावही प्रतिक्रमण करके खमासमण देकर 'इच्छा कारेण संदिसह भगवन्। आहार-पानी आलोऊं ?' इस तरह पूछकर, मन में जो दोष निश्चय किए हों उसी तरह 'कौन से घर में किस के हाथ से क्या-क्या लिया' आदि सारा वर्णन बता दे। यदि गुरुदेव अन्य कार्य में रुके हुए हों तब न कहे। पंचवस्तुक में कहा है कि-

कहणाई अव्वक्खित्त, कोहादु वसंतु वट्टि उवउत्ते ।
संदि सहत्ति अणुण्णं, काऊण विदिन्न आलोए ॥३३०॥

वक्खित्तपराहुत्ते, पमत्ते या कयाइ आलोए ।
आहारं च करिंत्ते, णीहारं वा जइ करेइ ॥३२७॥

अर्थात् ''गुरुदेव यदि धर्मकथा आदि में लगे न हों, क्रोध आदि से रहित-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शान्त हों और आलोचना सुनने के लिए उपयोग वाले हों, तब 'आज्ञा दो' इस तरह कहकर जब उनकी आज्ञा मिले तब आलोचना करे। (३३०)॥ गुरु धर्म कथादि में रुके हों उलटे मुख बैठे हों, निद्रादि प्रमाद अवस्था में हों, आहार करते हों या निहार करने की इच्छा करते हों तब कभी आलोचना नहीं करनी चाहिए। (३२७)॥" यह गाथा ओध निर्युक्ति ५१४ में आई है।

आहार करते समय आलोचना करने से उसे सुनने में उपयोग देना पड़ता है, इससे गुरु के आराहादि करने में अन्तराय होता है। शेष कारण तो समझ में आ जायें इस तरह के हैं। आलोचना करते समय नृत्य करना, शरीर को नचाना, हाथ पैर हिलाने, गृहस्थ की भाषा में, गूंगे के समान या अति बड़ी आवाज से बोलना इत्यादि कुचेष्टाएं नहीं करनी चाहिएं। इसके उपरान्त आहार देने वाले स्त्री आदि के हाथ, बहोरने का पात्र आदि गीला किया था या नहीं इत्यादि, देने वाले ने किस तरह दिया था- सब गुरु से कहना चाहिए। ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

नट्टं बलं चलं भासं मूअं तह ढड्ढरं च वज्जेज्जा।
आलोएज्ज सुविहिओ, हत्थं मत्तं च वावारं ॥५१६॥

अर्थात् "नाचना, टेढ़ा मुड़ना, शरीर के अंगों आदि को इधर-उधर हिलाना, (पंचवस्तुक गाथा ३३२ में तो काया से और मन से चलायमान होना- इस तरह कहा है), गृहस्थ की भाषा में अव्यक्त (अस्पष्ट) अथवा बड़ी आवाज से बोलना आदि कुचेष्टाओं को छोड़कर सुविहित साधु देने वाले का हाथ, पात्र तथा उसकी बहोराने की प्रवृत्ति आदि किस प्रकार की थी ? वह सारा कहे।"

उसमें हाथ, पैर, भ्रकुटी, मस्तक, नेत्र, होठ आदि को विकारी बनाकर नचाना- वह नृत्य है, हाथ या शरीर के नखरे-हाव भाव करना- वह वलन है, द्रव्य से काया को मरोड़ना और भाव से अच्छी मिली भिक्षा को छुपाना- वह काया का और भाव का चलन है, गृहस्थ की भाषा में बोलना- वह दुर्भाषा है। साधु को अपनी सात्विक भाषा बोलनी चाहिए। गृहस्थ जैसी भाषा बोलना साधु के लिए दुर्भाषा है, अस्पष्ट बोलना गूंगापन है, और बड़ी आवाज से बोलना वह ढड्ढ दोष है। अतः इन दोषों का त्याग करके, जो वस्तु जिस क्रम से जिस तरह लिया हो वह सारा उसी तरह कहना चाहिए। इस तरह गुरु से कपट रहित भाव पूर्वक बताने के बाद उनके आदेशानुसार यदि सदोष उपयोग कर दे तो भी उसमें दोष नहीं लगते हैं क्योंकि गुरु आज्ञा का पालन रूप मुख्य आराधना होती है। यह उत्सर्ग से आलोचना की विधि कही है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपवाद मार्ग से तो समय न पहुँचता हो, उस समय भिक्षा में फिरने से स्वयं अथवा शास्त्रादि के चिन्तन से गुरुदेव थक गये हों तब अथवा बीमार साधु को भोजन का समय व्यतीत होता हो तब, इत्यादि कारणों से सामान्य रूप में ही आलोचना करे। ओध निर्युक्ति गाथा ५१८ में तथा पंचवस्तुक में भी कहा है कि –

काले अपहुप्पंते, उव्वाओ वा वि ओहमालोए ।
वेला गिलाण गस्स व, अइ गच्छइ गुरु व उव्वा ओ ॥३२५॥

अर्थात् "जब समय न पहुँचता हो, स्वयं भिक्षा के लिए फिरते हुए थक गया हो, बीमार को भोजन में विलम्ब होता हो अथवा गुरु श्रुत चिन्ता से थक गये हों तब सामान्य-संक्षेप में आलोचना करे।"

सामान्य आलोचना करने में अधिक वर्णन नहीं करते- केवल 'पुरःकर्म-पश्चात् कर्म आदि दोष लगे नहीं हैं, आहार 'आधाकर्म' आदि दोष वाला नहीं है' इत्यादि संक्षेप में बताना, अथवा जब कोई शीघ्रता का कार्य करना हो, तब जितना शुद्ध न हो उतना ही गुरु से निवेदन करना। ओध निर्युक्ति गाथा ५१६ में तथा पंचवस्तुक में कहा है कि–

पुरकम्म पच्छ कम्मे, अप्पेऽसुद्ध अ ओहमालोए ।
तुरिय करणं मि जं से, न सुज्झई तत्तिअं कहइ ॥३३६॥

अर्थात् "पुरःकर्म-पश्चात् कर्म आदि दोष लगा हो और यहां 'अल्प' शब्द अभाव के अर्थ में होने से आधाकर्मिक आदि दोष वाला नहीं है, इत्यादि ओध (सामान्य) से आलोचना करे। इससे भी यदि अधिक जल्दी करने का कार्य हो तो जितना शुद्ध न हो उतना ही सुनाना चाहिए।"

इस तरह यह वाचि की-मानसिक आलोचना कहा। कायिकी आलोचना तो गुरु को भिक्षा दिखाने से होती है। इसलिए मन वचन से आलोचना इस प्रकार करके, मुहपत्ति से मस्तक को और पल्ले सहित पात्र को प्रमार्जन करके स्वयं यदि उद्यान आदि में रहता हो तो ऊंचे पुष्प फल आदि संघटना इत्यादि अथवा छिपकली आदि का उपद्रव न हो (आहार में उसका थूक आदि न गिरे) उसका ख्याल रखकर नीचे-ऊँचे भूमि प्रदेश को देखकर, पास में बिल्ली, कुत्ते आदि का उपद्रव न हो– उसका भी ध्यान देकर, पात्र हाथ में लेकर और आधी काया से नमाकर भिक्षा गुरुदेव को दिखाये। ओध निर्युक्ति गाथा ५२० और २७३ में तथा पंचवस्तुक में कहा है कि–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आलोइत्ता सव्वं सीसं सपडिग्गहं पमज्जित्ता ।
उड्ढमहे तिरिअंमि अ, पडिलेहे सव्वओ सव्वं ॥३३७॥

काउं पडिग्गहं कर यलंमि अद्धं च ओण मित्ताणं ।
भत्तं वा पाणं वा, पडिदंसिज्जा गुरु सगा से ॥३४०॥

अर्थात् ''मन-वचन से सर्व आलोचना करके, मस्तक और पात्र का प्रमार्जन करे, ऊपर-नीचे और पास में भी सर्व दिशा में सर्व प्रकार से पडिलेहण करे अर्थात् ऊपर से कुछ गिरे नहीं, नीचे कील आदि नहीं लगे और पास से कुत्ता-बिलाव आहार को नहीं ले जाय, उसका ख्याल रखना। (३३७)॥ उसके बाद हाथ में पात्र को लेकर, आधी काया से नमकर गुरु को प्रत्यक्ष आहार या पानी- सब प्रगट रूप में दिखाना चाहिए। (३४०)॥''

मस्तक प्रर्माजन में यह हेतु है कि दिखाने के लिए पात्र हाथ में लेकर नीचे नमते समय मस्तक के ऊपर से पसीने के बिन्दु अथवा कचरा आदि पात्र में न गिरे। पल्ले तथा पात्र प्रमार्जन का कारण यह है कि पात्र खोलते समय ऊपर के पड़े और झोली एकत्रित करते या मुड़ जाने से उसके ऊपर यदि त्रासादि जीव हों तो उनकी हिंसा न हो। उसके बाद तुरन्त पूर्व में कहे अनुसार वह 'नृत्य, वलन, चलन,' आदि दोष सेवन करते हुए आहार पानी की दोष पूर्वक आलोचना की हो, अथवा बहोरने में अशुद्धि का उपयोग न रहने से दोष रह गया हो, उसको दूर करने के लिए **''यातपाणी दुरा लोइअ दुप्पडिइक्कंता इच्छा कारेण संदिसह भगवन् गोअरचरी पडिक्कमउं ?''** **'इच्छ'** कहकर **'इच्छामि पडिक्कमिउं गोअर चरि आए।'** इत्यादि सूत्र पाठ बोलकर काउस्सग्ग करे। उसमें **'अहो जिणेहिं अ सावज्जा०** (दश्वैकालिक) इत्यादि गाथा का चिन्तन करे। यति दिनचर्या में कहा है कि-

जं किं चि दुरालोइअ मणे सणिज्जं भविज्ज भत्ताई ।
तप्पडि क्कमण निमित्तं, उस्सग्गं कुणइ इअ विहिणा ॥२३१॥

'इच्छामि पडिक्कमिउं, गोअर चरि आइ' एवमाईअं ।
उच्चारिऊण सुत्तं कयउस्सग्गे विचिंतेइ ॥२३२॥

अहो ! जिणे हिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसि आ ।
मक्ख साहण हे उस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥२३३॥

अर्थात् ''यदि कुछ दुष्ट आलोचना हो और अशनादि अनेषणीय-अशुद्ध आया हो, उसके प्रतिक्रमण निमित्त में आगे विधि पूर्वक करे। (१)॥ **'इच्छामि**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पडिक्कमिउं गोअर चरिआए' इत्यादि सूत्र बोलकर काउस्सग्ग मुद्रा में रहकर इस तरह चिन्तन करे । (२)॥ अहो ! यह आश्चर्य-जनक शब्द है कि श्री जिनेश्वर भगवन्त ने मोक्ष की साधना में हेतुभूत साधु को शरीर टिकाने के लिए निष्पाप जीविका (निर्दोष भिक्षा) कही है । (२३३)॥''

ओध निर्युक्ति में तो इस काउस्सग्ग में श्री पंचमंगल नवकार मंत्र का अथवा **'जइ में अणुग्गहं कुज्जा साहू हुज्जामि तारिओ ॥'** दशवैकालिक ५/१/९२ ॥इत्यादि दो गाथाओं का चिन्तन करे, इस तरह कहा है । वह गाथा इस प्रकार है - ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

ताहे दुरा लोहअ, मत्तपाणएसण मणे सणाए व ।
अट्टुस्सासे अहवा, अणुग्गहादीउ झाएज्जा ॥२७४॥

अर्थात् ''और उस समय आलोचना में जो दोष सेवन किया हो या आहार-पानी निर्दोष-सदोष लेने में उपयोग न रखा हो, उस दोष का निवारण करने के लिए आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करे । उसमें श्री नवकार महामन्त्र का अथवा **'जह में अणुग्गह कुज्जा'** इत्यादि दो गाथा का ध्यान करे ।'' यह गाथा पंचवस्तुक ३४१ में भी आई है ।

उसके बाद 'नमो अरिहताणं' कहकर पार कर ऊपर प्रगट एक लोगस्स कहे, फिर भूमि का प्रर्माजन कर आहार पानी के पात्र वहां रखे । ओध निर्युक्ति में तो 'उसके बाद योग विधि के समान सज्झाय परठना, उसके बाद स्वाध्याय अन्तर्मुहूर्त्त तक करे।' इस तरह गोचरी की आलोचना विधि बताई गई है । अब उसके बाद का कर्त्तव्य कहते हैं -

आलोचना करने के बाद चैत्य वंदनादि विधि करे । उसमें 'आदि' शब्द से पहले कहे पच्चक्खान को पारे- इस प्रकार समझना । इसकी विधि प्रसिद्ध है । यति दिनचर्या में उस कायोत्सर्ग के बाद तुरन्त पच्चक्खान पारणे के लिए कहा गया है, वह भी 'चैत्य वन्दन पूर्वक पारे' इस प्रकार समझ लेना चाहिए । क्योंकि - पच्चक्खान पारने की विधि चैत्य वंदन के साथ में सम्बद्ध है । चैत्य वंदन के बिना पच्चक्खान पारा नहीं जाता, ऐसा विधान है । चैत्य वंदन भाष्य में सात चैत्य वंदन प्रतिदिन करने के लिए कहा गया है- उसमें यह भोजन का चैत्य वंदन बतलाया है । भाष्य की गाथा इस तरह है-

पडिक्कमणे चेइय जिमण, चरिम पडिक्कमण सुअण पडि बोहे ।
चिइवंदण इअ जइणो, सत्त उ वेला अहो रत्ते ॥५९॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् "१. प्रभात के प्रतिक्रमण में, २. जिन मन्दिर में, ३. आहार के पूर्व, ४. भोजन के बाद दिव चरिमं पच्चक्खान करते, ५. शाम को प्रतिक्रमण में ६. शयन करते पोरसी के समय और ७. जागते जग चिन्तामणी का– इस तरह साधु के लिए एक दिन रात में सात बार चैत्य वंदन करने की विधि है।" अत: इस तरह पच्चक्खान पारने के बाद जघन्य से भी सोलह श्लोक का स्वाध्याय करना चाहिए। इस प्रकार यति दिनचर्या में कहा गया है। वह गाथा यह है–

मुंचइ भत्तं पाणं, सम्मं जिण नाह वंदणं कुणइ ।
सोलस सिलोग माणं, जहन्नओ कुणइ सज्झायं ॥२३६॥

अर्थात् "आहार पानी नीचे रखकर श्री जिनेश्वर को (चैत्य) वंदन करे, और जघन्य से सोलह श्लोक प्रमाण (दशवैकालिक के प्रथम दो अध्ययन का) स्वाध्याय करे।" पंचवस्तुक में तो कहा है कि –

धम्मं कहण्णु कुज्जं, संयमगाहं च नियमओ सव्वे ।
एछहगित्तं वडण्णं सिद्धं ज जंमि तित्थंमि ॥३५२॥

अर्थात् "**धम्म** अर्थात् दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की पांच गाथा, '**कहण्णु कुज्जं**' अर्थात् उसके दूसरे अध्ययन की ग्यारह गाथा और '**संयम गाहं**' अर्थात् उसके तीसरे अध्ययन की '**संजमे सुट्ठि अप्पाणं**' की एक गाथा (अथवा सब गाथा) का स्वाध्याय सर्व साधुओं को अवश्य करना चाहिए अथवा श्री ऋषभदेवादि के तीर्थ में जो सिद्ध हो वह दूसरा स्वाध्याय करे।"

इस प्रकार ९३ मूल गाथा की व्याख्या पूर्ण हुई। अब उसके बाद साधु के कर्त्तव्य के लिए ९४ मूल गाथा की व्याख्या करते हैं।

गुर्वादिच्छन्दना पूर्वं, विधिना भोजन क्रिया ।
यतना पात्र शुद्धौ च, पुनश्चैत्य नमस्क्रिया ॥९४॥

मूलार्थ – "गुरु आदि को आहार के लिए निमन्त्रित करके विधिपूर्वक भोजन करे, पात्र को शुद्ध करने में जयणा रखे और पुन: चैत्य वंदन करे।"

व्याख्या – गुरु अर्थात् आचार्य को और आदि शब्द से प्राधूर्णक अन्य समुदाय के पधारे हुए इत्यादि साधुओं को लाए हुए आहार का निमंत्रण करना चाहिए। इसकी भी विधि समझाते हैं। उस विधि पूर्वक भोजन करना। वह भी सापेक्ष यति धर्म है। उसमें प्रथम निमंत्रण की विधि इस तरह है कि–साधुओं की एक मंडली में सर्व साधुओं के साथ में आहार करने वाला और दूसरा कारणवश अकेला भोजन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करने वाला– इस तरह दो प्रकार से होता है। उसमें अकेला भोजी इस प्रकार होता है। ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

आगाढ जोगवाही, निज्जूढऽत्तट्ठिआ व पाहुणगा ।
सेहा सपाय छित्ता, बाला वुड्ढेवमाईआ ॥५४८॥

अर्थात् "गणि पदवी के योग वाला, असुन्दर- स्वभाव से अथवा शरीर से मंडली में साथ में बैठने योग्य न हो, और आत्मार्थी (अपने लब्धि से जीने वाले) जो मुनि हों वे अलग आहार करें, तथा प्राधूर्णक को, नये आए हुए साधु को पहले से पूर्ण आहार देना चाहिए, अत: वे भी अलग आहार करें। नव दीक्षित जब तक उपस्थानक न हो तब तक गृहस्थ तुल्य होने से, प्रायश्चित वाला, दूषित चारित्र वाला, मंडली से बाहर किया गया, प्रायश्चित पूर्ण न कर लें तब तक ये भी मंडली से भिन्न आहार करें। बाल और वृद्ध तो असहिष्णु जब तक ये होते हैं- इसलिए वे भी पहले भोजन करें और आदि शब्द से इसके सिवाय 'कोढ़ी' आदि छुतहा रोग वाले। ये मंडली में आहार नहीं करते इसलिये इन सभी को एकल भोजी जानना।"

इसी प्रकार मंडली के अन्दर आहार करने वाले साधु मंडल भोजी होते हैं, जब तक अन्य सर्व मुनि एकत्रित हों तब तक वे राह देखते हैं और सब इकट्ठे होकर साथ में आहार करते हैं। यह भी सहिष्णु का उद्देश जानना। असहिष्णु के विषय में तो पहले बतला दिया है (उपवासी हो, स्वयं समुदाय साधु गोचरी भ्रमण से थक गया हो अथवा गरमी के योग से प्यास आदि के कारण पराभव हुआ हो) इन तीन कारणों से यदि जल्दी आहार करना चाहे, तो छोटे पात्र में निकालकर उसे पहले दे सकते हैं। यदि ऐसे असहिष्णु बहुत हों तो उनको भोजन देने के लिए बड़ा पात्र देना चाहिए। यदि एक भोजी हो, तो गुरु के सामने आहार रखकर - हे भगवन्त! प्राधूर्णक, उपवासी, अशक्त, बाल, वृद्ध, नव दीक्षित आदि साधुओं को यह आहार-पानी दो।' इस तरह कहे। मंडली भोजी भी इसी तरह गुरु से कहे। ओध निर्युक्ति में भी कहा है कि–

दुविहो य होइ साहू, मंडलिउब जीवओ य इयरो य ।
मंडलि उवजीवं तो, अच्छइ जा पिंडिआ सव्वे ॥५२२॥

इयरो अ गुरु सगासं, गंतूण भगइ संदिसह भंते ।
पाहुणग खवग अतरंत बाल वुड्ढाण सेहाणं ॥५२३॥

अर्थात् "साधुओं में मंडली भोजी और एक भोजी इस तरह दो प्रकार के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साधु होते हैं । उसमें मंडली भोजी, गोचरी आने के बाद भी जब तक भोजन करने वाले सर्व साधु मंडली में न आ जायें तब तक आहार नहीं करते । (५२२)॥ एक भोजी, गोचरी लाने के बाद गुरु के पास जाकर - 'हे भगवन्त ! प्राधूर्णक, तपस्वी, असमर्थ, बाल, वृद्ध और नवदीक्षित को यह आहारादि आप दीजिए ! ऐसा कहे (५२३)॥"

इस तरह कहने के बाद गुरु स्वयं अथवा उनकी आज्ञा से स्वयं प्राधूर्णकादि को निमंत्रण दे, अन्य यह नहीं चाहते फिर भी निमंत्रण करने वाले के परिणाम विशुद्ध होने से निर्जरा होती ही है, क्योंकि - वैयावच्च का फल महान् है । यहां तक ग्रहणैषणा का प्रतिपादन किया ।

अब ग्रासैषणा कहते है । उसमें गोचरी के लिए गये साधुओं की उपधि आदि तथा वसति की रक्षा करने वाले साधु गोचरी लेकर आने के पहले प्रत्येक के पात्र एकत्रित करके तैयार रहें जब गोचरी वाले साधु आएं तब उनका लाया हुआ पानी आचार्य आदि के लिए नन्दी पात्र (बड़े पात्र) में नितारकर-स्वच्छ करके छान दे। वह गलकर गच्छ में साधुओं की संख्या के अनुसार एक, दो या तीन पात्रों में भर दे क्योंकि-वह आचार्य आदि के पीने आदि बहुत कार्यों में उपयोगी होता है । ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

आयरिअ अ भाविअ पाणगट्ठ या पाय पोस धुवणट्ठा ।
होइ अ सुहं विवेगो, सुह आयमणं च सागरि ए ॥५५६॥

अर्थात् "आचार्य और (धोवन आदि की मलिन पानी को पीने की जिसको आदत न हो) अभावित साधुओं को पीने में, पैर धोने में तथा स्थंडिल-शौंच में उपयोगी हो सकता है यदि वह ज्यादा हो गया हो तो सुख पूर्वक मुख्य मार्ग में परठ भी सकते हैं और निर्मल होने से गृहस्थ की उपस्थिति में हिचकिचाहट के बिना शौच, हाथ आदि साफ कर सकते हैं, इसलिए स्वच्छ करके पानी गलना चाहिए।"

उसके बाद योग्य आहार देकर बाल, साधु आदि के चित्त को प्रसन्न करके, गुरु महाराज को पूछकर, गीतार्थ, दीर्घ पर्याय वाले और लोलुपता से रहित मंडल के वृद्ध मंडल में हाजिर हों और उसके बाद जैसा कि आगे कहेंगे, उस विधि पूर्वक अन्य साधु भी मंडली में आएं । वस्तुतः मंडली ग्याल आदि पराश्रित साधुओं के लिए उपकारक है, क्योंकि उन प्रत्येक को अलग-अलग वैयावच्च कारक सौंपना अशक्य होता है, अथवा सौंपने से प्रत्येक को सूत्र-अर्थ-स्वाध्याय में भी हानि होती है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मंडली में तो बहुत सुनने वाले होते हैं इससे ऐसी कठिनाई नहीं आती और सब की वैयावच्च सुखपूर्वक हो जाती है। ओध निर्युक्ति में कहा है कि –

अतरंत बाल वुड्ढा सेहाएस गुरु असहुवग्गो ।
साहारणोग्गहाऽलद्धि कारणा, मण्डली होई ॥५५३॥

अर्थात् ''असमर्थ ग्याल, बाल, वृद्ध, नवदीक्षित तथा प्राधूर्णक, गुरु और असहिष्णु राजपुत्रादि आदि सुकोमल काया वाले, इन सबके अनुग्रह-उपकार के लिए तथा जो साधु लाभान्तराय के उदय से आहार मिलने की लब्धि से हीन हों उनके अनुग्रह के लिए मंडली है।'' इस तरह आहार के लिए बैठे साधु को सर्वप्रथम अपनी आत्मा को इस प्रकार से हित शिक्षा देनी चाहिए। ओध निर्युक्ति में कहा है कि –

बायालीसे सण संकडंमि गहणंमि, जीव ! न हु छलिओ ।
इण्हिं जह ण छलिज्जसि, भुंजतो राग दोसेहिं ॥५५५॥

अर्थात् ''हे जीवात्मा ! बयालीस एषणा के दोष से गहन अटवी के समान ग्रहणैषणा में तू उस समय ठगा हुआ न कहलाया, अब आहार करते राग द्वेष से कहीं तू ठगा न जाये। अर्थात् निर्दोष आहारादि करने में भी तू राग द्वेष न करना, उस तरह ठगा न जाय, इस तरह अब तुझे भोजन करना चाहिए।''

उसके बाद श्री पंच परमेष्ठि नमस्कार मंत्र का स्मरण कर गुरु महाराज के पास आहार करने की आज्ञा मांगकर जब उनकी अनुज्ञा मिले तब घाव पर जैसे औषध लेप करते हैं, उसी तरह पेट का खड्डा भरने के लिए – क्षुधा शान्त करने के लिए आहार करे। इस श्लोक में विधि पूर्वक भोजन करने के लिए कहा गया है। इसमें ओध निर्युक्ति में बतायी गयी सारी विधि सात द्वारों से बतायी गई है, वह यहां कहते हैं –

मंडलि भायण, भोयण, गहणं सोही उ कारणुव्वरिए ।
भोयण विही उ एसो, भणिओ तेलुक्कदंसीहिं ॥५६६॥

अर्थात् ''**१. मंडली** = बुजुर्ग – यथा रत्नाधिक के क्रम से प्रकाश स्थान पर, ठीक तरह निकलने जाने का मार्ग छोड़कर, रत्नाधिक स्थविर पूर्वाभिमुख बैठें। एक साधु मंडली के स्थविर से दिये हुए अशनादि अन्य साधुओं को देने लिए बढ़ा हुआ गुरु के सन्मुख बैठे, अन्य साधु गुरु के बिलकुल सन्मुख, पीछे या पास में नहीं बैठते– सन्मुख कुछ पास में अग्नि कोण या इशान कोण में बैठें, आहार गुरु के सन्मुख बैठ कर करना चाहिए जिससे कुपथ्य आदि में से वे सरलता से बचा सकें।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. भाजन = पात्र चौड़े मुख वाला लेना, छोटे मुँह वाला नहीं लेना, जिससे उसमें मक्खी आदि देख सके। प्रत्येक साधु के पास १. श्लेष्म की, २. आहार में निकले कांटे, कंकर आदि अखाद्य वस्तु डालने के लिए इस तरह दो कटोरे (प्याले) रखने चाहिए। मंडली के बाहर कोई गृहस्थ आदि आकर खड़े न हों उसकी रक्षा के लिए उपवासी आदि आहार न करने वाले साधु उन गृहस्थों को रोकें। क्योंकि साधु को गुप्त आहार करने की आज्ञा है।" पंचवस्तुक में कहा है कि –

पच्छन्ने भोत्तव्यं जइणा दाणाउ पडि निअत्तेणं ।
तुच्छ गजाइ अदाणे, बधो इहरा पओसाई ॥३६॥

अर्थात् "दान धर्म से निवृत्त हुए साधु को गुप्त रूप में भोजन करना चाहिए, क्योंकि यदि उसे देखकर दीन-दुःखी जीव उसकी याचना करे और साधु यदि दे तो अनुकम्पा दान से पुण्य कर्म का बन्धन होता है, यह पुण्य बन्धन साधु जीवन में निषेध है क्योंकि - सोने के बेड़ी के समान वह बंधन रूप है। दूसरी ओर मांगने पर भी यदि न दे तो याचक को प्रदेश -अप्रीति आदि होने से उसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बंध होता है, इससे वह दुर्लभ बोधि होता है।"

भाजन– १. यथा जात = अर्थात् गृहस्थ के पास से लेने के बाद उसके ऊपर कोई भी क्रिया किए बिना ही उपयोग हो सके- ऐसा पात्र- **२. अल्प परिकर्म** = लेने के बाद उसके ऊपर अल्प क्रिया-रंग आदि करने पड़ें- ऐसा पात्र **३. बहु परिकर्म** = जिसमें जोड़ना, रंगना आदि बहुत क्रिया करनी पड़ती हो- ऐसा पात्र। इस तरह पात्र तीन प्रकार का होता है। उसमें से आहार देने के लिए पहले यथाजात परिक्रम के पात्र को फिराना, वह पूर्ण होने के बाद अल्प परिकर्म वाला और उसके बाद बहुपरिकर्म वाला पात्र फिराना चाहिए।

३. भोजन = भोजन के पित्त आदि विकार की शान्ति के लिए और बल-बुद्धि आदि की वृद्धि के लिए स्निग्ध एवं मधुर आहार प्रथम खाना चाहिए। इसके बाद द्रव्य उपयोग करना चाहिए जो बढ़ गया हो। घी आदि को परठने में भी असंयम का कारण बनता है। यदि ऐसा द्रव्य अल्प या बहु परिकर्म वाले पात्र में हो फिर भी उसे पहले उस पात्र में खाकर हाथ साफ करके यथाजात पात्र आहार के लिए रखना चाहिए।

४. ग्रहण = पात्र में से आहार का कौर मुर्गी के अण्डे जितना लेना, कि जिसे मुख में रखते या चबाते समय मुख बहुत चौड़ा या टेढ़ा न करना पड़े अथवा हलके हाथ से खाने वाला जितना ले उतना ग्रास (कौर) लेना चाहिए। यहां से पात्र में से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लेना और मुख में रखना– इस तरह ग्रहण दो प्रकार से जानना। उसमें १. कटकच्छेद, २. प्रतरच्छेद और ३. सिंह भक्षित– इन तीन में किसी एक विधि से पात्र में से लेना। उसमें वृद्धपरम्परा से **१. कटकच्छेद** = अर्थात् जो एक ओर से थोड़ा-थोड़ा खाते जाते वह जब तक पूर्ण न हो तब तक उसी ओर से खाना। जैसे कि चटाई को टुकड़े-टुकड़े काट कर फेंकते हुए सारी चटाई समाप्त हो जाती है, वैसे ही रोटी आदि को साथ में एक ओर से तोड़कर खाते-खाते सब पूर्ण हो, वह कटकच्छेद है। **२. प्रतरच्छेद** = अर्थात् एक एक पड पूर्ण करते सब रोटी को पूर्ण करता है। **३. सिंह भक्षित** = अर्थात् सिंह के समान जिस ओर से प्रारंभ करता है, उस तरफ से ही पूर्ण करता है। ये पात्र में से लेने के भेद कहे हैं। मुख में कौर डालने के लिए ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

असुर सुरं अचवचवं अददु अम विलं बिअं अपरिसाडि।
मण वयण काय गुत्तो, भुंजे अह पक्खिवण सोही ॥२८६॥

अर्थात् 'सरड़ सरड़' अवाज हो इस तरह सपाटे लिए बिना, 'चब-चब' आवाज किए बिना, जल्दी से नहीं, वैसे अति विलम्ब से भी नहीं, दाना, छींटे आदि नीचे न गिरें- इस तरह मन वचन काया से गुप्त अर्थात् मन में राग द्वेषादि बिना, वचन से प्रशंसा या निंदा किए बिना और काया से रोमांचित, मुख से प्रफुल्लित या उदास हुए बिना आहार करे– यह प्रक्षेपण की शुद्धि समझना।'' यह गाथा पंचवस्तुक ३६१ में भी आई है।

यदि आहार करते समय प्रत्येक साधु को आहार देते हुए वह पात्र आधे साधुओं में ही खाली हो जाय तो उसमें और आहार डालकर शेष साधुओं को आहार देना चाहिए। इसमें यह विशेष है कि 'बाल मुनि' आदि साधुओं का बढ़ा हुआ आहार यदि झूठा न हुआ हो तो वह उस पात्र में लेकर शेष साधुओं को दे, और गुरु का बढ़ा हुआ आहार तो चाहे झूठा भी हो गया हो फिर भी उस पात्र में लेकर बाल आदि साधुओं को दे। गुरु के बलावा अन्य साधु का बढ़ा हुआ आहार झूठा हो तो वह उस पात्र में नहीं डालना चाहिए इत्यादि।

५. शुद्धि - भोजन की शुद्धि तो संयम यात्रा रूप धर्म के साधनभूत शरीर के निर्वाह के लिए ही छियालीस दोष रहित आहार लेने से होती है। जो कि - यहां पहले बयालीसा दोष कहे हैं, उनमें ग्रासैषणा के पांच दोष मिलाने से सैंतालीस होते है, फिर भी ग्रासैषणा के पांच में 'कारण अभाव' नाम का आखिरी दोष चालू विषय के सातवें (छट्ठे) द्वार में यहां स्वतंत्र कहा जाने से शेष चार भेद मिलाकर कहे गये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं, वह ठीक हैं। ग्रासैषणा के दोष १. संयोजना, २. प्रमाण से अधिक, ३. अंगार, ४. धूम्र और ५. कारणाभाव हैं। पंचाशक १३/४८ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि –

संजोअणा पमाणे, गाले धूम कारणे चेव ।
उवगरण भत्तपाणे, सवाहिरब्भन्तरा पढमा ॥७३४॥

अर्थात् "ग्रासैषणा दोष- १. संयोजना, २. प्रमाणाधिक, ३. अंगार, ४. धूम्र और ५. कारणाभाव, ये पांच हैं। उसमें प्रथम संयोजना के १. उपकरण विषय और २. भक्तपान विषय- दो भेद हैं और इन दोनों के भी बाह्य-अभ्यन्तर रूप दो भेद होते हैं।"

१. संयोजना - रस आदि के लोभ से रोटी आदि में खांड, घी आदि अन्य द्रव्य मिलाना वह भक्त पान विषया संयोजना कहलाता है। यदि वह उपाश्रय के बाहर मिलाया जाय तो बाह्य संयोजना है और यदि अन्दर आकर मिलाया जाय तो अभ्यंतर संयोजना कहलाता है। साधु को वह नहीं करना चाहिए। उपकरण संयोजन में भी किसी स्थान पर यदि सुन्दर चोल पट्टा आदि मिले, उसके अनुरूप अन्य से मुलायम कपड़ा आदि प्राप्त कर उपाक्षय के बाहर पहने तो बाह्य और यदि उपाश्रय में पहने तो अभ्यंतर समझना।

२. प्रमाणाधिक्य - धीरता, शरीर-बल और संयम के अनुष्ठानों में कमी न आए- इतना आहार प्रमाणभूत कहलाता है। इससे अधिक आहार करने से तो वमन, रोग या मृत्यु भी होती है। इसलिए आहार प्रमाण से अधिक लेना दोष है।

३. अंगार - स्वादिष्ट आहार की अथवा उसके दातार की प्रशंसा करते हुए यदि आहार करे तो साधु को राग रूपी अग्नि से संयम रूप का अंगार होता है, इसलिए ऐसा अंगार दोष सेवन नहीं करना चाहिए।

४. धूम्र - अनिष्ट आहार या उसके दातार की निंदा करते यदि आहार करे तो साधु द्वेष रूप अग्नि से चारित्र रूपी ईन्धन को जलाता हुआ चारित्र को धुएं से मलिन - काला करता है। अतः धूम्र दोष का भी सेवन नहीं करना चाहिए।

५. कारणाभाव - छह कारणों के बिना, जिनका वर्णन आगे किया जायेगा, भोजन करने वाले को 'कारणाभाव' दोष कहलाता है। इसलिए बिना कारण आहार नहीं करना चाहिए।

आहार के कारण ये हैं – १. क्षुधा की वेदना सहन न होती हो, २. आहार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बिना अशक्त शरीर से वैयावच्चादि न होती हो, ३. नेत्र का तेज होते ईर्या समिति के पालन में अशुद्धि होती हो, ४. प्रतिलेखना – प्रमार्जन आदि संयम का पालन न हो सकता हो, ५. क्षुधा की पीड़ा बढ़ जाने से मृत्यु की संभावना होती हो, और ६. आर्त्त – रौद्र ध्यान से बचकर धर्म ध्यान में स्थिर न होता हो– इन कारणों से भोजन करे। ये आहार करने के छह कारण हैं। पंच वस्तुक गाथा ३६५ में तथा ओघ निर्युक्ति में कहा है कि –

वेअण वेयावच्चे, इरिअट्ठाए अ संजमट्ठाए ।
तह पाणवत्ति आए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥५८०॥

अर्थात् ''भूख (क्षुधा) की वेदना सहन न होने से, वैयावच्च के लिए, इरिया समिति का पालन के लिए, प्रमार्जन पडिलेहणादि संयम के लिए, प्राण टिकाने के लिए और धर्म ध्यान का चिन्तन करने के लिए– इस प्रकार छह कारण से मुनि को आहार पानी लेना चाहिए।'' इसके बिना न ले। इन कारणों से भी आहार करते समय साधु आहार आदि के छह विभाग की कल्पना करे। यति दिनचर्या में कहा है कि–

अद्धमसणस्स सव्वं जणस्स, कुज्जा दवस्स दो भाए ।
वाय पवियारणट्ठा छब्भायं ऊणयं कुणइ ॥२४४॥

अर्थात ''साधु भूख के अनुसार आधा (तीन) भाग साग आदि सम्पूर्ण आहार के लिए और दो भाग पानी के लिए कल्पना करे अर्थात् पांच विभाग में आहार-पानी ले और वायु संचार के लिए छट्ठा विभाग उणोदरी करे।'' आहार का प्रमाण सामान्यत: पुरुष को ३२ और स्त्री को २८ कौर (ग्रास) कहे हैं। पिण्ड निर्युक्ति में कहा है कि –

बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ ।
पुरिसस्स य महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला ॥६४२॥

अर्थात् ''पुरुष को सामान्यत: पेट पूर्ति आहार बत्तीस कौर का कहा है, और स्त्री के लिए अट्ठाईस कवल का आहार कहा है।'' गोरस = दूध, दही आदि के आहार की विधि इस तरह है। यति दिनचर्या में कहा है कि –

विदलं जिमिय पच्छा, मुहं च पत्तं च दोवि धोएज्जा ।
अहवावि अन्नपत्ते, भुंजिज्जा गोरसं णियमा ॥२४६॥

अर्थात् ''विदल – दो दल वाले अनाज का आहार करने के बाद मुख और पात्र, दोनों को साफ करना चाहिए, अथवा निश्चयपूर्वक विदल का स्पर्श न हुआ हो– ऐसे अन्य पात्र में गोरस का भोजन करना चाहिए।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसके बाद तीन कौर आहार जब शेष रह जाय तब उससे लिप्त पात्र की चिकनाई को हाथ की अंगुलि से साफ कर फिर वे तीन कौर खाकर, धोवन आदि के पानी से प्रथम बार पात्र को धोकर उस पानी को पी जाय और फिर मुख शुद्धि करके निर्मल पानी लेकर दूसरी बार पात्र को धोकर मंडली के बाहार जाना चाहिए। यति दिनचर्या में कहा है कि –

पत्ताणं पक्खालण सलिलं पढमं पिबंति नियमेणं ।
सोहंति मुहं तत्तो, बाहिं पत्ताणि धोवंति ॥२६०॥

अर्थात् "पात्र के धोवन का पहला पानी नियम से पीना, उसके बाद मुख शुद्धि करना और फिर पात्र को दूसरी बार मंडली के बाहर धोना ।"

भोजन करते समय यदि आहार बढ़ जाये तो गुरु महाराज की आज्ञा से आयंबिल आदि तप वाले साधु वह बढ़ा हुआ आहार प्रयोग कर लें अथवा जीव रहित निरवध भूमि में परठ दे । यहां १. विधि से ले और २. विधि से परठे– इन दो पदों की चतुर्भंगी कही है । उसमें 'विधि गृहीत और विधिभुक्त' यह पहला शुद्ध भागवाला है तथा 'अविधिगृहीत और विधिमुक्त' यह तीसरा भाग भी गुरु की आज्ञा से कल्पता है, शेष भाग नहीं कल्पता ।

यह ग्रासैषणा की विधि बताई गई है । अब आहार के बाद का कर्त्तव्य बतलाते हैं – 'पात्र शुद्धि जयणा से करना' यह भी सापेक्ष यति धर्म है । उसमें पात्र को पहली बार धोने की विधि ऊपर कही गई है । दूसरी बार मंडली में से साथ में लाए निर्मल पानी से सर्व साधु बाहर धोएँ, धोने के लिए धोने की जगह पर सर्व साधुओं को मंडली के आकार बैठ कर और बीच में खड़े साधु से निर्मल जल लेकर तीसरी बार पात्र धोना चाहिये । अत: वह खड़ा हुआ साधु प्रत्येक को निर्मल पानी देकर उससे तीसरे बार धुलवाये । गुरु के पात्र तो पहले ही अलग धोए जायं और शेष साधुओं के पात्रों में जो यथाकृत पात्र है वह प्रथम, उसके बाद सब से कम (अल्प) परिकर्म वाला और फिर उससे अधिक (बहु) परिकर्म वाला– इस तरह क्रमश: धोना चाहिए । यति दिनचर्या में कहा है कि –

गुरुणो पत्तं भिन्नं, कप्पिज्ज अहागडं तु सेसेसु ।
पढमं पक्खालिज्जा, जहा विशुद्धं तु सेसाणं ॥२५२॥

अर्थात् "गुरु महाराज का पात्र पहले अलग धोना, शेष साधुओं के पात्रों में 'यथाकृत' को पहले धोना और शेष पात्रों में अल्पपरिकर्म वाला विशुद्ध पात्र पहले और बहुपरिकर्म वाला बाद में, इस तरह विशुद्धि के क्रम से धोना ।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसके बाद शुद्धि (स्थंडिल-शौच) के लिए दो दो साधुओं के पात्र में इकट्ठा पानी दे। ओध निर्युक्ति में कहा है कि –

दाऊण वितिय कल्पं बहिया मज्झट्ठिओ उ दवहारी ।
तो दिं ति तइ अकल्पं, दोण्हं दोण्हं तु आयड्ढा मणं ॥५८६॥

अर्थात् "दूसरी बार पात्र धोने के बाद बीच में खड़ा पानी देने वाला साधु तीसरी बार पात्र धोने के लिए शुद्ध पानी दे और आखिर में आचमन-स्थंडिल-शौच के लिए दो दो साधुओं को उनके पात्र में एकत्रित पानी दे।" यह विधि भी गृहस्थ के अभाव में ही उचित है। यदि वहां कोई गृहस्थ देखते हों तो पात्र को भोजन मंडली में ही धोएं। पंच वस्तुक में कहा है कि–

अह भुंजिऊण पच्छा, जोग्गा होऊण पत्तहे ताहे ।
जोग्गे धुवंति वाहिं, सागरिए नवर मंतो वि ॥३८८॥

अर्थात् "इस तरह आहार करने के बाद हाथ-मुँह आदि की शुद्धि करके, उस समय निर्मल जल से पात्र को बाहर धोना, यदि गृहस्थ वहाँ देखता हो तो उससे पराभव आदि होने के कारण अन्दर मंडली में ही धोना चाहिए।"

यदि यह ज्ञात हो कि आहारादि में आधा कर्मी आदि दोष वाला भी आहार आदि था, तो पात्र को अधिक बार भी धोना चाहिए। पंच वस्तुक में कहा है कि–

अच्छेद वेणु व उत्ता, णिर वयवे दिंति तेसु कप्पतिअं ।
पाऊण व परिभोगं, कप्पं ताहे पवड्ढंति ॥३८६॥

अर्थात् "निर्मल पानी से शुद्ध होकर आहार के अंश आदि से शुद्ध बने उस पात्र को तीन कल्प से धोए और आधाकर्म आदि दोष वाला आहार खाने की बात यदि हुई हो तो अधिक बार भी धोए, जिससे कि दोष की गृद्धि – नि:शुकता न हो।"

तथा दूसरी-तीसरी बार धोने पर भी बाहर के भाग पर यदि आहार का कोई अंश रह गया दिखाई दे तो पूर्व में धोने के लिए जो पानी लिया हो उस पानी से ही उसे दूर करे, परन्तु तीन बार धोने की विधि के भंग होने के भय से नया पानी नहीं लेना चाहिये । पंचवस्तुक में कहा कि –

अंतो णिरवयवि चिअ, बिअति अकप्पेवि वाहि जइ पेहे।
अवयवमंत जलेणं तेणेव करेज्जते कप्पं ॥३६०॥

अर्थात् "मंडली में पात्र को धोते समय आहार का अंश दूर करने के बाद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बाहर बैठकर उस पात्र को दूसरी-तीसरी बार धोने पर भी यदि कुछ अंश दिखे तो वह साधु तीसरी बार लिए पानी से ही उस अंश को साफ कर दे ।''

उसमें इस प्रकार विवेक करना कि जिसमें अलेपकृत अशनादि द्रव्य लिया हो उसे नहीं धोना, परन्तु जिस पात्र में लेपकृत लिया हो उसे तो अवश्य धोना चाहिए। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

भाणस्स कल्प करणे, अलेवणे नत्थि किंचि कायव्वं ।
तम्हा लेव कडस्स उ कायव्वा मग्गणा होइ ॥१७०५॥

अर्थात् ''पात्र धोने में यह विवेक करना कि जिसमें अलेपकृत द्रव्य लिया हो उस पात्र का कुछ करना धोना नहीं है, परन्तु जो लेपकृत से लिप्त हो उसे अवश्यमेव धोना चाहिए। इस कारण से यहाँ उसके विषय में विचार करना है । इस उद्देश्य से यहां संगानुसार अलेपकृत द्रव्य कहा है ।'' और भी कहा है कि-

कंजु सिणचाउ लोदक संसट्ठा याम कट्ठ मूल रसे ।
कंजिय कढिए लोणे, कुट्ठा पिज्जा य नित्तुप्पा ॥१७०६॥

कंजिय उदग विलेवी, आदेण कुम्मास सत्तए पिट्ठे ।
मंडग समिउस्सिन्ने, कंजिय पत्त अलेव कडे ॥१७०७॥

अर्थात् ''कांजी = मांड, ऊष्ण = तीन उबाल आएँ वहां तक उबाला हुआ पानी, चाउलोदग = चावल का धोया हुआ पानी, संसृष्ट = गोरस से लिप्त पात्र में दही-दूध के रसवाला-मिश्र बना अचित पानी, आयाम=ओसामण, काष्ठ मूलरस = चने, चोले आदि दो दल वाले अनाज द्रव्य और उसके रस = अंशो से मिश्रित अचित बना हो वह 'काष्ठ मूल रस' पानी, कांजिक वथित = काजी में उबाला पानी, लोण = लौंग से-नमक से मिश्र अचित हुआ पानी, कुट्ट = इमली का पानी, पेया = काढ़ा आदि और तिस्तुप्या = वघार बिना की राब आदि ।(१७०६)॥ कांजी युक्त और पानी युक्त दो प्रकार की विलेषिका (पीने का द्रव्य विशेष), ओदन = चावल आदि रुक्ष आहार, कुल्माष = उड़द या चोले, सकतु = सेका हुआ जौं का आटा, पिष्ट = कच्चे मूंग आदि का आटा, मंडक = रोटी, रोटे आदि, समित = गेंहू का आटा, रोटी आदि पकाया हुआ द्रव्य विशेष, उत्स्विन्न = मुद्गर आदि और कांजिक पत्र = अरणी काष्ठ के पान आदि का पानी में उबाला हुआ शाक- ये सब द्रव्य अलेपकृत जानना ।(१७०७)॥ अब आगले श्लोक में लेपकृत द्रव्य बतलाते हैं -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विगई विगई अवयवा, अविगइ पिंड रस एहिं जं मीसं।
गुलदहि तेप्पा वयवे, विगडम्मि य सेसए सुं च ॥१७०८॥

अर्थात् "विगई, विगई के अवयव अर्थात् मन्थु = दही में से मक्खन अलग न हुआ हो- ऐसा मन्थन किया दही-मठा, विगईयों का नीवियाता आदि से मिश्र द्रव्य और अविगई रूप खजूर आदि के रस सहित द्रव्यों से मिश्रत वस्तु- ये सब द्रव्य लेपकृत समझना। यहां गुड़, दही या तेल के अवयव, मन्थु के अंश और शेष घी, विगई आदि के अवयव इत्यादि जो कोई विगई रूप और अविगई रूप नीवियाता हो वह सब द्रव्य लेपकृत समझना।" अब पिण्ड रस के नामो का वर्णन करते हैं। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

अंबंवाड कविट्ठे, मुद्दिआ माउलिंग कयले अ ।
खजूर नालि केरे, कोले चिंचा य बोधव्वा ॥१७१२॥

अर्थात् "आम, आंवला, कोठाफल, द्राक्ष, बीजोरे का फल, केला, खजूर, नारियल, बेर का चूरा, और इमली आदि पिंड रस (सरस) द्रव्य जानना।" ये विगई नहीं हैं परन्तु सरस द्रव्य रूप में लेपकृत हैं।

यह लेप - अलेपकृत द्रव्य का स्वरूप यहां प्रसंगवश कहा है। अब जो पहले पात्र धोने की विधि कही, वह करने के बाद इरियावही प्रतिक्रमण करके शक्र स्तव रूप 'जगचिन्तामणि आदि का जय वीयराय० तक, चैत्य वंदन करना चाहिए। (यह सात में से चौथा चैत्यवंदन समझना।) वह भी सापेक्ष यति धर्म है। इस तरह मूल ६४ वें श्लोक का अर्थ समझाया है। अब उसके बाद का कर्त्तव्य रूप ६५ वीं मूल गाथा की व्याख्या करते हैं -

गुरु वन्दन पूर्वं च, प्रत्याख्यानाय कारिता ।
आवश्यक्या बहिर्गत्वा, स्थण्डिले विड् विसर्जनम् ।६५॥

मूलार्थ - "आहार के बाद गुरु वंदन पूर्वक **'दिवस चरिम'** पच्चक्खान करना, और **'आवस्सही'** कहकर बाहार की भूमि में जाकर शुद्ध (शास्त्रोक्त) भूमि में बड़ी नीति की शंका का निवारण करना।"

व्याख्या - गुरु महाराज को द्वादशावर्त वंदन करके शेष रहे दिन का तिविहार अथवा चउविहार पच्चक्खान करना चाहिए, वह सापेक्ष यति धर्म है। यदि एकासना पच्चक्खान करते समय पहले से ही तिविहार या चउविहार पच्चक्खान किया है, फिर भी अप्रमाद के लिए आहार के बाद पुनः वह करना हितकारी है। उसमें गुरु वंदन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करने के पहले मुखवस्त्रिका का पडिलेहन करना चाहिए। यति दिनचर्या में कहा गया है कि-

विहिणा जेमिअ उट्ठिअ, इरिअं पडिक्कमिअ सक्कथयं ।
पुत्तिं पेहिअ वंदण मिह दाउं कुणइ संवरणं ॥२५६॥

अर्थात् "विधिपूर्वक आहार करके उठे और इरियावही प्रतिक्रमण करके शक्र स्तव कहकर मुहपत्ति का पडिलेहन करके गुरु को वंदन करके पच्चक्खान करना चाहिए।" आगे इस विषय में इतना विशेष बताया गया है कि-

सोहिअ पत्ता बंधं, सम्मं निम्मज्जि आणि पत्ताणि ।
बंधित्तु तेण विहिणा ठविज्ज जा पडि लेहणा समओ ॥२५७॥

कह विहु पत्ताबंधो, पमाय वसओ खरंटिओ हुज्जा ।
पड लाइं अहव कप्पो, कप्पिज्जसु ताणि जयणाए ॥२५८॥

पढमं लूहिज्जंते, चीवरखंडेण जेण पत्ताणि ।
तं निच्चं धो विज्जइ, अन्नह कुच्छाइ आ दोसा ॥२५९॥

अर्थात् "पात्र बंधन (झोली) को चक्षु से देखकर, अच्छी तरह से शुद्ध किये गये पात्रों को उससे विधिपूर्वक बांधकर प्रतिलेखना के समय तक रख छोड़े (२५७)॥ यदि प्रमाद आदि किसी कारण से झोली बिगड़ गयी हो अथवा पल्ले या कपड़ा बिगड़ गया हो तो उसे जयणापूर्वक धोना चाहिए ॥(२५८)॥ जिस वस्त्र टुकड़े से पात्र को पहली बार पोंछा हो, उस वस्त्र को तो प्रत्येक दिन धोना चाहिए। नहीं तो उसमें संमूर्छिम जीवोत्पत्ति, धर्म की निंदा आदि के दोष (पाप) लगते हैं। (२५९)॥"

उसके बाद बाहर जाने में हेतुभूत '**आवस्सहिया**' जिसका लक्षण पहले कहा है, वह कह कर बाहर भूमि में जाय। क्योंकि बिना कारण साधु को बाहर जाना कल्पता नहीं है। गांव-शहर के बाहर भूमि में जाकर वहां शुद्ध-निर्जीव स्थल पर बड़ी नीति करे। यहां स्थंडिल जाते समय साधु की मर्यादा ऐसी है कि-बड़ी नीति की शंका काल में और अकाल में, इस तरह दो समय होती है। उसमें सुबह की सूत्र और अर्थ पोरसी पूर्ण करके काल का पडिलेहन करने के बाद हो अथवा आहार करने के बाद- ये दोनों 'काल संज्ञा' कहलाती हैं, और उसके सिवाय किसी समय में हो वह 'अकाल संज्ञा' कहलाती है। इस अकाल संज्ञा में यदि पहली सूत्र पोरसी के अन्दर हो तो वह साधु अन्य साधुओं को पूछे कि-तुम्हारे में से कोई स्थंडिल भूमि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में जाने वाला है या नहीं ? यदि कोई जाने वाला हो तो उसके अनुरूप उतना पानी ले आए। यह पानी तर बिना, गंध हीन और खट्टी छाछ की आश स्थंडिल भूमि की दिशा के अलावा अन्य किसी दिशा से बहोरकर ले आए। इससे गृहस्थ को ऐसी शंका न हो कि साधु कांजी, छाछ, आश आदि से शौच करते हैं क्योंकि ऐसी जानकारी से धर्म निंदा होती है। ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

कालम् काले सण्णा, कालो तइआइ सेसयम कालो।
पटमा पोरिस आपुच्छ, पाणगम पुव्विकयऽन्ना दिसि ॥३०६॥

अर्थात् "संज्ञा काल में और अकाल में दो समय में होती है। उसमें तीसरी पोरसी में हो वह काल और शेष समय में हो वह अकाल बताया गया है। यदि प्रथम पोरसी में हो तो अन्य साधुओं से पूछे और अन्य दिशाओं से तर बिना का पानी ऐसा लाए कि देखने वाले को वह निर्मल पानी समान दिखे।" यह पानी उपलक्षण से 'गंध रहित' लेना आदि भी इसी प्रकार समझाया गया है। और भी आगे कहा है कि –

अइरेग गहण उग्गाहिएण, आलोअ पुच्छिउं गच्छे।
एसा उ अकालंमी, अणहिंडिअ हिडिआ कालो ॥३१०॥

अर्थात् "झोली में पात्र रखकर उसमें पानी आवश्यकता से अधिक लाना, क्योंकि कदाचित् अन्य साधु के उपयोग में आ जाए, अथवा गृहस्थ के सामने यदि शौच या पाद प्रक्षालन करना पड़े तो उसमें उपयोग कर सके। लाया हुआ पानी के बारे में गुप्त रूप से गुरु के समक्ष आलोचना करना और उनको पूछकर स्थंडिल भूमि में जाना चाहिए। यह अकाल संज्ञा की विधि कही। यदि गोचरी के लिए जाने वाले को गोचरी के लिए जाने से पहले हो तो उसे 'अकाल' समझना चाहिए। गोचरी ले आकर बाद में अथवा आहार के बाद तीसरी पोरसी में यदि संज्ञा हो तो वह 'काल' संज्ञा होती है। अन्य आचार्य के मतानुसार गोचरी के लिये नहीं जाने वाले को अर्थ पोरसी के बाद यदि आहार के पहले शंका हो तो भी काल संज्ञा और गोचरी के लिए जाने वाले को तीसरी पोरसी में यदि शंका हो वह काल संज्ञा मानी जाती हैं।" काल संज्ञा में स्थंडिल भूमि जाने की विधि ओध निर्युक्ति में इस प्रकार बताई गई है–

कप्पेऊणं पाए एक्केक्कस्स उ दुवे पडिग्गहिए।
दाउं दो दो गच्छे, तिण्हट्ठ दवं तु घेत्तूणं ॥३११॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् "आहार के बाद धोये पात्रों को, दो-दो साधु के समुदाय में से जो बाहर न जाने वाला हो, उसे एक पात्र और दूसरा बाहर जाने वाले का, इस तरह दो-दो पात्र दिए जायें। बाहर जाने वाले साधु को - तीन को उपयोग में आए- इतना पानी साथ में लेकर जाना चाहिए।" पंच वस्तुक में कहा गया है कि-

कप्पे ऊणं पाए संघाडइलो उ एग दोण्हंपि ।
पाए धरेइ बिइओ, वच्चइ एवं तु अन्न समं ॥३६६॥

अर्थात् "पात्र धोकर, अपने साथ के एक साधु को दोनों के पात्र सौंप कर दूसरा साधु अन्य साथी के साधु के साथ स्थंडिल भूमि में जाय।"

जाने की विधि ओध निर्युक्ति गाथा ३१२ में तथा पंचवस्तुक में इस प्रकार बताई गई है -

अजुगलिया अतुरंता, विगहार हिआ वयंति पढमं तु ।
निसिइत्तु डगलगहणं, आवडणं वच्चमासज्ज ॥३६८॥

अर्थात् "स्थंडिल जाते साथ में नहीं चले परन्तु आगे पीछे चले, जल्दी न चले, वार्तालाप किए बिना, इर्या समिति का पालन करते हुए चले, इस तरह गांव आदि के बाहर भूमि में जाय। वहां पहुँचकर प्रथम खड़े खड़े लेते समय गिर जाने की संभावना होने से नीचे बैठकर 'डगल' = शुद्धि के लिए उपयोगी पत्थर, मिट्टी, ईंट आदि के टुकड़े ग्रहण करे। वह भी नरम अथवा कठोर स्थंडिल के अनुसार दो या तीन ग्रहण करे।"

पत्थर आदि के टुकड़े लेकर खड़े होकर बड़ी नीति के लिए अन्य स्थान पर बैठे। स्थंडिल भूमि का स्वरूप ओध निर्युक्ति गाथा ३१३ + ३१४, प्रवचन सारोद्धार गाथा ७०६ + ७१० और पंचवस्तुक में कहा है कि-

अणा वाय मसं लोए परस्सणु वधाइए ।
समे अज्झुसिरे आवि अचिर काल कयंमि अ ॥३६६॥

विच्छिन्ने दूर भोगाढे, णासण्णे बिल वज्जिए ।
तसपाण बीअरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ॥४००॥

अर्थात् "स्थंडिल भूमि दस प्रकार की होती है-

१. अनापात – जहां पर अन्य किसी का आगमन न हो और कोई भी नहीं देखे ऐसी भूमि पर बैठना चाहिए। क्योंकि - साधु को निहार गुप्त रूप से करने की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विधि है । अन्य आगमन अनेक प्रकार का होता है - तिर्यंच अथवा मनुष्य किसी का भी आगमन होता है, मनुष्य का भी स्वपक्ष संयमी का और परपक्ष गृहस्थ का, स्वपक्ष में भी साधु का अथवा साध्वी का, साधु में भी संवेगी का और असंवेगी = शिथिलाचारी का, संवेगी में भी एक आचार वाले का और भिन्न आचार वाले का, उसमें भी संवेगी पक्षकार का और असंवेगी पक्षकार का, उसमें भी पुरुष, स्त्री, अथवा नपुंसक का, पुरुष में भी दंडिक का अर्थात् राजा अथवा राज्याधिकारी या कौटुम्बिक = गृहस्थ या गांव का स्वामी । इन दोनों में भी शौच धर्म वाले का अथवा अशौच धर्म वाले का इत्यादि अनेक का आगमन होने की संभावना रहती है । उसमें स्वपक्षी, संयमीं, संवेगी, मनोज्ञ (एक आचार वाले यदि आ जाएँ तो निषेध नहीं है, यदि अमनोज्ञ आए, तो उसका आचार देखकर नव दीक्षित साधु के कभी परिणाम बदल जायें, इसलिए ऐसे स्थान पर नहीं बैठना चाहिए । साधु को साध्वी का या साध्वी को साधु के आगमन का स्थान तो अवश्य छोड़ना चाहिए । जब पर-पक्षी गृहस्थ आए तब यदि वह शौचवादी हो तो पैर धोना एवं शुद्धि करने में भी पानी अधिक उपयोग करना । इसके लिए प्रत्येक साधु को अलग पात्र में पानी भी अलग-अलग रखना चाहिए, इत्यादि विवेक-जयणा रखना । असंलोक में--जहां तिर्यंच देखे वहाँ बैठने में दोष नहीं है । यहां 'अनापात' और 'असंलोक' इन दो पदों की चतुर्भंगी होती है । उसमें प्रथम 'अनापात असंलोक' भाग शुद्ध जानना ।

२. अनुपघात – अर्थात् बिना मालिक की भूमि में भी अन्य मनुष्य अपमान न करे, शासन की निन्दा न हो, ऐसे स्थान पर बैठे ।

३. सम – अर्थात् जहां एक समान भूमि हो, खड्डे, ऊँची नीची भूमि न हो ऐसे स्थान पर बैठना चाहिए, नहीं तो गिर जाने से शरीर का नुकसान होता है, विष्ठा का लेप-दाग आदि लग सकते हैं और चींटी आदि जीवों की विराधना होती है ।

४. अशुविर – घास, तृण, पत्ते आदि से ढकी भूमि पर न बैठे, प्रगट भूमि पर बैठे । ऊपर घास आदि से ढकी हुई भूमि पर बैठने से यदि नीचे बिच्छू, कीड़े, चींटी आदि जीव जंतु हो तो उसके डंक आदि से शरीर की और उसका मृत्यु से संयम की विराधना होती है ।

५. अचिरकाल कृत – जिसे अचित हुए बहुत समय न हुआ हो, उसी ऋतु में दो महीने के भीतर अग्नि आदि से अचिंत बने स्थान पर बैठना चाहिए । दो महीने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से अधिक समय होने पर ऋतु बदलने से अचित स्थान भी मिश्र हो जाने से अयोग्य हो जाता है ।

६. विस्तीर्ण – जघन्य से चौरस एक हाथ और उत्कृष्ट से बारह योजन चौड़े स्थल में बैठना ।

७. दूराबगाढ – नीचे दूर तक अर्थात् अग्नि-सूर्य आदि के ताप से जघन्य से चार अंगूल तक अचित्त बनी भूमि पर बैठना ।

८. अनासन्न – नजदीक स्थान में नहीं परन्तु दूर प्रदेश में । नजदीक के दो भेद होते हैं, एक द्रव्य से और दूसरा भाव से । द्रव्य से नजदीक = किसी घर या बगीचं-कुयें आदि के पास का स्थान और भाव से नजदीक = जहां तक बड़ी नीति रोक सकते हैं वहां तक, सब दृढ़ होने से दूर जाने तक रोक नहीं सकते, इसलिए जहां नजदीक में बैठना ही पड़े वह भाव से नजदीक । इन दो प्रकार से नजदीक नहीं जाना । अर्थात् शंका न हो और पहले दूर प्रदेश में जा सके, ऐसे समय में निकलकर दूर जंगल में जाना चाहिए ।

९. बिल वर्जित – जिस भूमि में नीचे छिद्र न हो, वहां बैठना चाहिए ।

१०. त्रस प्राण बीज रहित – स्थावर -त्रस जीवों से रहित निर्जीव भूमि में बैठना चाहिए ।

तात्पर्य यह है कि- इन दस दोषों से रहित शुद्ध भूमि में बड़ी नीति-लघुनीति आदि को परठना चाहिए ।''

इन दस दोषों के एक संयोगी, द्विक् संयोगी से लेकर दस संयोगी विभाग करने से १०२४ विभाग होते हैं । पंच वस्तुक में कहा है कि-

एक्कं दुगतिग चउ पंच-छक्क सत्तट्ठ नवग दसगेहिं ।
संजोगा कायव्वा, भंग सहसस्सं चउव्वीसं ॥४०१॥

अर्थात् ''एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस के अंक का संयोग करने से १०२४ संयोगी विभाग होते हैं ।'' उसमें द्विक् संयोगी चार, त्रिक संयोगी आठ, इस तरह उत्तरोत्तर दुगुना करते, चतुः संयोगी सोलह आदि करते हुए दस तक के संयोगी के विभाग करने से इतनी संख्या होती है । उसका गणित इस प्रकार से है । पंच वस्तुक में कहा है कि-

उभयमुंह रासि दुगं, हिट्ठिल्लाणंतरेण भय पढमं ।
लद्धऽहरासि विहत्तं, तस्सु वरि गुणं तु संजोगा ॥४०३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् ''जितने अंक के संयोगी विभाग निकालने हों उतने अंक की संख्या 'उभय मुख' अर्थात् दाहिने और बायें ओर से ऊपर नीचे लिखना। फिर नीचे के बायीं ओर के प्रथम अंक से अनन्तर अर्थात् उसके पास के अंक से ऊपर की राशि के बायीं ओर के पहले अंक को विभाग करना– उसका जो उत्तर आए, उससे उसके अनन्तर ऊपर के अंक को गुणा करने से संयोगी का अंक आता है।''

इसका भावार्थ यहां स्थापना से समझाते हैं कि यहां दस संयोगी भाग निकालने के लिए इस तरह दो राशि लिखना–

१	२	३	४	५	६	७	८	६	१०
१०	६	८	७	६	५	४	३	२	१

नीचे की राशि के बायां आखिरी में एक का अंक, उसके पास दो के अंक से ऊपर की राशि के आखिर दस के अंक को भाग देने से पांच का उत्तर आता है। उससे ऊपर के उस दस के पास के नौ अंक को गुणा करने से ४५ उत्तर आता है। इतने द्विक् संयोगी भाग जानना। फिर त्रिक संयोगी विभाग निकालने के लिए उस ४५ के अंक को नीचे की राशि के पास के तीन अंक से भाग कर उसके ऊपर के आठ अंक से गुणा करने से १२० भाग आता है, इतने त्रिक संयोगी जानने समझने चाहिएं। फिर चतुः संयोगी भाग करने के लिए १२० को नीचे की राशि के चार के अंक से भाग कर उसके ऊपर के सात के अंक से गुणा करने पर २१० भाग चतुः संयोगी के होते हैं। उसके बाद पंच संयोगी भाग के लिए २१० को नीचे की राशि के पांच अंक से भाग देकर ऊपर के छह अंक से गुणा करने पर २५२ आते हैं, इतने भाग पंच संयोगी के जानना। छह संयोगी भागों के लिए पंच संयोगी भागों के २५२ के अंक को नीचे की राशि के छह के अंक से भाग देकर उसके ऊपर के पांच के अंक से गुणा करने पर २१० उत्तर आता है, इतने भाग छह संयोगी होते हैं। सात संयोगी भागों के लिए इस २१० के अंक को सात से भाग देकर उसके ऊपर के चार के अंक से गुणा करने पर २१० की संख्या आती है – इतने सप्त संयोगी भाग समझने चाहिए। आठ संयोगी भाग के लिए इस १२० की संख्या को नीचे की राशि आठ अंक से भाग देकर उसके ऊपर के तीन अंक से गुणा करने पर ४५ संख्या आती है– इतने आठ संयोगी भाग होते हैं। नौ संयोगी भाग के लिए आठ संयोगी की ४५ की संख्या के नीचे की राशि के नौ अंक से भाग देने और ऊपर के दो अंक से गुणा करने पर दस आता है। इतने भाग नौ संयागी के होते हैं। दस संयोगी के लिए नौ संयोगी दस भाग को नीचे की राशि के दस के अंक से भाग देकर ऊपर के अंक एक से गुणा करने पर उत्तर में एक आता है – यह भाग दस संयोगी का जानना। इस तरह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गणित करना चाहिए। स्थंडिल भूमि के दस पर्यन्त की संख्या के संयोगी भाग कितने होते हैं – वह पंच वस्तुक में कहते हैं कि–

दस पणयाल वीसुत्तर सयं च दोसय दसुत्तरा दोस ।
बावन्न दो, दसुत्तर वीसुत्तरं पंचचत्ताय ॥४०४॥

दस एगो अकमेणं, भंगा एगाइ चारणाए उ ।
सुद्धेण सम मिलिआ, भंग सहस्सं चउव्वीसं ॥४०५॥

अर्थात् "दस, पैंतालीस, एक सौ बीस, दौ सौ दस, दो सौ बावन, दो सौ दस, एक सौ बीस, पैतालीस, दस और एक, इस तरह अनुक्रम से एक संयोगी, द्विक संयोगी से लेकर दस संयोगी भाग जानना। इन सबका जोड़ १०२३ होता है। ये सब दोष वाले होने से अशुद्ध हैं उनमें एक शुद्ध मिले तब १०२४ होते हैं। वह आखिरी भाग शुद्ध जानना।" इसका काष्टक यह है–

संयोग	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
भाग	१०	४५	१२०	२१०	२५२	२१०	१२०	४५	१०	१
कुल १०२३ अशुद्ध और एक शुद्ध मिलाकर १०२४ होते है										

इन एक हजार व चौबीस में विभाग से शुद्ध प्रदेश (भूमि) प्राप्त हो वहां बैठना चाहिए। बैठने से पहले करने की विधि इस तरह है। ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

दिसिपवणगाम सूरिअ छायाए पमज्जिऊण तिक्खुतो ।
जस्सुग्गहोत्ति काऊण वोसिरे आय मेज्जा वा ॥३१६॥

अर्थात् "स्थंडिल बैठने में साधु को पूर्व और उत्तर दिशा में पीठ नहीं करनी चाहिये क्योंकि ये दो दिशाएं लोक में पूज्य होने से लोक विरोध होता है। रात्रि में दक्षिण दिशा में पीठ नहीं करनी चाहिए क्योंकि रात्रि में देव दक्षिण में से उत्तर दिशा में जाते हैं– ऐसी लोक श्रुति है। इसी तरह लोक में सूर्य देव रूप में पूज्य माना जाने से सूर्य के सन्मुख पीठ करके और गांव की ओर पीठ करके भी नहीं बैठना चाहिए। इस तरह बैठने से भी लोक विरोध होता है। वायु जिस दिशा में से आता हो उस तरफ पीठ करके नहीं बैठना चाहिए। क्योंकि– बड़ी नीति को स्पर्श करके आते वायु में श्वासोच्छ्वास लेने से नाक में मसा होते हैं। इसलिए इतनी दिशाओं का त्याग करके जहाँ वृक्षादि की छाया हो वहां भूमि को तीन बार दृष्टि से प्रमार्जन कर **'अणु जाणह जस्सुग्ग हो'** अर्थात् 'इस भूमि पर जिसकी सत्ता हो वह मुझे अनुमति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दो' इस तरह कहकर स्थंडिल वोसराये। यदि वृक्षादि की छाया न हो तो वोसिराने के बाद एक मुहूर्त्त तक बड़ी नीति के ऊपर अपने शरीर की छाया पड़े – इस तरह खड़ा रहे। इससे छाया में कृमि जीव हो उसे ताप का उपद्रव न हो, आयु:पूर्ण होने से स्वयमेव परिणाम प्राप्त करे।" पंच वस्तुक ४२७, प्रवचन सारोद्धार में ७८८ में तथा ओध निर्युक्ति भाष्य में कहा है कि -

संसत्तगहणी पुण, छायाए निग्गयाए वोसिरइ ।
छायाऽसइ उहं उण्हंमि वि, वोसिरिय मुहुत्तयं चिट्ठे ॥१८५॥

अर्थात् "जिसकी विष्ठा में कृमि -कीड़े निकलते हों, वह जहाँ वृक्षादि की छाया हो वहां बैठे। छाया के अभाव में ताप-धूप में बैठे और वोसिराकर एक मुहूर्त्त तक उसकी छायाकर खड़ा रहे।"

बैठने के समय रजोरहण, दण्डा आदि उपकरण कटि प्रदेश में बायीं सांथल के ऊपर रखे और पानी का पात्र दाहिने हाथ में रखे। अपान की शुद्धि तो वहीं या वहां से हट कर अन्यत्र भी करे, अर्थात् विष्ठा यदि कठोर हो तो वहीं और नरम हो तो अन्य स्थान पर करे और शौच नजदीक की भूमि में ही करे, उसमें भी तीन चुल्लू पानी का उपयोग करे। ओध निर्युक्ति भाष्य में कहा है -

उवगरणं वामे ऊरू गंमि, मत्तं च दाहिणे हत्थे ।
तत्थऽन्नत्थ वे पुंछे, तिहि आयमणं अइरंमि ॥३१७॥

अर्थात् "रजोहरण दण्डा आदि उपकरण बाये साथल के ऊपर और पात्र दाहिने हाथ में रखे, शुद्धि वहीं अथवा जहाँ बैठे हों उसके नजदीक में ही करे और शौच तीन चुल्लू पानी से तीन बार करे। यदि गृहस्थादि देखते हों तो अधिक पानी का उपयोग करे, इत्यादि जयणा पहली कही गई है।" यति दिनचर्या में कहा है कि -

जइ पिच्छंति गिहत्था, पत्तेअं मत्तगाणि गिण्हित्ता ।
तो कुज्जा आय मणं, कुरु कुअगे भूरि सलि लेणं ॥२७५॥

अर्थात् "यदि गृहस्थ देखता हो तो प्रत्येक साधु को भिन्न-भिन्न पात्र लेकर शुद्धि करनी चाहिए और पाद प्रक्षालन भी ज्यादा पानी से करना चाहिए।"

यदि शुद्ध भूमि न मिले तो अध्यवसाय की रक्षा के लिए धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का आधार चिन्तन करे, अर्थात् मैं धर्मास्तिकायादि के ऊपर बैठा हूँ, इस तरह मानना चाहिए। यति दिनचर्या में कहा है कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जइ थंडिलं न लब्भइ, ततो धम्माइ दव्वसंघायं ।
आधार चिंततो, चइज्ज उच्चार माईणि ॥२७४॥

अर्थात् "यदि स्थंडिल निरवध भूमि न मिले तो धर्मास्तिकाया आदि द्रव्यों के समूह का आधार चिन्तन करते हुए विष्टा मात्रा, पानी आदि वहां वोसराये (त्याग करे)। उसके बाद तीन बार 'वोसिरे' कहकर उठे। यति दिनचर्या में कहा है कि-

काइ असन्ना डगलं, ति खुत्तो वोसिरित्तुमग्गंमी ।
समणीण परिहरंता, उवउत्ता तो निअट्टंति ॥२७६॥

अर्थात् "लघु नीति- बड़ी नीति- डगल पानी आदि को तीन बार 'वोसिरई' कह कर त्याग करे, मार्ग में साध्वी के साथ चलने का प्रसंग न आए उस प्रकार साध्वी का त्याग करते हुए उपयोग पूर्वक वहां से वसति की ओर वापस आना चाहिए।"

इस तरह संक्षेप में स्थंडिल भूमि में जाना, बैठना, त्याग करना आदि के विषय में कहा गया है। इस विषय में विशेष ओध निर्युक्ति, पंच वस्तुक आदि ग्रन्थों से जान लेना। अब वहां से वापिस आते समय साधु गांव में प्रवेश करते हुए ऋतु बद्ध काल में - वर्षा रहित आठ महीने में रजोहरण द्वारा और वर्षाकाल में पादलेखनिका अर्थात् पैर से कादव दूर करने की काष्ठ की पट्टी द्वारा पैरों का प्रमार्जन करना। क्योंकि स्थंडिल में से - शुद्ध अचित भूमि में से - अस्थंडिल में काड़व आदि वाली या [illegible]ल की मिश्रित धूल वाली आदि भूमि में या अस्थंडिल में से स्थंडिल में प्रवेश करते समय साधु को पैर प्रमार्जन करने का विधान है और ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

उउबद्धे रयहरणं, वासावासासु पायलेहणिया ।
बडउंबरे पिलंखू, तस्स अलंयमि चिंचिणिया ॥२६॥

बारसअंगुल दीहा, अंगुलमेंग तु होइ विच्छिन्ना ।
घणमसिण निव्वणा वि अ, पुरिसे एरिसे अ पत्तेअं ॥२७॥
उभओ नहसंठाणा, सच्चित्ताचित्त कारण मसि णा ॥२८॥ पूर्वार्द्ध ।

अर्थात् "शीत-ऊष्णकाल में रजोहरण से और वर्षा काल में वर्षा के कारण से - यदि कीचड़ हो तो पाद लेखनिका से पाद प्रमार्जन करके गमन करना चाहिए। यह पाद लेखनिका बड़ की, पीपल या पीपली और उसके अभाव में इमली की बनानी चाहिए। वह लम्बी बारह अंगुल चौड़ी एक अंगूल मजबूत जो टूट न जाय, कोमल एवं बिना छिद्र की प्रत्येक साधु को एक एक रखनी चाहिए। वह दोनों नोंक पर नाखून समान पतली करना। उसके एक ओर से संचित पृथ्वीकाय को और दूसरी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ओर से अचित पृथ्वीकाय को उखाड़ना । जिससे सचित-अचित पृथ्वीकाय का मिश्रण होने से परस्पर शस्त्र रूप में उसका उपघात न हो । वह भी कोमल रखना, अति तीक्ष्ण नहीं रखना, क्योंकि इससे पैर का नुकसान न हो ।''

इस तरह जयणा पूर्वक वसति के द्वार पर आकर बड़ी अवाज से 'निसीहि' तीन बार कहकर, पाद प्रमार्जन आदि विधि करते हुए, उपाश्रय आदि में, जहां स्थिरता की हो वहां प्रवेश करे । यह तीसरी पोरसी का कर्तव्य बतलाया । अब मकान में आकर क्या करना चाहिए – वह मूल गाथा में कहते हैं –

आगत्य वसतौ गत्या गत्योरालोचनं स्फुटम् ।
शेषेऽथ पश्चिमे याम, उपधि प्रतिलेखना ॥६६॥

मूलार्थ – ''उपाश्रय में आकर प्रगट रुप में गमनागमन की आलोचना करनी चाहिए और फिर जब आखिरी पहर शेष का प्रारंभ हो तब उपधि का पडिलेहन करे।''

व्याख्या – उपाश्रय में आकर पूर्व कहे अनुसार विधिपूर्वक प्रवेश करके गुरु के समक्ष गमनागमन की आलोचना करे = जाने आने में जो कुछ अनुचित वर्तन हुआ हो या होने का अनुमान हो वह सुनाये, वह भी जैसे तैसे नहीं, जिस प्रकार गुरु महाराज समझे– उस तरह स्पष्ट– जो जिस तरह बना हो, उसी तरह बतलाए । कहने का भावार्थ यह है कि उपाश्रम में इरियावही प्रतिक्रमण करके जाने-आने में जो विराधना हुई हो उसकी आलोचना करे । यति दिनचर्या में कहा है कि–

गंतूण वसहि दारे, उदारसद्दे निसीहि काउं ।
इरिया पडिक्कमणेणं, गमणागमणाइ विअडंति ॥२७७॥

अर्थात् ''उपाश्रय के द्वार के पास जाकर बड़ी अवाज से **'निसीहि'** कहकर प्रवेश करके इरियावही प्रतिक्रमण पूर्वक गमनागमनादि की विराधना की आलोचना करे, उसके बाद यदि तीसरी पोरसी पूर्ण न हुई हो तो पूर्ण होने तक स्वाध्याय करे ।'' ओध निर्युक्ति में कहा है कि –

सन्नातो आगओ चरम पोरिसिं जाणिऊण ओगाढं ।
पडिलेहणम अपत्तं, नाऊण करेइ सज्झायं ॥६२६॥

अर्थात् – ''स्थंडिल भूमि से आया हुआ साधु ''चौथे पहर का प्रारंभ हुआ है'' इस तरह जानकर पडिलेहन करे, और यदि उसमें विलम्ब हो तो वहां तक स्वाध्याय करे ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साधु को उस समय कार्य करते हुए जब-जब बीच में समय मिले तब-तब स्वाध्याय करना ही उचित है । यति दिनचर्या में कहा है कि -

कज्जस्स य कज्जस्स य, समए समए अ कज्जमाणस्स ।
जइ हुज्ज समयसेसं, तत्थ करिज्जा य सज्झायं ॥२७६॥

अर्थात् ''उस समय में करने के कार्य करने पर यदि बीच में समय बढ़े तो उसमें स्वाध्याय करना चाहिए । अब जिस समय आखिरी पोरसी प्रारंभ हो तब क्या करना चाहिए ? वह कहते हैं- 'अथ' अर्थात् तीसरी पोरसी पूर्ण होने के बाद - जब दिन के आखिरी पहर शेष रहें तब औधिक और औपग्रहिक दो प्रकार के उपकरण = वस्त्र पात्र आदि संयम सामग्री रुप उपधि का प्रतिलेखन करना चाहिए। वह सापेक्ष यतिधर्म है ।

मध्याह्न के बाद प्रतिलेखन सारे उपकरणों का करना चाहिए, क्योंकि आगम में कहा है कि - **'सव्वं पुण पच्छिमे जामे'** अर्थात् आखिरी पहर में सर्व वस्तु की पडिलेहन करना । इस पडिलेहन की विधि में सुबह के पडिलेहन की विधि में कही गई है- उसमें जो कुछ विशेष करने की व्यवस्था है, वही यहां कहते हैं, आखिरी पोरसी का जब प्रारंभ हो तब एक बड़े साधु को खमासमण देकर गुरु को उस समय का निवेदन करने के लिए कहे कि - **'भगवन्! बहुपडिपुन्ना पोरिसी '** अर्थात् 'तीसरी पोरसी सर्वथा परिपूर्ण हो गई है ।' यह सुनकर सभी साधु गुरु के समक्ष एकत्रित होकर इरियावही प्रतिक्रमणपूर्वक एक खमासमण देकर **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! पडिलेहन करूं ।'** अर्थात् भगवन्त्! अपनी इच्छानुसार पडिलेहन करता हूँ, ऐसा कहकर दूसरा खमासमण देकर **'इच्छा० संदि० भगवन् वसति पमारजु'** अर्थात् - 'हे भगवंत ! अपनी इच्छानुसार वसति का प्रमार्जन करते हैं ।' इस तरह कहकर मुंहपत्ति और शरीर का २५-२५ बोल से पडिलेहन करे । यति दिनचर्या में कहा है कि -

पच्छिम जायं सेसं, सम्मं जाणित्तु समयत चन्नू ।
वागरइ खमासमणी, पत्तो पडिलेहणा समओ ॥२८०॥

पभणंति खमासमणं, गुरु तओ साहूणोवि पठमंमी ।
पडिलेहणं करेमो, विइए वसहिं पमज्जेमो ॥२८१॥

अर्थात् ''समय को बताने में कुशल साधु ''अब दिन का अन्तिम पहर शेष रह गया है- तीन पहर पूर्ण हो गये हैं'' इस तरह बराबर जानकर खमासमण दे कर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुरु को 'भगवन्त ! पडिलेहन का समय हो गया है' ऐसा कहे । उसके बाद अन्य साधु भी एकत्रित होकर, पहला खमासमण देकर **'इच्छा० संदि० भगवन् पडिलेहन करूं'** अर्थात् - 'हे भगवन्त ! आपकी इच्छानुसार हम पडिलेहन करते हैं ।' और दूसरा खमासमण देकर **'इच्छा० संदि भग० वसति पमारजु'** अर्थात् 'हे भगवन्त ! अपनी इच्छानुसार वसति का प्रमार्जन करते हैं । '' ऐसा बोले ।

यह प्रतिलेखना करने वाले दो प्रकार के साधु होते हैं- एक आहार करने वाले और दूसरे उपवासी । इन दोनों को भी यहां तक विधि समान करनी चाहिए। ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

पडिलेहगा उ दुविहा, भत्तट्ठिअ एयरा उणायव्वा ।
दोग्हवि अ आइपडि लेहणाउ, मुहणं तग सकायं ॥६२८॥

अर्थात् ''पडिलेहन करने वाले- उपवासी और आहार करने वाले- इस तरह दो प्रकार के होते हैं । वे दोनों प्रारंभ में मुहपत्ति और काया की पडिलेहन तक विधि एक समान करते हैं ।''

उसके बाद जो उपवासी हो, वह **'पडिलेहणा पडिलेहावउ'** अर्थात् 'हे भगवंत ! कृपा करके अन्य साधुओं की पडिलेहना करने की हमको आज्ञा दो ।' ऐसा कहकर पूर्व में सुबह के विधि क्रम के अनुसार गुरु आदि की उपधि का पडिलेहन करे । फिर गुरु की अनुमति प्राप्त कर **'संदिसह ! इच्छाकारेण ओहिअं पडिलेहेमो'** अर्थात् 'आप आज्ञा दीजिए, अपनी इच्छानुसार औघिक उपधि पडिलेहन करें ।' इस तरह पूछकर पहले अपने पात्र, मात्रक आदि और फिर अपनी सारी उपधि का पडिलेहन करे । चोल पट्टा आखिर में पडिलेहन करे । ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

तत्तो गुरु परिण्णा, गिलाण से हाइ जे अभत्तट्ठी ।
संदिसह पायमत्ते य, अप्पणो पट्टंग चरिमं ॥६२६॥

अर्थात् ''मुख वस्त्रिका और शरीर का पडिलेहन करके, गुरु की उसके बाद आहार का पच्चक्खान करने वाले - अनशन वाले, फिर ग्याल, उसके बाद नव दीक्षित साधु की और आदि शब्द से वृद्ध आदि प्रत्येक की उपधि का पडिलेहण करे । उसके बाद गुरु महाराज से कहकर औघिक उपधि के पडिलेहन की आज्ञा प्राप्त कर अपने पात्र, मात्रक, शेष उपधि और उसमें आखिर में चोलपट्टा का पडिलेहन करे ।''

यह उपवास की पडिलेहन विधि कही । भोजन करने वाला तो मुख वस्त्रिका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और शरीर का पडिलेहन करके चोल पट्टे का, फिर कोई बढ़ा हुआ आहार आदि यदि न रखा हो तो छोटे मात्रक का और वह यदि खाली न हो तो उसे पीछे से पडिलेहन करने के लिए रख छोड़े, झोली, गुच्छा आदि पात्र के उपकरणों सहित बड़े पात्र का पडिलेहण करे। इस पडिलेहन का क्रम इस प्रकार होना चाहिए- पहले ऊपर का गुच्छा, फिर पात्र केसरिका (चखली), उसके बाद झोली, पुनः पल्ले, बाद में रजस्त्राण, उसके बाद पात्र स्थापन (नीचे का गुच्छा), फिर मुख्य पात्र और उसके बाद- यदि खाली न होने के कारण रखा हो तो उसमें की वस्तु बड़े पात्र में डालकर- आखिर में मात्रक का पडिलेहण करे। इस क्रम से पात्र की उपधि सहित पात्र का पडिलेहन करके फिर गुरु आदि की उपधि का पडिलेहन करके गुरु की अनुज्ञा मागें कि **'संदिसह ! ओहिअं पडिलेहऊँ'** अर्थात् आप आज्ञा दीजिये, अब औच्धिक उपधि का पडिलेहन करूँ ?, इस तरह पूछकर-आज्ञा प्राप्त कर- शेष रहे गच्छ साधारण (सर्व साधुओं के लिए उपयोगी) के जो उपयोग न किए गये हों उन पात्र और वस्त्रों का पडिलेहन करे, फिर अपने- एक कमली और दो सुतराऊ- इस तरह तीन कपड़ों और उपयोग करने की शेष उपधि का भी पडिलेहन करे। अन्त में दंडासन और रजोहरण (ओघा) का पडिलेहन करे। इस तरह आहार करने वाले साधु को शाम की पडिलेहना की विधि समझायी। ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

पट्टगमत्तय सगमोग्ग हो, अ गुरु माइया अणुन्नवणा।
तो सेस भाण वत्थे, पाउं छणगं च भत्तट्ठि ॥६३०॥

जस्स जहा पडिलेहा, होइ कया सो तहा पठइ साहू।
परिअट्टेई व पयओ, करेइ वा अन्नवावारं ॥६३१॥

अर्थात् "मुहपत्ति व काया के पडिलेहन के बाद चोलपट्टा फिर पात्रादि में ऊपर का गुच्छा, झोली, पल्ले, रजस्त्राण और फिर मुख्य पात्र का पडिलेहन करे। यदि मात्रक खाली न हो तो इस विधि के अनुसार करना और यदि खाली हो तो चोलपट्टा, फिर सब से पहले मात्रक, फिर अपने पात्र के परिक्रेम में गुच्छा, झोली, पल्ले, रजस्त्राण और मुख्य पात्र को पडिलेहन करना। उसके बाद गुरु आदि की उपधि का पडिलेहन करके उनकी अनुज्ञा प्राप्तकर जो उपयोग न किये जाते हों, वह गच्छ साधारण पात्र वस्त्र आदि का पडिलेहन करे। फिर अपने कपड़े आदि का पडिलेहन करे और आखिर में पाद प्रोच्छन (दंडासन) और रजोहरण का पडिलेहन करे। यह विधि जिसने आहार किया हो, उस साधु के लिये बताई गई है। (६३०)॥ इस तरह दोनों प्रकार के साधुओं में जिसे जिस तरह से प्रतिलेखना करने के लिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहा गया है, उसी तरह वह पूर्ण करके तब वह साधु सूत्रादि पढ़े, परावर्तन करे, पूर्व का पाठ याद करे अथवा यदि कोई अन्य साधु कुछ काम करने की विनती करे तो स्वाध्याय छोड़कर उसका वह काम आदर पूर्वक कर देना चाहिए। अगर अन्य कुछ सीने का, रफू करने आदि का कार्य हो तो वह करे ।(६३१)॥'' यति दिनचर्या में तो इस तरह कहा है कि –

पुतिं पेहिअ तो लहु वंदण जुअलेण अंग पडिलेहे ।
इक्केण संदिसावइ, जंपइ बिइए करेमि त्ति ॥२८२॥

उववासी सव्वोवहि पज्जंते चोल पट्टगं पेहे ।
इअरो पढमं पट्टं, रय हरणं सव्वओ पच्छा ॥२८३॥

वसहिं पमज्जि ऊणं, ठवणायरियं तहेव पेहित्ता ।
काऊण खमासमणं पुत्तिं पेहंति उवउत्ता ॥२८४॥

अह लहु अवंदणेणं, सम्मं कुव्वंति तयणु सज्झायं ।
सुत्तत्थ गाहिणो जे, तेसिं सो चेव सज्झाओ ॥२८५॥

चत्तारि खमा समणा, दो उवही थंडिलाण पेहाए ।
दुन्नि अ गोअर चरिआ-पडिक्कमणे काउस्सग्गे अ ॥२८६॥

तह पक्खिआइ दिअहे, तयाइ (मह्या) सद्देहिं लहुअ वंदणए।
का ऊण दुन्नि पुत्तिं, पेहिअ पेहिज्ज उवहिं च ॥२८८॥

अह पत्ताणु वगरणं, पडिलेहि अ निक्खिवंति तो उवहिं।
पेहंति गुरुण पुरो, गिलाण सेहाइ अप्पस्स ॥२८६॥

अर्थात् ''खमासमण पूर्वक मुंहपत्ति का पडिलेहन कर अंगों का पडिलेहन करे। उसमें दो खमासमण देकर एक से अंग पडिलेहण की इच्छा बताये और दूसरे से अनुज्ञा माग कर अंगों का पडिलेहन करे। (२८२)॥ उपवासी साधु सर्व उपधि के बाद पडिलेहन कर चोलपट्टा पहने और खाने वाला पहले मुंहपत्ति और पीछे चोलपट्टा और आखिर में रजोहरण का पडिलेहन करे। (२८३)॥ उसके बाद उपाश्रय का प्रमार्जन करके इसी तरह स्थापना का पडिलेहन करके खमासमण देकर उपयोग पूर्वक उपधि-मुहपत्ति का पडिलेहन करे ।(२८४)॥ उसके बाद खमासमण देकर सम्यक् स्वाध्याय करे– जो सूत्र अर्थ पहले पढ़े हों उन्हीं को दोहराना ही स्वाध्याय जानना, अन्य कोई व्यवस्था अलग नहीं है। (२८५)॥ उसके बाद चार खमासमण देना, उसमें एक खमासमण '**उपधि सदि साहू**' कहने के लिए और दूसरा '**उपधि**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पडिलेहऊ' कहने के लिए, तीसरा स्थंडिल पडिलेहन के लिए और चौथा गोचरी प्रतिक्रमण का काउस्सग्ग करने के समय पर करना चाहिए। इन खमासमणों का यह क्रम नहीं है, परन्तु जिस समय वह क्रिया की जाय उस समय देना चाहिए। (२८६)॥ पाक्षिकादि पर्व के दिनों में पडिलेहन के अन्दर उसके पहले बोलने का पाठ बड़ी आवाज से एक खमासमण देकर पहला पडिलेहन मुंहपत्ति का, दूसरा खमासमण देकर उपधि मुंहपत्ति का और तीसरा खमासमण देकर उपधि का पडिलेहन करे। (२८८)॥ पहले मुंहपत्ति का पडिलेहन कर पात्र के उपकरणों- गुच्छा, चखली, झोली, पल्ले, रजस्त्राण का पडिलेहन करे। उसके बाद विधि पूर्वक पात्र का पडिलेहन कर एक ओर निरुपद्रव स्थान पर रखे, फिर गुरु महाराज का समक्ष अनुक्रम से ग्याल नवदीक्षित की और अपनी उपधि का पडिलेहन करे।(२८६)॥''

वर्तमान काल में यह क्रम देखने को नहीं मिलता, समाचारी भेद के कारण भिन्नता देखने में आती है। इसके बाद पाट, पट्टे, मात्रादि की कुंडी इत्यादि शेष वस्तुओं का पडिलेहन करे। यह शाम के पडिलेहन की विधि बतलाई है। अब उपधि की प्रतिलेखना करने के कारण प्रसंगवश उपधि का स्वरूप कहते हैं। उपधि १. औधिक और २. औपगहिक- दो प्रकार की होती है। उनमें से प्रत्येक के भी संख्या और माप से दो प्रकार हैं। ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

ओहे उवग्गहंमि य, दुविहो उवही उ होई णायव्वो।
एक्केक्कोवि अ दुविहो, गणणाए पमाणओ चेव ॥६६७॥

अर्थात ''ओध उपधि और औपग्रहिक उपधि- इस तरह दो प्रकार की उपधि होती है। वह एकएक भी गिनने से दो-दो प्रकार की होती है।'' उसमें जिस उपधि को नित्य पास में रख सके और कारण से उपयोग कर सके वह 'औधिक' है, और कारण से रख सके और कारण से उपयोग कर सके वह 'औपग्रहिक' है- इस तरह दो भेद समझने चाहिएं। पंच वस्तुक में कहा है कि -

ओहेण जस्स गहणं, भोगो पुण कारणा स ओहोही।
जस्स उ दुगंपि णियमा, कारणओ सो उवग्गहिओ ॥८३८॥

अर्थात् ''जो पात्र वस्त्रादि वस्तु सामान्यतया हमेशा पास में रखकर गोचरी, भ्रमणादि कार्य के प्रसंग पर उपयोग में लाते हैं वह ओध उपधि है, और जिसे ठंडी, वर्षा आदि विशिष्ट कारणों से ही रख सकते हैं या उपयोग कर सकते हैं, जैसे कि पाट, पट्टे आदि- वह औपग्रहिक उपधि कही गई है।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन दोनों का एक, दो आदि संख्या से प्रमाण 'गणना प्रमाण' और लम्बाई चौड़ाई, छोटा, बड़ा आदि माप से प्रमाण 'माप प्रमाण' कहा गया है। उसमें गणना प्रमाण से जिन कल्पी की ओध उपधि बारह प्रकार की, स्थविर की चौदह प्रकार की और साध्वी की पच्चीस प्रकार की कही गयी हैं। इससे अधिक जिस काल में आवश्यक हो, उसे रखे-उपयोग करे, वह औपग्रहिक उपधि कहलाती है। ओध निर्युक्ति गाथा ६७१ में तथा पंच वस्तुक में कहा है कि-

जिणा बारस रूवाणि, थेरा चउद्दस रूविणो ।
अज्जाणं पणवीसं तु अओ उड्ढं उवग्हो ॥७७१॥

अर्थात् "जिन कल्पी बारह प्रकार की उपधि वाले, स्थविर कल्पी चौदह प्रकार की उपधि वाले और आर्या (साध्वी) पच्चीस प्रकार की उपधि वाली होती हैं, इससे जो अधिक हो वह औपग्रहिक उपधि जानना।"

इनमें जिन कल्पी की बारह प्रकार की उपधि इस प्रकार है- ओध निर्युक्ति गाथा ६६८-६६९, पंच वस्तुक गाथा ७७२-७७३ तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि -

पत्तं पत्ता बंधो, पायट्ठ वणं च पाय केसरिया ।
पडलाइं रयत्ताणं गुच्छओ पाय निज्जोगो ॥४९१॥

तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती ।
एसो टुवालस विहो, उवही जिण कप्पि आणं तु ॥४९२॥

अर्थात् "१. मुख्य पात्र, २. पात्र को बांधने की चोरस झोली, ३. पात्र स्थापन अर्थात् कम्बली का टुकड़ा जिसमें पात्र रखा जाय, ४. 'केसरिका' जिससे पात्र का पडिलेहन किया जाय, उसे आजकल 'चखली' कहते हैं, ५. 'पल्ले' भिक्षा भ्रमण के समय पात्र पर ढकने के लिए वस्त्र के टुकड़े (वे तीन से सात तक होते हैं, उन सबकी एक की गिनती की है), ६. 'रजस्त्राण', पात्र को लपेटने के लिए कोमल सुतराऊ वस्त्र का टुकड़ा, ७. 'गुच्छा' ऊनी कंबल का टुकड़ा, पात्र के ऊपर बांधने में काम आता है, ये सात पात्र सम्बन्धी सात कपड़े होते हैं, ८ से १० एक ऊन की कम्बली, और दो सुतराऊ चद्दर- इस तरह तीन कपड़े, ११. रजोहरण और १२. मुंहपत्ति। यह बारह प्रकार की उपधि जिन कल्पी को उत्कृष्ट से जानना, जघन्य से तो उनको केवल दो उपधि भी होती हैं। इस तरह उनको उपधि दो, तीन, चार, पांच, नौ, दस, ग्यारह और बारह- इस तरह आठ प्रकार की होती हैं। वह इस तरह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से जो जिन कल्पी साधु करपात्री (जिनके हाथ में कितना भी आहार-पानी लेने पर भी बिन्दु मात्र भी नहीं गिरता ऐसी लब्धि वाले) होते हैं उन्हें आहार के लिए पात्र की आवश्यकता नहीं होती और वस्त्र का भी उन्होंने त्याग किया होता है, उन्हें केवल मुंहपत्ति और रजोहरण- दो ही वस्तु होने से वे दो प्रकार की उपधि वाले कहलाते हैं। यदि वस्त्रधारी हों तो रजोहरण, मुंहपत्ति उपरांत एक वस्त्र रखते हैं- वे तीन प्रकार की उपधिधारी होते हैं, यदि दो वस्त्र रखते हैं तो वे चार प्रकारी, और यदि तीन वस्त्र रखते हैं तो वे पांच प्रकार की उपधि वाले होते हैं। जो वस्त्र रहित हो फिर कर पात्र की लब्धि न हो बल्कि वे पात्र रखने वाले हों तो उनको रजोहरण, मुंहपत्ति और पहले कहे गये सात प्रकार का पात्र परिवार मिलाकर कुल नौ प्रकार के, जो पात्रधारी और वस्त्रधारी हों वे नौ के उपरांत यदि एक वस्त्र रखते हैं तो दस प्रकार और दो वस्त्र रखें तो ग्यारह प्रकार और यदि तीन वस्त्र रखें तो बारह प्रकार की उपधि वाले कहलाते हैं। यह जिन कल्पी की उपधिगण का प्रमाण कहा। स्थविर कल्पी को इन बारह प्रकार के उपरान्त- १. चोलपट्टा और २. मात्रक (छोटा पात्र) मिलाकर चौदह प्रकार की उपधि होती है। ओध निर्युक्ति गाथा ६७० में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

एए चेव दुवालस, मत्त गअइरेग चोल पट्टो अ ।
एसो चउद्दसरूवो उबही पुण थेर कप्पंमी ।।४६६।।

अर्थात् ''जिन कल्पी को जो कही गई हैं वे बारह प्रकार की उपधि, मात्रक और चोलपट्टा सहित गिनने से स्थविर कल्पी को चौदह प्रकार की उपधि होती है।''

यहां उपधि में उत्तम, मध्यम और जघन्य का विचार करने से जिन कल्पी को तीन कपड़े और पात्र मिलाकर चार प्रकार की उपधि उत्तम है, क्योंकि-वह शरीर और संयम के निर्वाह के लिए आवश्यक है। गुच्छा, पात्रस्थापक- नीचे का गुच्छा, मुंहपत्ति और पात्र केसरिका (चखली)- ये चार प्रकार की उपधि मध्यम कही गई हैं और पात्रबंधन (झोली), पल्ले, रजस्त्राण और रजोहरण ये चार प्रकार जघन्य हैं। स्थविर कल्पी को भी जिन कल्पी के लिए कहे अनुसार प्रथम चार प्रकार उत्तम हैं। पल्ले, रजस्त्राण, रजोहरण, पात्रबंधन, चोलपट्टा और छोटा मात्रक- ये छह प्रकार की उपधि मध्यम और पात्र स्थानक- नीचे का गुच्छा, पात्र केसरिका, ऊपर का गुच्छा और मुंहपत्ति ये चार की उपधि प्रकार जघन्य हैं। साध्वी के लिए पच्चीस प्रकार की उपधि का प्रमाण कहते हैं ओध निर्युक्ति गाथा ६७६-६७७ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उवगरणाइं चउद्दस, अचोल पट्टाइं कमढयजुआइं ।
अज्जाणवि भणिआ, अहिआणि अहुंति ताणेवं ॥५२८॥

उग्गहऽणंतग पट्टो, अद्धोरुअ चलणिआ य बोद्धव्वा ।
अब्भिंतर वाहि निअंसणी अ, तह कंचुए चेव ॥५२९॥

उक्कच्छिअ बेकच्छी य, संघाड़ी चेव संध करणी अ ।
ओहोवहिंमि एए, अज्जाणं पणवीसं तु ॥५३०॥

अर्थात् ''स्थविर कल्पी साधु को कही गई चौदह प्रकार की उपधि में से चोल-पट्टा नहीं होता, उसके स्थान पर एक कमढक गिनना चाहिए- शेष तेरह साधु के समान ही साध्वी की उपधि होती हैं। कमढक रंग किया तुम्बे, कांसे, मिट्टी की परात के आकार का अपने उदय-आहार के अनुसार पात्र समझना। साधुओं के समान साध्वी मंडली में सर्व साधारण बड़ा (नन्दी) पात्र नहीं होता, प्रत्येक का अपना अपना कमढक होता है। क्योंकि स्त्री जातित्व के कारण प्रायः स्वभाव तुच्छ होने से अपने अपने अलग कमढक में ही उनका आहार होता है। शेष ग्यारह प्रकार की उपधि अधिक है - १. अवग्रहानन्तक, २. पट्टी, ३. अंर्द्धोरुक, ४. चलनिका, ५. अन्तर्निवसनी, ६. बहिर्निवसनी, ७. कंचुकी, ८. उपकक्षिका, ९. वैकशिका, १०. संघाडी और ११. स्कन्ध करणी। इस तरह साध्वी की उपधि १४ + ११ = कुल २५ होती हैं।

१. अवग्रहानन्तक – अवग्रह अर्थात् यहां आगम भाषा के अनुसार 'योनि प्रदेश' समझना। उसके अनन्तक वस्त्र को 'अवग्रहानन्तक' कहते हैं। नाव के आकार के अनुसार वह मध्य में चौड़ा और दो सिर- इस तरह संक्षेप में गुह्य प्रदेश (ब्रह्मचर्य) की रक्षा के लिए लंगोटी के आकार का होता है। संख्या से वह एक ही होता है और प्रमाण से तो अपने शरीर के अनुसार लम्बा, चौड़ा होना चाहिए। ऋतु धर्म के समय में रुधिर की रक्षा के लिए मोटा और कोमल वस्त्र रखना चाहिए- पुरुष के शरीर के स्पर्श समान कर्कश स्पर्श स्त्री को विकार जनक होने से वैसा कर्कश स्पर्श वाला वस्त्र नहीं होना चाहिए। परस्पर असमान स्पर्श विकार प्रगट करता है - इसलिए कोमल वस्त्र का स्पर्श योनि के स्पर्श के समान होने से समानता के कारण वह विकारी नहीं हो सकता है। ओध निर्युक्ति भाष्य ३१३, पंच वस्तुक ८२५ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

अह उग्गह णं तगं, णाव संठियं गुज्झ देसरक्खट्ठा ।
तं तु पमाणेणिक्कं, घणमसिणं देहमा सज्ज ॥५३९॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् अवग्रहानन्तक नाव की आकृति वाला गुह्य प्रदेश (ब्रह्मचर्य) के रक्षण के लिए समझना । वह गिनती में एक और प्रमाण से ऋतु धर्म के समय में रुधिरपात के रक्षण के लिए, कटिभाग तक दो छोर पहुँचें– ऐसा अपने शरीर के अनुसार लम्बा– चौड़ा, मोटा और कोमल वस्त्र करना ।''

२. पट्टा – कटि प्रदेश में बांधने का पट्टा, उससे अव ग्रहानन्तक के दो छोर दबाकर उसे कटि में बांधना । संख्या में वह एक और प्रमाण से चार अंगुल या उससे भी अधिक चौड़ा, लम्बाई में कटि प्रदेश में बंध जाय– उतना रखना चाहिए । पहले के समान तीनों ग्रन्थों में कहा है कि–

पट्टो वि होइ एगो देह पमाणेण सो य भइयव्वो ।
छायंतोग्गहणंतं, कडि बद्धो मल्ल कच्छोव्व ॥५३२॥

अर्थात् ''पट्टा की संख्या एक और प्रमाण से शरीर के अनुसार लम्बा जानना, वह अवग्रहानन्तक के दो छोरों को दबाकर बांध सके, इस तरह मल्ल की कटि से बांधने का कच्छा (लंगोट) समान करना ।''

३. अर्द्धोरूक – जो ऊरू अर्थात् सांथल का आधा भाग ढाके वह 'अर्द्धोरूक' कहलाता है । वह आकृति में मल्ल के चोले के समान अवग्रहानन्तक को और पट्टा को ढककर पुरे कटि प्रदेश को ढंकने के लिए होता है और दोनों सांथल के अन्दर के प्रदेश में कसकर बांधा जाता है ।

४. चलनिका – यह भी अर्द्धोरूक के समान होता है, परन्तु वह नीचे घुटने तक लम्बा– बिना सिलाई का और बांस के ऊपर नाचती नर्तकी के चोले के समान कसे बंधन वाला होता है। यह भेद है । पहले के अनुसार तीनों ग्रन्थों में कहा है कि–

अद्धोरू ओवि ते दोवि, गिण्हिऊं छायाए कडी भागं ।
जाणुप माणा चलणी, असीविआ लंखिआइ व्व ॥५३३॥

अर्थात् ''अर्द्धोरूक तो पहले कहे अनुसार अवग्रहानन्तक और पट्टे को ढांककर कटि विभाग को ढक दे– वैसा होता है, एवं 'चलनिका' उसके समान परन्तु घुटने तक लम्बा– बिना सिलाई एवं नर्तकी के चोले के समान कसकर बांधने का होता है ।''

५. अन्तर्निवसनी – ऊपर कटि विभाग से लेकर नीचे आधा जंघा– सांथल तक और उसे खींच कर पहनने का होता है, क्योंकि किसी प्रंसग पर आकुलता से चलते समय ऊपर के वस्त्र पवन आदि से हट जायें फिर भी लोक हांसी न हो ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६. बहिर्निवसनी – कटि विभाग से ऊपर, नीचे टखने तक लम्बा और कटि विभाग में कंदोरा (करधनी) से बांधने का होता है । पहले के समान आगे तीनों ग्रन्थों में कहा है कि–

अंतोनिवसणी पुण लीणयरि जाव अद्ध जंघा ओ ।
बहिरगा जा खलुगा, कडी अदोरेण पडि वद्धा ॥५३४॥

अर्थात् ''अन्तर्निवसनी ऊपर कटि से नीचे अर्द्ध सांथल तक लम्बा खींचकर पहना जाता है और बहिर्निवसनी कटि विभाग से नीचे पैर का टखने तक कंदोरे से बंधा हो, इस तरह समझना चाहिए। यह कटि विभाग के नीचे– शरीर की छह प्रकार की उपधि बताई गई हैं । अब ऊपर की उपधि समझाते हैं ।

७. कंचुक – अढ़ाई हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा, बिना सिलाई का पालिक की कंथी–गुदड़ी के समान (दोनों कन्धों के ऊपर) डालने और दोनों तरफ स्तन भाग को ढांकने के लिए शिथिल बन्धन से बांधने के लिए होता है । खींचकर बांधने से स्तन भाव स्पष्ट दिखने के कारण लोगों को राग का कारण होता है अतः छुट्टे शिथिल बन्धन बांधे जाने चाहिएं ।

८. उपकक्षिका – कांख–बगल के समीप का भाग 'उपकक्ष' और उपकक्ष को ढांकने का वस्त्र 'उपकक्षिका' कहलाता है । इसे 'उत्कक्षिका' भी कहते हैं । यह भी कंचुक के समान बिना सिला, समचौरस डेढ़ हाथ लम्बा–चौड़ा होता है । उससे हृदय का भाग, दाहिनी कमर और पीठ ढक जाय इस तरह, बायें कंधे और बायें कांख में बीटक बंध से छोर फंसाकर पहनना चाहिए। पहले की तरह तीन ग्रन्थों में आगे कहा है कि–

छायइ अणुक्कुइए, उरोरूहे कंचुओ असिव्वियओ ।
एवेम य ओकच्छिय, सा नवरं दाणिणे पासे ॥५३५॥

अर्थात् ''कंचुक बिना सिला होता है और दोनों स्तन चलायमान रहें– इस तरह ढंककर बांधा जाता है और उपकक्षिका भी इसी तरह केवल दाहिना हृदय और पीठ ढंककर बायीं कमर में बांधा जाता है ।''

९. वैकक्षिका – उपकक्षिका से विपरीत एक बड़ा पट्टा होता है । वह बायीं कमर से कंचुक और उपकक्षिका को ढककर ऊपर पहना जाता है । पहले के तीनों ग्रन्थ की आगे की गाथा के पूर्वार्द्ध में कहा है कि – **''वेकच्छियाउ पट्टो, कंचुअ मुक्कच्छिअं च छायं तो ॥५३६॥''** अर्थात् 'वैकक्षिका पट्टे के आकार वाला होता है । वह कंचुक और उपकक्षिका को ढांक करके बायीं कमर में पहना जाता है ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१०. संघाडी – संघाडी – ऊपर ओढ़ने के लिए चार संख्या में रखने का अधिकार है । इनमें से एक दो हाथ चौड़ी, दो तीन हाथ चौड़ी और एक चार हाथ चौड़ी होती है । यह प्रत्येक अलग-अलग प्रसंग पर एक-एक ही उपयोग होने से संख्या में एक ही गिनी जाती है । लम्बाई में वे चारों साढ़े तीन या चार हाथ लम्बी होती हैं । साध्वी को संघाडी बिना, खुले शरीर से कभी भी नहीं बैठना चाहिए । आम तौर पर दो हाथ चौड़ी उपाश्रय में ओढ़ने के लिए होती है और जो तीन हाथ चौड़ी दो होती है उनमें से एक गोचरी लेने के समय जाना पड़े तब और दूसरी स्थंडिल भूमि में जाते समय ओढ़ने के लिए तथा चार हाथ चौड़ी समवसरण में व्याख्यान सुनने के लिए मंदिर में जाते समय ओढ़ने के लिए होती है । साध्वी को समवसरण में तथा वाचना में खड़े रहने के समय यदि चार हाथ चौड़ा हो तभी खड़े रहते हुए भी शरीर संपूर्ण ढंका हुआ रहता है ! आगे उन्हीं तीनों ग्रन्थों में कहा है कि–

संघाडीओ चउरो, तत्थ दुहत्था (य) उवस्सयंमि ॥ उत्तराद्धा
दो पिण तिहत्था यामा, भिक्खट्ठ एगएग उच्चारे ।
ओसरणे चउ हत्थाऽ निसन्नपच्छा यणा मसिणा ॥ ५३७॥

अर्थात् '' ऊपर ओढ़ने के लिए संघाडियां चार होती हैं । उसमें दो हाथ चौड़ी उपाश्रय में, तीन हाथ चौड़ी एक गोचरी जाते समय और एक स्थंडिल जाते समय तथा चार हाथ चौड़ी समवसरण (व्याख्यान) में खड़े रह कर मस्तक से पैर तक के शरीर को आच्छादित करने के लिए कोमल स्पर्श वाली साध्वी के लिए होता हैं '' ।

११. स्कन्धकरणी - लम्बी-चौड़ी चार हाथ- समचौरस, ऊपर ओढ़ी संघाडी पवन से रिवसक जाने से रक्षण के लिए चार तह करके कंधे पर डालने की होती है । रूपवती साध्वी को अपना शरीर बेडौल बनाने के लिए उपयोग में लेते समय जिसे 'कुब्ज-करणी' भी कहते हैं, उसे पीठ विभाग में कंधे के नीचे लपेट कर कोमल वस्त्र के टुकड़े से उत्कक्षिका और वैकक्षिका के साथ में बांध कर रखने से शरीर कूबड़ के समान बेडौल दिखई देता है । पूर्व के समान तीन ग्रन्थों में आगे कहा है कि –

स्कंध करणी उ चउ हत्थ वित्थडा वायविहु यर वखट्ठ ।
खुज्ज करणी उ कीरइ, रुववइ वईणं कुडहहे ऊ ॥ ५३८ ॥

अर्थात् '' स्कन्ध करणी चार हाथ लम्बी-चौडी होती है । उसके आठ फड़

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर के पवन से उड़ते वस्त्र की रक्षा के लिए कंधे पर रखा जाता है । यह रूपवती साध्वी को कन्धे के नीचे पीठ के विभाग में विरूप करने के लिए उपयोग में लाने से 'कुब्ज करणी' भी कहलाता है ।

इस तरह चौदह और ग्यारह मिल कर पच्चीस प्रकार से साध्वी की उपाधि समझनी चाहिएं । वह भी पहले साधु के लिये कहे समान जघन्यादि तीन प्रकार की होती हैं । उसमें मुख्य पात्रक, तीन कपड़े, चार संघाडी मिलाकर एक स्कन्धकरणी, अन्तर्निवसनी और बहिर्निवसनी– ये आठ उत्कृष्ट, पात्र बंधन - झोली, पल्ले, रजस्त्राण, मात्रक, अवग्रहानन्तक, पट्टा, अर्द्धोरूक, चलनी, कंचुक, उत्कक्षिका, वैकक्षिका और कमढक– ये तेरह मध्यम, और पात्र स्थानक (नीचे का गुच्छा), पात्र केसरिका, ऊपर का गुच्छा और मुँहपित्त– ये चार प्रकार जघन्य समझना । उत्कृष्ट आदि विवेक में प्रायश्चित आदि विभाग करने के लिए उपयोगी हैं।

इस तरह 'गणना प्रमाण' कहा । अब इन सभी का माप कहते हैं । उसमें

१. पात्र का प्रमाण - पात्र की परिधि तीन बालिश्त और चार अंगुल हो उतना, एक बालिश्त हो वह मध्यम, इससे कम हो वह जघन्य और अधिक हो वह उत्कृष्ट प्रमाण जानना । ओध निर्युक्ति, गा० ६८० में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

तिण्णि विहत्थी चउरंगुलं, च भाणस्स मज्झिम पमाणं ।
एत्तो हीण जहण्णं अइरेंगवर तु उक्कोसं ॥५००॥

अर्थात् ''तीन बालिश्त और चार अंगुल का परिधि मान हो उस पात्र का प्रमाण मध्यम है । इससे कम हो वह जघन्य प्रमाण और अधिक हो तो वह उत्कृष्ट प्रमाण जानना ।''

ओध निर्युक्ति आदि शास्त्रों में अन्य प्रकार से साधु को अपने अपने आहार के अनुसार भी पात्र का दूसरा प्रमाण कहा है । इस तरह सर्व साधुओं को प्रमाणोपेत ही पात्र होता है परन्तु जो वैयावच्च करने वाला हो उसे तो जो गुरु महाराज ने दिया वह उसका अपना अथवा नन्दी पात्र रूप में बड़ा होता है– वह औधिक में नहीं परन्तु औपग्रहिक उपधि में समझना । ओध निर्युक्ति भाष्य में कहा है कि -

वेया वच्च करो वा णंदी भाणं धरे उवग्गहिअं ।
सो खलु तस्स विसेसो, पमाण जुत्तं त्तु सेसाणं ॥३२१॥

अर्थात् ''वैयावच्च करने वाला साधु गुरु का दिया हुआ अपना बड़ा गच्छ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साधारण (नन्दी पात्र) यदि रखे, वह उसकी औपग्रहिक उपधि रूप समझना। इतना अन्य साधु की अपेक्षा उसके लिए विशेष है, अन्य साधुओं में तो प्रत्येक के लिए उपर्युक्त प्रमाण वाला ही होता है।'' अब नंदी पात्र रखने का प्रयोजन समझाते हैं। ओधनिर्युक्ति में कहा है कि -

देज्जाहि भाणपूरं तु रिद्धिमं कोइ रोहमाईसुं ।
तहियं तस्सु व ओगो, सेसं कालंतु पडि कुट्ठो ॥६८४॥

अर्थात् '' अन्य राजा ने नगरादि का घेराव किया हो, इत्यादि संकट के समय में जब साधु बाहर नहीं जा सकते हों, तब कोई ऋद्धिवान पात्र भर कर बहोरावे उस समय में नन्दी पात्र का उपयोग होता है। इन कारणों के बिना उसका उपयोग करने का निषेध किया गया है।'' पात्र के मुख प्रमाण के लिए ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

अकरंडगंमि भाणे, हत्थो ओट्ठ जहा न घट्टे।
एयं जहन्न यमुहं, वत्थुं पप्पा विसालं तु ॥६९०॥

अर्थात् ''गोलाकार - समचौरस पात्र में हाथ डालने पर किनारों का स्पर्श न हो इतना चौडा मुख हो तो उस पात्र को जघन्य समझना और बड़ी वस्तु भी गृहस्थ सुखपूर्वक पात्र में डाल सके इत्यादि कारणों से विशाल मुख वाला- वह उत्कृष्ट प्रमाण समझना।''

पात्र रखने का प्रयोजन ओध निर्युक्ति में कहा गया है कि -

छक्कायर क्खणट्ठा, पायग्गहणं जिणेहिं पन्नत्तं ।
जे य गुणा संभोएं, हवंति ते पाय गहणे वि ॥६९१॥

अर्थात् ''आहार करते समय छहकाय जीवों की विराधना न हो, इस कारण से श्री जिनेश्वर भगवंत ने साधु को पात्र रखने के लिये कहा है। जो गुण मंडली में सबके साथ में आहार करने से होता है, वह गुण पात्र रखने से होता है- इसलिए साधु को पात्र रखना चाहिए।'' उसके गुण इस तरह हैं। ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

अतरंत बाल वुट्ढा से हाएसा गुरु असहु वग्गे ।
साहारणो ग्गहाऽलद्धि कारणां, पाय गहणं तु ॥६९२॥

अर्थात् ''ग्लान, बाल, वृद्ध, नवदीक्षित, प्राधूर्णक, गुरु और कोई राज-पुत्रादि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साधु बना हो ऐसे असहिष्णु साधुओं को को सर्वसाधारण बड़े पात्र द्वारा अवष्टम्भ (पात्र में आहार लाकर सहायता) दे सके तथा यदि किसी अलब्धिमान- लाभान्तराय के उदय वाले साधु को आहार न मिल सके उसे भी लाकर दे सके- इस कारण से नन्दी पात्र रखना चाहिए।''

२. **पात्र बंधन** – 'झोली' सिरों में गांठ देनी, इससे चार अंगुल बढ़ा हो- इतने प्रमाण वाला पात्र बंधन होना चाहिए। ओध निर्युक्ति ६६३, पंच वस्तुक ७६८ तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि –

पत्ताबंध पमाणं, भाण पमाणेण होइ कायव्वं ।
जह गंठिंमि कयंमि, कोणा चउरंगुला हुंति ॥५०१॥

अर्थात् ''पात्र बन्धन (झोली) का प्रमाण पात्र प्रमाण के अनुसार- अन्दर पात्र रख सके, गांठ देने के बाद कोने चार अंगुल बढें, इतना होना चाहिए।'' सूत्र त्रिकाल विषयक होने से यह वर्णन अपवाद पद से समझना चाहिए। क्योंकि हमेशा गांठ बांधने की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् गांठ बंधन के समय को चार अंगुल बढ़ें- इस तरह रखना चाहिए।

३. **पात्र स्थापन**, ४. **गुच्छा**, और ५. **पात्र प्रतिलेखनिका**

इन तीनों का प्रमाण एक बालिश्त ऊपर चार अंगुल (सोलह अंगुल) का करना चाहिए। ओध निर्युक्ति ६६४ में, पंच वस्तुक ७६६ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि –

पत्तट्ठ वणं तह गुच्छओ अ, पाय पडिलेहणीआ य ।
तिण्हंपि य प्पमाणं, विहत्थि चउरंगुलं चेव ॥५०२॥

अर्थात् ''पात्र स्थापन अर्थात् नीचे का गुच्छा, एवं ऊपर का गुच्छा एवं पात्र प्रति लेखनिका (चखली)- इनमें से प्रत्येक का प्रमाण एक बालिश्त ऊपर चार अंगुल कुल सोलह अंगुल का जानना।'' उनमें नीचे ऊपर के गुच्छे ऊन के, पात्र की मुख वस्त्रिका क्षोमिक (सुतराऊ) करना। इनके प्रयोजन के विषय में ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

रयमादिरक्खणट्ठा, पत्तट्ठ वणं जिणंहिं पन्नत्तं ।
होई पमज्जण हेउं, तु गोच्छ ओ भाण वत्थाणं ॥६६५॥

पाय पमज्जण हेउं, केसरिआ पाए पाए एक्केक्का ।
गोच्छग पत्त ट्ठवणं, एक्केक्कं गणण माणेणं ॥ ६६८ ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् "पात्र की रज आदि से रक्षा करने के लिए पात्र के नीचे स्थापना रखने के लिये श्री जिनेश्वर भगवन्त ने कहा है। ऊपर का गुच्छा पात्र के वस्त्रों का (पल्ले का) प्रमार्जन करने के लिए और पात्र केसरिका (सुतराऊ वस्त्र) पात्र के प्रमार्जन के लिए प्रत्येक पात्र में एक-एक रखा जाता है। वर्तमान काल में पात्र केसरिका के स्थान पर एक चखली रखी जाती है। पूर्वकाल में पात्र में वस्त्र का एक-एक टुकड़ा रखा जाता था। उससे पात्र प्रमार्जन होता था। फिर भी संख्या से उसे एक गिना है, गुच्छा तथा पात्र स्थापन भी संख्या से एक एक रखने के लिए कहा गया है।"

६. पल्ले - पात्र को ढंकने के लिए वस्त्र के टुकड़े होते हैं। उनकी संख्या प्रमाण आदि के लिए ओघ निर्युक्ति में ६६७ से ७०० तक तथा पंच वस्तुक में कहा गया है कि -

जेहिं सविआ न दीसइ, अंतरिओ तोरिसा भवे पडला।
तिन्नि व पचं व सत्ता व कयली गब्भोवमा मसिणा ॥८०२॥

गिम्हासु तिन्नि पडला, चउरो हेमंति पंच वासा सुं।
उक्कोसगा उ ए ए एत्तो पुण मज्झिमे वोच्छं ॥८०३॥

गिम्हासु हुंति चउरो, पंच य हेमंति छच्च वासासु।
ए ए खलु मज्झिमया, एत्तो उ जहन्नओ वोच्छं ॥८०४॥

गिम्हासु पंच पडला, छप्पुण हेमंति सत्त वासासु।
तिविहं मि काल छेए, पाया वरणा भवे पडला ॥८०५॥

अर्थात् " पल्ले- एकत्रित करने के बाद उसके अन्तर में सूर्य नहीं दिखाई दे इस तरह मोटा और केले के गर्भ के समान कोमल- तीन, पांच अथवा सात रखना। ग्रीष्म ऋतु का काल अति रुक्ष होने से थोड़े ही काल में सचित रज पानी आदि अचित (निर्जीव) हो जाने की संभावना होने से पल्ले को भेदन कर रज आदि पात्र में प्रवेश न कर सके इसलिए ग्रीष्म ऋतु में तीन, हेमंत ऋतु स्निग्ध होने से पृथ्वी की रज आदि परिणति बिना अचित न हो पाये- इसलिए उस काल में पल्ले भेदन की संभावना होने से चार और वर्षा ऋतु अति स्निग्ध होने से बहुत काल में पृथ्वी रज अचित रूप होने से उस ऋतु में पल्ले को भेदन कर रज द्वारा पात्र में प्रवेश करने की ज्यादा संभावना होने से पांच पल्ले रखने चाहिएं। वह भी यदि उत्कृष्ट- अति सुन्दर, पुराने न हों तो इस तरह समझना। यदि आधे जीर्ण हो गये हों, तो ग्रीष्म ऋतु में चार, हेमन्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऋतु में पांच और वर्षा ऋतु में छह पल्ले रखना। यह मध्यम पल्ले की संख्या जानना। क्योंकि मध्यम अधिक एकत्रित हों तब कार्य सिद्ध हो सकता है। इससे भी यदि अतीव जीर्ण हों तो ग्रीष्म ऋतु में पांच, हेमंत ऋतु में छह और वर्षा ऋतु में सात पल्ले रखने चाहिएं। इस तरह तीन काल के विभाग से पात्र के आवरण-पल्ले की संख्या का प्रमाण बतलाया गया है।''

अब उसका माप बतलाते हैं, ओध निर्युक्ति गाथा ७०१, पंच वस्तुक गाथा ८०६ तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि -

अड्ढाइज्जा हत्था, दीहा छत्तीस अंगुले रुंदा ।
बिइअं पडिग्गहाओ, ससरीरा ओ अ णिप्फाण्णं ॥५०३॥

अर्थात् ''एक पल्ले का माप 'अढाई हाथ लम्बा और छत्तीस अंगुल चौड़ा' और दूसरा माप (कंधा और पात्र ढंक जाय- इतना) पात्र के अनुसार एवं अपने शरीर की लम्बाई - मोटाई के अनुसार होना चाहिए। अब पल्ले रखने का प्रयोजन बतलाते हैं। ओध निर्युक्ति गाथा ७०२ तथा पंच वस्तुक में कहा है कि-

पुप्फ फलोदय रज रेणु सउण परिहार पायरक्खट्ठा ।
लिंगस्स य संवरणे, बे ओदयरक्खणे पडला ॥८०७॥

अर्थात् ''पल्ले से ढके बिना पात्र में पुष्प, फल, पानी के छींटे सचित पृथ्वीकाय, अचित रेती या किसी समय आकाश में से पक्षी आदि की विष्ठा आदि गिर सकते हैं, अत: इससे पात्र और आहार की रक्षा हो सकती है । लज्जा ढंकने के लिए (पूर्व काल में चोल पट्टा छोटा और कंदोरा बिना कोहनी से दबाकर रखा जाता था, जब गोचरी के लिये जाते समय पल्ला से साधु की लज्जा का रक्षण होता था। वर्तमान काल में वसति में ही रहते हैं, इसलिए चोल पट्टा कायम पहन कर रखते हैं, इससे पल्ले भी पात्र को ढंकने के लिए छोटे ही उपयोग किये जाते हैं।) एवं किसी समय वेदना के तीव्र उदय से पुरुष चिह्न स्तब्ध हो जाए तो उसे ढंकने के लिए उपयोगी हो सकता है ।

७. रजस्त्राण - पात्र को लपेटने का वस्त्र, उसका प्रमाण ओध निर्युक्ति गाथा ७०३ में, पंच वस्तुक गाथा ८०८ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि -

माणं तु रयत्ताणे, भाण पमाणेण होइ निप्फन्नं ।
पाया हिणं करेंतं, मज्झे चउरंगुलं कमइ ॥५०६॥

अर्थात् ''पात्र को बाहर से चारों ओर लपेट कर, नीचे पडधी से लेकर अन्दर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चार अंगुल चौड़ी बढ़े इस तरह रजस्त्राण का माप रखना चाहिए।'' उसके प्रयोजन के लिए ओध निर्युक्ति गाथा ७०४ तथा पंच वस्तुक में कहा है कि -

मूसगर य उक्केरे, वासे सिण्हा रए य रक्खट्ठा ।
हंति गुणा रय ताणे, पाए ताए अइ (ए) क्किक्कं ॥८०६॥

अर्थात् '' उष्णादि काल में चूहा रात्रि में जमीन में से धूल का ढेर खोद कर पात्र में भर दे तथा वर्षाकाल में ओस-घुमस तथा सचित रज से पात्र का रक्षण हो इत्यादि गुणों के लिए रजस्त्राण रखा जाता है और वह प्रत्येक पात्र में एक-एक रखने के लिए कहा गया है ।''

८ से १० तीन वस्त्र - एक ऊन का और दो सूती- इस तरह तीन वस्त्रों का प्रमाण समझाते हैं। ओध निर्युक्ति गाथा ७०५, पंच वस्तुक गाथा ८१२ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि -

कप्पा आय पमाणा, अड्ढा इज्जा उ आयया हत्था ।
दो चेव सुत्तिआ उ उण्णिउ तइओ मुणे अव्वो ॥५०७॥

अर्थात् '' वस्त्र शरीर के अनुसार, अर्थात् शरीर पर ओढ़कर कंधे पर डालने के बाद छोर रह जाये इतना-साढ़े तीन हाथ लम्बा और अढाई हाथ चौडा- रखना चाहिए। वह भी दो सूती और तीसरी ऊन की कमली, इस तरह तीन होते हैं।'' कपड़े स्थविर कल्पिक साधु के लिए तो शरीर के अनुसार या इससे कुछ अधिक भी हो सकते हैं। तथा जिन कल्पी के लिए अढाई हाथ लम्बा होता है। इस तरह पंच वस्तुक ग्रन्थ की टीका में कहा है। उसके प्रयोजन के लिए ओघ निर्युक्ति में कहा है कि -

तण गहणाऽनल सेवा निवारणा धम्मसुक्क झाणट्ठा ।
दिट्ठं कप्पग्गहणं, गिलाण मरणट्ठाया चेव ॥७०६॥

अर्थात् ''यदि वस्त्र हो तो ठंड बचाव के लिए घास न लेनी पड़े और अग्नि की उपासना न करनी पड़े, इसलिए निर्बल संघयण वालों को धर्म - शुक्ल ध्यान में स्थिरता रखने के लिए, बीमारी से रक्षण में ओढ़ने के लिए और मृतक को ढंकने के लिए साधु को श्री जिनेश्वर ने वस्त्र रखने का उपदेश दिया है। ऊन की कमली का उपयोग वर्षा ऋतु में बाहर गये साधु द्वारा यदि एकाएक वर्षा आ जाए तो अपकाय जीवों का रक्षण करने के लिए किया जाता है, क्योंकि बाल, वृद्ध, बीमार आदि के लिए वर्षा होने पर भी भिक्षा के लिए तथा असह्य लघु-बड़ी नीति की शंका के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निवारण के लिए उपाश्रय से निकले हुए साधु का शरीर यदि कमली से आच्छादित हो तो उसकी सहायता से वह अपकाय की विराधना से बच सकता है ।''

११. रजोहरण – जैन मुनि के मुख्य चिह्न (निशानी) का स्वरूप अब बतलाते हैं । वृहत्कल्प भाष्य गाथा ३६७७ में तथा ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

घणं मूले थिरं मज्झे, अग्गे मद्दवजुत्तया ।
एगं गियं अझुसिरं पोरा यामं तिपासियं ।।७०७।।

अर्थात् ''रजोहरण-ओघा **'मूले'** = दंडे के अन्त में, **'घन'** = दृढ़ मजबूत, **'मज्झे'** = मध्य में, **'स्थिर'** = (निश्चल) **'अग्गे'** = दसिया के अन्त में कोमल करना। **'एगंगिअं'** = कमली के टुकड़े में से ही दसिया बना कर करना । (पूर्व समय में पाट दसिया अलग नहीं होती थीं, परन्तु दसिया वाली कमली के छोरों में से पाटा रूप में कमली का अमुक भाग और उसका ही छोर दसिया करने में प्रयोग होता था। **'अझुसिरं'** = दसिया और निशेथिया दोनों बिना गांठ का होना चाहिए। (वर्तमान में भी खरतरादि अन्य गच्छो में दसियों को गांठ नहीं लगाई जाती है ।) **'पोरा यामं'** = अंगूठे के मध्य पर्व में तर्जनी अंगुली रखने से बने बीच के पोल में आ सके, इतना मोटा अर्थात् दण्डी और दो निशेथिया अर्थात् एक सूती और एक ऊनी ओघारिया, इस तरह तीन लपेटना- इतना मोटा हो ऐसा, एवं **'तिपासियं'** = डोरी की तीन आंटी से बांधना चाहिए ।'' यही अर्थ आगे वृहत्कल्प भाष्य गाथा ३६७६ में तथा ओघ निर्युक्ति भाष्य में भी कहा है कि –

अप्पोलं मिउ पम्हं च, पडि पुन्नं हत्थ पूरिमं ।
रयणी पमाण मित्तं, कुज्जा पोर परिग्गहं ।।३२२।।

अर्थात् ''दृढ़-मजबूत लपेटने से पोलश से रहित घन, दसिया का अन्तिम भाग कोमल, अंगूठे में जोड़ी तर्जनी अंगुली बीच में जो पोल-खोखला पन रहे उसे पूर्ण कर दे- इतना मोटा और एक हाथ लम्बा दण्डी वाला रजोहरण प्रयोग करना चाहिए ।'' उसका प्रमाण ओध निर्युक्ति गाथा ७०८ में, पंचवस्तुक गाथा ८१४ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि–

बत्तीसंगुल दीहं, चउवीसं अंगुलाइ दंडो से ।
अट्ठंगुला दसीओ, एग यरं हीण महिअ वा ।।५०८।।

अर्थात् ''रजोहरण बत्तीस अंगुल लम्बा करना चाहिए, उसमें भी उसका दण्ड चौबीस अंगुल और दसिया आठ अंगुल लम्बी करनी चाहिए । यदि दसिया छोटी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो तो दण्ड लम्बा और यदि दण्ड छोटा हो तो दसिया लम्बी होनी चाहिए। इस तरह दोनों को मिलाकर बत्तीस अंगुल लम्बा करना चाहिए।''

रजोहरण कैसे द्रव्यों का होना चाहिए ? इस सम्बन्ध में ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

उण्णियं अट्टियं वावि, कंबले पाय पुंछणं ।
तिपरि अल्ल मणि सिट्ठं रयहरणं धारए एगं ॥७०६॥

अर्थात् ''पायपुंछण = रजोहरण ऊन का, ऊंट के रोम का अथवा कंबल का बनाना चाहिए। डोरी के तीन आंटे से लपेटना और कोमल बनाना चाहिए। वह प्रत्येक साधु को एक रखना चाहिए। उसके प्रयोजन के लिए ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

आयाणे निक्खेवे, ठाण निसी अणतु अट्ट संकीए ।
पुव्वं पमज्जणट्ठा, लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥७१०॥

अर्थात् ''कोई भी वस्तु लेते-रखते भूमि का और उस वस्तु का प्रमार्जन करने के लिए, कायोत्सर्ग ध्यान के लिए, खड़े होने से पहले, नीचे बैठने, पहले और शयन करते समय, शरीर को संकोचन करने से पहले प्रमार्जन करने के लिए रजोहरण उपयोगी है। साधु का मुख्य लिंग-निशानी होने से हमेशा पास रखने के लिए रजोहरण उपयोगी है।''

रजोहरण साधु के लिए अन्य उपयोगों की अपेक्षा से महत्व का उपकरण है। उसका प्रयोजन भी अतीव महत्व का है। पूर्व में गृहस्थावस्था के अन्दर सावध प्रवृत्ति करते हुए जो संस्कार दृढ़ हो गये हैं, उनमें से बचाकर निष्पाप जीवन जीने में रजोहरण आत्मा को सदा जाग्रत करता है, अत: प्राय: उसे क्षण भर भी दूर करने में अतिचार माना गया है। अधिकतर शरीर से स्पर्श करके ही उसे रखने का विधान है। जिसके पास रजोहरण है, उससे पाप प्रवृत्ति नहीं हो सकती, महाव्रतों के पालन का अतिरिक्त बल जाग्रत होता है, इसलिए ही दीक्षा देते समय रजोहरण-मुँहपत्ति देने का कार्य विशिष्ट माना जाता है। अन्य उपकरण का वैशिष्ट्य नहीं माना जाता– इत्यादि उसका रहस्य बहुत मार्मिक है।

१२. मुख वस्त्रिका – मुँहपत्ति = बोलने आदि के प्रसंग पर मुख के आगे रखने का वस्त्र मुँहपत्ति कहलाता है। उसका प्रमाण ओध निर्युक्ति गाथा ७११, पंचवस्तुक गाथा ८१६, वृहत्कल्प भाष्य गाथा ३६८२ तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा गया है कि –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चउरंगुलं बिहत्थी, एयं मुहणं तगस्स उ पमाणं ।
वितियं मुहप्पमाणं, गणाण पमाणेण इक्किक्कं ॥५०६॥

अर्थात् "मुँहपत्ति का प्रथम प्रमाण एक बालिश्त और चार अंगुल का और दूसरा प्रमाण मुख के अनुसार करना चाहिए। संख्या से प्रत्येक साधु को मुँहपत्ति एक-एक रखनी चाहिए।"

यहां द्वितीय मुख प्रमाण इसलिए कहा है कि वसति, मकान आदि का प्रमार्जन करते समय नाक और मुख में धूल प्रवेश न करे, इस कारण से मुँहपत्ति मुख और नाक के ऊपर रखने प्रयोग की जाती है। इसे त्रिकोन करके दो कोने से पकड़कर उससे पींछे गरदन के ऊपर गांठ दे सकते हैं। इसलिए अपने अपने शरीर के अनुसार योग्य माप रखना चाहिए। इसके बाद मुँहपत्ति का प्रयोजन बतलाया है। ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

संपाति मरयरेण् पमज्जणट्ठा वयंति मुहपत्तिं ।
नासं मुहं च बंधइ, तीए वसहिं पमज्जंतो ॥७१२॥

अर्थात् "बोलते समय उड़ते हुए जीव श्वासोच्छ्वास से खिंचकर मुख में प्रवेश न कर जायें इसलिए मुख के सामने मुँहपत्ति रखी जाती है। सचित रज का प्रमार्जन करने के लिए तथा अचित धूल का प्रमार्जन करने के लिए मुख के आगे मुँहपत्ति रखने का विधान पूर्व महर्षियों ने कहा है और वसति का प्रमार्जन करते समय मुख व नाक पर बांधने के लिए मुँहपत्ति बताई गई है।"

यह मुँहपत्ति का बाह्य प्रयोजन है। अन्तरंग प्रयोजन यह है कि बोलते समय मुँह के आगे मुँहपत्ति रखने से बोलने वाला प्रायः क्रोधादि से युक्त कठोर वचन नहीं बोल सकता, असत्य या अयोग्य नहीं बोलता, क्योंकि मुँहपत्ति हाथ में लेकर मुख के आगे रखते ही आवेश शान्त हो जाता है। कायम मुँहपत्ति मुख के ऊपर बांधकर रखने से ऐसा नहीं होता, क्योंकि उन्हें मुँहपति बोलने के समय उपयोग नहीं करने से भी वह लाभ नहीं होता। यहां बार-बार मुँह के आगे उपयोग करने से बार-बार सावधानी मिलती है, अतः निरवध और शास्त्रोक्त भाषा बोलने में मुँहपत्ति महत्व स्वरूप सहायता करती है। कायम बांधकर रखने से वह बल नहीं मिलता- यह रहस्य अनुभव से सिद्ध होता है। कायम मुँहपत्ति बांधकर रखने से उसमें मुह का थूक एवं पसीना लगने से और उसके सूख न पाने से ४८ मिनट (दो घड़ी) के बाद सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती है और मुख के आगे मुँहपत्ति रखे बिना बोलने वाले की भाषा को सावध भाषा कहा है- यह यथार्थ है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१३. मात्रक = छोटे पात्र का प्रमाण ओध निर्युक्ति द्वारा कहते हैं कि–

जो मागहओ पत्थो, सवि सेस यरं तु मत्त गपमाणं ।
दोसु वि दव्वग्गहणं वासा वासे अहि गारी ॥७१३॥

अर्थात् "मगध देश में जो प्रस्थ नाम का माप होता है, उससे मात्रक का प्रमाण कुछ बड़ा कहा है। यहां दो असति का एक पसति, दो पसति का एक सेतिका और चार सेतिका का मगध देश में एक प्रस्थ होता है। उससे मात्रक कुछ बड़ा रखना चाहिए। वर्षा और ऋतु बद्ध दोनों काल में (हमेशा) गुर्वादिक के योग्य आहारादि वस्तु लेने का अधिकार है।" यह गाथा पंच वस्तुक ८१८ तथा प्रवचन सारोद्धार ५१० में भी आई है। अब ओध निर्युक्ति के अनुसार कहते हैं कि–

आयरिए य गिलाठो, पाहुणए दुल्लहे सह सदाणे ।
संसत्त भत्त पाणे, मत्त परिभागणुन्ना ओ ॥७१६॥

एक्कंमि उ पाउग्गं, गुरुणो विति ओग्गहे अ पडि कुट्ठं ।
गिण्हर संघाडेगो धुवलंभे सेस उभयं. पि ॥७१७॥

असई लाभे पुण मत्त एसु, सव्वे गुरुण गेण्हंति ।
एसेव कमो नियमा, गिलासा से हाइ ए सुंपि ॥७१८॥

अर्थात् "जिस क्षेत्र में 'गुरु, ग्लान, प्राधूर्णक' आदि के योग्य अशनादि वस्तु अवश्य मिलती हो वहां एक ही साथ में उनके योग्य वस्तु मात्रक में ले, किन्तु सारी न ले। यदि घी आदि दुर्लभ वस्तु मिले तो वह ले, कोई गृहस्थ यदि अचानक बहुत दान दे तो वह ले अथवा किसी काल में किसी क्षेत्र में क्षेत्र-स्वभाव से ही यदि वस्तु जीव संसक्त मिले, तो उसे प्रथम मात्रक में लेकर शुद्ध करके दूसरे पात्र में डालनी पड़े तब जीव संसक्त वस्तु लेने में भी पात्र का उपयोग करने की अनुज्ञा है। (७१६)॥ गुर्वादि प्रायोग्य वस्तु लेने की विधि इस प्रकार है – एक पात्र में गुर्वादि के योग्य विशेष और दूसरे में प्रतिकुष्ट अर्थात् जीव संसक्त आदि प्रतिषिद्ध अथवा कांजी आदि गुर्वादि को निरुपयोगी वस्तुएं लेना। इस तरह जहाँ गुर्वादि के प्रायोग्य विशिष्ट वस्तु अवश्य मिलने की आशा हो वहां एक साथ दो पात्रों में अलग-अलग वस्तु ले, और दूसरे एक पात्र में अपने लिए आहार और दूसरे में पानी– इस तरह दोनों में भिन्न बहोरना चाहिए। (११७)॥ परन्तु जहां गुर्वादि के योग्य वस्तु दुर्लभ हो वहाँ तो सर्व साथ में मात्रक के अन्दर व गुरु आदि के योग्य अलग लेना और दूसरे पात्र में अपने योग्य बहोरना। न मालूम गुरु आदि के लिए लिया हुआ वह अनुकूल होगा या न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होगा? इसलिए अलग आहार लेना चाहिए। यही क्रम ग्लान, नवदीक्षित आदि के लिए उपयोगी वस्तु के लिए भी समझना। मात्रक का दूसरा प्रमाण पंच वस्तुक गाथा ५१२, प्रवचन सारोद्धार गाथा ५११ में तथा ओधनिर्युक्ति में कहा है कि-

सुवादणस्स भरियं, दुगाउ अद्धाण माग ओ साहू ।
मुंजइ एगट्ठाणे, एयं किर मत्तय पमाणं ॥७१४॥

अर्थात् "सूप-ओदन (दाल-चावल) से भरा हुआ मात्रक लेकर दो कोस का मार्ग चलकर आया साधु एक स्थान पर बैठकर जितना आहार कर सके उतना अशन ले सकता है। यह मात्रक का दूसरा प्रमाण समझना चाहिए।"

१४. चोलपट्टा - अधो वस्त्र का प्रमाण ओध निर्युक्ति गाथा ७२१, पंच वस्तुक गाथा ८२१ और प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

दुगुणो चउग्गुणो वा, हत्थो चउरंस चोल पट्टो अ ।
थेर जुवाणाणट्ठा, सण्हे थूलंभि अ विभासा ॥५१२॥

अर्थात् "दो फड़ या चार फड़ करने से एक हाथ समचौरस होता है- उतना चोल पट्टा का प्रमाण क्रमशः वृद्ध और युवा साधु के लिए जानना अर्थात् वृद्ध के लिए दो हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा, तथा युवा साधु के लिए दो हाथ लम्बा चौड़ा जानना। पतले मोटे की अपेक्षा से वृद्ध के लिए पतला और युवा के लिए मोटा - इस तरह विकल्प से जानना। उसका प्रयोजन ओध निर्युक्ति में कहा है कि-

वे उव्वऽवाउडे वातिए, हिए खद्धपजणणे चेव ।
तेसिं अणुग्गहट्ठा, लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥७२२॥

अर्थात् "किसी साधु का दक्षिण लोगों का बेण्ट के लिए बिंधा हुआ पुरुष चिह्न जैसे विकारी होता है, वैसे लिंग विकारी हो, कोई साधु स्वाभाविक रूप से अग्र भाग की चमड़ी उतर जाने से खुले लिंग वाला हो, किसी को वायु के विकार से लिंग उन्नत हो गया हो, कोई प्रकृति से लज्जावान हो, तथा किसी का कुदरती वह मोटा-बड़ा हो- उनके उपकार के लिए तथा किसी को प्रकृति से स्त्री को देखने से लिंग का उदय जब होता हो तब कोई न देखे उसके लिए चोला-अर्थात् पुरुष चिह्न को ढंकने का पट्ट = वस्त्र रखना चाहिए।" इस प्रकार चोल पट्टा रखने का प्रयोजन बताया गया है।

यहां प्रसंगवश स्वयं बुद्ध और प्रत्येक बुद्ध की उपधि का विभाग, भेद, स्वरूप आदि के बारे में समझते हैं। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवरेवि सयंबुद्धा, हवंति पत्तेय बुद्ध मुणिणोऽवि ।
पढमा दुविहा एगे, तित्थ यरा तदि यरा अवरे ॥५१६॥

तिथ्य यर बज्जि आणं, बोही उवही सुअं च लिंगं च ।
णेयाइं तेसि बोही, जाइस्सरणाइणा होइ ॥५२०॥

मुहपत्ती रयहरणं, कप्पतिगं सत्त पायणिज्जोगो ।
इअ बार सहा उवही, होइ सयं बुद्ध साहूणं ॥५२१॥

हवइ इमेसि मुणीणं, पुव्वा हीअं सुअ अहव नेव ।
जइ होई देवया से, लिंग अप्पइ अहव गुरुणो ॥५२२॥

अर्थात् "जिन कल्पी और स्थविर कल्पी के अतिरिक्त अन्य भी 'स्वयं' बुद्ध और प्रत्येक बुद्ध मुनि होते हैं। उससें स्वयं बुद्ध दो प्रकार के होते हैं, एक श्री तीर्थंकर परमात्मा और दूसरे उसके बिना। प्रत्येक बुद्ध में बोधि प्राप्ति, उपधि श्रुत और लिंग की अपेक्षा से इस तरह भेद होता है –

दूसरे प्रकार के स्वयं बुद्ध को– **१. सम्यकत्व** (बोधि) की प्राप्ति– किसी बाह्य निमित्त बिना ही अपने जाति स्मरण ज्ञान आदि से होती है। **२. उपधि** = मुंहपत्ति, रजोहरण, तीन कपड़े और सात प्रकार का पात्र नियोग (पात्र, पल्ले, झोली, रजस्त्राण, चखली और दो गुच्छे) मिलाकर कुल बारह प्रकार होती है। **३. श्रुत**– उनको पूर्व जन्म में पढ़ा हुआ श्रुत जाति स्मरण से होता है, अथवा न भी हो तो गच्छवास में रहकर गुरु के पास में नया पढ़ते हैं। यदि पूर्व जन्म का श्रुत ज्ञान हो, तो उसे **४. साधुवेश** – देवता (शासन अधिष्ठायक देव) देता है (गुरु की निश्रा नहीं स्वीकार करते), अथवा यदि देव न दे तो गुरु भी देते हैं। जिसको पूर्व जन्म का श्रुत ज्ञान न हो उसे तो साधु वेश गुरु महाराज ही देते हैं।" प्रवचन सारोद्धार में और भी कहा है कि–

जइ एगागी वि हु विहरणक्खमोतरिसी वि से इच्छा ।
तो कुणइ तमन्नह गच्छ वासमणु सरइ नियमेणं ॥५२३॥

पत्तेयबुद्ध साहूण, होइ वस हाइ दंसणे वोही ।
पोत्ति अरयहरणेहिं एतेसि जहन्नओ दुहा उवही ॥५२४॥

मुहपोत्ती रयहरणं, तह सत्त य पत्त याइणिज्जोगो ।
उक्को सोवि नवविहो, सुअं पुणो पुव्व भव भणिअं ॥५२५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एक्कारस अंगाइ जहन्नओ होइ तओ अ उक्कोसं ।
देसेण असंपुन्नाइं हुंति पुव्वाइ दस तस्स ॥५२६॥

लिंगं तु देवया देइ, होइ कइ आवि लिंग रहि ओवि ।
एगागि च्चिअ विहरइ नागच्छइ गच्छवासे सो ॥५२७॥

अर्थात् "यदि यह दूसरे प्रकार का स्वयं बुद्ध मुनि एकाकी विहार के लिए समर्थ (गीतार्थ) हो, और उसकी ऐसी इच्छा हो तो एकाकी विचरे, अन्यथा नियम से गच्छवास को स्वीकार करे। प्रत्येक बुद्ध मुनि को किसी वृषभादि बाह्य निमित्त को देखकर ही बोधि (समकित) प्रगट होता है। उनकी उपधि जघन्य एवं उत्कृष्ट- दो प्रकार की होती है। उनमें जघन्य से मुंहपत्ति और रजोहरण- दो उपधि होती हैं और उत्कृष्ट से उसके उपरान्त सात प्रकार का पात्रों का नियोग- इस प्रकार कुल नौ प्रकार की उपधि होती हैं। श्रुत ज्ञान तो वे नियम से पूर्वजन्म में पढ़े होते ही हैं। वह भी जघन्य से 'आचारांग' आदि ग्यारह अंगों का और उत्कृष्ट से कुछ अंश कम दस पर्व का होता है। लिंग = साधुवेश उनको नियम से देवता ही देते हैं। यदि किसी प्रसंग पर देव का उपयोग न रहे तो लिंग बिना भी विचरते हैं, विहार अकेले ही करते हैं, परन्तु गच्छावास को स्वीकार नहीं करते। इस तरह स्वयं बुद्ध और प्रत्येक बुद्ध में चार वस्तु में अन्तर (भेद) होता है।"

प्रतिभाधारी मुनि को भी जिन कल्पी के समान बारह प्रकार की उपधि ही होती हैं। यहां तक औधिक उपधि का वर्णन किया गया है। अब औपग्रहिक उपधि के स्वरूप का वर्णन करते हैं। औपग्रहिक उपधि - संथारा, उत्तरपट्टा, दण्डा आदि अनेक प्रकार की होती है। यति दिनचर्या में कहा है कि-

लट्ठि विलट्ठी दंडो, विदंडओ नालिआ य पंच मिआ ।
संथारूत्तर पट्टो, इच्चाइ उवग्गहो उवही ॥३०५॥

अर्थात् "लाठी, विलट्ठी, दण्ड, विदण्ड और पाचवाँ नालिका (नली)- ये पांच प्रकार के दण्डे तथा संथारा, उत्तर पट्टा आदि औपग्रहिक उपधि हैं।"

संथारा तथा उत्तर पट्टे का प्रमाण कहते हैं। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

संथारूत्तरपट्टो अड्ढाइज्जा य आयया हत्था ।
दोण्ह वि अ वित्थारो, हत्थो चउरंगुलं चेव ॥५१३॥

अर्थात् "संथारा और उत्तर पट्टा अढ़ाई हाथ लम्बा तथा दोनों की चौड़ाई एक हाथ चार अंगुल रखनी चाहिए।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन दोनों का प्रयोजन समझाते हैं । ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

पाणादिरेणु संरक्खणट्ठया, हुंति पट्टया चउरो ।
छप्पइ अरक्खणट्ठा, तत्थुवरि खोमिअं कुज्जा ॥७२४॥

अर्थात् "पृथ्वीकाय आदि जीवों के रक्षण के लिए और संथारा बिना शयन करने से शरीर पर धूल लगती है, इससे बचने के लिए संथारा का प्रयोजन है । पूर्व कहे अनुसार १. ऊन का संथारा, २. सूती उत्तर पट्टा, ३. रजोहरण के ऊपर ऊन का निशेथिया (ओघारिया) और ४. अन्दर का सुती निशेथिया, ये चार पट्ट होते हैं । इनमें से ऊन की कमली के साथ में शरीर का संघर्ष होने से जूं मर जाती है, इसलिए जूंओं के रक्षण के लिए संथारे के ऊपर सूती और कोमल उत्तर पट्टा रखना चाहिए" रजोहरण के अन्दर सूती निशेथिया का प्रमाण ओध निर्युक्ति में इस प्रकार बताया गया कि –

रय हरण पट्टमेत्ता, अदसागा किंचि वा समइरेगा ।
एक गुणा उ निसेज्जा, हत्थ पमाणा सपच्छागा ॥७२५॥

अर्थात् "जिसके साथ में दसिया न हो, ऐसा रजोहरण के पाट समान या उससे कुछ बड़ा सुती निशेथिया रजोहरण के अन्दर होता है । वह संख्या में एक, प्रमाण से एक हाथ लम्बा और बाहर के ऊन के एक हाथ के निशेथिया – ओघारिया सहित होता है । इसी प्रकार बाहर के निशेथिया का भी प्रमाण समझना ।" आगे और भी कहा है कि –

वासो वग्गहिओ पुण, दुगुणो उवही उ वास कप्पाई ।
आया संजम हेउं, एक्क गुणो सेसओ होइ ॥७२६॥

अर्थात् "वर्षा काल में औपग्रहिक उपधि दुगुनी होती है । उसमें वर्षा ऋतु का कपड़ा–ओढ़ने वाला और पल्ले आदि जो साधु को गोचरी आदि के समय बाहर जाने के लिये साथ ले जाने हों, उसमें जो वर्षा से भीग जाय– वह उपधि दुगुणी रखनी चाहिए, क्योंकि भीगने पर दूसरे बदल सके । दुगुना रखने में अपना और संयम दोनों का रक्षण होता है । जैसे कि –वर्षा का ओढ़न यदि एक ही हो और बाहर जाने वाले का वर्षा से भीग जाय, तब दूसरा न बदलने से सर्दी से पेट में शूल आदि रोग होने पर मृत्यु भी हो जाती है । यदि वह एक ही हो तो अति मलिन हुए उसको ओढ़ कर निकले तब उसके ऊपर वर्षा का पानी गिरने से अपकाय की विराधना – हिंसा भी होती है । इस लिए शरीर का और संयम का रक्षण करने के लिए उपधि दुगुणा रखे। जो भीगे नहीं वह एक एक रखे ।" इससे आगे बताया गया है कि –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जं पुण सपमाणाओ, ईसिं हीणा हियं व लंभेज्जा ।
उभयं पि अहा कडयं, न संघणा तस्स छेदोबा ॥ ७२७ ॥

अर्थात् ''औधिक या औपग्रहिक उपकरण अपने शरीरादि के माप से कुछ छोटा या मोटा जो 'यथाकृत' अर्थात् जैसा मिले वह वैसा ही उपयोग करना, जोड़ना या फाड़ना नहीं अर्थात् सुई शस्त्र का उपयोग न कर, जैसा है वैसे ही वस्त्र से निर्वाह करना ।'' तथा –

दंडए लट्ठिआ चेव, चम्मए चम्म चम्म कोसए ।
चम्मच्छेदण पट्टे अ, चिलिमिली धारए गुरु ॥७२८॥

अर्थात् ''पूर्व वर्णन के उपरान्त यह भी औपग्रहिक उपधि बताई गई है– एक दण्डा, एक लाठी– ये दो प्रत्येक साधु को भिन्न-भिन्न औपग्रहिक रूप में रखने के लिए कहा गया है । इसके सिवाय अन्य वस्तुएं सर्व साधुओं के लिए केवल गुरु को ही रखने का अधिकार है । उनमें **१. चर्मकृति** = यदि मार्ग में दावानल का उपद्रव हो अथवा जमीन जीवों से युक्त हो तो बिछा कर खड़े रह सके, अथवा चोरादि ने यदि वस्त्र लूट लिये हों तो अधोवस्त्र के स्थान पर पहन सके– ऐसा चर्म का आसन विशेष । **२. चर्मकोष** = चमड़े की थैली, जिससें नख-रदनी आदि शस्त्र रख सके, अथवा पत्थर वाली भूमि में ठोकर लगने से पैर का नाखून उखड़ जाने जैसे प्रसंग पर पैर की अंगुलियों पर पहन सके या चढ़ा सके । **३. चर्मच्छेद** = चमड़े की वाधरी (डोरी)। किसी प्रसंग पर चलते समय पैर के नीचे चमड़ी को यदि नुकसान पहुंचा हो तो चर्म को तलुवे में बांधने का उपयोग हो अथवा 'चर्मच्छेदन' अर्थात् मुंडन आदि के लिए अस्त्र । **४. योग पट्ट** = योग के लिए उपयोगी पाटली, दण्डी आदि और **५. चिलिमिली** = आहार करते समय बांधने का वस्त्र का परदा– इतनी वस्तुएं औपग्रहिक उपधि के रूप में गुरु महाराज को रखने के लिए कहा गया है ।'' और भी –

जं चण्ण एव माई, तव संजम साहगं जइ जण स्स ।
ओहाइ रेग गहि अं, ओवीग्ग हियं वियाणाहि ॥७२९॥

अर्थात् ''यदि ऐसी कोई अन्य वस्तु भी जो साधुओं के तप और संयम की साधना में उपयोगी हो, ओध उपधि बिना की रखी हो उसे भी औपग्रहिक उपधि समझना ।''

इस तरह पहले बताये गये से अलग भी औपग्रहिक उपधि होती है, ऐसा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समझना । औपग्रहिक में भी औधिक के समान उत्कृष्टादि भेद हैं । पंच वस्तुक में कहा है कि –

पीढग निसिज्ज दंडग, पमज्जणी घट्टग डगल माई ।
पिप्पलग सुई नहरणि, सोहण गदुगं जहण्णो उ ॥८३४॥

अर्थात् "१ – **पीठक** = लकड़ी या गोबर की बनी पीठिका, जिसे साधु नमी वाले मकान में अथवा वर्षा काल में बैठने के लिए और साध्वी वर्ग को किसी आवश्यक कारण से, या उपाश्रय में कोई साधु पधारे तब विनय करने के लिए आसन के रुप में रखते हैं । २ – **निषधा** = पाद प्रोच्छन–बैठने के लिए ऊन का आसन, जिन कल्पी मुनि को बैठना नहीं होता इस कारण उनके आसन नहीं होता । ३ – **दंडक** = दण्डा– वह भी जिन कल्प वाले को उपद्रव करने से भी रोकना नहीं होता इसलिए उनके पास नहीं होता, स्थविर कल्पी के पास होता है । ४ – **प्रमार्जनी** = वसति प्रमार्जन के लिए दंडासण रखा जाता है । ५ – **घट्टक** = पात्र का लेप घोंटने के लिए उपयोगी पत्थर विशेष । ६ – **डगलादि** = शरीर शुद्धि के लिए उपयोगी पत्थर, ईंट या मिट्टी के टुकड़े । ७ – **पिप्पलक** = पात्र का मुख आदि करने के लिए उपयोगी लोहे का शस्त्र अथवा मुंडन के लिए अस्त्र विशेष । ८ – **सुई** = कपड़े आदि को सीने की सुई । ९ – **नखरदनी** = नाखून काटने के लिए उपयोगी । १० – ११ – **शोधन द्वय** = कान और दांत का मैल साफ करने के लिए दो सलाई । इतने औपग्रहिक उपधि में जघन्य उपकरण बताये गये हैं ।" अब आगे मध्यम उपकरण पंच वस्तुक में इस प्रकार बताये गये हैं –

वासत्ताणे पणगं, चिलिमिलि पणगं दुगं च संथारे ।
दंडाई पणगं पुण, मत्तगतिग पायलेहणि या ॥८३५॥

अर्थात् " वर्षा से रक्षण करने के पांच साधन हैं । उनमें १ – ऊन का, २ – सूती, ३ – ताड़ पत्र, ४ – पलाश वृक्ष के पत्ते और ५ – छत्र– इन पांच को वर्षा त्राण पंचक समझना । इनका माप लोक में प्रसिद्ध है । 'चिलिमिलि पंचक' अर्थात् पांच प्रकार के परदे – उनमें १ – सूती, २ – घास का, ३ – वाक्मय अर्थात् पीछ या पेड़ की छाल आदि से गूंथ कर बना, ४ – दण्डमय = बांस को रस्सी से गूंथकर बना और ५ – कटकमय = बांस आदि से बनी चटाई – इन पाचों का माप साधुओं के समुदाय के अनुसार छोटे बड़े गच्छ के अनुसार करना अर्थात् जिसे रखकर गृहस्थों से गुप्त रुप में आहार पानी कर सके– उतने माप का रखना । कल्प सूत्र के नौंवे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याख्यान में भी पांच परदे की बात आई है । दो संथारा । - एक में पोलापन, दूसरा पोल से रहित । उसमें घास आदि का पोलापन है और काष्ठादि का पोल से रहित समझना ।'' उसके उपरांत बताया गया है कि पांच प्रकार की घास साधु के लिए उपयोगी है । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि -

तण पणगं पुण भणिअं, जिणेहिं जिअराग दोस मोहे हिं ।
साली बी ही कोद्दव, रालय रन्नेतणाइं च ॥६७५॥

अर्थात् '' राग द्वेष और मोह के विजेता श्री जिनेश्वर भगवान ने साधु को पांच प्रकार की घास उपयोगी बताई हैं- १ - कलम कमोद आदि धान, २ - साठी आदि शालि, ३ - कोद्रव, ४ - कांग (अनांज विशेष) इन चार के छिलके और ५ - जंगल में उत्पन्न हुई घास संथारा आदि में उपयोगी हो सकती है ।''

इसके समान स्थानागं सूत्र वृत्रि सू० ३१० में, आवश्यक हरि भद्री वृत्ति प० ६५२ में, निशीथ भाष्य गा० ४००० में, वृहत्कल्प भाष्य गा० ३८२२ में आया है । दण्डपंचक अर्थात् दण्ड पांच प्रकार के होते हैं । उनमें १ - दण्डा, २ - विदंडा, ३ - लाठी, ४ - विलट्ठी और ५ - नालिका जानना । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

लट्ठी तहा विलट्ठी, दंडो अ विदंडओ अ नाली ओ ।
भणिअं दंडग पणगं वक्खाण मिणं भवे तस्स ॥६६६॥

लट्ठी आय पमाणा, विलट्ठी चउरंगुलेण परिहीणा ।
दंडो बाहु पमाणो, विदंडओ कक्खमित्तो अ ॥६७०॥

लट्ठीए चउरंगुल समूसिआ दंड पंचगे नाली ।
नइ पमुह जलुत्तारे, तीए थग्गिज्जए सलिलं ॥६७१॥

वद्धइ लट्ठीए जव णिआ विलट्ठीइ अ कत्थइ दुवारं ।
घट्टिज्जइ उवस्सय तणयं तेणाइ रक्खट्ठा ॥६७२॥

अर्थात् '' लाठी, विलाठी, दण्डा, विदण्डा और नालिका- ये पांच दंडे कहे हैं । उनका स्वरूप इस तरह है । 'लाठी' शरीर के अनुसार लम्बी, विलाठी' उससे चार अंगुल छोटी, 'दंडा' कंधे जितना लम्बा, 'विदंड' कांख - बगल जितना ऊंचा, और 'नालिका' लठिया अपने शरीर से भी चार अंगुल अधिक लम्बी होती है । नदी, द्रह आदि जलाशय को पार करते समय पानी की गहाराई मापने के लिए नालिका का उपयोग किया जाता है । आहार करते गृहस्थ न देखे इसके लिए दण्डों के साथ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परदा बांधने में लाठी का उपयोग होता है । 'विलाठी'- किसी गांव में यदि उपाश्रय गांव के आखिर में हो तो अंदर से दरवाजे को खड़खडाने के लिए उपयोगी होता है जिससे कि उसकी अवाज सुनकर बाहर से चोर कुत्ता आदि भाग जाय ।'' और भी कहा है कि -

उउ बद्धंमिउ दंडो विदंडो घिप्पए वरिसयाले ।
जं सो लहुओ निज्जइ, कप्पं तरिओ जल भएणं ॥६७३॥

अर्थात् ''ऋतुबद्ध काल में भिक्षादि के लिए जाते समय दंडा ले जाते हैं । जिससे कि गुस्से से द्वेषी बना दो पैर वाले मनुष्यादि , चार पैर वाले पशु आदि के उपद्रव को उससे रोक सके, अथवा किसी विमय मार्ग में चलते चोर - शेर आदि से रक्षण कर सकते हैं, वृद्ध मुनि को चलने में आधार रूप हो सकता है । वर्षा काल में तो दंडे के बदले विदंड ले जाना चाहिए । क्योंकि वह छोटा होने से कपडे में ढांक कर ले जाते हैं । उसे अपकाय का संघट्टा रोकने से हिंसा न हो इसलिए रखना चाहिए । लाठी के नौ पर्व तक में एकी ३ - ५ - ७ - ९ शुभ माने जाते हैं, शेष सम पर्व वाले अशुभ होते हैं । यति दिनचर्या गाथा ३१० से ३१३ तक में इसका स्वरूप इस प्रकार कहा है - एक पर्व वाली लाठी प्रशंसनीय है, दो पर्व वाली कलहकारी, तीन पर्व में लाभदायक, चार पर्व में मृत्यु प्रद, पांच पर्व में पंथ के अन्दर कलह नाशक, छह पर्व में पीड़ाकारी, सात पर्व में आरोग्य दायक, आठ पर्व में संपत्ति नाशक, नौ पर्व में यश कारक और दस पर्व वाली सर्व संपत्ति कारक जानना । ''**एगपव्वं पसंसति**'' (ओध निर्युक्ति ७३१) अर्थात् एकाई वाले सब प्रशंसनीय है- इत्यादि उसका स्वरूप जानना । **मात्रक तीन** = एक बड़ी नीति के लिए, दूसरा लघुनीति के लिए और तीसरा श्लेष्म के लिए- इस तरह प्याले आदि तीन रखने चाहिएं । **पादलेखनिका** = पैर से कीचड़ दूर करने की (पहले बताई गई है) पीपल आदि वृक्ष की लकड़ी की पट्टी । इसके उपरान्त और भी पचं वस्तुक में कहा है कि -

चम्मति अं पट्ट दुगं णायव्वो मज्झिमो उवही एसो ।
अज्जाण वारमो पुण, मज्झिमओ होई अइरित्तो ॥८३६॥

अर्थात् ''चर्म त्रिक - एक चमडे की डोरी, दूसरी तलिका और तीसरी कृति ।'' इनका स्वरूप आगे कहा जायेगा । अन्य शास्त्र में अर्थात् निशीथ भाष्य गाथा ४००३ में तथा प्रवचन सारोद्धार आदि में तो 'चर्म पंचक' इस तरह से कहा है -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अय एल गावि महिसी, मिगाण मजिणं च पंचमं होइ ।
तलिगा खल्लग बद्धे, को सग कित्ती अ वीअं तु ॥६७६॥

अर्थात् - "बकरी, मेढा, गाय, भैंस और हिरन- इन पांच का चर्म 'चर्म पचंक' कहलाता है अथवा दूसरे रूप में तलिका, खल्लग, वाघरी, कोष और कृत्ति- ये भी 'चर्म पचंक' समझना ।"

उनमें **१ - तलिका** = पैर पर बांधने का चमड़ा । जब किसी विषम प्रसंग पर रात्रि के अंधकार में अथवा दिन में भी कभी उन्मार्ग में चलना पड़े तब पैर के केवल तलवे पर बांधा जाता है । **२- खल्लग** = खसरा, खसादि या वायु रोग से जिसके पैर फट गये हों उस साधु को पहनने के लिए । **३ - वाधरी** = चर्म की डोरी - रस्सी, तलिका बांधने के लिए उपयोगी है । **४ - कोष** = थैली, वह नखरदनी आदि शस्त्र रखने के लिए अथवा पर्वतीय पत्थरों में चलने से रास्ते में जिसका नाखून टूट गया हो उसके पैर के आगे के भाग में बांधने के लिए उपयोगी होता है । **५ - कृत्ति** = मार्ग में दावानल (अग्नि) का भय हो तब अथवा भूमि सचित अथवा जीवाकुल होने के कारण खड़े रहने का जब निर्दोष स्थान न मिले, तब बिछा कर खड़े रहने के लिए, अथवा यदि चोरी से कभी वस्त्र लूटे गये हों तो अधो वस्त्र के अभाव में उसके स्थान पर पहनने के लिए, इस तरह अनेक प्रकार से उपयोगी है । इसी तरह अन्य प्रकार से साधुओं को उपयोगी चर्म पंचक कहा है । उसके उपरान्त दो पट्टग - संथारा और उत्तर पट्टा इतनी औपग्रहिक उपधि मध्यम प्रकार की कही है । इसमें साध्वी को **वारक** लघुनीति के लिए उपयोगी पात्र विशेष रूप से अधिक होता है । क्योंकि उनको सदा गृहस्थों के बीच रहना होता है, इसलिए वह आवश्यक है । अब औपग्रहिक के उत्कृष्ट प्रकार का वर्णन करते है । पंच वस्तुक में कहा है कि -

अक्खा संथारो वा एगमणे गंगिओ अ उक्कोसो ।
पोत्थग पणगं फलगं उक्कोसो वग्गहो सव्वो ॥८३७॥

अर्थात् "**अक्षा** = स्थापनाचार्य के लिए उपयोगी चदंन आदि का संथारा, वर्षा काल आदि में पाट के स्थान पर एक अखण्ड काष्ठ का तख्ता, अथवा यदि ऐसा न मिले तो तख्ते के अनेक अवयव जोड़कर या बांधकर तैयार किया अनेकांगिक संथारा- इस तरह दो प्रकार का संथारा रख सकते है । **पुस्तक पंचक** = पांच प्रकार की पुस्तकें- १. गंडिका २. छिवाड़ी, ३. कच्छवी, ४. मुष्टि और ५. संपुट । इसके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपरान्त आगे वर्णन किया जायेगा– वह फलक। ये सब औपग्रहिक उपधि के उत्कृष्ट प्रकार हैं।'' 'पुस्तक पंचक' के लिए प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि–

गंडी कच्छवि मुट्ठी, संपुड फलए तहा छिवाडी अ ।
एवं पोत्थय पणग, वक्खाण मिणं भवे तस्स ॥६६४॥

बाहल्लपुहुत्तिहिं, गंडी पोत्थो उ तुल्लगो दीहो ।
कच्छ वि अंते तणुओ, मज्झे पिहुलो मुणेयव्वो ॥६६५॥

चउरंगुल बीहो वा वट्टा गिइ मुट्ठि पुत्थगो अहवा ।
चउरंगुल दीहो च्चि य चउरंसो होइ विन्ने ओ ॥६६६॥

संपुडगो दुगमाई, फलया वोच्छंछिवाहि मित्ताहे ।
तणु पत्तूसिय रूवो, होइ छिवाडी बुहा बेंति ॥६६७॥

दीहो वा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अल्प वा हल्लो ।
तं मुणिय समय सारा, छिवाडि पोत्थं भणंतीह ॥६६८॥

अर्थात् ''गंडिका, कच्छवी, मुष्टिका, संपुट फलक, और छेदपाटी-छेवाड़ी– ये पांच प्रकार की पुस्तकें हैं। उनका स्वरूप इस तरह है – जिसकी मोटाई-चौड़ाई में समान-समचौरस और लम्ब चौरस आकार हो वह **१. गंडिका** कहलाती है। दो तरफ सिरों में पतली, बीच में चौड़ी और मोटाई कम हो ऐसे आकार वाली को **२. कच्छवी** कहते हैं। चार अंगूल लम्बी या गोलाकार वाली हो अथवा जो चारों ओर चार अंगुल प्रमाण चौरस हो वह **३. मुष्टिका** कहलाती है। जिसको दोनों ओर कागज या लकड़ी के तख्ते हो, वह व्यापारी की उधार लिखने की तख्ती के समान आकार वाली **४. संपुट फलक** कहलाती है और यदि थोड़े पन्ने हों, कुछ लम्बाई वाले हों अथवा ऊँचाई वाले या छोटे, मोटाई में अल्प और चौड़े हों उसे आगमज्ञ पुरुषों ने **५. छीवाड़ी** या छेदपाटी कहा है।

फलक – लिखने का तख्ता, जिस पर लिख कर पढ़-याद कर सके वह अथवा किसी कारण से जिसका बैठने में सहारा लिया जाता है, वह व्याख्यान का तख्ता फलक कहलाता है। उत्सर्ग से तो साधु को बैठते समय सहारा लेना उचित नहीं है, क्योंकि पडिलेहन-प्रमार्जन करने पर भी थंभे आदि का सहारा देने के स्थान में कुंथु, चींटी आदि जीवों का संचार रोकना मुश्किल है। इसके समान स्थानांग सूत्र ३१० वृत्ति, वृहत्कल्प भाष्य ३८२२, टीका दशवैकालिक, हरिभद्री टीका, आवश्यक हरिभ्रदी वृत्ति आदि में आया है। आगे ओध निर्युक्ति में कहा है कि –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अव्वोच्छिन्ना तसा पाणा पडिलेहा न सुज्झई ।
तम्हा हट्ठपहट्ठस्स, अवट्ठंभो न कप्पई ॥३२२॥

अर्थात् "थंभे आदि का सहारा लेने के स्थान का पडिलेहन करने पर भी वहां फिरते त्रस जीवों को नहीं रोक पाने से पडिलेहन शुद्ध नहीं होती, इसलिए निरोगी, सशक्त साधु को थंभा, दीवार आदि का सहारा लेकर बैठना कल्पता नहीं है ।"

बीमारी आदि के कारण से तो मजबूत और कोमल तख्ते का, पत्थर के थंभे, चूने से पुताई की दीवार अथवा उसके आधार पर रखा उपधि की विंटिया का सहारा लेना निषेध नहीं है । ओध निर्युक्ति में आगे कहा है कि–

अतरंतस्स उ पासा, गांठ दुक्खंति तेणऽवट्ठंभे ।
संजय पट्टी थंभे, सेले छु हाकुड्ड विट्टालिए ॥३२४॥

अर्थात् "अशक्त-ग्लान आदि को कमर में अति दर्द हो तो साधु की पीठ के लिए थंभे, पत्थर, पुताई वाली दिवार अथवा विंटिया का सहारा लेने का निषेध नहीं है ।"

यह 'अक्ष' आदि सर्व वस्तु औपग्रहिक के 'उत्कृष्ट' विभाग में बताकर दण्डा आदि संयम के उपकरणों को रखने का कारण ओध निर्युक्ति में कहा है कि–

दुट्ठ पसु साण सावय, चिक्खल विसमेसु उदग माइसु ।
लट्ठी सरीर रक्खा, तवसंजम साहिया भणिया ॥७३६॥

मोक्खट्ठा नाणाई, तणू तयट्ठा तयट्ठिआ लट्ठी ।
दिट्ठो जहो वयारो, कारण तक्कारणेसु तहा ॥७४०॥

अर्थात् "दुष्ट पशु, कुत्ते और शिकारी प्राणियों से रक्षण करने के लिए, कीचड़ या ऊंचे नीचे स्थान पर चलने या खड़े रहने के आधार के लिए एवं पानी में चलते समय शरीर की रक्षा के लिए भी लाठी उपकारक है, इसलिए लाठी को तप-संयम में सहायक कहा है । कहा है कि–मोक्ष के लिए ज्ञानादि गुण, ज्ञानादि के लिए शरीर और शरीर के लिए लाठी उपयोगी साधन है । कार्य का कारण में और उस कारण का भी अन्य कारण में उपचार करके लोक में इस प्रकार बोला जाता है कि 'आकाश घी को बरसाता है ।' इसमें बरसात का पानी घास का, घास दूध का और दूध घी का कारण होने पर ही पानी को उपचार से घी कहने में आता है, वैसे ही लाठी भी उपचार से वह तप संयम में साधन भूत उपकारक होने से उपकरण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में गिना है ।'' इसमें केवल लाठी ही नहीं बल्कि ज्ञानादि गुणों की साधना में जो उपकारक होता है वह प्रत्येक उपकारक कहलाता है । ओघ निर्युक्ति में कहा है कि–

जं जुज्जइ उवकरणें, उवगरणं तं सि होइ उवगरणं ।
अइरेगं अहिगरणं, अजओ अजयं परिहरंतो ॥७४१॥

अर्थात् ''जो पात्रादि वस्तु ज्ञानादि की साधना में उपयोगी होती हो वह साधु का उपकरण है । उसके अलावा जो ज्ञानादि के लिए उपयोगी न हो, अथवा उपकरण होने पर भी अयतना वाला साधु उसे यतना रहित उपयोग करे, वे सब उसके लिए अधिकरण = दुर्गति का कारण रूप हैं ।'' पंच वस्तुक में कहा है कि–

मुच्छा रहि आणे सो, सम्मं चरणस्स साहगो भणिओ ।
जुतीए इहरा पुण, दोसा इत्थंपि आणाई ॥८३६॥

अर्थात् ''मूर्छा रहित साधु को, यदि वह औधिक – औपग्रहिक उपधि माप से और प्रयोजन से रखे और यतना पूर्वक उपयोग करे तो सम्यक् चारित्र का साधने वाला कहा है । अन्यथा प्रमाण रहित और प्रयोजन रहित यदि रखता हो या यतना बिना उपयोग करता हो तो उपधि रखने में और उपयोग में आज्ञा भंग – अनवस्था, मिथ्यात्व, चारित्र की विराधना आदि दोष लगते हैं ।''

इस तरह औपग्रहिक उपधि का वर्णन किया गया है, यहां इतना विशेष समझना है कि – पहले स्थविर कल्पी को जो तीन कपड़े आदि उपकरण बताये गये हैं वह सर्व सामान्य की अपेक्षा से समझना, विशेष अपेक्षा से तो अधिक भी रखने में दोष नहीं है । वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि – 'साधु कैसी और किस आकार की उपधि रखे ?' वहाँ उत्तर देते हैं कि –

भिन्नं गणणा जूत्तं, प्रमाण इंगाल धूम परिसुद्धं ।
उवहि धारइ भिक्खू, जो गण चिंत न चिंतेइ ॥३६८७॥

अर्थात् '' सामान्य साधु जिसे गच्छा की चिन्ता नहीं करनी है, वह दसिया अथवा उपधि चित्ररंग आदि शोभा रहित, शास्त्रोक्त संख्या से अधिक न रखे । लम्बाई चौड़ाई में भी शास्त्रोक्त माप वाली और अंगार तथा धूप दोष रहित = राग द्वेष किए बिना रखे । परन्तु जो साधु गच्छ की चिन्ता करने वाला हो, उसके लिए उपधि का प्रमाण नियत नहीं है ।'' वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि –

गण चिन्तगस्य एत्तो, उकोसो मज्झिमो जहन्नो य ।
सव्वो वि होइ उवही, उवग्गह करो महाण स्स ॥३६८८॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् ''गच्छ -समुदाय की चिन्ता करने वाले गणावच्छेदक आदि के पास में यदि पूर्व कहे अनुसार से अधिक हो तो भी उत्कृष्ट, मध्यय या जघन्य- इस तरह तीनों प्रकार की औधिक और औपग्रहिक उपधि गच्छ का उपकार करती है।'' आगे और भी कहा है कि -

आलंवणे विसुद्धे दुगुणो चउग्गुणो वा वि ।
सव्वो वि होइ उपही, उपग्गह करो महा णस्स ॥३६८६॥

अर्थात् '' आलंबन का कारण यदि शुद्ध - सबल हो तो दो गुणा, तीन गुणा या चार गुणा उपधि हो तो भी उस गच्छ के मुनियों को उपकारक होती है।''

आलंबन दो प्रकार का होता है। एक द्रव्य और दूसरा भाव। उसमें खड्डे आदि में पड़ते को रस्सा आदि का आधार द्रव्य आलंबन है और संसार रुपी खड्डे में गिरते हुए को आधारभूत ज्ञानादि गुण भाव आलंबन कहा जाता है। यहां जिस क्षेत्र में अथवा जिस काल में वस्त्र आदि मिलना दुर्लभ हो, उस क्षेत्र - काल आदि को आलंबन रूप समझना। वह प्रशस्त - राग, द्वेष, मूर्च्छा, मायादि दूषण वाला न होना चाहिए, अर्थात् जिस काल में जिस क्षेत्र में संयम योग्यं सामग्री दुर्लभ हो उस काल में वहां केवल संयम रक्षा के उद्देश्य से गणावच्छे कादि मुनि यदि अधिक भी उपधि रखे तो वह साधु को उपकारक होने से रख सकते हैं। वस्त्रादि सर्व उपधि को, वर्षा काल का आधा महीना जब शेष हो, तब जयणा पूर्वक धोना चाहिए। यदि पूर्ण प्रमाण में पानी न मिले तो पात्र के पल्ले - झोली आदि ही धोने चाहिएँ।'' ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

अप्पत्ते चिअ वासे, सव्व उवहि धुवंति जयणाए ।
असइ ए दैवस्य उ जहन्नओ पाय निज्जोगो ॥३५०॥

अर्थात् '' वर्षा काल आने के पहले ही साधु सर्व उपधि को यतना पूर्वक धोये और यदि पानी पूर्ण न मिले तो जघन्य से पात्र की उपधि को ही जयणा से धोवे। आचार्य, ग्लानी आदि की उपधि तो बारम्बार धोनी चाहिए।'' आगे ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

आयरिय गिलाणाणं, मइला मइला पुणो विधोवंति ।
मा हु गुरुण अवण्णो, लोगंमि अजी रणं इयरे ॥३५१॥

अर्थात् '' गुरु - आचार्य की लोक में निंदा न हो और बीमार को मैले कपड़े से सर्दी अजीर्ण न हो, इस कारण से आचार्य और बीमार की उपधि को जब-जब

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मलिन हो तब अन्य साधु को बारम्बार धोना चाहिए ।'' यह गाथा पिण्ड निर्युक्ति २६ तथा प्रवचन सारोद्धार ८६५ में भी आई है ।

वस्त्रादि धोने में पल्ले, झोली आदि पात्र की उपधि, रजोहरण के बाहर का ऊन का और अन्दर का सूती ये दोनों निशेथिया, संथारा, उत्तर पट्टा एवं चोल पट्टा– ये तीन पट्टे तथा मुँहपत्ति और रजोहरण– इतनी वस्तुओं को धोने में बहुत विलम्ब नहीं करना चाहिए अर्थात् - जूं उतारने के लिए दो तीन दिन न रख छोड़े, क्योंकि उनके बदले उपयोग करने के लिए अन्य वस्त्र नहीं होते । यदि उसमें जूं दिखती हो तो उसे धोने के पहले हाथ के बीच में अन्य वस्त्र रखकर उसमें जयणा पूर्वक उतारे और फिर बाद में धोना चाहिए । ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

पायस्स पडो आरं दुनिसज्जे ति पट्ट पोत्ति रयहरणं ।
एते ण उ विसामे जयणा संकामणा धुवणा ॥३५२॥

अर्थात् '' पात्र के परिकर (वस्त्र), दो निशेथिया, तीन पट्टा, रजोहरण और मुँहपत्ति इतनी वस्तुओं को धोने के पहले जूं निकालने के लिए दो-तीन दिन उपयोग बिना नहीं रखना चाहिए, परन्तु उसमें यदि जूं दिखें तो जयणा से अर्थात् सीधे हाथ से नहीं पकड़ते, अन्य वस्त्र के अन्तर में– हाथ से वस्त्र पकड़कर उसे वस्त्र में उतार कर फिर धोना चाहिए ।'' शेष उपधि को विश्रामण दे अर्थात् अमुक दिन उपयोग करना बन्द कर उसमें से जूं निकल जाने के बाद धोना चाहिए । उसके लिए ओध निर्युक्ति में कहा है कि –

अब्भिंतर परिभोगं उवरिं पाउणइ णाति दूरे य ।
तिन्नि य तिन्निय पक्कं, निसिं तु काउं पडिच्छेज्जा ॥३५३॥

अर्थात् '' शरीर के अन्दर के भाग में पहनने के कपड़े में जूं का होना संभव है, इसलिए उसे तीन रात तक दो कपडों के ऊपर ओढ़े, इससे उसमें यदि जूं होगी तो वह निकल कर नीचे - अंदर के दो कपडों में चली जायेगी । फिर तीन रात तक अपने आसन से दूर, या बहुत नजदीक नहीं परन्तु कुछ दूर भूमि पर रख छोड़े, इससे शेष रही जूं स्वयं निकल कर अन्य वस्त्र में चढ जायेंगी, फिर रात्रि में आसन के पास में ऊँची कील आदि के आधार पर लटका देना चाहिए जिससे यदि कोई जूं हो तो वह भी निकल जाय । इस तरह सात दिन रात के बाद फिर शरीर पर ओढ़ कर निर्णय करे, यदि उसमें जूं शरीर पर लगे तो न धोये, और यदि न लगे तो जूं नहीं है– इस प्रकार समझ कर धो ले ।'' वस्त्र धोने के लिए पहली बरसात का पड़ा हुआ पानी,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गृहस्थ के बरतन में लिया हुआ, साधु को उपयोग करने की अनुमति है । आगे कहा है –

निव्वोदगस्स गहणं, केई भाणेसु असुइ पडि से हो ।
गिहि भायणेसु गहणं, ढिअवासे मिसयं छारो ॥३५५॥

अर्थात् " पहले वर्षा का छप्पर, नरिया आदि बहुत तपे होने से पहला पानी साधु को उपधि धोने के लिए उपयोगी जानना । उसे किसी आचार्य ने पात्र में लेने के लिए कहा है, परन्तु उसका शास्त्रज्ञ आचार्य ने निषेध किया है, क्योंकि वह पानी अति मैला होने से उसे यदि अपने पात्र में ले तो लोग 'साधु मैले हैं' इस तरह हलकापन मानते हैं, इससे शासन की भी निंदा होती है, और चालू वर्षा के समय आकाश में से गिरता पानी सचित होने से और पड़ने से भी मिश्र हो, उसे साधु को स्पर्श नहीं करना होता, इसलिए वह गृहस्थ के बर्तन में लेना, वह भी वर्षा बन्द होने के बाद लेना, क्योंकि तब वह उचित होता है, और पुनः सचित न हो, इसके लिए उसमें क्षार (चूना) आदि डाले ।" अब उपधि को धोने का क्रम ओध निर्युक्ति में कहा है कि –

गुरु पच्चक्खाणि गिलाण सेह माईण धोअणं पुव्विं ।
तो अप्पणो पुव्वमहागडे अ, इअरे दुवे पच्छा ॥३५६॥

अर्थात् " पहले विनय के लिए गुरु की, फिर प्रत्याख्यानी – तपस्वी की फिर ग्लानी, फिर नवदीक्षित और फिर अपनी उपधि का प्रक्षालन करना – धोना चाहिए। उसमें भी सबसे प्रथम यथाकृत – जो फटे बिना अच्छे हैं, फिर अल्प परिकर्म वाले जो किस स्थान पर फटे हों और उसके बाद बहु परिकर्म वाले जो बहुत फटे हों और जोड़े हों– उन वस्त्रों को धोना चाहिए।" इस तरह पुरुष और वस्त्र का क्रम कहा– अब धोने में जयणा के लिए ओध निर्युक्ति में कहा है कि –

अच्छेड पिट्टणासु अं, ण धुवे धोवे पयावणं न करे ।
परिभोगा परिभोगे, छाया तव पेह कल्लाणं ॥३५७॥

अर्थात् "वस्त्र को धोते समय साधु पत्थरादि के ऊपर धोबी के समान जोर से मारे नहीं, लकड़ी की थपकी से न मारे, किन्तु हाथ से जयणा पूर्वक मसल कर धोना चाहिए। धोए हुए वस्त्र को ताप – धूप में नहीं सूखाना चाहिए। उसमें ऐसा विवेक है कि – यदि वस्त्र का उपयोग होता हो, उसमें जूं की संभावना होने से छाया में सुखाए। यदि वस्त्र का उपयोग न हुआ हो तो उसे ताप में सुखाए, और जब तक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वह सूखे तब तक कोई न ले जाय इसलिए देखता रहे । इस तरह जयणा पूर्वक धोने के बाद उसे गुरु 'एक कल्याणक' प्रायश्चित्त दे । 'कल्याणक' प्रायश्चित्त का एक पारिभाषिक प्रमाण है ।'' इस तरह उपधि का पडिलेहन और प्रसंगानुसार उसका स्वरूप आदि कहा । अब सर्व उपकरणों के पडिलेहन के बाद चौथे पहर का शेष कर्त्तव्य मूल ६७ वें श्लोक से समझाते हैं कि -

ततः स्वाध्याय करणं, मुहूर्त्तं या वदंति मम ।
तत्रोच्चार प्रश्रवण - काल भूमि प्रमार्जनम् ॥६७॥

मूलार्थ '' उसके बाद अन्तिम मुहूर्त्त - दो घड़ी दिन शेष रहे तब तक स्वाध्याय करे, और अन्तिम मुहूर्त्त में स्थंडिल मात्रा और काल ग्रहण करने की भूमि को प्रमार्जन - मांडला करे ।''

व्याख्या - सर्व उपधि की प्रतिलेखना करने के बाद दिन के सोलहवें विभाग रूप अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त दिन शेष तब तक स्वाध्याय करना चाहिए । इस तरह वाक्य का सम्बन्ध समझना । यति दिनचर्या में कहा है कि -

अह पुणरवि उज्झाओ, सुत्तं वाएइ सुत्त गाहीणं ।
अत्थत्थीणं गुरुणो, कहंति तह चेव उत्थं पि ॥३२०॥

अर्थात् ''उसके बाद - पूर्वाह्न की अपेक्षा दूसरी बार उपाध्याय सूत्रग्राही साधु को सूत्र की और उसी तरह गुरु (आचार्य) अर्थग्राही को अर्थ की वाचना भी दे ।''

जब आखिरी मुहूर्त्त आए, दिन केवल दो घड़ी शेष रहे, तब स्वाध्याय से उठ कर साधु बाहर भूमि में रात्रि में स्थंडिल मात्र परठने के लिए भूमि का पडिलेहन करे तथा काल ग्रहण के लिए स्थान (भूमि) का प्रर्माजन करे । ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

चउ भाग वसे साए, चरि माए पडिक्कमित्तु कालस्स ।
उच्चारे पास वणे ठाणे चउ वीसई पेहे ॥६३२॥

अर्थात् ''दिन के अन्तिम (चौथे) प्रहर का चौथा विभाग जब शेष रहे तब काल का प्रतिक्रमण करके बारह बड़ी नीति के लिए और बारह लघु नीति के लिए- इस तरह कुल चौबीस स्थंडिल - भूमि का प्रति लेखन करे ।'' बारह भूमियों का प्रमाण ओध निर्युक्ति में कहा है कि -

अहिय सिया उ अंतो, आसन्ने मज्झि तहय दूरे य ।
तिन्नेव अणाहि आसी, अंतो छ छच्च बहि रओ ॥६३३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् "**अहियासिया** = स्थंडिल, मात्रा के वेग से अति पीड़ित न हो, सुखपूर्वक दूर जा सकता हो, तब **अंतो** = उपाश्रय के आंगण में तीन भूमियां, मकान के नजदीक, मध्य में, और दूर पडिलेहन करनी चाहिए। तथा **अणहि आसी** = संज्ञा के वेग से अति शंका होने से दूर न जा सके। उस समय एक उपाश्रय के अति नजदीक, दूसरी मध्य में और तीसरी कुछ दूर– इस तरह तीन भूमियों का पडिलेहन करे। इस प्रकार आंगन में छह तथा आंगन के बाहर छह मिलाकर कुल बारह उच्चार (बड़ी नीति) के लिए और उसी तरह बरह प्रश्रवण (मात्रा) के लिए पडिलेहन करने के लिए बताया गया है।" ओध निर्युक्ति में कहा है कि –

ए मेव य पास वणे, बारस चउ वीस यं तु पेहित्ता ।
कालस्स वि तिन्नि भवे, अह सूरो अत्थमुव याति ॥६३४॥

अर्थात् "इसी तरह बारह प्रश्रवण के लिए, कुल चौबीस का पडिलेहन करके पुनः काल ग्रहण की तीन भूमि पडिलेखना करने की होती हैं। वह जघन्य से एक हाथ के अन्तर पर पडिलेहन कर सकते हैं। इन सर्व भूमियों का पडिलेहन करते हुए सूर्य अस्त हो उस समय पडिलेहन करे।" यति दिनचर्या में भी कहा है कि –

चउभाग वसेसाए, चरिमाए पोरिसीइ कालस्स ।
पडिक्कमिऊण कुणंते, थंडिल पडिलेहणं तत्तो ॥३२०॥

अहि आसि अणाहि आसि अ, बहिरेतो दूर मज्झआसन्ने ।
मुत्तुच्चारे वारस वारस कालंसि भूमितिअं ॥३२१॥

अर्थात् "जब अन्तिम पोरसी का चौथा भाग शेष रहे तब काल ग्राही साधु काल का प्रतिक्रमण करके (नोंतरा देकर) उसके बाद सत्ताईस स्थंडिल भूमि का पडिलेहन करे। उसमें संज्ञा की सामान्य शंका के प्रसंग पर दूर और विशेष शंका हो और दूर न जाया जाय तब नजदीक, इस तरह उपाश्रय के आगंन में दो स्थान पर दूर, बीच और नजदीक मिलकर छह अगाढ़ कारण से और आंगन के बाहर सौ हाथ तक में नजदीक, बीच और दूर तीन-तीन मिलकर छह अनागाढ़ कारण से– कुल बारह बड़ी नीति के लिए और बारह लघुनीति के लिए तथा तीन काल ग्रहण के लिए, इस तरह कुल सत्ताईस भूमि की पडिलेहन करे।" इस प्रकार ९७ श्लोक पूर्ण हुआ। अब उसके बाद क्या करना चाहिये ? वह ग्रन्थकार स्वयं मूल श्लोक से कहते हैं कि –

आवश्यक कृतिः कालग्रहस्तारा त्रये क्षणे ।
ततः कालिकसूत्राद्यध्ययनादि तथा विधि ॥९८॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूलार्थ - ''प्रतिक्रमण करना, तीन तारा दिखे तब काल ग्रहण लेना और उसके बाद विधि अनुसार कालिकसूत्र आदि का अध्ययन इत्यादि करना।''

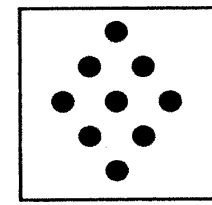
व्याख्या– 'आवश्यक' शब्द से यहां 'प्रतिक्रमण' समझना। इसका अर्थ पहले भाग में गृहस्थ के अधिकार में बताया गया है। वह साधुओं की मंडली में साथ करने के लिए कहा है। पंच वस्तुक में उसका क्रम और विधि इस तरह है-

इत्थेव पत्थवंमी, गीओ गच्छंमि धोसणं कुणइ ।
सज्झाया दुव उत्ताण, जाणणट्ठा सुसाहूणं ॥४४३॥

अर्थात् '' सूर्यास्त समय में ही गीतार्थ अवसर को जानकर साधु स्वाध्यायदि में एक्राग बने उत्तम साधुओं को सूचित करने के लिए घोषणा करे। अर्थात् - ''सूर्यास्त का समय हो रहा है अतः दिन सम्बंधी जो कार्य शेष हो उसके लिए सावधान हो ! उपयोग दे !'' उसके बाद सर्व साधु प्रतिक्रमण के स्थान पर एकत्रित हों, वहां बैठने के लिए मंडली की व्यवस्था बनाएं। उसके लिए यति दिनचर्या में कहा है कि –

पुव्वाभिमुहा, उत्तर-मुहा व आवस्सयं पकुव्वंति ।
सिरिवच्छा काराए, आगम विहिआइ ठवणाए ॥३२९॥

आयारिया इह पुरओ, दो पच्छा तिण्णि तयणु दो तत्तो ।
तेहिंपि तयणु इक्को, नवगणमाणा इमायरणा ॥३३०॥



अर्थात् '' आगम में कहे अनुसार श्रीवत्स के आकार से मंडली स्थापना करके, उस आकार में बैठकर प्रतिक्रमण पूर्व सन्मुख या उत्तर सन्मुख करे। श्रीवत्स का आकार इस तरह होता है– सब के आगे मध्य में आचार्य बैठें, उनके पीछे दो, उन दोनों के पीछे तीन, उन तीन के पीछे दो और दो के पीछे एक। इस तरह नौ साधुओं के मंडल से श्रीवत्स के आकार की एक मंडली होती है। इसकी स्थापना इस तरह समझना–

इस प्रतिक्रमण के प्रारंभ में दैवसिक प्रायश्चित्त के विशोधन के लिये एक सौ श्वासोच्छ्वास प्रमाण काउस्सग्ग करे। यति दिनचर्या में कहा है कि -

देवसिअं पच्छित्तं, विसोहयंता कुणंति उस्सग्गं ।
ऊसास सय पमाणं, विहिणा दिण पडिक्कमा रंभे ॥३३१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् ''दैवसिक प्रायश्चित्त विशोधनार्थ एक सौ श्वासोच्छ्वास प्रमाण का कार्योत्सर्ग साधु दैवसिक प्रतिक्रमण के प्रारंभ में विधि पूर्वक करते हैं ।''

वर्तमान काल में परम्परा से प्रतिक्रमण के अन्त में यह कार्योत्सर्ग किया जाता है । प्रतिक्रमण के समय में यदि गुरु महाराज निवृत्त हों, तो गुरु जब आएं तब सभी साथ में प्रतिक्रमण करें और वे यदि किसी श्रावक आदि को धर्म समझाने आदि कार्य में लगे हों तो वे मंडली में बाद में भी पधारें । पंच वस्तुक में कहा है कि -

जइ पुण निव्वा धाओ आवस्सं तो करिंति सव्वे वि ।
सड्ढाइ कहण वाधाय याए पच्छा गुरु ठंति ॥४४५॥

अर्थात् ''यदि गुरु निवृत्त हो तो सर्व साधु उस समय गुरु के साथ में ही प्रतिक्रमण करें और यदि गुरु किसी श्रावकादि को धर्म समझाने आदि में रुके हों तो वे बाद में भी मडली में आएं ।''

जब तक गुरु न पधारें तब तक अन्य साधु गुरुदेव को पूछकर प्रतिक्रमण मंडली में रत्नाधिक के क्रम से अपने आसन पर सूत्र-अर्थ का स्मरण-चिन्तन करने के लिए कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहें । पंच वस्तुक में आगे कहा है कि -

सेसा उ जहासत्ती, आपुच्छित्ताणं ठंति सट्ठाणे ।
सुत्तत्थ सरण हेउं, आयरिए ठिअंमि देवसिअं ॥४४६॥

जो हुज्ज उ असमत्थो, बालो वुड्ठो वि वाहिओ वापि ।
सो आवस्स य जुत्तो, अच्छिज्जा निज्जरापेही ॥४४७॥

अर्थात् ''शेष साधु गुरु को पूछकर प्रतिक्रमण की मंडली में यथा शक्य सूत्र-अर्थ का स्मरण करते हुए स्व स्व आसन में काउस्सग्ग मुद्रा में खड़े रहें और जब आचार्य गुरु पधारें तब इसी मुद्रा में खड़े खड़े ही दैवसिक प्रायश्चित्त (अतिचार) का चिन्तन करें । (४४६)॥ इसमें अपवाद कहते हैं कि - निर्जरा का जो अर्थी हो वह अशक्त, बाल, वृद्ध अथवा रोगी आदि जो खड़े रहने में असमर्थ हो, वह रजोहरण - मुंहपत्ति आदि आवश्यक वस्तुओं से युक्त होकर शक्ति को छुपाए बिना बैठे बैठे भी काउस्सग्ग करे ।''

इस विषय पर कई इस तरह कहते हैं कि - ''वह साधु सामायिक सूत्र कहकर काउस्सग्ग मुद्रा में खड़े खड़े जब तक गुरु आएं तब तक सूत्र-अर्थ का चिन्तन करे, उस के बाद जब गुरु आकर 'सामयिक सूत्र' कहकर काउस्सग्ग मुद्रा में दैवसिक अतिचार का चिन्तन करें, तब मौन रूप में काउस्सग्ग मुद्रा में ही साधु भी दैवसिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतिचारों का चिन्तन करे ।'' अन्य और यह कहते हैं कि – ''वह साधु सामायिक सूत्र कहे बिना ही जब तक गुरु आयें तब तक काउस्सग्ग मुद्रा में खड़े रहकर सूत्रार्थ का चिन्तन करे । जब गुरु महाराज आकर 'करेमि भंते' बोलें तब वह भी काउस्सग्ग मुद्रा में ही गुरु के साथ में मन से 'करेमि भंते' बोले – चिन्तन करे । इस तरह 'करेमि भंते' का चिन्तन कर दैवसिक अतिचारों का चिन्तन करे ।''

प्रतिक्रमण की विधि पहले भाग के अन्दर गृहस्थ धर्म के अधिकार में बताई गई है, उसी तरह समझना । जो कुछ साधु की प्रतिक्रमण विधि में विशेषता है, उसे यथा स्थान बतलाया जायेगा । यहां दैवसिक अतिचार के चिन्तन में इतना विशेष है कि आचार्य उसका दो बार चिन्तन करें, क्योंकि वे अन्य साधुओं को आहार लेने आदि कारण से बाहर घुमाते हैं इसलिए उन्हें अधिक चिन्तन करना होता है । इससे जितने समय में आचार्य दो बार चिन्तन करता है, उतने समय में साधु एक बार चिन्तन करे । पंच वस्तुक में कहा है कि –

जा देवसिअं दुगुणं चिंतेइ गुरु अंहिडिओ चेट्ठं ।
बहुवावारा इयरे, एग गुणं ताव चिंतेति ।।४५०।।

अर्थात् ''बाहर नहीं घूमने वाले गुरु दिन के व्यापार को दो बार चिन्तन करें। उतने समय में गोचरी आदि कारण से बाहर फिरने वाले बहुत प्रवृत्ति वाले अन्य साधु एक बार चिन्तन करें ।''

उसमें अतिचार के चिन्तन के लिए आलम्बन भूत आवश्यक निर्युक्ति की गाथा है । उस आलम्बन से उस विषय में लगे अतिचार को याद कर सकते हैं । वह गाथा इस प्रकार है –

सयणा सणन्न पाणे, चेइअ जइ सिज्ज काय उच्चारे ।
समिई भावण गुत्ती, वितहाय रणंमि अइआरो ।।१४६८।।

अर्थात् इसकी व्याख्या इस तरह है – '' शयनीय वस्तु = संथारा आदि वस्तुओं को अविधि – अयतना से लेते, रखते, बिछाते, उपयोग करते आदि अनेक रूप में अतिचार लगा हो, इसी तरह आसन = बैठने के लिए पाट, चौकी तख्ता आदि को भी अविधि = अयतना से लेने में, रखने में अथवा उपयोग करने आदि में अतिचार लगा हो । आहार, पानी अविधि से लिया हो या उपयोग करते अनेक जाति के अतिचार लगे हों । चेइय = चैत्य अर्थात जिन मंदिर – मूर्ति की भी आशातना करने से, अविधि से चैत्य वंदन आदि करने से और उसके विषय में साधु धर्म में करने योग्य चिन्ता,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सार-संभाल आदि नहीं करने से- इस तरह अनेक प्रकार से अतिचार लगा हो। 'यति' = साधु समुदाय या समग्र साधु, उनका यथा योग्य विनय, औचित्य, वात्सल्य या वैयावच्चादि स्व कर्त्तव्य न करने से, अविधि, अनादर या उनके प्रति द्वेष आदि करने से यति-साधु के विषय में अनेक रूप से अतिचार लगा हो। शय्या = वसति - उपाश्रय, उसका प्रमार्जन आदि विधि रहित करने से या सर्वथा नहीं करने से तथा उसमें राग, द्वेष या मोह करने से, स्त्री, पशु, पंडक आदि जहां हो उस उपाश्रय में रहने से इत्यादि उपाश्रय के विषय में भी अनेक प्रकार के अतिचार लगे हों। काय = लघु नीति और उच्चारे = बड़ी नीति अर्थात् मात्रा - स्थंडिल दोनों अविधि से परठे हों, जीव युक्त भूमि में परठने से, अन्य को असद् भाव हो- इस तरह राजमार्ग या लोगोपयोगी कुएँ, बगीचे आदि स्थान पर परठने से, स्थंडिल के 'आलोक' आदि दोष सेवन करने से इत्यादि अनेक प्रकार के दोष लगे हों। समिति = इर्या आदि पांच समिति, भावना = अनित्यादि बारह और मैत्रारि चार भावना, अथवा महाव्रत की पच्चीस भावना तथा गुप्ति = मनो गुप्ति आदि तीन गुप्ति- इन समिति, भावना और गुप्तियों के पालन में अविधि से सेवन द्वारा अथवा उसका सर्वथा पालन नहीं करने से आदि अनेकप्रकार के अतिचार लगे हों। इस तरह शयनीय से लेकर गुप्ति-पालन तक में जो 'वितथ' अर्थात् विरुद्ध आचरण किया हो, उन अतिचारों को समझ कर मन में उसकी अवधारण करके गुरु द्वारा पारने के बाद साधु भी काउस्सग्ग पारे। उसके बाद गृहस्थ धर्म के अधिकार में प्रतिक्रमण की विधि में कहे क्रमानुसार यह दैवसिक अतिचार गुरु के समक्ष आलोचना करने के पश्चात् गुरु **"ठाणे गमणे चंकमणे"** इत्यादि पाठ बोलें, उसके बाद अन्य साधु भी वह पाठ बोलें, वह पाठ इस प्रकार से है -

"ठाणे गमणे चंकमणे, आउत्ते अणा उत्ते हरिअ काय संघट्टिय, वीय काय संघट्टिय, तस काय संघट्टिय, थावर काय संघट्टिय, छप्पई संघट्टिय, ठाणाओ ठाणं सकामिआ, देहरे गोअचरी बाहिर भूमि मारगि जाता आवता हरि अ काय, वीय काय, नील, फूल, त्रस, थावर जीवतणा संघट्ट परिताप उपद्रव हुआ, माटी तणो खेरो चांप्यो, काचा पाणी तणा छांटा लागा, स्त्री तिर्यञ्च तणा संघट्ट हुआ, ओघाओ, मुंहपत्ती उस्सं घटयां, अण पूजइ हींडया, ऊघाडे मुख बोल्या, अनेरूं जि कांइ पाप लागुं हुइ ते सवि हूँ मन वचन काया ई करइ मिच्छा मि दुक्कडं ॥"

व्याख्या - 'ठाणे' = काउस्सग्ग आदि करने के लिए खड़े रहने में, **'गमणे'**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

= गोचरी आदि कारण से जाने में, '**चिंकमणे**' = इधर उधर परिभ्रमण करने में, इत्यादि प्रवृत्ति '**आउत्ते**' = उपयोग पूर्वक और '**अणाउत्ते**' = उपयोग बिना करने से (इन दो शब्दों में 'क्लीवे वा' पा० सू० ८ - ३ - ११५ सूत्र से नपुंसक लिंग के भाव अर्थ में 'क्त' प्रत्यय आने से उसका उपयोग पूर्वक और बिना उपयोग- ये दोनों अर्थ समझना ।) '**हरिअ काय संघट्टिय**' आदि पद में 'काय' शब्द का अर्थ 'प्राण' अथवा शरीर समूह समझना । इससे '**हरिय**' = वनस्पति जीव को या उसके शरीर को, इसी तरह बाद के पदों में '**बीअ**' = सूखे फिर भी संचित अनाज के दाने या वृक्षों के अनेक जाति के बीज, '**त्रस**' = दो इन्द्रिय आदि जीव अथवा उसके शरीर को, '**थावर**' = सचित पृथ्वी काय आदि के जीव या उसके शरीर रूप पृथ्वी आदि पर खड़े रहते, चलते, फिरते उपयोग पूर्वक अथवा उपयोग बिना से '**संघट्टिय**' = स्पर्श किया हो तथा '**छप्पइ**' = जूंओ का संघट्टा हुआ हो '**ठाणाओ ठाणं सङ्कामिया**' = एक स्थान से अन्य स्थान पर रखा, जिन मन्दिर में, आहार लेते, बाहर भूमि में अथवा अन्य प्रयोजन से भाग में जाते-आते किसी हरी वनस्पति, सचित बीज, दाने आदि तथा '**नील**' = कायी, '**फूल**' = पुष्प या अनंत कायिक पाचो वर्ण फूलन त्रस अथवा स्थावर जीव- उन सब में किसी एक का या अनेक का थोड़ा अथवा बहुत स्पर्श हुआ हो, उनको '**परिताप**' = कठोर पीड़ा रूप स्पर्श किया हो, '**उपद्रव**' = अत्यन्त पीड़ा दी हो, मिट्टी के ढेर को दबाया हो, या ऊपर चले हों, सचित पानी का बिन्दु शरीर पर लगा हो, स्त्री का या कुत्ते-कुत्ती आदि किसी तिर्यंच का स्पर्श हुआ हो, ओघा, मुंहपत्ति शरीर से एक हाथ उपरान्त दूर रहा हो, इर्या समिति के पालन बिना चला हो, मुख पर मुंहपत्ति रखे बिना बोला हो, इसके सिवाय अन्य भी जो कोई पाप लगा हो उन सब को भी मन, वचन, काया से मेरा '**मिच्छामि दुक्कडं**' हो अर्थात् मेरा वह पाप मिथ्या हो ।''

यह पाठ बोल कर गुरु के समक्ष अतिचारों की आलोचना करे, उसके बाद विशेष शुद्धि के लिए '**सव्वस्स वि देवसिअः**' इत्यादि सूत्र दैवसिक प्रतिक्रमण करते हुए कहना- इसका अर्थ पहले भाग में आ गया है । राइ प्रतिक्रमण के अतिचारों की आलोचना का पाठ इस तरह है -

संथारा उट्टण किअ, परिअट्टण किअ, आउंटण किअ पसारण किअ, छप्पई संघट्टण किअ, अचक्खु विसय हुओ, संथारा पोरिसी तणो विधि भणवो विसार्यो, कडूथलुं अण पूजइं, हलाव्युं चलाव्युं सउणइ, स्वप्नांतरि दृष्टि विपर्यास, मनो विपर्यास संकल्प कुविकल्प स्खलनादि अतिचार लागा, मात्राउं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अविधि परिठविउं अनेरू जि कांइ पाप लागुं हुइ ते सवि हुं मन वचन कायाइं करइ मिच्छामि दुक्कडं।''

व्याख्या - ''१- संथारे में उद्वर्तना = एक बार पासा बदलते वह 'किअ' करने से, २- 'परिवर्तना' = पुनः मूल पासा बदलने से, ३- 'आउंरण किअ' = पैर आदि का संकोच किया हो, ४- 'पसारण किअ' = पैर आदि लम्बे किए हों, ५- जूं आदि का संघट्टा - स्पर्श किया और ६- अंधरे में मात्रा किया, परठा- इन छह स्थानों में जो पापकारी क्रिया की हों तथा संथारा पोरिसी पठानी भूल गया हो, प्याला (कुंडी) प्रमार्जन बिना हिलाया, उठाया, नींद में स्वप्न द्वारा अनिष्ट दर्शन हुए, अनिष्ट मन हुआ - दुष्ट विचार आए, मैथुन सम्बन्धी संकल्प - कुविकल्प हुए, या ब्रह्मचर्य में स्खलना हुई इत्यादि कोई अतिचार लगा हो, मात्रु अविधि से परठा, इसके उपरांत भी जो कोई पाप लगा हो, उन सब पापों को मन, वचन, काया से मिथ्या दुष्कृत देता हूँ अर्थात् मेरा वह पाप खतम हो ।''

यह पाठ बोलकर '**सव्वस्स वि राइअ**' इत्यादि सूत्र बोलकर फिर गुरु '**पडिक्कभह**' ऐसा कहकर प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त दे । शेष विधि पहले भाग में कहे विधि क्रम अनुसार जानना । उसके बाद में 'प्रतिक्रमण सूत्र' बोले । पंच वस्तुक में कहा है कि -

आलोइ ऊण दोसे गुरुओ पडिवन्न पायच्छित्ता य ।
सामाइअ पुव्वयं ते कड्ढंति तओ पडिक्कमणं ॥४६६॥

अर्थात् '' दैवसिक अतिचार की आलोचना करके गुरु मुख से ' प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त' स्वीकार करके साधु 'करेमि भंते ' बोलकर प्रतिक्रमण सूत्र कहे ।'' बोलने बैठने की मुद्रा यति दिनचर्या में बताई गई है कि -

काऊण वामजाणुं, हिट्ठा उड्ढं च दाहिणं जाणु ।
सुत्त भंणति सम्मं करजुअकय पुत्तिरय हरणा ॥२१॥

अर्थात् ''बायां घुटना नीचे नमाकर और दाहिना घुटना खड़ा करके दोनों हाथों में ओधा, मुंहपत्ति धारण कर साधु प्रतिक्रमण सूत्र को शुद्ध उच्चारण पूर्वक बोले ।''

अब श्रमण प्रतिक्रमण सूत्र '**पगाम सिज्जाए०**' का विवरण लिखते हैं । उसमें 'प्रतिक्रमण, शब्द का अर्थ पहले भाग में बताया गया है । वह इस प्रकार है - शुभ योग में से अशुभ योग में गया हुआ आत्मा पुनः शुभ योग में प्रतिकूल - वापिस आना, प्रमाद के वश आत्मा स्व स्थान से पर स्थान में चला गया हो- उसका पुनः स्व स्थान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में आना अथवा क्षायोपशमिकादि भावों से औदयिक भाव में गये आत्मा का ज्ञानादि गुण के आश्रय रूप स्वभाव में स्थिर होना । इस तरह **प्रति** = वापिस, **क्रमण** = चलना– उसका नाम प्रतिक्रमण कहलाता है । वह प्रतिक्रमण दो प्रकार का है – एक यावज्जीव तक का, दूसरा अमुक काल तक का । उसमें महाव्रत आदि उच्चारण यावज्जीव के लिए होता है और दैवसिक – राइ आदि का प्रतिक्रमण मर्यादित काल का समझा जाता है । प्रतिक्रमण के विषय १– प्रतिषिद्ध कार्य करना, २– करणीय नहीं करना, ३– जिन वचन में अश्रद्धा करना और ४– विपरीत प्ररूपणा करना– इन चार विषयों का प्रतिक्रमण करना होता है । प्रतिक्रमण सूत्र का प्रारंभ करते समय श्री पंच परमेष्ठि महा मंगल नवकार मंत्र और करेमि भंते कहना चाहिए – उसका अर्थ पहले भाग में बताया गया है तथा विध्न के नाश के लिए प्रतिक्रमण सूत्र बोलते समय मंगल करना चाहिए, अतः सूत्रकार स्वयं इस मंगल को कहते हैं कि –

''चत्तादि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं ॥''

अर्थात् ''संसार से 'मुझे गाले' = पार उतारे वह 'मंगल' अथवा जिससे हित मांगा जाय – प्राप्त हो वह मङ् – गल अथवा मङ्ग अर्थात् धर्म को लाता है वह मंङ्गल– इस तरह मंगल शब्द की भिन्न–भिन्न व्युत्पत्ति द्वारा अलग अलग अर्थ होता है । भवार्थ सब का एक है । यह मंगल रूप चार पदार्थ हैं । उनके नाम कहते हैं– १– अरिहंत मंगलं, २– सिद्ध मंगलं, ३– साधु मंगलं और ४– केवलि प्ररूपित धर्म मंगलं । ये चार मंगल हैं ।'' उसमें आचार्य – उपाध्याय आदि साधुत्व से युक्त होने से उनको साधुओं में समझ लेना । केवलि प्ररूपित धर्म अर्थात् श्रुतधर्म और चारित्र धर्म (ज्ञान और क्रिया) इन दोनों धर्मों को समझना । ये पदार्थ मंगल के कारण हैं इनसे ही मंगल मिलता है । इन कारण से इनका लोकोत्तम रूप है अथवा लोक में इन पदार्थों का उत्तमत्व है, इसलिए उनमें मंगलता है । इसके अर्थ को स्पष्ट करते हैं कि –

''चत्तारि लोगुत्तमा – अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लागुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥''

अर्थात् '' पूर्व में कहे अरिहंतादि चार पदार्थ लोक अर्थात् **क्षायोपशमिक** आदि भाव रूप भावलोक आदि में उत्तम है । इसलिए वह **'लोकोत्तम'** है उसमें भी अरिहंत भावलोक में मुख्य है क्योंकि उनको कर्म की सर्व शुभ प्रकृति का उदय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होता है । अरिहंत की तुलना में आए, ऐसी संसार की कोई आत्मा शुभ औदयिक वाली नहीं होती । 'सिद्ध' चौदह राज लोक के अन्तिम भाग में अर्थात् तीन लोक के मस्तक में रहने से क्षेत्र लोक में वे उत्तम हैं । 'साधु' सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त होने से भाव लोक में उत्तम है और दो प्रकार के धर्म में 'श्रुत धर्म' क्षायोपशमिक भाव लोक की अपेक्षा से तथा 'चारित्र धर्म' क्षायिक भाव और मिश्र [सन्निपातिक] भाव की अपेक्षा भावलोकोत्तम है । इस तरह उनके लोकोत्तम होने से ही उनकी शरण स्वीकार करने योग्य है अथवा लोकोत्तमत्व ही शरण रूप है। वह कहते हैं कि -

''चत्तारि सरणं पवज्जामि - अरिहंते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।''

अर्थात् ''चार शरण को मैं स्वीकार करता हूँ यानि सांसारिक दुःख से अपनी रक्षा के लिए मैं इन चार का आश्रय लेता हूँ - भक्ति करता हूँ । १. अरिहंत का आश्रय स्वीकार करता हूँ, २. सिद्धों का आश्रय स्वीकार करता हूँ, ३. साधु का आश्रय स्वीकार करता हूँ और ४. केवलि प्ररूपित धर्म का आश्रय स्वीकार करता हूँ ।'' इस तरह मांगलिक व्यवहार करके संक्षेप प्रतिक्रमण के लिए **''इच्छामि पडिक्कमिउ जोमे''** इत्यादि से लेकर **''तस्स मिच्छामि दुक्कडं''** तक कहे इसकी व्याख्या पहले भाग में बताई गई है । उसमें साधु के विषय में जो पाठभेद है उसकी व्याख्या पहले लिखते हैं । **'असावग पाउग्गो'** के स्थान पर साधु को **'असमण पाउग्गो'** कहना चाहिए और इसका अर्थ 'श्रमण के योग्य नहीं' अर्थात् साधु को आचरण करने योग्य नहीं ऐसा समझना चाहिए। **'चरित्ता चरित्ते'** के स्थान पर **'चरित्ते'** बोले और इसका **'सर्व वरति चारित्र'** में यह अर्थ समझना चाहिए । **'चउण्हं कसायाणं'** के बाद का पाठ इस प्रकार है -

''पंचण्हं महत्व याणं, छण्हं जीवणि कायाणं सत्तण्हं पिण्डे सणाणं अट्ठण्हं पवयण माऊणं नवण्हं बभचेर गुत्तीणं, दसविहे समण धम्मे समणाणं जोगाणं जं खंडिअं ।''

व्याख्या - ''प्राणातिपात विरमण आदि पांच महाव्रत में पृथ्वी काय आदि छह जीव निकाय में 'असंसृष्ट - संसृष्ट आदि सात प्रकार की पिण्डैषणा' इसका वर्णन गोचरी के दोषों में जिस तरह पहले बताया गया है उसी तरह यहाँ भी अर्थ समझना । पांच समिति और तीन गुप्ति रूप 'आठ प्रवचन माता के पालन में' इसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वर्णन आगे किया जायेगा। वसति - कथा आदि ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ति में क्षमादि दस प्रकार का श्रमण धर्म में तथा गुप्ति आदि **'समणाणं जोगाणं'** साधु के जो योग = व्यापार में अर्थात् उसका सम्यक् पालन, श्रद्धा साधु आचार में **'ज'** = जो कोई **'खंडिअं'** अंश से खण्डित किया हो, **'जं विराहियं'** यदि विराधना अर्थात् बहुत प्रकार की विराधना की हो किन्तु एकान्त से नाश न किया हो, **'तस्स'** = दिन सम्बन्धी अतिचार का यहां तक पाठ क्रिया काल का समझना अर्थात् उस समय में किए उन अतिचारों का **'मिच्छामि दुक्कडं'** यह वाक्य समाप्ति काल का वाचक है अत: इसका अर्थ क्रिया काल में किए उस अतिचार को वर्तमान काल में **'मिच्छामि डक्कडं'** अर्थात् प्रतिक्रमण करता हूँ - इस तरह भाव समझना।

इस अतिचार का **(जो मे देवसिओ)** इत्यादि सूत्र प्रतिक्रमण की विधि में यहां तक तीन बार बोला जाता है। उसमें प्रथम बार **'करेमि भंते'** बोलने के बाद अतिचार के स्मरण के लिए, दूसरी बार गुरु वंदन **(वांदना)** फिर गुरु को अतिचार का निवेदन करने के लिए तीसरी बार प्रतिक्रमण (प्रायश्चित्त) के लिए और चौथी बार बोला जायेगा उन अतिचारों की रह गयी अशुद्धि के विमलीकरण = विशेष शुद्धि के लिए। इस तरह इस सूत्र के बोलने में भिन्न-भिन्न उद्देश्य होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

इस तरह ओध से ही अतिचार बताकर उनका संक्षेप में प्रतिक्रमण बताया गया है। अब उन अतिचारों को विभाग पूर्वक बताकर उनका प्रतिक्रमण समझा है। उसमें प्रथम गमन-आगमन करते समय लगे अतिचारों के प्रतिक्रमण के लिए **'इच्छामि पडिक्कमिउं इरिआ वहियाए०'** सूत्र बोलना चाहिए। इसकी व्याख्या जिस तरह पहले में भाग कही गई है उस तरह समझ लेना। इस तरह गमन-आगमन में लगे अतिचार का प्रतिक्रमण किया। अब शेष सभी अतिचारों के प्रतिक्रमण के लिए मूल प्रतिक्रमण सूत्र कहते हैं। प्रारंभ में शयन क्रिया में लगे अतिचारों के प्रतिक्रमण के लिए कहते हैं कि -

"इच्छामि पडिक्कमिउं पगाम सिज्जाए णिगाम सिज्जाए संथारा उवट्टणाए परिअट्टणाए आउंटणाए पसारणाए छप्पई संघट्टणाए कुइए कक्कराइए छिए जंभाइए आमोसे ससरक्खामोसे आउलमाउ लाए सुअण वत्ति आए, इत्थी विप्परिआसिआए दिट्ठी विप्परिआसिआए मण विप्परिआसिआए पाण भोअण विप्परिआसिआए जो मे देव सिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याख्या - आवश्यक हरिभद्र की वृत्ति के अनुसार **इच्छामि प्रतिक्रमितुम** = प्रतिक्रमण करने की इच्छा करता हूँ। इसका अर्थ पहले बताये गये के अनुसार समझना। अब किसका प्रतिक्रमण करना चाहिये ? उसे कहते हैं कि - **प्रकाम शय्यया** = प्रकाम शय्या करने से लगे दिन सम्बन्धी अतिचारों का यहां भी क्रिया काल समझना अर्थात् उस समय में प्रकाम शय्या आदि करने से लगे अतिचार का वर्तमान में मेरा 'मिच्छामि दुक्कडं' हो। यह 'मिच्छामि दुक्कडं' पाठ समाप्ति काल वाचक जानना। इसी तरह बाद के पदों में भी क्रिया काल और समाप्ति काल का विवेक स्वयं समझ लेना। अब प्रकाम शय्या का अर्थ कहते हैं कि - शयन करना वह शय्या और प्रकाम = अतिशय = चारों पहर तक सोते रहना वह प्रकाम शय्या- यह प्रथम अर्थ है। दूसरा अर्थ- जिसमें शयन किया जाय वह संथारा आदि शय्या यदि प्रकाम = संथारा उत्तर पट्टे से अधिक उपकरण वाला हो तो वह प्रकाम शय्या अथवा वस्त्र की अपेक्षा से तीन से अधिक कपड़े उपयोग करना, अधिक सोना प्रकाम शय्या कहलाती है। इनमें से किसी भी प्रकाम शय्या से लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ- इस प्रकार अर्थ का सम्बन्ध जोड़ना। इस प्रकाम शय्या से स्वाध्याय में हानि होती है- वह यहां अतिचार समझना। अब निकाम शय्यया उपर्युक्त प्रकाम शय्या प्रतिदिन करना ही निकाम शय्या है। उससे भी स्वाध्याय की हानि रूप अतिचार लगता है - उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। **'संस्तार के उद्धर्तनया' (तया)** संथार में उद्वर्तन - पासा बदलते हुए दूसरी करवट से शयन करने और **'परिवर्तनया (तया)'** = पुनः उसी ही करवट से शयन करने से - पुनः पासा बदलने से। यहां पाठान्तर में **'ता'** प्रत्यय है- वह स्वार्थ में किया है। आगे भी जहां यह प्रत्यय है वहां स्वार्थ में समझना। यह पासा बार-बार बदलने से, संथारा और शरीर का प्रमार्जन न करने से अतिचार जानना। **'आकुञ्चनया (तया)'** पैर आदि शारीरिक अवयवों का संकोच करने से और **प्रसारणया (तया)**= संकोच को चौड़ा - लम्बा करने से जो अतिचार लगे हों उनका प्रतिक्रमण- यहां कुकड़ी - मुर्गे के समान पैर को ऊँचे अवकाश में लम्बे करते या संकोच करते समय प्रमार्जन नहीं करने से अतिचार लगता है। **षट्पदी - संघट्टणया (तया)**= जूंओं का अविधि से स्पर्श करने से, **कूजिते** = मुंहपत्ति आदि रखे बिना खांची खाने से, कर्कराियते = वसति - उपाश्रय में खड़े होकर ऊँची जमीन या सर्दी गरमी है- इत्यादि अरुचि से बोलना ही कर्कराियत कहलाता है। इस तरह मकान के प्रति नाखुशी - आर्त्तध्यान रूप होने से वह अतिचार है। **क्षूते-जृम्भिते** = छींक अथवा उबासी आने के समय मुंह पर हाथ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

या मुंहपत्ती न रखने से, **आमर्षणे** = लेते-रखते प्रमार्जन किये बिना वस्तु का स्पर्श करने से और **सरजस्कामर्षे** = पृथ्वी आदि सचित वस्तु का स्पर्श करने से। इस तरह जिन कारणों से अतिचार लगा हो – उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। इस प्रकार अर्थ का सम्बन्ध समझना।

यह जाग्रत अवस्था में संभावित अतिचार बताये गये हैं। अब निद्रा समय में संभावित अतिचार समझाते हैं कि - **आकुलाकुलया-स्वप्ननिमित्तया** - नींद में आकुल-व्याकुलता से स्वप्न आया हो, उसके योग से अतिचार लगा हो अर्थात् निद्रा में विषय की आकुलता से स्त्री - पुरुष आदि भोग, विवाह या किसी के साथ में युद्ध करना आदि का स्वप्न आने से अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण। यह आकुल-व्याकुलता भी मूल गुण और उत्तर गुण सम्बन्धी दो प्रकार के होते हैं। इसलिए उसे अलग से स्पष्ट करते हैं कि - **'स्त्री वैपर्यासिक्या'** = अब्रह्म सेवन से आकुल-व्याकुलता से, **'दृष्टि वैपर्यासिक्या'** = रूप के देखने के अनुराग के योग से स्त्री के देखने रूप दृष्टि विकार से आकुल-व्याकुलता के कारण से। इसी प्रकार **'मनो वैपर्यासक्या'** = मन में स्त्री का ध्यान अथवा चिन्तन करने रूप मनोविकार से आकुल-व्याकुलता वाला होने से तथा **'पान भोजन वैपर्यासिक्या'** = रात्रि में आहार पानी उपयोग करने इत्यादि विपरीत वर्तन सम्बन्धी आकुल-व्याकुलता से या निद्रा में उस प्रकार भी आकुल-व्याकुलता के कारण अब्रह्म सेवन, स्त्री रूप को देखने में उसके चिन्तन अथवा आहार पानी उपयोग के स्वप्न आने से, **'जो मि देव सिओ अई आरो कओ'** = मुने दिन सम्बन्धी जो अतिचार किया हो **'तस्स मिच्छामि दुक्कड़'** वह मेरा पाप मिथ्या हो।

प्रश्न - साधु को दिन में शयन निषेध है तब स्वप्न सम्बन्धी ऐसे अतिचार दिन में किस तरह लगे ?

उत्तर - तुम्हारा प्रश्न सत्य है परन्तु यह पाठ यह स्पष्ट करता है कि - विहार आदि के कारण थकावट हो गई हो उस कारण से यदि साधु दिन में भी शयन करे तो ऐसे अतिचार भी लग सकते हैं।

इस तरह निद्रा के अतिचार का प्रतिक्रमण समझाकर गोचरी के अतिचार का प्रतिक्रमण कहते हैं कि -

''पडिक्कमामि गोअरचरिआए भिक्खायरिआए उग्घाड कवाडुग्घाडणयाए साणा वच्छा दारा संघट्टणयाए, मंडी पाहुडि आए, ठवणा पाहुडि आए, संकिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सहसा गारिए, अणेस णाए, पाणे सणाएपाण भोअणाए, बीअ भोअणाए, हरिअ भोअणाए, पच्छे कम्मिआए, पुरे कम्मिआए, अदिट्ठ हडाए, दग संसट्ठहडाए, रयसंसट्ठहडाए, पगरि साडणि आए, पाणि ठावणि आए, आहोसण भिक्खाए, जंउग्गमेणं, उप्पायणे सवाए, अपरि सुद्धं, परिगहिअं परिभुत्तं वा, जं न परिट्ठविअं, तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं ॥ ''

व्याख्या - प्रतिक्रमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ । किस विषय का ? गोचरी में घूमते हुए लगे अतिचार का , इस तरह सर्वत्र अर्थ सम्बन्ध जानना । (गोअर चरिआए'= गाय का चरना वह 'गोचर' है और गोचर के समान '**चरिआए**'= भ्रमण करना वह गोचर चर्या कहलाती है । उसमें लगे अतिचार का प्रतिक्रमण । किस विषय में ? **भिक्खायारि- आए** = आहार के लिए भ्रमण करते समय भिक्षाचर्या में अर्थात् आहारादि के लिए गोचरी में घूमते समय लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ । वह अतिचार इस तरह है- आवश्यक वस्तु मिले या न मिले परन्तु साधु उसकी अपेक्षा रहित होने से मन में दीनता रहित होते हैं, यदि वह मिले तो संयम वृद्धि और न मिले तो तप वृद्धि- इस तरह दोनों तरफ से लाभ को मानते हैं । अत: मिलने न मिलने की अपेक्षा के अभाव में दीनता बिना और उत्तम-धनवान, अधम-दरिद्र और मध्यम-सामान्य लोगों के घर में इष्ट या अनिष्ट वस्तु जो भी मिले, फिर भी राग-द्वेष बिना सर्वत्र गोचरी हेतु फिरते हैं- ऐसी साधु को आहार लेने की विधि है । उसमें अतिचार किस तरह लगते हैं ? उसे स्पष्ट करते हैं कि **उग्घाड कबाडुग्घाडणदाए**= उद्घात अर्थात् केवल संकल चढ़ाई हो या अल्पमात्र बन्ध किया हो, किवाड़ उवं उपलक्षण से जाली, खिड़की, कपाट आदि को सम्पूर्ण उघाड़ने से, बिना प्रमार्जन खोलने से अतिचार लगते हैं । '**साणावच्छादारा संघट्टणयाए**'= कुत्ते, बछड़े या छोटे बालक के- उपलक्षण से अन्य भी तिर्यंच आदि के स्पर्श होने से लगे अतिचार। '**मंडी पाहूडिआए**' यहाँ प्राभूतिका = सिद्धान्त की परिभाषा में चावल - आहार, समझना । उसे **मण्डि** में अर्थात् ढक्कन अथवा अन्य किसी पात्र में अग्रकुट रूप में ऊपर से अलग निकाल कर भिक्षा दे- वह 'मण्डी प्राभूतिका' कहलाता है । साधु को इस तरह देने से और इसी तरह फिर अन्य को दान देने से रूप प्रवृत्ति दोष होता है । उसमें प्रथम लेने वाला साधु निमित्त बनता है अत: अतिचार लगता है । '**बलि पाहुडिआए**' = स्वधर्म का समझकर अन्य धर्मी मूल बर्तन में से आहार को प्रथम चारों दिशाओं में दिग्पालों को अथवा अग्नि को बलिदान देकर फिर जब अन्य को भिक्षा दे तब आहार फेंकने से या अग्नि में डालने से हिंसा आदि होती है, उसमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से प्रथम लेने के रूप में साधु निमित्त बनता है । इससे अतिचार लगता है । **'ठवणा पाहूडिआए'** = अन्य भिक्षु आदि के लिए रखे चावल आदि आहार, वह **'स्थापना प्राभृतिका'** कहलाता है । वह लेने से अन्य याचकों को अंतराय - प्रदेष होता है अथवा श्रमण साधुओं को देने लिए रखी वस्तु भी स्थापना कहलाती है, इसलिए वह लेने से स्थापना पिंड लेने का अतिचार लगता है । **'संकिए'** = आहारादि वस्तु लेते समय यदि वह वस्तु पहले बताये गये अनुसार आधाकर्मी आदि दोष से दूषित होने की शंका हो वह आहारादि वस्तु लेने से उस दोष रूप अतिचार लगता है । **'सहसागारिए'** = शीघ्रता के कारण अकल्पनीय वस्तु ली हो, फिर उसे न परठने से अथवा अविधि से परठने के कारण अतिचार लगता है । इसीतरह **'अणे सणाए'** = अनेषणा करने से अर्थात यहां 'न' अल्प वाचक होने से एषणा समिति के पालन में प्रमाद करने से और **'पाणे सणाए'** = सर्वथा अविचारणीय रूप अत्यन्त अनेषणा करने से दोष लगता है, तथा **'पाण भोअणाए'** = 'प्राण' अर्थात रस आदि से उत्पन्न होने वाले जीव उसे 'भोजन' अर्थात् खाने से यानि कालातीत दही, बासी चावल आदि में अथवा सड़े हुए, फट गये केले, आम आदि फल अथवा पुराने छुहारे आदि में उत्पन्न हुए जीव वाली वह वस्तु खाने से विराधना होती है । इस जीव वाली वस्तु का भोजन करने से अतिचार लगता है । **'बीअ भोअणाए'** तथा **'हरिअभोअणाए'** = कच्चे तिल आदि बीज की विराधना और अनाज भिगोने से उसमें अंकुर (अनंतकाय) की संभावना होने वह वस्तु खाने से हरि-वनस्पति की विराधना होती है, इस तरह बीज और अनाज की विराधना का अतिचार लगता है । **'पच्छे कम्मिआए'** एवं **'पुरे कम्मिआए'** = दान देने के बाद हाथ धोना, पानी पीना आदि पश्चात् कर्म जिसमें हों और दान देने के पहले पात्र या हाथ आदि **'पुरः कर्म'** जिसमें हो ऐसे भिक्षा लेने से लगे अतिचार, **'अदिट्ठ हडाए'** = लेते रखते नहीं दिखे- इस तरह लाई हुई भिक्षा लेने से देने वाले को लेने-रखने में जीव का स्पर्श आदि होने से देखे बिना लेना- वह अतिचार है । **'दगसंसट्ठहडाए'** = सचित पानी से भीगे स्थान से लाई हुई भिक्षा लेने से सचित स्पर्श रूप अतिचार, इस तरह **'रय संसट्ठहडाए'** = सचित पृथ्वी आदि रज वाले स्थान से भिक्षा लेते समय भी सचित स्पर्श रूप अतिचार लगा हो, **'पारिसाडणि आए'** = दान में देने की वस्तु को भूमि पर गिराते या छींटे पड़ते वहोरता हो वह 'पारिशानिका' कहलाता है । वह लेने से छह काय जीवों की विराधना रूप अतिचार होता है । 'पाणि ठावणि आए' = आहार देने के लिए बर्तन में शेष रहे अन्य द्रव्य को खाली करके उससे दान देना- उसे 'परिष्ठापन' कहा गया है । इस तरह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भिक्षा लेने से भी सचितादि का स्पर्श आदि होने से अतिचार है । '**ओहासण भिक्खाए**' = श्रेष्ठ द्रव्य की याचना करना– उसे आगम सिद्धान्त की भाषा में 'अवभाषण' (ओहासण) कहते हैं । ऐसी याचना से अतिचार लगता है । अब ग्रन्थकार उपसंहार करते हुए कहते हैं कि – 'इस तरह तो दोष बहुत ही हैं– यहां कितने कहे जा सकते हैं ?' इसलिए सर्व दोष 'उद्गमेन, उत्पादन और ऐषणा' इन तीन प्रकार में अन्तर्गत होने से कहते हैं कि – '**जं उग्गमेणं उप्पायणे सणाए अपरिसुद्धि परिग्गहिअं**' = जो 'आधाकर्म' आदि उद्गम दोष से, 'धात्रीदोष' आदि उत्पादन दोष से और 'शंकित' आदि एषणा दोष से दूषित लिया हो, '**परिभुत्तं वा, जं न परिट्ठविअं**' = लेने पर यदि परठा न हो अथवा उपभोग किया हो इस तरह जो जो अतिचार लगा हो '**तस्स मिच्छामि दुक्कडं**' वह मेरा पाप मिथ्या हो ।' इत्यादि व्याख्या पूर्व की तरह जानना ।

इस तरह गोचरी सम्बन्धी अतिचार प्रतिक्रमण कहकर अब स्वाध्यायादि में लगे अतिचारों के प्रतिक्रमण के लिए कहते हैं कि –

''पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए, उभओ कालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणयाए दुप्पडिलेहणयाए अप्पमज्जण याए दुप्पमज्जणयाए, अइक्कमे वइक्कमे अइआरे अणाायारे जो मे देव सिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।''

व्याख्या – ''प्रतिक्रमण करता हूँ– इसका अर्थ पूर्व व्याख्या अनुसार । वह किसका प्रतिक्रमण ? '**चउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए**' = दिन और रात्रि के पहले तथा अन्तिम एक-एक पहर– इस तरह चार समय सूत्र का स्वाध्याय नहीं करने से अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ । '**उभओ कालं**' = दिन के पहले और अन्तिम दो पोरिसी में '**भंडोवगरणस्स**'' भांड' अर्थात् पात्र आदि तथा उपकरण अर्थात् वस्त्र आदि का (यहां समाहार द्वन्द्व समास से एक वचनान्त प्रयोग समझना) '**अप्पडिले हणयाए**' = सर्वथा नत्रों से नहीं देखने से, '**दुप्पडिलेहण याए**' = मुश्किल से जैसे तैसे अपूर्ण – अवधि से देखने से, '**अप्पमज्जणयाए**' = रजोहरण आदि से सर्वथा प्रमार्जन नहीं करने से और '**दुप्पमज्जणयाए**' = अविधि से जैसे तैसे प्रमार्जन करने से अतिचारों का प्रतिक्रमण तथा '**अइक्कमे वइक्कमे, अइओर अणायारे**' = अतिक्रम – व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार सेवन करने से '**जो मे देवसिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।**' = ''मैंने समग्र दिन में जो अतिचार सेवन किया हो वह मेरा पाप मिथ्या हो ।'' इसकी व्याख्या पूर्व के समान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ही समझना– केवल अतिक्रम आदि का स्वरूप इस तरह है जैसे कि – कोई आधा कर्मिकादि दोषित वस्तु देने का निमंत्रण करे उसे दोषित जानने पर भी सुनकर निषेध नहीं करने से, १– अतिक्रम है उसे लेने के लिए जाता है वह, २– व्यतिक्रम दूषित होने पर भी वस्तु लेने से, ३– अतिचार और उसको खाने के लिए कवल हाथ में लेने से, ४– अनासार लगता है। इस तरह अन्य सर्व कार्यों में अतिक्रमादि स्वरूप स्वयं समझ लेना।

अब एकविध, द्विविध आदि भेदों से प्रतिक्रमण कहते हैं कि –

"पडिक्कमामि एगविहे असंजमे। पडि० दोहिं बंधणेहि – राग बंधेणणं दोस-बंधणेणं। पडि० तिहिं दंडेहि – मणदंडेणं वय दंडेणं काय दंडेणं। पडि० तिहिं गुत्तीहिं – मण गुत्तीए वय गुत्तीए काय गुत्तीए। पडि० तिहिं सल्लेहिं – माया सल्लेणं नियाण सल्लेणं, मिच्छादंसणं सल्लेणं। पडि० तिहि सल्लेहिं– माया सल्लेणं नियाण सल्लेणं, मिच्छादंसणं सल्लेणं। पडि० तिहि गारवेहिं– इड्ढी गारवेणं रसगारवेण सायागारवेणं। पडि० तिहिं विराहणाहिं – नाण विराहणाए दंसण विराहणाए चरित्त विराहणाए। पडि० चउहि कसाएहिं – कोह कसाएणं माण कसाएणं माया कसाएणं लोभ कसाएणं। पडि० चउहिं सन्नाहिं आहार सन्नाए भय सन्नाए मेहुण सन्नाए परिग्गह सन्नाए। पडि० चउहिं विगहाहिं – इत्थी कहाए भत्त कहाए देस कहाए, राग कहाए। पडि० चउहिं झाणेहिं – अट्टेणं झाणेणं, रूद्देणं झाणेणं, धम्मेण झाणेणं, सुक्केणं झाणेणं। पडि० पंचहि किरिआहि – काइ आए अहिगरणि आए पाउसि आए पारआ (ता) वणि आए पाणाइवाय किरिआए। पडि० पंचहिं काम गुणेहिं – सद्देणं रूवेणं गंधेणं रसेणं फासेणं। पडि० पंचहि महव्वएहिं– पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावायाओ वेरमणं अदिण्णा दाणाओ वेरमणं, मे हुणाओ वेरमणं परिग्गहाओ वेरमणं। पडि० पंचहिं समिईहिं – ईरिआस मिईए भासा समिईए एसणा समिईए आयाणभंडयत्त निक्खेवणा समिईए उच्चार पासवण खेल जल्लसिं घाण पारिट्ठावणा (णिया) समिईए। पडि० छहिं जीव निकाएहिं– पुढवी काएणं आउ काएणं तेउ काएणं वाउ काएणं वणस्स काएणं, तस काएणं। पडि० छहिं लेसाहिं – किण्ह लेसाए नील लेसाए, काउ लेसाए, तेउ लेसाए पम्ह लेसाए सुक्क लेसाए। पडि० सत्तहिं भय ठाणेहि, अट्ठहिं मय ठाणेहिं, नवहि बंभचेर गुत्तीहिं, दसविहे समण धम्मे, इगारसहिं उवासग पडिमाहिं, वारसहिं भिक्खु पडिमाहिं, तेरसहिं किरिया ठाणेहिं, चउदसहि भूअगामेहि, पनरसहि परमाहम्मि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एहिं, सोलसहिं गाहा सोलसएहिं, सत्तरसविहे असंजमे, अट्ठारसविहे अंबभे, एगुणवीसाए नायज्झयणेहि, वीसाए असमांहि ठाणेहिं, एक (इक्क) वीसाए सबलेहिं, बावीसाए परिसहेहिं, तेवीसाए सुअगडज्झयणेहि, चउवीसाए देवेहि, पंच (पण) वीसाए भावणहिं, छव्वीसाए दसा कप्प ववहाराणं उद्देस कालेहिं, सत्तावीसाए अणगार गुणिहिं, अट्ठावीसाए आमारय कप्पेहिं, एगूण तीसाए पावसु अप्पसंगेहि, तीसाए मोहणीय ठाणेहिं, एग तीसाए, सिद्धाइ गुणेहि, बत्तीसाए जोगसंगहेहिं, ते (तिं) त्तीसाए आसायणाहिं, अरिहंताणं आसायणाए, सिद्धाणं आसायणाए, आयरिआणं आसायणाए, उवज्झायाणं आसायणाहिं, साहूणं आसाणाए, साहूणीय आसायणाए, सावयाणं आसाणाए, साावियाणं आसा०, देवाणं आसा०, देवीणं आसा०, इहलोक आसा०, परलोगस्स आसा०, केवलि पन्नत्तस्स धम्मस्स आसा०, सुदेवमणु आसुरस्स लोगस्स आसा०, सव्वपाण भूअजीव सत्ताणं आसा०, कालस्स आसा०, सुअस्सं आसा०, सुअदेव याए आसा०, वायाणारियस्स आसा० जं वाइद्धं वच्चामेलिअं हीणक्खरं, अच्चक्खरं पयहीणं विणयहीणं जीगहीणं घोसहीणं सुट्ठुदिन्नं दुट्ठु पडिच्छिअं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइअं, सज्झाए न सज्झाइअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥''

व्याख्या - ''प्रतिक्रमण करता हूँ।'' इसकी व्याख्या पहले आ गयी है, किस हेतु से अतिचार लगते हैं ? उस विषय में कहते हैं कि - **'एगविहे असंजमे'** = अविरति रूप एक असंयम सेवन करने से जो अतिचार लगा हो,' वह मेरा पाप मिथ्या हो' इस तरह अन्तिम 'मिच्छामि दुक्कडं' पद के साथ में **'वायणारियस्स आसायणाए'** तक प्रत्येक पद का सम्बन्ध समझना चाहिए । **पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहि राग बंधणेण दोस बंधणेण** = कर्मबन्धन के स्थान दो हैं- एक राग दूसरा द्वेष, इनके सेवन से जो अतिचार लगा हो- उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। उसमें 'राग' अर्थात् अनुराग, और 'द्वेष' अर्थात् अप्रीति, ये दोनों आत्म को संसार के बंधन रूप हैं- यह बात स्पष्ट है। यहां किसी पद में तृतीय और किसी पद में सप्तमी विभक्ति है । वह व्याकरण के नियम अनुसार हेतु अर्थ में सर्व पद समझ लेना ।

यहां केवल शब्दार्थ कहते हैं- जिससे आत्मा दण्डित होता है अर्थात् राजा दण्ड करके जैसे धनवान को लूटता है वैसे मोहराजा मन-वचन-काया द्वारा आत्म के गुण- रत्न ज्ञानादि रूप ऐश्वर्य को लूट कर आत्मा को निर्धन - दरिद्री बना दे- वह दण्ड कहलाता है । वह दुष्ट मार्ग में जुड़े हुए तीन दण्ड हैं । अतः कहा है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'पडिक्कमामि दंडेहि मण दंडेणं, वय दंडेणं, काय दंडेणं' = मन दंड, वचन दंड और माया दंड- इन तीन दण्ड से यदि अतिचार सेवन किया हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। **पडिक्कामामि तिहिं गुत्तीहिं - मण गुत्तीए, वय गुत्तीए काय गुत्तीए**= मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। इन तीन गुप्तियों से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। उसमें **गोपन** - रक्षण करना वह गुप्ति कहलाता है अर्थात् शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति रूप में मन-वचन और काया का रक्षण करने रूप तीन गुप्ति समझना। इस तरह रक्षण नहीं करने से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ' यह समझना। **''पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं - माया सल्लेणं , नियाण सल्लेणं मिच्छादंसण सल्लेणं''** = माया शल्य, नियाण शल्य और मिथ्यात्व शल्य- इन तीन शल्य लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ। जिससे आत्मा को **शल्य** - दु:ख - पीड़ा हो वह शल्य अर्थात् कांटा कहलाता है। उसमें **१- 'माया'** - कपट- दूसरे को ठगना, यही शल्य है। परन्तु वस्तुत: वह अपने आत्म को ठगना है या जीव जब अतिचार सेवन करते हुए भी गुरु के आगे कपट से आलोचना न करे, अथवा अन्य रूप में करे- कपट से अपने दोष अन्य पर चढ़ा दे तब अशुभ कर्म का बंधन करके आत्मा को दु:खी करता है, इससे वह 'माया प्रवृत्ति' कहलाती है। इससे लगे अतिचार, **२- 'निदान'** = देव अथवा मनुष्य की जड़ ऋद्धि देखकर या सुनकर उसे प्राप्त करने की अभिलाषा से धर्म अनुष्ठान आदि करना, वह भी पाप साधन-संसार वृद्धि की अनुमोदना द्वारा आत्मा को कष्ट देता है, अत: वह भी शल्य है। और **३- मिथ्यात्व** = विपरीत दर्शन तत्त्वातत्त्व के विवेक का नाश करके झूठी मान्यता। इससे कर्मबन्धन करके आत्मा को दु:खी करता है, इसलिए इन तीनों शल्यों से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। तथा **''पडिक्कामामि तिहिं गार वेहिं - इड्ढी गारवेणं, रसगारवेण, साया गारवेणं''** = यहाँ गुरुत्व, बड़प्पन यही गौरव अर्थात् अभिमान और लोभ रूप आत्मा का अशुभ भाव- वह गौरव है। इस गौरव से जीव को राजपूजा या आचार्य आदि पद, ऋद्धि - सन्मान, संपत्ति आदि प्राप्ति, मनोनुकुल रसों की प्राप्ति और अनुकूल सुख की प्राप्ति होना, इस प्रकार मिली वस्तु का अभिमान करने से और अधिक मिलने की अभिलाषा करने से होता है, इसलिए इन ऋद्धि, रस और शांता गौरव करने से जो अतिचार लगे हैं, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। एवं **''पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिनाण विराहणाए, दंसण विराहणाए, चरित्त विराहणाए।''** = तीन प्रकार की विराधना होती है, १- ज्ञान की, २ दर्शन की और ३- चरित्र की। इन तीन की विराधना करने से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करता हूँ। इसमें ज्ञान की विराधना के पांच प्रकार हैं- १- ज्ञान की निन्दा करना, २- उपकारी गुरु का नाम छुपाना अर्थात् उपकारी मान कर कृतज्ञता दिखाने के बदले उनके उपकार को भूल जाना, ३- शास्त्रों की निन्दा करना जैसे कि - शास्त्र में एक ही बात- पृथ्वी कायादि जीवों का तथा प्राणातिपात विरमणादि व्रतों का वर्णन बारम्बार किया है, मद्य विषय, कषाय आदि प्रमाद का और उसके प्रतिपक्षी अप्रमाद का भी जहां-तहां बारम्बार वर्णन किया है- वहाँ सभी जगह 'पुनरुक्ति दोष' दिखता है एवं मोक्ष अभिलाषी साधु जीवन में निरुपयोगी ज्योतिष शास्त्र एवं योनि प्राभृत में योनि आदि का वर्णन किया है तो वह ज्योतिष या योनि के ज्ञान की साधु को क्या आवश्यकता है ? (पंच वस्तुक - १६३०) इत्यादि शास्त्रों की निन्दा - आशातना करना। ४- स्वाध्याय करने वाले - पढ़ने पढ़ाने वाले अंतराय करना और ५- आठ ज्ञानाचार से विरुद्ध अकाल में स्वाध्याय आदि करना।

२- दर्शन अर्थात् सम्यकत्व की विराधना, उसमें भी जैन दर्शन के प्रभावक शास्त्रों को जानने वाले 'सन्मति तर्क' आदि शास्त्रों की निन्दा करना- वह भी पांच प्रकार की विराधना है जैसे कि १- जैन दर्शन की निन्दा करना, २- जैन धर्म के आराधकों की निन्दा करना, ३- जैन दर्शन की सत्यता के प्ररूपक - कहने वाले दर्शन शास्त्र, जिन मन्दिर - मूर्ति या तीर्थ प्रभावना करने वाले, उद्यापन-उत्सव-महोत्सव आदि धर्म कार्यों की निंदा करना, ४- साधमी बन्धु आदि चतुर्विध संघ को उपद्रव अथवा उसके धर्म कार्य में अंतराय करना, तथा ५- दर्शनाचार के आठ आचारों का पालन नहीं करना। एवं

३- चारित्र की विराधना के भी व्रत आदि का खंडन करना इत्यादि- पांच प्रकार से जानना चाहिए, जैसे कि १- चारित्र धर्म की निन्दा, २- चारित्र पात्र साधु या साध्वी की निन्दा, ३- चारित्र के उपकरण को अविधि से उपयोग करना आदि आशातना, ४- चारित्र लेने वाले या पालने वाले को अंतराय करना, तथा ५- अष्ट प्रवचन माता या चरण-करण सित्तरी आदि चारित्र के अनुष्ठान का विधि पूर्वक पालन न करने में अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

''पडिक्कमामि चउहिं कसाएहिं - कोह कसाएणं, माण कसाएणं माया कसाएणं, लोभ कसाएणं।'' = इसमें जहां विविध दुःखों से कषाय अर्थात् पीड़ित होकर मर जाए, वह 'कष' अर्थात् संसार और उसका 'आय' अर्थात् लाभ होना- उसे कषाय कहते हैं। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं। उसमें क्रोध अप्रीति स्वरूप है, मान अहंकार मय, माया कुटिलता रूप और लोभ जड़ वस्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में मूर्छा रूप है । इन चारों का उदय होने के पहले उदय नहीं रोकने से और उदय में आते को निष्फल नहीं करने से अतिचार लगता है, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। तथा **''पडिक्कमामि चउहिं सन्नाहिं आहार सन्नाए, भय सन्नाए, मेहुण सन्नाए, परिग्गह सन्नाए ॥''** = संज्ञा अर्थात् समझदारी - अभिलाषा अवथा अनादि काल से आत्मा को लगी पौद्गलिक वासणाओं का बल, उसके चार भेद हैं - १- क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से होने वाली आहार की अभिलाषा- वह 'आहारसंज्ञा' है, २- भय मोहनीय कंर्म के उदय से भय लगता है - वह 'भयसंज्ञा' है ३- वेद मोहनीय कर्म के उदय से मैथुन (भोग) की अभिलाषा जागे वह 'मैथुन संज्ञा' है और ४- तीव्र लोभ के उदय से जड़पदार्थो में मूच्छा-ममता हो- वह 'परिग्रह संज्ञा' है। इन संज्ञाओं के वश बनने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

''पडिक्कमामि चउहिं विगहाहिं इत्थी कहाए, भत्त कहाए, देस कहाए, राग कहाए।'' = विपरीत या विरूद्ध कथा कहना वह विकथा है, उसके चार भेद हैं - १- स्त्री या पुरुष सम्बन्धी कामोत्तेजक बातें कहना वह 'स्त्री कथा' है, २- बल-रूप-स्वाद आदि उद्देश्य से- जिससे राग अथवा द्वेष उत्पन्न हो ऐसे आहार की बातें कहना वह भोजन (भक्त) कथा है । ३- राग द्वेष के आधीन होकर नाना प्रकार के देश के सुख-संपत्ति आदि की प्रशंसा या निन्दा आदि की बातें कहना वह 'देश कथा' है और ४- राग द्वेष से राजा महाराज के गुण दोष आदि कहना, वह 'राज कथा' है । श्री स्थानांग सूत्र में तो मृदुकारूणिका, दर्शन भेदिनी और चारित्र भेदिनी- इन तीन सहित सात विकथा बताई गई हैं । इन तीन पुत्रादि के वियोग से दुःखी माता पितादि अत्यंत करुणाजनक विलाप आदि करे वह ५- मृदुकारूणिका कथा है । कोई बात सुन कर जैन धर्म-दर्शन श्रद्धा नष्ट हो जाय, अन्य धर्मी के ज्ञान आचार आदि की प्रशंसा करना वह ६- दर्शनभेदिनी कथा है और 'साधु-साध्वी' बहुत ही प्रमादी हैं, इससे वर्तमान काल में महाव्रत नहीं हो सकते, अतिचार की शुद्धि कर सके ऐसी आलोचना देने वाले आचार्य नहीं हैं और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त से हाल में पाप की शुद्धि भी नहीं है, इत्यादि चारित्र में अश्रद्धा हो ऐसा बोलना वह ७- चारित्र भेदिनी कथा कही गई है । इन तीनों की अपेक्षा से पूर्व की चार विकथायें अंतभाव होती हैं । अतः यहां चार के विषय में कहा है, उसके लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ ।

''पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं - अट्टेणं झाणेण, रुद्देणं झाणेणं,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धम्मेणं झाणेण, सुक्केणं झाणेणं। '' यहां ध्यान अर्थात् मन का स्थिर अध्यवसाय = मन का अंतर्मुर्हुत्त तक एक विषय में एकाग्र आलंबन । उसके चार भेद हैं **१- आर्त्त**- अर्थात् विषयों में अनुरागी होना, **२- रौद्र** - अर्थात् हिंसादि का अनुरागी होना, **३- धर्म** - अर्थात् क्षमादि दस प्रकार के धर्म का - जिन वचन के अर्थ के निर्णय रूप होना और **४- शुक्ल** - अर्थात् शोक दूर करने वाला जिसमें राग का होता है - उस बल से रहित ध्यान । इन सब के चार चार भेद होते हैं -

प्रथम आर्त्तध्यान उसमें **१- अनिष्ट वियोग** = अनिष्ठ शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श रूप इन्द्रियों के अमनोज्ञ विषय को अथवा उस विषय का आधारभूत गधे, ऊंट आदि का योग बना हो, उसके वियोग और भविष्य में ऐसा योग न बने तो अच्छा है - ऐसी अभिलाषा करना । **२- रोग चिन्ता** = शूल आदि रोग होना, उसके वियोग का चिन्तन-ध्यान करना, वह मिट जाने के बाद पुनः न हो - ऐसी चिन्ता करना । **३- इष्ट संयोग** = मन के अनुकूल शब्दादि विषय मिलना तथा शाता वेदनीय उदय होने पर उसका वियोग न हो अथवा सुख और सुख के साधन रूप शब्दादि विषयों का योग करने की अभिलाषा का चिन्तन करना और **४- निदान** = अन्य जन्म में चक्रवर्ती आदि की ऋद्धि-सुख साधना की प्रार्थना करना । ये चार भेद बताये गये हैं । इस आर्त्तध्यान का परिचय- १- दुःखी का दुःख भरा विलाप, २- अश्रुपूर्ण आंखों से रुदन करना, ३- दीनता करनी और ४- सिर फोड़ना छाती पीटना आदि इसके चार लिंग-चिह्न हैं। इस तरह करने वाला आर्त्तध्यानी है - ऐसा समझना चाहिए ।

२. रौद्रध्यान - उसके **१. 'हिंसानुबन्धी'** - अपने सुख के लिए जीवों को मारना, छेदन, वेधन करना, बांधना, दाम देना--अंगोपांग आदि का छेदन करना अथवा प्राण मुक्त करना, इत्यादि का विचार करना । **२. 'मृषानुबन्धी'** - चगुली खानी, असभ्य, असत्य या किसी का घात हो ऐसा वचन बोलना या चिंतन करना । **३. 'स्तेयानुबन्धी'** - क्रोध, लोभ आदि से अन्य का धन हरण करने का चिन्तन करना। और **४. 'विषय-संरक्षणानुबन्धी'** - पांचों इन्द्रियों के शब्दादि विषयों के आधारभूत द्रव्यों के रक्षण के लिए 'शायद कोई ले न जाय' ऐसी सबके प्रति शंका करके अन्य को मार देना, वहाँ तक ध्यान करना या विचार करना । इस तरह चार भेद होते हैं। इस रौद्रध्यान के भी चार लिंग हैं । उसमें रौद्रध्यान के हिंसानुबन्धी आदि जितने प्रकार कहे है - उनमें किसी एकादि प्रकार में 'उत्सन्न' अर्थात् लगातार प्रवृत्ति करे वह **१. उत्सन्न** दोष है, इन चारों प्रकार में सतत प्रवृत्ति करने रूप उत्सन्न दोष सेवन करे वह **२. बहुल** दोष है । दूसरे की चमड़ी उखाड़ दे, नेत्र निकालना इत्यादि हिंसा जैसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नाना प्रकार के प्रयोग बारम्बार करे वह **३. नाना विध** दोष है, एवं अपने अकार्य से स्वयं अथवा अन्य कोई मनुष्यादि बड़े संकट में यदि पड़े, मृत्यु का प्रसंग आए तो भी अपने अकार्य का पछतावा न हो वह **४. आमरण** दोष जानना ।

३. धर्मध्यान- उसके **१. आज्ञा विचय** ज्ञान, दर्शन चारित्र, वैराग्य एवं भावनाओं का अभ्यास कर जिसने आत्माको उस गुण का अभ्यासी बना दिया हो, ऐसा आत्मा नय निक्षेप, सप्त भंगी आदि की अपेक्षा से गहन अतिगहन श्री जिन वचनों को तुच्छ बुद्धि के कारण से न समझ में आए, फिर भी वह 'सत्य ही है' ऐसा माने, समझे और विचार करे । **२. अपाय विचय** = राग द्वेष कषाय तथा उसके योग से हिंसा, झूठ, चोरी आदि आश्रवों का सेवन करने वाला जीव उसके फल रूप में इस लोक या परलोक में जो जो दुःख भोगता है, उनका ध्यान-चिन्तन करना । **३. विपाक विचय** = आठ कर्मों के स्वरूप, उनकी प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश- इन के भेद से विचार करना । और ४. **संस्थान विचय** = श्री जिनेश्वर कथित धर्मास्ति कायादि दह द्रव्यों के लक्षण, आकार, आधार, भेद और प्रमाण आदि का ध्यान करना। तात्पर्य यह है कि-धर्मास्तिकाय का लक्षण, गति सहायकता, जीव का लक्षण ज्ञानादि गुण आदि लक्षण का, इसी तरह से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का आकार लोकाकाश, जीव का आकार-स्वस्थ शरीर की अपेक्षा से 'समचतुरस्त्र संस्थान आदि छह प्रकार का, अजीव का-पुद्गलास्तिकाय का गोलाकार, लम्ब गोल, चोरस, लम्ब चोरस, वलयाकार आदि पांच प्रकार का, और काल का सूर्य-चन्द्रादि का भ्रमण मनुष्य क्षेत्र में ही होने से मनुष्य क्षेत्र के समान गोलाकार आदि उन द्रव्यों के आकार का, धर्मास्तिकायारि पांच द्रव्यों का, चौदह राजलोक प्रमाण लोकाकाश रूप आधार का तथा उस द्रव्य के भेद और प्रमाण का अर्थात् जीव तथा अजीव द्रव्यों के भेद प्रभेद का तथा उसके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि माप का- इस तरह सर्व द्रव्यों के लक्षण, आकार, आधार, प्रकार और प्रमाण का 'विचय' अर्थात् चिन्तन रूप जानकारी प्राप्त करना । इस तरह धर्म ध्यान के चार भेद होते हैं । उसके लिंग १. आगम से, २. उपदेश श्रवण से, ३. गुरु आज्ञा से, और ४. नैसर्गिक-स्वभाव से। जीव इस तरह मानता है कि- श्री जिनेश्वर भगवन्त द्वारा कहे गये भाव पदार्थ सत्य हैं, जैसा कहा है वैसा ही है, इत्यादि श्री जिन कथित तत्त्वों को श्रद्धा से समझता है- उस जीव में धर्मध्यान है । इस प्रकार धर्मध्यान के चार लिंग जानना ।

शुक्लध्यान - इसके भी १- पृथकत्ववितर्क सविचार, २- एकत्व वितर्क अविचार, ३- सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति और ४- व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति - ये चार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भेद हैं। उसमें एक ही द्रव्य में उसकी उत्पत्ति - नाश और स्थैर्यादि पर्यायों का उस द्रव्य से भिन्न जो वितर्क (कल्पना), उसका विचार अर्थरम संक्रम उससे युक्त जो ध्यान होता है। वह १- **पृथकत्ववितर्क सविचार है**। यह संक्रम परस्पर अर्थ में, व्यंजन में तथा योग में समझना। उसमें अर्थ अर्थात् पदार्थ, उसमें से व्यंजन अर्थात् शब्द में और शब्द में से द्रव्य में, इसी ही तरह मन वचन और काया के तीन योग में भी परस्पर विचार का संक्रमण करना वह **विचार** और वैसे विचार वाले ध्यान के लिए **सविचार** अर्थात् एकही द्रव्य में उसके पर्यायों के भेद की कल्पना करते परस्पर शब्द में से अर्थ में, पर्याय में और मन में से वचन में, उसमें से काया में - इस तरह संक्रमण करने रूप चिन्तन जानना। २- **एकत्व वितर्क विचार** = यहां एकत्व अर्थात् द्रव्य, पर्याय आदि की एकता, उसका वितर्क = परस्पर वाच्य - वाचक शब्द की और अर्थ की कल्पना है, उसका अविचार = शब्द, अर्थ और योग के संक्रमण का अभाव अर्थात् किसी एक ही योग का आलम्बन लेकर किसी शब्द, अर्थ का अथवा पर्याय का एक ही अपेक्षा से द्रव्य और पर्यायों के अभेद का चिन्तन करना। इस शुक्लध्यान के दो भेद पूर्वधरों के लिये होते हैं। पूर्वधरों को श्रुतानुसारी तथा पूर्व के ज्ञान रहित साधु कोश्रुत बिना भी होता है जैसे मरु देवी माता आदि को पूर्व के ज्ञान बिना हुआ था। ३- **सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति** = तीन योग में मन - वचन का सम्पूर्ण निरोध करने के बाद अर्ध - बादरकाय योग का निरोध करने वाले केवल ज्ञानी का योगनिरोध करते समय केवल सूक्ष्म काययोग का व्यापार होता है। और ४- **व्युछिन्न क्रिया अप्रतिपाति** = चौदहवे गुण स्थानक में शैलेशी अवस्था में तीन योग के व्यापार का अभाव होता है। इससे 'व्युच्छिन्न क्रिया' और अविनाशी होने से 'अप्रतिपाति' अर्थात् जड़ यौगिक क्रिया का सर्वथा अभाव होता है, उसमें छद्मस्थ के मन की निश्चलता के समान केवली को काया की निश्चलता, वह तीसरा है और सर्व योग का निरोध होने पर भी द्रव्यमन के व्यापार के अभाव में भी पूर्व प्रयोग से कुंभकार का चक्र चलता है वैसे ही जीव का उपयोग होता है। वह भाव मन का चौथा ध्यान कहलाता है। इस कारण से भवस्थ (अयोगी) केवली को यह चौथा ध्यान होता है। 'ध्यान' शब्द 'ध्ये' धातू से सिद्ध हुआ है, उस धातु के चिन्तन मनन, काया का निरोध और अयोगीत्व, ऐसे भिन्न भिन्न अर्थ होने से कार्य निरोध और अयोगीत्व इन दोनों को भी ध्यान कहा है, वह भुक्त है। शुक्ल ध्यान के लिंग १- अवध, २- असंमोह, ३- विवेक और ४- व्युत्सर्ग - ये चार होते हैं। उसमें परीषह - उपसर्ग के समय में भी ध्यान से न चलामान हो- ऐसी स्थिर आत्मभाव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो वह १- **अवध** है। अत्यंत गहन सूक्ष्म भाव यदि समझ में न आए फिर भी संमोहत्व - मूढ़ता के अधीन न हो, तथाविध देवमाया में भी न मूंझा जाय। वह २- **असंमोह** होता है। शरीर और अन्य भी सर्व बाह्य संयोग को आत्म से भिन्न अनुभव करे, उसमें ममत्व न करे वह ३- **विवेक** है, और शरीर, आहार तथा उपधि इन सबको सर्व प्रकार से त्याग करके निःसंग बने वह ४- व्युत्सर्ग समझना। इन चारो ध्यान में प्रथम दोनों का सेवन करने से और अन्तिम दो योग्यता वाले होने पर भी सेवन नहीं करने से, अथवा चारों की अश्रद्धा विपरीत प्ररूपणा - कथन आदि करने से जो अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

" **पडिक्कमामि पंचहि किरिआहिं - काइआए, अहिगरणि आए, पाउसिआए, पारिआ (ता) वणिआए, पाणाइ वाय किरिआए।**" यहां क्रिया अर्थात् व्यापार, उसमें काया का व्यापार वह **कायिकी** क्रिया तीन प्रकार से होती है। १- **अविरत कायिकी** = इस क्रिया में मिथ्या दृष्टि और अविरति समकित दृष्टि तथ देश विरति - पाचवें गुण स्थानक तक जीव की फैलना आदि कर्म बन्धन के कारणभूत सर्व क्रिया समझना। २- **दुष्प्रणि हितकारी** = इस क्रिया में प्रमत्त संयत छठे गुण स्थानक वाले की पंचविध प्रमाद युक्त इन्द्रियां और मन द्वारा होने वाली सारी प्रवृत्ति समझना और ३- **उपरत कायिकी** = इसमें प्रायः पाप व्यापार से निवृत्त अप्रमत्त संयत - छह से ऊपर गुण वाले की सर्व क्रिया समझना। इस तरह प्रथम कायिकी क्रिया के तीन भेद जानना। दूसरी **आधिकरणिकी** = जिससे आत्मा नरकादि दुर्गति का अधिकारी बने, वह 'अधिकरण' कहलाता है। ऐसे अधिकरणों द्वारा होने वाली क्रिया को 'आधिकरणिकी' कहते हैं। उसके दो भेद हैं - उसमें चक्र, रथ, यंत्र, गाड़ी, मोटर साइकिल आदि वाहन चलाना, पशुओं को बांधना, पक्षी पिंजरे में, मनुष्य को बंधन आदि डालना तथा मंत्र-तंत्र आदि का प्रयोग करना वह १- **अधिकरण प्रवर्तनी** है और तलवार, बन्दूक आदि शस्त्र बनाना वह २- **अधिकरण निवर्तनी** जानना। तीसरी **प्राद्वेषिकी क्रिया** = मत्सर ईर्ष्या - जलन पूर्वक क्रिया करना, उसके भी १- किसी सजीव पदार्थ पर मत्सर करना और २- किसी असजीव पदार्थ पर मत्सर करना, इस तरह दो भेद हैं। चौथी **पारितापनिकी** = ताड़न - तर्जना आदि के दुःख को परिताप कहते हैं और वह दुःख जिससे होता है वह पारितापनिकी क्रिया कहलाती है, उसके भी १- अपने शरीर को ताड़न- तर्जनादि करना और २- अन्य के शरीर को ताड़न तर्जनादि करना, इस तरह दो भेद जानना। पांचवी **प्राणाति पातिका** = प्राण का नाश करने की क्रिया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करना। उसमें भी १- अपने प्राण का नाश करना और २- पर के प्राण का नाश करना, इस तरह दो भेद हैं। उसमें प्रथम - संसार के दु:खों से घबड़ा कर उससे छूटने के लिए अथवा स्वर्गादि के सुख प्राप्ति के लिए पर्वत से गिर कर मर जाना इत्यादि अनेक प्रकार से अपने आप घात करना, और दूसरा - मोह, क्रोध आदि के अधीन होकर दूसरे को मारना - ये दो भेद जानना। इस तरह पांच क्रियाएं करने से जो कोई अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

"**पडिक्कमामि पंचहिं काम गुणेहि - सद्देणं, रूवेणं, गंधेणं, रसेणं, फासेणं।**" = शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श- इन पांच काम गुणों से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। इसमें जिसकी इच्छा हो वह शब्द - रूप आदि पांच इन्द्रिय के विषयों का काम और वह भिन्न भिन्न द्रव्य के आश्रित रहे - उन द्रव्यों के गुणकारी होने से ही उसे कामगुण कहा गया है। तथा **पडिक्कमामि पंचहिं महव्वएहिं - पाणाइ वायाओ वेरमणं, मुसा वायाओ वेरमणं, अदिण्ण दाणाओ वेरमणं, मेहुणाओ वेरमणं, परिग्गहाओ वेरमणं।**" यहां प्रथम विभक्ति सप्तमी के अर्थ में होने से प्राणातिपात विरमणादि पांच महाव्रतों में जो कोई अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। यहां उन व्रतों के विषय में नहीं करने योग्य करने से अथवा करने योग्य नहीं करने से इत्यादि कारण से अतिचार है, अथवा संघट्टा- स्पर्श - परिताप आदि करने से प्राणातिपातादि व्रत में अतिचार स्वयं जान लेना। तथा "**पडिक्कमामि पंचहिं समिईहिं - ईरिआसमिईए, भासा समिईए, एसणा समिईए, आयाण भंडमत्त निक्खेवणा समिईए, उच्चार पासवण खेल जल्ल सिंधाण पारिट्ठा वणा (णिया) समिईए।**" = इर्या समिति आदि पांच समितियों का यथार्थ पालन आदि नहीं करने से उसमें लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। उसमें १ - **इर्या समिति** = जिस रास्ते पर लोग, गाड़ी आदि वाहन चलते हों और सूर्य का प्रकाश जहां पड़ता हो, उस रास्ते पर जीव हिंसा न हो इसलिए युग प्रमाण दृष्टि से भूमि को देखकर चलना। २- **भाषा समिति** = निष्पाप, सर्व जीवों को हितकारी और प्रिय मित (अल्प) बोलना। ३- **एषणा समिति** = पूर्व कहे अनुसार एषणा के ४२ दोषों से रहित आहार, वस्त्र, पात्र, शय्या लेना चाहिए। ४- **आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति** = 'आदान' अर्थात् लेना और 'निक्षेपणा' अर्थात् रखना तथा 'भाण्ड मात्र' यानि पात्र वस्त्रादि संयमोपकारक सर्व वस्तुएं लेने रखने में प्रमार्जन पूर्वक सम्यक् प्रवृत्ति करना। ५- **उच्चार प्रश्रवण खेल जल्ल सिङ् धाण पारिष्ठापनिका समिति** = यहां उच्चार मल, प्रश्रवण = मात्रा (पेशाब), खेल =

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

थूक - कफ आदि, जल्ल = शरीर के ऊपर का मैल और सिङ्घाण = नाक का मैल- **इन सबकी परिष्ठाय निकाय समिति** = फिर नहीं लेने के उद्देश्य से निर्जीव भूमि में विधि पूर्वक उसे सर्वथा छोड़ - त्याग कर दे। इन पांच समितियों द्वारा लगे अतिचार का प्रतिक्रमण है। शेष अर्थ सुगम है।

'' पडिक्कमामि छहिं जीव निकाएहिं - पुढवी काएणं, आउ काएणं, तेउ काएणं, वाउ काएणं, वणस्सइ काएणं, तस काएणं।'' अर्थात् पृथ्वीकाय अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छह जीव निकाय जीवों की विराधना (हिसादि) करने रूप जो कोई अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। तथा **'' पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं - किण्ह लेसाए, नील लेसाए, काउ लेसाए, तेउ लेसाए, पम्ह लेसाए, सुक्क लेसाए।''** कृष्णादि छह लेश्या हैं, उनमें प्रथम तीन में प्रवृत्ति करने से और अन्तिम तीन में प्रवृत्ति न करने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। इसमें जैसे निर्मल स्फटिक अलग अलग वर्ण वाले द्रव्य के सहयोग से वैसे ही वर्ण वाला दिखता है, वैसे ही निर्मल आत्मा भी सर्व कर्म प्रकृतियों के रसभूत वह कृष्ण - नील आदि द्रव्यों के सम्बन्ध से वैसे ही परिणाम वाला होता है। उसे लेश्या कहते हैं। उसके कृष्ण, नील, कपोत, तेज, पद्म, और शुक्ल छह भेद हैं। उसका स्वरूप गांव को वध के लिए चले चोर तथा जामुन को खाने वाले छह पुरुषों को दृष्टान्त से समझ लेना। ये दोनों दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं।

''पडिक्कमामि सत्तहिं भयठाणेहि।'' इहलोक, परलोक, आदान, अकस्मात, आजीविका, मृत्यु और अपयश- ये सात प्रकार के भय हैं। उनमें मनुष्य को मनुष्य आदि स्व जाति से भय वह **१- इहलोक भय** है। पर जाति अर्थात् मनुष्य आदि की तिर्यंच आदि अन्य जाति से भय वह **२- परलोक भय** है। कदाचित कोई चोर आदि मेरा धनादि ले जाय ऐसा भय **३- आदान भय** है। किसी बाह्य निमित्त बिना अचानक बिजली गिरने अथवा घर आदि में अंधकार होने से भय आदि **४- अकस्माद भय** है। निर्धन अवस्था ''मैं दुष्काल में किस तरह आजीविका चलाऊंगा?'' इत्यादि भय **५- आजीविका भय है। ६- मृत्यु का भय** है और लोक में अपकीर्ति होने का भय वह **७- अपयश भय है**। इन सात भय स्थानों के करण से भयभीत होने से जो कोई अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। इसके बाद पाठ में सूत्रकार भगवन्त ने (पडिक्कमामि) यह क्रिया पद तथा वे स्थान नाम पूर्वक गिनाकर कहाँ है, वह स्वयं समझ लेना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

''अट्ठहिं मय ठाणेहिं'' आठ मद स्थान सेवन करने से जो अतिचार लगे हों उनका प्रतिक्रमण करता हूँ, इस तरह स्वयं समझ लेना। मद स्थान में १- जाति मद, २- कुल मद, ३- बल मद, ४- रूप मद, ५- तप मद, ६- एश्वर्य या प्रभुत्व का मद, ७- श्रुत मद और ८- लाभ मद हैं। **''नवहिं बंभचेर गुत्तीहिं।''** ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उपायभूत 'वसति शुद्ध' आदि चरण सित्तरी में बताये जायेंगे। उस ब्रह्मचर्य की नौ बातों का पालन नहीं करने से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। **'दस विह समण धम्मे।''** क्षमा' आदि दस प्रकार के श्रमण धर्म चरण सित्तरी में कहे जायेंगे, उनमें लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। **'इगारसहिं उवासग पडिमाहिं'** पहले भाग के अन्दर श्रावक के जन्म कृत्य में जो कहा है वह 'दर्शन व्रत सामायिक' आदि श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में श्रद्धा नहीं करने से अथवा विपरीत प्ररूपणा आदि से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। **'बारसहिं भिक्खु पडिमाहिं'** इसका वर्णन भी चरण सित्तरी में किया जायेगा , वह साधु के अभिग्रह रुप बारह पडिमाओं में अविधि, अश्रद्धा, विपरीत कथन आदि करने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

'तेरसहिं किरिया ठाणेहिं' यहां क्रिया अर्थ कर्म बन्धन में हेतुभूत चेष्टा, और उसका स्थान अर्थात् भेद क्रिया स्थान कहलाता है, उसके द्वारा जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। क्रिया स्थान इस प्रकार हैं १- **अर्थाय**- अर्थात् सप्रयोजन। संयम निर्वाह न हो ऐसे समय में अथवा बीमार आदि के लिए सकारण स्व - परार्थ दोषित आहारादि वस्तु लेनी पड़े वह अर्थाय किया है। २- **'अनर्थाय'** अर्थात् निष्प्रयोजन क्रिया। बिना प्रयोजन भी दोषित आहारादि लेना अथवा वन लता आदि तोड़ना इत्यादि क्रिया। ३- **हिंसा यै**- हिंसा के लिए क्रिया अर्थात् देव, गुरु या संघ के शत्रुओं को अथवा सर्प आदि हिंसक जीव ने हिंसा की है अथवा भविष्य में करेंगे ऐसा समझकर उनकी त्रिकाल की हिंसा के लिए दण्ड देना चाहिए, उसे मारना वह अमुक हिंसायै अर्थात् हिंसा के लिए क्रिया है। ४ - **अकस्मात क्रिया**- किसी अन्य को मारने के लिए बाण आदि शस्त्र फेंकना और उससे घात अन्य का हो जाय, वह क्रिया। ५- **दृष्टि विपर्यास क्रिया**- मित्र होने पर भी शत्रु जानकर या चोर न हो फिर भी उसे चोर समझकर मार दे, वह क्रिया। ६ - **मृषा क्रिया** - अपने लिए अथवा परिवार आदि के लिए मृषवाद - असत्य बोलना, वह क्रिया। ७ - **अदत्तादान क्रिया** - अपने लिए अथवा परिवार आदि के लिए स्वमी अदत्त, जीव अदत्त, तीर्थंकर अदत्त और गुरु अदत्त- ये चार प्रकार के अदत्त हैं। किसी वस्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को उसके मालिक की आज्ञा बिना लेना **स्वामी अदत्त** है । सजीव वस्तु हो, उसमें रह रहा जो जीव है उसकी अनुमति बिना उसे तोड़ना, खाना । वह वस्तु जीव का शरीर रूप होने से उस जीव की चोरी गिनी जाती है । वह **जीव अदत्त** है, दूसरे ने अजीव वस्तु दी हो परन्तु वह खाने पीने में जिज्ञासा न हो, फिर भी उसे खा ले, उपयोग कर ले वह **तीर्थंकर अदत्त** है । दूसरे की दी हुई अचित वस्तु शास्त्र निषिद्ध न हो, वह भी गुरु की आज्ञा बिना या उपयोग करने में **गुरु अदत्त** ग्रहण करने के क्रिया लगती है । ८ - **अध्यात्म क्रिया** – श्री ऋषभ देव भगवान के कोंकण देश के साधु द्वारा कायोत्सर्ग ध्यान में जैसे 'यदि मेरा पुत्र वर्तमान समय में क्षेत्र लता आदि को जला दे तो अच्छा है नहीं तो अनाज नहीं होने से दु:खी होगा' इत्यादि अनुचित चिन्तन करना (यह कथा कल्पसूत्र में प्रसिद्ध है) अथवा किसी निमित्त बिना स्व प्रकृति से ही मन में क्रोध, मान, माया, लोभ, क्लेशादि करके दु:खी होना, वह क्रिया अपनी आत्मा में होने वाली होने से अध्यात्म क्रिया जानना । ९ - **मान क्रिया** – अपनी जाति, कुल, ऐस्वर्य, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ आदि के अभिमान पूर्वक अपने को बड़ा मानकर अन्य को हलका दिखाने के लिए क्रिया करना । १० - **अमित्र क्रिया**– माता पिता अथवा स्वजन – सम्बन्धी अथवा जातिजन आदि को अल्प अपराध होने पर भी ताड़न, तर्जन, दहन आदि कठोर शिक्षा करना । इसे 'मित्र द्वेष क्रिया' भी कहा गया है । ११- **माया क्रिया** – कपट से मन में अलग विचार करना, वचन से अलग बोलना और काया से अलग क्रिया करना । १२- **लोभ क्रिया** – लोभ से आहारादि अशुद्ध दोषित लेना, उपयोग करना, या पापरंभ में अथवा स्त्री भोग आदि में आसक्ति, अपने भोगादि की रक्षा करने के लिए अन्य जीवों को मारना, बन्धन में डालना इत्यादि क्रिया । १३- **इरिया पथिकी क्रिया** = मोह का उपशम या क्षय होने से 'वीतराग' बने आत्मा की केवल योगिक क्रिया जिसमें केवल योग के व्यापार से त्रिसमयिक कर्मबन्धन होता है । पहले समय में बन्धन होता है । दूसरे समय में भोगा जाता है और तीसरे समय में निर्जरा होती है । इस तरह तेरह क्रिया स्थान बताये गये हैं ।

''चउदसहिं भूअ गामेहिं'' – भूत अर्थात् जीव और उसका ग्राम अर्थात् समूह, उन चौदह जीव समूह में, उनके अस्तित्व आदि की अश्रद्धा, विपरीत प्ररूपणा– कथन अथवा हिंसादि करने से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ । चौदह भूतग्राम इस तरह हैं - सूक्ष्म और बादर– ये दो भेद, एकेन्द्रिय, दोन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रय- ये चार प्रकार के विकलेन्द्रिय जीव और संज्ञी तथा असंज्ञी ये दो प्रकार के पंचेन्द्रिय जीव, इस तरह सात प्रकार के पर्याप्ता और सात अपर्याप्ता– इस प्रकार कुल चौदह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार के जीव अथवा चौदह गुणस्थानक में रहते- चौदह प्रकार के विशिष्ट शुद्धि प्राप्त करने वाले जीव- वे चौदह भूतग्राम जानना। **''पनरसहिं परमाहम्मिएहिं'** = पंद्रह प्रकार के अति संक्लिष्ट चित्त वाले परमधार्मिक जाति के भवनपति निकाय के असुरों के विषय में अश्राद्धादि करने से जो अतिचार लगे हों उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। उनके नाम इस प्रकार हैं - १ अम्ब, २- अम्बरीश, ३- श्याम, ४- शबल, ५- रौद्र, ६- उपरौद्र, ७- काल, ८- महाकाल, ९ - असि पत्र, १०- धनुष्य, ११- कुम्भ, १२- बालुका, १३- वैतरणी, १४- खरस्वर और १५- महाघोष। ये परमधामीय अपने अपने नाम के अनुसार नरक में बहुत दुःख देते हैं। **''सोलसहि गाहा सोलसएहिं''** - जिसमें 'गाथा' नाम का अध्ययन सोलहवां अन्तिम है उस सूयगडांग सूत्र के पहले श्रुत स्कंध के सोलहवें में, अश्रद्धा - विपरीत कथन आदि करने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। उनके नाम इस तरह हैं १- समय, २- वैतलीय, ३- उपसर्ग परिज्ञा, ४- स्त्री परिज्ञा, ५- नरक विभक्ति, ६- वीर स्तव, ७- कुशील परिभाषा, ८- वीर्य, ९- धर्म, १०- समाधि, ११- मार्ग, १२- समव सरण, १३- अवितथ, १४- ग्रन्थ, १५- यदतीत और १६- गाथा। **''सत्त रस विहे असंजमे''** = चरण सित्तरी में बाद में जो बताये जायेंगे उन सत्तरह प्रकार के संयम के विरुद्ध - असंयम का आचरण आदि जो अतचार सेवन किया हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। **''अट्ठारस विहे अबंभे''** = जो व्रताधिकार में बाद में बताया जायेगा उस अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य से विपरीत अब्रह्म का आचरण करने आदि से जो अतिचार लगे हों उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। **'' ए गुण वी साए नायज्झयणेहि''** = ज्ञाता धर्म कथा के छठे अंग सूत्र में प्रथम श्रुत स्कंध के उन्नीसवें अध्ययन में अश्रद्धा उत्सूत्र - विपरीत कथन आदि करने से जो अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। वे अध्ययन इस प्रकार हैं- १- उत्क्षिप्त ज्ञात, २- संघाटक ज्ञात, ३- अडंक ज्ञात, ४- कर्म ज्ञात, ५- सेलक ज्ञात, ६- तुम्बक ज्ञात, ७- रोहिणी ज्ञात, ८- मल्लि ज्ञात, ९- माकंदि ज्ञात, १० - चंद्रमस् ज्ञात, ११- दावद्रव ज्ञात, १२- उदक ज्ञात, १३- मंडुक्क ज्ञात, १४- तेतली ज्ञात, १५- नंदि फल ज्ञात, १६- अपर कंका ज्ञात, १७- आकीर्ण ज्ञात, १८- सुंसुमा ज्ञात, और १९- पुंडरीक ज्ञात।

''वीसाए असमाहि ठाणेहिं'' = समाधि अर्थात् चित्त की स्वस्थता - मोक्षमार्ग में स्थिरता- दृढ़ता का अभाव हो वह असमाधि है। उसके स्थान अर्थात् आश्रय - निमित्त वह स्व - पर को असमाधि अत्पन्न करने वाला होने से उसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

असमाधि कहा है। उसके इस तरह से बीस भेद कहे हैं– १– शीघ्रता पूर्वक – अयतना से चलना आदि, २– अप्रमार्जित स्थान पर बैठना सोना आदि, ३– जैसे तैसे प्रमार्जन किए स्थान पर बैठना इत्यादि, ४– शास्त्राज्ञा से अधिक शय्या का उपयोग करना, ५– शास्त्राज्ञा के उपरान्त अधिक आसन का उपयोग करना– यहां उपलक्षण से वस्त्र पात्रादि सर्व उपकरण भी अधिक उपयोग करना दोष समझना, ६– रत्नाधिक या बड़ों का पराभव – अपमानादि करना, ७– स्थविर का उपघात (विनाश) करना– तीन प्रकार के स्थिवर होते हैं– एक समवायांग सूत्र तक ज्ञाता श्रुत स्थविर है, दूसरा बीस वर्ष दीक्षा पर्याय वाला पर्याय स्थविर और तीसरा साठ सत्तर वर्ष की उम्र वाला वय स्थिवर होता है, ८– पृथ्वी कायदि भूतों की अर्थात् जीवों की हिंसा करना, ९– क्षणिक – संज्वलव क्रोध करना, १०– लम्बे काल तक क्रोधाधीन रहना, ११– अन्य को अवर्णवाद बोलना–निंदादि करना, १२– किसी दूषित को भी बारम्बार 'तू चोर है, तू दोषी है, तू कपटी है इत्यादि कहते रहना, १३– शान्त बने कषायों की पुन उदीरणा करना, १४ – शास्त्र निषिद्ध काल में स्वाध्याय करना, १५– हाथ पैर सचित रज से लिप्त होने पर प्रवृत्ति करना, १६– रात्रि आदिमें दिन के समान अविवेक से ऊँचे स्वर से बोलना, १६– वाक् कलह करना, १८– गच्छ में साधुओं में परस्पर भेद करवाना, १९– सूर्यास्त तक आहार पानी आदि उपयोग करते रहना और २०– ऐषणा समिति का पालन नहीं करना। इन बीस असमाधि के कारणों के सेवन आदि से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ।

"एक वीसाए सबलेहिं" = शबलता अर्थात् चारित्र के मूल से विराधना नहीं करना परन्तु दोष सेवन रूप मलिनता– उसके इक्कीस निमित्त को शबल कहा है। वे निमित्त इस प्रकार हैं – १– हस्त क्रिया करना करवाना रूप अब्रह्म का सेवन, २– अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार रूप में दिव्यादि त्रिविध = देव, मनुष्य और तिर्यंच के मैथुन का सेवन अर्थात् इन त्रिविध मैथुनों के विषय में अतिक्रमादि तीन दोष सेवन करना, ३– भोजन में चार विभाग हैं– १– दिन में लिया दिन में खाया, २– दिन में लिया रात को खाया, ३– रात में लिया दिन में खाया और ४– रात में लिया रात में खाया। इसमें प्रथम विभाग शुद्ध है, शेष तीन विभाग रात्रि भोजन रूप हैं। उनके लिए अतिक्रमादि दोष सेवन करना– वह शबल जानना। गाढ़ कारण से तो जयणा पूर्वक रात्रि में संनिधि आदि रखने पर भी दोष नहीं माना जाता है। ४– आधाकर्मिक, ५– राजपिंड, ६– क्रीत पिण्ड, ७– प्रामित्यक पिंड, ८– आभ्याहृत पिंड, ९– आच्छेद्य पिंड, १०– प्रत्याख्यात द्रव्य भोजन त्याग किया पिण्ड– इन सात

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार के दूषित - अकल्पनीय द्रव्यों का निष्कारण भोग में अतिक्रम आदि तीन दोषों का सेवन करना, वह यहां भी विशिष्ट कारण बिना अतिक्रम, व्यतिक्रम अतिचार या अनाचार सेवन करने वाला शबल नहीं परन्तु विराधक समझना, ११- ज्ञानादि प्रयोजन बिना छह महीने में एक गण से दूसरे गण - गच्छ की निश्रा में जाना, १२- एक महीने में तीन बार 'दगलेप' = नाभि जितने पानी में उतरना, यहां अर्ध जंघा तक पानी में उतरना संघट्ट होता है और नाभि से अधिक गहरे में उतरना लेपोपरि कहलाता है। उसमें एक मास में अधिक से अधिक दो बार 'दगलेप' उतर सकते हैं, यदि तीन बार उतरे तो शबल होता है, १३- एक महीने में तीन बार माया - कपट करने से शबल है, यहां अनाचरणीय आचरण कर लज्जा - भयादि से गुरु को नहीं कहना, छुपाना वह माया - कपट होता है, १४- इरादापूर्वक हिंसा से निरपेक्ष एक, दो अथवा तीन बार हरी वनस्पति के अंकुर आदि तोड़ना इत्यादि प्राणातिपात = हिंसा करना, १५- आशय पूर्वक एक, दो या तीन बार झूठ बोलना, १६- इरादापूर्वक एक, दो या तीन बार अदत्त वस्तु लेना, १७- उद्देश्य-पूर्वक गीली, चींटी, मकोड़ा, आदि अण्ड वाली। त्रस जीव वाली अथवा सचित बीज वाली जमीन के ऊपर तथा सचित पत्थर या कीड़े वाली लकड़ी के ऊपर किसी भी अंतर के बिना स्पष्ट संघट्टा हो, आसनादि बिछायें बिना ही खड़ा रहना या बैठना, १८- इरादापूर्वक निर्ध्वंस परिणाम से मूल - कंद, पुष्प, फल आदि हरी वनस्पति का आहार करना, १९- एक वर्ष में दस बार दगलेप करना - नाभि तक पानी में उतरना, २०- एक वर्ष में दस बार माया-कपट करना, भूल करके छुपाना और २१- इरादापूर्वक सचित पानी से भीगा - जल बिन्दु वाले हाथ या पात्र वाले दातार के पास से लिया हुआ आहार करना। इन इक्कीस में किसी भी शबल से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ।

"**बावीसाए परिसहेहिं**" = इसका स्वरूप मूल गाथा १२७ के अर्थ में बतायें। उन बाईस परीषहों में आर्त्त ध्यानादि के कारण जो अतिचार सेवन किया हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। "**तेवीसाए सुअगडज्झय णेहिं।**" = सूयगडाँग के दूसरे अंग सूत्र के तेईस अध्ययन हैं। उसमें पहले श्रुतस्कंध के सोलह 'सोलसहि गाहा सोलसरगहिं' ब्याख्या में कहा है, उसके उपरान्त दूसरे श्रुतस्कंध के १ - पुंडरीक, २- क्रिया स्थान, ३-आहार परिज्ञा, ४- पच्चक्खान क्रिया, ५- अनगार, ६- आर्द्रकीय, और ७- नालंदीय- ये सात मिलकर तेईस अध्ययन में अश्रद्धा- विपरीत कथन अथवा विराधनादि करने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ '**चउवीसाए देवेहि**' = श्री ऋषभ देवादि चौबीस जिनेश्वरों की विराधना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से अथवा दस भवनपति, आठ व्यंतर, पाँच ज्योतिषी और एक प्रकार का वैमानिक इस तरह कुल चार निकाय के चौबीस जाति के देवों के अस्तित्वादि में अश्रद्धा करने से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। **''पंचवीसाए भावणाहिं''** = पंच महाव्रतों के रक्षण के लिये प्रत्येक की पाँच-पाँच भावना मिलाकर कुल पच्चीस भावना, इनका वर्णन व्रताधिकार गाथा ११६ की व्याख्या में किया जायेगा, उनका पालन नहीं करने आदि से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। **''छत्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देस कालेहिं''** = यहाँ सूत्रादि के उद्देश-समुद्देश और अनुज्ञा के लिये गुरू की छह वंदना करना, तीन बार कायोत्सर्ग करना इत्यादि शास्त्रोक्त बड़े जोग की क्रिया करना ही उद्देशन काल जानना ,वह दशा श्रुतस्कंध के दस अध्ययन में दस, कल्पसूत्र के दस अध्ययन में दस, और व्यवहार के छह उद्देश में छह- इस तरह छब्बीस अध्ययन (योग) करना, काल ग्रहणादि क्रिया अवधि पूर्वक करने से अथवा उस पर अश्रद्धा आदि रखने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। **'सत्तावीसाए अणगार गुणेहिं'** = साधु के सत्ताईस गुणों का पालन आदि नहीं करने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। वह गुण इस प्रकार हैं १ से ६ तक रात्रि भोजन विरमण सहित पाँच महाव्रत का पालन, ७ से ११ तक पाँच इन्द्रियों की विजय, १२ भाव शुद्धि , १३ प्रत्युपेक्षणादि क्रिया की शुद्धि, १४ क्षमा आदि का पालन, १५ वैराग्य, १६ से १८ तक मन वचन और काया की दुष्ट प्रवृति का निरोध, १६ से २४ तक छहकाय जीवों की रक्षा, २५ विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय आदि संयम के व्यपार का सेवन, २६ शीतादि परीषहों की पीड़ा को समभाव से सहन करना और २७ प्राणान्त उपसर्ग आदि प्रसंग पर भी समाधि रखना।

''अट्ठावीसाए आयारकप्पेहिं'' = यहाँ आयार अर्थात् आचारांग सूत्र और 'प्रकल्प' अर्थात् उसकी ही पाँचवी चूलारूप 'निशीथ' नामक अध्ययन, ये दोनों मिलकर 'आचार प्रकल्प' कहलाता है। उसमें आचारांग सूत्रों के २५ अध्ययन और प्रकल्प -निशीथ के तीन- इस प्रकार-अट्ठाईस होते हैं। उनमें अश्रद्धा, विपरीत कथनादि आचरण से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। आचारांग के पच्चीस अध्ययनों के नाम इस तरह हैं- १- शस्त्रपरीक्षा, २- लोक विजय, ३- शीतोष्णीय, ४-सम्यकत्व, ५-आवन्ती लोकसार, ६-धूत (कर्मधूनन), ७-विमोह, ८-उपाधानश्रुत, ६-महापरिज्ञा, १०-पिण्डैषणा, ११-शय्या, १२- ईर्या, १३- भाषाजात, १४- वस्त्रैषणा, १५- पात्रैषणा, १६- अवग्रह प्रतिमा, १७ से २३

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ये सात सक्रिक(सक्तक्रिय) हैं १७- स्थान, १८- नैषधिकी, १९- उच्चार प्रश्रवण, २०- शब्द, २१- रूप, २२- पर क्रिया, २३- अन्योन्य क्रिया, २४ भावना और २५- विमुक्ति। एवं निशीथ के १- 'उद्धातिम' अर्थात् घटा सके २-'अनुद धातिम' अर्थात् घटा न सके और ३- 'आरोपणा' दिये प्रायश्चित्त में दर्पादि कारण बढ़ा सकते हैं। इस तरह प्रायश्चित्त कम ज्यादा करने का उसमें विधान है। इस प्रकार २५+३ मिलाकर अट्ठाईस हुए। **'एगूण तीसाए पावसु अप्पसंगेहि'** = पाप के कारणभूत उन्तीस पापश्रुत ग्रन्थ हैं- उसकी सेवना और आचरण आदि से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। वे उन्तीस पाप श्रुत इस प्रकार हैं- निमित्त शास्त्र के आठ अंग हैं उसमें १. दिव्य = व्यन्तरादि देव का अट्टहास आदि के फल का उसमें वर्णन है। २. 'उत्पात' = खून की बरसात आदि फल का उसमें वर्णन है। ३. 'आन्तरिक्ष' = आकाश में उपस्थित ग्रह के भेद आदि फल का वर्णन हो। ४. 'भौम' = भूमिकंप आदि पृथ्वी के विकार के आधार पर इसका फल इस प्रकार होगा इत्यादि फल कहा हो, ५. 'अंग' अर्थात् शरीर की चेष्टा के आधार पर उसका फल बताने वाला, ६. 'स्वर' = 'षड्ज' आदि स्वरों का स्वरूप एवं पक्षी आदि स्वरों का फल बताने वाला, ७. 'व्यंजन' = शरीर पर के मस, तिल आदि का फल बताने वाला और ८. 'लक्षण'= शरीर की रेखा आदि के आधार पर उसका फल कहने वाला। निमित्त शास्त्र के इन आठ अंगों (विभाग) के प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं- १. सूत्र, = मूल ग्रन्थ, २. वृत्ति = सूत्र के अर्थ का संस्कृत में विस्तृत वर्णन और ३. वार्त्तिक = वृत्ति का कुछ विशेष स्पष्टीकरण। इन तीन से गुणा करने से ८ × ३ = २४ भेद होते हैं, २५. संगीत शास्त्र, २६. नृत्यशास्त्र, २७. वास्तुविद्या-शिल्पशास्त्र, २८. वैद्यक शास्त्र और २९. धनुर्वेद = शस्त्र कलाज्ञापक शास्त्र। अंगविज्जा नामक पयन्नासूत्र में तो निमित्त के आठ अंग इस तरह बताये हैं १. अंग, २. स्वप्न, ३. स्वर, ४. व्यंजन, ५. भौम, ६. लक्षण, ७. उत्पात और ८. आन्तरिक्ष। यहां दिव्य के बदले स्वप्न शास्त्र बताया गया है - इनता भेद समझना। इस ज्ञान का दुरुपयोग होने से पापश्रुत कहा है।

"तीसाए मोहणीयषणेहिं" = मोहनीय नामक चौथे कर्म बंधन के तीस करण सेवन करने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। वह कारण इस प्रकार हैं- १. क्रूर परिणाम से स्त्री आदि निर्बल जीवों को पानी में डुबा कर मार डालना, २. हाथ से अथवा वस्त्रादि से मुह बांधकर, गला घोंटकर आदि क्रूर प्रयोग से निर्दयता पूर्वक मार डालना, ३. रोष से मस्तक पर चमडा बांधकर खोपड़ी तोड़कर मार डालना, ४. मूंगरा-हथौड़ा, घन या पत्थर आदि से सिर फोड़ कर मार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

डालना ५. संसार समुद्र में डूबते जीवों का परम आधारभूत धर्म नायक - आचार्य, उपाध्याय आदि को या बहुत जीवों को मार डालना, ६. शक्ति होने पर भी निर्ध्वंस परिणाम से बीमार आदि की औषधादि से सेवा नहीं करना, ७. साधु अथवा दीक्षार्थी गृहस्थ को जबरदस्ती धर्म भ्रष्ट करना अथवा दीक्षा में अंतराय डालना, ८. सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्ष मार्ग से विपरीत कथन करना, साधु या धर्म साधनों की निन्दा आदि करके उसके ऊपर अन्य को अरूचि-असद् भाव उत्पन्न करके स्व पर का अपकार करना अर्थात् लोगों को जैन शासन का द्वेषी बनाना। ९. केवल ज्ञान है ही नहीं, कोई केवली बनता ही नहीं है इत्यादि तीर्थंकरों की या केवलज्ञानी की निंदा करना, १०. आचार्य उपाध्याय आदि साधु वर्ग की अथवा उनकी जाति, ज्ञान आदि की निन्दा करना, ११. ज्ञान दान आदि से उपकार करने वाले अपने उपकारी आचार्य उपाध्याय-गुरु आदि की सेवा वैयावच्च न करना, १२. पुनः पुनः निमित्त कहकर अधिकरण करना अर्थात् निमित्त आदि कहना, १३. तीर्थ-संघ का भेद-झगड़ा करवाना, १४. वशीकरणादि करना, १५. त्याग-तप को भंग करने की इच्छा करना, १६. बहुश्रुत न होने पर भी अपने को बहुश्रुत या तपस्वी न करने पर भी तपस्वी रूप में बारम्बार जाहिर करना, १७. अग्नि के धुएँ आदि में दम घोंटवाकर मार डालना, १८. अपने आप पाप कर्म करके दूसरे के सिर पर चढ़ा देना, १९. अपने असद् आचरण (दोष) को कपट से छुपाकर अन्य को ठगना, अपने आप को सदाचारी में गिनना, २०. असद्भाव से सभा में सत्य बोलने वाले को भी झूठा सिद्ध करना, २१. हमेशा झगड़ा करना, २२. अन्य को विश्वास उत्पन्न करवा कर उसका धन आदि लूट लेना, २३. इसी तरह पर को विश्वास में लेकर उसकी स्त्री को अपने आधीन करना, २४. कुमार न होने पर भी अन्य के आगे अपने को कुमार रूप में कहना, २५. इसी तरह ब्रह्मचारी नहीं होने पर भी स्वयं को ब्रह्मचारी बताना, २६. जिसकी सहायता से स्वयं धनवान बना हो, उसी से धन प्राप्ति की इच्छा करना, २७. जिसके प्रभाव से स्वयं लोगों में प्रसिद्ध-यशस्वी बना हो, उसे ही किसी प्रकार से अंतराय दुःखी करना, २८. राजा, सेनापति, मंत्री, राष्ट्रचिन्तक आदि बहुत जीवों के नायक-रक्षक, पालक को मारना, २९. देव नहीं दिखने पर भी कपट से 'मैं देवों को देखता हूँ।' इस तरह कहकर असत्य का प्रभाव बढ़ाना और ३०. देवों की अवज्ञा करना, अर्थात् 'विषयांध देवों का क्या प्रयोजन है- मैं ही देव हूँ' इस तरह दूसरों को कहना। यह महामोह को उत्पन्न कराने वाला है एवं साधु को इसका पक्ष होना संभव हो सकता है। इन तीस स्थान में से किसी प्रकार का पाप करने से, करवाने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से और मन में किसी पाप करने की इच्छा आदि करने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

"एगतीसाए सिद्धाइगुणेहि" = जीव के आठ कर्मों का नाश रूप सिद्धावस्था है, उसके प्रारंभ में ही प्रगट होने से जो सिद्धों के आदि गुण कहलाते हैं, वह इकतीस हैं । उनमें अश्रद्धा, विपरीत कथन, अनादर, अबहुमान आदि करने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ । वे गुण इस प्रकार से कहे हैं गोल, चौरस, लम्बचौरस, त्रिकोन और वलयाकार ये पांच संस्थान-आकृतियाँ, शुक्लादि पांच वर्ण, सुरभि-दुरभि दो प्रकार का गंध, मधुर आदि पांच प्रकार का रस, गुरु लघु आदि आठ स्पर्श, एवं पुरुष वेद आदि तीन वेद- इन अट्ठाईस के अभाव रूप अट्ठाईस तथा अशरीरी, असंगरूप और जन्म का अभाव, इस तरह इकतीस अथवा आठ कर्मों के ३१ उत्तर भेद के क्षय से प्रगट होते इकतीस गुण समझना । वह ३१ भेद इस तरह हैं - ज्ञानावरणीय कर्म के पांच, दर्शनावरणीय के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के दो, आयुष्य के चार, नामकर्म के शुभ-अशुभ दो, गोत्र के दो और अंतराय के पांच- इस तरह इकतीस प्रकार से कर्मों का क्षय होने से इकतीस गुण समझना ।

"बत्तीसाए जोग संगहेहिं" = मन वचन और काया की प्रशस्तता रूप शुभ योग के संग्रह के लिए उपाय रूप 'आलोचना' आदि को 'योग संग्रह' कहा है । उसके बत्तीस भेद में जो कोई अतिचार सेवन किया हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। वह भेद इस तरह हैं- १. शिष्य द्वारा विधि पूर्वक आचार्य श्री को आलोचना निष्कपट भाव से कहना, २. आचार्य भी शिष्य के वह अपराध जानते हुए भी दूसरे से न कहे, ३. आपत्ति के समय में द्रव्यादि चार प्रकार के उपसर्ग में भी धर्म के अन्दर दृढ़ता का अभ्यास करना, ४. उपधान-विविध तप करने में इस लोक - परलोक के जड़ सुखों की अपेक्षा न रखना, ५. ग्रहण और आसेवन रूप दो प्रकार की शिक्षा का विधि पूर्वक सेवन करना, विधिपूर्वक ज्ञान पढ़ना और क्रिया में प्रमाद नहीं करना, ६. शरीर का प्रतिकर्म-शुश्रषा-शोभा आदि नहीं करना, ७. अपना तप अन्य न जाने- इस तरह गुप्त करना, ८. निर्लोभता के लिए प्रयत्न करना यानि लोभ का त्याग करना, ९. परीषह-उपसर्ग आदि का विजय करना, वह समभाव पूर्वक सहन करना और दुध्यान नहीं करना, १०. सदा सरलता रखना, ११. संयम तथा व्रत आदि में - मूल - उत्तर गुणों में पवित्रता रखनी, अतिचार नहीं लगाना, १२. सम्यकत्व की शुद्धि रखना, दूषणादि नहीं लगाना, १३. चित्त में राग द्वेष रहित समाधि का अभ्यास करना, १४. पंच आचार का पालन करना, १५. मान का त्याग कर जीवन में विनीत बनना,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१६. दीनता रहित धैर्यवान बनना, १७. संवेग-मोक्षमार्ग की ही एक साधना में तल्लीन रहना १८. माया का त्याग करना, १९. प्रत्येक अनुष्ठान में सुन्दर विधि की सावधानी रखना, २०. संवर करना, नये कर्म बन्धन को रोकना, २१. आत्म के दोषों का उपसंहार करना, उन्हें कम- समाप्त करना, २२. सर्व पौद्गलिक इच्छाओं का विराग-त्याग की भावना रखनी, २३. मूल गुण-चरण सित्तरी में विशेष विशेष पच्चक्खान बढ़ाना, २४. उत्तर गुण में - करण सित्तरी में भी सविशेष पच्चक्खान बढ़ाना, २५. द्रव्य और भाव उभय विषय में व्युत्सर्ग का त्याग करना अर्थात् द्रव्य से बाह्य उपधि आदि और भाव से अंतरंग राग द्वेषादि का त्याग करना, २६. सदा अप्रमत्त भाव का अभ्यास करना, २७. प्रति क्षण में साधु समाचारी का रक्षण-पालन करना, २८. शुभ ध्यान रूप संवर योग सेवन करना, २९. प्राणांत वेदना के उदय में भी मन में क्षोभ नहीं करना, ३०. पुद्गल के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्ति करना और उसका त्याग बढ़ाने के लिए सविशेष पच्चक्खान करना, ३१. अपराध का प्रायश्चित्त करना और ३२. अन्तकाल में आराधना-संलेखना- निर्यामणा करना। इस तरह बत्तीस योग संग्रह का पालन आचरण या श्रद्धा आदि न करने से लगे अतिचार का प्रतिक्रमण बताया गया है।

"**तेत्तीसाए आसायणाए**" इस ग्रन्थ के पहले भाग गुरु वंदन अधिकार में गुरु की तैंतीस आशातना बताई गई हैं- उसके द्वारा अथवा यहां अब साक्षात् समझाते हैं- उन तैंतीस आशातनाओं द्वारा लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। आशातनाएँ अरिहंत से लेकर वाचनाचार्य तक की उन्नीस तथा व्यविद्ध से लेकर अन्तिम 'स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न किया' वहाँ तक की श्रुतज्ञान की चौदह मिलाकर तैंतीस आशातना समझना। उसमें १. '**अरिहंताणं आसायणाए**'= अरिहंत नहीं है, अथवा वे त्याग समझते थे फिर भी भोग क्यों भोगे ? इत्यादि बोलने से आशातना द्वार है, २. '**सिद्धाणं आसायणाए**' = कोई सिद्ध नहीं है इत्यादि बोलना सिद्ध की आशातना हैं, ३. '**आयरिआणं आसायणाए**' = यह मेरे से छोटा है, अकुलीन है, दुर्बुद्धि और अल्प लब्धि-शक्ति वाला है, इत्यादि आचार्य का अपमान करने से आचार्य की आशातना है, ४. '**उवज्झायाणं आसायणाए**' = आचार्य के समान उपाध्याय की आशातना, ५. '**साहूणं आसायणाए-साहूणीणं आसायणाए**' = भोजन, वाचना आदि प्रसंगो में 'यह अवसर को तो नहीं जानते' इत्यादि अन्य साधु साध्वी का अवर्णवाद-अपमानादि करने से साधु-साध्वी विषय की आशातना लगती है। ७. सावयाणं **आसायणाए, ८. सावियाणं आसायणाए**' = श्रावक तथा श्राविका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के विषय में भी 'जिन धर्म को जानते हुए भी विरति-चारित्र नहीं लेने वाले ये धन्य पुण्य 'भाग्यशाली' कैसे कहलायेंगे ?' इत्यादि असद् भावादि से आशातना करने से, ६. 'देवाणं आसायणाए, १०. देवीणं आसायणाए' - देव तथा देवियों के विषय में भी 'ये तो अविरति हैं, कामभोग में आसक्त हैं, सामर्थ्य होने पर तीर्थ-शासन की रक्षा या प्रभावना नहीं करते हैं।' इत्यादि अवर्णवाद बोलकर आशातना की हो, ११. 'इहलोगस्स आसायणाए', १२. 'परलोगस्स आसायणाए' - मनुष्यादि को मनुष्यत्व आदि समान जन्म वह इस लोक, और मनुष्यादि को देवत्व आदि असमान जन्म वह परलोक जानना- उस के विषय में असत्य कथन आदि करने से आशातना की हो, १३. 'केवलि पन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए' - केवलज्ञानी ने कहा श्रुत-चारित्ररूप धर्म की जैसे कि- 'आगम प्राकृत भाषा में रचे हैं, वह कौन जानता है ? अथवा किसने रचना की है ?' आदि श्रुत के विषय में तथा 'जिसमें दान देने का नहीं होता उस चारित्र से क्या कल्याण होता है ?' इत्यादि चारित्र विषय में असत्य-अवर्णवाद बोलने से आशातना की हो, १४. 'सदेव मणुआसुरस्स लोगस्स आसायणाए' - यहां देव से ऊर्ध्वलोक, मनुष्य से तिर्छालोक, और असुर शब्द से अधोलोक- इस तरह तीन लोक रूप चौदह राजलोक के विषय में 'सात द्वीप सात समुद्र जितना ही लोक है, वह ब्रह्मा ने उत्पन्न किया है, अथवा प्रकृति और पुरुष के योग से बना है।' इत्यादि असत्य कथन आदि करने से आशातना लगती है, १५. 'सव्वपाणभूअ जीव सत्ताणं आसायणाए' = प्राण अर्थात् दोन्द्रियादि प्रगट श्वासोच्छ्वास वाले, हुए- होते या होने वाले त्रस जीव, 'भूतानि' = पृथ्वी के स्थावर जीव, 'जीवा' जीए वह जीव अर्थात् आयुष्य भोगते सर्व संसारी जीव, और 'सत्त्वा' = संसारी असंसारी सर्व जीव, इस तरह अलग-अलग अर्थ समझना, अथवा भिन्न-भिन्न देश में जन्मे हुए शिष्यों को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है, इनमें प्रत्येक का अर्थ एक ही है- इससे 'सर्व जीव' समझना। उनके विषय में उनके स्वरूप से विपरीत कथन, अश्रद्धा करने से आशातना लगी हो। वह विपरीत कथन इस प्रकार-जैसे कि दोन्द्रिय आदि जीव केवल अंगूठे के पर्व समान ही हैं, पृथ्वी आदि में तो हिलती चलती आदि चैतन्य क्रिया दिखती नहीं है, अतः वे जीव है ही नहीं। जीव क्षणिक-अनित्य है, सत्त्व तो संसारी हैं और वे केवल अंगूठे के पर्व समान ही हैं, संसार से पार पाने वाले कोई हैं ही नहीं, मोक्ष तो बुझाये हुए दीपक के समान है' इत्यादि किसी दर्शन वाले के ऐसे मंतव्य के अनुसार जो कहे वह असत्य कथन समझना। १६. 'कालस्स आसायणाए' = काल द्रव्य न माने,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

काल है ही नहीं, अथवा जगत् काल की परिणति रूप है, इत्यादि काल से विपरीत कथन-अश्रद्धादि करने से आशातना लगती है, १७. **'सुअस्स आसायणाए'** = ज्ञानाचार के विषय में विपरीत बोलना, जैसे कि -बीमार को काल-अकाल क्या है? मैले वस्त्र धोने में काल-अकाल कैसा ? यदि ज्ञान मोक्ष का साधन है, तो उसके लिए 'यह काल और यह अकाल' आदि किसलिए ? तथा आगम में जहां तहां वही छह काया का, उन्हीं व्रतों का आदि बारम्बार एक ही विषय का वर्णन करके पुनरुक्ति दोष किया है, साधु की और ज्योतिष की क्या आवश्यकता है या ज्योतिष प्राभृत आदि ग्रन्थ की रचना की होगी ?' इस तरह शास्त्रों का अवर्णवाद बोलना इत्यादि आशातना द्वारा लगे अतिचार का प्रतिक्रमण है। यह श्रुतधर्म में भी बताई गई और यहां अब स्वतंत्र श्रुत भी कही गई है इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं समझना, १८. **'सुअदेवयाए आसायणाए'** = श्रुतदेवी नहीं है, अथवा उसमें कोई अच्छा-खराब करने की शक्ति ही नहीं है आदि विपरीत बोलना आशातना है, १९. **'वायणारियस्स आसायणाए'** = वाचनाचार्य के विषय में चिन्तन करना- 'सामने के व्यक्ति के सुख-दुःख का ख्याल किए बिना बारम्बार बहुत वंदन करवाते हैं' इत्यादि असद्भाव वाले वचन बोलने से आशातना लगती है। यहां तक उन्नीस आशातना बताई गई अब जं वाइद्धं आदि चौदह पद बताये जायेंगे। वह श्रुत की क्रिया और काल विषयक आशातना पद हैं, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं समझना।

१. **'जं वाइद्धं'** = सूत्रादि में जो अस्तो-व्यस्त किया हो, जैसे रत्न की माला के धागे में छोटे-बड़े रत्न जैसे तैसे पिरो दे वैसे श्रुत में भी क्रम आदि संभाल न रखे, उच्चारण यथार्थ न करे इत्यादि आशातना से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। इस तरह आगे भी वाक्य सम्बन्ध जानना। २. **'वच्चामेलिअं'** = जहां तहां से वस्तु लाकर बनी हुई कोली जाति की खीर के समान अलग-अलग शास्त्रों के पाठ के अंश से एकत्रित करके सूत्र का मूल स्वरूप बदल देना रूप आशातना होती है। ३. **'हीणक्खरं'** = एकादि अक्षर कम करने रूप आशातना, क्योंकि एक ही अक्षर कम ज्यादा करने से अर्थ का अनर्थ होता है। ४. **'अच्चक्खरं'** = एक या अनेक अक्षरों को बढ़ाना रूप आशातना, ५. **'पयहीणं'** = एकादि पद घटाने रूप आशातना, ६. **'विणयहीणं'** = उचित विनय नहीं करने रूप आशातना, ७. **'घोसहीणं'** = उदात्त, अनुदात्त आदि उस वर्ण का घोष (आवाज) यथार्थ रूप में उच्चारण नहीं करने से आशातना लगी हो, ८. **'जोग हीणं'** = विधिपूर्वक योगद्वहन नहीं करने रूप आशातना, ९. **'सुट्ठुदिन्नं'** = यहां सुष्ठु शब्द का प्राचीन भाषा में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'अधिक' अर्थ होने से गुरु ने अल्प श्रुत के योग्य साधु आदि को 'सुष्ठु' अर्थात् बहुत सूत्र दिया, अर्थात् योग्यता के उपरान्त अधिक पढ़ाने रूप आशातना, १०. **'दुट्ठु पडिच्छिअं'** = शिष्य को कलुषित चित्त से ग्रहण करने रूप आशातना, ११. **'अकाले कओ सज्झाओ'** १२. **'काले न कओ सज्झाओ'** = स्वाध्याय के लिए निषिद्ध काल में स्वाध्याय किया, और अनिषिद्ध काल में स्वाध्याय न किया, इस तरह उभय आशातना द्वारा, १३. **'असज्झाए सज्झाए'**, १४. **'सज्झाए न सज्झाअं'** = यहां व्याकरण के नियम के अनुसार स्वार्थ में प्रत्यय होने से 'स्वाध्याय' करने वाला 'स्वाध्यायिक' और जो स्वाध्यायिक नहीं वह 'अस्वध्यायिक' समझना। उसके कारण भूत 'खून हड्डी' आदि को भी कारण में कार्य का उपचार करने से अस्वाध्यायिक कहलाता है। उस अस्वाध्यायिक का स्वरूप अस्वाध्याय निर्युक्ति से देख लेना। उपर्युक्त अनध्याय समय में स्वध्याय किया और स्वाध्याय करने योग्य समय में स्वाध्याय न किया। इस तरह उभय प्रकार से की गई आशातना द्वारा लगे अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ। इस तरह सर्व पदों के अर्थ में वाक्यार्थ जोड़ना।

इस प्रकार एक से तैंतीस स्थान तक लगे अतिचार का प्रतिक्रमण सूत्र में समझाया गया। इसके उपरान्त आगे भी दूसरी आशातना के विषय में प्रतिक्रमण समझना। जैसे कि - श्री जिनेश्वर भगवन्त के चौंतीस अतिशय में अश्रद्धा, विपरीत कथन आदि करने से आशातना द्वारा, श्री तीर्थंकर के पैंतीस वचनातिशयों में अश्रद्धादि करने रूप आशातना द्वारा, श्री उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों में अश्रद्धादि रूप आशातना से, इस तरह सैंतीस-अड़तीस से लेकर 'सौ तारा युक्त शतभिषा' नक्षत्र है, वहाँ तक समवायांग सूत्र कहा जाता है, उस विषय के उतने प्रकार से की हुई आशातना का प्रतिक्रमण करता हूँ। ऐसा समझ लेना।

इसके अनुसार अतिचारों की विशुद्धि करके नीचे का पाठ बोलकर नमस्कार करे अथवा पूर्व में की हुई अशुभ प्रवृत्ति-अतिचार का प्रतिक्रमण करके पुनः वैसा नहीं करने के लिए नमस्कार पूर्वक कहे कि- **"नमो चउवीसाए तित्थ यराणं उसभाइ महावीर पज्ज वसाणाणं"** अर्थात्- श्री ऋषभदेव प्रभु से लेकर श्री महावीर देव तक के चौबीस तीर्थंकर भगवन्त को मेरा नमस्कार हो ! इस तरह नमस्कार कर के प्रस्तुत जैन प्रवचन-आगम के गुणों का वर्णन प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि-

"इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलिअं पडिपुण्णं णेआउअं संसुद्धं सल्लगतणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाण मग्ग अवितहमवि संधिं सव्व दुक्ख पहीण मग्गं, इत्थं ठिआ जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति परिनिव्वायंति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सव्वदुक्खाणमंतं करें ति, तं धम्मं सद्दहामि पत्तिआमि रोएमि फासेमि पालेमि अणुपालेमितं धम्म सद्दहंतो पत्तिअंतो रोअंतो, फासंतो, पालंतो, अणुपालंतो तस्स धम्मस्स (केवलि पन्नत्तस्स) अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए ।''

व्याख्या – इणमेव = यह सामायिक चौबीसत्थो आदि पच्चक्खान तक के छह आवश्यक अथवा बारह अंग रूप आचार्य भगवन्त की जवाहिरात की पेटी के समान हैं । **'नैर्ग्रन्थं प्रावयणं'** = नैर्ग्रन्थ अर्थात् बाह्य अभ्यंतर ग्रन्थ से (परिग्रह से) मुक्त बने साधु का 'प्रवचन' अर्थात् प्रकृष्ट-विशेषतया व्यापार रूप में जीव-अजीव आदि पदार्थों का वर्णन जिसमें किया है वह आगम या जो साधु जीवन का उपकारी है । अब उस आगम की विशिष्टता कहते हैं कि- **'सच्चं'** = सज्जनों का हितकारी और न्याय-नय दर्शन भी स्व विषयों के निरूपण में तो सत्य है, इसलिए कहते हैं कि - **'अणुत्तरं'** = इससे उत्तर अर्थात् इससे अन्य कोई श्रेष्ठ आगम नहीं है, क्योंकि समस्त पदार्थों का इस प्रवचन में यथार्थ प्रतिपादन है । फिर भी कोई इसके समान अन्य शास्त्र को भी माने तो उसके लिए कहते हैं कि- **'केवलिअं पडिपुण्णं'** केवल एक है या स्वार्थ में प्रत्यय आने से केवल के स्थान पर **'केवलिअं'** बना है, उसका भी अर्थ एक ही है, अद्वितीय अथवा उसके समान अन्य कोई प्रवचन नहीं है तथा **'पडिपुण्ण'** = सर्व विषयों का कथन करने वाला होने अथवा सर्व नय की अपेक्षा रूप होने से मोक्ष प्राप्ति कराने वाला सर्व गुणों से परिपूर्ण, **'णेआउअं'** = मोक्ष में ले जाने वाला या मुक्ति को प्राप्त कराने वाला अथवा न्याय से युक्त नीति को समझाने वाला है, ऐसा होने पर भी यदि कोई अशुद्ध माने तो उसका निराकरण करते हैं कि- **'संसुद्ध'** (पहले भाग में बताया गया है) कष, छेद और ताप इन तीन परीक्षाओं से सर्वथा शुद्ध, एकान्त रूप कलंक दोष रहित, तथापि कोई यह माने कि-ऐसा होने पर भी वह स्वभाव से ही कभी संसार के कारणभूत मायादि शल्यों को दूर करने में असमर्थ होगा, उसके लिए कहते है कि- **'सल्लगतणं'** = पूर्व कहे अनुसार वह 'माया' आदि तीन शल्यों को खतम करने वाले होते हैं । अब अन्य मतवाले जो सिद्धि आदि को नहीं मानते, उनके मत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि - **'सिद्ध मग्गं, मुत्तिमग्गं'** = सिद्ध होना ही सिद्धि है अर्थात् हितकर भाव की प्राप्ति- वह सिद्धि है उसके मार्गभूत, और छोड़ना- वह मुक्ति है अर्थात् अहितकारी कर्मादि के बन्धन से छूटना- मुक्त होना ही मुक्ति है, उसके मार्गभूत है । कहने का तात्पर्य यह है कि- केवलज्ञानादि आत्म हितकर भावों को प्रगट करने से अहितकर कर्म- शरीर-संसार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि बन्धनों से मुक्ति (मोक्ष) करने वाला है। उपर्युक्त विशेषणों से जो ऐसा मानते हैं कि- मुक्तात्मा को केवलज्ञानादि गुण नहीं होते, परन्तु वे कर्म युक्त होते हैं। उनके असत्य कथन का निराकरण किया। अब '**नज्जाणमग्गं**' = 'यान' का अर्थ स्थान समझना चाहिये अर्थात् जीव जहां गमन करे वह स्थान। जीव के स्वभाव में ऊर्ध्वगमन है, इसलिए 'इषत्-प्रागभार' (सिद्ध शिला) नाम का मुक्तात्माओं का निरुपम स्थान वह निर्याण कहलाता है। वहां जाने के लिए जो मार्ग है वह 'निर्याण मार्ग' समझना। इस विशेषण से जो मुक्तात्मा का स्थान अनियत मानते हैं, उन कुविकल्प वालों के मत का प्रतिकार किया है। तथा '**निव्वाण मग्गं**' = निर्वृति (शान्ति) वह निर्वाण है अर्थात् सकल कर्मों का क्षय होने से प्रगट होता आत्मा का अत्यंत अविनाशी-शुद्ध सम्पूर्ण सुख का मार्ग ही वह निर्वाण मार्ग है। इस विशेषता से जो यह मानते हैं कि - 'मुक्तात्मा सुख दुःख दोनों से रहित होते है' इस तरह उनकी शंका का समाधान किया। अब उपसंहार करते हैं कि '**अवितहम्**' = सत्य अथवा यहां सत्व अर्थ करने से पुनरुक्ति दोष होता है, उसके निवारण के लिए पूर्व में 'सच्च' का अर्थ 'सत्य' किया है, उसके बदले 'सच्च' का 'सार्चम' पर्याय करके अर्चा = पूजा सहित वह 'साच' ऐसा अर्थ करना चाहिए, क्योंकि यह प्रवचन (आगम) जगत् में पूजा का पात्र ही है। '**अविसन्धि**' = अव्यवच्छिन्न, अर्थात् पश्चिम महा विदेहादि क्षेत्र में सैदव विद्यमान होने से नाश रहित- शाश्वत्, '**सव्व दुक्खपहीणमग्गं**' = जहां सर्व दुःख प्रहीण अर्थात् सर्वथा क्षीण हुए हैं, वह मोक्ष, उसका 'मार्ग' अर्थात् मिलने का निमित्त कारण है। अब परोपकारी रूप में इस प्रवचन को चिन्तामणि रूप में सिद्ध करते हुए कहते हैं कि- '**इत्थं ठिआ जीवा**' = इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में-उसकी आराधना में रहे जीव '**सिज्झंति**' = अणिमा आदि लब्धियाँ (अतिशय) रूप श्रेष्ठ फल की सिद्धि करता है, और '**बुज्झंति**' = बोध प्राप्त करता है अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त करता है तथा '**मुच्चंति**' = भवोपग्राही (अघाती) कर्मों से भी मुक्त होते हैं, एवं '**परिनिव्वायंति**' = सर्व प्रकार से निर्वाण-शान्ति को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं अपितु '**सव्व दुक्खाणमंतं करें ति**' = शारीरिक, मानसिक आदि सर्व दुःखों का विनाश करता है।

इस तरह प्रवचन की महिमा का वर्णन करके, अब चिन्तामणि रत्न तुल्य इस प्रवचन में अपने कर्म मैल को धोने में समर्थ पानी के प्रवाह सदृश श्रद्धा को प्रगट करते हुए कहते हैं कि '**तं धम्मं सद्दहामि**' = जो इस निर्ग्रन्थ प्रवचन सम्बन्धी धर्म कहा है, उस धर्म में '**तहत्ति**' अर्थात् वैसा ही है- ऐसा विश्वास करता हूँ। किसी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को सामान्य विश्वास भी होता है। उसके लिए विशेषण कहते हैं कि - '**पत्ति आमि**'= इसमें विशेष श्रद्धा करता हूँ अथवा प्रीति करना स्वीकार करता हूँ तथा '**रोएमि**' = इस धर्म की अधिक सेवा करने की भावना से उसकी सेवा की अभिलाषा करता हूँ। यह प्रीति और रुचि - अभिलाषा दोनों भिन्न हैं। जैसे कि - किसी जीव को दही दूधादि के प्रति प्रीति होने पर भी सदैव उसकी रुचि न हो, इस तरह प्रीति - रुचि परस्पर भिन्न जानना तथा '**फासेमि**' = उस धर्म की लगातार सेवा - आराधना करने रूप स्पर्श करता हूँ '**पालेमि**' = पालन करता हूँ अर्थात् अतिचार से उसका रक्षण करता हूँ, '**अणु पालेमि**' = बार बार रक्षा करता हूँ। इसके बाद '**तं धम्मं सद्दहंतो पत्ति अंतो रोअंतो फासंतो पालंतो अणुपालंतो तस्स धम्मस्स (केवलि पन्नत्तस्स) अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए**। '' अर्थात् धर्म के प्रति श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, स्पर्श, पालन और अणुपालन करता हूँ, उस केवलि कथित धर्म की आराधना करने में उद्यमशील बना हूँ और विराधना में निवृत्ति बना हूँ - रुक गया हूँ।'' इस तरह अर्थ करना चाहिए। अब इसी आराधना में उद्यम और विराधना में निवृत्ति का विभाग कहते हैं कि -

'' **असंजमं परिआणामि संजमं उवसं पज्जामि, अबंभं परिआणामि बंभं उवसंपज्जामि, अकप्पं परिआणामि कप्पं उव संपज्जामि, अन्नाणं परिआणामि नाणं उव संपज्जामि, अकिरिअं परिआणामि किरिअं उवसं पज्जामि, मिच्छत्तं परिआणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि, अबोहि परिआणामि बोहि उवसंपज्जामि, अमग्गं परिआणामि, मग्ग उवसपंज्जामि, जं संभरामि जं च न संभरामि, जं पडि-क्कमामि जं च न पाडिक्कमामि, तस्स सव्वस्व देव सिअस्स अइ आरस्स पडिक्कमामि समणोऽहं संजयं विरय पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे अणि आणो दिट्ठि संपन्नो माया मोस विवज्जिओ।**''

व्याख्या - '**असंजमं**' = प्राणातिपातादि रूप असंयम को '**परिआणामि**'= ज्ञान से जानकर उसका पच्चक्खान (नियम) करने पर भी छोड़ा हो तथा '**संजमं**'= जिसका स्वरूप चरण सित्तरी में कहा जायेगा उस संजम को '**उवसंपज्जामि**' = अंगीकार करता हूँ। इस तरह परिआणामि और उवसंपज्जामि पद का अर्थ आगे भी सर्वत्र समझ लेना। संयम का स्वीकार असंयम के विषय का त्याग करने से होता है। उसमें भी असंयम का मुख्य अंग अब्रह्म है इसलिए कहते हैं कि '**अबंभ**' = यहां वस्तिकर्म का अनियम- वह अब्रह्म है और इससे विपरीत '**बंभ**' = वस्ति कर्म के नियम रूप ब्रह्म समझना। समझदारी पूर्वक उस अब्रह्म का त्याग करता हूँ और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ब्रह्म को स्वीकार करता हूँ तथा असंयम का अंगभूत '**अकप्पं**' = समझपूर्वक अकृत्य का त्याग करना और '**कप्पं**' = सुकृत्यों को स्वीकार करता हूँ। इस तरह सर्वत्र त्याग और स्वीकार करने का भाव समझ लेना चाहिये। यह अकल्प अज्ञान से ही होता है इसलिए उसका परिहार - त्याग करते हैं कि - '**अन्नाण**' = सम्यग्ज्ञान से विपरीत अज्ञान का त्याग और '**नाणं**' = जिन वचन को स्वीकार करता हूँ। इस अज्ञान के त्याग के लिए कहते हैं कि - '**अकिरिअं**' = नास्तिक के मत रूप अक्रिया का त्याग और '**किरिअं**' = आस्तिक के सम्यग्वाद को स्वीकार करता हूँ। इस अज्ञान का मूल मिथ्यात्व है, अत: उसके त्याग के लिए कहते हैं कि - '**मिच्छतं**' = अतत्त्व में रुचि - तत्व रुचि के भाव का त्याग और '**सम्मत्तं**' = तत्व प्रीति को स्वीकार करता हूँ। इस थ्यित्व का अंगभूत अबोधि होने से उसके विषय में कहते हैं कि '**अबोहिं**' = मिथ्यात्व का कार्य रूप श्री जिन धर्म की अप्राप्ति अबोधि कहलाती है, उसका त्याग और '**बोहिं**' = सम्यकत्व का कार्य रूप श्री जिन धर्म की प्राप्ति रूप बोधि को स्वीकार करता हूँ। मिथ्यात्व- यह मोक्ष के लिए मार्ग का उन्मार्ग है इसलिए अन्य भी उन्मार्गों का त्याग करने के लिए कहते हैं कि '**अमग्गं**' = मिथ्यात्व - अविरति - कषायादि मोक्ष के लिए उन्मार्ग का त्याग और '**मग्गं**' = सम्यग्दर्शन - प्रशम, संवेगादि सन्मार्ग को स्वीकार करता हूँ। शास्त्रों में उपर्युक्त पदों का पाठक्रम कहने वाली संग्रह गाथा - पूर्वाचार्य कृत श्रमण प्रतिक्रमण सूत्र की वृत्ति में कहा है कि -

संजम बंभे कप्पे, नाणे किरिआइ सम्म बोहीसु ।
मग्गे सविपक्खेसुं परिन्न उवसंपया कमसो ।।१।।

अर्थात् "संयम, ब्रह्म , कल्प, ज्ञान, क्रिया, सम्यकत्व, बोधि और मार्ग- इन सातों के विषय में क्रमश: (प्रत्यासत्ति न्याय से प्रतिपक्षी) असंयम आदि परिज्ञा अर्थात् जानकारी और संयमादि की उपसंपदा स्वीकार करना।"

इस प्रकार छझस्थ जीव कितना याद करे ? इसलिए सर्व दोषों की शुद्धि करने के लिए कहते हैं कि - '**जं संभरामि**' = जो कुछ थोड़ा भी मुझे स्मृति में है वह और '**जं च न संभरामि**' = जो छझस्था के कारण से उपयोग के अभाव में मेरी स्मृति में नहीं है, तथा '**जं पडिक्कमामि**' = उपयोग पूर्वक जानने में आनेसे उसका प्रतिक्रमण किया हैतथा '**जं च न पडिक्कमामि**' = सूक्ष्म रूप में जानकारी में न आने से उसका प्रतिक्रमण न किया हो, इस तरह जो कोई अतिचार जानकारी में हो अथवा न हो '**तस्स सव्वस्स देवसि अस्स अइआरस्स पडिक्कमामि**' = उन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिन सम्बन्धी सर्व अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ। यहां एक वचनांत प्रयोग है, उस जाति में एक वचन समझना। इस प्रकार प्रतिक्रमण करके पुनः भी अकल्याण कर प्रवृत्ति का परिहार करते हुए अपनी योग्यता का विचार करते हुए कहते हैं कि - '**समणोऽहं**' = तप संयम में तल्लीन मैं श्रमण - साधु हूँ। उसमें भी 'चरक' आदि अन्य मिथ्या दर्शन वाला असंयत नहीं हूँ परन्तु '**संजय**' = समस्त प्रकार से यतनावान हूँ और इसके बाद '**विरय**' = निवृत बना हूँ, अर्थात् भूतकाल के अतिचारों की निंदा और भविष्य काल में संभवित अतिचारों का संवर करता हूँ। उस अतिचार से रुका हूँ। इस कारण से '**पडिहय**' = वर्तमान काल में भी अकरणीय रूप में '**पच्चक्खाय पाव कम्मे**' = त्याग किया है उन पाप कर्मों का, मैं सर्व दोष रहित हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि भूतकाल के पाप कर्मों का निन्दा द्वारा त्याग और भविष्य में संभवित का संवर रूप में त्याग किया है, इससे वर्तमान काल में भी पाप कर्मों का पच्चक्खान (त्याग) वाला हूँ, एवं नियाणा संसार वृद्धि का मूल होने से महान दोष है, इसलिए स्वयं इन दोषों से रहित है, इस प्रकार भावना का चिन्तन करते हुए कहता है कि- '**अणिआणो**' = मैं निदान रहित हूँ। अर्थात् इस निर्ग्रन्थ प्रवचन की आराधना किसी ऐहिक या पारलौकिक बाह्य सुख की इच्छा से नहीं करता हूँ, और सकल गुणों का मूलभूत दर्शन अपने में है, इस तरह समझता हुआ कहता है कि '**दिट्ठि संपन्ना**' = मैं सम्यग्दर्शन वाला हूँ। अब वदंन के लिए जो कहना चाहिये वह वदंन द्रव्य वंदन नहीं है, परन्तु भाव वंदन है, उसके लिए कहते हैं कि - '**माया मोस विवज्जिओ**' = मायापूर्वक मृषा - झूठ बोलना उस माया मृषा वाद का त्याग किया है- ऐसा मैं अब क्या करूँ वह समझाते हैं कि -

''अड्ढाइ ज्जेसु दीव समुद्देसु पन्न रससु कम्मभूमीसु जावंत केवि साहू रयहरण गुच्छ पडिग्गह धारा पंच महत्वय धारा अट्ठारस सहस्स सीलंग धारा अक्खु यायार चरित्ता ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि।''

व्याख्या - '**अड्ढाइ ज्जेसु दीव समुद्देसु**' = अढाई द्वीप में और बीच के दो समुद्रों में अर्थात् जम्बू द्वीप, धातकी खंड और पुष्करा वर्त द्वीप आधा इस तरह अढाई द्वीप और उनके बीच के लवण समुद्र तथा कालोदधि समुद्र, यहां समुद्र कहने का कारण यह है कि किसी समय चारण मुनि आदि जब आकाश मार्ग से जाते हों तब समुद्र में भी होते हैं, इसलिए अढाई द्वीप कहा है, उसमें भी '**पन्नरससु**' = पांच भरत, पांच ऐरावत, और पांच महा विदेह रूप पंद्रह '**कम्मभूमीसु**' कर्म भूमिओं में '**जावंत केवि साहू**' = जो कोई साधु, साधु धर्म के उपकरण '**रयहरण गुच्छ पडिग्ग धारा**' = रजो हरण, गुच्छा तथा पात्र को धारण करने वाले होते हैं, यहां गूच्छा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और पात्र कहने से पात्र झोली नीचे का गुच्छा - पात्र स्थापन, पात्र के सरिका, पल्ले, रजस्त्राण और गुच्छा ऊपर का, इस तरह पात्र की सारी उपधि समझना, क्योंकि - आदि और अन्त कहने से मध्य का भी वर्णन आ जाता है, इस न्याय से यहां गुच्छा और पात्र दोनों शब्द आदि और अन्तिम हैं- इसलिए पात्र की सर्व उपधि समझ लेना। **'पंच महव्वय धारा'** = पांच महाव्रत के प्रकर्ष को धारण करने वाला और रजोहरण आदि से रहित होने पर भी उपर्युक्त विशेषण रहित प्रत्येक बुद्ध आदि साधु को भी वंदना करने के लिए कहते हैं कि **'अट्ठास्स सहस्स सीलंग धारा'** = अठारह हजार शीलंग को धारण करने सभी को पंचाशक में अठारह हजार शीलांग इस तरह बताये गये हैं-

जोए करणे सण्णा, इंदिय पुढवाइ (भूमादि) समण धम्मो अ।
सीलांग सहस्साणं, अट्ठारसगस्स निप्फत्ती ॥१६-३॥

अर्थात् '' मन वचन और काया- इन तीन योग से, करना करवाना और अनुमोदना- इन तीन करण से, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह- इन चार संज्ञा से, स्पर्श-नेन्द्रिय आदि पांच इन्द्रियों से, पृथ्वी कायादि एकेन्द्रिय पांच विकेलेन्द्रिय तीन और संज्ञी असंज्ञी पंचेन्द्रिय दो- इस तरह दस प्रकार के जीव को क्षमादि दश प्रकार के यति धर्म की रक्षा करने से ३ × ३ × ४ × ५ × १० × १० = १८००० शील (आत्म धर्म) की रक्षा होती है । इस तरह शीलंग के अठारह हजार भेद हैं ।

उसकी भावना इस तरह से करना - आहार संज्ञा से मुक्त, श्रोत्रेन्द्रिय से संवृत्त, शब्द रूप विषय का परिहार वाला, क्षमावान पृथ्वी काय के आरंभ को मन से न करे, वह एक प्रकार । इसी तरह मृदुता धर्म वाले को अन्य प्रकार, इस प्रकार दस धर्म के दस प्रकार पृथ्वी काय की अपेक्षा से होते हैं , उसी तरह अपकाय आदि शेष नौ प्रकार के जीवों के भी दस दस गिनने से एक इन्द्रिय के सौ होते हैं, उसी तरह पांच इन्द्रियों के कुल पांच सौ होते हैं, वह एक ही आहार संज्ञा के होते हैं, उसमें शेष की तीन के मिलाकर कुल दो हजार होते हैं । वह एक मनोयोग के होते हैं । इसके अनुसार तीन योग के गिनने से छह हजार होते हैं और वह भी स्वयं करने से होते हैं उसमें करवाना और अनुमोदन करने को मिलाकर अठारह हजार होते हैं ।

'अक्खुयापार चरित्ता' = उसमें आकार अर्थात् स्वरूप और अक्षत आकार- अतिचार से जिसका स्वरूप दूषित नहीं हुआ ऐसे निर्मल चारित्र वाले, मूल पाठ में **'अक्खुय'** है वह 'क्ख' के बदले आर्ष प्रयोग से 'क्खु' बना है । **'ते सव्वे'** = वे गच्छवासी या जिन कल्पी आदि अगच्छवासी सर्व को, **'सिरसा'** = मस्तक से' **'मणसा'** = अंत: करण से और **'मत्थएण वंदामि'** = मैं मस्तक से वंदन करता हूँ,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह वचन द्वारा उच्चारण करके पुनः यही 'वंदामि' पाठ से मन वचन और मस्तक अर्थात् काया से त्रिविध वंदन करता हूँ, इस प्रकार अर्थ करना अर्थात् 'वन्दे' क्रिया पद से पुनः योजना करना। इस तरह साधु को वंदन कर सामान्य से सर्व जीवों की क्षमापना द्वारा मैत्री भाव दिखाते हैं -

खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ॥१॥

अर्थात् ''अर्थ स्पष्ट है। सर्व जीवों को मैं खमाता हूँ सर्व जीव भी मुझे क्षमा करें, मुझे सर्व जीवों के साथ मैत्री है किसी के साथ में मुझे वैर नहीं है।'' यहां 'सर्व जीव मुझे क्षमा करें, ऐसा कहने में, उनको भी मेरे प्रति अक्षमा के कारण से कर्म बन्ध न हो- इस तरह करुणा रही है। अब अपना स्वरूप बताते हुए सूत्र का समाप्त मंगल करते हैं कि -

एवमहं आलोइअ, निंदिअ गरहिअ दुगछिउं सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥२॥

अर्थात् '' पूर्व प्रतिक्रमण सूत्र में कहे अनुसार '**आलोइअ**' = गुरु के समक्ष अतिचारो को प्रगट करके '**निंदिय**' = आत्म साक्षी से अपने पापकारी उस पर्याय की निन्दा करके, '**गरहिअ**' = गुरु साक्षी में अपने पाप की निन्दा करके '**दुगछिउं**' यह पाप प्रवृत्ति दुष्ट है, इस तरह उसकी दुर्गछा करके अथवा किसी स्थान पर '**दुगंछिअ**' पाठ है, वह पंचमी विमक्ति के लोप वाला होने से उसका पर्याय '**जुगुप्पितात्**' करना, उसका अर्थ जुगुप्सा किये पाप व्यापार से '**सम्म तिवियेन पडिक्कंतो**' = सम्यग् पूर्वक मन वचन और काया से निवृत (मुक्त) हुआ और मैं '**वंदामि जिणे चउव्वीस**' = चौबीस जिनेश्वर को वन्दन करता हूँ।''

इन आलोचना, निन्दा, गर्हा और प्रतिक्रमण के फल अनुक्रम से १- शल्य का उद्धार, २- पश्चात्ताप, ३- अपुरस्कार - अनादर तिरस्कार, और ४- व्रतो के छिद्रों का ढ़कना अर्थात् व्रतो को अखण्डित बनाना। इत्यादि उतराध्ययन सूत्र में कहे अनुसार जानना। यह दैवसिक प्रतिक्रमण (सूत्र) कहा, राइ प्रतिक्रमण भी इसी तरह समझना, केवल दैविसिक के स्थान पर राइअं शब्द कहकर रात्रि के अतिचार बोलना।

यहां प्रश्न करते हैं कि - यदि राइ प्रतिक्रमण भी इसी प्रतिक्रमण सूत्र से ही कहना है तो उसमें 'इच्छामि पडिक्कमिंड गोअर चरि आए।' आदि गोचरी के अतिचार का प्रतिक्रमण करना निरर्थक है, क्योंकि रात्रि में गोचरी के दोषों का अभाव है। इसका उत्तर देते हैं कि ऐसा एकान्त नहीं है, स्वप्न आदि से भी गोचरी के अतिचारों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की रात्रि में भी संभावना हो सकती है, अथवा सूत्र अखण्ड रखने के लिए यह पाठ बोला जाता है। यदि इस तरह न हो तो योग वहन करने वाले साधु को परठने योग्य आहार खाने का अधिकार नहीं है। फिर भी उनको पच्चक्खान में 'परिट्ठावणियागारेणं' यह आगार किसलिए उच्चारण करना चाहिए ? फिर भी पाठ अखंड रखने के लिए जैसे वह बोला जाता है, वैसे ही यह पाठ बोलने में भी दोष नहीं है।

卐 卐 卐

पाक्षिक सूत्र का अर्थ

इस तरह साधु प्रतिक्रमण सूत्र और उसका अर्थ समझाया है। अब पाक्षिक सूत्र और उसका अर्थ समझाते हैं। उसमें प्रारंभिक मंगल के लिए 'अरिहंत सिद्ध' आदि को नमस्कार करते हैं कि –

तित्थंकरे अ तित्थे, अतित्थसिद्धे य तित्थसिद्धे य ।
सिद्धं जिणे य रिसि, मह रिसि अ नाणं च वंदामि ॥१॥

व्याख्या – **'वंदामि'** = वंदन करता हूँ। यह क्रिया पद है, इसे प्रत्येक पद के साथ में जोड़ना। किसको वंदन करता हूँ ? 'तित्थंकर' = वीतराग श्री तीर्थंकर भगवन्त को 'अ' = और उसका अर्थ तीनों काल के तीर्थंकरों को 'तित्थे' = तीर्थभूत गणधर को अथवा श्री संघ या द्वांदशांगी रूप आगम को **'अतित्थसिद्धे य तित्थसिद्धे य सिद्धे'** = अतीर्थ सिद्धों को, तीर्थ सिद्धों को और सिद्धों अर्थात् शेष जिन सिद्ध-अजिन सिद्ध आदि अलग अलग रूप में सिद्ध हुए सर्व सिद्धों को 'जिणे' = सामान्य केवली को **'रिसि'** = मूल और उत्तर गुणों से युक्त साधु को **'महरिसि'** = इन साधुओं में भी जो अणिमा आदि लब्धि वाले होते हैं उन महानुनि को **'नाणं'** = मतिज्ञान आदि पांच प्रकार के ज्ञान को, इस प्रकार तीर्थकरादि सर्व को वंदन करता हूँ। और–

जे य इमं गुणरयण सागरम विराहिऊण तिण्ण संसारा ।
ते मंगलं करित्ता अहमवि आराहणा भि मुहो ॥२॥

व्याख्या – **'य'** = और अन्य मंगल के लिए कहते हैं कि **'जे'** = जो मुनि **'इमं गुण रयण सागरम विराहिऊण'** = गुण रत्नों के सागर समान इन महाव्रत आदि की आराधना को निर्मल रूप में आराधना कर **'तिण्ण संसारा'** = संसार समुद्र को पार हुए हैं वे मुझे मंगल रूप हो ? अहमवि = मैं भी ते मंगलं करित्ता = उन मुनियों को मंगल रुप स्वीकार करके **'आराहण भि मुहो'** = गुण रत्नों के समुद्र समान महाव्रत की अराधना करने के लिए एक चित्त बना हूँ अर्थात् उपर्युक्त मुनिवर और महाव्रत

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की आराधना के लिए उत्साही हुआ हूँ। पुनः भी अरिहंत और धर्म के आशीष रूप स्वमंगल के लिए कहते हैं कि -

मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुयं च धम्मो अ ।
खंती गुत्ती, मुत्ती, अज्जवया मद्दवं चेव ॥३॥

व्याख्या - '**अरिहंता**' = जिनेश्वर, '**सिद्धा**' = पंद्रह प्रकार से सिद्धि को प्राप्त करने वाले सिद्धात्मा '**साहू**' = मुनि भगवन्त '**सुयं**' = आगम, '**धम्मोअ**' = साधु और श्रावक के आचार रूप दो प्रकार की विरति, '**खंती**' = क्षमा - सहन शीलता '**गुप्ति**' = मन वचन और काया के योगों की उन्मार्ग से रक्षा, '**मुत्ती**' = लोभ का अभाव (त्याग), '**अज्जवया**' = निष्कपट भाव - सरलता, '**मद्दवं**' = अभिमान रहित, इस तरह अरिहंतादि '**मम मंगल**' = मेरा मंगल करो। इसमें **करो** यह क्रिया पद पूर्व की गाथा में से यहां जोड़ना।'' अब महाव्रतों का उच्चारण किया है, उसका स्मृति रूप में पुनः उच्चारण करते हैं -

लोयंमि संजया जं करें ति परमरिसि दे सियमुआरं ।
अहमवि उवट्ठिओ तं, महव्वय उच्चारणं काउं ॥४॥

व्याख्या - '**लोयंमि**' = कर्म भूमि रूप पंद्रह क्षेत्र में '**संजया**' = मुनिवर, '**जं करें ति**' = जो करता है, क्या करता है ? '**परम रिसि देसियम**' = तीर्थंकरादि से कथित '**उआरं**' = अति बलवान महह्मय उच्चारणं = पंच महाव्रतों का उच्चारण (कथन) '**तं काउ**' उसे करने को '**अहमवि**' = मैं भी '**उवट्ठिओ**' = तैयार हुआ हूँ।'' इस प्रकार गुरु द्वारा प्रतिज्ञा करने से शिष्य पूछता है और गुरु उत्तर देते हैं कि -

''से किं तं महव्वय उच्चारणं ? महव्वय उच्चारणा पंच विहा पण्णत्ता राईभोअण वेरमण छट्ठा तंजहा - सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं १, सव्वाओ मुसा वायाओ वेरमणं २, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं ३, सव्वओ मेहुणाओ वेरमणं ४, सव्वओ परिग्गहाओ वेरमणं ५, सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ६ ॥''

व्याख्या - यहां छठे पद तक प्रश्न सूत्र कहा गया है। महाव्रत का उच्चारण किस तरह है ? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर गुरु महाराज देते हैं कि - महाव्रतों का उच्चारण पांच प्रकार का कहा गया है, उसके साथ में 'रात्रि भोजन का त्याग' यह छठा प्रकार है। उसको नाम पूर्वक कहते हैं कि '**तंजहा**' - वह इस प्रकार। १- '**सव्वाओ**' त्रस और स्थावर उसमें भी सूक्ष्म, बादर- इस तरह सर्व जीवो की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हिंसा वह भी करना कराना और अनुमोदन इस प्रकार तीन कारण से **'पाणाइ वायाओ'** = प्राण का अतिपात अर्थात् हिंसा से **'विरमणं'** रुकता हूँ उसे प्रथम महाव्रत कहा है। इस तरह २- **'सव्वओ मुसा वायाओ विरमणं'** = क्रोध, लोभ, भय या हास्य आदि किसी भी हेतु से बोले जाने वाले मिथ्या वचन से रुकना- वह दूसरा महाव्रत है। ३- **'सव्वाओ अदिण्णा दाणाओ विरमणं'** = दांत खोदने के लिए घास के टुकड़े के समान मूल्य रहित छोटी वस्तु भी उसके मालिक के दिये बिना लेना – वह अदत्ता-दान अर्थात् चोरी है, उससे रुकना- वह तीसरा महाव्रत है। ४- **'सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं'** = केवल पुरुष को स्त्री की अथवा स्त्री को पुरुष की अल्प बात मात्र करना भी मैथुन अर्थात् काम का संग है, उससे रुकना – वह चौथा महाव्रत है। ५- **'सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं'** = सर्व अर्थात् अन्य का दूर रहा परन्तु संयम उपकारक वस्तु की अल्प मात्र मूर्छा रूप परिग्रह में भी रुकना- यह पांचवां महाव्रत है, और ६- **'सव्वाओ राई भोयणाओ वेरमणं'** = सर्व अर्थात् दिन में लिया दिन में खाना, इत्यादि में कोई दोषित आहार भी जो रात्रि भोजन का कारण रूप हो, उससे रुकना – यह छठा महाव्रत कहलाता है।" इस तरह नाम पूर्वक कहकर अब उसके स्वरूप सहित प्रथम का विस्तार पूर्वक उच्चारण करते हैं -

"तत्थ खलु पढमे भंते। महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते। पाणाइ वायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा वायरं वा तसं वा थावर वा णेव सयं पाणे अइवाएज्जा णेवण्णेहि पाणे अइ वाया विज्जा पाणे अइ वायंतेवि अण्णे ण समणुज्जाणामि जावज्जीवाए ति विहं तिविहेणं मणेण वायाए काएणं ण करेमि ण कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणु ज्जाणामि, तस्स भंते। पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

व्याख्या - **'तत्थ'** = उस महाव्रत के उच्चारण में **'खलु'** = निश्चय से **'भन्ते'** = हे भगवन्त ! यहां इस तरह गुरु के समक्ष प्रतिक्रमण करते हुए पूज्य गुरु को सम्बोधन के लिए **भन्ते** पद समझना। **'पढमे महव्वए पाणाइ वायाओ वेरमणं'** = प्रथम महाव्रत में जीव हिंसा से रुकना अर्थात् सर्वथा हिंसा का त्याग करना। इस तरह सभी व्रतों में सर्वथा रुकने का भाव समझना। यहां किन्हीं आचार्यों ने सप्तमी विभक्ति के स्थान पर प्रथमा करके 'प्रथमं महाव्रतं' कहा है। इस तरह सभी व्रतों में भी प्रथमा विभक्ति कही है। **'सव्वं भन्ते पाणाइ वायं पच्चक्खमि'** = हे भगवन्त ! प्राणातिपात का सर्वथा मैं त्याग करता हूँ। अब यहां कहा है कि सर्वथा प्राणातिपात का त्याग करता हूँ- उसे ही विशेष रुप में कहते हैं कि - **'से सुहुमं वा'** इत्यादि, उसमें **'से'** शब्द उस व्रत को बताने वाला है, अर्थात् वह इसके अनुसार है, इस तरह कहने के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लिए है। इसका अर्थ है - पांचों इन्द्रियों से जान - देख न सके, केवल ज्ञान से समझ-जान सके, ऐसे जीव को **'वायरं वा'** = इन्द्रिय से जान और देख सके ऐसे जीव को **'तसं वा'** = अग्नि काय और वायुकाय ये दो गति त्रस तथा द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के किसी भी जीव को **'थावर वा'** = पृथ्वी, पानी और वनस्पति रूप तीन एकेन्द्रिय को यहां **'वा'** पद परस्पर एक दूसरे के समुच्चय के लिए है। **'णेव सयं पाणे अइ वाएज्जा'** = मैं स्वयं पूर्व कहे अनुसार जीव को नहीं मारूंगा **'णेवण्णेहिं पाणे अइवाया विज्जा'** = अन्य द्वारा इन जीवों को नहीं मरवाऊंगा और **'प्राणे अइवायंते वि अण्णेण समणु जाणामि'** = जीवों को मारते अन्य को मैं अच्छा नही जानूंगा अनुमोदन नहीं करूंगा। वह कहां तक ? **'जावज्जीवाए'** = जीता रहूं तब तक **'तिविहं'** = तीन प्रकार की हिंसा को तिविहंण = तीन कारण से त्याग करता हूँ, इस तरह सम्बन्ध जानना। वहीं आगे कहते हैं कि - **'मणेण वायाए, काएणं ण करेमि ण कारवेमि करंतं पि अण्ण न समणु जाणा मि'** = मन वचन - काया से करूंगा नहीं, करवाऊंगा नहीं और यदि दूसरा करेगा तो उसकी अनुमोदना नहीं करूंगा। **'तस्स'** = उस त्रिकाल भावि की हिंसा में भूत काल का **'भंते !'** हे भगवन्त। **'पडिक्कमामि'** = मैं प्रतिक्रमण करता हूँ - मिथ्या दुष्कृत देता हूँ। **'निंदामि'** = आत्मा साक्षी से निन्दा करता हूँ और **'गरिहामि'** = परसाक्षी में जुगुप्सा (निन्दा) करता हूँ। यह निन्दा आदि किसकी करता है ? वह कहते हैं कि **'अप्पाणं'** = हिंसा करने वाली मेरी आत्मा को (भूतकाली मेरी आत्म पर्याय को) कि जो प्रशंसा करने योग्य नहीं है उसे **'वोसिरामि'** = सर्वथा त्याग करता हूँ। और भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से प्राणातिपात (हिंसा) का प्रतिक्रमण करने के लिए कहता हूँ कि-

''से पाणाइवाए चउव्विहे पन्नत्ते, तंजहा - दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ, दव्वओ णं पाणाइवाए छसु जीवनिकाएसु, खित्त ओणं पाणाइवाए सव्वलोए, कालओ णं पाणाइवाए, दिया वा राओ वा, भावओ ण पाणाइवाए रागेण वा दोसेण वा, जं मए इमस्स धम्मस्स केवलि पन्नत्तस्स अहिंसा लक्खणस्स सच्चाहिट्ठि अस विणय मूलस्स खंतिप हाणस्स अहिरण्ण सुवण्णि अस्स उवसमप्प भवस्स णव बंभ चेर गुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खा वित्ति यस्स, कुक्खि संवलस्स णिरग्गि सरणस्स संपकखालियस्स चत्त दोसस्स, गुणग्गहियस्स निव्वियारस्स निव्वत्ति लक्खणस्स पंच महव्वय जुत्तस्स असंणिहि संचयस्स, अवि संवाइयस्स संसार पार गामियस्स निव्वाण गमण पज्जवसाण फलस्सपुव्वि अण्णाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडि बद्धयाए, बाला याए, मोहयाए मंदयाए किड्डुयाए तिगार व गुरुयाए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चउक्कसाओवगएणं पंचिदिय ओग्वसट्टे णं पडि पुन्न भारियाए सायासोक्खमणु पालयं तेणं, इहं वा भवे अण्णे सु वा भवग्गहणेसु, पाणाइवाओ कओ वा करापिओं वा कीरंतो वा परेहिं समणुण्णाओ, तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं, मणेण वायाए काएणं अईअं निंदामि पडुप्पण्णं संवरेमि अणा गयं पच्चाक्खामि, सव्वं पाणाइवायं जावज्जी वाए, अणिस्सि ओऽहं, नेव सयं पाणे अइ वाएज्जा, नेवन्नेहि पाणे अइवाया विज्जा, पाणे अइ वायंते वि अन्ने न समणु जाणामि, तंजहा - अरहंत सक्खियं, सिद्ध सक्खियं, साहु सक्खियं, देव सक्खियं, अप्प सक्खियं, एव भवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय विरय पडि हय पच्चक्खाय पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परि सागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा एस खलु पाणाइ वायस्स विरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए पार गामिए , सव्वेसिं पाणणं, सव्वेसिं भूयाण, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसि सत्ताणं, अदुक्खण असोयणाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरियावण याए अणुद्दवणयाए महत्वे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणु चिन्ने परम रिसि देसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खयाए बोहि लाभाए संसारु त्तारणाए त्ति कट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइ वायाओ वेरमणं ॥१॥

व्याख्या - **'से पाणाइवाय चउव्विहे पन्नत्ते'** = उस प्राणातिपात के चार प्रकार के भेद कहे गये हैं । **'तंजहा'** = वह इस प्रकार । **'दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ'** = १- द्रव्य से, २- क्षेत्र से, ३- काल से और ४- भाव से । उसमें **'दव्व ओणं पाणाइ छसु जीवनिकाएसु'** = यहां ण वाक्य की शोभा के लिए है । उस प्राणातिपात द्रव्य से छह जीवनिकाय द्रव्य के विषय में अर्थात् पृथ्वी अप् अग्नि, वायु, वनस्पति और तस- इन छह काय जीव में किसी की भी हिंसा करना वह द्रव्य प्राणातिपात है, **'खित्तओणं पाणाइवाए सव्व लोए'** = यह हिंसा क्षेत्र की अपेक्षा से चौदह राजलोक रूप सर्वलोक में, **'कालओ णं पाणाइ पाए दिया वा राओ वा'** = काल की अपेक्षा से हिंसा दिन में अथवा रात्रि में और **'भावओ ण पाणाइवाए रागेण वा दोसेण वा'** = भाव की अपेक्षा से राग द्वारा अथवा द्वेष द्वारा हिंसा होती है । इस तरह भेद पूर्वक स्वरूप कहकर भूतकाल में उस हिंसा की विशेषतया निंदा करते हुए कहते हैं कि - **'जं भए इमस्स धम्मस्स'** = यह साधु का आचार रूप धर्म कि जिसके 'केवल कथित' आदि बाईस विशेषण आगे बताये जायेंगे, उसमें पहले अज्ञानतादि चार के विषय में बतायेंगे, वह कारणों से और प्रमाद आदि अन्य ग्यारह बताये जायेंगे, उन कारणों से प्राणातिपात किया हो उसकी निन्दा करता हूँ इस तरह सम्पूर्ण आलावा के वाक्यार्थ का सम्बन्ध जोड़ना । अब प्रत्येक पद का अर्थ करते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं कि - '**जं**' पद में विभक्ति बदल जाने से '**यः**' = जो प्राणातिपात '**मए**' = मैं अर्थात् प्रतिकामक स्वयं अपने आप बताता है कि मैंने '**इमस्स धम्मस्स**' इस साधु के आचार रूप सर्व विरति धर्म में स्वीकार किया है, उसका विशेष स्वरूप कहता है कि १- '**केवलिपन्नत्तस्स**' = केवली भंगवन्त द्वारा कहा हुआ, २- '**अहिंसा लक्खणस्स**'= अहिंसा जिसका है- अहिसा वृत्ति से प्रसिद्ध हुआ, ३- '**सच्चाहिट्ठिअस**' = सत्य ही जिसका आधार है अर्थात् सत्य जिसमें व्यापक है, ४- '**विणय मूलस्स**' = जिसका विनय मूल है, ५- '**खंति पहाणस्स**' = क्षमा जिसमें मुख्य है, ६- '**अहिण्ण सुवण्णि अस्स**' = हिरण्य - कच्चा सोना चांदी और सुवर्ण की आकृति बना हो, वह उसमें रख न सके अर्थात् धन धान्यदि के संग्रह रहित, ७- '**उवसमप्पभवस्स**'= इन्द्रियों और मन का निग्रह करने रूप उपशम में से जो प्रगट होता है, ८- '**णवबंभचेर गुत्तस्स**' = नौ प्रकार की जिसमें ब्रह्मचर्य की रक्षा की जाती है, ९- '**अपयभाणस्स**'= जिस धर्म के आराधक पाक- रसोई नहीं बनाते अर्थात् आहार बनाने की क्रिया के त्यागी साधु उसका पालन करते हैं, १०- '**भिक्खा वित्ति यस्स**' = आहार पकाने का त्याग होने से भिक्षा वृत्ति से उसमें जीना होता है, ११ - '**कुक्खिसबलस्स**'= भिक्षा द्वारा लिया हो फिर भी उसमें संग्रह नहीं करना परन्तु संयम और प्राणों के रक्षण के लिए केवल कुक्षिप्रमाण आहार लिया जाता है, १२- '**णिरग्गि सरणस्स**' = जिसमें अति ठंडी के समय में भी अग्नि की शरण अथवा स्मरण - इच्छा भी करने का निषेध है, १३- '**संपक्खालियस्स**' = सर्व कर्म मल का जिससे नाश होता है अथवा सर्व दोष जिससे नाश होते हैं, १४- '**चत्तदोसस्स**' = रागादि दोषों का जिसमें त्याग है, इस कारण से ही, १५- '**गुणग्गाहि यस्स**' = जो गुण को ग्रहण करवाता है तात्पर्य यह है कि यह चारित्र धर्म के आराधक को दोषों का त्याग और गुणों का अनुराग किया जाता है, १६- '**निव्वियारस्स**' = जिसमें इन्द्रिय या मन का विकार= बाह्य इच्छाओं का उन्माद नहीं है, १७- '**निव्वत्ति लक्खणस्स**' = सर्व पाप व्यापारों का त्याग- यही उसका लक्षण - चिह्न है अथवा जो धर्म बाह्य सर्व भोगों की निवृत्ति करवाता है । १८- '**पंच महव्वजुतस्स**' = जो धर्म पांच महाव्रत रूप है, १९- '**असंणिहिसं चयस्स**' = जिसमें मिठाई आदि आहार, पानी, खर्जुर आदि मेवा या फल - फूलादि खादिम, एवं हरडे आदि औषध आदि स्वादिम कुछ भी रात्रि में रखने रूप सन्निधि का संचय (संग्रह) नहीं करते, २०- '**अवि संवायस्स**' = जिसका निरूपण या प्रवृत्ति भी दृष्ट - इष्ट से विरुद्ध नहीं है अर्थात् जगत् के प्रत्यक्ष भाव और आत्मा के इष्ट सुख को देता है उनके उपाय का यथार्थ एवं यथेष्ट निरूपण जिसमें किया है, २१- '**संसार पार गामि यस्स**' = जो धर्म संसार से पार उतारने वाला हो और २२- '**निव्वाण गमन पज्जव साण फलस्स**' = निर्वाण अर्थात् सर्व दुःखों का अभाव रूप मोक्ष- उसकी प्राप्ति, यह जिसका अन्तिम फल है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपर्युक्त बाईस विशेषण वाला जो चारित्र धर्म है उसकी आराधना करते हुए अज्ञानतादि के कारण हिंसा की हो। इस तरह प्रत्येक पद में कही गई षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध जोड़ना। अब उसकी आराधना करते क्या किया हो ? वह बताते हैं कि-

१. '**पुव्विंअण्णाणयाए**' = वह धर्म प्राप्त करने से पहले अज्ञानता से, २. '**अवसणयाए**' = गुरु आदि के मुख से नहीं सुनने से, ३. '**अबोहिए**' = सुनने पर भी यथार्थ रूप नहीं समझने से और ४. '**अणभिगमेणं**' = सुनने और समझने पर भी सम्यग् रूप में नहीं स्वीकार करने से '**अभिगमेण वा**' अथवा '**अभिगमेन**' पद की विभक्ति बदलकर, सप्तम्यन्त वाला, अभिगमे पर्याय करने से स्वीकार करने पर भी प्रमादादि से, इस तरह चार निमित्त से जो प्राणातिपात किया हो, ऐसा सम्बन्ध जोड़ना। अब किस हेतु से प्राणातिपात किया है ? वह प्रमाद आदि हेतु साधना कहते हैं -

१. '**पमाएणं**' = मद्य आदि पांच प्रकार का अथवा आलस आदि प्रमाद करने से, २. '**रागदोस पडिबद्धयाए**' = राग द्वेष की आकुलता के वश होकर, ३. '**बालायाए**' = बाल या मूढ़ता बुद्धि से अथवा बचपन के कारण, ४. '**मोहयाए**' = मिथ्यात्व आदि मोहनीय कर्म के उदय से आधीन बना, ५. '**मदयाए**' = काया या बुद्धि की मंदता-जड़ता के कारण, ६. '**किड्डुयाए**' = क्रीडा की प्रियता से-कुतूहल के कारण, ७. '**तिगारव गुरुयाए**' = रस, ऋद्धि और शाता- इन तीन गारव की अधिकता से, ८. '**चउक्कसाओवगएणं**' = क्रोधादि चार कषायों के उदय के वश होकर, ९. '**पंचिंदियवसट्टेण**' = स्पर्शनादि पाचं इन्द्रियों की आधीनता से, आर्त्तध्यान के वश होकर, १०. '**पडिपुन्न भारियाए**' = वर्तमान कालीन कर्म के भार जिसको हों वह प्रत्युत्पन्न भारिक कहलाता है, उससे अथवा वर्तमान कालीन कर्म की पूर्णतया कर्म के भार से और ११. '**सायासोक खमणुपालयं तेणं**' = शाता वेदनीय कर्म के उदय से मिले सुखों को गृद्धि - आसक्ति से भोगने अथवा सुख में मन को आसक्त करने से, इस तरह ग्यारह हेतु से '**इहं वा भवे**' = वर्तमान इस जन्म में अथवा '**अण्णेसुवा भवग्गहणेसु**' = भूतकाल के और भविष्य के जन्मों में '**पाणाइवाओ कओ वा कराविओ वा कीरंत वा परेहि समणुण्णाओ**' = यदि प्राणातिपात स्वयं किया हो, दूसरों के द्वारा करवाया हो, अथवा अन्यों द्वारा स्वयं करते समय मैंने अच्छा माना हो अर्थात् मैं उसमें सहमत बना हूँ, '**तं निंदामि गरिहामि**' = उस प्राणातिपात को आत्मसाक्षी से 'मैंने वह गलत किया है' इस तरह निन्दा करता हूँ, और पर साक्षी में 'मैंने वह अयोग्य किया है, इस प्रकार अपनी दुष्टता को स्वीकार करता हूँ। वह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निंदा-गर्हा किस तरह होती है ? **'तिविहं तिविहेणं'** = करना, करवाना और अनुमोदना रूप त्रिविध प्राणातिपात को तीन योग द्वारा निंदा- गर्हा करता हूँ, वे तीन योग बताते हैं- **'मणेण वायाए काएणं'** = मन, वचन और काया, इन तीन योग से निंदा-गर्हा करता हूँ । यहां वाक्य का सम्बंध पूर्ण हुआ ।

अब तीन काल के लिए प्राणातिपात का त्याग करते हुए कहते हैं कि- **'अईअं निंदामि'** = भूतकालीन प्राणातिपात की निंदा करता हूँ, **'पडुप्पण्णाओ संवरेमि'**= वर्तमान में प्राणातिपात का संवर करता (रोकता) हूँ - त्याग करता हूँ और **'अणागयं पच्चक्खामि'** = भविष्य में नहीं करने का पच्चक्खान करता हूँ ।**'सव्वं पाणाइवायं'** इस तरह सर्व प्राणातिपात की निंदा, संवर एवं पच्चक्खान करके उसका त्रिकाल त्याग करता हूँ । अब भविष्य के पच्चक्खान को ही विशेष रूप से कहते है-

'जावज्जीवाए, अणिस्सिओऽहं' = जीऊँगा तब तक आशंसा रहित मैं, **'नेव सयं पाणे अइवाएज्जा, नेवन्नेहि पाणे अइवाया विज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणामि'** = स्वयं प्राणों का नाश नहीं करूँगा, अन्य द्वारा प्राण का नाश नहीं करूँगा और अन्य प्राण नाश करने वालों को भी मैं अच्छा नहीं मानूँगा । यह पच्चक्खान किसकी साक्षी में करना चाहिए ? वह बताते हैं कि- **'तंजहा-अरिहंत सक्खियं, सिद्ध सक्खियं साहू सक्खियं, देवसक्खियं, अप्पसक्खियं'** = वह पच्चक्खान इस तरह करता हूँ- १. अरिहंतों की साक्षी में अर्थात् वहां रहे श्री तीर्थंकरादि अपने केवल ज्ञान रूप चक्षु से मेरे इस पच्चक्खान को प्रत्यक्ष देखते हैं इसलिए उनकी साक्षी में, इसी तरह २. सिद्धों की साक्षी में, ३. साधु की साक्षी में, ४. देवों की साक्षी में और ५. मेरी आत्मा की साक्षी में ।**'एवं'** = इस तरह पच्चक्खान करने से **'भवइ भिक्खूवा भिक्खुणी वा'** = होता है साधु अथवा साध्वी, वह क्या होता है ? **'संजय विरय पंडिहय पच्चक्खाय पाव कम्मे'** = संयत, विरत, प्रतिहत और प्रत्याख्यात किया है पाप कर्मों को जिसके इस तरह हुए हैं । उसमें **'संयत'**= सत्तर प्रकार के संयम से युक्त हैं, **'विरत'** = बारह प्रकार के तप में विविध प्रकार से रत है, **'प्रतिहत'** = स्थिति का ह्रास होने से ग्रन्थि भेद द्वारा ज्ञानावरणीयादि पाप कर्मों का विनाश तथा **'पच्चक्खान'** = मिथ्यात्व आदि कर्म बन्धन के हेतु के अभाव में पुनः वृद्धि न हो उसे नीराकृत किया है - दीर्घ स्थिति वाला बन्धन न हो ऐसा किया है, ज्ञानावरणीयादि पाप कर्मों को जिसने इस तरह किए हों- इस वाक्य में प्रथम दो पदों को कर्म धारय समास करके और अन्तिम तीन पदों को बहुव्रीही समास करने के बाद पुनः कर्म धारय समास करना । अब वह किस अवस्था में कब वैसा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होता है, वह कहते हैं कि – **'दिया वा राओ वा'** दिन हो अथवा रात हो अर्थात् सर्व काल में, **'एगओ वा परिसागओ वा'** = किसी कारण से एकाकी हो तब अथवा साधु समुदाय में हो तब अर्थात् किसी भी प्रसंग पर, **'सूत्ते वा जागरमाणे वा'** = रात्रि में दो पहर सोये हों तब या शेष काल में जागते हों तब भी अर्थात् किसी भी अवस्था में वह साधु या साध्वी संयत विरत प्रतिहत और प्रत्याख्यात पापकर्मा बनते हैं ।

अब प्राणातिपात की तीन काल में त्रिविध से की इस विरति की महिमा बताते हैं कि **'एस'** = इस पद में विभक्ति का व्यत्यव होने से– **'एस खलु पाणाइवायस्स वेरमणे'** = उस प्राणातिपात की विरति (त्याग) **'हिए सुहे खमे'** = पथ्य आहार के समान निश्चय से हितकर है, सुख करने वाला है एवं तारने-कर्म घात करने में समर्थ है । **'निस्सेसिए'** = नि: श्रेयस् अर्थात् मोक्ष का कारणभूत है– मोक्षकारक है, **'आणुगामिए'** = जन्म जन्म में साथ रहने वाला अर्थात् विरति के संस्कार का अनुबंध-परम्परा चलने से अन्य जन्मों में भी विरति को प्राप्त करने वाला तथा **'पारगामिए'** = संसार से पार उतारने वाला है । इस प्रकार 'हितकर' आदि किस कारण से है ? वह अब कहते हैं–

'सव्वेसिं पाणाणं' = दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले सर्व जीवों का **'सव्वेसि भूयाणं'** = सर्व वनस्पति काय जीवों को, **'सव्वेसि जीवाणं'** = सर्व पांच इन्द्रिय वाले जीवों को, **'सव्वेसि सत्ताणं'** = सर्व पृथ्वीकाय आदि जीवों को, **'अदुक्खणयाए'** = मन में संताप रूप दु:ख नहीं करने से, **'असोयणाए'** = शोक को उत्पन्न नहीं कराने से, **'अजूरणयाए'** = जीर्ण – अशक्त नहीं करने से, अर्थात् पशु आदि को अति भार से, आहार नहीं देने से, मार मारने आदि से अशक्त-वृद्ध दिखे, ऐसा नहीं करने से, **'अतिप्पणयाए'** = खेद आदि नहीं होने से अर्थात् बहुत परिश्रम नहीं कराने से **'अपीडणयाए'** = पैर आदि से पीडा नहीं करने से, **'अपरियावणयाए'** = सर्व प्रकार के शारीरिक दु:ख रूप संताप नहीं करने से, **'अणुद्दवणयाए'** = सर्वथा मरण अथवा अतीव त्रास-दु:ख नहीं देने से, इन कारणों से सर्व प्राणभूत आदि को हितकर-सुखकर इत्यादि गुणों को करने वाला है और यह प्राणातिपात विरमण व्रत कैसा है ? वह कहते है कि **'महव्वे, महागुणे, महानुभावे महापुरिसाणु चिन्ने परमरिसि देसिए पसत्थे'** = महा अर्थ वाला - उसका फल स्वरूप आदि कहने वाला है, महागुण स्वरूप अर्थात् यह महाव्रत सकल गुणों का आधारभूत है, महान् महिमा वाला अर्थात् स्वर्ग मोक्ष आदि अचिन्त्य फल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देने वाला है, महापुरुषों ने आचरण किया है - तीर्थंकर गणधरादि ने इस व्रत का आचरण किया है, परमर्षि तीर्थंकर आदि ने इसका उपदेश दिया है और समस्त कल्याण को करने वाला होने से प्रशस्त है, वह प्राणातिपात विरमण व्रत मुझे **'तं दुक्खक्खयाए, कम्मक्खयाए, मोक्खयाए, बोहिलाभाए, संसारूतारणाए'** = शारीरिक -मानसिक आदि सब दु:खों के क्षय के लिए, ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षय के लिए, राग द्वेषादि के बंधनों से मुक्त होने के लिए, जन्मान्तर में सम्यकत्वादि सद्धर्म की प्राप्ति के लिए, और महाभयंकर संसार भ्रमण में से पार उतारने के लिए 'सहायक होगा' इस तरह यहां अधूरा पाठ समझना, 'त्तिकट्टु' = इस कारण से **'उवसंपज्जित्ता णं विहरामि'** = उस प्राणातिपात विरमण को सर्वथा रूप में अंगीकार करता हूँ, मासकल्प आदि नौ कल्पी साधु के विहार से विचरता हूँ, क्योंकि इस तरह नहीं विचरने से व्रत को स्वीकार करना व्यर्थ जाता है ।

अब अन्तिम में व्रत स्वीकार की प्रतिज्ञा का निश्चय करते हुए कहते हैं कि- **'पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवाया ओ वेरमणं ॥१॥'** = हे भगवन्त ! मैं पहले महाव्रत के समीप में रहता हूँ - सर्वथा प्राणातिपात की विरति को स्वीकार करता हूँ, अर्थात् मुझे आज से सर्व प्रकार के प्राणातिपात का विरमण अर्थात् हिंसा की निवृत्ति-हिंसा न करूँ ऐसी प्रतिज्ञा है । यहां हे भगवन्त ! ऐसा आमंत्रण आदि में, मध्य में और अन्त में भी किया है, इससे 'गुरु महाराज को पूछे बिना कुछ भी नहीं करना चाहिए और पूछ कर भी वह कार्य करने के बाद उनको बताना चाहिए'- इस तरह करने से इस व्रत की आराधना होती है- ऐसा समझना । यह व्रत लेने पर भी प्राणातिपात करने वाले को 'अगले जन्म में नरक में जाना, अल्प आयुष्य वाला, बहुत रोगी होना, कुरूप होना' इत्यादि दोष आते हैं ॥१॥

इस तरह प्रथम महाव्रत का वर्णन किया । अब दूसरा महाव्रत कहते हैं दो के अलावे समान हैं परन्तु इनमें जो विशेष अलावा है उसे ही कहते हैं ।

''अहावरे दुच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वइ (ए) ज्जा - नेवन्नेहिं मुसं वायावि (वे) ज्जा मुसं वयं तेवि अन्ने न समणु जाणामि जाव०'' शेष पूर्ववत् ।

''से मुसावाए चउव्विहे तंजहा-दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं मुसावाए सव्व दव्वेसु, खित्तओणं मुसावाए लोए वा आलोए वा,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कालओ ण मुसावाए दिया वा राओ वा, भावओ णं मुसावाए रागेण वा दासेण वा जं मए इमस्स०'' शेष पूर्ववत् ।

''मुसावाओ भासिओ वा भासाविओ वा भासिज्जंतो वा परेहिं समणुन्नाओ, तं निंदामि०'' इत्यादि ।

''सव्वं मुसावायं जावज्जीवाए अणिस्सिओऽहं नेव सयं मुसं वइ(ए)ज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायावि(वे)ज्जा मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा, तंजहा०'' शेष पूर्ववत् ।

''एस खलु मुसावायस्स वेरमणे हिए०'' शेष पूर्ववत् ।**''दु(दो)च्चे भंते! महव्वए उवट्ठि ओमि सव्वाओ मुसा वायओ वेरमणं''** ॥२॥

व्याख्या – ''अब पहले महाव्रत के बाद दूसरे महाव्रत में हे भगवंत ! सम्यग् ज्ञान और श्रद्धापूर्वक मृषावाद की विरति करने के लिए कहा है । हे भगवंत ! उस मृषावाद का मैं सर्वथा पच्चक्खान (त्याग) करता हूँ । वह इस प्रकार -क्रोध से, लोभ से, भय से अथवा हास्य-मखौल से, उपलक्षण से, उसके बीच के मान से तथा माया से भी- इस तरह किसी भी हेतु से मैं स्वयं मृषा-झूठ बोलूँगा नहीं, मृषा बोलाऊँगा नहीं और बोलने वाले अन्य किसी को अच्छा नहीं समझूँगा ।'' उसके बाद का अर्थ पहले महाव्रत के समान समझना ।

यह मृषावाद चार प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार से- १. द्रव्य से, २. क्षेत्र से, ३. काल से और ४. भाव से । उसमें १. द्रव्य से जीव, अजीव धर्मास्तिक काय आदि सर्व द्रव्यों के विषय में विपरीत बोलने से, २. क्षेत्र से चौदह राज प्रमाण लोक में अथवा उससे बाहर अलोक में भी अथवा लोक-अलोक के विषय में विपरीत बोलने से, ३. काल से और ४. भाव से- आदि का अर्थ भी पहले महाव्रत में कहे अनुसार समझ लेना ।

यह मृषावाद मैंने बोला हो अथवा अन्य किसी से मृषावाद बोलवाया हो या बोलने वाले अन्य को मैंने अच्छा माना हो'' इत्यादि सारा अर्थ भी पहले महाव्रत में कहे अनुसार ही समझना । इसी तरह सम्पूर्ण अलावे का अर्थ इसी तरह समझ लेना, केवल जहां प्राणातिपात शब्द है वहा मृषावाद मानकर उसी तरह अर्थ समझना ॥२॥

अब तीसरे महाव्रत का वर्णन करने के लिए उसमें पहले महाव्रत से जितनी भिन्नता है, वही यहां कहते हैं कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भंते अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा रण्णे (अरन्ने) वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, णेव सयं अदिन्नं (ण्णं) गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं (ण्णं) गिण्हविज्जा अदिन्नं (ण्णं) गिण्हं तेवि अन्ने न समणुजाणामि जाव०" शेष पूर्ववत् ।

"से अदिन्ना दाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा-दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं अदिन्न दाणे गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु खित्तओ णं अदिन्नादणे गामे वा नगरे वा रण्णे (अरन्ने) वा कालाओ०" इत्यादि पूर्ववत्।

"अदिन्नादाणं गहिअं वा गाहाविअं वा धिप्पंत वा परेहिं समणुन्नायं" शेष पूर्ववत् ।

"सव्वे अदिन्नादाणं जावज्जीवाए अणिस्सिओऽहं नेवसयं अदिण्णं गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं अदिण्णं गिण्हाविज्जा अदिण्णं गिण्हं तेवि अन्ने न समणु जाणिज्जां" शेषं पूर्ववत् ।

"एस खलु अदिन्नादाणस्स वेरमणे हिए" शेष पूर्ववत् ।

"तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वओ अदिन्नदाणाओ वेरमणं॥३॥"

व्याख्या – इसके बाद तीसरे महाव्रत में हे भगवन्त ! श्री जिनेश्वरों ने मालिक के दिये बिना कुछ भी लेना-अदत्ता दान का निषेध-विरति कहा है । हे भगवन्त! उस मालिक के दिए बिना कुछ भी लेने का मैं सर्वथा त्याग करता हूँ । उसके अनुसार- 'गांव में नगर में अथवा अरण्य में किसी भी स्थान में थोड़ा अथवा बहुत, छोटा या बड़ा, सजीव या निर्जीव किसी भी पदार्थ को मालिक के दिये बिना स्वयं लेऊँगा नहीं, दूसरे द्वारा लिवाऊँगा नहीं या स्वयमेव लेने वाले अन्य किसी को मैं अच्छा नहीं मानूँगा, जावज्जीव तक' इत्यादि । इसके बाद का अर्थ पहले महाव्रत के समान जानना ।

वह अदत्तादान चार प्रकार का इस तरह है – १. द्रव्य से, २. क्षेत्र से, ३. काल से और ४. भाव से । उसमें १. द्रव्य से अदत्तादान = जो लेने योग्य या पास में रखने योग्य हो उस द्रव्य को लेना, इस तरह कहने से चलने में, स्थिर होने में या अन्य जीवन व्यवहार में उपयोगी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशस्तिकाय और काल इन चार द्रव्यों का उपयोग करने पर भी उसे ग्रहण करवाना, अथवा पास में रखना नहीं होता, इसलिए उसके लिए अदत्तादान दोष नहीं लगे ऐसा समझना ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. क्षेत्र से – गांव में, नगर में या अरण्य (वन) आदि किसी भी स्थान पर, ३. काल से और ४. भाव से- इनका अर्थ प्रथम महाव्रत के समान जानना।

वह अदत्तादान ग्रहण किया, अन्य के द्वारा ग्रहण करवाया अथवा अन्य ने ग्रहण किया हो उसे अच्छा माना आदि अर्थ भी पूर्व कहे अनुसार जानना।

जीऊँगा तब तक आशंसा रहित मैं इन सर्व अदत्तादान को ग्रहण करूँगा नहीं, अन्य द्वारा ग्रहण करवाऊँगा नहीं और अन्य ग्रहण करने वाले को अच्छा नहीं मानूँगा। आदि अर्थ भी प्रथम के समान ही समझना।

'निश्चय से इस अदत्तादान का त्याग हितकारी है।' शेष अर्थ पूर्ववत्।

'हे भगवन्त ! मैं यह तीसरे महाव्रत के लिए उपस्थित हुआ हूँ, सर्वथा अदत्तादान के त्याग (विरम) को स्वीकार करता हूँ' ॥३॥

अब चौथे महाव्रत का विशिष्ट पाठ कहते हैं कि-

"अहावरे चउत्थे भन्ते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुस्स वा तिरिक्ख जोणियं वा णेण सयं मेहुण सेविज्जा, णेवण्णेहिं मेहुणं सेवा विज्जा, मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणामि०" शेष पूर्ववत्।

"से मेहुणे चउव्विहे०" शेष पूर्ववत्।

"दव्वओण मेहुणे रूवेसु वा रूव सहगएसु वा, खित्तओ णं मेहुणे उड्ढ लोए वा अहो लोए वा तिरिय लोए वा" शेष पूर्ववत्।

"मेहुणं सेविअं वा सेवाविअं वा, सेविज्जतं वा, परेहिं समणुन्नायं" शेष पूर्ववत्।

"सव्वं मेहुणं जावज्जीवाए अणिस्सिओऽहं नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवा विज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणु जाणिज्जा" शेष पूर्ववत्।

"एस खलु मेहुणस्स वेरमणे हिए०" शेष पूर्ववत्।

"चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुहणाओ वेरमणं" ॥४॥

व्याख्या – इसके बाद चौथे महाव्रत में श्री जिनेश्वर प्रभु ने मैथुन से विरति करने के लिए कहा है। हे भगवन्त ! उस सर्व मैथुन का मैं पच्चक्खान (त्याग) करता हूँ। उसमें देव देवी के वैक्रिय शरीर सम्बन्धी, मनुष्य, स्त्री या पुरूष के शरीर सम्बन्धी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एवं तिर्यंच जीव घोड़ा घोड़ी आदि के शरीर सम्बन्धी, इस तरह किसी भी प्रकार के मैथुन को मैं स्वयं सेवन नहीं करूगा, अन्य द्वारा सेवन नहीं करवाऊँगा, या अन्य स्वयं सेवन करने वालों को भी मैं अच्छा नहीं मानूँगा। यह मेरी मर्यादा जीवन तक है।' इत्यादि पूर्व के समान समझना।

मैथुन चार प्रकार का है- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से आदि पूर्व कहे अनुसार। उसमें द्रव्य से मैथुन -रूप में अर्थात् निर्जीव प्रतिमाओं में अथवा जिसमें आभूषणादि श्रृंगार न हों ऐसे रूप चित्रों में आसक्ति, तथा सजीव स्त्री-पुरूष के शरीर में अथवा आभूषण आदि शोभा वाली स्त्री आदि के रूप में, क्षेत्र से मैथुन- ऊर्ध्व लोक, अधोलोक या तिच्छी लोक में अर्थात् तीन लोक में, काल और भाव से पूर्व के समान होता है।

वह मैथुन सेवन किया हो, सेवन करवाया हो अथवा अन्य स्वयं सेवन करने वाले को अच्छा माना हो, उसकी निंदा करता हूँ।'' शेष पूर्ववत्।

''जीवन जब तक है तब तक आशंसा रहित मैं उस सर्व मैथुन को स्वयं सेवन नहीं करूँगा, दूसरे द्वारा सेवन नहीं कराऊंगा या अन्य सेवन करने वाले को अच्छा नहीं मानूंगा'' इत्यादि बाद का अर्थ पूर्व कहे अनुसार।

''निश्चय से इस मैथुन का त्याग हितकर है'' शेष अर्थ भी पूर्व के अनुसार।

''हे भगवन्त ! इस चौथे महाव्रत के लिए मैं उपस्थित हुआ हूँ। इस कारण से सर्वथा मैथुन के त्याग को मैं स्वीकार करता हूँ ॥४॥

अब पांचवें महाव्रत के विशेष पाठ का वर्णन करते हैं कि-

''अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं, सव्व भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा णेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हा विज्जा, परिग्गहं परिगिण्हं तेवि अन्नेन समणु जाणामि'' शेष पूर्ववत्।

''से परिग्गहे चउ०'' शेष पूर्ववत्। **''दव्वओ णं परिग्गहे सचित्ताचित्त मीसेसु देव्वेसु, खित्तओ णं परिग्गहे सव्वलोए (पाठान्तर लोए वा अलोए वा) कालओ णं परिग्गहे दिआ वा राओ वा, भावओ णं परिग्गहे अपग्धे वा महग्धे वा रागेण वा दोसेण वा''** शेष पूर्ववत्।

''परिग्गहो गहिओ वा गाहाविहो वा धिप्पं तो वा परेहिं समणुन्नओ'' शेष पूर्ववत्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"सव्वं परिग्गहं जावज्जीवाए अणिस्सिओहं नेवसयं परिग्गहं परिगिण्हज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्ह विज्जा, परिग्गहं परिगिण्हं तेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा" शेष पूर्ववत् ।

"एस खलु परिगिण्हस्स वेरमणेहिए०" शेष पूर्ववत् ।

"पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं" ॥५॥

व्याख्या - इसके बाद पांचवें महाव्रत में श्री जिनेश्वर भगवान ने परिग्रह विरति (त्याग) करने के लिए कहा है । हे भगवन्त ! मैं उस सब परिग्रह का पच्चक्खान करता हूँ । वह इस प्रकार - थोड़ा हो या बहुत हो, छोटा हो या बड़ा हो, वह भी सचित - जीव सहित या अचित- जीव रहित हो, किसी भी पदार्थ में मैं स्वयं परिग्रह (मूर्छा) नहीं करूँगा, अन्य को ऐसा परिग्रह (मूर्छा) नहीं करवाऊँगा, और अन्य कोई स्वयमेव परिग्रह करने वाले को अच्छा नहीं मानूँगा" इत्यादि शेष अर्थ प्रथम महाव्रत के सामान समझना ।

"वह परिग्रह चार प्रकार का है- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से इत्यादि पूर्व के समान । उसमें द्रव्य से - सजीव स्त्री आदि, निर्जीव - आभूषण आदि और मिश्र- अलंकार सहित स्त्री आदि किसी भी पदार्थ में (पक्षिकसूत्र की टीका के आधार पर 'आकाश' आदि सर्व द्रव्यों में) मूर्छा करना द्रव्य परिग्रह है, क्षेत्र से - सर्व - चौदह राज लोक में, क्योंकि - आकाश आदि सर्व पदार्थों में मूर्छा हो सकती है । पाठान्तर के अनुसार लोकाकाश में और आलोकाकाश में भी ममत्व करना क्षेत्र परिग्रह है। काल से - दिन अथवा रात अर्थात् सर्वकाल में और भाव से - अल्पमूल्य या बहुमूल्य किसी पदार्थ में राग से अथवा द्वेष से (प्रीति या अप्रीति से) ममत्व करना भाव परिग्रह है" शेष अर्थ पूर्व के समान समझना ।

'यह परिग्रह मैंने ग्रहण किया हो, दूसरों के द्वारा ग्रहण करवाया हो या दूसरों ने स्वयं ग्रहण किया हो उसे अच्छा माना हो, उसकी निंदा करता हूँ ।" इत्यादि शेष अर्थ पूर्व कहे अनुसार ।

'यावज्जीव तक आसक्ति रहित मैं स्वयं सर्व - कुछ भी परिग्रह को ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरे के द्वारा ग्रहण करवाऊँगा नहीं, और दूसरे परिग्रह ग्रहण करने वाले को अच्छा नहीं मानूँगा ।" शेष अर्थ पहले के समान ।

"यह परिग्रह विरमण निश्चय से हितकारी है ।" आदि पहले के समान ।

"हे भगवन्त ! मैं इस पांचवें महाव्रत को पालन करने के लिए उपस्थित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(तैयार) हुआ हूँ, सर्वथा परिग्रह से विराम = किसी भी पदार्थ की मूर्छा का त्याग करता हूँ" ॥५॥

अब छठे रात्रि भोजन विरमण व्रत का विशेष पाठ कहते हैं कि -

"अहावरे छट्ठे भंते ! वए राई भोयणाओ वेरमणं, सव्वभंते ! राई भोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, णेव सयं राइं भुंजिज्जा, णेवण्णेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजं तेवि अन्ने न समणु जाणामि०" शेष पूर्ववत् ।

"से राई भोयणे चउ०" शेष पूर्ववत् ।

"दव्वओ ण राई भोयणे असणे वा पाणे वा खाइमे वा, खित्तओणं राई भोयणे समय खित्ते, कालओ णं राई भोयणे दिआ वा राओ वा, भावओ णं राई भोयणे तित्ते वा कडुए वा कसाइले (कसाए) वा अंबिले वा महुरे वा लवणे वा रागेण वा दोसेण वा०" शेष पूर्ववत् ।

"राई भोयणं भुत्तं वा भुंजा विअं वा भुंजंतं वा परेहि समणुन्नायं०" शेष पूर्ववत् ।

"सव्वं राई भोयणं जावज्जीवाए अणिस्सि ओहं नेव सयं राइं भुंजिज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजा विज्जा राइं भुंजं तेवि अन्ने न समणु जाणिज्जा०" शेष पूर्ववत्।

"एस खलुराई भोयणस्स वेरमणे हिए०" शेष पूर्ववत् ।

"छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राई भोयणाओ वेरमणं" ॥६॥

व्याख्या - उसके बाद छठे व्रत में श्री जिनेश्वरों ने रात्रि भोजन का त्याग कहा है । हे भगवन्त ! मैं वह 'रात्रि में ग्रहण किए रात्रि में खाने' आदि (पूर्व कहे चार विभाग वाले) सर्व रात्रि भोजन का पच्चक्खान (त्याग) करता हूँ । उसकी मर्यादा इस तरह - अशन अथवा पानी अथवा खादिम या स्वादिम इन चारों के आहार को मैं स्वयं रात्रि में भोजन नहीं करूँगा, अन्य को रात्रि में भोजन करवाऊँगा नहीं और अन्य स्वयं रात्रि में भोजन करने वाले को अच्छा नहीं मानूँगा । इत्यादि शेष अर्थ प्रथम महाव्रत में कहे अनुसार ।

"वह रात्रि भोजन चार प्रकार का कहा है, शेष पूर्व समान है । उसमें द्रव्य से - रात्रि भोजन अशन, पान, खादिम अथवा स्वादिम, इन चारों प्रकार के आहार में कोई वस्तु खा लेना द्रव्य से रात्रि भोजन है, क्षेत्र से - मनुष्य लोक में, क्योंकि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रात्रि वहीं होती है, मनुष्य लोक के सिवाय अन्य स्थान में दिन -रात का व्यवहार नहीं होता। काल से - दिन अथवा रात में और भाव से - कड़वा, तीखा, चरपरा, कसैला, खट्टा या मीठा कोई भी इष्ट - अनिष्ट स्वाद प्रतिराग या द्वेष पूर्वक भोजन करना भाव से रात्रि भोजन कहलाता है।" इत्यादि

" यह रात्रि भोजन स्वयं खाया हो, अन्य को खिलाया हो अथवा अन्य को रात्रि भोजन करते अच्छा माना हो, उसकी निंदा करता हूँ।" शेष अर्थ पूर्व के समान समझना।

"जावज्जीव तक आशंसा रहित मैं सर्व प्रकार से रात्रि भोजन को स्वयं नहीं करूँगा, अन्य को रात्रि भोजन करवाऊँगा नहीं और अन्य रात्रि भोजन करने वाले को अच्छा नहीं मानूँगा।" इत्यादि-अर्थ पूर्व के समान समझना।

"यह रात्रि भोजन का नियम हितकारी है।" इत्यादि अर्थ पहले के समान।

"हे भगवन्त! मैं इस छठे व्रत का पालन करने के लिए उपस्थित - तैयार हुआ हूँ, इस कारण से सर्व प्रकार के रात्रि भोजन का मैं त्याग करता हूँ" ॥६॥

अब इन सब (छहो) व्रतों की एक साथ स्तुति करते हैं कि -

"इच्चेइयाइं पंच महव्वयाइं राई भोयण वेरमण छट्ठाइं अत्तहि अ अट्ठयाए उवसंपज्जिताणं विहरामि ॥"

अर्थात् "जो पूर्व में बताये गये हैं वे पांच महाव्रत और उनके साथ में रात्रि भोजन विरमण व्रत छठा है। उन छहों व्रतों को मैं अपनी आत्मा के हित के लिए सम्यक् प्रकार से स्वीकार करके विचरता (पालन करता) हूँ।"

अब क्रमशः उन महाव्रतों के अतिचार समझाते हैं -

अप्पसत्था य जे जोगा, परिणामा य दारुणा ।
पाणाइ वायस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥१॥

तिव्व रागा य जा भासा, तिव्व दोसा तहेव य ।
मुसा वायस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥२॥

उग्गहं य अजाइत्ता, अविदिन्ने उ उग्गहे ।
अदिन्ना दाणस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥३॥

सद्दा रूवार सागंधा- फासाणं पवियारणे (णा) ।
मेहुणणस्स विरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इच्छा मुच्छा य गेही य, कंखा लोभे अ दारुणे ।
परिग्गहस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥५॥
अइमत्ते अ आहारे, सूर खित्तंमि संकिए ।
राई भोयणस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥६॥

व्याख्या - अजयणा से चलना- बोलना आदि हिंसाजनक व्यापार - प्रवृत्ति और दारुण परिणाम अर्थात् जीवों को मारने का रौद्र ध्यान रूप जो अध्यवसाय है उसे प्राणातिपात विरमण महाव्रत में अतिचार कहा है । इसलिए उसका त्याग करना चाहिए । ऐसा मानकर उस अतिचार का त्याग करे । इस तरह सर्व महाव्रतों की गाथाओं में अधूरा वाक्यार्थ जोड़ना । (१) उत्कट विषय के राग वाली भाषा तथा उग्र मत्सर वाली भाषा अर्थात् उत्कट राग अथवा द्वेष पूर्वक बोलने वाला वचन है, उसे मृषावाद विरमण महाव्रत में अतिचार कहा है इसलिए उसका त्याग करना चाहिए । ऐसा मानकर उसका त्याग करे । (२) मालिक के पास से या उसने जिसे संभालने के लिए दिया हो ऐसे दूसरे के पास से अवग्रह - उपाश्रय-आश्रय की याचना किए बिना = आज्ञा प्राप्त किए बिना उसमें रहना (इतने शब्द अध्याहार से समझना) तथा प्रतिनियत - प्राप्त किये अवग्रह का स्थान जिसके मालिक ने उपयोग करने की संमति न दी हो उसका उपयोग करना, इस शब्द का भी अध्याहार समझना । उसे अदत्तादान विरमण महाव्रत में अतिचार कहा है, ऐसा मान कर उस अतिचार का त्याग करे । (३) श्रेष्ठ शब्द, रूप इस, गंध और स्पर्श को रागपूर्वक सेवन करना- भोगना, उसे मैथुन विरमण महाव्रत में अतिचार कहा है, ऐसा मानकर उसका त्याग करे (सद्दा शब्द आगमिक होने से 'आ' कार को आगम किया है) । (४) इच्छा= भविष्य में कोई अमुक पदार्थ प्राप्ति करने की प्रार्थना करना, और चोरी हुए या नाश हुए पदार्थ का शोक करना, विद्यमान परिग्रह - पदार्थ में मूर्छा - ममत्व रखना, वर्तमान में नहीं मिले विविध पदार्थों की इच्छा या प्रार्थना करना- ये सब इच्छा, मूर्छा, गृद्धि और दारुण कांक्षा रूप लोभ हैं, ये सारे परिग्रह विरमण महाव्रत में अतिचार कहे गये हैं, इस तरह मान कर उनका त्याग करे । (५) रात में भूख लगने के भय से दिन में बहुत अधिक आहार लेना तथा सूर्य जहां उदय हो और अस्त हो उस आकाश क्षेत्र में शंकित होना अर्थात् सूर्य उदय अथवा अस्त हुआ या नहीं हुआ ? ऐसी शंका होने पर भी आहार लेना रात्रि भोजन विरमण व्रत में अतिचार कहा गया है, इस प्रकार समझ कर उसका त्याग करे" । (६)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दंसण नाण चरित्रे अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे ।
पठमं वयमणु रक्खे, विरयामो पाणाइ वायाओ ॥१॥
दंसण० । बीअं वयमणु रक्खे, विरयामो मुसा वायाओ ॥२॥
दंसण० । तइयं वयमणु रक्खे विरयामो अदिन्नादाणाओ ॥३॥
दंसण० । चउत्थं वयमणु रक्खे विरयामो मेहुणाओ ॥४॥
दंसण० । पंचमं वयमणु रक्खे विरयामो परिग्गहाओ ॥५॥
दंसण० । छट्ठं वयमणु रक्खे विरयामो राई भोयणाओ ॥६॥

व्याख्या - "दर्शन, ज्ञान और चारित्र की विराधना किए बिना (अविराधित) साधु धर्म में स्थिर - निश्चल बना मैं, पहले व्रत का कोई अतिचार न लगे, उस तरह रक्षण (पालन) करता हूँ, मैं कैसा ? **'विरयामी'** इस वचन का व्यत्यय होने से बहुवचन के बदले एक वचनान्त करना इससे सर्वथा प्राणातिपात - हिंसा से विराम (त्याग) करता हूँ। (१) इसी तरह शेष पांच गाथाओं का अर्थ भी समझ लेना, केवल 'मृषावाद से विराम प्राप्त करता हूँ' इतना विशेष है अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र का यथार्थ पालन करते हुए श्रमण धर्म में निश्चल और मृषावाद से विराम प्राप्त करता हूँ। (२) इसी प्रकार अन्य गाथाओं में 'अदत्तादान से विराम प्राप्त करता हूँ' यह तीसरी गाथा। (३) इसी तरह चौथी 'मैथुन से विराम - निवृत्त होता हूँ'। (४) पांचवी 'परिग्रह से विराम - प्राप्त करता हूँ' (५) और छठी 'रात्रि भोजन से विराम प्राप्त करता हूँ'। (६) ऐसा उस व्रत के अनुसार समझ लेना।"

और भी इन व्रतों के रक्षण का उपाय कहते हैं कि -

आलय विहार समिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समण धम्मे ।
पढमं वयमणु रक्खे, विरयामो पाणाइ वायाओ ॥१॥
आलय० । बीयं वयमणु रक्खे, विरयामो मुसा वायाओ ॥२॥
आलय० । तइयं वयमणु रक्खे, विरयामो अदिन्नादाणाओ ॥३॥
आलय० । चउत्थ वयमणु रक्खे, विरयामो मेहुणाओ ॥४॥
आलय० । पंचम वयमणु रक्खे, विरयामो परिग्गहाओ ॥५॥
आलय० । छट्ठे वयमुणु रक्खे, विरयामो राई भोयणाओ ॥६॥
आलय० । तिविहेण अप्पमत्तो रक्खामि महव्वए पंच ॥७॥

व्याख्या - "यहां 'आलय' शब्द सूचक होने से आलयवर्ती अर्थात् स्त्री, पुरुष, नपुसंक आदि जहां न हों ऐसे सकल दोष रहित स्थान में रहता हुआ मैं इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तरह आगमोक्त नौ कल्पी विहार से विचरता हूँ। इर्या समिति आदि पांच समिति का पालन करने से 'समित' युक्त मैं 'परीषहों' को सहन करने के लिए गुरुकुल वास सेवा करते' आदि साधु के गुणों से युक्त मैं, तीन गुप्ति का पालन करने में गुप्त मैं, क्षमा-मृदुता- आदि इस प्रकार के श्रमण धर्म में स्थिर - निश्चल मैं, प्राणातिपात से विराम करता (रुकता) हूँ। प्रथम महाव्रत का अतिचारों से सम्पूर्ण रक्षण करता हूँ। (१) इस गाथा के अनुसार ही दूसरी से छठी गाथा तक का अर्थ भी समझ लेना, केवल 'दूसरी में मृषावाद से, तीसरी में अदत्ता दान से, चौथी में मैथुन से, पांचवी में परिग्रह से और छठी में रात्रि भोजन से विराम प्राप्त करता (रुकता) हूँ' इतना अर्थ उन शब्दों के अनुसार भिन्न भिन्न करना (२ से ६ तक)। सातवीं गाथा के पूर्वार्ध का अर्थ भी पूर्व के समान करना। उत्तरार्द्ध में विशेष इस प्रकार से - **'तिविहेण'**= मन, वचन और काया- इन तीन योग से **'अप्पमत्तो'** = अच्छी तरह से एकाग्र हुआ मैं **'रक्खामि महव्वए पंच'** = अपने प्राणों के समान पांच महाव्रतों का रक्षण (पालन) करता हूँ (७)।"

अब एक से दस तक के हेय भावों का त्याग ओर उपादेय भावों का स्वीकार करने से पुनः महाव्रतों की रक्षा के लिए कहते हैं कि -

१- सावज्ज जोग मेगं, मिच्छत्तं एगमेव अन्नाणं ।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खमि महव्वए पंच ॥१॥
अणवज्ज जोग मेगं, सम्मत्तं एगमेव नाणं तु ।
उव संपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२॥
२- दो चेव राग दोसे, दोण्णि य झाणाइं अट्टरुद्दाइं । परि० ॥३॥
दुविहं चरित्त धम्मं दोण्णि य झाणाइं धम्म सुक्काइं । उव० ॥४॥
३- किण्हा नीला काऊ, तिण्णि य लेसाओ अप्प सत्थाओ । परि० ॥५॥
तेउ पम्हा सुक्का, तिण्णि य लेसाओ सुप्प सत्थाओ । उव० ॥६॥
मणसा मण सच्च विऊ, वाया सच्चेण करण सच्चेण ।
तिविहेण वि सच्चविऊ, रक्खामि महव्वए पंच ॥७॥
४- चत्तारि य दुह सिज्जा, चउरो सन्ना तहा कसाया य । परि० ॥८॥
चत्तिरि य सुह सिज्जा चउव्विहं संवरं समाहि च । उव० ॥९॥
५- पंचेव य काम गुणे, पंचेव य अण्हवे महा दोसे । परि० ॥१०॥
पंचिदिय संवरणं तहेव पंच विह मेव सज्झायं । उव० ॥११॥
६- छज्जीव निकाय वहं छव्विह भासाउ अप्प सत्थाउ । परि० ॥१२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

छव्विह अब्भिंतरयं, वज्झपि य छव्विहं तवो कम्मं । उव० ॥१३॥

७- सत्त य भय ठाणाइं, सत्तविहं चेव नाण विब्भंगं । परि० ॥१४॥

पिंड सण पाणे सण, उग्ग हसत्ति ककया महज्झयणा । उव० ॥१५॥

८- अट्ठ मय ट्ठाणाइ अट्ठ य कम्माइं तेसि बंधं च । परि० ॥१६॥

अट्ठ य पव यण माया, दिट्ठ अट्ठ विहणिट्टि अट्ठेहि । उव० ॥१७॥

६- नव यावनि याणाइं संसारत्था य नव विहा जीवा । परि० ॥१८॥

नव बंभ चेर गुत्तो, दुनवविहं बंभचेर परिसुद्धं । उव० ॥१६॥

१०- उवधायं च दस विहे, अ संवरं तहय संकिलेसं च । परि ० ॥२०॥

सच्चा समाहिट्ठाणा, दस चेव दसाओ समण धम्मं च । उव० ॥२१॥

११- आसायणं च सव्वं, ति गुणं रक्करसं विवज्जंतो । परि० ॥२२॥

एवं तिदडं विरओ तिगरण सुद्धो तिसल्लो निस्सल्लो ।

तिविहेण पडिक्कंतो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२३॥

व्याख्या - एक पापकारी व्यापार, एक मिथात्व- इसी तरह एक अज्ञान का त्याग करना, मन वचन काया से गुप्त, पंच महाव्रतों का मैं रक्षण करता हूँ । (१) सकल आत्म हितकर अनुष्ठान स्वरूप एक पाप व्यापार, एक सम्यग् दर्शन एवं इसी तरह एक सम्यग् ज्ञान को भी प्राप्त करने वाला मैं तथा विनय - वैयावच्च आदि संयम के व्यापार से युक्त मैं पंच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ । (२) एक राग और दूसरा द्वेष इन दोनों को एवं दो दुष्ट ध्यान- एक आर्त तथा दूसरा रौद्र ध्यान इन सब का त्याग करता हुआ मैं पांच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ । (३) देश तिरति और सर्व विरति रुप दो प्रकार का चारित्र धर्म तथा धर्म एवं शुक्ल, इन दो ध्यान आदि का अर्थ प्राप्त करने वाला तथा गुप्ति मैं पांच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ । इसी तरह बाद की गाथाओं में भी समझ लेना । (४) कृष्ण, नील और कपोत- इन तीन अप्रशस्त लेश्याओं का त्याग करते हुए पांच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ । (५) तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या- इन तीन अति प्रशस्त लेश्याओं को प्राप्त कर पंच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ । (६)

शुभ भाव रुप प्रशस्त चित्त द्वारा पांच महाव्रतों का मैं रक्षण करता हूँ, इस तरह सम्बन्ध जोड़ना । उसमें मैं कैसा हूँ- वह कहते हैं कि - मन के सत्य को जानता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् अकुशल मन का निरोध एवं शुभ चित्त की उदीरणा करने रूप मन के सत्य (मन का संयम) को जानता, इसी तरह कुशल वचन की उदीरणा और अकुशल वचन का निरोध करने रूप वचन संयम द्वारा तथा क्रिया की शुद्धि अर्थात् काय संयम द्वारा, यह काय संयम सर्व कार्यों में करते हुए गमन - आगमनादि जयणा पूर्वक करने से और जब कार्य न हो तब हाथ पैर आदि अवयव को कुचित कर स्थिर बैठने से होता है, इस तरह तीन प्रकार से संयम को जानता हुआ मैं पांच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ। यह मन संयम आदि तीन विभाग कहे हैं, उसमें द्विक संयोगी भी तीन विभागों का सूचन किया है। वह इस तरह १- मन - वचन दोनों के संयम से, २- मन-काया के संयम से ३- वचन - काया के संयम से, और एक त्रिक संयोगी अर्थात् मन-वचन- काया, इस प्रकार तीनों के संयम से, इस रीति से सर्व विभाग सत्य (संयम) को जानता हूँ अर्थात् शुद्ध संयम का पालक हूँ, ऐसा समझना। इस कथन से त्रिक संयोगी विभाग भी कहा गया है, कुल सात में १- केवल मन, २- मन और वचन, ३- केवल काया, ४- मन वचन, ५- मन काया, ६- वचन काया, एवं ७- मन वचन काया, इन विभागों द्वारा संयम का रक्षण करता हूँ, इस प्रकार अर्थ जानना (७)।

चार प्रकार की दुःख शय्या, वह द्रव्य से दूषित चारपाई संथारा आदि और भाव से दुःख अर्थात् दुष्ट चित्त जन्य कुसाधु का अध्यवसाय जानना जो कि चार प्रकार का ठाणांग सूत्र में इस प्रकार है - १- जिन वचन में अश्रद्धा, २- अन्य के पास से पौद्गलिक, धन- आहारादि प्राप्ति आदि की इच्छा - प्रार्थना, ३- देव मनुष्य सम्बन्धी काय (भोग) की अशंसा (प्राप्ति की इच्छा) और ४- स्नानादि करने रूप शरीर सुख की इच्छा, इन चार दुष्ट भावनाओं से संयम में दुःख का अनुभव होता है, इसलिए उसे दुःख शय्या कहा गया है। अशाता वेदनीय और मोहनीय के उदय जन्य चार प्रकार की चेतना- १- आहार संज्ञा, २- भय संज्ञा, ३- मैथुन संज्ञा और ४- परिग्रह संज्ञा, तथा क्रोध, मान, माया और लोभ- ये चार कषाय, इन सब को त्याग कर पंच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ। (८) चार प्रकार की सुख शय्या होती है, वह द्रव्य और भाव से, जो दुःख शय्या का स्वरूप कहा गया है उससे विपरीत (स्थानांग सूत्र के चौथे ठाणे में कहे अनुसार) चार प्रकार के संवर को अर्थात् मन, वचन और काया- इन तीन को अकुशल व्यापार में से रोककर कुशल प्रवृत्ति में लगाना- ये तीन संवर तथा चौथा महामूल्यवान वस्त्र, सुवर्ण आदि का त्याग रूप उपकरण संवर समझना और चार प्रकार की समाधि अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तप, इन चारों के विषय में आत्मा को प्रशस्त (आराधक) परिणाम– ये चार प्रकार की समाधि समझना। ये सब पद द्वितीय विभक्ति वाले होने से चार प्रशस्त शय्य, चार प्रकार के संवर और चार प्रकार की समाधि स्वीकार करते गुप्त रूप में पांच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ इत्यादि पूर्व के समान समझना। (९)

मनोभीष्ट शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श– ये पांच काम विकार का गुण करने वाले होने से काम गुण कहे गये हैं तथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह– इन पांच कर्मों का आश्रय ग्रहण करने वाले समझना। ये आत्मा के लिए दारुण दुःखों का कारण रुप होने से 'महादोष' कहे गये हैं। परि० आदि अर्थ पूर्व के समान (१०) तथा निवृत्ति और उपकरण रूप दो द्रव्येन्द्रिय और लब्धि तथा उपयोग रूप दो भावेन्द्रिय, इस तरह चार - चार भेद हैं। स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत– इन पांच इन्द्रियों के इष्ट विषय में राग और अनिष्ट में द्वेष नहीं करने रूप संवर को तथा इसी तरह पांच प्रकार का स्वाध्याय = वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुपेक्षा और धर्म कथा को प्राप्त हुआ और गुप्तेन्द्रिय मैं पांच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ, आदि अर्थ पूर्व के अनुसार (११)।

पृथ्वी कायादि छह प्रकार के जीवों का विनाश तथा छह प्रकार का अप्रशस्त, जिससे कर्म बंधन हो, वह कहा गया, वे प्रकार १- हीलिता, २- खिसिता, ३- परुषा, ४- अलीका, ५- गार्हस्थी और ६- उपशमिका किरणो दीरणा। उसमें असूया से, अवज्ञा - अनादर पूर्वक, हे गणि ! हे वाचक ! हे ज्येष्ठार्य ! इत्यादि बोलना, वह १- हीलिता भाषा है, निंदा पूर्वक, दूसरे के अयोग्य वर्तन को प्रगट करते पूर्वक बोलना, २- खिंसिता भाषा है, 'हे दुष्ट !' आदि गाली देते हुए कठोर वचन बोलना, ३- परुषा भाषा है, 'दिन में क्यों सोया है ?' इत्यादि शिक्षा पूर्वक असत्य बोलना, ४- अलीका भाषा है, गृहस्थ के समान 'पिता, पुत्र, चाचा, मामा' इत्यादि बोलना, ५- गार्हस्थी भाषा है, और शान्त बने झगड़ा आदि पुन प्रारंभ हो, ऐसा बोलना, ६- उपशमित कलह प्रवर्त्तनी भाषा है, उस सब का त्याग करता हूँ, शेष अर्थ पहले के समान। (१२) प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और शुभ ध्यान, ये छह अभ्यन्तर तपकर्म और अनशन, ऊनोदरिका, वृत्ति संक्षेप, रस त्याग, काय क्लेश और संलीनता– ये छह बाह्य तप कर्म उसे प्राप्त करने वाला० इत्यादि अर्थ पूर्व के समान ही समझना। (१२)

इहलोक भय, परलोक भय इत्यादि पूर्व 'पिगाम सिज्जा' के अर्थ में कहा गया है कि वे सात भय स्थान (भय मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आत्मा के भंय रूप अध्यवसायों के कारणों के) तथा ज्ञान और विभंग इन दो पदों कों पूर्वापर व्यत्यय करने से सात प्रकार के विभंग ज्ञान का त्याग करता हूँ, इत्यादि अर्थ पूर्व कहे अनुसार समझना। विभंग ज्ञान के सात भेद इस प्रकार हैं - "**१- इगे पण दिसि लोग गमो २- किरिआ वरणो ३- मुदग्गओ जिओ, ४- ण मुदग्गओ, ५- रूगी ६- सव्व जीवो, ७- सग विभंगा**" अर्थात् पूर्वादि किसी एक ही दिशा में लोक (सर्व जगत्) है, ऐसा बोध होना वह प्रथम विभंग ज्ञान है, छह दिशाओं के बदले ऊर्ध्व अधो में किसी एक ओर चार तिर्छी दिशा, इस तरह पांच दिशाओं में लोक है- यह दूसरा विभंग ज्ञान, जीव प्राणातिपात आदि क्रिया को करता है वह तो प्रत्यक्ष दिखती है परन्तु उसमें हेतुभूत कर्म तो दिखता नहीं है, इसलिए जीवकर्म से आवृत नहीं है, परन्तु 'क्रिया ही जीव का आवरण है' यह चौथा विभंग ज्ञान है, भवनपति आदि देवों का वैक्रिय शरीर बाह्य - अभ्यन्तर पुदगलो का ग्रहण पूर्वक करता दिखता है, इससे जीव 'मुदग्र' अर्थात् स्व शरीरावगाह क्षेत्र के बाहर या अन्दर के क्षेत्र में रहे पुद्गलो से रचा हुआ शरीर वाला है।' चौथा विभंग ज्ञान है। वैमानिक देवों का वैक्रिय शरीर बाह्य - अभ्यंतर पुद्गलों के ग्रहण बिना रचना दिखती है, इसलिए जीव 'अमुदग्र' अर्थात् बाह्य - अभ्यंतर क्षेत्र में रहे पुद्गलो के ग्रहण रहित शरीर वाला है- ऐसा पांचवाँ विकल्प वाला विभंग ज्ञान, वैक्रिय शरीर धारी देवों का रूप देखकर शरीर को ही जीव मानने से जीव रूपी है यह छठा विभंग ज्ञान और वायु से चलायमान पुद्गलो को देखकर, उसमें भी जीव की मान्यता करने से जगत् में दिखता है, उन सब वस्तुओं में जीव है, यह सातवां विभंग ज्ञान है। इन सातों के अभिप्राय में विपरीत कल्पना होने से उसे वि + भङ्ग = विभंग ज्ञान कहा है। यह ज्ञान जीव को मिथ्यात्व मोहनीय के उदय सहित ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से होता है और मिथ्यात्वी देव - नारकी को यह विभंग ज्ञान भव प्रत्ययिक होता है, अतः वह अज्ञान है। (१४) तथा

सात पिण्डैषणा और सात पानैषणा का वर्णन गोचरी के दोषों में बताया गया है तथा यहां सूचना मात्र कहा है, अतः 'अवग्रह' अर्थात् वसति (रहने का उपाश्रय) के विषय में सात प्रकार की प्रतिमा (प्रतिज्ञा) समझना, वह इस प्रकार १- ऐसा, अमुक उपाश्रय प्राप्त करूँगा, दूसरा नहीं- इस तरह पहले से अभिग्रह करके उसकी ही याचना करके प्राप्त करना, वह प्रथम प्रतिमा है। २- मैं दूसरे के लिए उपाश्रय की याचना करूँगा अथवा दूसरों के द्वारा याचना किए उपाश्रय में रहूँगा ऐसा अभिग्रह दूसरी प्रतिमा है। प्रथम प्रतिमा सर्व सामान्य - सर्व साधुओं के उद्देश्य से है और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दूसरी गच्छ वासी साम्भोगिक (एक मंडली वाला) अथवा असाम्भोगिक (भिन्न मंडली वाला) उत्कट विहारी - निरति चार चारित्र वाले साधुओं को उद्देश्य से है। इस तरह दोनों में भिन्नता समझना। क्योंकि उनको एक दूसरे के लिए इस तरह याचना करने की विधि है। ३- दूसरे के लिए वसति की याचना करूँगा परन्तु मैं दूसरों की याचना से प्राप्त वसति में रहूँगा नहीं- ऐसा अभिग्रह करना तीसरी प्रतिमा (यथा लन्दक) (जिन कल्पी के समान कठोर आराधना करने वाले) साधु को होती है, क्योंकि वह शेष रहे सूत्र - अर्थ वसति में रहते हुए आचार्य के पास में पढ़ने की अभिलाषा वाला होने से आचार्य के लिए इस तरह वसति की याचना करे। ४- मैं दूसरों के लिए वसति की याचना नहीं करूँगा, परन्तु दूसरे से याचित वसति में रहूँगा' ऐसा अभिग्रह, यह चौथी प्रतिमा गच्छ में रहकर जिन कल्प का अभ्यास - तुलना करने वाले साधु को होती है। ५- 'मैं अपने लिए वसति की याचना करूँगा, दूसरे के लिए नहीं करूँगा ऐसा अभिग्रह, यह पाँचवीं प्रतिमा जिन कल्पी साधु को होती है। ६-जिसकी वसति मैं ग्रहण करूँगा उसकी ही चटाई, घास आदि भी संथारे के लिए यदि मिलेगा तो लेऊँगा, अन्य का नहीं अन्यथा उत्कटुकासन से अथवा बैठे बैठे ही रात्रि पूर्ण करूँगा, ऐसा अभिग्रह, यह छठी प्रतिमा भी जिन कल्पी आदि महामुनियों को होती है। ७-यह सातवीं प्रतिमा भी छटी के समान ही है, केवल (संथारा के लिये शिला, घास आदि जो जैसा बिछाया होगा वह वैसा ही लेऊँगा, अन्यथा नहीं लेऊँगा) ऐसा अभिग्रह भी जिन कल्पी आदि को ही होता है। इन सात अवग्रहों को तथा सात सप्तैकिआ, आचाराँग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध की दूसरी चूला रूप में जो सात अध्ययन हैं, वह उद्देश बिना होने से 'एकसरा' कहलाते हैं। वह संख्या में सात होने से प्रत्येक सप्तैकक (सप्तकिआ) कहलाता है। उनके नाम भी इसी ही तरह हैं। वे नाम पगाम सिज्जा के अर्थ में पहले बताये गये हैं। ये सात सप्तकिआ तथा महाध्ययनानि = सूत्रकृतांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के सात अध्ययन, पहले श्रुतस्कंध के अध्ययन की अपेक्षा से बड़े होने से 'महाध्ययन' कहलाये हैं, उनके नाम भी पूर्व में-पगाम सिज्जा के अर्थ में बताये अनुसार जानना। इन सात महाध्ययन को, इनमें से प्रत्येक प्राप्त हुआ इत्यादि अर्थ पूर्व के कहे अनुसार समझना। (१५)

जातिमद आदि (पगाम सिज्जा में कहा है) आठ मद स्थान तथा ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों को और इन आठ कर्मों के बन्धन को त्याग करना आदि अर्थ पूर्व के अनुसार। (१६) इर्या समिति आदि पाँच समितियाँ और मनो गुप्ति आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीन गुप्तिया, ये आठ प्रवचनभाता जिनसे कि आठ प्रकार के अर्थ (ज्ञानावरीयादि आठ कर्म) का नाश होता है वे श्री जिनेश्वर को (दुष्टा) अर्थात् प्राप्त हुआ है उस प्रत्येक को प्राप्त हुआ आदि अर्थ पूर्व में कहे अनुसार। (१७) पाप का कारणभूत-भोग आदि को प्राप्त करने की भावना रूप नौ निदान हैं, वे इस तरह हैं- १- निव, सिट्ठि, ३-इत्थि, ४- पुरिसे, ५- परपविआरे, ६- सपविआरेअ, ७- अप्परससुर, ८-दरिद्दे, ९- सड्ढे, हुज्जा नव निआणे अर्थात् १- कोई तपस्वी साधु यह विचार करे कि-देव और देव लोक तो प्रगट रूप नहीं हैं, इसलिए जो प्रत्यक्ष दिखता है, यह ऋद्धिवान राजा ही देव है, यदि मेरे तप नियम आदि साधना के फल कुछ भी हों तो भविष्य में मैं राजा बनूँ। २- कोई ऐसा विचार करे कि राजा को तो बहुत गड़बड़ी, दुख -भय आदि होते हैं इसलिए मैं धनपति सेठ बनूँ। ३-कोई यह विचार करे कि पुरूषों को युद्ध में जाना, दुषकर कर्म करना इत्यादि बहुत दु:खदायी प्रवृत्तियाँ होती हैं इसलिए मेरा तप नियम आदि सफल हो तो भविष्य में मैं स्त्री बनूं।४- कोई विचार करे कि स्त्री तो निर्बल, पराधीन, निंदा का पात्र गिनी जाती है, इसलिए मैं अन्य जन्म में पुरूष बनूं। ५- कोई इस प्रकार विचार करे कि मनुष्य के भोग तो मूत्र, पुरिस, वमन, पित्त, श्लेष्म, शुक्र आदि की अशुचि से भरे हुए हैं किन्तु देव देवी, अन्य देव देवियों के साथ में अथवा अपने ही अन्य देव देवियों के रूप बनाकर उससे भोग भोगते हैं, इसलिए मैं भी इसी तरह देव देवियों के अशुचि रहित भोग भोग सकूं- ऐसा परम विचारी देव बनूँ। ६- कोई यह विचार करे कि इसमें तो अन्य देव देवियों की पराधीनता है, इसलिए मैं अपने ही देव देवी का उभय रूप बन करके दोनो वेदों के सुख भोग सकूं ऐसा स्वप्न विचारी देव बनूँ। ७- कोई मनुष्य और देव के उभय भोग से वैरागी बने साधु या साध्वी यह विचार करें कि यदि मेरा यह धर्म सफल हो तो जहाँ प्रविचारणा नहीं है वे नौ ग्रैवेयकादि अल्प वेदोदय वाला देव बनूँ। ८- कोई इस तरह विचार करे कि देव तो अविरति होते हैं, अत: इस धर्म का यदि फल मिले तो मैं अन्य जन्म में श्रीमंत, उग्र कुल आदि उत्तम कुल में व्रतधारी श्रावक बनूँ। ९- कोई यह विचार करे कि काम भोग दु:खदायी हैं, धन प्राप्ति बन्धक है, इसलिए अन्य जन्म में मैं दरिद्र बनूं कि जिससे सुखपूर्वक गृहस्थ जीवन त्याग कर सन्यास-दीक्षा स्वीकार कर सकूं। इस तरह अपने तप, नियम, व्रत आदि की आराधना के फल रूप में अन्य जन्म में उस अवस्था को प्राप्त करने की कल्पना करना- ये नौ निदान हैं। उनको तथा पृथ्वी, अप, तेजो, वायु, वनस्पति, दोन्द्रिय, तेईन्द्रिय, चोरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस तरह नौ प्रकार के संसार में रहने वाले जीवों की हिंसादि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विराधना का परित्याग करना आदि अर्थ पूर्व के अनुसार समझना । (१८)

ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ों से सुरक्षित (अखण्ड ब्रहमचर्य) वाला मैं 'द्विन वविध' अर्थात् अठारह प्रकार के निर्दोष ब्रह्मचर्य को प्राप्त करने वाला आदि अर्थ पूर्व के समान समझना नौ गुप्ति का स्वरूप आगे चरण सित्तरी में कहा जायेगा । ब्रह्मचर्य के दैवी तथा औदारिक भोगों को मन, वचन और काया से सेवन करना नहीं, सेवन करवाना नहीं और दूसरे सेवन करने वालों की अनुमोदना नहीं करना, इस तरह २ × ३ = ६ × ३ = १८ भेद समझना । (१९)

दस प्रकार के चारित्र आदि का उपघात इस प्रकार है -

उग्गम १, उप्पा २, एसण ३, परिहरण ४, परिसाडणा ५, नाणतिगे ६-७, संरक्खणा ८, कचअत्ते ९, उवधाया १०, दस इमे हुंति ॥१॥

अर्थात् "आहार, वस्त्र, पात्र, शैय्या आदि की प्राप्ति में पूर्व कहे अनुसार सोलह उद्गम दोषों में से कोई दोष लगने से चरित्र का उपघात होता हो वह **१-उद्गमोपघात** है । सोलह उत्पाद के दोष में से कोई दोष सेवन करने से **२-उत्पादनोघात** है । दस एषणा के विषय में से कोई दोष सेवन करने से **३-ऐषणोपघात** है । संयम में अकल्पनीय, निषिद्ध अथवा लक्षण रहित उपकरणों का उपभोग करने से **४-परिहरणोपघात** है । वस्त्र, पात्र आदि का परिकर्म अर्थात् रंगना, धोना आदि क्रिया शोभा के लिए करने से, इससे स्वाध्याय और संयम का परिशाटन=हानि होने से **५- परिशाट नोपघात** है । प्रमाद आदि के वश होकर ज्ञानाचार में 'अकाल में स्वाध्याय करना' इत्यादि से **६ - ज्ञानोपघात** है । श्री जिन वचन में शंकादि करने रूप दर्शनाचार में अतिचार सेवन करने से **७- दर्शनोपघात** है । पांच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन भाता का यथा योग्य पालन नहीं करने से **८- चारित्रोपघात** है । शरीरादि का मूर्छा पूर्वक संरक्षण करने के लिए परिग्रह परिहार व्रत का उपघात लगाने से **९- संरक्षणोपघात** है । गुरुजन आदि साधु गण के प्रति अप्रीति आदि करने रूप विनय का उपघात करने से **१०- अचिअत्तोपघात** है । इन दस उपघात को तथा दस प्रकार के असंवर को तथा दस प्रकार के संक्लेश को अर्थात् असमाधि । यह असंवर और संक्लेश इस प्रकार हैं

जागिं दिओवहि सुई, असंवरो दस य संकिलेसो अ ।
नाणाइ जोग उवही वसहि कसायऽन्न पाणे हिं ॥१॥

अर्थात् - "तीन योग, पांच इन्द्रिय, उपधि और सुई ये दस असंवर हैं तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ज्ञानादि तीन योग, तीन उपधि, वसति, कषाय, आहार और पानी इन दस के विषय में असमाधि करने से दस प्रकार का संक्लेश जानना। दस प्रकार का संवर इस तरह है - मन, वचन और काया - इन तीन योगों की अकुशल प्रवृत्ति को नहीं रोकने से तीन योग का असंवर, पांच इन्द्रियों को इष्ट - अनिष्ट शब्दादि विषयों में राग द्वेष करने से नहीं रोकने से पांच इन्द्रियों का असंवर, शस्त्रोक्त संख्या से तथा प्रमाण से विपरीत - अनियत या अकल्पनीय वस्त्र पात्रादि उपकरण को ग्रहण करना अथवा जहां-तहां बिखरे पड़े वस्त्रदि को यथा स्थान नहीं रखना वह ९वां उपधि असंवर तथा सुई के उपलक्षण से नाखून काटने वाली, पिब्पलक आदि शरीर का उपघात करें ऐसी नोकदार धार वाली वस्तुओं को सुरक्षित नहीं रखना और उसके उपलक्षण से समस्त औपग्रहिक उपकरणों का असंवर करना वह १०वां सूचि असंवर होता है।

दस प्रकार के संक्लेश इस तरह हैं- १- ज्ञान का अविशुद्धय मान रूप वह 'ज्ञान संक्लेश' २- दर्शन का अविशुद्धय मान रूप वह 'दर्शन संक्लेश' और ३- चारित्र का अविशुद्धय मान रूप वह 'चारित्र संक्लेश' तथा ४- मन द्वारा मन में संक्लेश हो वह 'मनसंक्लेश' ५- वचन द्वारा संक्लेश हो वह 'वचन संक्लेश' और काया के द्वारा राग द्वेषादि संक्लेश होता है वह 'काया संक्लेश' तथा ७- संयम अथवा संयम साधक शरीर का उपघात अर्थात् आलम्बन भूत हो वह उपधि अर्थात् अच्छे - खराब वस्त्र आदि, उनमें राग द्वेषादि हो वह 'उपधि संक्लेश' है, ८- इष्ट - अनिष्ट वसति - उपाश्रय के विषय में संक्लेश हो वह 'वसति संक्लेश' है क्रोधादि कषायों के वश होने से वह 'कषाय संक्लेश' है, और १०- इष्ट - अनिष्ट आहार पानी आदि में राग द्वेषादि हो वह 'अन्न पान संक्लेश' है। इस तरह दस प्रकार के असंवर तथा दस प्रकार के संक्लेश का परित्याग करना आदि शेष अर्थ पूर्व के अनुसार जानना।

दस प्रकार का सत्य, दस समाधि स्थान, दस दिशा और दस विध श्रमण धर्म- इन प्रत्येक को प्राप्त करने वाला आदि, शेष अर्थ पूर्व के अनुसार है। इन सब का वर्णन इस तरह है- दस प्रकार का सत्य ठाणांग सूत्र के तीसरे उद्देश्य में सूत्र ७४१ में प्रज्ञापना सूत्र में ११/८६२ में तथा प्रवचन सारोद्धार में गाथा ८९१ में कहा है कि-

जण वय, संमय, ठवणा, नामे रूवे पडुच्च सच्चे अ।
ववहार भाव जोगे, दसमे ओवम्म सच्चे अ॥

अर्थात् - 'भिन्न-भिन्न देश की भाषा में उस वस्तु के नाम भिन्न-भिन्न रूप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिलते हैं, जैसे कि - कोंकणादि देश में पानी को पय, पेय, नीर, उदक आदि अलग-अलग नाम से पहिचाना जाता है, वह उस देश की अपेक्षा से सत्य है, उसे **१- जनपद सत्य** जानना । इसी तरह कुमुद, कुवलय, कमल, अरविन्द आदि सब पङ्क अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होने से वस्तुतः 'पङ्कज' हैं फिर भी सब लोग अरविन्द को ही पङ्कज मानते हैं, अतः अरविन्द अर्थात् सूर्य विकासी कमल को ही पंकज कहना सर्व संमत होने से **२- संमत सत्य** जानना । उससे विपरीत दूसरा चन्द्र विकासी कमल जैसे कि कुमुद और नील कमल यानि कुवलय आदि तथा अन्य सूर्य विकासी कमलों में भी पंकज शब्द का व्यवहार संमत न होने से उसे पंकज कहना असत्य जानना। किसी पाषाणादि की मूर्ति बनाकर उसे अमुक देवादि रूप में स्थापना करने में **३- स्थापना सत्य** है जैसे कि प्रभु महावीर की मूर्ति को 'महावीर' कहना, वह स्थापना सत्य है । किसी का जो नाम पड़ा हो, उस नाम से सम्बोधन करना **४- नाम सत्य** है, जैसे कि - कोई कुल की वृद्धि न करने न होने पर भी यदि उसका नाम 'कुल वर्धन' रखा हो तो उसे उस नाम से बोलना- वह नाम सत्य जानना । किसी के बाहर के रूप के अनुसार उसे वैसा कहना, जैसे कि किसी कपटी ने बाहर से साधु वेश धारण किया हो- उसे साधु कहना अथवा किसी रिश्वत (घूस) लेने वाले न्यायाधीश को भी न्यायधीश कहना इत्यादि **५- रूप सत्य** है । एक दूसरी वस्तु के आश्रित जो बोला जाता है वह **६- प्रतीत्य सत्य** है, जैसे कि - अनामिका (पूजा करने वाली अंगुली) को छोटी और बड़ी कहना वह प्रतीत्य सत्य है क्योंकि - अनामिका कनिष्ठा से बड़ी है और मध्यमा से वह छोटी भी है । पर्वत जलता है, घड़ा झरता है- इत्यादि बोलना, उसमें वस्तुतः तो पर्वत नहीं परन्तु घास आदि जलते हैं, घड़ा नहीं परन्तु पानी झरता है तो भी वैसा बोलने का व्यवहार होने से वह **७- व्यवहार सत्य** है । जिस प्रदार्थ में जिस धर्म की विशेषता हो उसे मुख्य गिन कर बोलना, जैसे कि भ्रमर (भौंरे) में पांचों वर्ण होने पर भी काला वर्ण (रंग) विशेष होने से भौंरे को 'काला' कहना, बगुले में शुक्ल रंग विशेष होने से उसे 'शुक्ल' (सफेद) कहना, वह **८- भाव सत्य** है । किसी पदार्थ का अन्य पदार्थ के साथ योग (सम्बन्ध) होने से उसे वैसा कहना, जैसे कि - दण्ड के योग से साधु को 'दण्डी' कहना आदि **९- योग सत्य** है, तथा उपमा का आरोप करना, जैसे कि - बड़े सरोवर को समुद्र , पुण्यवान मनुष्य को देवता अथवा शूरवीर को सिंह इत्यादि कहना वह **१०- उपमा सत्य** जानना ।

अब दस समाधि स्थान कहते हैं कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इत्थि कहाऽऽसण इन्दिअ निरिक्ख संसत्त वसहि वज्जण या ।
अइ माया हार पणी अ पुव्वरय सरण परिहारो ॥१॥
न य साए य सिलोगे मज्जिज्ज न सद्ध रूव गंधे य ।
इअ दस समाहि ठाणा सपरेसि समाहि कारणओ ॥२॥

अर्थात् – "पुरुष को स्त्री की या स्त्री को पुरुष की विकार जनक बातों का त्याग करना अथवा पुरुष को केवल स्त्रियों की सभा में कथा नहीं करना– यह प्रथम समाधि स्थान है, इसी तरह स्त्री के आसन पर पुरुष को और पुरुष के आसन पर स्त्री को नहीं बैठना चाहिए , उसका त्याग करना– वह दूसरा समाधि स्थान है, राग दृष्टि से स्त्री के राग जनक अंग उपांग आदि पुरुष को नहीं देखना या पुरुष के अंग– इन्द्रिय आदि स्त्री को नहीं देखना– यह तीसरा समाधि स्थान है, स्त्री, पशु नपुंसक आदि संयुक्त वसति – उपाश्रय में साधु को आश्रय नहीं लेना– यह चौथा समाधि स्थान है, अधिक मात्रा में– प्रमाण से अधिक आहार का त्याग करना– यह पांचवां समाधि स्थान है, स्निग्ध मादक आहार का त्याग करना– वह छठा समाधि स्थान है, पूर्व में गृहस्थावस्था में भोगे हुए विषयों का स्मरण नहीं करना– वह सांतवा समाधि स्थान है, शाता वेदनीय जन्य सुख में अथवा शाता को उत्पन्न कराने वाला शुभ रस– स्पर्श आदि विषयों के सुख में राग – मद नहीं करना– वह आठवां समाधि स्थान है । इसी तरह अपनी प्रशंसा, कीर्ति आदि का मद – अभिमान नहीं करना– वह नौंवा समाधि स्थान है, और शुभ शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय में आसक्ति नहीं करना– यह दसवां समाधि स्थान है । ये दस प्रकार के स्थान स्व–पर को समाधि उत्पन्न करवाते हैं, इसलिए इन दस को समाधि कहा है, तथा दस अधिकार को कहने वाले दस शास्त्र– वह दस दिशाएं कही हैं । यहां उन सब का नाम स्त्री लिंग से बहुवचनान्त है । उसका कारण यह है कि उन शास्त्रों को वैसे नाम से आगम में कहा गया है । वह इस प्रकार हैं –

कम्म विवागाण दसा, उवासगं तगड णुत्तर दसा य ।
पण्डा वागरण दसा, दसासु अक्खंध दसा य ॥१॥
बंधाइ दसा चउरो सेसा वक्खणिया न चुन्नीए ।
महव्वय कसाय चउजुअ तवेहिं दसहा समण धम्मो ॥२॥

अर्थात् '१– कर्म विपाक दशा, २– उपासक दशा, ३– अलंकृत दशा, ४– अणुत्तरोपपातिक दशा, ५– प्रश्न व्याकरण दशा, ६– दश श्रुतस्कंध दशा, ७– बंध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दशा, ८- द्विगृद्धि दशा, ९- दीर्घ दशा और १०- संक्षेपक दशा। इस तरह दस दिशा सूत्र जानना। उसमें अन्तिम चार दशा वर्तमान काल में अप्रसिद्ध होने से चूर्णि में इसे कहा नहीं गया है तथा पांच महाव्रतों का पालन, चार कषाय का त्याग और बारह प्रकार का तप- यह दस प्रकार से श्रमण धर्म समझना।

सामान्यत: सब कोई आशातनाओं को अथवा ग्यारह अंक से तीन गुणा अर्थात् पगाम सिज्जा में कही गयी तेतीस अशातनाओं का त्याग करने और उससे ही अर्थापत्ति से आशातना के भाव को प्राप्त करने वाले साधुता के गुणों से युक्त मैं पांच महाव्रतों का रक्षण - पालन करता हूँ। यह अर्थ पूर्व के अनुसार।

इस तरह से एक, दो आदि शुभ स्थानों को अंगीकार करते एवं अशुभ स्थानों का त्याग करते हुए महाव्रतों के रक्षण - पालन की प्रतिज्ञा की। अब नहीं किए शेष स्थानों का अति देश (प्रेरणा) करते हुए महाव्रत की प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं कि - इस प्रकार तीन लेश्या आदि का जैसे त्याग करते हुए इत्यादि कहा है, वैसे ही तीन दण्ड से विराम - रुका हुआ अर्थात् जैसे राजा दण्ड देकर धन हरण करता है वैसे ही अशुभ मन, वचन और काया भी चारित्र रुपी धन का अपहरण करने से उसे तीन दण्ड कहा है, उसका त्याग करते, मन, वचन और काया इन तीन करण से शुद्ध बना हूँ। यहां प्रश्न होता है कि - 'जो त्रिदण्ड विरत हो वह त्रिकरण शुद्ध भी माना जाता है तो फिर कहने का क्या कारण है ?' उसका सामाधान कहते हैं कि- त्रिदण्ड विरत अर्थात् सावध योग से निवृत्त और त्रिकरण शुद्ध अर्थात् निरवध योग में प्रवृत्त अथवा सावध प्रवृत्ति करने से रुकना- वह त्रिदण्ड विरति है और करना, करवाना, अनुमोदना रूप- तीनों से रुकना वह त्रिकरण की शुद्धि है, इस तरह भेद समझना अथवा गीतार्थों ने अन्य प्रकार से जैसा कहा हो वैसा भी भेद घटाना, क्योंकि- पूर्वर्षियों के शब्द अर्थ गम्भीर होते हैं। माया, निदान यही मिथ्यात्व है, ये तीन भाव शल्य = आत्मा को कष्ट देने वाले दुष्ट परिणाम दूर हुए, ऐसे शल्य रहित और तीन प्रकार से अतिचार करे नहीं करवाए नहीं और अनुमोदना नहीं की- इस तरह सर्व अतिचारों का प्रति क्रमण किया है जिसने अर्थात् सर्व अतिचारों से निवृत्त बना मैं **'रक्खामि महव्वए पंच'** = पांच महाव्रतों का रक्षण - पालन करता हूँ।

अब पांच महाव्रत की प्रतिज्ञा के बाद उसकी स्तुति कहते हैं -

"इच्चेइअं महव्वय उच्चारणं थिरत्तं सल्लुद्धरणं धिइबलं ववसाओ साहणट्ठो पाव निवारणं निकायणा भाव विसोही पड़ागा हरणं णिज्जूहणाराहणा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुणाणं संवर जोगो पसत्थ झाणोव उत्तया जुत्तया य नाणे परमट्ठो उत्तमट्ठो एस (खलु) तित्थंकरे हि रइ राग दोस महणेहिं देसि ओ पव यणस्स सारो छजीव निकायं संजमं उधए सिउं (यं) तेलुक्कसक्कयं ठाणं अब्भुव गया, णतु (नमो) त्थु ते सिद्ध बुद्ध मुत्त नीरय निस्संग माण मूरण गुण रयण सायर मणंत मप्पमेय नमोऽस्तु ते महइ महावीर ! वद्धमाणं सामिस्स, नमोऽत्थु ते अरहओ, नमोऽत्थु ते भगवओ त्तिकट्टु एसा खलु महव्वय उच्चारणा कया इच्छामो सुत्त कित्तण काउं ।''

व्याख्या - इच्चेइअं = इस प्रकार जो पूर्व में कहा है वह **महव्वय उच्चारणं** = महाव्रतों का उच्चारण (पालन) कैसा है ? अथवा इससे कैसा लाभ होता है ? वह कहते हैं कि **थिरत्तं** = महाव्रतों में अथवा चारित्र धर्म में वह स्थिरता का हेतु होने से आत्मा के धर्म में दृढ़ता करवाता है, **सल्लुद्धरणं** = शल्यों का नाश कराने में कारण रूप होने से मायादि तीन शल्यों का नाश करने वाला है, **थिइबलं**= धैर्य अर्थात्त चित्त से समाधि में बल - आलंबन देने वाला है, **ववसाओ** = दुष्कर आराधना में भी उद्यम कराने का अध्यवसाय आत्म में प्रगट करवाता है, **साहणट्ठो**= मोक्ष की साधना के लिए वह परम 'अर्थ' यानि उपाय है, **पाव निवारणं** = अशुभ पापकर्मों का वह निवारक = रुकाने वाला है । **निकायणा** = आत्मा को महाव्रतों की प्राप्ति का- स्पर्श होने का- अति दृढ़ कारण है अथवा शुभ कर्मों की निकाचना का कारण होने से उसे 'निकाचना' कहा है, **भाव विशोध** = भाव अर्थात् आत्म परिणाम, उसकी विशुद्धि करने के लिए भाव विशुद्धि है, **पडागा हरणं** = पताका अर्थात् चारित्र की आराधना रूप विजय ध्वज ग्रहण करने वाला है अर्थात् इन व्रतों के पालन रूप चारित्र आत्मा को कर्मों के सामने विजय करने वाला है, **निज्जूहरणा राहणा गुणाणा** = दूर कर देना अर्थात् कर्म रूपी शत्रुओं को आत्म रूपी नगर में से हमेशा के लिए बहिष्कार करने वाला है और मुक्ति के साधक संयम के व्यापार रूपी गुणों की आराधना यानि अक्षयता करने वाला है अर्थात् मुक्ति प्रापक व्यापार में अखण्ड प्रवृत्ति करने वाला है, **संवरजोगो** = नये कर्मों में रुकावट रूप संवर योग व्यापार है अथवा संवर के साथ में आत्मा का योग कराने वाला या आत्मा में संवर प्रगट करने वाला है, **पसत्थ झाणोवउत्तया** = प्रशस्त- श्रेष्ठ धर्म-शुक्ल ध्यान की प्राप्ति कराने वाला है, **जुत्तया य नाणे** = ज्ञान के साथ सम्बन्ध कराने वाला अर्थात् विशिष्ट 'अवधि' आदि ज्ञान एवं अन्त में आत्मा के अन्दर केवल ज्ञान को प्रगट कराने वाला है, **परमट्ठो** = इन महाव्रतों का उच्चारण करना ही सत्य पदार्थ है- ऐसा परमार्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ज्ञान कराने वाला है, **उत्तमट्ठो** = मोक्ष रुपी फल का साधन होने से अति श्रेष्ठ तत्त्व है, क्योंकि जगत् के सर्व पदार्थों में महाव्रत की प्रधानता है ।

तथा '**एस**' = यहां लिंग का व्यत्यय होने से इस महाव्रत का उच्चारण **तित्थं-करेहि पवयणस्स सारो देसिओ** = श्री तीर्थंकरों द्वारा देखा हुआ सिद्धान्त का सार - आगम का सर्वस्व है ऐसा सम्बन्ध है, तीर्थंकर कैसे होते हैं ? वह कहते हैं **रइ रागदोस महणेहिं** = मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला तथाविध आनंदरूप रति - चित्त का विकार तथा राग और द्वेष का मंथन (नाश) करने वाले श्री तीर्थंकर भगवन् होते हैं तथा **छज्जीव निकाय संजमं उघए सिउं तेलुक्कसक्कयं ठाणं अब्भुवगया** = छह जीव काय का संयम अर्थात् अहिंसा और उप लक्षण सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह- इन पांच महाव्रतों का उपदेश देकर एवं उपलक्षण से स्वयं भी पालन करके तीन जगत् में सत्कार प्राप्त करने वाले सिद्ध क्षेत्र रूप मोक्ष स्थान उन्होंने प्राप्त किया है ।

अब मंगल के लिए भगवान महावीर की स्तुति करते हुए कहते हैं कि - **नमोऽस्तुते** = हे वर्धमान स्वामी ! आप को नमस्कार हो । आप कैसे हो ? **सिद्ध** = सम्पूर्ण सर्व प्रयोजन - कार्य सिद्ध करने वाले **बुद्ध** = तत्त्व के जानकार, **मुक्त** = पूर्व में किए हुए कर्म रूप बन्धन से मुक्त हुए, **नीरज** = वर्त्तमान काल में जिसके कर्म बन्धन नये नहीं होते, **निस्संग** = पुत्र, स्त्री, मित्र, धन, धान्य, सुवर्ण आदि सारे संबन्धों से मुक्त, **माण मूरण** = गर्व - अभिमान को चकनाचूर करने वाले, **गुणरयण सायर**= अनंत गुण रूपी रत्नों का समुद्र, **मणंत** = इसके अन्दर प्राकृत भाषा की शैली से 'म' अलाक्षणिक होने 'अनन्तः' अर्थात् ज्ञान वाले भगवान को भी 'अनन्त' कहा है, **मप्पमेय** = सामान्य जन से न जाना जाए- इस तरह विशिष्ट स्वरूप वाले **नमोऽत्थु ते महइ महावीर ! वद्धमाण** = कर्मों का नाश करने में अति महान् वीर हे वर्धमान प्रभु! आप को नमस्कार हो, किस हेतु से नमस्कार करते हैं वह कहते हैं कि - **सामिस्स** = यहाँ छठी के स्थान पर विभक्ति का व्यत्यय होने से प्रथम विभक्ति करना, इससे आप मेरे स्वामी हो, **त्ति कट्टु** = इस कारण से आप को नमस्कार हो, इस प्रकार आगे भी त्ति कट्टु का सम्बन्ध सर्वत्र जोड़ना जैसे कि **नमोऽत्थु ते अरहओ**= आप अरिहंत हो, इस हेतु से आप को मेरा नमस्कार हो तथा **नमोऽत्थु ते भगवओ त्ति कट्टु** = आप भगवान हो, इस हेतु से आप को मेरा नमस्कार हो अथवा त्ति कट्टु को पर्याय मानकर 'तीन बार' अर्थ करके 'हे अति महान् वीर वर्धमान, मेरे स्वामी आप को तीन बार मेरा नमस्कार हो !' इस तरह 'अरिहंत आप को मेरा तीन बार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नमस्कार हो', और 'भगवान आप को मेरा तीन बार नमस्कार हो' ऐसा अर्थ करना चाहिए। यहां प्रभु स्तुति का प्रसंग होने से प्रत्येक वाक्य में तीन '**नमोत्थु ते**' कहने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता।

जैसे महाव्रतों की प्रतिज्ञा-स्तुति कर्मक्षय करने वाली है वैसे ही श्रुत कीर्तन भी कर्म क्षय करने वाला है, इसलिए श्रुत कीर्तन के लिए कहते हैं कि - **एसा खलु महव्वय उच्चारणा कया** = इस तरह निश्चय से पूर्व कहे अनुसार महाव्रतों का उच्चारण (प्रतिज्ञा) की, **इच्छामो सुत्त कित्तणं काउं'** = अब श्रुत की स्तुति करने के लिए इच्छा करते हैं। वह श्रुत दो प्रकार का है, एक अंग प्रविष्ट और दूसरा अंग बाह्य। कहा भी है कि -

गण हरकय मंग गय, ज कय थेरेहि बाहिरं तं तु ।
अंग पविट्ठं नियय अनिअ असुअं बाहिरं भणिअं ॥१॥

अर्थात् - गणधर कृत श्रुत वह 'अंग प्रविष्ट' और स्थविरों द्वारा रचित 'अंग बाह्य' कहलाते हैं। तथा जो श्रुत नियत हैं वह अंग प्रविष्ट और जो अनियत हैं उन्हें अंग बाह्य कहा है। यह अंग बाह्य भी दो प्रकार का है, एक आवश्यक और दूसरा आवश्यकता रहित, उस में अल्प वर्णन करने पहले नमस्कार करते हुए आवश्यक श्रुत की स्तुति करते हुए कहते हैं कि -

''नमो तेसि खमासमणाणं जेहि इमं बाइयं छव्विहमाण रसयं भगवंतं, तंजहा- सामाइयं चउवी सत्थओ, वंदणय पडिक्कमणं काउस्सग्गो पच्चक्खाणं सव्वेसिपि एयंमि छव्विह मावरसए भगवंते ससुत्ते सअत्थे संगधे सणिज्जुत्तीए ससंगह- णीए जे गुणा वा भावा वा अरिहंते हिं भगवंतेहि पण्णता वा परूविया वा ते भावे सद्दहामो पत्तियामो राएमो फासेमो पालेमो अणु पालेमो, ते भावे सद्दहं तेहि पत्तियंतेहि रोयंतेहि, फासंतेहि पालंतेहि अणुपालंतेहि अंतो पक्खस्सजं वाइयं पढियं परियट्टियं पुच्छियं अणुपेहियं अणुपालियं तं दुक्खक्खयाए, कम्मक्खयाए मोक्ख- याए बोहि लाभाए संसाररूत्तारणाए त्तिकुट्टु उपसंपज्जित्ता णं विहरामि। अंतो पक्खस्स जं न वाइयं न पढियं न परियट्टियं न पुच्छियं नाणु पेहियं नाणु पालियं संते बल संते वीरिए संते पुरिसक्कार परक्कमे तस्स आलोएमो पडिक्कमामो निदामो गरिहामो विउट्टेमो विसोहमो अकरणयाए अब्भुट्टेमो अहारिहं तवो कम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जामो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब आवश्यक से भिन्न के दो भेद कहे गये हैं– एक उत्कालिक और दूसरा कालिक । उसमें प्रथम उत्कालिक की स्तुति करते हैं –

''नमो तेसि खमासमणाणं जेहिं इमं वाइयं अंग बाहिरं उक्कालियं भगवंत, तंजहा - दस वेयालियं कप्पियाकप्पियं चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं उववाइयं रायपसेणियं जीवाभिगमो पण्णवणा महापण्णवणा नदी अणु ओगदाराइं देविदत्थओ तंदुल वे आलियं चंदा विज्झयं पमायप्पमायं पोरिसि मंडलं मंडलप्पवेशो गणि विज्जा विज्जा चरण विणिच्छओ झाण विभत्ती, मरण विभत्ती आया विसोही संलेहणा सुयं वीयराय सुयं विहार कप्पो चरण विही आउर पच्चक्खाणं महापच्चक्खाणं सव्वे सिंपि एयंमि अंग बाहिरे उक्कालिए भगवंते० ।'' शेष पूर्ववत् ।

अब कालिक श्रुत की स्तुति कहते हैं –

''नमो तेसिं खमासमणाण जेहिं इमं वाइयं अंग बाहिरं कालियं भगवंतं तंजहा - उत्तरज्झयणाइं दसाओ कप्पो ववहारो इसि भासियाइं निसीहं महा निसीहं जंबू द्दीव पण्णत्ती चंद पण्णत्ती सूर पण्णत्ती दीव सागर पण्णत्ती खुड्डिया विमाणय विभत्ती महल्लिया विमाणय विभत्ती अंग चूलियाए वग्गचूलियाए विवाह चूलियाए अरुणो ववाए, धरणो ववाए वरुणो ववाए गरूलो ववाए वेलंधरो ववाए वेसमणो ववाए देविंदो ववाए उट्ठाण सुए समुट्ठाण सुए नागपरिया वलियाणं निरया वलियाणं कप्पियाणं कप्पवडिसयाणं पुप्फियाणं पुप्फ चूलियाणं वण्हियाणं वण्ही दसाणं आसी विस भावणाणं दिट्ठो विस भावणाणं चारण भावणाणं महासुमिण भावणाणं तेयग्गि निसग्गाणं सव्वे सिंपि एअंमि अंग बाहिरे कालिए भगवंते० ।'' शेष पूर्ववत् ।**

अब अंग प्रविष्ट श्रुत की स्तुति करते हैं –

''नामो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइयं दुवाल संगं गणि पिडगं भगवंत तंजहा - आयारो सूयगडो ठाणं समवाओ विवाह पण्णत्ती णाया धम्म कहाओ उवासग दसाओ अंतगड दसाओ अणुत्तरो ववाइय दसाओ पण्डा वागरणं विवाग सुयं दिट्ठिवाओ सव्वे सिंपि एयंमि दुवालसंगे गणि पिडगे भगवंते० ।'' शेष पूर्ववत् ।

अब इस सूत्र के दाताओं की और आराधकों की स्तुति एवं अपने प्रमाद का परिहार करते हुए कहते हैं कि –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइयं दुवाल संगं गणि पिडगं भगवंतं सम्मं काएणं फासंति पालंति पूरंति सोहंति तीरंति किट्टंति सम्मं आणाए आराहंति, अहं च नाराहेमि तस्स मिच्छामिदुक्कडं ।"

व्याख्या = नमो तेसि खमासमणाणं = नमस्कार हो उस 'क्षमा श्रमण' अर्थात् अपने गुरु अथवा तीर्थंकर - गणधर आदि पूर्व महापुरुषों को, **जेहिं इमं** = जिन्होंने इस श्रुत को **'वाइयं'** = हम को दिया है अथवा सूत्र तथा अर्थ रूप में रचना की है । कौन से श्रुत को ? **छव्विहमावस्सयं** = अवश्य करने योग्य छह अध्ययन रूप आवश्यक को, **भगवंतं** = अतिशय युक्त पदार्थों का वर्णन रूप (भग) समृद्धि आदि गुण वाले को, वे छह आवश्यक अध्ययन इस तरह हैं **१ - सामाइय** = सामायिक सूत्र - पाप योगों का त्याग जिसमें मुख्य है वह अध्ययन, इसी तरह **२- चउवीसत्थओ** = लोगस्स सूत्र - श्री ऋषभादि चौबीस जिनेश्वरों की नाम पूर्वक जिसमें गुण स्तुति रूप अध्ययन, **३- वंदणय** = गुरु वंदन सूत्र - गुणवंत की प्रतिपचि रूप विनय जिसमें है ऐसा अध्ययन, **४- पडिक्कमण** = प्रतिक्रमण सूत्र, अपनी स्खलना - भूलों की निंदा बताने वाला अध्ययन, **५- काउस्सग्गो** = धर्मरूपी काया में लगी हुई अतिचार रूपी चोट हो तो उसकी शुद्धि करने वाला अध्ययन है और **६- पच्चक्खाणं** = विरति गुण साधक अध्ययन है अर्थात् उपवास आदि पच्चक्खान उसमें हैं, **सव्वे सिंपि एयंमि छव्विह भावस्सए भगवन्ते** = भगवन्त ने छह प्रकार के आवश्यक में, कैसे आवश्यक में ? उसे कहते हैं - **ससूत्ते** = मूल सूत्र रूप आवश्यक में, **सअत्थे** = अर्थयुक्त आवश्यक में, **संगथे सणिज्जुत्तीए ससंगहणीए**= ग्रंथ सहित निर्युक्ति सहित और संग्रहणीय सहित आवश्यक में, उसमें केवल सूचन व बीज स्वरूप जो पाठ है, वह 'सूत्र' जानना, वृत्ति और टीका से जो वर्णन किया हो वह 'अर्थ' जानना, अखंडित सूत्र और अर्थ दोनों प्रकार का जो पाठ हो उसे 'ग्रन्थ' कहते हैं, विविध अनुक्रमणिकादि विस्तार पूर्वक जो पाठ हो वह निर्युक्ति है और बहु अर्थ का जिसमें गाथाबद्ध संग्रह किया हो वह संग्रहणी कहलाता है, इन सब से युक्त सारे आवश्यक में **'जे गुणा वा** = विरति के और जिनेश्वर गुणों का उत्कीर्तन अर्थात् स्तुति आदि गुणधर्म, यहां **वा** उत्तर पद जोड़ने के लिए है इससे **भावा वा**= और क्षायोपशमिक क्षायिक आदि आत्मा के भाव, अथवा जीव-अजीव आदि पदार्थ भी, **अरिहंते भगवंते हि पण्णत्ता** = अरिहंत भगवन्तों ने सामान्य रूप से कहा है (वा पद प्रत्येक पद के समुच्चय अर्थ में है) **परुविआ वा** = विशेष रूप में कहा है, **ते भावे** = उस भाव को उपलक्षण से उस गुण को भी **सद्दहंते हिं** = 'यह इसी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार ही है' इस तरह सामान्य रूप से श्रद्धागत करते हैं, **पत्तियंतेहि** = प्रीति करने रूप विशेषतया स्वीकार करते हैं, **रोयंतेहि** = उन भावों में प्रिय आचरण करने की अभिलाषा करते हैं, **फांसतेहि** = केवल उसकी हुई क्रिया द्वारा उस भाव को स्पर्श करते हैं, **पालंतेहि** = रक्षण करते हैं, **अणुपालंतेहि** = बार बार उन भावों का रक्षण करते हैं, इन बहुवचनान्त पदों से कर्त्ता रूप में 'हम' पद की योजना करना अर्थात् उन गुणों और भावों में हम श्रद्धा-प्रीति-प्यार करते, स्पर्श-रक्षण और बारम्बार उन भावों का रक्षण करते हैं। इस तरह गुण और भाव में **अन्तो पक्खस्स** = इस पक्ष-पखवारे में, **जं वाइयं** = अन्यों ने जो जो श्रुत दिया हो, **पढिय** = जो स्वयं पढ़ा, **परिअट्टियं** = जिस मूल सूत्र से परावर्तन किया हो, **पुच्छियं** = पूर्व में पढ़े सूत्र अर्थ आदि में शंका आदि हो उसे पूछना, **अणु पेहियं** = विस्मरण के भय से अर्थ का चिन्तन किया और **अणुपालिय** = पूर्व कहे अनुसार पढ़ाने-पढ़ने से, परावर्तन करने से, पूछने से और अर्थ चिन्तन से अतिचार रहित आराधना की, **जं दुक्खक्खयाए**= वह हम को शरीरिक - मानसिक दु:खों का नाशक होगा, यह प्रत्येक पद में समझना, **कम्मक्खयाए** = ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का नाश होगा, **मोक्खयाए** = परम कल्याण मोक्ष का कारण होगा, **बोहि लाभाए** = अन्य जन्म में सद् धर्म की प्राप्ति करवायेगा, **संसारूत्तारणाए** = संसार में परिभ्रमण से पार उतारेगा, इस तरह हमको पूर्व कहे अनुसार लाभ होगा- इतना अधिक समझना, **त्ति कट्टु** = इस हेतु से उवसंपज्जिता णं विहरामि' = उसे हम अंगीकार करते हैं अर्थात् इस तरह वह वाचना, पठन, परावर्तन, पृच्छा आदि रूप आराधना करते हम 'मास कल्प' आदि साधु विहार के कल्प अनुसार रहते हैं। यहां '**णं**' पद वाक्य की शोभा के लिए है।

तथा **अंतोपक्खस्स जं न वाइयं न पढियं न परिअट्टिय न पुच्छियं नाणु पेहियं नाणु पालियं** = इस पखवारे में पढ़ा या नहीं, पढ़ा नहीं, मूलसूत्र से आवर्तन नहीं किया, पूछा नहीं, अर्थ चिन्तन न किया और इस तरह यथार्थ आराधना नहीं की, वह भी **संते बले** = शारीरिक - प्राण - इन्द्रिय का बल-पराक्रम होने पर भी, **संते वीरिए** = आत्म का उत्साह जन्य बल-वीर्य होने पर भी और **संते पुरिसक्कार परक्कमे** = पुरुषाभिमान की सफलता रूप पराक्रम होने पर भी जो वाचनादि से आराधना न की हो **तस्स आलोएमो** = हमने जो अवाचनादि प्रमाद किया हो उसे गुरु के समक्ष बताकर स्वीकार करते हैं **पडिक्कमामो** = प्रतिक्रमण (मिथ्या दुष्कृत) करते हैं, **निंदामो** = आत्म साक्षी पश्चात्ताप करते हैं, **गरिहामो** = गुरु के समक्ष निंदा करते हैं, **विउट्टेमो** = विशेष रूप में उसकी परम्परा का विच्छेदन करते हैं, **विसोहेमे**=

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उस प्रमाद से सर्व प्रकार से आत्म शुद्धि करते हैं, **अकरणयाए अब्भुट्ठेमो** = पुनः नहीं करने का निश्चय करते हैं और **अहारिहं** = अपराध के अनुसार यथोचित, **तवोकम्मं** = निवि आदि तप को करते हैं, यह तप ही पाप का छेदन करने वाला होने से, **पायच्छित्तं** = प्रायश्चित्त को, **पिडवज्जामो** = स्वीकार करते हैं तथा **तस्स मिच्छामि दुक्कडं** = उसका अर्थात् बलवीर्य, पराक्रम होने पर भी यदि वाचन-पठन आदि नहीं किया हो तो उस अपराध का 'मिच्छामि दुक्कडं' देते हैं, इसके अनुसार आवश्यक श्रुत का कीर्तन किया।

अब आवश्यकता रहित अंग बाह्य श्रुत का कीर्तन करने के लिए कहते हैं, वह भी दो प्रकार का है- एक कालिक और दूसरा उत्कालिक, उसमें जिस दिन और रात के प्रथम और अन्तिम में पढ़ सकता हो फिर भी उसमें अस्वाध्याय न हो तब ही पढ़ सकता है। इस तरह पढ़ने के काल से बद्ध वह कालिक और जो चार संध्या रूप काल (समय) और पांच प्रकार के अस्वाध्याय बिना किसी भी समय में पढ़ सकते हैं, उसे उत्कालिक कहा है। यह पांच प्रकार का अस्वाध्याय १- संयमघाती, २- औत्पातिक (उल्कापातादि), ३- सूर्य-चन्द्र के ग्रहण आदि सादिव्य, ४- व्युदग्रह (युद्धादि) और ५- शरीरिक मृतकादि अशुचि निमित्तक जानना। इन आवश्यक व्यतिरिक्त अंग ब्राह्य के दो भेद में से प्रथम उत्कालिक का वर्णन करते हैं कि -

नमो तेसि खमासमणाणं जेहिं इमं वाइयं अंग बाहिरं उक्कालियं भगवंत, तंजहा = उस क्षमा श्रमण को नमस्कार हो ! जिन्होंने यह भगवत् अंग बाह्य उत्कालिक श्रुत हमको दिया है, अथवा सूत्रार्थ उभयतया रचना की है, उस श्रुत के नाम इस प्रकार हैं- १- **दसवेयालियं** = दशवैकालिक, श्री शय्यंभव सूरि जी ने महात्मा मनक मुनि की आराधना के पूर्व श्रुत में से निकाला है, उसके अध्ययन दस होने से 'दश' और 'मध्याह्न के बाद सूर्यास्त से पहले' इस तरह विकाल समय में रचना होने से 'वैकालिक' ऐसा 'दश+वैकालिक' नाम रखा है। श्री संघ की विनती से भावी जीवात्मा के उपकारार्थ उसका उपसंहार न करके आज तक विद्यमान रखा है। २- **कप्पियाकप्पियं** = कल्प और अकल्प भावों का विवेक उसमें बताया गया है। ३- **चुल्लकल्पसूयं, ४ महाकल्पसूयं** = कल्प अर्थात् आचार यानि स्थविर कल्प, जिन कल्प आदि साधुओं के आचारों को बताने वाला सूत्र, ग्रन्थ तथा अर्थ जिसमें अल्प हों वह 'लघु कल्प सूत्रों और उसकी अपेक्षा से ग्रन्थ, सूत्र तथा अर्थ जिसमें विस्तृत हों वह 'वृहत्कल्प श्रुत' है इस तरह दोनों का भेद जानना। ५- **उववाइयं** = उपपात अर्थात् देव-नरक रूप में उत्पन्न होना या आत्मा का सिद्ध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थान में जाना। इस उपपात को उद्देश्य लेकर रचना होने से 'ओपपातिक' नाम है, श्री आचारांग सूत्र का उपांग है। श्री आचारांग सूत्र के प्रथम 'शस्त्र परीक्षा' अध्ययन के पहले उद्देश में **'एव मेगंसिं नो नायं भवइ, अत्थि मे आया उववाइय०'** इत्यादि सूत्र है– उसका विस्तार इस औपपातिक सूत्र में है। ६– **रायपसेणियं** = प्रदेशी राजा के प्रश्नों के अनुलक्षी द्वारा दिये गये उत्तर रूप रचना है, दूसरा सूत्र कृतांग सूत्र का 'राज प्रश्नीय' नाम का उपांग है, ७– **जीवाभिगमो** = इस जीव का और अजीव का वर्णन होने से 'जीवाभिगम' नाम है, तीसरा श्री स्थानांग सूत्र का उपांग है। ८– **पण्णावणा** और ९– **महापण्णावणा** = इन दोनों में जीवादि पदार्थ का प्रज्ञापन अर्थात् निरूपण है। वह सामान्य होने से पहले को 'प्रज्ञापना' और दूसरे में विस्तृत होने से उसे 'महाप्रज्ञपना' कहा गया है। ये दोनों श्री समवायांग सूत्र के उपांग हैं। १०– **नंदी** = भव्य जीवों को नन्दी अर्थात् आनंद कराने वाला होने से 'नन्दी' सूत्र है, मति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान का स्वरूप बताने वाला एक अध्ययन (ग्रन्थ) विशेष है। ११– **अणु ओगदाराइं** = अनुयोग अर्थात् व्याख्यान। उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय, इन चारों द्वारों का स्वरूप बताने वाला होने से अनुयोग द्वार नामक एक अध्ययन (ग्रन्थ) है। १२– **देविंदत्थओ** = देवों के इन्द्र चमेरन्द्र, वलीन्द्र आदि के स्तवन अर्थात् उनका जन्म, आयुष्य आदि और उनका स्वरूप इत्यादि विषयों का बताने वाला होने से उसका नाम 'देवेन्द्रस्तव' है। १३– **तंदुलवेआलियं** = सौ वर्ष के आयुष्य वाले पुरुष द्वारा प्रतिदिन भोग्य तन्दुल के दानों की संख्या का जिसमें विचार किया है, वह 'तंदुलवैचारिका' नामक एक ग्रन्थ है। १४– **चंदाविज्झयं** = चन्द्र अर्थात् राधा नाम की यांत्रिक पुतली की आंख का तारा, उसकी मर्यादापूर्वक वेध– वह 'राधावेध' जानना, उसकी उपमा द्वारा मृत्यु समय की आराधना को बताना वाला 'चन्द्रावेध्यक' नामक एक ग्रन्थ है। १५– **पमायप्पमायं** = प्रमाद और अप्रमाद का स्वरूप, दोनों के भेद, फल और उससे होने वाले सुख–दुःख का अनुभव आदि कहने वाला होने से 'प्रमादाऽप्रमाद' नामक एक ग्रन्थ है। १६– **पोरिसिमंडल** = प्रतिदिन पोरिसी का समय उसमें निरूपण किया गया है। यहां सर्व वस्तु की अपने अपने प्रमाण छाया जब हो तब पौरुषी (पुरुष प्रमाण छाया वाला समय) होता है, ऐसा प्रमाण उत्तरायण और दक्षिणायन में एक–एक दिन में ही आता है, उसके बाद ८/११ अंगुली प्रतिदिन दक्षिणायन में बढ़ता है और उत्तरायण में घटता है। इस तरह सूर्य के प्रत्येक मंडल में पोरिसी का अलग अलग–समय कहने वाला ग्रन्थ है। इससे उसका नाम 'पोरिसी मण्डल' है। १७– **मंडलप्पवेसो** = इसमें चन्द्र और सूर्य के दक्षिण और उत्तर दिशा के मंडल में प्रवेश का वर्णन किया गया है, इससे इस ग्रन्थ को भी 'मण्डल प्रवेश' कहा है। १८– **गणि विज्जा** = गण अर्थात् साधु का अथवा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुण का समुदाय, वह जिसमें हो वह गणि अर्थात् आचार्य, उनकी उपयोगी विद्या का जिसमें वर्णन किया गया है– उस ग्रन्थ का नाम भी 'गणि विद्या' अर्थात् दीक्षा देना आदि कार्यों में उपयोगी शुभ, तिथि, करण, नक्षत्र आदि ज्योतिष का और लक्षणादि निमित्त का ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ विशेष है । १६- **विज्जाचरण विणिच्छओ** = विद्या अर्थात् सम्यग् दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान और चरण अर्थात् चारित्र के विशेष निश्चय को बताने वाले ग्रन्थ का नाम भी 'विद्याचरणविनिश्चय' है । २०- **झाणं विभत्ती** = आर्त्तध्यानादि चार ध्यान का विभाग जिसमें वर्णन किया गया है उस ग्रन्थ का नाम भी 'ध्यानविभक्ति' है । २१- **मरण विभत्ती** = आवीचि आदि १७ प्रकार की मृत्यु का इसमें प्रतिपादन विभाग है । अत: इस ग्रन्थ का नाम 'मरण विभक्ति' है, २२- **आयविसोही** = जीव के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित्त द्वारा कर्मों का नाश करने से विशुद्धि करने के उपायों का इसमें वर्णन किया गया है । अत: ग्रन्थ का नाम 'आत्म विशुद्धि' है । २३- **संलेहणासुयं** = द्रव्य और भाव– इस तरह दोनों प्रकार की संलेखना का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ का नाम 'संलेखनाश्रुत' है । उसमें द्रव्य संलेखना अर्थात् चार वर्ष विचित्र तप, चार वर्ष विगइयों का त्याग इत्यादि बारह वर्ष तक शरीर को कृश बनाने की प्रक्रिया और भाव संलेखना अर्थात् क्रोधादि कषाय को जीतने के लिए क्षमादि का अभ्यास करना । २४- **वीयराग सुयं** = सराग अवस्था के त्याग सहित आत्मा के वीतराग स्वरूप को बताने वाले ग्रन्थ का नाम 'वीतरागश्रुत' है । २५- **विहार कल्पो** = विहार अर्थात् आचरण, उसका कल्प अर्थात् व्यवस्था अर्थात् जिसमें 'स्थविर कल्प' आदि साधुता के विविध आचारों का वर्णन है– वह ग्रन्थ 'विहार कल्प' है । २६- **चरणविही**= श्रमणधर्म आदि चरण सित्तरी को बताने वाले ग्रन्थ का नाम 'चरण विधि' है । २७- **आउरपच्चक्खाणं** = आतुर अर्थात् क्रिया में अशक्त बना ग्लान, उसका पच्चक्खान जिस ग्रन्थ में है उसका नाम 'आउरपच्चक्खान' है । उसमें ऐसी विधि है कि – 'गीतार्थ गुरु ग्लान को क्रिया करने में अशक्त बना जान कर दिन प्रतिदिन आहारादि द्रव्यों को कम कराते हुए अन्त में सर्व द्रव्यों की ओर वैराग्य प्रगट करवाकर भोजन की इच्छा को निवृत्त करे । इस तरह निवृत्त बने महात्मा मुनि को अन्त में चारों आहार का सर्वथा त्याग करवा दे ।' इत्यादि विधि को बताने वाला यह ग्रन्थ है । २८- **महापच्चक्खाणं** = बड़े पच्चक्खान का वर्णन इस ग्रन्थ में विशेष है । इसमें स्थविर कल्प अथवा जिन कल्प का पूर्ण पालन करके अन्त में स्थविर कल्पिक मुनि बारह वर्ष तक संलेखना करके और जिन कल्पिक मुनि विहार करते हुए यथायोग्य संलेखना करके अन्त में 'भवचरिम' नामक महापच्चक्खान करे, इत्यादि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है । अत: इस ग्रन्थ का नाम 'महापच्चक्खान' है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह उत्कालिक श्रुत यहां अट्ठाईस कहे । **सव्वेसिंपि एअंमि अंग बाहिरे उत्कालिए भगवंते इत्यादि** = यह उपर्युक्त सर्व प्रकार के अंग बाह्य उत्कालिक श्रुत में जो सूत्र, अर्थ, ग्रन्थ, निर्युक्ति और संग्रहणीय सहित है, उसमें जो गुण अथवा भाव श्री अरिहंत परमात्मा ने सामान्य और विशेष रूप में कहा है, उस भाव को हम श्रद्धागत करते हैं । उसमें प्रीति, रुचि, उसका पालन, स्पर्श और अनुपालन करते हैं । उन भावों में श्रद्धा, प्रीति, रुचि तथा उसका स्पर्श, पालन और बारम्बार पालन करते हुए हमने पखवारे में अन्य को जो कोई पढ़ाया हो, स्वयं पढ़ा हो, सूत्र का परावर्तन किया, शंका को पूछा, अर्थ का चिन्तन एवं इस तरह सर्व प्रकार से आराधना की हो– वह सब हमारे दु:ख–कर्म का क्षय करेगा, हमारी मुक्ति करेगा, अन्य जन्म में सम्यग् धर्म की प्राप्ति करवायेगा और भव (संसार) भ्रमण से पार उतारेगा । इस कारण से उसे स्वीकार, बारम्बार अनुमोदनादि करते हुए हम लोग आचरण करते हैं । इस पखवाड़े में यदि न पढ़ाया हो, स्वयं न पढ़ा हो, सूत्र परावर्तन न किया, प्रश्न न किया, अर्थ चिन्तन नहीं किया, शरीर बल, उत्साह और पराक्रम होने पर भी यदि आराधना नहीं की– उस प्रमाद रूप अतिचार की आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, परम्परा का विच्छेद और विशुद्धि करते हैं । पुन: यह प्रमाद नहीं करने का निश्चय करते हैं । और उस प्रमाद रूप अनाराधना के योग्य तप नामक प्रायश्चित्त अंगीकार करके उस पाप को 'मिथ्या दुष्कृत' करते हैं, आदि । शेष अर्थ पहले के अनुसार जानना ।

अब कालिक श्रुत का उत्कीर्तन करते हुए कहते हैं कि – "**नमो तेसि खमासमणाणं जेहि इमं वाइयं अंग बाहिरं कालियं भगवंतं तंजहा** = उन हमारे गुरु महाराज अथवा श्री जिनेश्वर गणधर आदि क्षमा श्रमण को नमस्कार हो, जिन्होंने यह भगवत् अंग बाह्य कालिकश्रुत हमको दिया, अथवा सूत्र आदि और उभयतया जिन्होंने रचना की । उस श्रुत के नाम इस प्रकार है **१– उत्तरज्झयणाइं** = उत्तर अर्थात् मुख्य अथवा पहले श्री आचारांग सूत्र के ऊपर, 'उत्तर' अर्थात् विशेषता में कहना, विनय अध्ययन आदि छत्तीस अध्ययन वाला वह ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र है । **२– दसाओ** = दस अध्ययनात्मक ग्रन्थ, जिसका प्रसिद्ध नाम 'दशाश्रुत स्कन्ध' है। **३– कप्पो** = स्थविर कल्प, जिन कल्प आदि कल्प, अथवा कल्प अर्थात् साधु के आचार का प्रतिपादक ग्रन्थ 'कल्प' है **४– ववहारो** = प्रायश्चित्त सम्बन्धी व्यवस्था को बताने वाला ग्रन्थ 'व्यवहार सूत्र' है । **५– इसिभासियाइं** = ऋषि अर्थात् प्रत्येक बुद्ध, साधु । वह श्री नेमिनाथ भगवान के तीर्थ में 'नारद' आदि बीस, श्री पार्श्वनाथ स्वामी के तीर्थ में पंद्रह और वर्धमान स्वामी के तीर्थ में दस– इस तरह कुल पैंतालीस कहे गये श्रमण आदि विषय के पैंतालीस अध्ययन उस 'ऋषि भाषितानि' ग्रन्थ में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जानना। ६- **निसीह** = निशीथ अर्थात् मध्य रात्रि, उसमें जैसे वस्तु रहे वैसे गुप्त रखने योग्य रहस्य- भूत अध्ययन जो गीतार्थी के अतिरिक्त सामान्य साधु को पढाने योग्य नहीं वह 'निशीथ' अर्थात् श्री आचारांग सूत्र की पांचवीं चूलिका। इस लघु निशीथ की अपेक्षा से मूल ग्रन्थ और अर्थ जिसमें महान है वह ७- **महानिसीहं** = 'वृहद् निशीथ सूत्र' है। ८- **जंबूद्दीव पण्णत्ती** = इसमें जम्बू द्वीप आदि का स्वरूप बताया गया है, इसलिए इस ग्रन्थ का नाम 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' है। ९- **चन्दपण्णत्ती** = चन्द्र द्वारा अपने मंडल में परिभ्रमण आदि बताने वाला ग्रन्थ यह 'चन्द्र प्रज्ञप्ति' है। १०- **सूर्य पण्णत्ती** = सूर्य का मंडल और उसके परिभ्रमण आदि बताने वाला ग्रन्थ यह 'सूर्य प्रज्ञप्ति' है। कोई इसे उत्कालिकश्रुत में गिनते हैं, क्योंकि नन्दी सूत्र में उसे उत्कालिक में गिना है। ११- **दीवसागर पण्णत्ती** = असंख्यात् द्वीप और असंख्यात् समुद्रों का उसमें वर्णन है। उस ग्रन्थ का नाम 'द्वीप सागर प्रज्ञप्ति' है, १२- **खुड्डिया विमाणपविभत्ती**, १३- **महल्लिया विमाणपविभत्ती** = वैमानिक देवों का श्रेणिगत और प्रकीर्णक विमानों का विभाग जिसमें वर्णन किया गया है वह एक 'लघु विमान प्रविभक्ति' है और दूसरा अधिक सूत्र तथा अर्थ वाला 'बड़ा विमान प्रविभक्ति' नामक ग्रन्थ है। १४- **अंगचूलियाए** = आचारांग आदि अंग सूत्रों की चूलिका (आचारांग सूत्र पर अनेक चूलिका हैं) यह 'अंग चूलिका' अर्थात् मूल ग्रन्थ में कहे के अतिरिक्त विशेष अर्थ का संग्रह उसमें किया गया है, वह 'चूलिका' जानना। १५- **वग्गचूलियाए** = वर्ग अर्थात् अध्ययन आदि का समूह, जैसे कि श्री अन्तगडदशासूत्र में आठ वर्ग हैं, वैसे वर्ग इस चूलिका में होने से 'वर्ग चूलिका' जानना। १६- **विवाह चूलियाए** = यहां विवाह शब्द से विवाह प्रज्ञप्ति अर्थात् पांचवां अंग श्री भगवती सूत्र की चूलिका वह 'विवाह (व्याख्या) चूलिका' है। १७- **अरुणोववाए** = अरुण नामक देव तथा उसके सिद्धान्त (कल्प-आचार) को बताने वाले तथा उसके उत्पात में हेतुभूत ग्रन्थ को 'अरुणोपपात' कहते हैं। जब साधु उपयोग पूर्वक उसका आवर्तन (पाठ) करते हैं, तब अपना आसन कम्पाय मान होते, वह ग्रन्थ अपने आचारो को जानने वाला होने से संभ्रमित होकर अरुणदेव अवधि ज्ञान से उसके आवर्तन का कारण जानकर अतीव हर्षित होकर, जहां साधु हो, वहां जाकर भक्तिपूर्वक पुष्पवृष्टि आदि कर शासन की प्रभावना करता है तथा संवेग की शुद्धि वाला वह देव उस ग्रन्थ को उपयोग पूर्वक सुनता है और साधु को वरदान मांगने के लिए कहता है, जब साधु निःस्पृहता बताता है तब अधिक संवेग वाला होकर वह देव तीन प्रदक्षिण देकर नमस्कार करता वापिस जाता है इसी ही तरह- १८- **वरुणोववाए**, १९- **गरुलोववाए**, २०- **धरणोववाए**, २१- **वेलंधरोववाए**, २२- **वेसमणोववाए**, २३- **देविंदोववाए** = ये छह ग्रन्थों का भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वरूप इसी तरह जानना केवल उन देवों का वह नाम समझना और पाठ करने से उनका आगमन आदि उसी तरह जानना । २४. **उट्ठाण सूए** = उत्थान श्रुत नामक अध्ययन जब संघ का कोई विशिष्ट कार्य आ जाय तब किसी कुल, गाँव, शहर, राजधानी आदि के उपद्रव से बचने के लिये आवेश युक्त साधु अप्रसन्न मन से विषम-अशुभ आसन से उत्थान श्रुत का परावर्तन (पाठ) एक, दो अथवा तीन बार यदि करे तो संकल्पित कुल, गांव या राजधानी आदि जो भयभीत करता हो, वह शीघ्रतया नाश हो जाय । ऐसा कार्य संघ आदि की रक्षा के लिए किसी तथाविध योग्य साधु को करने का होता है, पुनः इस उपद्रव को शान्त करने के लिए उसका परावर्तन करे, वह श्रुत है । २५. **समुट्ठाण सूए** = समुत्थान श्रुत नामक अध्ययन जानना, इसका परावर्तन करने से पुनः सर्व लोग निर्भय, स्वस्थ, शान्त होते है । २६. **नाग परियावलियाण** = नाग अर्थात् नाग कुमार देव, उसके सिद्धान्त अर्थात् कल्प-आचार को बताने वाला अध्ययन विशेष, उसका नाम 'नागपर्यावलिका' है । जब साधु उपयोग पूर्वक उसका परावर्तन करे, तब उन देवों का संकल्प न करने पर भी वह नाग कुमार अपने स्थान पर रहे हुए उसे जाने, वन्दन-नमस्कार करे, बहुमान करे और संघ आदि के कार्य के लिए उसका वरदान होता है । २७. **निरयावलियाणं**= श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक नरकावास तथा वहाँ भविष्य में उत्पन्न होने वाले तिर्यंच और मनुष्य आदि, उन नरकाधिकार जीवों का जिसमें वर्णन है, वह 'निरयावलिकाए' कहलाती है । २८. **कप्पियाणं** = सौधर्म आदि कल्पो-देवलोक का उसमें वर्णन है, उस सूत्र श्रेणि को 'कल्पिकाए' कहा है । २९. **कल्पवडि सयाणं** = सौधर्म और ईशान देवलोक में कल्प प्रधान जो विमान है वह 'कल्पावतंसक' कहलाता है । उसमें उत्पन्न होते देव देवियों में जो जो स्वविशिष्ट तप से उत्पन्न होता है और जो सविशेष ऋद्धि को प्राप्त करता है, उन भावों का वर्णन विस्तारपूर्वक उसमें है, उस ग्रन्थश्रेणि को 'कल्पावतंसिकाए' कहते हैं । ३०. **पुप्फियाणं** = जीव गृहवास के बन्धनों का त्याग और संयम भाव से पुप्पित-सुखी होता है, पुनः संयम भाव के त्याग से अशुभ कर्मो का बंधन कर दुःखों से हलका बनता है । पुनः उसके त्याग से शुभ भाव से पुष्प के समान खिलता है, आत्म विकास साधता है । उन विषयों का प्रतिपादन करने वाली सूत्रश्रेणि 'पुप्पिकाए' कहलाती है । ३१. **पुष्फ चूलियाणं** = पहले कहा उस पुप्पिकाओं के विषय को विस्तार पूर्वक बताने वाली चूलिकाओं को 'पुष्पचूलिकाएं' कहते हैं । ३२. **वण्हियाणं** = और ३३. **वण्हि दसाणं** = वृष्णी अर्थात् अन्धकवृष्णी राजा का वर्णन जिसमें किया है उसे 'वृष्णिकाए' कही है और वह संख्या से दस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होने से उसे 'वृष्णि दशाए' कहा है । **३४. आसीविस भावाणाणं** = आसी अर्थात् दाढ़, में जिसे विष हो वह 'आशीविष' कहलाता है । उसके जाति और कर्म से दो भेद होते हैं, उसमें बिच्छू, मेढक, सर्प और मनुष्य आदि को जाति आशी विष जानना। उसमेंअनुक्रम से बिच्छू का जहर उत्कृष्ट से आधा भरत क्षेत्र जितना शरीर में होता है, मेढक का जहर सम्पूर्ण भरत जितना शरीर में होता है, सर्प का जहर जम्बूद्वीप जितना शरीर में और मनुष्य का जहर उत्कृष्ट से अढाई द्वीप जितना शरीर में व्याप्त हो सकता है । इस तरह पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य और उसके उपरान्त अपर्याप्त अवस्था वाले पूर्वजन्म की लब्धि वाले सहस्रार तक के देव भी तपस्या से अथवा अन्य किसी शक्ति से आशीविष जाति के बिच्छू सर्प आदि के समान शाप आदि देकर दूसरों का नाश कर सकता है इसलिए वह कर्म से आशीविष कहलाता है । दोनों प्रकार के आशीविष का स्वरूप उसमें होने से उसे 'आशीविष भावना' जानना । ३५. **दिट्ठिविस भावणाणं** = जिसकी दृष्टि में जहर हो उसे जीव को 'दृष्टि विष' कहते हैं । उसका विचार जिसमें किया हो उसे 'दृष्टि विष भावना' कहते हैं । ३६. **चारण भावणाणं** = जघा चारण और विधाचारण, इस तरह दोनों प्रकार के चारण लब्धि वाले मुनियों का वर्णन जिसमें है उसे 'चारण भावना' कहते हैं । ३७. **महासुमिण भावणाणं** = गज, वृषभ आदि महास्वप्नों का स्वरूप जिसमें विस्तार पूर्वक बताया गया है उस ग्रन्थ श्रेणि को 'महास्वप्न भावनाए' कहते हैं । ३८. **तेयग्गिनिसग्गाणं** = तेजो लेश्या द्वारा तैजस नामक शरीर में रही अग्नि को बाहर फेंकना आदि का जिसमें वर्णन है उसे 'तैजसाग्नि निसर्ग' कहा जाता है । आशीविष भावना आदि पांच का वर्णन उनके नामों के अनुसार कहा है, इससे विशेष वर्णन शास्त्र से अथवा परम्परा से नहीं मिलता । इस तरह पाक्षित्र सूत्र की टीका में कहा है **सव्वेसि पि एअंमि बाहिरे कालिए भगवंते०** = इत्यादि शेष अर्थ पूर्व कहे अनुसार समझना ।

यहां तक आवश्यक और आवश्यक बिना के उत्कालिक तथा कालिक, इस तरह अंग बाह्य श्रुत का वर्णन किया । अब अंग प्रविष्ट श्रुत का वर्णन करते हैं–

''**नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइयं दुवाल संगं गणि पिडगं भगवंतं, तंजहा**''– क्षमा श्रमणों को नमस्कार हो, जिन्होंने यह भगवत् द्वादशांग गणि पीटक श्रुत हमको दिया है, अथवा सूत्रार्थ रूप रचना की है इत्यादि पूर्व के समान अर्थ जान लेना । यहां 'द्वादशांग, अर्थात् बारह अंग का समूह (आगम पुरुष) कहा है और '**गणि पीटक**' = गणि अर्थात् आचार्य की पेटी अथवा आगम वचन रूप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रत्नों का खजाना है, अतः उसे 'गणि पीटक' कहा है, ऐसा अर्थ समझना। उनके नाम इस प्रकार है – १. **आयरो** = शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरण किया हुआ, ज्ञानादि गुण साधक विधि अर्थात् आचार को बताने वाले ग्रन्थ का नाम 'आचार' है। २. **सूय गडो** = जो केवल सूचन करे वह सूत्र है, ऐसे सूत्र से गूंथा हुआ स्व-पर दर्शन के स्वरूप आदि सारे पदार्थ को बताने वाला जो ग्रन्थ है वह 'सूत्रकृत' जानना। ३. **ठाणं** = इसमें एक, दो, तीन आदि संख्या की विवक्षा पूर्वक आत्म आदि पदार्थों का वर्णन किया है, इसलिए 'स्थान' कहा है अथवा एक से दस तक के आत्मा आदि पदार्थों का स्थान-स्वरूप बताने वाला ग्रन्थ 'स्थान' जानना। ४. **समवाओ** = सम्-सम्यकतया अव-अधिक रूप में, अय=जीवाजीवादि पदार्थों का वर्णन जिसमें है, वह ग्रन्थ 'समवाय' है ५. **विवाह पण्णत्ती** = इसमें भगवान श्री महावीर प्रभु ने श्री गोतम गणधर द्वारा पूछे प्रश्न एवं उत्तर रूप में अनेकविध विषयों का गंभीर वर्णन किया है। वह 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' नामक ग्रन्थ अधिक पूज्य होने से 'भगवती सूत्र' नाम से भी प्रसिद्ध है। ६. **णायाधम्म कहाओ** = ज्ञात अर्थात् उदाहरण पूर्वक धर्म कथा को बताने वाला ग्रन्थ 'ज्ञाता धर्म कथाओ' जानना। ७. **उपासग दसाओ** = उपासक अर्थात् श्रमणोपासक (श्रावक), उसकी क्रिया आदि का जिसमें वर्णन है वह ग्रन्थ 'उपासक दशा' है। ८. **अंतगड दसाओ** = कर्मों का अथवा कर्म के फल रूप संसार का अंत जिन्होंने किया है, वे श्री तीर्थंकर आदि अन्त कृतों का पहले वर्ग के दस अध्ययनों में वर्णन होने से, उस ग्रन्थ का नाम 'अन्तकृदशा' कहा है। ९. **अणुत्तरोववाइय दसाओ** = अनुत्तर अर्थात् अन्तिम विमान में उत्पन्न होने वाले अथवा अनुत्तर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ स्थान-देव रूप में उत्पन्न होने वाले, अर्थात् 'सवार्थ सिद्ध' आदि विमानों में उत्पन्न होने वाले आत्माओं का वर्णन जिसमें है वह ग्रन्थ दस अध्ययन वाला होने से उसका नाम 'अनुत्तरोपपाति दशा' है, १०. **पण्हा वागरणं** = प्रश्न और व्याकरण अर्थात् उत्तर-समाधान वचन रूप में रचा हुआ ग्रन्थ 'प्रश्न व्याकरण' है। ११. **विवागसुयं** = शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक-फल को बताने वाला ग्रन्थ 'विपाक सुत' है। १२. **दिट्ठवाओ** = दृष्टि अर्थात् दर्शन, उसका वाद, अर्थात् सर्व दर्शनों का वाद अथवा सर्वनय रूपी भिन्न दृष्टि (अपेक्षा) से जिसमें कहा है वह ग्रन्थ 'दृष्टिवाद' कहलाता है। इस तरह बारह अंग सूत्रों के नाम जानना। **सव्वेसिं पि एयंमि दुवालसंगे गणि पिडगे भगवंते०** = भगवत् यह गणि पिटक अर्थात बारह अंग रूप सर्वद्वादशांगी उस में आदि शेष अर्थ पूर्व कहे अनुसार जानना।

इस तरह सामान्य से अंग प्रविष्ट श्रुत का वर्णन किया। यहां सर्व शास्त्रों के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

केवल नाम ही कहे हैं। उनके भेद विषय तथा उसके अध्ययन उद्देश आदि का वर्णन ग्रन्थ विस्तार हो जाने के भय से यहां नहीं कहा है, वह अन्य ग्रन्थों में से जान लेना। अब इस सूत्र को देने वाले तथा पालन करने वाले को नमस्कार पूर्वक अपने प्रमाद का मिच्छामि दुक्कडं देने के लिए कहते हैं कि –

"नमो तेसिं खमासमणाणं जेहि इमं वाइयं दुवालसंगं गणि पिडगं भगवंतं" = उस क्षमा श्रमण मेरे गुरु महाराज अथवा श्री जिनेश्वर गणधर आदि को मेरा नमस्कार हो कि जिन्होंने भगवत् समान यह श्री आचार्य के रत्न का खजाना सदृश बारह अंग रूप श्रुत हमको दिया है अथवा सूत्र तथा अर्थ रूप रचना की है तथा – **'सम्मं काएणं फासंति पालंति पुरंति सोहंति तीरंति किट्टंति सम्मं आणाए आराहंति'**, जो काया द्वारा अच्छी तरह स्पर्श करते हैं, पालन करते हैं, पूर्ण करते हैं, तरते हैं, कीर्तन करते हैं और आज्ञा के यथार्थ पालन द्वारा आराधना करते हैं, उनको भी नमस्कार हो, यह अर्थ यहां भी जानना। उसमें काया से स्पर्श करता है, अर्थात् केवल मन से ही नहीं परन्तु काया से अविपरीत रूप पढ़ने के समय में पढ़े–ग्रहण करता है, पालन करता है अर्थात् पुनः पुनः अभ्यास करके उसका रक्षण करता है, पूर्ण करता है अर्थात् केवल बिन्दु–अक्षर आदि को पढ़ने वाला यदि भूल जाए तो उसे सुधारे–पूर्ण करता है, तरता है अर्थात् जब तक जीता है तब तक विस्मरण नहीं होने देता, जीवन के अन्तिम तक पहुँचाता है– याद करता है, कीर्तन करता है अर्थात् अपने नाम के समान लगातार स्वाध्याय करता– स्तुति करता है अथवा सम्यक् प्रकार से शब्दोच्चारण करता है और यर्थाथ आज्ञानुसार आराधना करता है अर्थात् उसमें कही आज्ञा अथवा सद्गुरु की आज्ञा के यथार्थ पालन पूर्वक क्रिया – अनुष्ठानों को करके सफल करता है, इस तरह अर्थ समझना। तथा **'अहं च नाराहेमि तस्स मिच्छामि दुक्कडं'** = मैं प्रमादादि के वश होकर नो आराधना नहीं करता उस दोष का 'मिच्छामि दुक्कडं' देता हूँ अर्थात् मेरा वह पाप मिथ्या हो। अब मंगल के लिए श्रुत देवी की स्तुति कहते हैं –

सुअ देवया भगवई, नाणा वरणीय कम्म संघायं ।
तेसिं ख वेउ सययं, जेसिं सुय सायरे भत्तीं ।।१।।

अर्थात् –" श्री भगवती श्रुत देवता जिन्होने ज्ञानावरणीय कर्म के समूह को हमेशा क्षय किया, उनका यह श्रुत ज्ञान रूपी समुद्र में विनय और बहुमान रूप भक्ति है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहां तक पाक्षिक सूत्र का अंशमात्र अर्थ कहा है, अब जैसे मंगल पाठक - मंगलिक सुनाने वाले कोई श्रेष्ठ कार्य पूर्ण होते राजा का बहुमान करते 'अखण्ड बलवान् हे राजन् ! आप का गया हुआ काल सुन्दर गया और दूसरा भी ऐसा हितकर - सुन्दर काल आया है ' इत्यादि कहता है, वैसे ही साधु भी '**अब्भुट्ठिओ**' सूत्र की अपेक्षा से दूसरा क्षमापान सूत्र से, आचार्य गुरु को पाक्षिक विनय रूप उपचार स्तुति करते है । वह खामणा सूत्र इस तरह है -

''इच्छामि खमासमणो ! पिअं च मे जं मे ! हट्ठाणं तुट्ठाणं अप्पायं काणं अभग्ग जोगाणं सुसीलाणं सुव्वयाणं सायारिय उवज्झायाणां नाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं तवसा, अप्पाणं भावेभाणाणं बहुसुभेण मे ! दिवसो पोसहो पक्खो वइक्कंतो, अन्नो भे ! कल्लाणेणं पज्जुवट्ठिओ सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥'' ('तुब्भेहिं समं' इति गुरुवचनम्) ॥१॥

व्याख्या - **इच्छामि** = मैं खमाने की अभिलाषा करता हूँ अथवा इच्छा करता हूँ, **खमासमणो** = हे क्षमा श्रमण पूज्य गुरुदेव ! **पिअं च मे** = और मुझे प्रिय मान्य भी है, ऐसा कहने का यह कारण है कि किसी को किसी कारण से अप्रिय की भी इच्छा होती है । वह क्या ? '**जं भे**' = जो आप को पर्व के दिन और पक्ष - पन्द्रह दिन ज्ञानादि की आराधना पूर्वक पूर्ण हुए और अन्य भी वैसे प्रारंभ हुआ, वह मुझे प्रिय है- इस तरह वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना, अब गुरु के विशेषण कहते हैं **हट्ठाणं** = निरोगी आप को, **तुट्ठाणं** = चित्त की प्रसन्नता वाले आप को, **अप्पायं काणं** = यहाँ अल्प शब्द अभाववाचक होने से सर्वथा आतंक - तत्काल घातक रोग रहित आप को अथवा सर्वथा आरोग्यता का असंभव होने से अल्प मात्र रोग वाले अर्थात् सामान्यतया निरोगी आप को, **अभग्ग जोगाणं** = संयम के योग (व्यापार) में अखण्ड आप श्री जी को, **सुसीलाणं** = अठारह हजार शीलांग सहित आप को, **सव्वयाणं** = सुन्दर पंच महाव्रत को धारण करने वाले आपको, **सायरिय उवज्झायाणं** = अन्य भी अनुयोगाचार्यादि उपाध्याय आदि सहित आप को अर्थात् आप को और अन्य भी आचार्यादि सर्व को, **नाणेण दंसणेण चरित्तेणं तवसा अप्पाणं भावेभाणाणं** = ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप द्वारा आत्मा को विशुद्ध करते आप सब को '**भे**' = हे भगवन्त् ! **दिवसो पोसहो पक्खो बहुसुभेण वइक्कंतो** = दिन पौषध अर्थात् आज का पर्व दिन और पक्ष पखवारा अति शुभ - बहुत अच्छे कार्य करने में पूर्ण हुए, **अन्नो भे कल्ला णेणं पज्जुवट्ठिओ** = और दूसरा पक्ष - आधा मास आप को कल्याणकारी प्रारंभ हुआ । हे क्षमाश्रमण पूज्य ! मैं वह चाहता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हूँ, मुझे प्रिय है, मान्य है, इस तरह गुरु की भूत - भावी आराधना में शिष्य अपनी प्रसन्नता बताकर नमस्कार करता है कि - **सिरसा मणसा** = सिर से, मन से और उपलक्ष्य रूप वचन से, **मत्थएण वंदामि** = मैं मस्तक द्वारा वंदन करता हूँ। **सिरसा** कहने पर भी यहां **मत्थएण वंदामि** कहा है- वह जैन शास्त्र प्रसिद्ध व्युत्पत्ति बिना का समग्र पारिभाषिक नमस्कार वचन होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है। इस समय गुरु-आचार्य भी कहते हैं कि '**तुब्भेहि समं**' = तुम सब के साथ आराधना हुई और अगामी पक्ष में आराधना होगी ॥१॥

अब दूसरे खामणा सूत्र से गुरु को चैत्य और अन्य साधु को वंदन कराने के लिए शिष्य अपने गुरु को वंदनादि करने का निवेदन करता है कि -

"इच्छामि खमासमणो ! पुव्विं चेइआइं वंदित्ता नमंसित्ता तुब्भणहं पायमूले विहरमाणेणं जे केइ बहुदोषसिआ साहूणो दिट्ठा, सामाणा वा वसमाणा वा, गामाणुगामं इइज्जमाणा वा, रायणिआ संपुच्छंति, ओमरायणिआ वंदंति, अज्जया वंदंति, अज्जि आओ वंदत्ति, सावया वंदंति, साविआओ वंदंति, अंहपि निस्सल्लो निक्कसाओ त्तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥"("अहमवि वंदामि चेइआइं' इति गुरुवचनम्") ॥२॥

व्याख्या - इच्छामि खमासमणो ! = हे क्षमाश्रमण पूज्य ! मैं चाहता हूँ। क्या ?' आप के चैत्य वंदन तथा साधु वंदन कराने के लिए निवेदन करने के' इतना अधूरा वाक्यार्थ स्वयं समझ लेना **पुव्विं** = विहार करते पहले जब आप के साथ में था 'मैं चैत्य वंदना श्री संघ की ओर करता हूँ' इस तरह अध्यवसाय करके **चेइआइं** = श्री जिन प्रतिमाओं को **वंदित्ता** = स्तुति द्वारा वंदन करके और **नमंसित्ता** = नमस्कार करके कहा और कब वंदन नमस्कार करके ? वह कहते हैं कि **तुब्भणहं पायमूले** = आप के साथ में जब था तब यहां और उसके बाद **विहरमाणे** = अन्यत्र विचरते अन्य क्षेत्र में **जे केइ बहुदेवसिआ** = जो केवल बहुत दिन वर्षों तक **साहुणो दिट्ठा** = साधु को देखा - मैं मिला, वे कैसे साधु ? **सामाणावा** = वृद्धत्व आदि के कारण जघाबल क्षीण होने से एक स्थान पर स्थिर वास रहे **वसमाणा वा** = अथवा नौ कल्प विहार वाले और इससे ही **गामाणुगाम इइज्जमाणा वा** = गांव-गांव में फिरते अर्थात् विहार में जो कोई दीर्घ पर्याय वाले स्थिर वास रहे या गांव-गांव विचरते साधु मुझे मिले, उसमें **रायणिया संपुच्छंति** = जो अपने से दीर्घ चारित्र पर्याय वाले आचार्य आदि मिले, उनको मैंने जब वंदन किया और आप की तरफ से भी मैंने उनकी वंदना की, तब उन्होंने भी मुझसे आपका कुशल समाचार आदि पूछा (अनुवंदना आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहा) और **ओम रायणिया वंदंति'** = आप से लघु पर्याय वाले जो आचार्य आदि मिले उन्होंने आप को हमारे द्वारा वंदना कहलायी तथा कुशल समाचार आदि पूछा था तथा **अज्जया वंदंति** = छोटे-सामान्य साधुओं ने भी आपको हमारे द्वारा कहा है एवं **अज्जिआओ वंदति जो आर्या** - साध्वी मिलीं उन्होंने भी वंदना कही है तथा **सावया वंदंति** = गांव-गांव जो श्रावक मिले उन्होंने भी वंदना कहा है, और **साविआओ वंदंति** = जो जो श्राविकाएं मिलीं उन्होंने भी वंदन किया है, अर्थात् चतुर्विध श्री संघ में जो मिला उन सब ने आप को यथायोग्य अनुवंदना वंदना पूर्वक सुखशातादि कुशल समाचार पुछवाया है, तथा उस समय - **अहंपि निस्सल्लो निक्कसाओ तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि** = मैंने भी शल्यरहित कषायों से रहित सिर-मन से और प्रसंग अनुसार वचन से भी उनको वन्दन कहा है इससे 'आप श्री जी भी उनको वंदन करो' इस तरह शिष्य का निवेदन सुनकर गुरु कहते हैं **अहमवि वंदामि चइआइ** = मैं भी उन चैत्यों को और उपलक्षण से उस आचार्यादि संघ को भी वंदन करता हूँ। यहाँ अन्य आचार्य यह कहते हैं कि **'अहमवि वन्दावेमि चेइआइं'** यह पाठ है, अत: अर्थ इस तरह करना कि - शिष्य कहे कि - मैं भी चैत्य वंदन कराता हूँ, अर्थात् अमुक गांव-नगर में आप की तरफ जिस-जिस चैत्य को मैंने वंदन-नमस्कार किया, तथा संघ ने भी आप को जिस-जिस ने वंदनादि किया उनको आप भी वन्दन करो। यह सुनकर प्रसन्न बने गुरुदेव भी उस चैत्यों को वहां रहकर वंदन-नमस्कारादि करते हैं और आचार्यों आदि तथा श्री संघ को वंदना - अनुवंदना एवं गृहस्थादि को धर्म लाभ आदि यथा योग्य करते हैं- यह समग्र आलापक का भावार्थ है। (२)

अब तीसरे खामणा से शिष्य अपनी ओर से निवेदन करते हैं -

इच्छामि खमासमणो ! उवट्ठिओऽहं तुब्भण्हं संतिअं हाघकप्पं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा (रयहरणं वा) अक्खरं वा पयं वा गाहा वा सिलोगं वा (सिलोगद्धं वा) अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा तुब्भेहिं चि अत्तेहि दिन्नं मए अविण एण पडिच्छिअं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥'' (''आयरिअ संति अ'' इति गुरु वचनम्) ॥३॥

व्याख्या - इच्छामि खमासमणो = हे पूज्य क्षमाश्रमण ! मैं चाहता हूँ, **उवट्ठिओऽहं** = जो निवेदन करने के लिए मैं तैयार हुआ हूँ, वह निवेदन करता हूँ **तुब्भण्हं संतिअं** = आप श्री का दिया हुआ यह सारा जो हमारा उपयोगी है। वह कैसा ? **अहाकप्पं वा** = स्थविर कल्प को उचित कल्प आप ने दिया, उसे नामपूर्वक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहते हैं कि **वत्थं वा पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पाय पुंछणं वा (इरहरण वा)**= वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, पादप्रोछन, रजोहरण, यहां रजोहरण शब्द कई स्थान पर अलग देखने को मिलता है, अत: पादप्रोछन का अर्थ दंडासन और रजोहरण का अर्थ ओघा, इस तरह अर्थ अलग करना अच्छा है तथा **अक्खरं वा पयं वा गाहा वा सिलोगं वा (सलोगद्धं वा)** = सूत्र का केवल एक अक्षर, पद, गाथा (आर्यबद्ध पद), श्लोक-अनुष्टुप पद और कहीं (श्लोकार्ध) पाठ है अत: आधा श्लोक समझना, तथा **अट्ठं वा, देउं वा, पासिणं वा वागरणं वा** = सूत्र का वाच्य अर्थ, हेतु अर्थात् कारण, मान उतारने के लिए दूसरा प्रश्न पूछे- वह प्रश्न और उसका सामने उत्तर देना- वह व्याकरण, यहां प्रत्येक पद के साथ में 'वा' पद है, वह समुच्चय अर्थ में जानना। इस तरह वस्त्रादि, अक्षरादि और अर्थ आदि जो **तुब्भेहि चिअत्तेणं दिन्नं** = आप ने बिना मांगे मुझे प्रीतिपूर्वक दिया है, फिर भी **मए अविएण पडिच्छिअं** = मैंने वह अविनय से ग्रहण किया **तस्समिच्छामि दुक्कडं** = वह मेरा पाप मिथ्या हो !' इस तरह अपने अविनयादि अपराधों की जब क्षमापना की याचना की तब गुरु भी **आयरि असंतिअं** = यह सारा पूर्वाचार्य द्वारा दिया तुमको दिया है, इसमें मेरा क्या है ? इस तरह कहकर अपने अभिमान का त्याग और सद्गुरु के प्रति भक्ति प्रगट करता है। (३)

अब चौथे खामणे में गुरु ने ज्ञान क्रिया रूप जो शिक्षा दी, गुरु के उस अनुग्रह का शिष्य बहुमान करता है -

''इच्छामि खमासमणो ! अहमवि पुव्वाइं कयाइं च मे किइ कम्माइं आयामंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहाविओ संगहिओ उवग्गहिओ सारिओ, वारिओ, चोइओ पडिचोइओ, चि अत्ता मे पडिचोयणा उवट्ठिओ (हं) (अब्भुट्ठिओ हं) तुब्भण्हं तव तेअ सिरीए इमाओ चाउरंत संसार कंतारा ओ साहट्टु नित्थरिस्सामि त्ति कट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि। ('नित्थार पारगा होह' इति गुरुवचनम्) ॥४॥

व्याख्या - इच्छामि खमासमणो ! अहम पुव्वाई = हे पूज्य क्षमाश्रमण ! मैं अपूर्व-भविष्य काल में भी वंदना करने के लिए चाहता हूँ, इस तरह वाक्य सम्बन्ध जोड़ना, **कयाई च मे किइ कम्माई** = तथा मैंने जो भूतकाल में कृतिकर्म (वंदन) किया हो उस वंदन में **'आयारमंतरे** = किसी ज्ञानादि आचार के पालन बिना अर्थात् उसमें किसी ज्ञानाचारादि आचार पालन बिना करते तथा **विणयमंतरे** = उसमें विनय का भंग करते, **सेहिओ** = आपने स्वयं मुझे उस आचारादि में विनय आदि सिखाया-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कुशल बनाया, सेहा विओ = श्री उपाध्याय भगवन्त आदि अन्य साधु के द्वारा मुझे सिखाया या कुशल बनाया, **संगहिओ** = आप ने मुझे शिष्य रूप में आश्रय दिया - स्वीकार किया, **उवग्गहिओ** = मुझे ज्ञान आदि देकर तथा वस्त्रादि देकर संयम में आधार दिया, **सारिओ** = मुझे मेरे हित मार्ग में लगाओ, **वारिओ** = अहित प्रवृत्ति करने से रोको, **चोइओ** = संयम की आराधना में स्खलनादि करते, तुम्हारे के समान ऐसा करना योग्य नहीं है इत्यादि मधुर शब्द से मुझे गिरते हुए को बचाया, **पडिचोइओ** = इस तरह मुझे बार बार बचाओ, - प्रेरणा दो, **चिअत्ता मे पडिचोयणा** = आप की यह बारम्बार प्रेरणा करनी मुझे प्रीतिकार बनी है, अहंकार आदि से अप्रीतिकार नहीं लगी, इससे ही **उवट्ठिओहं** (अब्भुट्ठिओहं) = यह आप ने प्रेरणा, प्रति प्रेरणा की उस विषय में मैं अपनी भूल सुधार करने के लिए उद्यमी-तैयार हुआ हूँ, **तुब्भण्हं तपतेअ सिरीए** = आप के तप तेज रूपी लक्ष्मी (महिमा) **से इमाओ चाउरतं संसार कंता ओ साहट्टु नित्थारिस्सामी** = यह चार गति रूप चार छेड़े वाली संसार रूपी अति दुर्गम अटवी में कषाय, इन्द्रिय और योग आदि से फंसी मेरी आत्मा का मैं संहरण कर के अर्थात् खींच कर इस अटवी को मैं पार हो जाऊंगा, **तिकट्टु** = इस हेतु से, **सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि** = इस का अर्थ पूर्व में कहा है, वैसे सिर, मन से और उपलक्षण से वचन द्वारा आप को वंदन करता हूँ। इस प्रकार गुरु का महाउपकार मानता शिष्य जब कृतज्ञता दिखाता है तब गुरु कहते है कि **नित्थारग** = तुम संसार समुद्र से अन्य जीवों का अथवा तुमने की तुम्हारी प्रतिज्ञा का निस्तार (निर्वाह) करने वाले और **'पारगाा'** = संसार समुद्र से पार पाने वाले **'होइ'** = हो, अर्थात् अन्य जीवों का और तुम्हारा कल्याण करो। इस तरह गुरु महाराज आशीर्वाद दें। (४)'' पाक्षिक खामणा चूरिसमाप्त ॥

इस तरह पाक्षिक खामणा और उसका अर्थ कहा। प्रतिक्रमण के प्रसंग के अनुसार यह शेष कहने योग्य कहकर अब प्रतिक्रमण के बाद का कर्तव्य कहते हैं- मूल ६८वें श्लोक में कहा है **'कालग्रह'** = प्रतिक्रमण के बाद का अधिकार होने से प्रदोष समय में लेने वाला 'प्रादोशिक कालग्रहण लेना' वह सापेक्ष यति धर्म है, इस तरह वाक्यार्थ जोड़ना। इस प्रादेशिक को व्याधातिक (बाधाई) भी कहते हैं, क्योंकि प्रतिक्रमण के बाद गुरु श्रावकों के आगे धर्म की बाते करे, इससे अथवा धर्मशाला के समान छोटे मकान में यदि स्थिरता हो तो परदेशी मनुष्यों का जाना होने से व्याघात उस काल में संभव होने से उस समय में काल ग्रहण नहीं हो सकता, इसलिए उसका समय कहते है कि - **तारात्रये क्षणे** = अर्थात् आकाश में जब तीन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तारे दिखायी दें तब, इसका अर्थ यह नहीं कि - तीन तारे देखने ही चाहिएं, किन्तु तीन तारों के दर्शन से जानना शास्त्रोक्त काल है, उसे प्रादेशिक काल ग्रहण का समय समझना। ऐसा कहने से वर्षा ऋतु में बादलाठि के कारण से यदि तारे न दिखें तो भी उस समय में प्रादेशिक काल ग्रहण हो सकता है। यति दिन चर्या में कहा है कि-

देव सिअ पडिक्कमणे, कयंमि गिण्हंति तयणु कय करणा।
तारारति असं पिक्खण समए पाओसिअं कालं ॥३४६॥

अर्थात् - "देवसिक प्रतिक्रमण करने के बाद करने योग्य कार्य जिन्होंने किया है, वे साधु तीन तारे जब देखें तब प्रादोसिक काल को ग्रहण करते हैं।"

काल ग्रहण की विधि योग विधि में से जान लेना। **ततः** = उसके बाद अर्थात् काल ग्रहण करने के बाद यह प्रादोषिक काल यदि शुद्ध आए तो **कालिक सूत्राणाम्** = ग्यारह अंग आदि का, इसमें आदि शब्द से '**उपांग**' आदि उत्कालिक श्रुत का भी **अध्ययनादि** = पठन-पाठन आदि करना वह सापेक्ष यतिधर्म है, इस तरह वाक्य संबन्ध जोड़ना। यह पठन-पाठन कोई अविधि से भी करे, इसलिए कहा है कि - **यथाविधि** = विधि का उल्लंघन न हो, इस तरह पठन-पाठन करना। यह विधि पहले कहे अनुसार जानना। यदि काल ग्रहण शुद्ध न हो तो उत्कालिक सूत्र को या निर्युक्ति आदि अर्थ रूप श्रुत को गिने (पढ़े), सुने अथवा चिन्तन करे, इसके लिए यति दिनचर्या में भी कहा है कि -

अह वाधाइअ काले सुद्धम्मि पढंति कालिअं सुत्तं।
पुव्वगहिअं गुणंति, अन्नहं अन्नं पि अत्थं वा ॥३५०॥

कालिअ सुअस्स कालो, भणिओ अज्झयण गुणण विसंयमी।
दिवसस्स पढम पच्छिम जामा एवं तिजा भाए ॥३५१॥

अर्थात् - "यदि व्याधातिक (प्रादोषिक) काल ग्रहण शुद्ध हो तो साधु जो पहले पढ़ा हो वह कालिक श्रुत = ग्यारह अंग आदि को पढ़े और यदि शुद्ध न हो तो दूसरे प्रकरणादि पढ़ने चाहिएं अथवा कालिक सूत्र के अर्थ का चिन्तन करे (३५०)। कालिक सूत्र के अध्ययन को पढ़ने-गिनने के काल के लिए दिन के प्रथम और अन्तिम दो पहर और इसी तरह रात्रि के भी प्रथम और अन्तिम दो पहर कहे हैं (३५१)।"

इस तरह मूल ६८वें श्लोक का अर्थ पूर्ण हुआ। अब दूसरे प्रकार से भी रात्रि प्रथम पोरसी हो सकती है, वह किसी तरह पूर्ण करने के लिए क्या कार्य करना चाहिए वह कहते हैं -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साधु विश्रामणाद्यैश्च, निशाद्य प्रहरे गते ।
गुर्वादेशादि विधिना, संस्तारे शयनं तथा ॥६६॥

मूलार्थ – ''साधु विश्रामणा आदि करते जब रात्रि का प्रथम पहर पूर्ण हो जाए तब 'गुरु के पास आदेश मांगे' आदि विधि पूर्वक संस्तारक में शयन करना, यह सापेक्ष यति धर्म है ।

व्याख्या = साधु अर्थात् गुरु, आचार्य, ग्लान, प्राधूर्णक आदि की विश्रामणा अर्थात् 'थकावट दूर करना' और आदि शब्द से 'शरीर दबना' इत्यादि सेवा करते और पूर्व कहे अनुसार स्वाध्याय आदि करते जब रात्रि का प्रथम प्रहर पूर्ण हो जाय तब उस संथारे में शयन करना अर्थात् नींद लेना, वह सापेक्ष यति धर्म है, यह वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना । वह संथारा आदि कोई अविधि से करे, उसके लिए कहते हैं कि- 'गुरु महाराज का आदेश प्राप्त करना' इत्यादि विधि पूर्वक करना । गुरु का आदेश अर्थात् गुरु से पूछकर, उनकी अनुमति प्राप्त कर आदि विधिपूर्वक करना चाहिए । उसके लिए यति दिनचर्या में कहा है कि-

सज्झाय झाण गुरु जण गिलाण विस्सामणाइ कज्जेहिं ।
जामंमि वक्कंते, वंदिअ पेहंति मुहपोत्तिं ॥३५४॥

पढमंमि खमासमणे, राइअ संथार संदिसावणयं ।
पभणंति पुणो विईए, राइ असंथारए ठामो ॥३५५॥

अर्थात् – ''स्वाध्याय, ध्यान तथा गुरु आदि बुजुर्ग, बीमार या प्राधूर्णक साधुओं को विश्रामण इत्यादि करते जब एक पहर पूर्ण हो, तब पोरसी पढ़ाये, उसमें खमासमणा देकर आदेश मांगकर मुहपत्ति पडिलेहन करे (३५४) । उसके बाद पहले खमासमण में 'राइ संथारा संदिसाव ?' इस तरह अनुमति मांगकर पुनः दूसरा खमासमण देकर 'इच्छाकार संदिसह भगवन्त राइ संथारा ठामि ?' इस प्रकार कहकर फिर चउक्कसाय इत्यादि चैत्यवंदन करके मुहपत्ति पडिलेहन करे, ऐसा समझना (३५५) ।''

संथारा प्रत्येक साधु को लम्बाई में तीन हाथ का करना चाहिये, यह माप कहा है । इसे प्रमाण युक्त वसति के आश्रित जानना, क्योंकि वसति किसी स्थान पर लम्बी, क्वचित् छोटी और किसी स्थान पर प्रमाणोपेत (प्रत्येक साधु को तीन-तीन हाथ जगह मिल सके- इतनी) होती है । इस प्रकार तीन तरह की वसति संभव होती है । उसमें भी आचार्य को पवन बिना की, अधिक पवन वाली और मध्यम पवन वाली,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह तीन में इष्ट भूमि संथारा करने की अनुज्ञा है, शेष साधु के लिए तीन में से किसी एक ही प्रकार की जगह पर संथारा करने की विधि है। उसमें यदि वसति लम्बी-चौड़ी हो तो चोर आदि आ न जाये, इस कारण से सबको समग्र भूमि में बिखरे हुए पुष्पों के समान मकान में अलग-अलग सोना चाहिए, यदि वह छोटी जगह हो तो पात्र बीच में रखकर उनके पास में मंडलीबद्ध चारों तरफ सोयें और यदि प्रमाणोपेत हो तो पंक्ति बद्ध सोना चाहिए। ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

संथारग भूमि तिंग, आयरियाणं तु सेस गाणेगा ।
रूंदाए पुप्फ इन्ना, मंडलिआ आवली इअरे ॥२०२॥

अर्थात् - "आचार्य को निर्वात आदि संथारे की तीन भूमि एवं साधु को कोई एक ही होती है। यदि वसति बड़ी हो तो बिखरे पुष्पों के समान, यदि छोटी हो तो मंडली बद्ध और प्रमाणोपेत हो तो साधुओं को श्रेणीबद्ध संथारा करना चाहिए।" उसमें छोटी और प्रमाणोपेत (मध्यम) वसति में संथारादि की विधि ओघ निर्युक्ति में कहते है कि-

संथारग्गहणीए वेंटि अउक्खे वणं तु कायव्वं ।
संथारो घेत्तव्वो, माया मय विप्पु मुक्केणं ॥२०३॥

अर्थात् - "संथारे की गह बांटने (देने) के पहले सबको अपनी-अपनी उपधि विंटिया उठा लेना कि जिससे बड़ों को जगह देने में सरलता हो। उसके बाद बड़े ही जगह दें। जो जगह वे दें, वह सब को माया-मद छोड़कर स्वीकार कर लेनी चाहिए।" मुझे हवा की जरूरत है, इसलिए मुझे यहां जगह दो ! अथवा मैं बड़ा हूँ, इसलिए मुझे अमुक स्थान दो, इत्यादि माया-मद नहीं करना चाहिए।

अथवा, स्थविर आदि बड़े साधु द्वारा दी हुई संथार की भूमि में से यथा रत्नादिक अर्थात् बड़े छोटे के क्रम से सर्व साधु को पहले अपनी-अपनी उपधि का विंटीया उठा लेना चाहिए जिससे भूमि का माप समझ में आ सके और सरलता से भूमि को बांट सके। उस बांटी हुई भूमि में प्रत्येक साधु का संथारा, इस तरह तीन हाथ लम्बा होता है- प्रथम ऊन का संथारा (संथाडिया) अट्ठाईस अंगुल लम्बा, उसके बाद पात्र और संथारे के बीच बीस अंगुल अंतर-खाली जगह, उसके बाद चौबीस अंगुल लम्बा पाद प्रोच्छन बिछाना ऊपर पात्रा रखना। इस तरह प्रत्येक साधु को तीन हाथ जगह रुकती है और साधु को परस्पर दो हाथ का अंतर रहता है। उसकी स्थापना इस प्रकार है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साधु	अन्तर	पात्र	अन्तर	अन्तर	पात्र	अन्तर	साधु
२८	२०	२४	२४	२४	२४	२०	२८
०	–	०	–	–	०	–	०

इस तरह साधु को परस्पर दो हाथ का अन्तर रहता है और प्रत्येक साधु के लिए संथारे की तीन हाथ भूमि रहती है। इसके लिए ओघ निर्युक्ति में कहा है कि–

तम्हा पमाण गुत्ता एक्केक्कस्स उ तिहत्थ संथारो ।
भायण संथारंतर, जह वीसं अंगुला हुंति ॥२२६॥

अर्थात् – "इसके लिए जहाँ तक वसति मिले वहां तक प्रमाणोपेत प्राप्त करे और उसमें प्रत्येक साधु को तीन हाथ भूमि मिल सके, उस तरह संथारा करना। जैसे कि तीन हाथ में संथारा, एक हाथ चार अंगुल भूमि को रोके, पात्र चौबीस अंगुल रोके और उन दोनों के बीच बीस अंगुल का अन्तर रखे।" रात्रि में पात्र भी पास में ही रखने का कारण कहते हैं कि

मज्जार मूसगाइ य, वारए नवि अ जाणुघट्टणया ।
दो हत्था य अवाहा, नियमा साहूस्स साहूओ ॥२२७॥

अर्थात् – "पात्र नजदीक रखने से रात्रि में यदि बिल्ली-चूहा आदि पात्र को उपद्रव करे तो रोक सकते हैं, बहुत नजदीक नहीं रख कर बीस अंगुल दूर रखने का कारण यह भी है कि पात्र घुटने आदि की ठोकर न लगे। इस तरह एक साधु से दूसरे साधु की तीन-तीन हाथ भूमि के मध्य दो-दो हाथ का अंतर अवश्य होना चाहिए।

सार्वजनिक मकान में पूर्व कहे अनुसार बीच में दो-दो हाथ का अंतर रखने से बहुत जगह खाली रहे और जबरदस्ती से कोई गृहस्थ वहां सो जाये, इससे बचने के लिए दूसरे रूप में उस की व्याख्या लिखते हैं कि– साधु का शरीर एक हाथ भूमि रोके, उसके बाद साधु के शरीर के अनुसार संथारा और पात्र, उन दोनों के बीच बीस अंगुल अंतर रहे, उससे बाद पात्र आठ अंगुल भूमि को रोके और पात्र से दूसरे साधु के संथारा तक बीच में बीस अंगुल अंतर रहे। उसमें ऊन का संथारा तो २८ अंगुल का ही समझना परन्तु शरीर से चौबीस अंगुल ही रोकना और शेष चार अंगुल संथारा बढ़े उसके सहित बीस अंगुल का पात्र के बीच में अंतर रहे। उसके बाद की आठ अंगुल भूमि में पात्र रखे और पात्र से अन्य साधु के बीच २० अंगुल अंतर रहे। इस तरह साधु शरीर के २४, अंतर के २०, पात्र के ८ और दूसरे साधु का अंतर के २०–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह कुल ७२ अंगुल के तीन हाथ होते हैं । इस प्रकार प्रत्येक साधु के लिए तीन हाथ भूमि समझना । देखो इसकी स्थापना–

साधु	अंतर	पात्र	अन्तर	साधु
२४	२०	८	२०	२४
०	–	०	–	०

यहां दो हाथ का अंतर इस तरह रहता है कि एक साधु के शरीर से अन्य साधु के शरीर के बीच एक-एक हाथ और पैर के नीचे दूसरा के मस्तक के ऊपर भी एक-एक हाथ जाने आने का मार्ग छोड़कर संथारा करना । यह लम्ब चौरस वसति में सोने की विधि कही है ।

सम चौरस वसति में तो दीवार से तीन हाथ जगह छोड़कर सोना चाहिए । उसमें दीवार से एक हाथ भूमि छोड़कर पात्र एक हाथ प्रमाण कपड़ा बिछाकर ऊपर रखे, इससे एक हाथ भूमि पात्र से रोके । उसके बाद एक हाथ का अन्तर रखकर संथारा (मस्तक) करे । इस तरह दो अंतर का दो हाथ और पात्र का एक मिलकर तीन हाथ का दीवार और मस्तक के बीच अन्तर रहना चाहिए । इस विधि से शयन करने वाले साधु और दूसरे साधु के बीच में दो हाथ का अंतर जानना । यह माप प्रमाणोपेत वसति के लिए समझना चाहिए । यदि वसति छोटी हो तो दो मस्तक के पास में बीच में पात्र रखे और यदि वसति में भूमि खड्डे वाली हो तो सर्व साधुओं के पात्र एकत्रित करके उस खड्डे में रखना चाहिए । उसमें भी जो पात्र 'पासुक' अर्थात् दोष बिना का और जो अल्प परिकर्म-अल्पदोष वाला हो वह पात्र मंगल रूप होने से ऊपर रखे और शेष जो बहु परिकर्म वाला हो उसे नीचे रखना चाहिए ।

यदि वसति इससे भी अधिक छोटी होने से अति संकीर्णता हो और पात्र रखने की जगह न रहती हो तो परदा करने के लिए सर्व साधुओं को साधारण डोरी-रस्सी औपग्रहिक उपधि रूप में रखी हो, उस रस्सी से कील आदि में ऊपर बांधना चाहिए । उसके लिए ओघ निर्युक्ति में कहा है कि–

उस्सी सभायणाइं, मज्झे विसमे अहा कडा उवरिं ।
उवगहिओ जो दोरो, तेण य वेहासि लंबणया ॥२३२॥

अर्थात् – "छोटी सी वसति में पात्र मस्तक के पास में, दो संथारे के बीच में रखे । यदि भूमि खड्डे वाली हो तो उस खड्डे में नीचे बहु परिकर्म वाले पात्र रखे, ऊपर यथाकृत और अल्प परिकर्म वाले पात्र रखे, और इतनी भी जगह यदि न हो तो औपग्रहिक उपधि रूप में परदे बांधने वाली जो रस्सी हो, उससे ऊंचाई पर कील आदि के साथ में बांधना चाहिए ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि छोटी वसति न मिले तो बड़ी वसति में रहना, परन्तु वहाँ रहने में इतना विशेष है कि-प्रत्येक साधु को बिखरे हुए पुष्पों के समान अलग दूर-दूर संथारा करके पूरे मकान को रोक लेना चाहिए। ऐसा करने पर भी वहां के रक्षण आदि समय जब आएं तब उपकरण-पात्र उपधि एकत्रित करके वसति के एक अमुक भाग में रखना और यदि शक्य हो सके तो उनके बीच चटाई या परदा आदि बांध दे। रात्रि में सूत्र पोरिसी का पठन पाठन कार्य भी सबको साथ में सामुदायिक रूप में करना चाहिए जिससे अन्य वहाँ आए गृहस्थादि साधु द्वारा बोले किसी पद या वाक्य को स्पष्ट न सुनने से हंसे नहीं मखौल नहीं करे। काल ग्रहण करते समय 'असज्ज व निसीहि' शब्द नहीं बोलना, हाथ से आगे की भूमि का प्रमार्जन नहीं करना अर्थात् जमीन पर हाथ फेरकर प्रमार्जन नहीं करे और यदि खांसी आए तो केवल खुखार करना। ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

पिंडेण सुत्तकरणं, आसज्ज निसीहिं अं च न करि ति।
कासण न य पमज्जणया, न य हत्थो जयण वेरत्तिं ॥२६५॥

अर्थात् - "सूत्र पोरिसी का कार्य समुदाय के साथ करना, आसज्ज और निसीहि शब्द नहीं कहने, खांसी आते खुखार शब्द करना, भूमि का प्रमाजन हाथ फेर कर नहीं करना और वेरत्ति काल जायणापूर्वक लेना।

संथारे की विधि जो कही है उसके अनुसार संथारा बिछाकर गुरु के सन्मुख आकर कहे कि- "**इच्छामि खमासमणो ! वंदिअ जावणिज्जाय निसीहि आए मत्थएण वंदामि, खमासमणा बहु पडि पुन्ना पोरिसी अणु जाणह राई असंथारयं**" इस तरह कहकर संथारा-सोने की अनुमति मांगे और उसके पहले ओघ निर्युक्ति के अभिप्राय से उस समय में कायिक भूमि अर्थात् लघु नीति (मात्रा) करने जाय, वहां से जहां संथारे की भूमि हो वहाँ आ जाये, तब अपनी-अपनी उपधि का उपयोग (सार-संभाल) करके प्रमार्जन करते हुए उपधि की रस्सी छोड़े, फिर संथारा और उत्तर पट्टा इन दोनों का पडिलेहन करके दोनों को एकत्रित करके सांथल के ऊपर रखे, फिर संथारा बिछाने की भूमि का पडिलेहन करके वहां उत्तरपट्टे सहित संथारे को बिछाये, फिर वहां बैठकर मुख वस्त्रिका से ऊपर की काया का और रजोहरण से नीचे की काया का प्रमार्जन करे, कपड़े को बायीं ओर रखे। पुनः संथारे पर चढ़ते-बैठते ज्येष्ठ साधुओं के आगे कहे कि- 'खड़े रहे हमको संथारे पर बैठने की आज्ञा दीजिए !' पुनः तीन बार सामायिक सूत्र- 'करेमि भंते !' कहकर सो जाय। इस तरह संथारा करने की विधि क्रमशः जानना।

संथारे में आरूढ़ होते समय तीन बार 'करेमि भंते०' सूत्र कहकर अणु जाणह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि पाठ से इस तरह कहा जाता है कि – 'हमको संथारे की आज्ञा दीजिए' फिर भुजा का सिरहाना करके दाहिने करवट से सो जाय। उसमें कुकड़ी (मुर्गे) के समान पैर ऊंचे लम्बे करे। **अतरन्त** = ऊँचे पैर यदि लम्बे न रख सके तो संथारे का प्रमार्जन करके दो पैर उसमें रखे, **संकाइरा संडासा** = इत्यादि अर्थ पुनः जब पैर संक्षिप्त करे तब 'संडासा' अर्थात् जंघा के जोड़ आदि का प्रमार्जन कर संक्षेप करे और पासा बदलते समय काया तथा संथारे की भूमि का प्रमार्जन करे। यह शयन करने की विधि जानना।

अब लघु नीति के लिए उठते समय क्या करना ? वह कहते हैं कि द्रव्यादि का उपयोग दे। उसमें द्रव्य से स्वयं कौन है ? इत्यादि, क्षेत्र से कहां सोया हूँ, काल से अभी कौन सा समय हुआ है और भाव से अपने-अपने कर्त्तव्य आदि का ख्याल। ऐसा होने पर भी यदि नींद न खुले तो श्वास को रोके। इस तरह से भी यदि नींद न जाये तो आखिर प्रकाश वाला द्वार देख, उसके बाद संथारे में बैठे-बैठे ही तीन बार 'आसज्ज' पद को बोले फिर पैर इक्कट्ठे करे, फिर 'आवस्सहि और आसज्ज' शब्दो को बारम्बार बोलते भूमि का प्रमार्जन करते दरवाजे तक जाये, बाहर जाने के बाद तो प्रमार्जनादि करने से गृहस्थों को 'चोर होगा' इत्यादि शंका होती है, इसलिए प्रमार्जन न करे। यह प्रमाणोपेत वसति की विधि कही है।

यदि वसति छोटी हो तो बैठे-बैठे आगे की भूमि का हाथ द्वारा स्पर्श करे और पैर का प्रमार्जन करते वहां रखते हुए जाये, इस तरह जयणा पूर्वक बाहर निकले। यदि उस प्रदेश में चोर का भय हो तो दो साधु साथ बाहर निकलें, एक दरवाजे पर चौकसाई के लिए खड़ा रहे और दूसरा लघु नीति करे। यदि किसी शिकारी जीव का भय हो तो तीन साधु बाहर निकलें। उनमें से एक दरवाजे पर खड़ा रहे, दूसरा लघु नीति करे और तीसरा उसका रक्षण करे। इस तरह से लघु नीति करके, वोसिया कर वापिस संथारा के पास आकर 'इरिया वहि०' प्रतिक्रमण करे, फिर कम से कम तीन गाथा गिने। ऐसा करने में यदि अशक्त हो, तो गाथा गिने बिना ही पुनः सो जाय।

उत्सर्ग से तो साधु को कुछ भी ओढ़े बिना ही सोना चाहिए, यदि वैसा न कर सके तो एक वस्त्र ओढ़ना चाहिए। वैसा भी यदि न कर सके तो दो वस्त्र और वैसा भी करने में यदि असमर्थ हो तो तीन कपड़े ओढ़कर शयन करे। वैसा करने पर भी जब शीत ऋतु में ठंड अधिक हो तब वसति के बाहर खुले शरीर से कायोत्सर्ग करके अति ठंडी से ठंडा बना मकान में आकर 'अब यहां वायु ठंडी नहीं है।' इस तरह मन को समझाये। उसके बाद गधे को दृष्टान्त से क्रमशः एक, दो और तीन वस्त्र ओढ़ने चाहिएं। वह दृष्टान्त इस प्रकार है –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गधा जब अपनी शक्ति के अनुसार लादा हुआ भार उठाना नहीं चाहे, तब मालिक कुम्हार उसके ऊपर और ज्यादा बोझ भर दे और स्वयं भी ऊपर बैठ जाय। इस तरह थोड़ा चलने के बाद स्वयं जब उतर जाय तब गधा माने कि 'मेरा भार उतर गया है' इससे जल्दी चलने लगता है। और थोड़ा चलने के बाद अधिक भरे बोझ को भी कुम्हार जब उसके ऊपर से उतार देता है, तब तो अति शीघ्रता से चलने लगता है। इसी तरह साधु भी शीत परीषह को जय करने के लिए सब कपड़े उतार कर ठंडी सहन कर एक वस्त्र ओढ़ते समाधि की साधना करे। अपवाद से तो जैसे समाधि में स्थिरता रहे, वैसा करना। ओघ निर्युक्ति में कहा है कि–

अतरंतो व निवज्जे, असंथरंतो अ पाउणे इक्कं ।
गद्दहदिट्ठं तेणं, दो तिण्णि बहु जह समाही ॥२०६॥

अर्थात् – "यदि इर्यावहि प्रतिक्रमण के बाद तीन गाथा भी न गिन सके तो गिने बिना ही सो जाय। उत्सर्ग से कुछ भी ओढ़े बिना सोना चाहिए। यदि इस प्रकार न हो सके तो एक अथवा दो अथवा तीन वस्त्र ओढ़ना चाहिए। इसके बाद भी यदि ठंड बहुत लगे तो गधे के दृष्टान्त से बाहर वस्त्र बिना कायोत्सर्ग ध्यान करके वसति में आकर संतोष माने। वैसा भी यदि न कर सके, तो एक, दो या तीन वस्त्र ओढ़कर सोए, जब तक समाधि रहे वैसे वस्त्र ओढ़े तथा वृहत्कल्प में भी कहा है कि–

अप्पा असंथरंतो, निवारिओ होइ तीहिं वत्थेहिं ।
गिण्हति गुरु विदिण्णे, पगास पडिलेहणे सत्त ॥३६८५॥

अर्थात् – "आत्मा शरीर का जब शीतादि से पराभव हो, निर्वाह न होता हो तब तीन वस्त्र से निर्वाह करना, अथवा वस्त्र बहुत जीर्ण होने से तीन द्वारा रक्षण यदि न हो सके तो गुरु के दिये प्रकाश में पडिलेहन कर सके ऐसे अति जीर्ण वस्त्र उत्कृष्ट से सात का भी उपयोग करे।" इसी बात को आगे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि–

तिन्नि कसिणे जहन्ने, पंच य दढ दुब्बलाइं गेण्हेज्जा ।
सत्त य परिजुन्नाइं, एयं उक्कोसगं गहणं ॥३६८६॥

अर्थात् – "मोटा और कोमल भी वस्त्र जो कि सूर्य के सामने रखने पर सूर्य न दिखे, ऐसे जघन्य से तीन वस्त्र ग्रहण करना, वे जीर्ण और मजबूत हों तो पांच और बहुत घिस गये हों तथा बहुत जीर्ण हों वैसे सात का उपयोग कर सकता है।" यह उत्कृष्ट संख्या से वस्त्र ओढ़ने की विधि जानना। यह शयन विधि कही। यति दिनचर्या में भी कहा है कि–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सक्कत्थयं भणित्ता, संथारूत्तर पडं च पेहित्ता ।
जोडित्ता जाणुवरिं, ठाविअ भूमिं पमज्जंति ॥३५७॥

तं तत्थ अत्थरित्ता, कर जुअलं इत्थ निसिअ पभणंति ।
अणुजाणह निस्सीही नमो खमासमण पुज्जाणं ॥३५८॥

ठाऊणं संथारे, पुतिं पेहिंति तिन्नि वाराओ ।
नवकारं सामाइअ मुच्चारिअ वाम पासेणं ॥३५९॥

उवहाणी कय बाहु, आकुंचिअ कुक्कडिव्व दो पाए ।
अतरंता सुपमज्जिअ, भूमिं विहिणा पसारंति ॥३६०॥

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्स इमाइ रयणीए ।
आहार मुवहिदेहं, सव्वं (तिविहं) तिविहेण वोसिरिअं ॥३६५॥

इच्चाइ चिंतयंता निद्दासुक्खं करंति रवण मित्तं ।
तत्थ वि निब्भर निद्दं, पमाय भीरु विवज्जंति ॥३६६॥

अर्थात् – 'शक्र स्तव (चउक्कसाय से जयवीयराय' तक कहकर संथारा, उत्तरपट्टा को देख-प्रमार्जन कर दोनों को एकत्रित कर घुटने पर रखकर संथारे बिछाने की भूमि का प्रमार्जन करे (३५७)। फिर वहाँ उसे बिछाकर उसमें दो हाथ रखकर गुरु को कहे कि 'मुझे आज्ञा दो' । निस्सीहि नमस्कार हो– क्षमाश्रमण पूज्य इत्यादि शब्द सूचन मात्र होने से पोरिसी पाठ सम्पूर्ण बोलने का समझना (३५८) इस तरह कहकर संथारा पर बैठ कर मुख वस्त्रिका का पडिलेहन कर फिर श्री नमस्कार मंत्र और करेमि भंते तीन बार कहे । फिर बायीं करवट से (३५९) हाथ का तकिया कर कुकड़ी के समान दो पैर आकाश में ऊँचे-लम्बे करके सो जाये, ऐसा करते जब थक जाये तब संथारे के ऊपर की भूमि का प्रमार्जन कर के विधि पूर्वक पैरों को संथारे में लम्बा करे (३६०) । 'यदि मेरे इस शरीर का इस रात्रि में प्रमाद (वियोग) हो जाये तो आहार, उपधि और शरीर इन सब (तीनों) को त्रिविध-त्रिविध से मैं वोसिराता हूँ' (३६५) । इत्यादि ध्यान करते साधु क्षण मात्र निद्रासुख का अनुभव करे अर्थात् सो जाये । उसमें भी साधु प्रमाद भीरु होने से घोर निद्रा से न शयन करे (३६६) ।''

इस तरह से रात्रि के पहले पहर का कर्तव्य कहा । अब दूसरे पहर में सर्व साधु सोयें अथवा कोई जागे ? यह जानने की इच्छा होने पर भी पुरुष भेद (उस साधु) के उद्देश्य को दूसरे और तीसरे पहर में करने योग्य भिन्न-भिन्न विधि कहते हैं –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थविराणां द्वितीयेऽपि यामे सूत्रार्थ भावनम् ।
अर्द्धरात्रिक कालस्य, तृतीये ग्रहणं चे वैः ॥१००॥

मूलार्थ – "स्थविर साधु को दूसरे पहर में भी सूत्रार्थ का चिन्तन करना चाहिए और जब तीसरा पहर प्रारंभ हो तब उनको अर्ध रात्रिक (अद्धरत्ती) काल ग्रहण लेना चाहिए।"

व्याख्या – स्थविर अर्थात प्रौढ़ गीतार्थ साधु को पहले पहर के समान दूसरे पहर में भी सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। वह सापेक्ष यति धर्म है। इसी तरह पूर्व के समान वाक्य सम्बन्ध समझना। फिर जब तीसरा पहर प्रारंभ होता है तब वह स्थविर साधु अर्धरात्रिक नामक दूसरे काल को ग्रहण शुद्धि पूर्वक ले। कहने का तात्पर्य यह है कि वृषभ (प्रौढ़) गीतार्थ साधु 'शेष निद्राधीन बने साधु के रक्षण के लिए दूसरे पहर में भी जागते हैं और सूत्रों के अर्थ का चिंतन करते दूसरा पहर पूर्ण करते हैं। उसके बाद तीसरे पहर के प्रारंभ में वही साधु उपाध्याय आदि पूज्य को कहकर अनुमति प्राप्त कर अद्धरत्ती काल ले, क्योंकि अन्य साधु उस समय में सोये हुए होते हैं। यति दिनचर्या में कहा है कि–

थेरा विइअं जामं, सुत्तत्थ विभावणाइ नीसेसं ।
अइ वाहिअ थिरहिअया, पत्ते तइअंमि जामंमि ॥३६७॥

गिण्हंति अद्धरत्तिअ कालं गुरुणो तओ विउज्झंति ।
पुव्वुत्तेणं विहिणा, थेरा निद्दं पकुव्वंति ॥३६८॥

अर्थात् – "स्थविर दूसरा पहर सूत्र और अर्थ के चिन्तन करने में पूर्ण करके, धर्मानुष्ठान में स्थिर हृदय वाले वे तीसरा पहर आरंभ होते ही 'अर्द्धरात्रिक' नामक काल ग्रहण करे। उसके बाद जब गुरु महाराज जागें तब पहले कहे अनुसार उस विधि से स्थविर निद्रा ले।"

अब रात्रि के तीसरे पहर के कर्तव्य का प्रतिपादन करते हैं–

ततोऽवबोधश्च गुरोस्तेषां चशयनं तथा ।
उद्वर्त्तनादि यतना, सन्मनोरथ चिन्तनम् ॥१०१॥

मूलार्थ – "अर्द्धरात्रिक काल ग्रहण लेने के बाद गुरु को जागना और स्थविरों को शयन करना, निद्रा छोड़ते समय पासा बदलना, पैर एकत्रित करना आदि जयणापूर्वक करना और उग्र विहार करना, नया ज्ञान प्राप्ति आदि के सुन्दर मनोरथ करना।"

व्याख्या – उसके बाद अर्थात् अर्द्धरात्रि काल ग्रहण करने के बाद गुरु–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आचार्य आदि निद्रा से जागृत हों और उन्होंने-दूसरे पहर में जागने वाले स्थविरों को शयन करना। यह दोनों का सापेक्ष यति धर्म समझना अर्थात् गुरु को जागना और स्थविर को शयन करना, यह उनका रात्रि का तीसरे पहर का कर्तव्य समझना। उसमें भी विधि इस तरह है कि - स्थविर अद्धरत्ती काल ग्रहण करके आचार्य को जगाये, उसके बाद उनको वंदन करके (काल सूझे) शुद्ध कहे और गुरु 'तहत्ति' कहे। उसके बाद स्थविर सो जाय। बाद में आचार्य दूसरे साधु को जगाकर काल का ज्ञान अर्थात् आकाश में ग्रहादि की गति देखकर 'कितना समय हो गया' उसका निर्णय करावे और स्वयं वैरात्रिक काल का समय हो तब तक सूत्र-अर्थ का चिन्तन करे। यदि अर्द्धरात्रिक काल अशुद्ध हो, तो जागता हुआ साधु पहले लिये शुद्ध प्रादोषिक काल का प्रवेदन करके स्वाध्याय करे। इस तरह आगे वैरत्रिक (वेरत्ति) काल यदि अशुद्ध हो, तो उसके पहले लिये अद्धरत्ती काल का प्रवेदन (पवेयण) करके स्वाध्याय करे, परन्तु प्रामात्रिक (पामाइ) काल यदि अशुद्ध हो, तो उसका ही निवेदन करके भी स्वाध्याय करे, इतना पामाई काल के लिए अपवाद समझना।

अब निद्रा त्याग करने की विधि कहते हैं कि - उद्वर्तनादि यतनापूर्वक करना। उसमें उद्वर्तना अर्थात् एक पासे से दूसरा पासा बदला, आदि शब्द से परिवर्तना अर्थात् पुनः मूल करवट (पासा) में बदलना, आकुञ्चन अर्थात् पैर आदि को संकोच करना एवं पैर आदि लम्बा करना, इत्यादि करते शरीर और संथारे के प्रमार्जन रूप यतना करना। यति दिनचर्या में कहा है कि -

उव्वत्तण परिअत्तण पमुहं जइणो कुणंति जइ तत्तो।
पडिलेहयंति पठमं, शरीरयं तयणु संथारं ॥३६६॥

अर्थात् -"यदि साधु उद्वर्तना अथवा परिवर्तना आदि करता है, तो पहले शरीर का फिर संथारा का प्रतिलेखन करने के बाद में करवट को बदलना चाहिए।" तथा मुझे उग्र विहार करना है, अप्रमत्त भाव से संयम की आराधना करना है, सविशेष सूत्र का अध्ययन करना है, इत्यादि मन में उत्तम मनोरथ करे। इसके विषय में यति दिनचर्या में भी कहा है कि -

अब्भुज्जुअं विहारं भुवणु द्वारं च तह अज्जामंसि।
चिंतति जागरंता, झायंति गुरु तहा तत्तं ॥३७१॥

गुरु थेर बालपमुहा, निअनि असमयं मि थोवकय निद्दा।
भावेण वि जग्गंता, ठवंति हिअए इमं सम्मं ॥३७२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''तीसरे पहर में जागा हुआ साधु 'अभ्युद्यत' अर्थात् लम्बे उग्र विहार करना - संयम के पालन करने में अप्रमाद भाव रखना, नया सूत्रादि का अध्ययन करना, निरतिचार चारित्र का पालन करना इत्यादि उत्तम मनोरथ का चिन्तन करे तथा भवन द्वार अर्थात् उपाश्रय के दरवाजे की चिन्ता (चौकसाई) करे। उस समय गुरु महाराज भी तत्त्व (अर्थ) का चिन्तन करें (३७१)। गुरु, स्थविर और बाल साधु आदि अपनी अपनी निद्रा के समय करते हैं तथा संयम के लिए अल्प निद्रा लेते हृदय में इस तरह उत्तम मनोरथों का विचार करते हैं (३७२)।''

अर्थात् ज्ञान, क्रिया और श्रद्धा से युक्त, सम्पूर्ण शुद्ध गच्छ की निश्रा में रहकर मैं निरतिचार चारित्र का पालन कब करूंगा ? गच्छवास में बारह पडिमाओं का पालन करके मायारहित बना मैं जिन कल्पी कब स्वीकार करूँगा ? मेरा वह जन्म, वह वर्ष, वह दिन और वह घड़ी कब आयेगी कि जब मैं श्री जिनेश्वर परमात्मा के चरणों में चारित्र लेकर उसका निरतिचार पालन करूँगा ? पर्वत की गुफा को सुन्दर संयम मन्दिर मानकर, वहां प्रतिमा को धारण करते हर्ष से शरीर रोमांचित कब होगा ? एवं आनंद के आंसू से मेरा मुख कब भीगेगा ? वह सुप्रभात समय कब आयेगा कि जब देवांगनाए सहर्ष हाव-भाव से क्षोभित करेंगी, फिर भी मैं निश्चल मन वाला बनकर उस अनुकुल उपसर्ग को जीतूंगा ? मेरु पर्वत के समान निष्कंप होकर पर्वत के शिखर पर मैं काउस्सग्ग कब करूंगा ? और वह दिन, मास, वर्ष कब आयेगा कि मैं सदा धर्म ध्यान में स्थिर रहूंगा ? ऐसा समय कब आयेगा कि शुद्ध-सिद्ध सिद्धान्त को मधुर स्वर से पडते मेरी अवाज से आकर्षित होकर जंगल के मृग आदि सपरिवार मेरे पास में आकर सुनने में तल्लीन होंगे। इत्यादि मनोरथ - अध्ययवसाय स्वरूप मानसिक शुभ प्रवृत्ति करे। इससे विशेषतया अशुभ कर्मों की निर्जरा और शुभ (पुण्य) कर्मों का बंधन होता है, इस तरह महान लाभ होता है, इसलिए शुभ मनोरथ करणीय हैं। जीव वर्तमान में जैसा मनोरथ करता है वह भविष्य में वैसे कार्य में बल उत्साह प्रगट करने के लिए परम उपयोगी बनता है। इस तरह मनोरथ से आत्मा निर्मल संयम की आराधना के लिए योग्य बन जाती है। अत: आगे यति दिनचर्या में कहा है कि-

निव्वाण पुर रहेहिं, एमा रमणो रहेहिं धन्नाणं ।
जग्गं ताणं जामिणि पच्छिम जामो समणुपत्तो ॥३८४॥

अर्थात् - ''निर्वाणपुरी - मोक्षनगर में पहुँचने के लिए रथ तुल्य ऐसे उत्तम मनोरथ द्वारा धर्म जागरण करते मुनियों को धन्य है अर्थात् वह गच्छ, गांव, देश आदि धन्य है जहां मुनि भगवंत हमेशा मध्य रात्रि में काउस्सग्ग में रहते हैं, आत्मा से आत्मा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का अवलोकन करते हैं, सूत्र - अर्थ से, मन के निर्मल उपयोग से, शुद्ध चारित्र पालन करते हैं। इस तरह चिन्तन करते उनकी रात का अन्तिम पहर पूर्ण होता है।'' अब चौथे पहर में करने योग्य कर्तव्य को बताते हुए कहते हैं कि -

प्राप्ते चतुर्थ यामे तु विश्रामण कृतिर्गुरोः ।
स्थविराद्यैर्जागरित्वा, तत्र वैरात्रिक ग्रहः ॥१०२॥

मूलार्थ - ''जब चौथा पहर प्रारंभ हो, तब स्थविर, बाल, वृद्ध आदि सभी को जागकर गुरु महाराज को विश्रामण करना और उस चौथे प्रहर में वैरात्रिक (वेरति) नामक काल ग्रहण लेना।''

व्याख्या - जब चौथा पहर आरंभ हो तब स्थविर, बाल मुनि, वृद्ध आदि सब साधुओं को जागकर गुरु महाराज का शरीर दबाना आदि सेवा करना तथा उस चौथे पहर में वेरत्ति काल को ग्रहण करना। ये दोनों कार्य करना सापेक्ष यति धर्म हैं- ऐसा समझना। उस समय 'गुरु महाराज पुनः सो जायं' यह बात मूल श्लोक में नहीं कही, फिर भी समझ लेना। ओघ निर्युक्ति की गाथा ६६० की टीका में इसके विषय में कहा है कि - जब तीसरा पहर हो, उस काल का प्रतिचारक (समय की सूचना देने वाला) साधु व आचार्य को 'समय आ गया है' इस तरह कहकर वेरत्ति काल को ग्रहण करे। आचार्य भी काल का प्रतिक्रमण करके जब पुनः सो जायं, तब जो सोये हों वे स्थविर-बाल, वृद्धि आदि सभी मुनि जागकर जब तक प्राभातिक (पाभाइ) काल ग्रहण लेने का समय हो तब तक वैरात्रिक स्वाध्याय करें (सज्झाय पढावे)। उसके बाद एक साधु उपाध्याय को अथवा अन्य बड़े साधु को बताकर अनुमति लेकर पामाई काल ग्रहण करे।'' यति दिनचर्या में भी कहा है कि -

बीसाममित्थ गुरुणो, कुणंति जग्गंति तयणु थेराई ।
वेरत्तिअं पि कालं, गिज्झिअ कुव्वंति सज्झायं ॥३८५॥

अर्थात् -'' रात्रि के अन्तिम पहर में साधु जागकर, गुरु के पास में आकर गुरु की विश्रामण-सेवा करे, उसके बाद स्थविर आदि वेरत्ति काल ग्रहण करे और फिर सर्व साधु बहुत अल्प अवाज से स्वाध्याय करें।''

अब चौथे पहर का शेष कर्तव्य कहते हैं कि -

ततः स्वाध्याय करणं, यावत्प्राभातिकक्षणम् ।
इत्येवं दिनचर्यायाश्चरणं शुभ योगतः ॥१०३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूलार्थ - "वह वेरत्ति काल ग्रहण करने के बाद पाभाई काल तक स्वाध्याय करना। इस प्रकार दिनचर्या-दिन की करणी को शुभ योग से करना चाहिए।"

व्याख्या - उसके बाद अर्थात् वेरत्ति काल ग्रहण करने के बाद स्वाध्याय करना सापेक्ष यति धर्म है। वह कब तक करना चाहिए ? उसके लिए कहते हैं कि- प्राभातिक काल ग्रहण का समय हो उतने काल तक स्वाध्याय का समय जानना। यह स्वाध्याय चौथे प्रहर में जागने के बाद - कुसुमिण - दुसमिण का काउस्सग्ग आदि विधि करके फिर करना। इस तरह पहले दिनचर्या का वर्णन करते समय प्रारंभ में इस ग्रन्थ में ही कहा है, फिर भी दिन की प्रथम और अन्तिम क्रिया का अनुसंधान बताने के लिए यहां पुनः काउस्सग्ग आदि विधि याद करवाते हैं, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है और जो पूर्व में कहा है उसके अतिरिक्त नयी विधि भी नहीं है।

प्राभातिक काल उपाध्याय या अन्य बड़े गुरुजन को कहकर ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद गुरु-आचार्य जागें। यह भी पहले कहा ही है। अब प्रतिदिन करने की दिन करणी का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि हमने जिस प्रकार से दिन व रात्रि का कर्त्तव्य कहा है, वह उसी प्रकार से करना सापेक्ष यति धर्म है, इस तरह वाक्यार्थ का सम्बन्ध समझना। यह कर्तव्य किसी को अशुभ योग से भी होता है, इसलिए कहा है कि शुभ योग से करना अर्थात् प्रशस्त मन, वचन और काया रूप शुभ हेतु द्वारा दिनचर्या करना। इस प्रकार यहां तक दिनचर्या का वर्णन उसके अंगभूत (नित्य कर्तव्य भूत)१ -प्रतिलेखना, २-पिण्ड, ३-उपधि और ४- अनायतन का त्याग = शुद्ध वसति का सेवन रूप ओघ समाचारी में कहे चार द्वारों का वर्णन किया, शेष रहे अतिचार, आलोचना और प्रायश्चित्त रूप तीन द्वार उस स्थान में कहेंगे। इस तरह ओघ समाचारी का क्रम बताया है। अब इस प्रकार और पद विभाग से शेष रही दो समाचारी का स्वरुप बताते हुए कहते हैं कि -

इच्छामिच्छातथाकारा, गताऽवश्य निषेधयोः ।
आपृच्छा प्रतिपृच्छा च, छन्दना च निमन्त्रणा ॥१०४॥

उप सम्पच्येति जिनैः, प्रसप्ता दशधाऽभिधा ।
भेदः पदविभागस्तु स्वादुत्सर्गाऽपवादयोः ॥१०५॥

अर्थात्- "१- इच्छाकार, २- मिथ्याकार, ३- तथाकार, ४- आवश्यिकी, ५-नैषेधिकी, ६- पृच्छा, ७- प्रतिपृच्छा, ८- छन्दना, ९- निमन्त्रणा और १० उप सम्पदा- इस तरह जिनेश्वर ने दसधा नामक समाचारी कही है, पद विभाग समाचारी तो उत्सर्ग - अपवाद के भेद स्वरूप है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याख्या- श्री जिनेश्वर ने दसधा समाचारी कही है, मूल श्लोक में इच्छा आदि पद के अन्त में 'कार' शब्द प्रयोग वाचक कहा है, और इच्छादि तीन-तीन शब्द साथ में सम्बन्ध रखते हैं । इस से श्रद्धा अर्थवाला 'इच्छा' शब्द, व्यलीक (विपरीत) अर्थवाला 'मिथ्या' शब्द और अवितथ अर्थ बताने वाला 'तथा' शब्द- इन तीनों का 'कार' अर्थात् करना - उस विषय में उसके अनुसार आचरण करना ही १ इच्छाकार, २- मिथ्याकार, और ३- तथाकार कहलाता है । इस तरह तीनों का समग्र - समासान्त अर्थ समझना । उनका भिन्न-भिन्न अर्थ इस प्रकार है-

१. इच्छाकार - चाहना = इच्छा और करना = कार अर्थात् बलात्कार बिना इच्छानुसार करना । अतः यदि तेरी इच्छा हो तो यह अमुक कार्य कर अथवा यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मैं अमुक कार्य करता हूँ, इस तरह सामने भी इच्छानुसार आदेश या स्वीकार करना 'इच्छाकार' कहलाता है ।

२. मिथ्याकार - विपरीत, झूठा, असत्य- ये मिथ्या शब्द के पर्याय अर्थ हैं, इसलिए विपरीत, झूठा या असत्य करना मिथ्याकार कहलाता है । संयम योग से विपरीत आचरण हो जाने के बाद उसकी विपरीतता बताना, स्वीकार करना, इसलिए श्री जिन वचन के मर्म को जानने वाले मुनि 'मिथ्याकार' कहते हैं अर्थात् यह मिथ्या है, ऐसा बताते हैं ।

३. तथाकार - 'इसी ही तरह करना' उसे तथाकार कहते हैं । सूत्र-अर्थ आदि व्याख्यान समय में तथा शंका समाधान आदि में 'आप ने जो जैसा कहा है वह वैसा ही है,' इस तरह सामने वाले को बताने के लिए 'तथाकार' का प्रयोग किया जाता है ।

४. आवश्यिकी, ५. नैषेधिकी - अवश्य करणीय और अकरणीय कार्यों के विषय में जो समाचारी (आचरण) है, उसे अनुक्रम से आवश्यिकी और नैषेधिकी कहते हैं । उसमें ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति के लिए अवश्य करणीय अध्ययनादि प्रवृत्ति या ऐसी किसी प्रयोजन में उपाश्रय आदि से अपने स्थान से बाहर जाने की क्रिया तथा उसे सूचित करने वाले शब्दोच्चार को भी 'आवश्यिकी' कहते हैं तथा असंवृत- जिससे अशुभ कर्मों का बन्धन हो ऐसी शरीरिक चेष्टा को रोकना, बाहर गये को रोकना, उसके लिए अपने निवास स्थान (उपाश्रय) में आ जाना, इत्यादि प्रवृत्ति और ऐसे अर्थ सूचक शब्दोच्चार करना, इस तरह प्रत्येक अशुभ प्रवृत्ति का निषेध करना (रोकना) उसे 'नैषेधिका' कहते हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६. आपृच्छा - इसमें यह शब्द१ अव्यय है, इससे 'मर्यादा और अभिविधि' इस तरह दो अर्थ होते हैं। उसमें मर्यादा से अर्थात् तथाविध विनय पूर्वक, अभिविधि से अर्थात् छोटे-बड़े किसी भी प्रयोजन से सर्व कार्यों में गुरु को पृच्छा अर्थात् पूछकर करना कहा है, उसे 'आपृच्छा' समाचारी कहा है।

७. प्रतिपृच्छा - बार-बार पूछना वह प्रतिपृच्छा है। गुरु आदि ने 'यह काम तुझे करना है' इस तरह पहले कहा हो, उसी काम को करते समय करने वाला काम की प्रेरणा देने वाले उस गुरु आदि से 'मैं वह आपके कहे अनुसार काम करूं' इस प्रकार पुनः पूछे, उसे प्रतिपृच्छा कहा है। यह प्रतिपृच्छा इस कारण से आवश्यक है कि - किसी समय अमुक काम के बदले वे अन्य काम यदि करने को कहें अथवा जो पहले करने को कहा हो उसका प्रयोजन न हो तो निषेध करना हो, अगर एक बार गुरु ने ना कह दी हो फिर भी वह काम करने का प्रयोजन हो, इसलिए भी पुनः पूछना उसे भी प्रतिपृच्छा कहते हैं।

८. छन्दना - अशन, पान, वस्त्र, पात्रादि लाने के बाद सर्व साधुओं को विनती करे कि - मैं यह अशनादि लाया हूँ, उसमें से किसी को भी यदि यह उपयोगी हो तो वह इच्छानुसार स्वीकार करो। इस तरह अशनादि को देने के लिए कहना, उसे 'छन्दना' कहते हैं।

९. निमन्त्रणा - अशनादि लाने के पहले ही साधु को विनती करना कि - मैं आप के लिए अशनादि लाऊं ? वह 'निमन्त्रण' कहलाता है।

१०. उपसम्पदा - ज्ञानादि गुण की प्राप्ति के लिए अपने गुरु को छोड़कर उनकी अनुमति से अन्य गच्छीय-समुदाय गुरु की निश्रा में रहना, उसे 'उपसंपदा' कहते हैं। इस प्रकार समाचारी का यहां संक्षेप में अर्थ कहा है। विस्तृत अर्थ तो प्रत्येक का अलग-अलग विषय आदि से कहने में आ रहा है। वह इस प्रकार -

१. इच्छाकार - उत्सर्ग मार्ग में तो साधु को सामर्थ्य होने पर किसी कार्य के लिए अन्य साधु को कहना नहीं, उस की आशा भी नहीं रखना, परन्तु अपना शरीरिक बल और आत्म वीर्य - उत्साह छुपाये बिना स्वयं रखना। यदि कोई ऐसा कार्य करने का सामर्थ्य या कुशलता अपने में न हो तो ऐसे साधु रत्नाधिक बड़े साधु के सिवाय अन्य साधु के पास अपना वह कार्य कराने की जब मांग करे, तब 'इच्छाकार' करे अथवा उसकी मांग बिना ही उसका वह कार्य करने की शक्ति वाला और निर्जरा (वैयावच्च) करने का अर्थी कोई साधु जब उसके पास में उस कार्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की मांग करे तब 'इच्छाकार' करे अथवा कोई एक साधु अपना अति बड़ा भी कार्य करने में समर्थ और कुशलता वाला हो, फिर भी अन्य निर्जरा से साधु उसका वह कार्य करने की मांग करता हो, यह जान कर उस कार्य को करके देने की इच्छा वाला जब कोई तीसरा साधु मांग करे, तब वह भी 'इच्छाकार' करे अर्थात् 'यदि आपकी इच्छा हो तो आप का यह कार्य इसके बदले में मैं करता हूँ।' इस तरह कहे। मतलब कि - जबरदस्ती से नहीं परन्तु यदि आप की इच्छा हो तो करूँ' ऐसा कहना 'इच्छाकार' कहलाता है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि -

जइ अब्भत्थिज्ज परं, कारण जाए करेज्ज से कोई ।
तत्थ वि इच्छाकारो, न कप्पइ बलभिओगो अ ॥६६८॥

जइ होज्ज तत्थ अणलो कज्जस्स विजाणई ण वा वाणं ।
गेलण्णाई हिं वा होज्ज, वियावडो कारणेहिं सो ॥६७०॥

रायणियं वज्जेत्ता, इच्छाकारं करेइ सेसाणं ।
ए अं मज्झं कज्जं, तुब्भे उ करेह इच्छाए ॥६७१॥

अहवा वि विणासंतं अब्भत्थें तं च अण्ण दट्ठूणं ।
अण्णो कोइ भणेज्जा, तं साहू णिज्जरट्ठी ओ ॥६७२॥

अहयं तुब्भं एयं, करेमि कज्जं तु इच्छकारेणं ।
तत्थवि सो इच्छं से, करेइ मज्जाय मूलियं ॥६७३॥

अर्थात् - "ग्लानादि किसी कारण से जब कोई साधु अन्य साधु से कुछ काम करवाने की विनती करे, तब उसे अथवा कोई साधु बिना विनती से भी उसका वह काम करना यदि चाहता हो तो उसे भी वह काम करना मांगते 'इच्छाकार' करना, क्योंकि बलात्कार से किसी से काम नहीं करवाना चाहिए और किसी का काम बलात्कार से करना भी नहीं चाहिए अर्थात् काम कराने वाला - करने वाला दोनो से विनती करते या मांग करते 'इच्छाकार' समाचारी का प्रयोग करना चाहिए (६६८)। किस प्रसंग पर ऐसा करना पड़े वह कहते हैं कि - यदि वह साधु करने योग्य कार्य करने की शक्ति अथवा कुशलता बिना का हो अथवा ग्लान आदि साधु के कार्य में स्वयं रुका हो, इत्यादि कारणों से अन्य के द्वारा जब काम कराना पड़े तब इच्छाकार करे (६७०)। यह 'इच्छाकार' रत्नाधिक को रत्नाधिक बिना के शेष साधु से करना चाहिए। जैसे कि -'यह मेरा वस्त्र सीने आदि का काम यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम करो (६७१)। अथवा ऐसी विनती यदि न करे तो भी वह कार्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करने में असमर्थ कोई उसे बिगाड़ता हो अथवा कोई कुशलता वाला न हो परन्तु बिगाड़ता हो अथवा दूसरा कोई साधु किसी के पास उसके काम की मांग करता हो, उसे देखकर भी कोई तीसरा निर्जरा का अर्थी साधु उसके पास उस काम की मांग करे। तब कहे कि (६७२) 'आप का यह काम यदि आप की इच्छा हो तो मैं करूं'। तब भी इच्छाकार (आप की यदि इच्छा हो तो) इस तरह कहे, कारण कि - यह मर्यादा का मूल है अर्थात् साधु की परस्पर ऐसी मर्यादा है कि करने की इच्छा बिना अन्य ने कोई काम उससे नहीं करवाना और करने वाला भी कराने वाले की इच्छा बिना, बलात्कार से उसका काम नहीं करना (६७३)।'

जिस साधु को दूसरे की ओर से विनति करने में आए उसे यदि गुरु आदि दूसरे का कार्य उस समय में करने का यदि न हो तो वह आत्मोपकार के लिए 'इच्छाकार' करे, परन्तु यदि उस समय में गुरु आदि बड़ों का कोई कार्य उसे करने का हो, तो वह कारण बताये अर्थात् 'आप का काम करना मैं चाहता हूँ किन्तु अमुक का काम मुझे करना है।' इस तरह इच्छाकार पूर्वक निषेध करे। इस तरह जिसको प्रार्थना करने में आए, उस साधु को 'इच्छाकार' करने की विधि बताई है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि -

तत्थवि सो इच्छं से, करेइ दीवेइ कारणं वा वि ।
इहरा अणुग्गहत्थं, कायव्वं साहूणो किच्चं ॥६७५॥

अर्थात् - "वहां भी अर्थात् कोई जब काम करने की विनती करे, तब सामने वाला भी 'इच्छाकार' करे अथवा उसे गुरु आदि का कोई अन्य काम यदि करना हो तो वह कारण बताना चाहिए, परन्तु ऐसा किसी का अन्य काम यदि करना न हो तो अनुग्रह के लिए वह साधु का काम करे।"

तथा ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए कोई साधु आचार्य आदि की वैयावच्च अथवा विश्रामणा-शरीर सेवा आदि करता हो, उससे वैयावच्च आदि कराते समय आचार्य को भी इच्छाकार करना चाहिए अर्थात् उसकी इच्छा देखकर उस कार्य में जोड़ना चाहिए। आगे कहा है कि-

अहवा नाणाईणं, अट्ठाए जो करेज्ज किच्चाणं ।
वैया वच्चं किंची, तत्थवि तेसिं भवे इच्छा ॥६७६॥

अर्थात् - "अथवा कोई साधु अपने ज्ञानादि गुणों की वृद्धि के लिए आचार्य की वैयावच्च अथवा विश्रामणादि कुछ भी कार्य यदि करना चाहता हो, उसे भी उस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कार्य में लगाने से पहले आचार्य को उस साधु के प्रति भी 'इच्छाकार' करना चाहिए।

यह 'इच्छाकार' संयम साधक प्रवृत्ति के विषय में समझना। उसके पालन से कार्य करने वाले शिष्य को अत्यंत प्रमोद होता है, साधुता की परस्पर समाचारी का रक्षण होता है, शिष्टाचार के पालन से महान् कर्म निर्जरा होती है और उच्च गोत्र के साथ में आदेय नाम कर्म का बन्धन होता है। इससे अन्य को वही वचन आदेय बनता है। इत्यादि अनेक आत्म लाभ होते हैं। इससे विपरीत बलात्कार से करने करवाने से आत्मा की बहुत हानि होती है। इससे ज्ञानादि गुण साधक को 'इच्छाकार' समाचारी का अवश्य पालन करना चाहिए। किस कारण से 'इच्छाकार' करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर आगे आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं–

आणा बलाभिओगो, णिग्गंथाणं ण कप्पई काउं ।
इच्छा पउंजिअव्वा, सेहे राइणिए य तहा ।।६७७।।

अर्थात् – ''तुम यह करो'' ऐसी आज्ञा या कार्य नहीं करने वाले के प्रति जबरदस्ती करना निर्ग्रन्थ साधु को नहीं कल्पता। जब कुछ प्रयोजन हो तब भी छोटे साधु को रत्नाधिक से और रत्नाधिक को भी छोटे साधु से कोई प्रश्न-पाठ आदि पूछना तथा उपलक्षण से उससे अन्य कोई भी कार्य कराते समय 'इच्छाकार' करना।''

यह उत्सर्ग मार्ग कहा है। अपवाद मार्ग में तो किसी दुर्विनीत साधु को आज्ञा देना अथवा जबरदस्ती करना भी अनुचित नहीं है। उत्सर्ग मार्ग से तो ऐसे दुर्विनीत के साथ में रहना ही उचित नहीं है, फिर भी बहुत स्वजनों के सम्बन्ध से प्रतिबद्ध होने से जब उसे छोड़ नहीं सकते तो उस समय ऐसी विधि है कि -प्रथम उसे 'इच्छाकार' पूर्वक करणीय कार्य में लगाया जाय। यदि वह इस तरह से न करे तो आज्ञा से कार्य करवाना और फिर वह न करे तो बलात्कार से भी कार्य करवाना चाहिए। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि–

जह जच्च वाहलाणं, आसाणं जण वएसु जायाणं ।
सयमेव खलिणा गहणं, अहवा वि बलाभिओगेणं ।।६७८।।

पुरि सज्जाए वि तहा, विणी यविणयंमि नत्थि अभिओगो ।
सेसं मिउ अभिओगो, जण वय जाए वहा आसे ।।६७९।।

अर्थात् – ''जैसे जातिवंत वाह्लीक देश का घोड़ा स्वयमेव लगाम को स्वीकार करता है और अन्य देश में जन्मे घोड़े को जबरदस्ती चढ़ानी पड़ती है, वैसे ही पुरुष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के भेद में भी जो विविध विनय से विनीत होता है उससे किसी भी कार्य के लिए बलात्कार नहीं करना पड़ता, किन्तु सामान्य देश में जन्मे हुए घोड़े समान अविनीत को आज्ञा या बलात्कार से भी कार्य करवाना आवश्यक है।'' अविनीत से कार्य कराने में बलात्कार होने पर भी गुरु के हृदय में वात्सल्य भाव होता है, इत्यादि विस्तार आवश्यक वृत्ति-चूर्णि पंचासक आदि ग्रन्थों से जान लेना।

२. मिथ्याकार - इस समाचारी का विषय इस प्रकार है, समिति गुप्ति रूप संयम की साधना में उद्यमशील साधु से जो कोई भूल हो जाय, उसका 'मिथ्या दुष्कृत' देना चाहिए। यह मिथ्या दुष्कृत (मिच्छामि दुक्कडं) संयम योग (ज्ञानादि) की साधना करने में लगे किसी भी दोष को शुद्ध करने में समर्थ है, परन्तु हठ से अथवा बारम्बार होती भूलों से शुद्धि करने में समर्थ नहीं होता अर्थात् इरादे पूर्वक होती अथवा बारम्बार होती भूल की शुद्धि 'मिथ्या दुष्कृत' देने पर भी नहीं होती है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

जं दुक्कडंति मिच्छा, तं भुज्जो कारणं अपुरिंतो ।
ति विहेण पडिक्कंतो, तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा ॥६८५॥

अर्थात् - ''जिसने एक बार जो भूल की उसका मिथ्या दुष्कृत दिया, पुनः वैसी भूल यदि विशिष्ट कारण के बिना न करे तो उसका मिथ्या दुष्कृत त्रिविध प्रतिक्रमण रूप शुद्ध गिना जाता है। और भी कहा है कि-

जं दुक्कडंति मिच्छा, तं चेव निसेवए पुणो पावं ।
पच्चक्खमुसावाई, माया निअडी पसंगो य ॥६८६॥

अर्थात् - ''जो भी हुई भूल का मिथ्या दुष्कृत देकर पुनः उस पाप को सेवन करता है, वह प्रत्यक्ष मृषावादी है, अर्थात् उसका मिथ्या दुष्कृत दिया हुआ झूठा है। इतना ही नहीं वह माया रूप कपट करने वाला है। माया-कपट से उसकी आत्मा मलिन होती है। वह निश्चय-भाव से पाप का प्रतिपक्षी नहीं होता है, केवल बाह्य रूप से शब्द प्रयोग करते 'मिच्छामि दुक्कडं' देकर गुरु को प्रसन्न करने वाला है।'' इससे पाप की निर्जरा नहीं होती। न संवेग जागता है। संवेग के अभाव में पाप प्रवृत्ति संभव होती है, इससे उसका 'मिच्छामि दुक्कडं' निष्फल होता है, और पुनः पाप प्रवृत्ति करते माया-कपट सेवन करने लगता है। इत्यादि पाप का सेवन करता है।

३. तथाकार - इस समाचारी के विषय में कहते हैं कि पहले 'तथाकार' (तहत्ति) कैसे महापुरुष के आगे कहा जाता है ? उसे कहते हैं कि-जिसके सामने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'तहत्ति' कहना हो, वह महापुरुष गीतार्थ और मूल-उत्तर गुणों से विभूषित होना चाहिए। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

कप्पाकप्पे परिनिट्ठिअस्स ठाणेसु पंचसु ठिअस्स ।
संजमतवड्ढगस्स उ, अविगप्पेण तहाकारो ॥६८८॥

अर्थात् - "कल्प अर्थात् विधि, आचार इत्यादि, उससे विपरीत अविधि, असदाचार आदि 'अकल्प' समझना, अथवा जिन कल्प, स्थविर कल्प आदि को कल्प और चरक-परिव्राजक आदि की दीक्षा को अकल्प समझना, अथवा कल्प ग्रहण करने योग्य और अकल्प अर्थात् ग्रहण नहीं करने योग्य। उसमें **परिनिट्ठिअस्स** उस कल्प-अकल्प का पूर्ण ज्ञान जिसको हो तथा पांच महाव्रतों से ही पांच स्थानों में स्थिर, दोष रहित और संयम तथा तप आदि गुणों से महान हो- ऐसे उत्तम ज्ञानी पुरुष को निश्चय से '**तथाकार**' करना अर्थात् उसके आज्ञा वचन को 'तहत्ति' कहकर स्वीकार करना।" यह 'तथाकार' वाचना लेना, गुरु आदि का उत्तर सुनना, इत्यादि प्रसंग में करना चाहिए। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

वायण पडि सुणणाए, उवए से सुत्त अत्थ कहणाए ।
अवति हमें अंति तहा, पडिसुणणाए तहाकारो ॥६८६॥

अर्थात् - "जब गुरु महाराज वाचना दें, तब सूत्र ग्रहण करने वाले को 'तथाकार' करना, गुरु अथवा अन्य ज्ञानी पुरुष सामान्य साधु को आचार का जब उपदेश दें तब सुनने वाले को 'तथाकार' करना तथा सूत्रार्थ कथन के समय व्याख्यान सुनते समय- आप ने जो कहा है वह सत्य है, ऐसा कहना। इतने प्रसंग में ही 'तथाकार' करना- ऐसा नहीं है, परन्तु पूछने के बाद भी जब आचार्य श्री उत्तर दें तब पुनः सुनते ही श्रोता को तथाकार रूप तहत्ति शब्द का प्रयोग करना चाहिए।"

यह उत्सर्ग मार्ग कहा है। अपवाद से तो वक्ता-कथन कहने वाला पूर्व गाथा ६८८ में जैसा कहा उसके अनुसार 'कल्पाकल्प परिनिष्ठित' आदि गुणों से विशिष्ट न हो तब न करें। उसके लिए उपदेशमाला में कहा है कि-

सुद्धं सुसाहु धम्मं, कहेइ निंदइ य निय यमायारं ।
सुत्तवस्सि आण पुरओ, हवइ अ सव्वोमरा यणि ओ ॥५१५॥

अर्थात् - "सुसाधु के शुद्ध आचारों का प्रतिपादन करे, अपने शिथिल आचरण की निन्दा करे और उत्तम तपस्वी साधु के आगे सर्व प्रकार से अपनी लघुता बताये, वंदन न करने दे और स्वयं छोटे भी सुसाधु को वंदन करे- इत्यादि लघुता प्राप्त करे।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस प्रकार लक्षण वाले संविज्ञ-सुसाधुता के पक्षकार और गीतार्थ साधु जब वाचना-उपदेश आदि देते हों, तब उनके वचन यदि युक्ति संगत हों या युक्ति रहित हों तो भी 'तहत्ति' शब्द कहना। उसके बिना यदि गीतार्थ भी संवेगी न हो, संवेगी होने पर भी गीतार्थ न हो, अथवा संवेगी या गीतार्थ इन दो में से एक भी गुण जिसमें न हो, ऐसे प्रज्ञापक के युक्ति संगत वचन में 'तहत्ति' कहना और ऐसा वचन न हो उसमें 'तहत्ति' नहीं कहना। पंचाशक में कहा है कि-

इयरम्मि विगप्पेणं जं जुत्ति खमं तहिं ण सेसम्मि ।
संविग्ग पक्खिए वा, गीए सव्वत्थ इयरेण ॥१२-१६॥

अर्थात् - "इतर अर्थात् प्रज्ञापक के लक्षणों से रहित उपदेश हो तो उसके सामने विकल्प से 'तहत्ति' कहना। वह इस तरह- जो वचन युक्ति संगत हो उसमें 'तहत्ति' कहना और दूसरे में 'तहत्ति' नहीं कहना, अथवा अपवाद से संविज्ञ पाक्षिक गीतार्थ उपदेश के सर्व वचनों में 'तहत्ति' कहना चाहिए।"

वस्तु शुभ होने पर भी यदि स्वीकार करने वाला शुभ भाव से स्वीकार न करे तो वह उसे यथार्थ फल नहीं दे सकती। जिन वचन सुनने वाला जितना आदर पूर्वक स्वीकार करता है उतना ही उसका फल प्राप्त करता है। यह एक परम सत्य है। इसलिए गुरु महाराज आदि उपकारी की हित शिक्षा अथवा शास्त्र वचन आदि को आदर पूर्वक 'तहत्ति' कहकर स्वीकार करना चाहिए। इससे आत्मा में मिथ्यात्व की मंदता होने के साथ ही श्रद्धा का बल प्रगट होता है। नहीं तो सुसाधु और संवेग के रंग से शुद्ध उपदेश देने वाले संविज्ञ पाक्षिक को 'तथाकार' नहीं करने वाले को मिथ्यात्व का उदय समझना। पंचाशक में कहा है कि-

संविग्गोऽणुवएसं ण देइ दुब्भासियं कडुविवागं ।
जाणंतो तंमि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं ॥१२-१७॥

अर्थात् - "जो संविग-भवभीरू हो, वह उत्सूत्र भाषण के कड़वे फलों को जानता हुआ अनुपेदश-उत्सूत्र कथन नहीं करता अत: ऐसा संविज्ञ पाक्षिक गीतार्थ सुसाधु हो फिर भी उसके वचन में 'तथाकार' नहीं करना, उसे मिथ्यात्व जानना।" क्योंकि-मिथ्यात्व के उदय बिना ऐसे शुद्ध प्ररूपक के वचन को अस्वीकार नहीं किया जाता। यह तीसरा 'तथाकार' समाचारी कहा।

४. आवश्यक - ५. नैषेधिकी - इन दोनों के विषय में अनुक्रम से 'निकलना और प्रवेश' है। आवश्यक निर्युक्ति गाथा ६९२ में कहा है कि - '**आवस्सियं च**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

णिंतो, ज च अइंतो णिसीहिअं कुणइ ।' अर्थात् – 'मकान में से निकलते 'आवस्सहियं' और प्रवेश करते नैषेधिकी या 'निसीहिय' कहते हैं ।' इसमें साधु को वसति में से कारण से ही निकलना होता है और ऐसे कारण से बाहर निकलते ही 'आवस्सहियं' कहने का होता है । अत: आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि–

एगंग्गस्स पसंतस्स, न हुंति इरिआदओ गुणा होंति ।
गंतव्यमवस्सं कारणम्मि आवस्सिआ होइ ॥६६३॥

अर्थात् – ''एक अग्र अर्थात् आलम्बन जिसको है, वह साधु एकाग्र कहलाता है । ऐसा भी कोई साधु अप्रशस्त आलम्बन वाला हो सकता है । अत: कहा है कि– **पसंतस्स** = प्रशान्त–क्रोध आदि से रहित साधु को मकान में रहने से ईर्या अर्थात् कारण का कार्य में उपचार करते ईर्या का कर्म बन्धन और आदि शब्द से शरीर विराधना, संयम विराधना आदि दोष नहीं होते । उपरान्त स्वाध्याय ध्यान आदि में गुण होता है अर्थात् शुद्ध संयम के उद्देश्य से एक स्थान में रहते हुए कषायादि दोष से रहित साधु को पूर्व कहते हुए गमनागमादि से होने वाला कर्म बन्धन आदि दोष नहीं होते, उलटा स्वाध्याय आदि का लाभ होता है । इससे यह निश्चय हुआ कि 'संयम के अर्थी को बाहर न जाना ही श्रेयस्कर है' । उसमें अपवाद कहते हैं कि– एक स्थान में रहने से गुणों का लाभ होता है इसलिए बाहर नहीं जाना चाहिए– ऐसा नहीं है बल्कि गुरु, ग्लान आदि अन्य साधु के प्रयोजन से तो अवश्य जाना चाहिए । ऐसे प्रसंग पर बाहर न जाने से उलटा दोष लगता है । इस कथन से निष्कारण बाहर जाने का निषेध समझना । कारण अर्थात् ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति में हेतुभूत 'भिक्षादि के लिए भ्रमण करना' इत्यादि बाहर जाने के आवश्यक प्रसंग पर, वसति से बाहर जाते समय 'आवस्सहि' कहना चाहिए, क्योंकि आवस्सहि का अर्थ 'अवश्य प्रयोजना' ऐसा कहा है ।'' पंचाशंक में भी कहा है कि–

कज्जेण गच्छं तस्स गुरुणि ओएण सुत्तणीईए ।
आवस्सित्ति णेया, सद्धा अण्णत्थ जोगाओ ॥१२-१८॥

अर्थात् – ''एक **कज्जणं** = कार्य आ जाने से या सप्रयोजन से– इस तरह कहने से निष्प्रयोजन बाहर जाने का निषेध हो गया । दूसरा, गुरु महाराज की आज्ञा से– इस कथन से स्वच्छदंता से जाने का निषेध हुआ । तीसरा, सूत्र नीति से अर्थात् उपयोग पूर्वक ईर्या समिति आदि के पालन रूप जिनाज्ञा प्रमाण से– ऐसा कहने से अनुपयोग तथा अविधि से जाने का निषेध किया । इसलिए इन प्रकार से बाहर जाने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाले के लिए आवस्सहि 'अन्वार्थ' अर्थात् शब्दार्थ के योगवाली-यथार्थ होने से ऐसे साधु को विधि पूर्वक बाहर जाते समय आवस्सहि कहना शुद्ध जानना।'' यहां जाने के कारण भी ज्ञानादि गुणों की वृद्धि, गुरु, ग्लान आदि साधुओं की वैयावच्च इत्यादि प्रशस्त कार्य समझना। इससे उस कार्य के लिए बाहर जाने की आवस्सहि शुद्ध नहीं है। इसी बात को पंचाशक में कहते हैं कि-

कज्जंपि णाणदंसण चरित्त जोगाण साहगं जं तु ।
जइणो सेसम कज्जं, ण तत्थ आवस्सिया सुद्धा ॥१२-१६॥

अर्थात् - ''यहां जो कार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र के योग में साधक हो ऐसा 'गोचरी के लिए भ्रमण करना' आदि प्रवृत्ति रूप कार्य जानना- दूसरी प्रवृत्ति को कार्य नहीं जानना। क्योंकि इसके बिना का कार्य साधु का अकार्य है, अतः ऐसे अकार्य के विषय में बाहर जाते समय आवस्सहि भी शुद्ध नहीं है।''

उपयुक्त कारण से भी सर्व साधु को आवस्सहि शुद्ध हो ऐसा नहीं है, परन्तु जो साधु प्रतिक्रमण-पडिलेहणादि सर्व आवश्यक कार्यों से सर्वदा युक्त हो और मन, वचन, काया का तथा इन्द्रियों का जो विजेता हो, ऐसे योगी की आवस्सहि वसति में रहते हुए अथवा कारण से बाहर जाते हुए भी शुद्ध है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

आवस्सिया उ आवस्सहिं सव्वेहिं जुत्त जोगिस्स ।
मण वय काय गुत्तिं दियस्स, आवस्सिया होइ ॥६६४॥

अर्थात् - ''आवस्सहि तो प्रतिक्रमण आदि सर्व आवश्यक अनुष्ठानों से युक्त योगी की और जिसने मन, वचन, काया तथा इन्द्रियों को वश में किया हो- उसकी शुद्ध होती है।''

कहने का मतलब यह है कि सर्व आवश्यक अनुष्ठान को सदैव करने वाला अर्थात् बाहर की प्रवृत्ति बिना के काल में भी निरतिचार चारित्र वाले क्रिया युक्त साधु को गुरु आज्ञा से प्रवृत्ति काल में बाहर जाते समय आवस्सहि कहना सान्वर्थ होने से शुद्ध है। इस प्रकार से आवस्सहि के विषय में कहा है।

निसीहि के विषय में 'अवग्रह में प्रवेश करना' है। अवग्रह अर्थात् शय्या-उपाश्रय, स्थान-कायोत्सर्ग के लिए खड़ा होना, आदि शब्द से देव का अवग्रह अर्थात् जिन मन्दिर और गुरु का अवग्रह अर्थात् गुरु के आसन से सर्वत्र साढ़े तीन हाथ भूमि आदि समझना। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सेज्जं ठाणं जहिं, चेए इ तहिं निसीहिआ होइ ।
जम्हा तत्थ निसिद्धो, तेणं तु निसीहिआ होइ ॥६६५॥

अर्थात् – "शय्या अर्थात् सोने का स्थल और 'स्थान' अर्थात् कायोत्सर्गादि के लिए खड़े रहना । यह कायोत्सर्ग जिस स्थान में करने का चिन्तन करे अथवा समझे-करे वहां और शयन क्रिया अर्थात् निश्चय से जहां शय्या करे वहां सोये, इस तरह अर्थ करना । 'च' शब्द से गाथा में अप्रत्यक्ष कहीं वीरासनादि प्रवृत्तियां करना, अथवा 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ वाला जानना, और उसे विशेषण रूप में जानना । वह इस तरह-प्रतिक्रमणादि आवश्यक कार्य जिसने कर लिये हैं ऐसे विशिष्ट साधु को गुरु आज्ञा से जहां शयन कायोत्सर्ग आदि क्रिया करनी हो, वहीं निसीह कहे, अन्य स्थान पर न कहे, क्योंकि शय्यादि करने की आज्ञा होने से उसके अलावा अन्य सर्व कार्य करने का निषेध हुआ इसलिए निषेधार्थक निसीहि शब्द का प्रयोग निषिद्ध कार्य के विषय में करने का नियम होने से वही करना चाहिए।" (तथा देव-गुरु के अवग्रह की भूमि में प्रवेश करते समय निसीह शब्द का प्रयोग करना चाहिए, यह भी समझ लेना) ।

इन आवस्सहि - निसीहि दोनों के विषय अर्थापत्ति में एक ही होने से वस्तुतः दोनों का अर्थ भी एक ही समझना । क्योंकि आवश्यक कर्तव्य करने के लिए आवस्सहि और उस काल में अकरणीय अथवा पाप कार्यों के निषेध के लिए निसीहि है । अवश्य करणीय को करने की क्रिया और पाप कर्म के निषेध रूप क्रिया- दोनों एक ही होने से वस्तुतः दोनों का एक ही अर्थ है । एक के विधान में दूसरे का निषेध अथवा एक के निषेध में दूसरे का विधान सूचित है, फिर भी शास्त्रों में दोनों का नाम अलग है । किसी समय में खड़े होना, किसी समय में गमन करना, इस प्रकार भिन्न-भिन्न क्रिया करने की होने से यहां भिन्न-भिन्न वर्णन किया है । कहने का तात्पर्य यह है कि-'निसीहि' शब्द का प्रयोग निश्चय ही कुछ आवश्यक कार्य करने के पूर्व में अनुपयोगादि से होने वाले प्रत्यवाय (विघ्न) के त्याग के लिए है । आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाने से समय पहले उपाश्रय में विधिपूर्वक बैठे हुए साधु को प्रत्यवाय-विघ्न संभव नहीं है जिसके निषेध के लिए निसीहि कहना चाहिए, इसलिए आवस्सहि भी योग्य नहीं है क्योंकि आवस्सहि तो उस काल में करने योग्य कार्य के विधान के लिए और अर्थापत्ति से अन्य काल में करने योग्य कार्य के निषेध के लिए है । वस्तुतः अन्य काल में करणीय के त्याग बिना तत्कालिक आवश्यक कार्य नहीं हो सकता है, इससे 'आवस्सहि' के प्रयोग से इत्तर काल में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करणीय का निषेध भी हो ही जाता है और अनावश्यक कार्य के निषेध निसीह करने से तत्कालीन आवश्यक कार्य का विधान भी हो ही जाता है । इस तरह निसीह-आवस्सहि दोनों के विषय में एकर्थिकत्व समझना । यह चौथी, पाचवीं समाचारी का स्वरूप कहा गया है ।

६. आपृच्छा – गुरु महाराज से विनय पूर्वक पूछकर अपना हितकारी कार्य करना, उसे 'आपृच्छा' कहते हैं । गुरु या जिसकी निश्रा में हो उसके बिना अन्य से पूछने से, अथवा गुरु से भी अविनय से पूछने से वह कार्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र का साधक-हितकारी नहीं होता, वह आपृच्छा नहीं गिना जाता । विनय पूर्वक पूछने से ही हितकर हो सकता है । उसे ज्ञानी गुरु महाराज समझाकर अविधि से बचाते हैं, यह महान लाभ है । इसके उपरान्त गुरु की सलाह-सहाय मिलने से आत्मा को पूज्य भाव रूप शुभ लेश्या प्रगट होने से उस कार्य में आने वाले विघ्नों का नाश होता है और इष्ट कार्य विघ्न रहित पूर्ण रूप से सिद्ध होता है, ऐसा हितकारी कार्य बार-बार करने का अनुबन्ध होता है, विघ्नकारक पाप कर्मों का क्षय होता है। इस तरह एवं भूतनय के मत अनुसार 'आपृच्छा' एक महामंगल रूप है । श्रद्धावान शिष्य को गुरु के ऐसे हितकारी वचन से भावोल्लास होता ही है, इसलिए उन्मेष-निमेषादि सूक्ष्म कार्यों को छोड़कर छोटे बड़े संयम के प्रत्येक कार्य में गुरु को पूछने से संयम का निर्मल पालन कर सकता है । इत्यादि विचार करते 'आपृच्छा' समाचारी अति महत्व का आत्म हितकर है ।

७. प्रतिपृच्छा – कोई भी कार्य गुरु से पहले पूछने के बाद वह कार्य करते समय पुनः पूछना चाहिए, इस तरह पुनः पूछने से कभी गुरु महाराज जो पहले कहा था उससे विशिष्ट दूसरा कार्य करने के लिए कहें अथवा वह कार्य अब करने की आवश्यकता नहीं ऐसा कहकर रोकें अथवा अन्य समय करने को कहें या कोई अन्य साधु यह कार्य करेगा अथवा यह कार्य दूसरे ने कर लिया है, अतः अब न करें, इत्यादि प्रतिपृच्छा के बहुत लाभ हैं । यदि गुरु की आज्ञा से कार्य प्रारंभ करने के बाद विघ्न आए तो दूसरे साधु को आगे करके उसकी निश्रा में कार्य करना, फिर भी यदि विघ्न आए तो गुरु से पुनः पूछने से उनको मार्ग बताते हैं, इत्यादि प्रतिपृच्छा का फल हैं। एक बार पूछने के बाद कार्य करते सयम यदि प्रतिपृच्छा न करे तो आपृच्छा निष्फल बनता है, इसलिए भी प्रतिपृच्छा करना चाहिए ।

८. छन्दना – यह समाचारी अपना लाया हुआ आहारादि अन्य साधु को देने के लिए है । वह सर्व साधु के लिए नहीं है, परन्तु जो आहारादि लाने में लाभान्तराय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्म क्षयोपशमादि से लब्धि वाले आदि ने आहार लाया हो वह बाल, ग्लान, तपस्वी आदि सर्व साधुओं से प्रार्थना (छन्दना) करे कि 'मैं अशनादि लाया हूँ' इसमें जो भी आप के लिए उपयोगी हो उसे आप अपनी इच्छानुसार स्वीकार करो। यह छंदना भी गुरु महाराज की सम्मति पूर्वक यदि करे तो फलदायक है, इच्छानुसार किसी को भी लाकर दे वह वस्तुतः छन्दना नहीं है यह छन्दना करने वाले को अन्य साधु के संयम की सहायता करने का निर्मल भाव होने से अन्य साधु विनती यदि स्वीकार न करे तो भी उसे तो निर्जरा होती है, लेने वाले को भी प्रमाद के पोषण के लिए नहीं परन्तु लाने वाले की भावना को सफल करने की बुद्धि से लेने से उसे भी निर्जरा होती है। यह छन्दना (प्रार्थना) करने वाले की कीर्ति या उसके बदले में आशा नहीं होनी चाहिए परन्तु स्व-पर संयम की वृद्धि के एक निर्मल ध्येय से लाकर जो वस्तु जिसके योग्य हो- उसकी प्रार्थना गुरु आज्ञानुसार करना इत्यादि।

६. निमंत्रणा – यह समाचारी भी स्वाध्यायादि में रत हो ऐसे वैयावच्च करने की भावना वाले विशिष्ट साधु होते हैं और उस को लाने के पहले गुरु आज्ञा प्राप्त करके अन्य साधु के लिए आहार लाने की उनसे प्रार्थना करना है। यहां इस प्रकार प्रश्न होता है कि-स्वाध्याय आदि में तन्मय रहने वाले साधु को तो स्वाध्यायादि करने की भावना होती है, उसे वैयावच्च की इच्छा किस तरह हो सकती है ? उसका समाधान करते हैं कि-जिन वचन का तात्त्विक परिभावन करने वाले के हृदय में विवेक रूपी दीपक प्रगट होता है। इस विवेक से इच्छाओं एवं प्रमाद का नाश होता है। इन दोनों के नाश होने से मोक्ष की इच्छा सदा रहती है। मोक्ष की इच्छा वाले को प्रत्येक संयम योग में प्रवृत्ति करने के शुद्ध भाव अखण्ड रहते हैं, और ऐसी शुभ भावना से उसे केवल स्वाध्याय से संतोष नहीं होता परन्तु वैयावच्च करने की इच्छा भी अखण्ड रहती है, इसलिए वस्तुतः जो स्वाध्यायादि में रत हो वही साधु भाव से इस समाचारी का अधिकारी बनता है। जैसे मारवाड़ में कल्पवृक्ष वैसे ही संसार में मनुष्य जीवन की प्राप्ति होना अति दुर्लभ है, इसलिए उसमें प्रमाद न करना चाहिए, ऐसी तीव्र श्रद्धा प्रगट होने से अप्रमत् होते हैं। भूखे को जैसे भोजन की इच्छा मिटती नहीं है वैसे ही मोक्षार्थी को संयम के कार्यों की इच्छा अखंड रहती है। इस तरह वैयावच्च की इच्छा भी प्रत्येक को प्रत्येक प्रकार की होती है, परन्तु जो कार्य करने की जिसमें योग्यता हो उसे उस प्रकार की इच्छा उपकारक है। इसलिए अपनी इच्छा योग्य है या नहीं है वह निर्णय करने के लिए गुरु की आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। उनकी आज्ञा यदि मिल जाय तो आज्ञा पालन रूप निमंत्रण का लाभ मिले, और वे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि निषेध करें तो निमंत्रण नहीं करने पर भी गुरु आज्ञा पालन का लाभ मिले, इसलिए यह निमंत्रण समाचारी के पालन के लिए गुरु आज्ञा के अनुसार अन्य साधु के कार्य की प्रार्थना करना ।

१०. उपसम्पदा – इसमें एक गृहस्थ उपसंपदा और दूसरी साधु उपसम्पदा, इस तरह दो भेद हैं । उसमें पहले साधु उपसम्पदा का वर्णन करते हैं । साधु उपसम्पदा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र, इस तरह तीन विषय होने से तीन भेद हैं । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि–

उप संपया य तिविहा णाणे वह दंसणे चरित्ते य ।
दंसणणाणे तिविहा, दुविहा य चरित्त अट्ठाए ॥६६८॥

अर्थात् – ''ज्ञान विषयक, दर्शन विषयक और चारित्र विषयक इस तरह उपसम्पदा तीन प्रकार की है । उसमें ज्ञान और दर्शन की उपसम्पदा तीन–तीन प्रकार की है और चारित्र की उप सम्पदा दो प्रकार की है । उसमें ज्ञान –दर्शन की उपसम्पदा के भेद आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि–

वत्तणा संधणा चेव, गहणं सुत्तत्थत दुभए ।
वेयावच्चे खमणे, काले आवक हाइ य ॥६६६॥

अर्थात् – ''सूत्र की, अर्थ की, तदुभय की– इस तरह तीन की वर्तना, संधना और ग्रहण करने के लिए लेने वाली 'ज्ञान उपसम्पदा' नौ प्रकार की है । उसमें पूर्व के अन्दर पढ़ा हुआ अस्थिर सूत्र का, अर्थ का या तदुभय का गुणन अर्थात् पाठ करना उसे 'वर्तना' कहा है, पूर्व में पढ़े हुए सूत्रादि में से अन्य प्रदेश में जिस अंश में जिस विभाग में विस्मृत हो गया हो, उसे पुन: प्राप्त करना, भूले को याद करना उसे 'संधना' कहा है, और सूत्रादि प्रथम बार लेना–पढ़ना, उसे ग्रहण कहा है । इस तरह सूत्र, अर्थ और तदुभय प्रत्येक के वर्तना आदि तीन प्रकार गिनने से ज्ञान–उपसपंदा के नौ भेद होते हैं । दर्शन–उपसम्पदा के भी यही नौ भेद हैं । भेद मात्र यह है कि दर्शन–जैन मत की प्रभावना करे, उसमें सन्मति तर्क आदि शास्त्रों का वर्तना, संधना और ग्रहण करने के लिए आश्रय लिया जाय वह दर्शन–उपसंपदा जानना । इसके भी सूत्र, अर्थ तदुभय से उत्तर भेद नौ होते हैं । उसमें गुरु आज्ञा से और 'अमुक को उपसंपदा देना' ऐसी प्रेरणा जिसने की हो, उस आचार्य के पास में, इस तरह उपसंपदा लेने में दो पद की चतुर्भंगी होती है । उसमें १. गुरु की आज्ञा पूर्वक आज्ञा किए आचार्य के पास में जाना, २. गुरु आज्ञापूर्वक भी जिसको आज्ञा न दी हो ऐसे अन्य आचार्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के पास जाना, ३. आज्ञा बिना आचार्य के पास जाना, जैसे कि-'अभी तुम अमुक आचार्य के पास न जाना, इस तरह जब कहा हो, तब आचार्य को पढ़ाने का निर्देश करने पर भी शिष्य को वहां जाने का निषेध होता है, और ४. आज्ञा के बिना, आज्ञा न होने पर भी आचार्य के पास में जाना। जैसे कि-अभी न जाना तथा अमुक आचार्य के पास में न जाना, इस तरह दोनों निषेध होने पर भी वहां जाना। इन चारों में प्रथम भेद शुद्ध है, शेष तीन भेद अशुद्ध हैं। आवश्यक वृत्ति और चूर्णि में तथा पंचाशक में सूत्र-अर्थ के ज्ञान का प्रवाह अखण्ड चलता रहे- ऐसे शुभ आशय से गुरु आज्ञा बिना भी पढ़ते-पढ़ाते दूसरा, तीसरा और चौथा भेद भी अशुद्ध नहीं हैं, अपवाद से शुद्ध कहा है। और प्रथम स्वगुरु के पास में सूत्र-अर्थ और तदुभय ग्रहण करने के बाद, उससे अधिक पढ़ने की शक्ति रखने वाला बुद्धिमान साधु गुरु आज्ञा से गुरु को जो इष्ट हो उसके पास पढ़ने भेजे, उनके पास उपसंपदा (उनकी निश्रा) स्वीकार करे। ऐसा उपसंपदा की कल्प विधि है, उसके लिए पंचवस्तुक में कहा है कि-

उवसंपयाय कप्पो, सुगुरु सगासे गही असुत्तत्थो ।
तदहिगगहण समत्थोऽणुन्नाओ तेण संपज्जे ॥६८६॥

अर्थात् - "उपसंपदा स्वीकार करने वाले की यह व्यवस्था है कि-स्वगुरु के पास जिसने सूत्र-अर्थ ग्रहण किया हो, उसे अधिक पढ़ने के लिए समर्थ प्राज्ञ साधु गुरु की आज्ञा पूर्वक गुरु उपसंपदा के लिए जिस आचार्य के पास भेजे, उस अमुक आचार्य की उपसंपदा स्वीकार करे।"

उसमें भी गुरु महाराज के पास रहने वाला साधु परिवार यदि अपरिणत (अशिक्षित) हो अथवा अन्य साधु परिवार न हो तो शिष्य को गुरु के पास उपसंपदा के लिए अनुज्ञा नहीं मांगनी चाहिए तथा वह जिसके पास में जाय, उस आचार्य को भी ऐसे प्रसंग पर आए साधु को नहीं रखना चाहिए। अर्थात् आने वाला साधु यदि गुरु को अकेले छोड़ कर या अशिक्षित साधुओं को गुरु के पास में छोड़ कर आया हो तो अन्य आचार्य को उसे नहीं रखना चाहिए। गुरु ने जिस आचार्य के पास जाने की आज्ञा दी हो उसी आचार्य के पास उपसंपदा स्वीकार करे और दोनों को भी परस्पर परीक्षा करनी चाहिए। जैसे कि- आने वाला साधु वहां के साधुओं को, यदि वे उन्मार्ग में प्रवृत्ति करते हों तो, सन्मार्ग में प्रेरणा दे तब वे 'मिच्छामि दुक्कडं' न दें, पुनः असंयम में प्रवृत्ति करते उन साधु को भूल समझाने पर भी वे न मानें, इस प्रकार तीन से अधिक बार यदि हो जाय तो गुरु को कहे एवं गुरु यदि उनकी भूल को भूल रूप में न माने तो वह गुरु भी शिथिल है ऐसा मानकर आने वाला साधु उनको छोड़ दे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और यदि गुरु शिष्यों की भूल में समंत रहे तो वहां रहे। इस प्रकार गुरु को भी आगंतुक साधु की परीक्षा के लिए उसे अधिक कठोर वचन कहना, ऐसे कठोर वचन सुनकर भी यदि विनय न छोड़े, यह उनका आचार है ऐसा माने तो उसे योग्य समझना। इस तरह परस्पर योग्य गुरु शिष्य को स्वीकार होने के बाद आगंतुक साधु को गुरु से श्रुत सम्बन्धी आदि का निवेदन करना चाहिए अर्थात् 'अमुक श्रुत से आगे के शेष रहे अभ्यास अमुक समय तक मैं करने के लिए आया हूँ' इत्यादि निवेदन करे।

आभाव्य व्यवहार अर्थात् शिष्य या वस्त्र, पात्रादि सचित्त या अचित जो वस्तुएं मिलें, वह किसकी गिनी जायं किसकी नहीं ? इत्यादि अधिकार की शास्त्रीय व्यवस्था का आने वाले शिष्य को पालन करना चाहिए। वह मर्यादा ऐसी है कि- अपने गुरु के पास से यहां आते मार्ग में शिष्यादि जो मिला हो, वह 'नालबद्ध वल्ली' रहित हो शास्त्र में नालबद्ध बाईस कहे हैं- माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री, नाना नानी, मामा मौसी, दादा दादी, फूफी, भतीजा भतीजी भानजा, भानजी, पुत्र के पुत्र पुत्री, पुत्री के पुत्र पुत्री। उसके बिना यदि कोई दीक्षा लेने के लिए याचना करे तो उसे उपसंपन्न गुरु को देना, और गुरु को भी उस व्यवहार का पालन करना चाहिए। ऐसा करने से गुरु को आगंतुक शिष्य पर या उसे मिले शिष्यादि के ऊपर अपना स्वामित्व न हो, निःसंगता का रक्षण हो, इतर अर्थात् उप संपन्न की अपेक्षा से अपने मूल गुरु, यानि मूल गुरु की अपेक्षा से अन्य उप संपन्न गुरु को नालबद्ध के बिना के देने से उसकी पूजा होती है, ऐसा अर्थ समझना। इस तरह का परस्पर का कल्प है ऐसा जिन कथन है। इस व्यवहार का पालन करने से दोनों का परस्पर शुभ भाव-वात्सल्य और पूज्य भाव प्रगट होता है और इससे श्रुतज्ञान की यर्थाथ-चारित्र में शुद्धि-वृद्धि का कारण हो इस तरह परिणाम प्राप्त होता है, आत्मसात् होता है। अन्यथा पढ़ने-पढ़ाने पर भी प्रयत्न व्यर्थ जाता है, इसलिए शिष्य को आभाव्य दान करना और गुरु को भी लोभ से नहीं, परन्तु आगंतुक का अनुग्रह करने की बुद्धि से स्वीकार करना चाहिए। आभव्य व्यवहार इस तरह सम भाव का साधक होने से उसका पालन अति हितकर है।

चारित्र के लिए उपसंपदा दो प्रकार की होती है, आवश्यक निर्युक्ति की ६६६ वीं गाथा के उत्तरार्द्ध में कहा है कि- **''वेयावच्चे खमणे काले आवक हाइ अ''** अर्थात् चारित्र की उपसंपदा, एक वैयावच्च के विषयक और दूसरी क्षपण (तप) विषयक कहा है। उस काल की अपेक्षा से यावज्जीव तक और गाथा में **'अ'** पद से अमुक मर्यादित काल तक की भी होती है। उसका स्वरूप = भावार्थ इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तरह है– अपने चारित्र की वृद्धि या शुद्धि के लिए कोई साधु आचार्य की वैयावच्च करना जब स्वीकार करे तब काल से वह अमुक काल या यावज्जीव तक भी वैयावच्च होती है। इस तरह कोई तपस्वी तप के लिए यदि उपसंपदा स्वीकार करे, फिर भी वह अमुक काल तक अथवा जावत्जीव तक उनकी निश्रा में रहे। ज्ञान की उपसंपदा स्वीकार करने की विधि आवश्यक निर्युक्ति पंचवस्तुक में इस तरह कहा है कि–

मज्जण निसेज्ज अक्खे, किइ कम्मुस्सग्ग वंदण जिट्ठे ।
भासंतो होइ जिट्ठो, न उ परिया एण तो वंदे ॥१००१॥

अर्थात् – ''भूमि प्रमार्जन, आसन, अक्ष-स्थापनाचार्य, कृति कर्म-वंदन, कायोत्सर्ग और ज्येष्ठ को वंदन, इन छह द्वार से यह विधि कही जायेगी, उसमें वाचना दाता यदि पर्याय से लघु हो तो भी ज्ञान से रत्नाधिक होने से उनको वंदन करना चाहिए।'' अब प्रत्येक द्वार का वर्णन करते हैं पंचवस्तुक में तथा आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि–

ठाणं पमज्जिऊणं, दो न्नि निसिज्जा उ हुंति कायव्वा ।
एक्का गुरुणो मणिआ, बीआ पुण होइ अक्खाणं ॥१००२॥

अर्थात् – ''प्रथम वाचना के स्थान पर भूमि प्रमार्जन करके वहां दो आसन करना। एक वाचनाचार्य गुरु के लिए और दूसरा समवसरण (स्थापनाचार्य) के लिए। समवसरण (स्थापनाचार्य) के बिना व्याख्या (वाचना) नहीं करना चाहिए। यह उत्सर्ग मार्ग जानना, इस तरह प्रमार्जन, आसन और स्थापनाचार्य– ये तीन द्वार कहे, अब चौथे वचन द्वार के लिए पंचवस्तुक में तथा आवश्यक निर्युक्ति में भी कहा है कि –

दो चेव मत्तगाइं, खेले काइअ सदोसगस्सुचिए ।
एवं विहो वि णिच्चं वक्खाणिज्जति भावत्थो ॥१००३॥

जावइआ य सुणिं ति सव्वेवि हु ते तओ अ उवउत्ता ।
पडिलेहिऊण पोत्तिं, जुगवं वदंति भावणया ॥१००४॥

अर्थात् – ''मात्रक अर्थात् शरीर समाधि के लिए पात्र (कुंडी), उसका यहां प्रसंग नहीं है फिर भी वाचना के समय में गुरु महाराज की शरीर समाधि के लिए वह आवश्यक होने से कृतिकर्म द्वार में ही इसका विशेष वर्णन करना अनुचित नहीं है। मात्रक की आवश्यकता इस कारण से है कि अर्द्ध वाचना से मात्रा आदि आवश्यक कारण से यदि उठे तो वाचना में अंतराय पड़े और यदि न उठे तो शरीर में पीड़ा हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाये, इत्यादि दोष स्वयं समझ लेना। इससे एक थूंकने के लिए और एक कायिकी (मात्रा) के लिए, इस प्रकार दो कुंडिया गुरु के उपयोग के लिए, जहां वाचना दी जाती हो वहां लाकर योग्य स्थान पर, जहां आशातना न लगे वहा रखे। यह कहने में आशय यह है कि-ऐसे बीमारी वाले भी व्याख्यानकार शरीर स्वास्थ्य के लिए हमेशा वाचना दें ये कुंडियां प्रत्येक वाचनाचार्य के लिए नहीं हैं परन्तु जो शरीर के दोष से दूषित हो - बीमार आदि के लिए ही रखे (१००३)। उसके बाद जितने वाचना लेने वाले हों वे सभी उपयोग पूर्वक मुख वस्त्रिका एवं शरीर का पडिलेहन करके, भावपूर्वक नम्र बनकर गुरु महाराज को वंदन करें (१००४)।'' यह चौथा द्वार कहा। अब कायोत्सर्ग और वंदन द्वार के लिए आगे पंचवस्तुक में तथा आवश्यक निर्युक्ति में भी कहा है कि-

सव्वेवि उ उस्सग्गं, करिंति सव्वे पुणो वि वंदंति ।
नासन्ने नाइ दूरे, गुरु वयण पडिच्छगा होंति ॥१००५॥

अर्थात् - ''उसके बाद सर्व साधु विघ्न की शान्ति के लिए वाचना के प्रारंभ में अनुयोग आठावणार्थ कार्योत्सर्ग करे और उसे पारकर फिर गुरु को वन्दन करे। फिर अति दूर नहीं, बहुत नजदीक भी नहीं, इस तरह गुरु के अवग्रह के बाहर-आसन सं साढ़े तीन हाथ दूर बैठ कर गुरू के शब्दों को सुनने में उपयोग रखे।'' सुनने की विधि पंचवस्तुक तथा आवश्यक निर्युक्ति गाथा ७०७-७०८ में कही है-

णिद्दा विगहा परिवज्जि एहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं ।
भत्ति बहुमाणं पुव्वं, उवउत्तेहिं सुणे अव्वं ॥१००६॥

अभि कंखंतेहि सुहा सिआइं, वयणाइं अत्थमहु राइं ।
विम्हि अमुहेहिं हरि सागएहिं हरिसं जणंतेहिं ॥१००७॥

अर्थात् - ''निद्रा-विकथा का त्याग करके, गुप्त-एकाग्र होकर अन्य चेष्टाओं को छोड़कर दो हाथ से अंजलि सम्पुट (हाथ जोड़) कर भक्ति बहुमान पूर्वक उपयुक्त होकर सूत्र या अर्थ को सुनना चाहिए (१००६)। तथा गुरु के मुख में से निकलते अर्थ से मधुर अर्थात् परलोक का हित करने वाले श्रेष्ठ अर्थ वाले सुभाषित वचनों को आप श्री जी ने अच्छी तरह से समझाया है इत्यादि बोलते हुए देखने वाले को भी श्रोता का आनंद दिखे, ऐसी मुखमुद्रा करके रोमांचित विकल स्वर हो, ऐसे हर्षित होकर और अन्य-गुरुजनों को भी यह देखकर हर्ष प्रगट हो, इस तरह गुरु के प्रति आदर-संवेग प्रगट करके व्याख्यान सुनना चाहिए।'' (१००७)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह सुनने से गुरु को भी प्रगट होते अतीव संतोष से शिष्य को अति लाभ होता है । पंचवस्तुक में आवश्यक निर्युक्ति गा० ७०६ में कहा है कि–

गुरु परिओस गएणं, गुरुभत्तीए तहेव विणएणं ।
इच्छिअ सुत्तत्थाणं, खिप्पं पारं समुवयंति ॥१००८॥

अर्थात् – ''गुरु को संतोष होने से, गुरु की भक्ति-सेवा करने से एवं विनय से सद्भाव से सुनते हुए शिष्य इच्छित सूत्र-अर्थ को जल्दी प्राप्त करता है, अर्थात् शास्त्र के गूढ़ रहस्यों को भी शीघ्र समझ सकता है ।'' इस तरह विधि पूर्वक श्रवण करने के बाद क्या करना है वह आवश्यक निर्युक्ति में गाथा ७१० में तथा पंचवस्तुक में कहा है कि–

वक्खाण समत्तीए, जोगं काऊण काइआईणं ।
वंदंति तओ जिट्ठं, अन्ने पुव्वं चिअ भंणति ॥१००६॥

अर्थात् – ''जब व्याख्यान वाचन समाप्त हो तब 'कायिकी' आदि के योग करके (मात्रा आदि की शंका निवारण कर) और आदि शब्द से गुरु की विश्रामणा (सेवा) आदि करके फिर ज्येष्ठ अर्थात् पर्याय से जो छोटे हो उन वाचनाचार्य को सभी वंदन करे और आचार्यों ने कायिकी आदि करने के पहले और आवश्यक निर्युक्ति की गाथा ७१० के अभिप्राय से व्याख्यान प्रारंभ होने के पहले वंदन करने को कहा है ।'' वाचनाचार्य छोटे होने पर पर भी वंदन करने का कारण पंचवस्तुक में तथा आवश्यक नि० गा० ७१३ में कहा है कि–

जइवि वयमाइएहिं, लहुओ सुत्तत्थ धारणा पडुओ ।
वक्खाण लद्धिमं जो, सो च्चिअ इह घिप्पई जिट्ठो ॥१०१२॥

अर्थात् – ''वय यदि दीक्षा पर्याय आदि से लघु हो तो भी जो सूत्र-अर्थ को याद रखने में समर्थ हो और व्याख्यान आदि शक्ति वाला हो, उसे यहां ज्येष्ठ रूप में स्वीकार करना ।''

यहां यह प्रश्न होता है कि– कम पर्याय वाले वाचनाचार्य को बड़ा मानने से अधिक पर्याय वालों की और दूसरी ओर अधिक पर्याय वाले भी वाचना लब्धि रहित को बड़े मानने से वाचनाचार्य की, इस तरह वंदन से दोनों की परस्पर आशातना होती है, इससे क्या लाभ है ? अत: वंदन बिना ही वाचना लेने से क्या दोष है ? इसका समाधान पंचवस्तु में तथा आवश्यक नियुक्ति में करते है कि–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आसायणा वि णेवं, पडुच्च जिण वयण भासगं जम्हा।
वंदण गं राइणिए, तेण गुणेणं पि सो चेव ॥१०१३॥

अर्थात् – ''इस तरह वाचनाचार्य को वंदन करना श्री जिन वचन का प्ररूपक होने से आशातना भी नहीं लगती, क्योंकि वंदन रत्नाधिक को करने के लिए कहा है और अपनी वाचना लब्धि से वाचनाचार्य रत्नाधिक होते ही है।''

यह ज्ञान उपसम्पदा की विधि कही। दर्शन उपसम्पदा की विधि भी दोनों में युक्ति-समाधान तुल्य होने से ज्ञान-उपसंपदा के समान ही समझना। दर्शन प्रभावक 'श्री सन्मति तर्क' आदि शास्त्र को पढ़ने के लिए ही दर्शन उपसंपदा कही है, इसलिए इसकी विधि भी ज्ञान के समान है। चारित्र उपसम्पदा की विधि आवश्यक निर्युक्ति में कही है कि–

दुविहा य चरित्तमी, वेयावच्चे तहेव खमणे य ।
णि अगच्छा अण्णमि य, सीअण दोसा इणा हुंति ॥७१८॥

इत्तरि आइ विभासा, वेयावच्चंमि तहेव खमणे य ।
अविगिट्ठविगिट्ठंमि य, गणिणा गच्छस्स पुच्छाए ॥७१९॥

अर्थात् – ''चारित्र की उपसंपदा दो प्रकार की है– १. वैयवच्च के लिए और २. तप के लिए। यह उपसंपदा चारित्र के हीन रूप दोष आदि के कारण से अपने गच्छ में से अन्य गच्छ में जाने में है। (७१८) वैयावच्च की और तप की– यह दोनों उपसंपदाए इत्वरिक-अमुक विवक्षित काल की और जावज्जीव– इस तरह दो प्रकार की है। उसमें तप वाले केलिए ऐसा विकल्प है कि–विकृष्ट–अट्ठमादि या अविकृष्ट तप के लिए आए को आचार्य द्वारा गच्छ की निश्रा में रहे मुनियों से पूछकर उपसंपदा देनी चाहिए।'' (७१९)

यहां तात्पर्य यह है कि अपने चारित्र की वृद्ध-शुद्ध के लिए कोई साधु आचार्य की वैयावच्च करना स्वीकार करे, उसमें काल की अपेक्षा से कोई अमुक विवक्षित काल के लिए और कोई जीवन के लिए, इस प्रकार दो तरह स्वीकार करने वाले होते हैं। आचार्य को भी उस के बिना अन्य वैयावच्च करने वाला हो या न भी हो, ऐसे प्रसंग में करने की विधि इस प्रकार से है – यदि अन्य वैयावच्च करने वाला न हो तो उपसंपदा लेने आए को अवश्य स्वीकार करे, उसे रख ले, परन्तु यदि पहले का जो हो तो वह इत्वरिक है या यावत् कथित है ? तथा आने वाला भी इत्वरिक या यावत्कथित काल के लिए आया है, उसका विचार करना चाहिए। यदि दोनों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यावत्कथिक हो तो दो में जो लब्धिवान (इष्ट वस्तु लाने में समर्थ) हो, उसे वैयावच्च कारक करना और दूसरे को उपाध्याय आदि अन्य को सौंपना। यदि दोनों लब्धि वाले हों तो जो प्रथम रहे हो उसे रखना एवं आगंतुक को उपाध्यायादि को सौंपना। परन्तु यदि आने वाला इस तरह न माने, तो पहले को समझाकर उसकी प्रसन्नता पूर्वक उसे उपाध्याय को सौंपना और नये आए को अपने पास रखना। फिर भी प्रथम अपने पास रहता साधु उपाध्यायादि की वैयावच्च स्वीकार करने से यदि खुश न हो तो नये आए आगंतुक को वापिस भेजे।

यदि अपने पास रहने वाला पुराना यावत्कथित हो और नया आने वाला इत्वरिक हो तो भी पूर्व के समान विकल्प समझना। यावत् पुराना यदि उपध्यायादि की वैयावच्च न स्वीकार करे तो नये आए को निषेध करना। भेद इतना है कि-पूर्व का यावत्कथित यदि उपाध्याय आदि के पास में रहना न चाहे तो भी प्रेम पूर्वक समझाकर जब तक नया रहे तब तक उसे वैयावच्च में आराम दे। यदि पुराना इत्वरिक हो और आने वाला यावत्कथित हो तो पुराने को उसकी अवधि तक उपाध्यायादि किसी की वैयावच्च में रख दे, शेष विकल्प (विधि) पूर्व कहे अनुसार समझना। यदि पुराणा और नया दोनों इत्वरिक हो तो भी दोनों में से जो माने उसे समझाकर उपाध्यायादि भी वैयावच्च में छोड़ दे। शेष विकल्प पूर्व के समान अथवा दोनों में से किसी एक को अवधि तक रखना और दूसरे को निषेध करना। इस तरह से विधि पूर्वक विकल्प (व्यवस्था) करने का नियम समझना। यह वैयावच्च की उपसंपदा विधि कही।

अब क्षपण (तप) उपसंपदा की विधि कहते हैं कि -चारित्र की विशिष्ट आराधना के लिए जो कुछ साधु तप करने के लिए उपसंपदा स्वीकार करता है, वह भी इत्वरिक और यावत्कथिक-ये दो प्रकार की होती है। यहां 'यावत्कथिक' अर्थात् अन्तिम अनशन स्वीकार करने वाला जानना। इत्वरिक दो प्रकार के होते हैं- एक कम से कम अष्टमादि विकृष्ट तप करने वाला और दूसरा चौथ भक्त, षष्ठ भक्त तक तप करने वाला। इसमें विधि ऐसी है कि-जो अविकृष्ट हो उससे आचार्य पूछे कि-'हे आयुष्मन्! तप के पारणे में तेरी शक्ति कैसी रहती है?' यदि वह कहे कि- 'बीमार के समान अशक्त हो जाता हूँ।' इस पर आचार्य उससे कहे कि- 'तुझे तप करने से क्या लाभ है? अतः तप न करके स्वाध्याय-वैयावच्च आदि में उद्यम कर!' विकृष्ट तप वाले से भी इसी तरह पूछे, वह भी यदि अशक्त हो जाता हो तो उसे भी इसी तरह समझाना चाहिए। अन्य आचार्यों का तो ऐसा कहना है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विकृष्ट तपस्वी पारने के समय बीमार के समान अशक्त हो जाता हो तो भी उसे स्वीकार करे और जो मास क्षपण करने वाला या अनशन करने वाला यावत्कथिक हो उसे तो अवश्य स्वीकार करना चाहिए। उसको स्वीकार करने के पहले आचार्य को गच्छ से भी पूछना चाहिए कि- 'यह तपस्वी उपसंपदा लेना चाहता है।' यदि इस तरह पूछने में न आए तो इच्छाकार आदि समाचारी का भंग होता है, क्योंकि पूछे बिना स्वीकार करने से इच्छारहित गच्छ के साधुओं को प्रेरणा होने पर भी वे अशक्त बने उस तपस्वी की 'उपधि की प्रतिलेखना, आदि वैयावच्च न करें तो परिणाम में आर्त्तध्यान का प्रसंग आता है। यदि पूछने से वे इस तरह कहें कि-हमें एक तपस्वी की सेवा-वैयावच्च करना है ही, इसलिए उसका तप पूर्ण होने बाद अवश्य नये तपस्वी की सेवा आदि करेंगे तो आए हुए को वहां तक पास में रखे यदि गच्छ के साधु सर्वथा न चाहें तो उसे विदा करना और यदि गच्छ की अनुमति मिले तो अवश्य स्वीकार करना। गच्छ को भी विधि पूर्वक उपसंपदा स्वीकार करने वाले तपस्वी की शरीर सेवा आदि कार्य करना। प्रमाद अथवा विस्मृति आदि के कारण यदि शिष्य उसकी वैयावच्च न करें तो उनको आचार्य प्रेरण करें इत्यादि स्वयं समझ लेना। चारित्र उपसंपदा की विधि में जो विशेष है वह आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

उवसंपन्नो जं कारणं, तु तं कारणं अपूरिं तो ।
अहवा सामाणियंमी, सारणया वा विसग्गो वा ॥७२०॥

अर्थात् - "जिस कारण से उपसंपदा स्वीकार की हो और 'तु' शब्द से समाचारी रूप किसी भी कारण से आया हो, उस वैयावच्चादि कारण को यदि वह पूर्ण न करता हो तो आचार्य को उसे वह याद करवाना चाहिए अथवा यदि अविनीत हो तो उसे अलग कर देना, छोड़ भी देना चाहिए। वह भी जब वह कारण पूर्ण न करता हो, तब ही स्मरण करवाना या त्याग कर देना। परन्तु जिस कारण से उपसंपदा स्वीकार की हो तो और वह पूर्ण करता हो, तो जब वह पूर्ण हो जाए तब 'तुम्हारा प्रयोजन समाप्त हो गया है' इस तरह याद करवाना और उसे मूल गुरु के पास में जाने का सूचन करे।

उपसंपदा में साधुता के विकास के लिए विशिष्ट व्यवस्था है। जैसे गृहस्थ को अपने क्षेत्र में आजीविका मिलना दुर्लभ हो, यदि विशेष मिलने का शक्य न हो तो पुत्रादि को व्यापारादि के लिए अन्य देश में भेजने का व्यवहार है, वैसे ही शिष्य को उसकी आराधना की विशिष्ट भावना पूर्ण करने की यदि अपने गच्छ में व्यवस्था

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न हो तो ज्ञान, वैयावच्च एवं विशिष्ट तप की आराधना के लिए अन्य गच्छ में भेजने से गुरु की भी आराधना होने के साथ में गुरुपद की जवाबदारी का भी पालन होता है। दूसरी ओर गुरु की आज्ञा से वैयावच्च या तप के लिए आए को रखने में जो शास्त्रीय व्यवस्था यहां कही है वह भी स्व-पर अति उपकारी है। जैसे अपने या अपने की शिक्षा में रहे साधु की आराधना या भावना को क्षति न पहुँचे वैसे आगंतुक को रखने से दोनों का हित सुरक्षित बनता है एवं संकुचित वृत्ति का नाश होता है और अन्यान्य साधु समुदाय का धर्म स्नेह बढ़ने से अन्य जन्मों में भी उन आत्माओं में परस्पर धर्म में सहायक होता है। इतना ही नहीं आगामी जन्मों में भी वह सम्बन्ध अखण्ड बनकर आखिर मोक्ष में पूर्ण शाश्वत बन जाता है।

इस तरह साधु-संपदा का वर्णन पूर्ण हुआ। अब गृहस्थ की उपसंपदा के लिए कहते हैं। उसमें साधु की मर्यादा है कि-'विहार के मार्ग' आदि किसी भी स्थान पर साधु को थोड़े समय वृक्ष के नीचे यदि रुकना हो तो भी उसके मालिक की आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। आवश्यक निर्युक्ति ने कहा है कि-

इत्तरिअंपि न कप्पर, अविदिन्नं खलु परोग्गहाईसु ।
चिट्ठित्तु निसीइत्तु व, तइअव्वयर क्खण ट्ठाए ॥६२६॥

अर्थात् - "तीसरे व्रत के रक्षण के लिए साधु को स्थान के मालिक ने स्थान के जिस भाग के उपयोग करने की अनुमति न दी हो, उस अवग्रह के विभाग में स्वल्प काल के लिए भी खड़े रहना, बैठना इत्यादि नहीं कल्पता। 'परोग्गहाईसु' पद में आदि पाठ है, इससे पर अवग्रह के ही बीज अवान्तर भेद समझना।" यह गृहस्थ की उपसंपदा कही। इस तरह से समाचारी का वर्णन पूर्ण हुआ। चक्र के समान पद-पद पर भ्रमण करता है इस कारण से उसका नाम 'चक्रवाल' है, उस दस प्रकार की चक्रवाल समाचारी का सेवन-पालन करने वाले आत्मा को महान् फल मिलता है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

एयं समायारिं जुंजंता चरण करण माउत्ता ।
साहू खवंति, अणेगभव संचिय मणंतं ॥६२३॥

अर्थात् - "चरण-करण सित्तरी में उद्यमी साधु इस समाचारी का पालन करने से अनेक जन्मों में बन्धन किए अनंत कर्मो को खपाता है।" सारोद्धार में तो यह चक्रवाल समाचारी अन्य रूप में वर्णन करते हैं। कहा कि-

पडिलेहणा पमज्जण भिक्खिरियाऽऽ लोय भुंजणा चेव ।
पत्तग धुवण विआरा, थंडिल आवस्स याई आ ॥६७८॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- "१-शुबह शाम का वस्त्र पात्रादि का प्रतिलेखन, २-वर्सात की प्रमार्जना, ३-भिक्षा के लिए भ्रमण करना, ४-आकर इर्यापथिकी प्रतिक्रमणादि करना, ५-भिक्षा की आलोचना करना, ६-आहार को खाना, ७-पात्र धोना, ८-बड़ी नीति के लिए बाहर की भूमि में जाना, ९-सत्ताइस स्थण्डिल भूमि का पडिलेहन करना और १०-प्रतिक्रमण करना, काल ग्रहण करना इत्यादि नित्य करने की दस विध समाचारी पंचवस्तुक गा० २३० दूसरे द्वार में कहां है । इसका विस्तार वहा से जान लें। इसका वर्णन इस ग्रन्थ में ओघ समाचारी के अन्तर्गत लगभग कहा गया है ।

अब तीसरा पद विभाग समाचारी कहने का प्रसंग आया है। वह समाचारी कल्प व्यवहार नाम छेद सूत्र रूप है और उसका विस्तार भी बहुत है। इस लिए यहां तो केवल उसका स्वरूप ही संक्षेप में कहते हैं । मूल १०५ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'भेदः पद विभास्तुभ्यादुपसर्गापवादयो' कहा है उसमें 'उत्सर्ग और अपवाद' इसका अर्थ पूर्व में कहा है, उन दोनों का जो विभाग वह पद विभाग है उसे 'पद विभाग' जानना अर्थात् उत्सर्ग और अपवाद रूप 'दो पदों का विभाग है' ऐसी व्युत्पत्ति समझना । 'तु' अव्यव 'सम्यक्' ऐसा विशेषणार्थ होने से 'सम्यग् पद विभाग' समझना । इन दोनों का विवेक वृहत्कल्प, व्यवहार आदि ग्रन्थों में है, वहां से जान लेना । यहां तो केवल 'उत्सर्ग-अपवाद' के सम्यक् भेद समझाने वाली जो समाचारी है वह पद विभाग समाचारी है, इतना ही समझना । उस निमित्त की आलोचना और प्रायश्चित् आदि जो कहना है वह अब उपस्थापना के अधिकार में बाद में कहा जायेगा । समाचारी का अधिकार पूर्ण करके अब उपस्थापना कहते हैं -

इन तीन प्रकार की समाचारी की आराधना करने वाली आत्मा में उपस्थापना अर्थात् छदोप स्थापना नामक दूसरी चारित्र की योग्यता प्रगट होती है । वह बतात हुए कहते हैं कि-

एवमाराधयन् समाचारीं, सर्वात्मना यतिः ।
भवेदुपस्थापनार्हः सा च कार्या यथाविधि ॥१०६॥

मूलार्थ- "इस तरह समाचारी की अखंड आराधना करते हुए साधु जब उपस्थापना के लिए योग्य बनता है, तब उसे उपस्थापना विधिपूर्वक करना ।"

व्याख्या- पूर्व में जो स्वरूप कहा है उस समाचारी का 'सर्व प्रयत्न से अर्थात् अखंडता से पालन' करता 'यति' अर्थात जिसका स्वरूप ग्रन्थ के प्रारंभ में ही कहा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है वह साधु 'अपस्थापना' अर्थात् जिसके द्वारा व्रतों का आरोपण किया जाय वह चारित्र के योग्य बनता है। इससे अब उसका ही कर्तव्य कहते हैं कि-शिष्य में वह उपस्थापना गुरु को यथाविधि अर्थात् आगम में कही विधि के अनुसार करना। उसमें प्रथम उपस्थापना के लिए शिष्य की योग्यता का स्वरूप कहते हैं कि-

ज्ञात शस्त्र परिज्ञादिस्त्यागादि गुण संयुतः ।
प्रिय धर्मावध भीरू रूपस्थाप्योऽयमुच्यते ॥१०७॥

मूलार्थ-"शस्त्र परिज्ञा अध्ययन' आदि शास्त्रों को अर्थ पूर्वक जिस ने जाना है, त्याग श्रद्धा-संवेग आदि गुणों से युक्त है, चरित्र धर्म प्रिय है और हिंसादि पापों का जिसे भय प्रगट हुआ है, उसे उपस्थापना के लिए योग्य कहा गया है।"

व्याख्या-"श्री जिनेश्वर भगवान ने ऐसे साधु को उपस्थापना अर्थात् महाव्रत के आरोपण-स्थापना करने के लिए योग्य कहा है। उस योग्यता को कहते हैं। शस्त्र परिज्ञादि अर्थात् आचारांग सूत्र का प्रथम अध्ययन समझना तथा आदि शब्द से दशवैकालिक आदि आगम को जिसने भावार्थ से जाना है। यह कहने का मतलब यह है कि-सूत्र तो जिसका जितना उचित हो उसे उतना ही पढ़ा सकते हैं। वस्तुतः शस्त्र परिज्ञादि अर्थ से जिसने जाना हो, उसी ही जयणा में वह कुशल बन सकता है। क्योंकि जैसे अर्थ के ज्ञान बिना दया का पालन नहीं कर सकता है, ज्ञान से कार्याकार्य का विवेक आता है, विषय कषाय का त्यागी बनता है- व्रतों का निरतिचार पालन कर सकता है। अतः पूर्वर्षि ने दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि -

पढयं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठर सत्वसंजए ।
अन्नाणी किं काहीं ? किं वा नाहीहिं ? छेअपावगं ॥२/१४४॥

अर्थात् -"प्रथम ज्ञान अर्थात् छहकाय जीवों का स्वरूप, उसके भेद, उसकी हिंसा के निमित्त, रक्षा के उपाय और अहिंसा के फल आदि का ज्ञान होना चाहिए और फिर 'दया' अर्थात् संयम, इस तरह सर्व साधु ज्ञान और दया दोनों की साधना वाला होता है। ज्ञान के बिना का अज्ञानी जीव अहिंसा का पालन क्या करेगा ? एवं हिताहित को भी किस तरह समझ सकेगा ?"

त्याग आदि परिग्रह का त्याग और आदि शब्द से श्रद्धा, संवेग इत्यादि अन्य गुण समझना। अर्थात् अपरिग्रह, श्रद्धा, संवेग आदि से जो युक्त हो, उसे योग्य समझना, क्योंकि ऐसे गुणों से जोर हित हो वह 'अंगार मर्द काचार्य' आदि के समान हिंसा की प्रवत्ति से नहीं रुकेगा तथा प्रियधर्मा अर्थात् 'यही परमार्थ है, शेष सर्व

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनर्थ हैं ।' ऐसी समझपूर्वक शस्त्र (ग्रन्थ) में जिसका लक्षण पूर्व में कहा है उस चारित्र धर्म के प्रति प्रीति वाला और 'अवध भीरु' अर्थात् हिंसादि पापों के भय वाला जो हो वही पाप से रुकेगा। ऐसे गुण वाला यति (साधु) उपस्थापना के योग्य जानना। अब इससे विपरीत उपस्थापना के लिए अयोग्य किस तरह होता है ? वह कहते हैं-

अप्राप्तोऽनुक्त कायादि-रक्षातार्थोऽयं, गुरुणा पापभीरुणा।
अनुपस्थापनीयोऽयं, गुरुणा पापभीरूणा ॥१०८॥

मूलार्थ- "जिसने उपस्थापना के लिए कथित दीक्षा पर्याय प्राप्त न किया हो, जिसको पृथ्वीकायादि छहकाय जीवों या महाव्रतों का तथा उनके अतिचार आदि का ज्ञान दिया न हो अथवा देने पर भी उस अर्थ को जो समझा न हो अथवा समझने पर भी जिसकी परीक्षा न की हो, ऐसे शिष्य की उपस्थापना पापभीरु गुरु को नहीं करनी।"

व्याख्या- अखंड शील आदि गुण वाले गुरु महाराज को जिसका स्वरूप यहां कहा जाता है ऐसे शिष्य की उपस्थापना नहीं करनी-अर्थात् उसको महाव्रत नहीं देने चाहिएं। कैसे शिष्य को ? उसे कहते हैं कि-पर्याय से जो उपस्थापना की भूमि पर न पहुँचा हो-जिसका दीक्षा पर्याय कम हो, जिसको छहक ाय जीवों का स्वरूप और महाव्रत के अतिचार न बताये हों, उनका ज्ञान अच्छी तरह न प्राप्त किया हो, गुरु महाराज द्वारा सारा स्वरूप समझाने पर भी वह उसके अर्थ-रहस्य को अच्छी तरह न समझा हो-इससे भी व्रतों का पालन कैसे हो सकता है ? तथा 'अपरीक्षिता' अर्थात् उसकी परीक्षा न की हो, क्योंकि छहकाय जीव महाव्रत आदि के स्वरूप को समझा हो, ऐसी आत्मा में भी व्रतों का पालन करने के परिणाम प्रगट हुए हैं या नहीं ? वह छद्मस्थ जीवों की परीक्षा किए बिना समझा नहीं जाता। ऐसे अयोग्य शिष्य को पाप से डरने वाले गुरु महाव्रत उच्चारण नहीं करते। इससे पूर्ण पर्याय वाले षट्कायदि के स्वरूप को समझने वाले, उसके अर्थ के जानकार और परीक्षित शिष्य को महाव्रत देना चाहिए, यह सिद्ध हुआ। पंच वस्तुक में कहा है कि-

अपत्ते अकहित्ता, अणभिगयऽपरिच्छण अआणाई।
दोसा जिणेहिं भणिआ तम्हा पत्तादु वट्ठावे ॥६१५॥

अर्थात् - "पर्याय से उपस्थापना की भूमि को नहीं प्राप्त करने वाले पढ़े, बिना तत्व से अनजान और अपरीक्षित शिष्य में उपस्थापना करने से श्री जिनेश्वर ने अज्ञादि, आज्ञाभं, अनवस्था, व्रतादि की विराधना और मिथ्यात्वादि पापों की वृद्धि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि दोष कहे हैं। इसलिए 'पर्याय प्राप्त' आदि गुण वाले शिष्य में उपस्थापना करनी चाहिए''

कैसे गुरू को करना ? उसे कहते हैं-पापभीरु को करना अर्थात् उपस्थापना को अयोग्य शिष्य में व्रतों की स्थापना करने से जिनाज्ञा का भंग होता है, भविष्य में ऐसी अनवस्था की परम्परा चलती है, मिथ्यात्व बढ़ता है, व्रत संयम की विराधना होती है और आत्मा (शरीर) की विराधना भी होती है इत्यादि दोष से अशुभ कर्म व बंधन रूप पाप के भय वाले गुरु ऐसे अयोग्य में उपस्थापना न करं, इस तरह सम्पूर्ण अर्थ कहा।

भावार्थ तो इस तरह है जघन्या, मध्यमा और उत्कृष्टा-इस प्रकार शिष्य की उपस्थापना भूमिका तीन हैं। जघन्या भूमिका सात दिन रात की, मध्यमा चार महीने और उत्कृष्टा छह महीने की। उसमें जो पहले अन्य क्षेत्र-अन्य गच्छादि समुदाय में दीक्षित बना हो, ऐसे पुराने को तो छह जीवनिकाय, व्रतों आदि का ज्ञान होता है इस कारण से केवल इन्द्रियों को विजय करने के लिए जघन्य भूमि और बुद्धि से रहित अश्रद्धालु शिष्य के लिए उत्कृष्ट भूमि समझना, मध्यमा भी बोध बिना के अश्रद्धालु के लिए ही समझना, परन्तु पूर्व कहे जघन्य की अपेक्षा से वह बड़ा और उत्कृष्ट की अपेक्षा से कम होता है। इस तरह भेद समझना। परिणत और बुद्धिवंत को इन्द्रिय जय करने के लिए मध्यम भूमि ही समझना। पंच वस्तुक में कहा है कि-

सेहस्स तिन्नि भूमी, जहण्ण तह मज्झिमा य उक्कोसा।
राइंदि सत्त चउमासिगा य, छम्मासिआ चेव ॥६१६॥

पुव्वोवट्ठ पुराणे, करण जयट्ठा जहन्निया भूमी।
उक्कोसा दुम्मेहं, पडुच्च अस्सद्दहाणं च ॥६१७॥

एमेव य मज्झि मिआ, अणहिज्जं ते असद्दहंते अ।
भाविअमेहा विस्सावि, करण जयट्ठाए मज्झिमिआ ॥६१८॥

अर्थात् - ''नये दीक्षित की उपस्थापना की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट-ये तीन भूमिका हैं, ये अनुक्रम से सात दिन रात, चार महीना और छह महीना की कही हैं। उसमें पहले अन्य क्षेत्र-गच्छादि में दीक्षित बने पुराने को इन्द्रियों की विजय के लिए जघन्य से, हीन बुद्धि वाले को सूत्र न पढ़ाने से तथा अश्रद्धालु को तत्व बोध न होने से उत्कृष्टा भूमि समझना। इसी तरह पढ़े किन्तु अश्रद्धालु के लिए भी मध्यमा समझना। केवल पूर्व के दोनों की अपेक्षा से वह बड़ा या छोटा हो, ऐसा तात्पर्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समझना। परिणत बुद्धि वाले भी नये को तो इन्द्रिय की विजय के लिए मध्यम भूमि जानना।

स्वयोग्य भूमि के प्राप्त न होने पर भी उपस्थापना करने से और प्राप्त हुए को उपस्थापना नहीं करने से गुरु को महान्दोष लगता है। पंच वस्तुक में कहा कि-

एवं भूमिमपत्तं, सेहं जो अंतरा उवट्ठावे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्त विराहणं यावे ॥६१६॥

अर्थात् - "जो गुरु स्वयोग्य भूमि को प्राप्त नहीं करने वाले शिष्य की बीच में ही उपस्थापना करते हैं वह गुरु जिनाज्ञा का भंग, अनवस्था, मिथ्यात्व, संयम-आत्मविराधना के दोष प्राप्त करते हैं।" इस भूमि के प्राप्त-अप्राप्त, पिता-पुत्र आदि का कल्पभाष्य में क्रम इस तरह कहा है-

पिति पुत्त खुड्डु थेरे, खुड्डु थेरे अपावमाणम्मि ।
सिक्खावण पन्नवणा, दिट्ठं तो दंडिआईहिं ॥६२२॥

थेरेण अणुण्णाए, एवट्ठाणिच्छे व ठंति पंचाहं ।
तिपण मणिच्छिऽवुवरिं, वत्थु सहावेण जाहीअं ॥६२३॥

अर्थात् - "इन गाथाओं की वृद्ध ऐसी व्याख्या करते हैं कि-यदि पिता और पुत्र दोनों दीक्षित बने हों, उन दोनों ने यदि उपस्थानक की भूमि की प्राप्ति की हो तो दोनों की उपस्थापना साथ में करना। यदि छोटा पुत्रादि सूत्रादि से अप्राप्त (पढ़ न सका) हो और स्थविर-पितादि सूत्रादि पढ़कर योग्य बना हो तो स्थविर की उपस्थापना पहले करना, परन्तु यदि छोटे पुत्रादि ने सूत्र आदि पढ़कर योग्यता प्राप्ति की हो और स्थविर पितादि पढ़कर तैयार न हुआ हो तो जहां तक उपस्थापना करने का शुद्ध-अच्छा दिन न आए वहां तक प्रयत्न पूर्वक उस स्थविर को अध्ययन करवाए। ऐसा करने से यदि वह योग्यता प्राप्त करे तो दोनों की उपस्थापना क्रम से साथ में ही करना। परन्तु उपस्थापना के दिन तक में भी स्थविर ने योग्यता न प्राप्त की हो तो इस तरह विधि करना-स्थविर को दण्डिक और आदि शब्द से मन्त्री के दृष्टान्त से समझाना। यदि वह अनुसार दे तो क्षुल्ल-छोटे की उपस्थापना करे। वह दण्डिक का दृष्टान्त इस तरह है-एक दण्डिक राजा राज्य से पद भ्रष्ट होने से अपने पुत्र के साथ में अन्य राजा की सेवा करने लगा। वह राजा उसके पुत्र पर प्रसन्न हुआ, इससे उसने उसके पुत्र को राजगद्दी पर बैठाने की इच्छा बताई। उस समय क्या वह दण्डिक राजा अपने पुत्र को राजा बनाने की अनुमति न दे अर्थात् दे! इस तरह तेरा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पुत्र यदि महाव्रतों का राज्य प्राप्त करता है तो तू क्यों संमति नहीं देता ? इस तरह समझाने से यदि अनुमति दे तो पुत्र की उपस्थापना करें परन्तु समझाने पर यदि वह अनुमति न दे तो पाँच दिन उपस्थापना रुकवा कर पाँच दिन के बाद उसे पुनः समझाएं, फिर भी वह अनुमति न दे तो दूसरी बार पाँच दिन का विलम्ब करना, और पुनः समझाने पर वह यदि न माने तो तीसरी बार पाँच दिन रुकना। इस तरह तीन बार पाँच-पाँच दिन विलम्ब करने पर भी यदि स्थविर पढ़कर योग्यता प्राप्त कर लेता है तो दोनों की साथ में उपस्थापना करना और ऐसा करने पर भी यदि स्थविर योग्य न हो पाये और अनुमति भी न दे तो भी क्षुल्लक भी उपस्थापना करना, अथवा तो 'वत्थु सहावेण' अर्थात् वस्तु-उस व्यक्ति के स्वभाव को देखकर आचरण करना अर्थात् वह मान दशा वाला स्थविर इस तरह माने कि- मैं पुत्र को नमस्कार क्यों करूं? तो तीन बार पाँच-पाँच दिन बीतने के बाद भी क्षुल्लक की उपस्थापना न करे, क्योंकि मान भंग होने से स्थविर दीक्षा छोड़ दे अथवा गुरु या क्षुल्लक के प्रति द्वेषी हो जाय, धर्म कार्य में अप्रीति आदि न हो इसलिए तब तक रोक दे जब तक स्थविर पढ़कर योग्य न बने।

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि-इस तरह यदि स्थविर को समझाया जाये, परन्तु वह समझे नहीं, तो उसका जो समभाव लक्षण है उस सामायिक रूप प्रथम चारित्र का भी अभाव माना जाता है, ऐसा होने पर भी 'शास्त्र नीति में पाँच-पाँच दिन विलम्ब करके भी उसमें द्वितीय चारित्र की स्थापना करना।' ऐसा कहा वह भूमिका के अभाव में आकाश में कील गाड़ने के समान कैसे घटता है ? उसका समाधान करते हैं-तुम्हारा प्रश्य योग्य है, परन्तु 'सामायिक चरित्र वाला समझाने पर समझने वाला सरल होता ही है' यह मत निश्चय नय का है, व्यवहार नय के मत में तो जिसका सामायिक अशुद्ध हो, वह न समझ सके ऐसा ही है क्योंकि सामायिक होने पर भी उसे अतिचार कारण भूत संज्वलन कषाय का उदय ना हो ऐसा व्यवहार नय का मत नहीं है, और अतिचार यदि होता है तो सामायिक में अशुद्धि भी संभव है अर्थात् व्यवहार नय से दुराग्रही के सामायिक प्रतिपाति-अध्यवसाय चले जायें, ऐसा भी हो सकता है। शास्त्र में कहा भी है कि- द्रव्य वेश होने पर भी एक जन्म में सर्व विरति चारित्र की प्राप्ति और पतन रूप आकर्ष सैंकड़ों बार हो सकता है। आवश्यक नियुक्ति में कहा है कि-

तिण्हं सहस पुहुत्तं, सय पुहुत्तं च होइ विरईए ।
एगभवे आगरिसा, एवइआ हुंति णायव्वा ॥८५७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "तीन का अर्थात् सम्यकत्व सामा यिक, श्रुत सामाजिक और देश विरति सामयिक के आकर्ष उत्कृष्ट से सहस्र पृथकत्व अर्थात् दो हजार से लेकर नौ हजार तक और सर्व विरति के शत पृथकत्व अर्थात् दो सौ से नौ सौ तक होते हैं, वह भी जन्म में होते हैं। फिर आया वह सम्यकत्वादि नहीं जाता और जो गया हो वह वापिस आता है।" पंचवस्तुक गा० ६२६ में वह फिर आया जाता नहीं है, अथवा यदि चला गया हो तो वापिस नहीं आता-ऐसा कहा है।

इन आकर्ष के बीच जब-जब भाव सामायिक-सामयिक के अध्यवसाय न हों तब-तब द्रव्यवेश होने पर भी अप्रज्ञापनीय (दुराग्रही) होता ही है, इसलिए यहां जो 'स्थविर को समझाना' इत्यादि कहा है उसमें दोष नहीं है। ऐसे विशिष्ट-अतिशायि, गुण-ज्ञान बिना के गुरु भी शिष्य का भविष्य समझ नहीं सकते इसलिए यदि सामायिक रहित दिखे फिर भी उसे पुनः सामायिक प्राप्ति संभव होने से उसका त्याग नहीं करते, समझाना चाहिए, इसी प्रकार यहां तत्व समझना है। इस तरह 'वस्त ुस्वभाव' अर्थात् राजा-मन्त्री, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, सेठ-नौकर आदि के साथ में दीक्षित बने को जहां परस्पर बड़ा अन्तर पड़े वहां लोक विरोध से अनुमान करके वस्तु स्थिति जानकर शासन की निंदा आदि अनिष्ट न हो इस तरह आचरण करना चाहिए। पंच वस्तुक में कहा है-

दो थेरे खुड्डु थेरे, खुड्डग दो वत्थ माग्गणा होइ ।
रन्नो अमच्च माई, संजइ धुई देवी अमच्ची ॥६३३॥

दो पुत्त पिआ पत्ता, एगस्स उ पुतओ न उण थेरो ।
गहिओ संय च विअरइ रायणिओ होतु एस विआ ॥६३४॥

रायारायाओ वा दोण्णिपि समपत्त दास दासेसु (मायदुहियासु)।
ईसर सेट्ठि अमच्चे णिगम घड़ा कुल दुबे खुड्डे ॥६३५॥

समयं तु अणेगेसु पत्तेसु अणभिओग मा वलिआ ।
एगदुह विट्ठि एसं, समराइण्या जहा सन्ने ॥६३६॥

अर्थात् इन गाथाओं की व्याख्या वृद्ध इस तरह करते हैं कि दो वृद्ध अपने-अपने पुत्र के साथ दीक्षित बने हों, उसमें दोनों वृद्ध उपस्थापना के योग्य बने तब तक पुत्र यदि तैयार न हो तो भी वृद्धों की उपस्थापना कर दें। परन्तु दो पुत्र योग्य-तैयार हों तब तक, यदि वृद्ध योग्य न हो तो ऐसे प्रसंग पर स्थविर को समझाया जाय, यदि वह न माने तो उपेक्षा करना आदि पूर्व कहे अनुसार करना। यदि उसमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'स्थविर और क्षुल्लक अर्थात् दो स्थविर और एक क्षुल्लक' योग्य बने तो उपस्थापना तीनों की करना, यदि दो क्षुल्लक और एक स्थविर, ये तीनों योग्य बने हों, और एक स्थविर योग्य न बना हो तो (६२३) आचार्य स्थविर पिता ने समझाये, यदि वह समझ जाये तो उसके पुत्र की उपस्थापना करी उसे इस तरह समझाना चाहिए कि यह तेरा पुत्र अति बुद्धिन है, उपस्थापना के लिए योग्य हो गया है, ये दोनों पिता पुत्र-यदि इससे बड़े होंगे तो तेरा पुत्र छोटा रहेगा, इसलिए अपने पुत्र को भी इनसे बड़ा होने दो इत्यादि समझाना चाहिए (६३४)। इसी तरह यदि राजा और मंत्री साथ में दीक्षित बने हों तो उनकेआश्रित् भी पहले पिता-पुत्र के लिए जो कहा है, वही सारी विधि समझ लेना। साध्वियों में भी माता-पुत्री दो अथवा महारानी और मन्त्री-पत्नी दो आदि जो साथ में दीक्षित होती हैं तो उनके विषय में भी यही विधि समझना (६३५)। इसी प्रकार ऐश्वर्य वाले दो सेठ, दो मन्त्री, दो व्यापारी, दो सभाजन, दो बड़े कुलवान् यदि दीक्षित बने हों, वे साथ में उपस्थापना के प्राप्त (योग्य) बने हों तो उनकी साथ में उपस्थापना करना, छोटे बड़े नहीं करना। इस तरह प्राप्त-अप्राप्त की विधि जानना।

'कथन' अर्थात् छहकाय जीवों का ज्ञान आदि करवाना। उसकी विधि इस तरह है- छहकाय जीवों के व्रतों इत्यादि का वर्णन श्रोता की बुद्धि के अनुसार, जिससे वह अच्छी तरह से समझ सके, हेतु-दृष्टान्तपूर्वक अनुमान प्रमाण की शैली से करना, क्योंकि जिसे षट्काय जीव और व्रत आदि न समझाया हो उसे उपस्थापना करने से दोष लगता है, ऐसा पहले कहा है। वह वाक्य शैली इस तरह करना। 'एक इन्द्रिय वाले पृथ्वीकायादि भी जीव हैं।' यह प्रतिज्ञा करना, क्योंकि शेष इन्द्रियों के अभाव में भी उनको स्पर्शन इन्द्रिय है, वह हेतु बताना। जो रसना आदि शेष इन्द्रियों के अभाव में भी स्पर्शन इन्द्रिय वाले होते हैं वे पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय आदि काय अथात् जीव कहलाते हैं। जैसे नष्ट हुए घ्राण, रसना, आंख, कान, इन्द्रिय वाले अंधे, बहरे आदि भी जीव हैं वैसे ही यह दृष्टान्त देना, 'एकेन्द्रिय वाले पृथ्वीकाय आदि भी वैसे हैं' यह उपनय घटाना। इस प्रकार से, 'इसलिए वह काया अर्थात् जीव है। इस तरह निगमन करना। इस तरह पांच अवयव युक्त अनुमान वाक्य की शैली से 'एकेन्द्रिय वाले पृथ्वीकाय आदि जीव हैं।' इस तरह समझाना। तथाविध कर्म परिणाम से कान, आंख आदि इन्द्रियों पर आवरण होने से उन इन्द्रियों के अभाव में भी जैसे बहरा, अंधा आदि अजीव नहीं होता वैसे ही एकेन्द्रिय भी अजीव नहीं है। इस तरह भावार्थ समझाना। इसी तरह दो इन्द्रिय आदि चोरेन्द्रिय तक के जीवों में भी जीवत्व सिद्ध करना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहां कोई ऐसा कहे कि-बहरा, अंधा आदि तो पुद्गल से निवृत्त और एप करण रूप दो प्रकार की कान-आँख आदि बाह्य (द्रव्य) इन्द्रिय दिखाई देती हैं इससे उनको जीव मान सकते हैं, परन्तु पृथ्वीकाय आदि में दिखता नहीं है इसलिए आपने जो अंधा, आदि दृष्टान्त दिया है वह झूठा है, घटता नहीं है, तो उसका कथन योग्य नहीं है। उसका प्रतिकार करने के लिए उसे चारेन्द्रिय आदि का दृष्टान्त दे सकते हैं। जैसे कि- उनके कर्म परिणति से कान आदि नहीं हैं तो भी चार या तीन इन्द्रिय वाले और दो इन्द्रिय वाले भी सर्व जीव हैं और सब दर्शन वालों ने जीव माने भी हैं। विवाद तो केवल एकेन्द्रिय के जीवत्व के विषय में ही है। जैसे कान बिना चारेन्द्रिय, आंख-कान बिना तेईन्द्रिय और नाक-आंख-कान बिना भी दोइन्द्रिय को सभी जीव मानते हैं, वैसे ही रसना-नाक-आंख और कान न हो, केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले को भी जीव मानना चाहिए। उसे अन्य रीति से भी समझाना कि-पृथ्वी, परवाल, नमक, पत्थर आदि पार्थिव भी सजीव ही हैं, क्योंकि उसे छेदन करने पर मांस के अंकुर के समान वैसे ही अंकुर उत्पन्न होते दिखते हैं। यहां अनुमान प्रमाण का प्रयोग तो स्वयं करके बताना। जैसे जीते पंचेन्द्रिय के शरीर में से काटा हुआ मांस पुनः भर जाता है, वैसे ही पृथ्वी, परवाल आदि भी खोदने पर पुनः पूर्ण हो जाते हैं, इसलिए वे जीवत्व सिद्ध हैं। पर्वत और मिट्टी के बड़े टीले बढ़ते प्रत्यक्ष हैं, इनका आहार भी होता है, अनुकूल आहार के योग से प्रफुल्लित होते हैं- बढ़ते हैं और आहार के अभाव में अथवा प्रतिकूल हवा पानी आदि के योग से घटते हैं- मुरझा जाते हैं। इस तरह तात्पर्य समझाना। पंचवस्तुक में कहा है कि-

मंसंकरो इव समाण जाइ रूपं करोवलं भाओ ।
पुढबी विद्रुम लवणो वलादओ हुंति सच्चित्त ॥६४५॥

अर्थात् - "जैसे जीते मनुष्य के मांस के अंकुर-मसा आदि काटने पर पुनः उगते-बढ़ते हैं वैसे ही समान जाति-रूप वाले अंकुर उगने-बढ़ने से पृथ्वी, परवाल, लवण, पत्थर आदि पदार्थ भी सचित्त जीवों का शरीर है।"

यहां 'समान जाति के अंकुर उत्पन्न होते हैं' ऐसा कहने से सींग के अंकुर का व्यवच्छेद समझना, क्योंकि वह समान जातिवाला नहीं है। इस तरह पृथ्वीकाय में जीवत्व भी सिद्ध समझना (१)। जल का जीवत्व भी इसी तरह सिद्ध है। जैसे कि-पृथ्वी- कुएं आदि का पानी सचित्त-जीव वाला है, क्योंकि भूमि खोदने पर मेंढक के समान वह स्वाभाविक प्रगट होता है। जैसे भूमि खोदने से मेंढक की उत्पत्ति स्वाभाविक है, वैसे ही भूमि को खोदने पर जल की भी संभावना स्वाभाविक है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अथवा 'बरसात का पानी सजीव जीव है' क्योंकि जैसे स्वभाव से मछली बरसात में बरसती है वैसे ही स्वभाव से आकाश में उत्पन्न हुआ जल भी बरसता है, अर्थात स्वाभाविक रूप से आकाश में उत्पन्न हुई मछलियों का पात (वर्षा में गिरते) दिखत है, वैसे ही स्वाभाविक उत्पन्न हुआ आकाश के पानी का भी पात वर्षा पड़ते दिखता है। इस तरह भूमि या बरसात का सर्व जल भी जीवत्व सिद्ध है। इस तरह समझाना। आगे और भी कहा है कि-

भूमिखय सामा विअ संभव ओ दद्दुरोव्व जल मुत्तं ।
अहवा मच्छो व्य सहाव वोम संभूअ पायाओ ॥६४६॥

अर्थात् - "भूमि खोदने से मेंढक के समान रूप रो जैसे स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने से जल सचित्त है, अथवा मछली जैसे स्वभाव से आकाश में उत्पन्न होकर वर्षा होने से भी जल सत्ति है।" अथवा जल के कारण से भी सचित्त है कि- गर्भ में कलक (रस) अवस्था में हाथी का शरीर अथवा पक्षी के अण्डों का रस प्रवाही स्वाभाविक है, वह बढ़ता है और जन्म लेता है, इसलिए जीव है। इस तरह अनेक प्रकार से जल में जीवत्व सिद्ध है। (२)

अग्नि में जीवत्व की सिद्धि इस तरह है' अग्नि जीव है, क्योंकि पुरुष के समान आहार लेते दिखती हैं। वह वायु, लकड़, तेल आदि की खूराक प्राप्त करके बढ़ती है और उसके अभाव में नष्ट होती है, यह प्रत्यक्ष दिखता है। पुरुष के शरीर में भी ज्वर और जठर की गरमी दिखती है, वह उसमें रहते जीव रहता है, मृत्यु के बाद जठर की गरमी जीव के साथ चली जाती है और बुखार से गरम अवयव ठंडे पड़ जाते हैं, यह सब मानते हैं। अग्नि में अनुभव होती गरमी भी जीव का प्रयोग रूप है। अग्नि में से जीवत्व नाश होने पर कोयले राख आदि उसके अचेतन अंश ठंडे हो जाते हैं, इत्यादि पुरुष के समान अग्नि में जीवत्व की सिद्धि अनेक प्रकार से होती है। (३)

वायु का जीवत्व इस तरह है कि-वायु जीव है, क्योंकि घोड़ा जैसे दूसरे की प्रेरणा बिना भी अनियत रूप से तिरछी दिशा में गमन करता है। जो चेतन होगा वह अपने आप गति करता है, अचेतन पदार्थ प्रेरणा बिना गति नहीं करता है वैसे ही वायु भी दूसरे की भी प्रेरणा बिना स्वयं गति करता है, यदि केवल जड़ होता तो स्वयं गति नहीं कर सकता, शरीर जड़ है फिर भी हलन-चलन, गमन, आगमन, बैठना-उठना आदि क्रिया होती है, वह उसमें जीव की प्रेरणा है। इससे वायु में जीवत्व सिद्ध है। पंचवस्तुक में आगे कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आहाराओ अणलो, विद्धि विगारोवलं भओ जीवो ।
अपरप्पे रिअतिरिआ-णिअमि अदिग्गमण ओ अनिलो ॥६४७॥

अर्थात् - "अग्नि काष्ठादि का आहार करता है और उसमें होती वृद्धि तथा विकार भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है, इसलिए वह सजीव है । अन्य की प्रेरणा बिना भी वायु अनियत दिशा में तिरछा गमन करता है, अत: वायु भी सजीव है । यदि जीव न होता तो उसका गमन भी न होता ।" (यह गाथा छापने में पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध का व्यत्यय थमा हुआ दिखता है) दोनों में जीवत्व की सिद्धि करने के लिए अनुक्रम से मनुष्य और पशु का दृष्टान्त समझना ।

वायु में 'अन्य की प्रेरणा बिना गमन' कहा है, इससे मिट्टी का टुकड़ा आदि के साथ विरोध नहीं रहता । क्योंकि मिट्टी का टुकड़ा आदि दूसरे की प्रेरणा बिना हिल-चल नहीं सकते । 'अनियत दिशा में गमन' कहा है, इससे नियत दिशा में श्रेणीबद्ध गति करने वाले परमाणु के साथ में भी विरोध नहीं रहता क्योंकि परमाणु श्रेणीबद्ध नियत छह दिशा में गमन करता है । अर्थात् मिट्टी का टुकड़ा आदि, धुआं, और परमाणु-ये प्रत्येक सजीव और वायु जीव है, इसलिए लक्षण भिन्न हैं । (४)

वनस्पति में भी जीवत्व है । वह इस तरह अनुमान करके समझाना चाहिए कि-वृक्ष सचेतन है क्योंकि उसमें स्त्री और उपलक्षण से पुरुषादि के समान जन्म, जरा, जीवन, मृत्यु, बढ़ना, आहार, दोहद, आमर-बीमारी-पीड़ा, रोग, चिकित्सा आदि होता है । जैसे स्त्रियों को जन्म आदि दिखता है, वैस ही वृक्षों में भी वह दिखता है । इसलिए वनस्पति में जीवत्व सिद्ध है । पंचवस्तुक में कहा है कि-

जम्म जरा जीवण मरणा-रोहणाहार दोहलाभयओ ।
रोगतिगिच्छाईहि अ, णारिव्व सचेयणा तरवो ॥६४८॥

अर्थात् - "स्त्री के समान वृक्षों का जन्म, जरा, जीवन, मरण, वृद्धि, आहार, दोहद-आमय, रोग और चिकित्सादि होता है । इसलिए वृक्ष (वनस्पति) सचेतन जीव है ।" इस तरह वनस्पति में जीवत्व सिद्ध है । (५)

मनुष्य शरीर में जन्म के बाद में जैसे बाल, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएं प्रगट होती हैं और उसमें चैतन्य भी स्पष्ट दिखते हैं वैसे ही वनस्पति में जन्म, बाल्य, यौवन, वृद्धत्व, मृत्यु, संज्ञा, लज्जा, हर्ष, रोग, शोक, शीत, उष्ण आदि स्पष्ट प्रत्यक्ष हैं, वनस्पतियों का शरीर-वृक्षादि भी मूल से बाहर आता (जन्म लेता) है। उसकी कोमलता रूप बाल अवस्था प्रगट होती है, और बकुल वृक्ष आदि कई वनस्पति में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लज्जा चैतन्य भी स्पष्ट दिखता है, मनुष्य शरीर के अवयवों के समान अंकुल, कुंपल, पत्ते, शाखा, प्रशाखा और स्त्री की योनि के समान पुष्प तथा उसमें संतति के समान फल भी आते (जन्मते) हैं। मानवीय शरीर को टिकाने अथवा बढ़ाने के लिए आहार पानी की आवश्यकता पड़ती है वैसे ही वनस्पति भी पृथ्वी-पानी आदि के आहार से जीती हैं और वृद्धि प्राप्त करती है, मानव शरीर के समान इसमें भी अनेक विध रोग होते है, उनकी विविध चिकित्सा होती है। इत्यादि विविध समानता प्रत्यक्ष दिखती हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी पांच प्रकार के ऐकेन्द्रिय में जीवत्व स्वीकार किया है। अत: वनस्पति सजीव सिद्ध होता है।

दोन्द्रिय आदि त्रसकाय जैसे कि कृमि, चींटी, भौंरे आदि तो जीव प्रसिद्ध ही हैं। इस तरह छहकाय का स्वरूप बताकर साधु को मूलगुण रूप व्रत 'प्राणातिपात विरमण' आदि रात्रि भोजन विरमण तक के छह व्रत समझाना। उनका वर्णन उपस्थापना की विधि के बाद मूल ग्रन्थ से ही कहा जायेगा। फिर उसके अतिचार कहना, वह भी व्रतों के वर्णन में कहा जायेगा।

उसके बाद अर्थात् पूर्व कहे अनुसार 'षट्काय, व्रत का और अतिचार का स्वरूप कहकर, अर्थात् छोटी दीक्षा के बाद आवश्यक सूत्र और दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन तक के योगों का वहन पूर्व काल में उस सूत्र के पढ़ने के साथ कराया जाता था। आज भी इतना पढ़ाने के बाद भी उपस्थापना दी जाती है। उसके अनुसार उसका अर्थ समझाकर शिष्य की गुरु को शास्त्रोक्त विधि के अनुसार परीक्षा करनी चाहिए। पंचवस्तुक में कहा है कि-

कहिऊणं काय वए इअ तेसुं नवरमभिगएसुं तु ।
गीएण परिच्छिज्जा, सम्मंएएसु ठाणेसु ।।६६३।।

अर्थात् - "इस तरह छहकाय जीवों के व्रतों का तथा अतिचारों का समझाने के बाद भी जिस शिष्य को ज्ञान-बोध हो, उसी की गीतार्थ गुरु ने इस विषय में परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा के विषय-स्थानों को भी पंचवस्तुक इस तरह कहा है -

उच्चाराइ अथंडिले, वोसिर ठाणाइ वावि पुढवीए ।
णइमाइदग समीवे, सागणि णिक्खित्त तेउम्मि ।।६६४।।

वियणऽभिधारण वाए, हरिए जह पुढविए तसेसुंच ।
एमेव गोअर गए, होइ परिच्छा उ काएहिं ।।६६५।।

अर्थात् - "शिष्य की परीक्षा के लिए गीतार्थ गुरु स्वयं बड़ी नीति-लघु नीति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि अस्थंडिल भूमि में जहां जीवाकुल आदि पापकारी भूमि हो उसमें परठे-त्याग करे, कायोत्सर्ग के लिए खड़े होना बैठना आदि भी सचित्त पृथ्वी [illegible] करे, नदी आदि में-पानी के पास में बड़ी नीति का त्याग करे, तथा जहां अन्य ने अग्नि डाली हो ऐसे अग्नि वाले प्रदेश में स्थंडिल आदि करना (६६४) वायु के लिए पंखे का उपयोग करना, हरी घास युक्त पृथ्वी पर तथा चींटी आदि त्रस जीव जहां हों वहां स्थंडिल आदि का त्याग करना। इस तरह गोचरी के लिए फिरते समय भी 'रजसंसृष्ट' आदि दोष वाला आहारादि ले। ऐसा करने से शिष्य की परीक्षा होती है। अर्थात् गुरु इरादे पूर्वक छहकाय जीवों की विराधना हो-ऐसी प्रवृत्ति करते हैं, इससे योग्यायोग्य शिष्य का निर्णय हो सकता है।" आगे पंचवस्तुक में कहा है कि-

जइ परिहरई संमं चोएइ व घाडिअं तया जोग्गो ।
होइ उवट्ठावणाए, तीए अ विही इमो होइ ॥६६६॥

अर्थात् - "गुरु द्वारा ऐसी विराधना करने पर भी यदि शिष्य इस विराधना का त्याग करे, स्वयं ऐसी प्रवृत्ति न करे और अन्य साथ के साधु को भी 'ऐसा करना अयोग्य है' इस तरह समझाये, तो उसे उपस्थापना के लिए योग्य जानना।" १०६ वें श्लोक में कहा था कि 'उपस्थापना विधिपूर्वक करना', इससे अब वह विधि कहते हैं -

देवगुवौर्वन्दनं च व्रतोच्चार प्रदक्षिणाः ।
दिग् बन्धस्तप आख्यानं, मण्डली वेशनं विधिः ॥१०६॥

मूलार्थ - "देव गुरु को वंदन करवाना, व्रत उच्चारण कराने, तीन प्रदक्षिणा करवानी, दिग्बन्ध करवाना, तप करवाना, व्याख्यान करना और मंडली में प्रवेश करवाना-यह उपस्थापना की विधि जानना।

व्याख्या - देव गुरु को वंदन अर्थात् आठ स्तुति से नंदि का देव वंदन करवाना और गुरु को द्वादशावर्त वदंन रूप दो वांदना दिलाना उसके बाद अहिंसा आदि रात्रि भोजन विरमण तक के छह व्रतों का उच्चारण करना और समवसरण (नंदि) को तीन प्रदक्षिणा दिलाना यदि साधु हो तो आचार्य-उपाध्याय केभेद से दो प्रकार से, यदि साध्वी हो उसकी प्रवर्त्तिनी सहित तीन प्रकार की दिग्बन्ध नाम स्थापना विधि करना। आयंबिल आदि शक्ति अनुसार तप करवाना। पांच महाव्रत के पालन के लिए सेठ की चार पुत्र वधू के दृष्टान्त से उपदेश देना और सात मंडली में प्रवेश करवाना। यह उपस्थापना की विधि संक्षेप से जानना। विस्तृत अर्थ तो प्राचीन समाचारी में से समझ लेना। उसका पाठ इस प्रकार उपस्थापना द्वार में आया है-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पढिआइ वास चिइ तिय तिय तिय वेला खमासमण सत्त ।
दिसिबंधो दुविहा तिहा, तव देसण मंडली सत्त ॥१॥

अर्थात् - **''पढिए य कहिए अहिगए** इत्यादि (सत्तरहवें पंचाशक में ३०, ३१ इन गाथाओं का वर्णन पंचवस्तुक की गाथाओं से लिया है) उसके अनुसार अच्छी तरह उसके गुणों की परीक्षा की है, ऐसा शिष्य शुभ तिथि वार, नक्षत्र, मुहूर्त्त और रवि योग आदि शुभ योग वाले प्रशस्त दिन श्री जिन मन्दिर आदि प्रधान-पवित्र प्रदेश में आकर गुरु महाराज को वंदन करके कहे कि- **'इच्छाकारी भगवन् ! तुम्हें अम्ह पंचमहाव्रत रात्रि भोजन विरमण षष्ठव्रत आरोवावणिअं नंदि करावणिअ वास निक्खेवं करेह'** अर्थात् हे भगवन् ! आप मुझे पंच महाव्रत और रात्रि भोजन विरमण नामक छट्ठे व्रत आरोपण (स्थापना) के लिए और उसके उद्देश्य से नंदि (मंगलोपचार देववंदनादि) कराने के लिए वास निक्षेप करो ! (मंत्रित वासित मेरे मस्तक पर डालो) ऐसा कहकर आठ स्तुतिपूर्वक नंदि का देव वदंन जय वीयराय तक करके गुरुवंदन के दो वांदना दे । उसके बाद गुरु शिष्य दोनों आदेश मांगते महाव्रतों का आरोपण के लिए सत्ताइस श्वासोच्छ्वास तक सागरवर गम्भीरा तक एक लोगस्स का काउस्सग्ग करे । उसके बाद हाथी के दंतशूल के समान पेट के ऊपर कोहनी की स्थापना कर, दो हाथ से रजोहरण पकड़कर, आचार्य बायें हाथ की अनामिका अंगुली से लटकती मुँहपत्ती पकड़कर, सम्यक् उपयोग पूर्वक ऊपर का आधा शरीर नमाकर दो हाथ से अंजलिकर खड़े शिष्य को एक-एक महाव्रत श्री नमस्कार महामन्त्र बोलते हुए तीन-तीन बार उच्चारण करे (सुनाये)। वह इस तरह- एक बार नमस्कार महामंत्र का उच्चारण करके ।

''(तत्थ) पढमे भंते ! महव्वए पाणाइ वायाओ वेरमणं, सव्वं भंते । पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा, वायरं वा, तसं वा, थावरं वा, नेव सयं पाणे अइ वाइज्जा, नेवन्नेहिं पाणे अइवाय विज्जा, पाणे अइवायं तेवि अन्ने न समणु जाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं-मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणु जाणामि, तस्स भंते । पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भंते । महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ॥१॥''

इस तरह पहले महाव्रत का पाठ बोलना, पुनः नमस्कार महामंत्र बोलकर दूसरी बार और इसी तरह ही तीसरी बार सुनाये । इसका अर्थ पूर्व में पाक्षिक सूत्र के अन्दर आ गया है, वहां से समझ लेना । उसके बाद नमस्कार महामंत्र बोलकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"**अहावरे दुच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं०**" आदि दूसरे महाव्रत का पाठ भी पहले महाव्रत के समान तीन बार पूर्ण सुनाना। इसी तरह तीसरा, चौथा आदि महाव्रतों का पाठ तीन-तीन बार श्री नमस्कार मंत्र पूर्वक उच्चारण करना। उसके बाद जब लग्न समय आए तब श्री नमस्कार महामन्त्र बोलकर '**इच्चेइ आइं पंच महव्वयाइं राईभोअण वेरमण छट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि।**' यह पाठ तीन बार सुनाना। फिर शिष्य वंदन करके कहे कि- '**इच्छाकारि भगवान् ! तुम्हें अम्ह पंचमहाव्रत-रात्रि भोजन विरमण षष्ठ (व्रत) आरोवउ**' आदि सात खमासमण और तीन प्रदक्षिणा, विधि पूर्व में पहले भाग समकित आदि उच्चारण विधि में कही है उसके अनुसार करने के बाद शिष्य को आचार्य तथा उपाध्याय रूप दो प्रकार के दिग्बंध करे, अर्थात् अमुक आचार्य, अमुक उपाध्याय और अमुक गुरु के अमुक नाम वाले तुम शिष्य हो, इस तरह चतुर्विध श्री संघ के समक्ष कहे। जैसे कि-कोटिक गण, वैरी-वज्री शाखा, चन्द्रकुल, अमुक गुरु आचार्य, अमुक उपाध्याय, अमुक गुरु का शिष्य तुम्हारा नाम आदि, साध्वी को अमुक प्रवर्त्तनी यह तीसरा प्रकार अधिक समझना। उसके बाद आयंबिल नीवि आदि उस दिन मंगल के लिए तप करना और उपदेश में सेठ की चार पुत्रवधुओं का दृष्टान्त देकर पांच महाव्रतों का पालन करने का तथा उत्तरोत्तर वृद्धि करने का समझाना। इस तरह उपस्थापना करने के बाद ही शिष्य को मंडली में प्रवेश कराने के लिए सात आयंबिल कराने चाहिएं। वह सात मंडली प्रवचन सारोद्धार में इस तरह कहा है-

सुत्ते अत्थे भोअण, काले आवस्सए सज्झाए ।
संथारए चेव तहा, सचेया मंडली जइणो ॥६६२॥

अर्थात् - "१. सूत्र, २. अर्थ, ३. भोजन, ४. काल ग्रहण, ५. प्रतिक्रमण, ६. स्वाध्याय और ७. संथारा पोरस में, इस तरह निश्चय रूप सात कार्यों में मंडली होती है।"

मंडली अर्थात् साधु मंडल में योग्यता प्राप्त कर प्रवेश करना और उस प्रत्येक में एक-एक आयंबिल करके प्रवेश हो सकता है। आयंबिल के बिना प्रवेश करना उसमें नहीं कल्पता। उसमें ऐसी विधि है कि-आयंबिल का तप करके शाम को गुरु महाराज के पास में मुंहपत्ति पडिलेहन करके दो वांदना देना, फिर '**इच्छाकार सदिसह भगवंत् ! सूत्र मंडली संदिसाहु?**' पुनः खमासमण देकर '**इच्छा० संदि० भग० सूत्र मंडली ठाऊ।**' इच्छ कहकर खमासमण देकर 'तस्समिच्छामि दुक्कडं' कहे, प्रत्येक मंडली की विधि जानना परन्तु शेष मंडली में 'तिविहेण' कहना। इस प्रकार विस्तारपूर्वक उपस्थापना की विधि कही। यह उपस्थापना व्रतरोपण रूप है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसलिए अब व्रतों का वर्णन करते हैं।-

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्माऽऽ किञ्चन्यमेव च ।
महाव्रतानि षष्ठं च, व्रतं रात्रावभोजनम् ।।११०

मूलार्थ- ''अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह--ये पांच महाव्रत है तथा रात्रि में भोजन त्याग करना यह छठा व्रत है ।''

व्याख्या- अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अकिंचन्य (अपरिग्रह)-इस तरह पांच ही महाव्रत कहे हैं। ये अन्य व्रतों की अपेक्षा महान हैं, इससे इनको महाव्रत कहते हैं, ऐसा वाक्य में क्रिया पद जोड़ना। उसमें अहिंसा-सर्व जीवों की सर्व प्रकार की दया, व्रत का नियम पालन करना, मृषावाद का त्याग सर्व द्रव्य-पदार्थ के विषय में, इत्यादि इन व्रतों के विषय में अन्य की अपेक्षा से विशिष्ट होने से इन पांच का महत्व है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है-

पढमं मि सव्वजीवा, बीए चरिमे अ सव्व दव्वाइं ।
ऐसा महव्व या खलु, तदेक्क देसेण दव्वाणं ।।७६१।।

अर्थात्- ''प्रथम महाव्रत में 'सूक्ष्म-बादर-त्रस-स्थावर इत्यादि सर्व जीवों की हिंसा का त्याग किया जाता है, दूसरे महाव्रत में 'सव्वदव्वेसु' शब्द से सर्व द्रव्यों में मृषावाद का त्याग और चरिम अर्थात् पांचवे महाव्रत में भी '**सचिताचितमिसेसु दव्वेसु**' शब्द से सर्व द्रव्यों के परिग्रह का त्याग किया जाता है। इसलिए वह सर्व विषयक है। शेष महाव्रत द्रव्यों के अमुक एक देश के त्याग वाले हैं।'' जैसे कि तीसरे महाव्रत में ग्रहण-धारणीय-ले सकते हैं, रख सकते हैं-ऐसे द्रव्यों का अदत्तादान है, चौथे में रूप और रूप वाले पदार्थों के विषय में अब्रह्म का त्याग है, छठा तो महाव्रत नहीं है, रात्रि में भोजन न करने से वह 'रात्रि भोजन विरमण व्रत' ७७कहलाता है। इस तरह नाम मात्र से व्रतों को कहा है। अब प्रत्येक का लक्षण कहने की इच्छा से प्रथम 'अहिंसा व्रत' का लक्षण कहते हैं-

प्रमाद योगतोऽ शेष जीवाऽसुव्यपरोपणात् ।
निवृत्तिः सर्वथा यावज्जीवं सा प्रथमं व्रतम् ।।१११।।

मूलार्थ- ''प्रमाद के योग से सर्व जीवों के प्राण का नाश करने का सर्वथा यावज्जीव त्याग करना, यह प्रथम व्रत है।''

व्याख्या- 'अज्ञान, संशय, बुद्धि की विपरीतता, राग, द्वेष, विस्मरण, मन वचन काया की दुष्प्रवृत्ति और धर्म में अनादर-इन आठ प्रकार के प्रमाद के योग से अर्थात् प्रमाद करने से 'अशेष' अर्थात् सूक्ष्म या बादर अथवा त्रस या स्थावर, सर्व

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीवों के पांच इन्द्रिय, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य-इन दस प्राणों में जिसके जितने हों उतने उसके प्राणों का विनाश करना हिंसा है और उसकी 'निवृत्ति' अर्थात् विराम प्राप्त करना, रुकना अहिंसा कहलाती है। वह देश से भी हो सकती है, इसलिए यहां कहा है कि- 'सर्वथा' अर्थात् सर्व प्रकार से अर्थात् मन, वचन, काया से करने का-कराने का और अनुमोदन का-इस तरह त्रिविध-त्रिविध भेद से त्याग करना। वह त्याग अमुक मर्यादित काल तक का भी हो सकता है, इसलिए कहा है कि 'यावज्जीव' अर्थात् पूरे जीवन तक हिंसा नहीं करना-अहिंसा का पालन करना, उसे प्रथम अहिंसा व्रत कहा है। इस व्रत को सबसे पहले कहने का कारण यह है कि अन्य सब व्रतों का आधारभूत अहिंसा है। अहिंसा की साधना के लिए सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत पालना है, ये सभी उसके साधना रूप हैं। सूत्रों में व्रत का क्रम भी इसी तरह है। इस हेतु दूसरा, तीसरा आदि सब व्रतों के क्रम में भी समझना अर्थात् सत्य, अस्तेय आदि का क्रम सूत्रों में उस तरह कहने से यहां भी वही क्रम रखा है। यह प्रथम व्रत कहा, अब दूसरे व्रत का लक्षण कहते हैं कि-

सर्वथा सर्वतोऽलीकादप्रियाच्च हितादपि ।
वचनाद्वि निवृत्तिर्या, तत्सत्य व्रतमुच्यते ॥११२॥

मूलार्थ- "सर्व असत्य से, अप्रिय से और अहितकर वचन से सर्वथा निवृत्ति करना-होना, उसे सत्यव्रत कहते हैं।

व्याख्या- "सर्व प्रकार के अर्थात् क्रोधादि किसी भी कारण से बोलते 'अलीक'= असत्य से, अप्रिय से = प्रीति रहित से और 'अहित से' =भविष्य काल में अहितकारी होने से, इस तरह केवल असत्य वचन से ही नहीं, किन्तु इन तीन प्रकार के दुष्ट वचन से 'सर्वथा' = त्रिविध-त्रिविध से रुक जाना, उसे श्री जिनेश्वर ने सत्य व्रत कहा है।"

यहां प्रश्न करते हैं कि-यहां सत्य व्रत का अधिकार होने से केवल असत्य बोलने से रुकना चाहिए। इतना सत्य व्रत क्यों नहीं कहलाता ? अप्रिय और अहित का त्याग किसलिए है ? नाम से केवल 'सत्य व्रत' कहा है, इससे अप्रिय और अहितकर के त्याग का उसमें अधिकार है ही कहां ? इसका उत्तर देते हैं-तुम्हारा प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि- व्यवहार से सत्य होने पर भी अप्रिय और अहितकर में परमार्थ से असत्य रूप है। जैसे कि-चोर को 'तू चोर है', कोढ़ का रोगी 'तू कोढ़ी है,' इत्यादि, ऐसे वचन उसे अप्रिय होने से सत्य नहीं हैं। दशवैकालिक में कहा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है कि-

तहेव काणं काणेत्ति, पंडगं पंडगे त्तिवा ।
वाहिअं वा वि रोगित्ति, तेणं चोरेत्ति नो बए ॥७-१२॥

अर्थात्- "इस तरह काने को काना, नपुसंक को नपुसंक, रोगी को रोगी अथवा चोर को चोर भी नहीं कहना चाहिए।" बोलने में वह सत्य दिखता है, परन्तु उसको अप्रिय होने से दु:खदायी है। अत: असत्य रूप है। इस कारण से ही शास्त्र में इन छह प्रकार की भाषा को अप्रशस्त कहा है। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

हीलिय खिंसिय फरूसा, अलिया तह गार हत्थिया भासा ।
छट्ठी पुण उवसंताहि गरण उल्लास संजणणी ॥१३२१॥

अर्थात्- "१-हीलिता-अवज्ञापूर्वक, २-खिंसिता-निंदावचन, ३-परूषा-कर्कश-कठोर वचन, ४-असत्या-झूठा वचन, ५- गार्हस्थ-साधु को गृहस्थ की भाषा में 'यह पुत्र है, भानेज है' इत्यादि बोलना और ६-शमेला-कलह को प्रगट करने वाली - ये छह प्रकार की दुष्ट भाषायें हैं।"

कोई शिकारी जब पूछे तब 'मैंने मृगों को इस दिशा में जाते देखा है' इस तरह सत्य बात कहने से शिकारी उस दिशा में जाकर मृगों को मार डाले, इसलिए प्राणियों के घात में हेतु बने-ऐसा सत्य वचन यथार्थ होने पर भी अगर दूसरों को पीड़ा देने वाला हो तो उसे भी असत्य की कोटि में ही माना जाता है। योग शास्त्र में कहा है कि-

न सत्यमपि भाषेण, पर पीडाकर वच: ।
लोकेऽपि श्रुयते यस्मात् कौशिको नरकं गत: ॥१-६१॥

अर्थात्- "जिससे दूसरों को पीड़ा हो, ऐसा सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि यह लोकश्रुति है कि ऐसे वचन से कौशिक नामक तापस नरक में गया।"

कौशिक नाम का तामस अपना गांव का सम्बन्ध छोड़कर गंगा नदी के किनारे तप करता था। सदा सत्य बोलने से लोगों में उसकी प्रसिद्धि सत्यवादी के रूप में हो गई। एक बार उस तापस के निकटवर्ती गांव को लूट कर आते हुए चोरों को देखा कि सर्प जैसे अपनी बांबी में घुसता है वैसे ही वे चोर आश्रम के नजदीक वन झाड़ियों में घुस गये। चोरों के पैरों के निशान के अनुसार गांव के लोग तापस के आश्रम में आए और तापस से पूछा- 'महात्मन्! आप तो सत्यवादी हैं, बताइये वे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चोर कहां गये ?' धर्म तत्व के रहस्य से अनभिज्ञ कौशिक तापस से कहा-'इन घनी झाड़ियों में चोरों ने प्रवेश किया है ।' यह सुनते ही वे चोरों पर टूट पड़े और उन्हें मार डाला । इसलिए दूसरे को पीड़ा पहुँचाने वाले तथ्य वचन के रूप में असत्य बोलने से कौशिक तापस अपना आयुष्य पूर्ण कर नरक में गया ।

इस व्रत के पालन के लिए बयालीस उत्तर भेद हैं । चार प्रकार की भाषा को सम्यग् प्रकार समझना चाहिए । उसका स्वरूप, प्रज्ञापना सूत्र ११/८६२ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

पढमा भासा सच्चा, बीआड भुसा तइय वि उ तासि ।
सच्चा मुसा असच्चा मुसा, पुणो तह चउत्थी त्ति ।।८६०।।

अर्थात्- "मुख से बोलना-उसे वचन प्रयोग की भाषा कहते हैं। उसके चार भेद हैं । उसमें एक 'सत् को हितकारक' हो वह सत्या जानना । यहां 'सत्' शब्द के १-सत्पुरुष, २- 'सत्' अर्थात् उत्तम ऐसे मूल गुण और उत्तर गुण अथवा, ३- 'सत्' अर्थात् विद्यमान जीव-अजीवादि पदार्थ, इस तरह भिन्न अर्थ समझना । उन प्रत्येक का हित करने वाली भाषा सत्य कहलाती है । अथवा वस्तु के स्वरूप को बताने की इच्छा से बोला जाने वाले यथार्थ वचन- यह प्रथम **सत्या भाषा** कही है। इससे विपरीत अर्थात् वस्तु के स्वरूप को सिद्ध करने में विसंवादी वचन उसे दूसरा मृषा भाषा कहा है । सत्य और मृषा उभय से मिश्रित-उभय स्वभाव वाली भाषा को तीसरा-सत्या मृषा कहा है और इन तीनों से विलक्षण अर्थात् सत्य नहीं, असत्य नहीं और उभय स्वभाव वाली भी नहीं हो- ऐसी भाषा को चौथी **असत्या अमृषा भाषा** कही है । भाषा के ये चार भेद कहे हैं, वह व्यवहार नय से जानना । निश्चय नय से तो उस नय के उपयोग को प्रमाणभूत मानने से जो उपयोग पूर्वक बोला जाता है वह १-सत्य है और जो उपयोग रहित बोला जाता है वह २-असत्य, इस तरह दो ही भेद हैं।" भाषा रहस्य में कहा है कि-

भाषा चउव्वि हति य, ववहारण या सुयंमि पन्नाणं ।
सच्चामुसत्ति भासा, दुविहा चिअ हंदि णिच्छ यओ ।।१७।।

अर्थात्- " भाषा चार प्रकार की है, इस तरह जो सूत्र में कहा है वह व्यवहार नय की अपेक्षा से समझना । निश्चय नय से तो सत्य और मृषा दो प्रकार की ही भाषा है ।"

यह भी कथन युक्ति युक्त है, क्योंकि बोलने में जीव का आराधना रूप और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विराधना रूप इस तरह दो भेद ही रहे हैं। देश से आराधना रूप और देश विराधना रूप और शुद्ध निश्चय नय मानता नहीं, उसमें यह कारण है कि जीव को एक साथ में यह योग व्यापार एवं दो उपयोग घटते नहीं है। यदि दोनों इस तरह साथ में माने तो उसे योग से कर्म भी सबल 'शुभाशुभ उभय स्वभाव वाला बंधन' का प्रसंग आता है और ऐसा कोई कर्म तो है नहीं। जो आठ कर्म या उसके उत्तर भेद कहे हैं, वह प्रत्येक या तो शुभ या अशुभ ही है, मिश्र कोई नहीं है। इत्यादि विशेष चर्चा विशेषावश्यक में कही है। इस अभिप्राय से प्रज्ञापना सूत्र में भाव पद के सूत्र ११/८६२ में भगवान श्री श्यामाचार्य जी ने कहा है कि-

"ए आइं भंते। चत्तारि भासज्जायाइं भासमाणे किं आराइए वा विराहए? गोयमा! आउत्तं भासमाणे आराहए, तेण परं असंजय अविरय अप्पडिहय-पच्चक्खाय पाव कम्मे सच्चं वा भासं भासड, मोसं वा, सच्चा मोसं वा, असच्चा मोसं वा विराहए णो आराहए।" इति कृतं प्रसंगेन।

अर्थात् "श्री गौतम स्वामी ने भगवान श्री महावीर प्रभु से पूछा कि-हे भगवन्त! भाषा के ये चार प्रकार से बोलने वाले क्या आराधक हैं या विराधक हैं? तब भगवान ने कहा-हे गौतम! उपयोग पूर्वक बोलने वाला आराधक है और उपयोग बिना बोलने वाला असंयमी, अविरति और अप्रतिहत-प्रत्याख्यात कर्म वाला गिना जाता है। वह सत्य, मृषा, सत्यामृषा अथवा असत्या अमृषा बोले तो भी विराधक है आराधक नहीं है इत्यादि प्रसंगोपात कहा है।" इन चार के उत्तर भेद में प्रथम सत्या भाषा के दस भेद कहे हैं। दश वैकालिक निर्युक्ति गा० २७३ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

जण वय संमथ ठवना, नामे रूवे पडुच्च सच्चे अ।
ववहार भाव जोगे, दसमे ओव स सच्चे अ ॥८६१॥

अर्थात् - "१-**जनपद सत्य**-जिस देश में जो भाषा जिस अर्थ में रूढ़ हो गयी हो, उससे अन्य देश में उस अर्थ में न उपयोग करना, उसे भी सत्य मानना। जैसे कि कोकण आदि देश में पानी को 'पेच्च' कहते है। इसका सत्यत्व यही कारण है कि लोग उस शब्द को सुनकर उस देश में वह व्यवहार करते हैं अर्थात् व्यवहार-प्रवृत्ति में हेतु है। २- **संमत सत्य** - दूसरे भेद में भी इसी तरह भावार्थ समझ लेना। सर्व लोक में सामान्य रूप में सत्य रूप में प्रसिद्ध = संमत होता है, जैसे कि- कुमुद, कुवलय उत्पल, तामरस ये सभी पंकज हैं अर्थात् कादव में उत्पन्न होते हैं फिर भी सामान्य लोक ने अरविंद को ही पंकज रूप में माना है, अन्य को वे 'पंकज' नहीं मानते। इस तरह अरविंद का पंकज नाम सर्व संमत होने से वह संमत सत्य जानना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३-स्थापना सत्य- जैसे कि एक अंक के आगे दो बिन्दु रखने से सौ और तीन बिन्दु लिखने से हजार १००-१००० आदि माना जाता है, अथवा चूने के लेप से चित्र-आकृति से विविध रूप में बनी हुई प्रतिमाओं में 'अरिहंत' आदि का विकल्प करना इत्यादि, उन अक्षरों के आकार को या चित्र-मूर्ति आदि को अरिहंतादि रूप में मानना-वह स्थापना सत्य है। **४-नाम सत्य**- केवल नाम से सत्य मानना, जैसे कि-कुल को नहीं बढ़ाने वाले का नाम भी 'कुलवर्धन' रखना और मानना आदि नाम सत्य है। **५- रूप सत्य**- रूप की अपेक्षा से सत्य हो वह रूप सत्य है, जैसे कि दंभ से भी यति का वेश स्वीकार किया हो, उसे वेश मात्र से यति कहना इत्यादि रूप सत्य है। **६. प्रतीत्य सत्य**- जो वस्तु के अन्तर के आश्रित बोला जाता है वह प्रतीत्य सत्य है जैसे कि-अनामिका अंगुली कनिष्ठा की अपेक्षा बड़ी है और मध्यमा की अपेक्षा से छोटी है। उसे उस प्रकार से छोटी या बड़ी कहना वह अन्य अंगुली के आश्रित कहा जाता है। **७. व्यवहार सत्य** - लोक विवक्षा रूप जो व्यवहार से बोला जाता है वह 'व्यवहार सत्य' है, जैसे कि-पर्वत जलता है, पात्र को गालता है, कन्या अनुदरा-पेट बिना की है, बकरी रोम (बाल) बिना की है इत्यादि वस्तुतः सत्य नहीं हैं, पर्वत नहीं जलता परन्तु उसके ऊपर के वृक्षादि जलते हैं, धातु गलती है, कन्या दुबली पेट वाली है, बकरी के अल्प बाल है, फिर भी लोक व्यवहार में ऐसा बोला जाता है। वह व्यवहार सत्य है। इसी प्रकार साधु को भी व्यवहार अनुसार बोलना व्यवहार सत्य गिना जाता है, ऐसा भावार्थ जानना। **८. भाव सत्य**- वर्ण-गुण आदि की अपेक्षा से सत्य मानना भाव सत्य है अर्थात् जहां जो वर्ण-गुण आदि भाव अधिक या दृढ़ हो उससे उसे वैसा मानना, दृष्टान्त रूप से शंख में पांचों वर्ण होने पर भी शुक्ल वर्ण की उत्कटता होने से उसे शुक्ल कहा जाता है या भौंरा पाँच वर्ण का होने पर भी कृष्ण की उत्कटता होने से उसे कृष्ण कहते हैं इत्यदि भाव सत्य है। **९- योग सत्य**- सम्बन्ध की अपेक्षा से सत्य मानना वह योगसत्य है, जैसे कि छत्र-रखने वाला किसी समय छत्र बिना का भी होता है, फिर भी वह 'छत्री' कहलाता है या दंडा रखने वाला किसी समय दंडे के अभाव में भी दंडी कहलाता है इत्यादि योग सत्य हैं। और १०- **औपम्य** = उपमा से सत्य माना जाय वह 'औपम्य सत्य' कहलाता है, जैसे कि बड़े तालाब को समुद्र सदृश कहना, विशेष धन वाले को कुबेर कहना, बुद्धिहीन को पशु कहना इत्यादि उपमा सत्य हैं। ये दस भेद सत्य भाषा के कहे।

असत्य के दस भेद इस प्रकार से प्रज्ञापना सूत्र ११/८६३ में दश वैकालिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नि० २७४ तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

कोहे माणे माया लोभे, पेज्जे तहेव दोसे अ ।
हास भए अक्खाइय, उव घाए निस्सिआ दसहा ॥८६२॥

अर्थात्- ''इस गाथा में '**निस्सिआ**' शब्द का 'क्रोध' आदि प्रत्येक **शब्द के** साथ सम्बन्ध होने से '**कोहे निस्सिआ**' अर्थात् 'क्रोध से निकले या बोलते हुए' आदि अर्थ करना। उसमें क्रोध से अर्थात् विसंवादी बुद्धि से बोलने वाला यदि सत्य बोले तो भी वह असत्य ही है। जैसे कि-क्रोध से जो 'दास न हो उसे दास कहना, अथवा दास को भी क्रोध से दास कहना असत्य है। इस तरह जो क्रोध से बोला जाता है उस सत्य या असत्य भाषा को भी १-**क्रोध असत्य** समझना। इस तरह जो स्वामी न हो उसे भी मान से दूसरा अपना स्वामी कहे आदि २-**मान असत्य है**। दूसरे को ठगने केआशय-माया से जो बोला जाता है वह ३-**माया असत्य है**। लोभ के कारण से जो बोला जाता है वह ४-**लोभ असत्य**, जैसे कि-अल्पमूल्य पदार्थ को बहुमूल्य कहना आदि। जो प्रेम से बोला जाता है वह ५-**प्रेम असत्य है** जैसे कि काम राग से स्त्री को कहना कि-'मैं तेरा दास हूँ' आदि। द्वेष के कारण बोली हुई भाषा वह ६-**द्वेष असत्य** है जैसे कि-मत्सर-जलन से गुणवान को भी 'यह तो निर्गुणी है' कहना इत्यादि। हास्य से जो बोला जाता है वह ७-**हास्य असत्य है**, जैसे कि-हास्य मखौल से 'कृपण' को भी 'दातार' कहना आदि। भय के कारण जो बोला जाता है वह ८-**भय असत्य** है। जैसे कि-चोर आदि के भय से घबड़ा कर जैसे-तैसे बोलना। कथा बातें करते समय जो घटना न घटी हो ऐसा बोलना वह ९-**आख्यायिका असत्य** है। उपघात अर्थात् हृदय के आघात से जो बोला जाता है वह १०-**उपघात असत्य** है जैसे कि कोई चोर कहे तब 'तुम चोर हो' इत्यादि असत्य बोलना। यह दस प्रकार की असत्य भाषा कहीं। अब तीसरी मिश्र भाषा के दस भेद कहते हैं वैकालिक निर्युक्ति गा० २७५ तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है-

उप्पन्न विगय मीसग, जीव, अजीवे अ जीव अज्जीवे ।
तह मीसआ अणंता परित्त अद्धा य अद्धद्धा ॥८६३॥

अर्थात्- ''इस गाथा का '**मीसग**' शब्द प्रत्येक के साथ सम्बद्ध होने से उसके साथ जोड़ना -'उत्पन्न मिश्रित' आदि समझना। उसमें उत्पन्न की संख्या पूर्ण करने के लिए अनुत्पन्न होने पर भी जो उत्पन्न रूप में बोला जाता है वह १- **उत्पन्न मिश्रित है**। जैसे कि-किसी गांव में कम या ज्यादा बालकों का जन्म हुआ हो फिर भी '**आज यहां दस बालकों का जन्म हुआ है**' इत्यादि व्यवहार से अनिश्चित रूप में बोलना। **इसमें सत्य के** साथ असत्य भी है। इसी तरह 'कल मैं तुझे सौ रुपया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दूंगा' ऐसा कहकर यदि दूसरे दिन पचास रुपया दे तो भी लोक में वह मृषावादी नहीं माना जाता और वस्तुतः शेष पचास रुपया न दे, इतने अंश में झूठा भी है। इसलिए ऐसी भाषा को 'उत्पन्न मिश्रित' समझना। इसी तरह आंशिक सत्यासत्य दूसरे भेदों में भी यथामति समझ लेना। मरणादि के लिए ऐसा कहना वह २- **विगत मिश्रित** है जैसे कि मरे हुए मनुष्य की संख्या कम अधिक होने पर भी कहना कि आज गांव में दस मनुष्य मर गये हैं। इस तरह मरणादि 'गत भावों को आश्रित से' मिश्र वचन बोलना वह विगत मिश्रित समझना। उत्पन्न-विगत उभय आश्रित से मिश्र बोलना वह ३- **उत्पन्नपि गत मिश्रित** है। जैसे कि- 'आज दस मनुष्य जन्मे और दस मर गये' इत्यादि कहना उसमें कम अधिक जन्म मरण हुए हों फिर भी व्यवहार से सत्य माना जाता है और वस्तुतः असत्य है। इसमें दोनों अंश होने से मिश्रित जानना। ४- **जीव मिश्रित** - जैसे कि किसी एक ढेर में बहुत जीव जीवित हों और थोड़े मरे भी हों ऐसे एकत्रित रहे 'शंख-शंखनक' आदि के ढेर को जीव का ढेर कहना वह जीव मिश्रित है। ५- **अजीव मिश्रित** जैसे कि जिसमें बहुत मरे हों और थोड़े जीते हों, ऐसे समूह को अजीव कहना। अजीव के आश्रित से ऐसा बोलने के लिए अजीव मिश्रित है। ६-**जीवाजीव मिश्रित**- ऐसे ही ढेर में निश्चय किए बिना इतने जीते और इतने मरे हैं ऐसा निश्चय वाक्य बोलना। वह जीवाजीव मिश्रित है। ७- **अनन्त मिश्रित**- 'मूला' आदि किसी अनंतकाय को उसके ही पत्ते पक गये हों तब या अन्य किसी वनस्पति के साथ में मिश्रित हो गया हो तब 'यह सब अनंतकाय है' इस प्रकार बोलना, वह अनन्त मिश्रित समझना। इस तरह प्रत्येक वनस्पति को अनंतकाय के साथ मिश्रित देखकर 'यह सारा समूह प्रत्येक वनस्पति है' यह बोलना, उसे। ८- **प्रत्येक मिश्रित** जानना। तथा 'अद्धा अर्थात् काल' वह यहां प्रसंगानुसार दिन अथवा रात्रि को समझना, उससे मिश्रित वह ९ - **अद्धा मिश्रित** है। जैसे कि-'एक मनुष्य किसी काम को दूसरों से जल्दी कराने के लिए दिन होते हुए भी कि रात्रि पड़ी है, अथवा रात्रि होने पर भी किसी को जगाने के लिए कहते हैं कि दिन हो गया है। वह अद्धामिश्रित कहलाता है। १०- **अद्धाद्धमिश्रित** - दिन या रात्रि का एक भाग वह अद्धाअद्धा कहलाता है। उसमें दूसरों से शीघ्रता कराने के लिए पहले पहर में कोई एक बोले कि जल्दी कर, मध्याह्न हो गया है। इसी तरह रात्रि के लिए भी स्वयं जान लेना। ऐसी भाषा को अद्धाद्धा मिश्रित जानना। ये दस भेद तीसरी भाषा के कहे हैं चौथी 'असत्या अमृषा' भाषा के बारह भेद दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा २७६-२७७ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहे हैं कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आमंतणि आणावणी जायणी तह पुण्छणी य पन्नवणी ।
पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा य ॥८६४॥
अणभिग्गहिआ भासा, भासा य अभिग्गहंमि बोद्धव्वा ।
संसय करणी भासा, वायड़ अव्वायड चेव ॥८६५॥

अर्थात् – "१- **आमंत्रणी**- किसी को आमंत्रण देने के लिए बोलना, जैसे कि- 'हे देवदत्त !' इत्यादि आमंत्रण की भाषा में कहा जाता है । यह भाषा सत्य, असत्य अथवा सत्यासत्य भी नहीं, किन्तु इन तीनों से भिन्न (विलक्षण) केवल व्यवहार में उपयोगी है, इससे इसे 'असत्या अमृषा' कहा है इस तरह भावार्थ समझना। २- **आज्ञापनी**- जैसे कि-'तुम यह कार्य करो' इत्यादि, दूसरे को काम में जोड़ने के इसलिए आज्ञावचन बोलना । ३- **याचनी**- किसी अन्य के सामने 'तुम अमुक वस्तु दो' इत्यादि याचना के लिए बोलना । ४- **पृच्छनी**-जैसे कि-अमुक वस्तु को जानता न हो या अमुक के विषय में संदेह हो, ऐसे समय पर जानने के लिए अन्य से 'यह क्या है ?' अथवा 'यह इस तरह क्या है ?' इत्यादि प्रश्न रूप बोलना । ५-**प्रज्ञापनी**- शिष्य आदि को उपदेश देने के लिए बोलना, जैसे कि- 'हिंसा का त्याग करने से आयुष्य लम्बा भोगता है' इत्यादि उपदेश वचन की प्रज्ञापनी भाषा कहलाती है । ६- **प्रत्याख्यानी**- कोई कुछ मांगे या पूछे इत्यादि प्रसंग पर निषेधात्मक बोलना। ७- **इच्छानुलोमा**- अन्य की इच्छा के अनुसार बोलना, जैसे कि- कोई मनुष्य अमुक काम करने की इच्छा प्रगट करे तब उसे 'आप यह काम करो । मेरी भी यही इच्छा है ।' आदि कहना । ८- **अनभिग्रहीता**- पदार्थ का जिससे निर्णय न हो- शंका का समाधान न हो ऐसा बोलना, जैसे कि-बहुत कार्य जब करने को हों, तब कोई पूछे कि- कौन सा काम करूं? तब उसे-जो अच्छा लगे वह करो । ऐसा निर्णय बिना बिना के बोलना ९- **अभिग्रहीता**- जिससे निश्चित समाधान रूप अथवा प्रेरणादि मिले ऐसा बोलना, जैसे कि- 'यह कार्य अभी ही करना है' या 'यह अमुक कार्य नहीं करना है' इत्यादि स्पष्ट कहना अथवा दूसरे प्रकार से 'अनभिग्रहीता' अर्थात् जब कोई पदार्थ समझ में न आए तब उसका निर्णय किए बिना 'यह वृक्ष का ठुंठ है'- 'समझ के अभाव में कुछ है' इत्यादि बोलना और 'अभिग्रहीता' अर्थात् 'यह घट है, यह पट है' आदि वस्तु का निर्णय करके बोलना, ऐसा भी अर्थ जानना । १०-**संशय करणी**- अनेक अर्थ का ज्ञापक जो वचन बोलने से सुनने वाले को संशय हो, ऐसा बोलना जैसे कि- 'सैन्धव ले आओ' ऐसा कहने से सुनने वाले को 'नमक', पुरुष या घोड़ा- क्या मांगता है ?' यह निश्चित नहीं होता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परन्तु संशय होता है, क्योंकि- सैन्धव शब्द के कई अर्थ होते हैं, इसलिए ऐसी भाषा को संशय करणी समझना। **११- व्याकृत**- स्पष्ट अर्थ वाला जो वचन बोलने से श्रोता-सुनने वाले को स्पष्ट ज्ञान होता है। **१२- अव्याकृता**- अति गंभीर-गहन शब्दार्थ वाली अथवा स्पष्ट होने पर अस्पष्ट अक्षर वाली जो श्रोता को समझ में न आए, ऐसी भाषा बोलना। इस प्रकार भाषा के चार भेद को मिलाकर ४२ उत्तर भेद कहे हैं। ये सब अच्छी तरह समझने चाहिएं। इन चार भाषा में प्रथम और चौथी भाषा बोलने योग्य हैं। दशवैकालिक सूत्र अध्ययन सात में कहा है कि-

चउण्हं खलु भासाणं, परि संखाय पन्नवं ।
दुण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भा सिज्ज सव्वसा ॥१॥

जा अ सच्चा अवत्तव्व, सच्चा मोसा अ जा मुसा ।
जा अ बुद्धे हिं नाइन्ना, न तं भा सिज्ज पन्नवं ॥२॥

अ सच्च मोसं सच्चं च, अणवज्जमकेक्क सं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥३॥

अर्थात् - "चार प्रकार की भाषाओं का स्वरूप समझकर बुद्धिमान मनुष्य सत्य और असत्य-मृषा, इन दोनों का शुद्ध प्रयोग करे। असत्य और सत्यमृषा इन दोनों का प्रयोग सर्वथा न करें। (१) जो सत्य हो फिर भी बोलने के योग्य न हो, जो सत्य भी असत्य से मिश्र है, जो केवल असत्य है और जिस 'आमंत्रणी, आज्ञा धारिणी आदि' भाषा को श्री तीर्थंकर परमात्मा आदि ज्ञानियों ने प्रयोग न किया हो, ऐसी व्यवहार भाषा को भी बुद्धिमान मुनि को बोलना चाहिए। (२) बुद्धिमान मुनि व्यवहार और सत्य भाषा भी पाप में हेतु न बने और कर्कश (कठोर) न लगे, इस प्रकार पहले ही बुद्धि से विचार करके, श्रोता को संदेह-भ्रम उत्पन्न न हो, ऐसा बोलना चाहिए। (३)"

इस तरह से दूसरे व्रत का वर्णन किया। अब तीसरे व्रत का वर्णन करते हैं-

सकलस्याऽप्यदत्तस्य ग्रहणाद्विनिवर्तनम् ।
सर्वथा जीवनं यावत्, तदस्तेय व्रतं मतम् ॥११३॥

मूलार्थ- "सर्व प्रकार के अदत्त को जीवन पर्यन्त तक सर्व प्रकार से लेने से रुकना चाहिए। उसे श्री जिनेश्वर भगवन्त ने तीसरा अस्तेय-अचौर्य व्रत कहा है।

व्याख्या- 'सकल' अर्थात् किसी एक, दो आदि प्रकार का नहीं परन्तु चारों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार का 'अदत्त' अर्थात् नहीं दिया हुआ स्वीकार नहीं करना। उसे श्री जिनेश्वरों ने अदत्तादान विरमण (अस्तेय) नामक व्रत कहा है। वह द्विविध-त्रिविध किसी प्रकार से विभाजित न हो सके-इसलिए यहां 'सर्वथा' अर्थात् सर्व प्रकार से यानि त्रिविध-त्रिविध से भी नहीं लेना। और वह अल्पकाल के लिए भी हो सकता है - इसलिए कहा है कि जीवन यावत् अर्थात् जब तक जीऊंगा तब तक नहीं लेऊंगा, वह अस्तेय व्रत है। यहां इसका भावार्थ यह है कि-१ वस्तु का स्वामी, २-जीव, ३-तीर्थंकर और ४-गुरु महाराज, इन चारों के उद्देश्य से अदत्तादान के चार भेद कहे हैं। उसमें तृण, पत्थर कष्ट, आदि वस्तुयें उसके मालिक के दिए बिना लेना, वह १-स्वामी अदत्त कहलाता है। उसका मालिक दे, ऐसी भी सचित वस्तु में रहे जीव जब तक सम्मंत न हों तब तक उसका उपयोग करना वह २-जीव अदत्त गिना जाता है। जैसे कि दीक्षा की इच्छा के बिना पुत्र आदि को उसके माता पितादि साधु को दें- वह जीव अदत्त कहलाता है। जिस पदार्थ को लेने में श्री तीर्थंकर परमात्मा ने निषेध किया हो, ऐसा पदार्थ मालिक ने दिया हो एवं निर्जीव हो तो भी लेने से ३-तीर्थंकर अदत्त कहलाता है। और जो मालिक ने दिया हो, आधा कमी आदि दोष रहित हो, तीर्थंकर प्रभु ने निषेध न किया हो, जीव रहित हो किन्तु गुरु महाराज की आज्ञा बिना लेना या उपयोग करना वह ४- गुरु अदत्त जानना। इन चारों प्रकार के अदत्त का यावत् जीवन तक त्याग करना, उसे 'अदत्तादान विरमण' कहा है। अब चौथे व्रत का वर्णन करते हैं-

दिव्य मानुष तैरश्च मैथुनेभ्यो निवर्त्तनम् ।
त्रिविधं त्रिविधे नैव, तद् ब्रह्मव्रतमीरितम् ॥११४॥

मूलार्थ- ''स्वर्ग सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यंच सम्बन्धी-इन तीन मैथुन से त्रिविध-त्रिविध भेद द्वारा निवृत्त होना, उसे ब्रह्मचर्य कहा है ॥''

व्याख्या- ''१-स्वर्ग में होने वाला दिव्य अर्थात् देव सम्बन्धी-वैक्रिय शरीर द्वारा, २-मनुष्य से हो वह मानुष अर्थात् मानव देह सम्बन्धी और ३-तिर्यंच से हो वह तिर्यंच योनि द्वार, देह सम्बन्धी- ये तीनों प्रकार के मैथुन अर्थात् स्त्री-पुरुष के मैथुन-युगल की क्रिया, उससे रुकना उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। वह देश से होता है इसलिए कहा है, कि-'त्रिविध-त्रिविध से अर्थात् मन वचन, और काया से सेवन नहीं करना, सेवन नहीं करवाना और अनुमोदना भी नहीं करना उसे' श्री जिनेश्वर भगवान ने ब्रह्मचर्य कहा है। यहां मूल 'इर' धातु है, उसका 'प्रेरणा' अर्थ है फिर भी धातु के अनेक अर्थ होने से कहां है। योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश के २३वें श्लोक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में कहा है- "देवताओं के वैक्रिय शरीर तथा मनुष्य जाति और तिर्यंच जाति के औदारिक शरीर से सम्बन्धित काम-भोग (मैथुन) का मन, वचन और काया से सेवन करने, कराने और अनुमोदन का त्याग करना ब्रह्मचर्य है। जो अठारह प्रकार के मैथुन त्याग रूप में होने से १८ प्रकार का यहां सचून समझना।

ब्रह्मचर्य का अर्थ निश्चय से 'ब्रह्म अर्थात् आत्मा' उसके स्वरूप में रमण करना और व्यवहार से इसकी साधना के लिए मैथुन का त्याग कर वीर्य का रक्षण करना है। तीन जगत् में तीनों काल में इस ब्रह्मचर्य का मान सर्वाधिक रहा है। देव भी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं। दैव शक्ति से भी जो शक्य नहीं है वह दुष्कर कार्य मनुष्य जीवन में ब्रह्मचर्य का पालन है। आत्मा में छोटे-बड़े सर्व गुणों के विकास का मूल एक ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के द्वारा शारीरिक-मानसिक बल बनता है और इससे बौद्धिक बल बढ़ता है और इससे आध्यात्मिक शक्तियां प्रगट होती हैं। इसके बल से मन, वचन, काया रूप बाह्य योग की साधना होती है। इससे अनादि वासना का वेग काषु हो जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग की निर्मल आराधना की प्राप्ति होती है। फिर वह आत्मा शुद्ध सिद्धात्मा बनता है। अतः ब्रह्मचर्य व्रत महत्वपूर्ण- वर्णनीय है। इस तरह चौथे महाव्रत का वर्णन किया। अब पांचवें महाव्रत का वर्णन करते हैं-

परिग्रहस्य सर्वस्य, सर्वथा परिवर्जनम्।
आकिञ्चन्य व्रतं प्रोक्तमर्हद्भिर्हितकाङ्क्षिभिः ॥११५॥

मूलार्थ- "सर्व प्रकार के प्ररिग्रह का सर्व प्रकार से त्याग करना, उसे हितकांक्षी श्री अरिहंत देव ने 'आकिंचन्य' व्रत कहा है।"

व्याख्या- "'सर्व' अर्थात् अचित आदि प्रत्येक पदार्थ में अथवा सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भावों में परिग्रह अर्थात् मूर्छा-ममता के परिणाम, उसका सर्वथा = त्रिविध-त्रिविध से त्याग करना, उसे हितेच्छु श्री अरिहंत देव ने 'आकिंचन्य' अर्थात् अपरिग्रह व्रत कहा है। किंचन अर्थात् कुछ भी द्रव्य जिसके पास न हो वह 'अकिंचन' भाव अर्थात् अपरिग्रह व्रत कहलाता है। भावार्थ तो ऐसा है कि- मूर्छा का ही परिग्रह कहना युक्ति युक्त है, क्योंकि पास में धन न होने पर भी जैसे राजग्रही के भिखारी द्रुमक को संक्लेश हुआ था, उसका उदाहरण इस प्रकार से है-

राजग्रही नगर में एक द्रुमक नाम का भिक्षुक रहता था। वह भिक्षा के लिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

घूमता था, परन्तु लाभान्तराय कर्म के उदय से उसका पेट भरे-इतना भी भोजन न मिलता था। इससे वह गांव वालों के प्रति द्वेष रखता था। एक बार प्रजा वैयार गिरि के निकट आई थी। उसको देखकर द्रुमक ने प्रजा को मार देने की इच्छा से वैयार गिरि पर चढ़कर बड़ी पत्थर शिला को ढकेलने के लिए प्रयत्न किया, परन्तु फलस्वरूप वह स्वयं ही उस शिला के नीचे कुचल कर मर गया और दुर्ध्यान से मरकर सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। इस तरह अपने पास कुछ न होने पर भी धन की मूर्छा से दुर्ध्यान के वश होकर द्रुमक की दुर्गति के कष्ट उठाने का प्रसंग आया। यह मूर्छा रूप परिग्रह का फल समझना। वैसे ही मूर्छा वाले को दुर्गति का कारण भूत चित्त को संक्लेश होता है एवं दूसरी ओर तृष्णा रूपी काली नागिन जिसके मन में उपद्रव नहीं कर सकती उस महात्मा को प्रशम सुख में आनंद अनुभव से विशिष्ट द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप सामग्री-सम्पत्ति होने पर भी चित्त में उपद्रव या हलचल नहीं होती। इस कारण से ही धर्म के लिए धर्मोपकरण को रखने पर भी मुनि को अपने शरीर में उपकरण-वस्त्र, पात्र, वसति, शिष्य, परिवार आदि में निर्ममत्व होने से अपरिग्रही कहा है। अर्थात् परिग्रह का वस्तु के साथ में एकान्त सम्बन्ध नहीं है, वस्तु पास में है फिर भी कुछ भी ममत्व नहीं है। अतः पदार्थ पास में हो अथवा न हो फिर भी किसी वस्तु में मूर्छा करने को परिग्रह कहा है। प्रशमरति में कहा है कि-

यद्वत्तूरगः सत्स्वप्याभरण विभूषणेष्वनभिसक्तः ।
तद्वदुपग्रहवानपि न संगमुपयाति निर्ग्रन्थः ॥१४१॥

अर्थात्- "जैसे घोड़ा अनेक आभूषण धारण करने पर भी उनमें आसक्त नहीं होता, वैसे ही निर्ग्रन्थ मुनि धर्मोपकरण रखते हुए भी उन पर ममत्व भाव नहीं रखते। (इन दोनों में महान अन्तर भाव है कि घोड़ा अज्ञान होने से वस्तु के परिचय के अभाव से और ज्ञानी ज्ञान से वस्तु के स्वरूप को जानने पर भी अनासक्त रहते हैं।)"

जैसे धर्मोपकरण रखने पर भी मूर्छारहित मुनि को परिग्रह रूप दोष नहीं है, वैसे ही गुरु द्वारा उपदेश दिए धर्मोपकरण वस्त्रादि रखने वाली ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप तीन रत्न वाली साध्वियों को भी परिग्रह दोष से बचना अशक्य नहीं है। इसलिए धर्मोपकरण रूप वस्त्रादि रखने मात्र से 'उनका मोक्ष नहीं होता' ऐसा कहना केवल वाचालता = बातचीत में निपुणता ही है। इस तरह पांचवे व्रत का स्वरूप कहा। इस वर्णन से पांच महाव्रतों के लक्षण कहे गये फिर भी इन व्रतों के विषय में ही अब विशेष वर्णन करते हैं कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एतानि भावनाभिश्च, प्रत्येकं पञ्चभिः स्फुटम ।
भवन्ति भावितान्येव, यथोक्त गुण भाञ्जि तु ॥११६॥

मूलार्थ-''इन पांच व्रतों में प्रत्येक की जो पांच-पांच भावना हैं, उनसे सम्यग् वासित (अनुप्राणित) हो वही कहे अनुसार वैसे विशिष्ट गुण वाला बनता है ।''

व्याख्या- इन पांच महाव्रतों में सर्वथा हिंसा का त्याग, सर्वथा असत्य का त्याग इत्यादि जो जो लक्षण कहा है-उस लक्षण वाला तब बनता है जब उन व्रतों की भावनाओं से सम्यग् प्रकार भावित (वासित) बना हो । महाव्रतों को विशिष्ट गुणों से वासित करे अर्थात् महाव्रत केवल स्वीकार करने मात्र से नहीं, परन्तु उसका पालन-आराधना करने से वह वासित-भाविक कहलाता है । उस आराधना को भावना कहते हैं । ऐसी भावना प्रत्येक व्रत की पांच पांच हैं। जो उससे वासित हो वही महाव्रत-अहिंसादि यथार्थ गुण वाला होता है अन्यथा नहीं होता । योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश में प्रथम महाव्रत की भावना इस प्रकार से कही हैं-

मनो गुप्तयेषणादानेर्याभिः समितिभिः सदा ।
दृष्टान्नपानग्रहणेनाऽहिंसा, भावयेत् सुधीः ॥१-२६॥

अर्थात्-''१. मनोगुप्ति, २. एषणा समिति, ३. आदान समिति, ४. ईर्या समिति तथा ५. प्रेक्षित (देखकर) अन्नपान ग्रहण करना, इन पांचों भावनाओं से बुद्धिमान से बुद्धिमान मुनि को अहिंसा व्रत की रक्षा-पालन करना चाहिए । उसमें मनोगुप्ति का स्वरूप (करण सित्तरी में) कहा जायेगा- उससे प्रथम व्रत की रक्षा करना प्रथम भावना है। बयालीस दोष से रहित आहार-पानी या वस्त्र-पात्र-वसति आदि शुद्ध पिंड को ग्रहण करना एषणा समिति है, यह दूसरी भावना है । आदान शब्द के उपलक्षण से 'निक्षेप' भी समझ लेना । ऐसे पाद, पादपीठ आदि उपकरण लेने-रखने में जीव की विराधना न हो, इस प्रकार यतना (उपयोग) सहित निर्दोष प्रवृत्ति करना आदान समिति है, यह तीसरी भावना है। रास्ते में जाते आते नीचे और सम्यग् दृष्टि रखकर किसी जीव की विराधना किये बिना यतनापूर्वक गमनागमन करना ईर्या समिति है, यह चौथी भावना है और आहार-पानी आदि देख कर लेना और उपलक्षण से आहार के समय भी अहिंसा भाव रखना जिससे चींटी, कुंथू आदि जीवों की विराधना न हो-यह दृष्टान्नपान ग्रहण समिति नामक पांचवी भावना है। इन पांच भावनाओं से बुद्धिमान ज्ञानी मुनि अहिंसा को पवित्र बनाये रखे और उसकी रक्षा करे । यहां मनोवगुप्ति को भावना कहा है। उसका कहने का कारण यह है कि जितना भी हिंसा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होती है, वह सब से पहले मन में पैदा होती है यानि हिंसा में मनो व्यापार की प्रधानता है। सुना जाता है कि राजर्षि प्रसन्नचन्द ने अहिंसा महाव्रत की मनोगुप्ति रूप भावना नहीं की, इस कारण बाहर से हिंसा नहीं करने पर भी एक दफा तो उन्होंने सातवें नरक के योग्य पाप कर्म दल इकट्ठे कर लिए थे। एषणा समिति, आदान समिति और इर्या समित अहिंसा महाव्रत के लिए अत्यन्त उपकारी हैं, इसलिए इन भावनाओं से अन्तःकरण सुवासित करना चाहिए और दृष्टान्नपान ग्रहण करने की भावना से एवं त्रासादि जीवों सहित आहार-पानी का त्याग करने से यह भी अहिंसा महाव्रत की उपकारिणी है-इस प्रकार अहिंसा महाव्रत की पांच भावनाओं का वर्णन पूर्ण हुआ।

अब दूसरे महाव्रत की पांच भावनाएं योग शास्त्र के अनुसार कहते हैं-

हास्य लोभभय क्रोध-प्रत्याख्यायानै निरन्तरम् ।
आलोच्य भाषणे नापि, भावयेत सूनृत व्रतम् ॥१-२७॥

अर्थात् "मनुष्य एक दूसरे से हंसी मजाक करते समय झूठ बोल देता है, लोभाधीन बन कर धन की आकांक्षा से झूठ बोल देता है, प्राणों की रक्षा या प्रतिष्ठा जाने आदि के भय से और क्रोध से मन चलित होने के कारण झूठ बोलता है। इन हास्य आदि चारों के त्याग के नियम रूप चार भावना हैं और अज्ञानता पूर्वक अंधाधुंध अंट संट न बोल कर सम्यग्ज्ञान से युक्त अच्छी तरह विचार कर बोलना पांचवीं भावना है। मोह मृषावाद का कारण है, यह जगत् प्रसिद्ध है। कहा भी है "**रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते तद्दयनृतम् ॥**" अर्थात् -'राग से, द्वेष से अथवा मोह से जो वाक्य बोला जाता है वह असत्य कहा जाता है।

तीसरे महाव्रत की पाँच भावनाएँ योग शास्त्र में इस तरह वर्णन की गई हैं-

आलोच्यावग्रहयाञ्चाऽभीक्ष्णावग्रह याचनम् ।
एतावन्मात्रमेवैत दित्यवग्रह धारणम् ॥१-८॥

समान धार्मिकेभ्यः तथाऽवग्रह याचनम् ।
अनुज्ञापित पानान्नऽशनमस्तेय भावनाः ॥१-२६॥

अर्थात्- "साधु-साध्वियों को किसी भी स्थान पर रहने या ठहरने से पूर्व उस स्थान व स्थान के मालिक आदि के विषय में मन में भली भांति चिन्तन करके उससे रहने या ठहरने (अवग्रह) की याचना करनी चाहिए। उस अवग्रह के १. इन्द्र, २. राजा चक्रवर्ती, ३. गृहपति, ४. मकान मालिक और ५. साधार्मिक साधु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह पांच प्रकार कहे हैं । उसमें आगे-आगे के अवग्रह बाध्य हैं और पीछे-पीछे के अवग्रह बाधक हैं । इसमें देवेन्द्र का अवग्रह इस तरह समझना चाहिए- जैसे सौधर्माधिपति देवेन्द्र दक्षिण लोकार्ध का और ईशानाधिपति शकेन्द्र उत्तर लोकार्ध का स्वामी माना जाता है । इसलिए जिस स्थान का कोई भी मालिक लोक व्यवहार में न हो उस अवग्रह का मालिक पूर्वोक्त न्याय से देवेन्द्र माना जाता है । जिस चक्रवर्ती या सामान्य राजा के अधिकार में जितना राज्य हो उतना भरत आदि क्षेत्र का अवग्रह माना जाता है । जिस घर का जो मालिक हो, वह उस घर का गृहपति माना जाता है । उसका अवग्रह गृहपति अवग्रह कहलाता है । इसे शास्त्रीय परिभाषा में शय्यातर-बस्ती के मकान का मालिक भी कहते हैं । अगर किसी स्थान या मकान में पहले से साधु ठहरे हुए हों और गृहस्थों ने उन्हें स्थान दिया हुआ हो तो वहां साधर्मिक अवग्रह होता है, उन्हीं से याचना करके नये आने वाले साधु को ठहरना चाहिए । प्रवचन सारोद्धार गाथा ६८६ की टीका में कहा है कि-साधु के साधर्मिक आचार्य, उपाध्याय आदि गिने जाते हैं, इसलिए आचार्य आदि जिस नगर गांव आदि में चातुर्मास हेतु विराजमान हों उस नगर आदि से पांच कोस तक प्रत्येक दिशा में उनका प्रतिबद्ध होने से उस नगरादि से सर्व दिशाओं में पांच कोस में उनका अवग्रह गिना जाता है । यह अवग्रह भी क्षेत्र के कारण समझना । काल से तो वर्षाकाल (चौमासा) पूर्ण होने के बाद भी यदि आचार्य आदि वहां रहते हुए हों तो उसके उपरान्त दो महीने तक उनका अवग्रह जानना । वहां ६८३ गाथा के उत्तरार्ध से आगे कहा है कि-

साहम्मिओ उसूरि जम्मि पुरे विहिअवर सालो ॥६८३॥

तत्पडिबद्ध तं जाव, दोन्नि मासेहिं अओ जईण सया ॥६८४॥

अर्थात्- "साधर्मिक अर्थात् आचार्य ने जिस गांव नगर आदि में चातुर्मास किया हो, उस क्षेत्र की अपेक्षा से पांच कोस तक और काल से वर्षा काल के बाद तक भी सर्व दिशाओं में वह क्षेत्र उनकी प्रतिबद्ध-सत्ता में गिना जाता है, इसलिए साधुओं को सदा उन आचार्य आदि की अनुज्ञा लिये बिना रहना आदि नहीं कल्पता ॥"

इस तरह अवग्रह के भेद समझ कर यथा योग्य-जिसके पास में जो याचना करनी हो उनके पास करे । (१) मालिक से याचना नहीं करने से परस्पर विरोध पैदा होने पर अकारण ही लड़ाई-झगड़ा होने से निकलने या निकालने का प्रसंग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि इहलोक सम्बन्धी दोष पैदा होते हैं और बिना दिए हुए स्थान का सेवन करने-अदत्त का परिभोग से पाप कर्म बन्धन होता है । वह परलोक में भी दुःख पाता है । इस तरह पहली भावना हुई। (२) मालिक के द्वारा एक बार आज्ञा दिये स्थान-अवग्रह की बार-बार याचना करते रहना चाहिए । संभव है कि पहले प्राप्त हुए स्थान में और रोगी, ग्लान, वृद्ध अशक्त साधु या साध्वी के मल मूत्र आदि परठने देने में गृहपति ऐतराज मानता हो । इसलिए उसके सामने पूरा स्पष्टीकरण करके हाथ-पैर या पात्र धोने अथवा मल-मूत्र परठने आदि के लिए जगह की याचना करके अनुमति प्राप्त करनी चाहिए ताकि अवग्रह दाता के मन में क्लेश न रहे, प्रसन्नता रहे। इस प्रकार यह दूसरी भावना पूर्ण हुई । (३) तीसरी भावना यह है कि साधु को अवग्रह का विचारपूर्वक निश्चय करना चाहिए कि मुझे अपने ध्यान, स्वाध्याय, आहार आदि करने के लिए इतनी हद तक ही जगह करी जरूरत है । इससे अधिक जरूरत नहीं है, तो उतने ही अवग्रह की याचना व व्यवस्था करूं । इस तरह अवग्रह धारण करने से और उसके अन्दर ही कार्योत्सर्ग, स्वाध्याय, आहार आदि क्रिया कर लेने से दाता को परेशानी नहीं होती। नहीं तो कई बार दाता के अपने उपयोग के लिए जगह थोड़ी रहने से उसे परेशानी होती है । साधु द्वारा भी जरूरत से ज्यादा जगह दाता से लेने पर उसके प्रतिलेखन-प्रमार्जन आदि में असावधानी होने की संभावना रहती है । दाता के मन में उद्विग्नता आने की संभावना रहती है और स्वयं को भी उदत्त-परिभोग के कारण कर्म बन्धन होता है, यही तीसरी भावना है । (४) जो एक समान धर्म का पालन करते हों अथवा एक ही धर्म पथ के पथिक हों वे साधर्मिक कहलाते हैं । साधर्मिक साधु वेश से भी सम होते हैं । और आचार विचार से भी सम होते है, ऐसे साधर्मिक साधुओं ने पहले जो क्षेत्र-स्थान स्वीकार किया हो, काल की अपेक्षा से मास या चातुमार्स तक और क्षेत्र की अपेक्षा से पांच कोस तक उनका अवग्रह गिना जाता है, इसलिए बाद में आने वाले साधुओं को उनसे आज्ञा लेकर रहना चाहिए । वे जितनी आज्ञा दें उतना ही क्षेत्र-उपाश्रय-गोचरी के लिए श्रावक के घर इत्यादि सारा स्वीकार करे, नहीं तो उनकी चोरी मानी जाती है । यह चौथी भावना हुई । (५) शास्त्रोक्त विधि के अनुसार दोष रहित, अचित, एषणीय और कल्पनीय जो आहार-पानी मिले उसे ही भिक्षा रूप में लाकर आलोचना करके गुरु महाराज के सम्मुख जिस भाव से लिया हो अथवा सामने वाले व्यक्ति ने बहोराया हो वह सर्व, प्रगट रूप में निवेदन करे। तत्पश्चात् गुरु के पास से जितना खाने की आज्ञा मिले उतना आहार पानी मंडली में अथवा अकेला आहार करे । उपलक्षण से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि- 'जो कुछ औधिक या औपग्रहिक भेद वाले उपकरण अर्थात् धर्म-साधन रूप उपकरण हों, उन सभी का उपयोग गुरु की आज्ञा प्राप्त करने के बाद ही करना चाहिए। ऐसा करने से तीसरे महाव्रत का उल्लंघन नहीं होता, अर्थात् पालन होता है।' यह तीसरे महाव्रत की पांच भावनायें समझनी चाहिएँ। अब चौथे महाव्रत की भावनायें योग शास्त्र में कही गई हैं कि-

स्त्री षण्ढ पशुद्वेश्माऽऽसन कुड्यान्तरोज्झनात् ।
सराग स्त्री कथा त्यागात्, प्रागत स्मृति वर्जनात् ॥१-३०॥

स्त्री रम्यांगेक्षयस्वाङ्ग-संस्कार परिवर्जनात् ।
प्रणीतात्यऽशन त्यागात्, ब्रह्मचर्य तु भावयेत् ॥१-३१॥

अर्थात् - १. ब्रह्मचारी पुरुष को नारी जाति से और नारी को पुरुष जाति से सावधान रहना अनिवार्य है। संसार में स्त्री जाति के दो प्रकार हैं- देव स्त्री और मनुष्य स्त्री। ये दोनों सजीव हैं। किन्तु चित्र के रूप में, पुतली के रूप में बनी हुई पत्थर, काष्ठ या मिट्टी आदि की स्त्री निर्जीव है। इन दोनों प्रकार की स्त्रियों का संसर्ग काम विकारोत्पादक होता है। तथैव नपुंसक (तीसरे वेद के उदय वाला) महामोह कर्म से युक्त और स्त्री तथा पुरुष के सेवन में आसक्त होता है। तिर्यंच योनि वाले गाय, भैस, घोड़ी, गधी, बकरी, भेड आदि में भी मैथुन संज्ञा की संभावना रहती है। इसलिए पहली भावना बताई गई है कि स्त्री, नपुंसक और पशु जहां रात दिन रहते हों, ऐसे स्थान का त्याग करना चाहिए। ये जहां आसन लगाकर बैठे हों अथवा उन्होंने जिस बिछौने या तख्त आदि आसनो का उपयोग किया हो, उस पर भी अन्तर्मुहूर्त्त तक बैठना वर्जित है, अथवा जिस स्थान में रहने पर दीवार, टट्टर या पर्दे के पीछे रहने वाले दम्पति के मोहोत्पादक (कामोत्तेजक) बातें सुनी जाती हों, ऐसे स्थान का ब्रह्मचर्य भंग होने की संभावना से त्याग करना चाहिए। यह प्रथम भावना हुई।

२. राग पूर्वक स्त्रियों के साथ बातें करने अर्थात् मोह के उदय के वश होकर स्त्रियों के साथ में कथा वार्ता करना अथवा स्त्री की कथा या पुरुष की कथा करना अथवा पुरुषों के साथ में भी स्त्रियों की कथा आदि राग पूर्वक करना, काम प्रगट करने वाली कथा करना। स्त्रियों से सम्बन्धित देश, जाति, कुल, वेश-भूषा, भाषा, चाल-ढाल, हाव-भाव, मन, परीक्षा, हास्य लीला, कटाक्ष, प्रणय-कलह, या श्रृंगार रस वाली बातें भी वायु वेग के समान चित्त समुद्र में राग और मोह का तूफान पैदा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर देती हैं, अत: इनसे दूर रहना आवश्यक है । राग जनक बातें कभी भी करे। यह दूसरी भावना है ।

३. जिसने साधु दीक्षा अथवा ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया हो, उसने पूर्व-अवस्था में स्त्री के साथ जो रति क्रीड़ा, आलिंगन आदि किया हो उसका स्मरण नहीं करना चाहिए । क्योंकि पूर्व की रति क्रीड़ा के स्मरण रूप ईन्धन से कामाग्नि अधिक प्रदीप्त होती है । अत: इसका त्याग करना चाहिए । यह तीसरी भावना हुई ।

४. विवेकी मनुष्य स्त्रियों को मनोहर रूप, मन में कामाभिलाषा पैदा करने वाले, आकर्षक मुख, नेत्र, स्तन, जंघा आदि अंगोपांग को अपूर्व विस्मरण की दृष्टि से या विकार के भाव से ताक ताक कर या आंखें फाड़ कर नहीं देखना चाहिए । राग-द्वेष रहित भाव से यदि देखा जाय तो उसमें कोई दोष नहीं है । श्राद्ध प्रतिक्रमण में कहा है कि-

अशक्यं रूपमद्रष्टुं चक्षुर्गोचरमागतम् ।
राग द्वेषौ तु यौ तत्र तौ बुधः परिवर्जयेत् ॥१६॥

अर्थात् - "चक्षु के दृष्टि पथ में आए हुए रूप विषयक का न देखना अशक्य है अर्थात् सहसा दिख जाना संभावित है । किन्तु विवेकी पुरुष को उस रूप में राग-द्वेष नहीं करना चाहिए ।"

इस प्रकार अपने शरीर को स्नान, विलेपन, श्रृंगार आदि से विभूषित करने, सजाने, धूप देने, नाखून, दांत आदि को चमकीले बनाने, केशों को भलीभांति संवारने या प्रसाधन आदि करने विविध रूपों से साज सज्जा का श्रृंगार-संस्कार करने का त्याग करना चाहिए । अपवित्र शरीर के संस्कार में मूढ़ बना हुआ मनुष्य उन्माद पूर्ण विचारों में अपनी आत्मा को व्यर्थ ही क्लेश के गर्त में गिराता है । इस प्रकार स्त्रियों के रम्य अंगों की ओर राग पूर्ण दृष्टि करने तथा अपने अंग को श्रृंगारित करने का त्याग करना चाहिए । क्योंकि स्त्रियों के सौन्दर्य एवं लावण्य से युक्त मनोहर अंगोपांग को देखने से मन चलायमान हो जाता है । जैसे पतंगा दीप शिखा पर गिरने से नष्ट हो जाता है वैसे ही रागपूर्वक देखने वाला कामाग्नि शिखा में भस्म हो जाता है अर्थात् अपने ब्रह्मचर्य का नाश करता है और अशुचिमय भरे शरीर के संस्कार में मूढ़ बना वह इच्छारूप विकल्प से बिना कारण आत्मा दु:खी करता है । यह चौथी भावना कही गयी है ।

५. इसी प्रकार प्रणीत अर्थात् स्वादिष्ट, वीर्य वर्द्धक, पुष्टि कारक मधुर रस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संयुक्त आदि आहार का त्याग करना चाहिए तथा रस रहित होने पर भी अधिक मात्रा में खाने का त्याग करना चाहिए अर्थात् रूखा-सूखा भोजन भी गले तक ठूंसकर जिससे अजीर्ण हो वैसा नहीं खाना चाहिए। इस तरह ब्रह्मचारी दोनों प्रकार के आहार का त्याग करे। सदा पुष्टि कारक, वीर्य वर्द्धक, स्वादिष्ट, स्निग्ध, रसदार आहार का सेवन करने से वह शरीर में शुक्र नामक मुख्य धातु की विशेष पुष्टि करता है और उससे वेदोदय जाग्रत होता है। इसके कारण अब्रह्मचर्य सेवन की संभावना रहती है। अधिक मात्रा में भोजन करने से ब्रह्मचर्य का ही नाश नहीं होता, अपितु शरीर की भी हानि होती है। शरीर में भी अजीर्ण आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अतः इसका त्याग करना चाहिए। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

अद्धमसणस्स सव्वं जणस्स, कुज्जा दवस्स दो भागे।
वाय पवि आरणट्ठा, छब्भागे ऊणयं कुज्जा ॥८६७॥

अर्थात् - "भूख के छह विभाग करके मनुष्य के पेट में (आधा हिस्सा) तीन हिस्सों में व्यंजन (साग) सहित भोजन करे, दो हिस्से पानी से भरे और छठा हिस्सा वायु संचार (श्वासोच्छ्वास) के लिए (उणोदरी रूप) रखना चाहिए।" इस प्रकार पांचवीं भावना हुई। इस तरह नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्ति का पालन रूप पांच भावनाओं में समावेश किया है अर्थात् पहली भावना १. वसति शुद्धि, ३. निषधा (आसन) परिहार और कूडयान्तर वर्जन, दूसरी भावना में २. सराग स्त्री कथा का त्याग, तीसरी भावना में ६. पूर्व क्रीडित स्मरण का त्याग, चौथी भावना में ४. स्त्री के अंगोपांग देखने का त्याग और ६. स्व शरीर विभूषण का त्याग तथा पांचवीं भावना में ७. प्रणीत आहार और ८. अति आहार का त्याग। अब पांचवें महाव्रत की भावना योगशास्त्र द्वारा कहते हैं -

स्पर्शे रस च गन्धे च, रूपे शब्दे च हारिणि।
पञ्चस्वपीन्द्रियार्थेषु, गाढं गार्द्धस्य वर्जनम् ॥१-३२॥

एतेष्वे वामनो सेषु, सर्वथा द्वेष वर्जनम्।
आकिञ्चन्य व्रतस्यैवं भावनाः पञ्च कीर्तिताः ॥१-३३॥

अर्थात् - "भोगने से राग उत्पन्न हो ऐसे मनोहर स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द- इन पांचों इन्द्रियों के विषय में अति आसक्ति नहीं करना, तथा ये ही स्पर्शादि पांच विषय प्रतिकूल अनिष्ट हों तो उन पर द्वेष घृणा नहीं करे। आसक्ति मान व्यक्ति मनोहर विषयों पर राग और अनिष्ट विषयों पर द्वेष करते हैं। जो मूर्छा रहित मध्यस्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आत्मा होती है उसको विषयों पर मूर्च्छा नहीं होने से कहीं पर भी इनसे प्रीति-आसक्ति नहीं होती और न अप्रीति-घृणा होती है । राग के साथ द्वेष अवश्यम्भावी होता है । इसलिए यहां 'द्वेष नहीं करना' ऐसा कहा है। अन्यथा इष्ट में राग नहीं करना, इतना ही कहने मात्र से अनिष्ट में द्वेष नहीं करना यह सिद्ध होता है । बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह जिस के नहीं हैं वह अकिंचन कहलाता है । उसकी यह पांच भावनायें समझना । इस तरह विस्तार पूर्वक पांच महाव्रतों का वर्णन किया । अब छठे व्रत का लक्षण कहते हैं कि-

चतुर्विधस्याहारस्य, सर्वथा परिवर्जनम् ।
षष्ठं व्रतामिहतानि, जिनैर्मूल गुणाः स्मृताः ॥११७॥

मूलार्थ - "चार प्रकार के आहार का रात्रि में सर्वथा त्याग करना चाहिए। इसे छठा व्रत कहा है । इन छह व्रतों को श्री जिनेश्वर ने साधुता के मुल गुण कहा है ।"

व्याख्या - अशन, पान, खादिम और स्वादिम- इन चार प्रकार के आहार का रात्रि भोजन का 'सर्वथा' = त्रिविध त्रिविध भेद से त्याग करना छठा व्रत कहा गया है । इस तरह वाक्य में क्रिया पद का सम्बन्ध जोड़ना । यह व्रत यहां साधु धर्म के प्रसंग में श्री जिनेश्वरों ने शेष गुणों का आधारभूत होने से मूल गुण कहा कहा है और इसके उपलक्षण से सम्पूर्ण चरण सित्तरी को भी मूल गुण रूप कहा है । ओघ निर्युक्ति भाष्य में कहा है-

वय समण धम्म, संजम, वेयावच्च, च बंभगुत्तीओ ।
नाणाइति अं तव कोह निग्ग हाई चरणमेअं ॥२॥

अर्थात् - "५ प्रकार के व्रत, १० प्रकार का साधु धर्म, १७ प्रकार का संयम, १० प्रकार का वैयावच्च, ६ प्रकार से ब्रह्मचर्य की गुप्ति, ३ प्रकार के ज्ञानादि गुण, १२ प्रकार का तप और ४ प्रकार के क्रोधादि कषायों का निग्रह करना- इस तरह ७० प्रकार के चारित्र (मूलगुण) हैं ।"

उनमें १. 'प्राणातिपात विरमण' आदि पांच महाव्रत हैं, उसका वर्णन पहले आ गया है । २. श्रमण अर्थात् साधु का दस प्रकार का धर्म है- १. क्षमा, २. मार्दव, ३. आर्जव, ४. मुक्ति(निर्लोभिता), ५. तप, ६. संयम, ७. सत्य, ८. शौच, ९. अकिंचन्य और १०. ब्रह्मचर्य । आवश्यक सूत्र के चौथे अध्ययन में कहा है कि-

खंती मद्दव अज्जव, मुत्ती तव संजमे अ बोधव्वे ।
सच्चं सोयं आकिंचणं च, बंभं च जइ धम्मो ॥३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - क्षमादि दस प्रकार का यति धर्म है, उसमें **१. क्षमा** = शक्तिशाली अथवा शक्तिहीन जीवों को भी सहन करने के अध्यवसाय-आत्म परिणाम अर्थात् सर्व प्रकार से क्रोध का विवेक करना यानि उसका उदय होते ही उसे निष्फल बना देना, उसे क्षमा कहते हैं। **२. मार्दव** = अस्तब्धता अर्थात् कठोरता के अभाव वाले परिणाम को और उससे होने वाली क्रिया को भी मार्दव कहते हैं अर्थात् जीव की नम्रता और निरभिमानिता। **३. आर्जव** = 'ऋजु' अर्थात् वक्रता रहित मन, वचन और काया वाला सरल जीव, उसके भाव को अथवा कर्म को 'आर्जव' कहा है, अर्थात् जीव का मन, वचन और काया का अविकार निष्कपटमय जीवन ही आर्जव है। **४. मुक्ति** = छुट जाना या छोड़ना मुक्ति है अर्थात् बाह्य अनित्य पदार्थ और अभ्यन्तर काम-क्रोधादि भाव के प्रति भी तृष्णा का छेदन करने रूप लोभ का सर्वथा त्याग करना, उसे मुक्ति कहा है। **५. तप** = जिससे रस रुधिरादि शारीरिक धातुयें अथवा ज्ञानावरणीयादि कर्म तपते जायं (नष्ट हों) वह तप कहलाता है, उसके अनशन, ऊणोदरि आदि छः बाह्य और प्रायश्चित्त आदि छः अभ्यन्तर- इस तरह कुल बारह भेद होते हैं। **६. संयम** = आश्रव की विरति अर्थात् नये कर्मों के बंधन को रोकना संयम है। **७. सत्य** = हमेशा मृषावाद का त्याग करना सत्य कहलाता है। **८. शौच**= संयम में निर्मलता अर्थात् निरतिचार रूप संयम की शुद्धि। **९. आकिंचन्य** = जिसके पास में 'किंचन' अर्थात् कुछ भी द्रव्य न हो वह अकिंचन और जो अकिंचन रूप हो वह 'आकिंचन्य' कहलाता है, उसके उपलक्षण से द्रव्य में ही नहीं अपितु शरीर और धर्मोपकरण आदि में भी ममत्व का अभाव हो उसे 'आ किंचन्य' समझना। **१०. ब्रह्मचर्य** = नौ प्रकार से ब्रह्मचर्य की गुप्ति का पालन पूर्वक-स्पर्शनेन्द्रिय का संयम है। यह दस विध यति धर्म कहे।" प्रवचन सारोद्धार ५५४ की टीका में ये दस धर्म इस प्रकार कहे गये हैं-

खंती मुत्ती अज्जव, मद्दव तह लाघवे तवे चेव ।
संजम चाओऽकिंचन, बोद्धव्वे बंभचेरे य ॥१॥

अर्थात् - "क्षमा, भक्ति, आर्जव, मार्दव, ताघव, तप, संयम, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य- ये दस प्रकार के यति धर्म जानना।"

उसमें 'लाघव' अर्थात् द्रव्य से अल्प उपधि रूप और भाव से गौरव-बड़प्पन का त्याग तथा त्याग अर्थात् सर्व संयोग से मुक्ति-निरागता अथवा साधुओं को वस्त्र आदि का दान- इस तरह अर्थ समझना। शेष क्षमा आदि का अर्थ पहले व्याख्या में कहा गया है, उसके अनुसार समझ लेना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. संयम – 'सं' अर्थात् मन, वचन, काया के एकीकरण द्वारा आत्म- रक्षा के लिए 'यम' अर्थात् यत्न करना संयम है । उसके पांच आश्रवों का निरोध करना, वह पांच, पांच इन्द्रियों का निग्रह करना- वह पांच, चार कषायों का विजय करना- वह चार और दण्ड विरति रखना वह- तीन, इस तरह कुल ५+५+४+३ = १७ सत्तरह भेद है । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

पंचासवा विरमणं पंचिंदिय निग्गहो कसाय जओ ।
दंडत्तयस्स विरई, सतर सहा संजमो होइ ॥५५५॥

अर्थात् - "पांच आश्रवों से रुकना, पांच इन्द्रियों को वश करना, चार कषायों का विजय करना और तीन दण्ड की विरति करना, इस तरह संयम सत्तरह प्रकार का होता है ।"

उसमें प्राणातिपात, मृषावाद , अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह- इन पांच आश्रयों से नये नये कर्म आने के कारणों से रुक जाना, वह पांच आश्रव की विरति है। स्पर्श, रस, घ्रण, चक्षु और कान इन- पांच इन्द्रियों का निग्रह करना अर्थात् उस इन्द्रिय के स्पर्श, रस आदि विषयों में आसक्ति का त्याग करके केवल जीवन निर्वाह की बुद्धि से भोग करना वह इन्द्रियों का निग्रह है। क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चार कषायों का विजय करना अर्थात् उदय में होते ही इन कषायों को निष्फल कर देना और सत्ता में हो तो रोककर उसका पराभव करना, वह कषाय जय है । तीन दण्ड की विरति अर्थात् चरित्र रूपी आत्म संपत्ति का हरण करके आत्मा को दरिद्र-निर्गुनी बनाने वाले दुष्ट मन, वचन और काया रूप तीन दंडों की अशुभ अर्थात् अकुशल -अनर्थकारी प्रवृत्ति को रोकना, वह तीन दंड की विरति है । यह सत्तरह प्रकार का संयम जानना । अन्य आचार्य तो अन्य रूप में मानते हैं । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

पुढवि दग अगणि मारूय वणस्सइ वि ति चउ प णिंदि, अजीवा ।
पेहुप्पेह पमज्जण, परिठवण मनोवई काए ॥५५७॥

अर्थात्- "पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय- इन प्रत्येक जीवों को मन, वचन और काया से संरंभ, सभारंभ और आरंभ करना नहीं- करवाना नहीं तथा अनुमोदन करना नहीं, ये नौ प्रकार का संयम है । " इस लिए प्रवचन सार में कहा है कि-

सकंप्पो संरंभो, परिताव करो भवे समारंभो ।
आरंभो उद्दवओ, शुद्ध नयाणं तु सव्वेसिं ॥१०६०॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- "मारने का संकल्प करना वह संरंभ है, पीड़ा देना वह समारंभ है, और प्राणों का वियोग करना वह आरंभ- है हिंसा के ये संरंभादि तीनों प्रकार सर्वशुद्ध नयों के अथवा 'अ' कार के प्रक्षेप करने से सर्व अशुद्ध अर्थात् नैगम, संग्रह और व्यवहार नय से भी मान्य हैं।"

इस प्रकार नौ तरह के जीवों का संरंभादि न- करना वह संयम के नौ भेद हैं तथा दुःषमा आदि काल के दोष से तथाविध बुद्धि, आयुष्य, श्रद्धा, संवेग, उद्यम, बल आदि के हीनत्व वाले वर्तमान काल के शिष्यों के उपकार के लिए संयम में उपकारक पुस्तक आदि अजीव पदार्थों का प्रतिलेखन, प्रमार्जन करते हुए जयणा रखना- वह दसवां अजीव संयम समझना। 'प्रेक्षा' अर्थात् बीज वनस्पति या त्रस जीव के संसर्ग बिना के निरवध स्थान में आंखों से देखकर, सोना, बैठना, खड़े रहना अथवा चलना इत्यादि ग्यारहवां प्रेक्षा संयम समझना। पाप व्यापार करना, गृहस्थ की उपेक्षा करना अर्थात् 'अमुक घर- गांव आदि की सार- संभाल ध्यान पूर्वक करो' इत्यादि उपदेश नहीं करना वह बारहवां उपेक्षा संयम जानना। अथवा प्रेक्षा, उपेक्षा का दूसरा अर्थ-संयम में अनादर करते साधुओं को उस संयम के कार्यों में लगाना- वह प्रेक्षा संयम है, और निर्ध्वंस (गिरे हुए) परिणामी पासत्था आदि संयम की विराधना करे तो उसकी उपेक्षा करना- वह 'उपेक्षा संयम' समझना। आंखों से देखने पर भी भूमि का अथवा वस्त्र, पात्रादि का रजोहरण आदि प्रमार्जन करके उसे उपयोग में लेना, अथवा सोते बैठते, लेते, रखते बारम्बार प्रमार्जन करना। काली भूमि वाले प्रदेश में से सफेद भूमि वाले प्रदेश आदि प्रदेश प्रवेश जब गृहस्थादि न देखते हों तब सचित-अचित या मिश्र रज से लिप्त पैर आदि का प्रमार्जन करना और जब गृहस्थ आदि देखते हों तब प्रमार्जन नहीं करना। क्योंकि गृहस्थ संयम आचार से अज्ञात होने से पैर प्रमार्जन करते देखकर साधु के प्रति दुर्गंछादि करे, इससे धर्म और शासन की लघुता आदि दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनके देखते प्रमार्जन नहीं करना चाहिए। तेरहवां प्रमार्जना संयम है। प्रवचन सारोद्धार गाथा ५५६ की टीका में कहा है कि-

पायाई सागरिए, अपमजित्तापि संजमो होइ।
पायाई पमज्जंतेऽसागरिए संजमो होई॥

अर्थात्- "जब गृहस्थ देखता हो तब पैर आदि का प्रमार्जन नहीं करने से संयम होता है और जब गृहस्थ न देखता हो तब पैर आदि का प्रर्माजन करने से संयम होता है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बड़ी नीति, लघु नीति, श्लेष्म, कफ, थूंक आदि को तथा जीव से युक्त, दोष वाले अथवा बढ़ गये आहार पानी आदि को जंतु रहित उचित स्थान पर विधि पूर्वक परठना वह चौदहवां परिष्ठापना संयम है। विद्रोह, ईर्षा, अभिमान आदि दुष्ट भावों से मन को रोकना और उसे धर्म ध्यानादि शुभ भाव में लगा देना वह पन्द्रहवां मन संयम है। हिंसक, कठोर आदि वचन बोलना और शुभ-हितकारी, सत्य, मुधुर वचन बोलना वह सोलहवां वचन संयम जानना। गलत मार्ग में न जाकर, जाने-आने आदि आवश्यक कर्त्तव्यों में काया की प्रवृत्ति उपयोग पूर्वक करना वह सत्रहवां काय संयम समझना। इस प्रकार प्राणातिपात की निवृत्ति रूप संयम सत्तरह प्रकार का समझना।

४-वैयावच्च=व्यापार-प्रवृत्ति करने वाला 'व्यापृत' और वैसा कार्य अथवा उसके भाव अर्थात् 'व्यापृत रूप' हो वही 'वैयावच्च' का शब्दार्थ समझना। उसके १-आचार्य, २-उपाध्याय, ३-तपस्वी, ४-न्यूतन दीक्षित, ५-ग्याल साधु, ६-स्थविर आदि साधु, ७-समनोज्ञ (एक समाचारी वाले अन्य गच्छीय) साधु, ८-संघ, ९-कुल और १०-गण- इन दस की वैयावच्च करने योग्य होने से वैयावच्च भी दस प्रकार की होती है। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

आयरिअ उवज्झाए, तवस्सि सेहे गिलाण साहूसुं ।
समणुन्न संघ कुल गण वैया वच्च हवइ दसहा ॥५५७॥

अर्थात्- "आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, स्थविर, एक समाचारी वाले अन्य गच्छीय साधु, संघ, कुल और गण इन- दस की वैयावच्च दस प्रकार की जानना।"

उसमें **१-आचार्य**-साधु जिसकी सहायता से ज्ञानसार आदि पांच प्रकार के आचारों का आचरण करे, अथवा उसके लिए साधु जिसकी सेवा करे वे आचार्य कहलाते हैं। उसके पांच भेद हैं। दीक्षा देने वाले वह **१-प्रव्राजकाचार्य है**, सचित-अचित या मिश्र पदार्थों को संयम के लिए लेना, उपयोग करना आदि की अनुमति दे वह **२-दिगाचार्य**, जो प्रथम से ही नाम का निर्देश करके सूत्र-पाठ दे-श्रुत का उद्देश करे वह वह ३-उद्देशाचार्य, उद्देश करने के बाद उद्देशाचार्य के अभाव में उसी श्रुत का जो समुद्देश करे अर्थ पढ़ाये अथवा सूत्र को स्थिर करने का उपदेश करे और अनुज्ञा-अन्य को पढ़ाने का आदेश करे वह **४-समुद्देशानुज्ञाचार्य** और उत्सर्ग अपवाद रूप अर्थ को अर्थात् आगम के रहस्य को समझाने वाले उपकारी जो गुरु,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

योग्य साधु को स्थापनाचार्य और आसन की आज्ञा दे वह **५-आम्नायार्थ वाचक**। इस तरह आचार्य के पांच भेद जानना। **२- उपाध्याय** = आचार्य की आज्ञा से जिसके 'उप' = समीप में जाकर साधु आचार के विषय को बताने वाले ज्ञान 'अधीयन्ते' = पढ़े उसे 'उपाध्याय' जानना। **३-तपस्वी**-अट्ठम या उससे अधिक कठोर तप करने वाला साधु तपस्वी कहलाता है। **४- शैक्ष**- नया दीक्षित साधु अर्थात् जो साधुता की शिक्षा प्राप्त करता हो वह शैक्ष है। **५-ग्लान** = ज्वर आदि की बीमारी वाला साधु। **६- थेर** = अर्थात् स्थविर- उसके श्रुत, पर्याय और वय की अपेक्षा से तीन भेद हैं। उसमें जिसमें चौथे 'समवाय' अंग तक श्रुत पढ़ा हो वह **१-श्रुत स्थविर**, जिसका दीक्षा पर्याय बीस या इससे अधिक वर्ष हो गया हो वह **२-पर्याय** है, और जिसकी उम्र सत्तर या उससे अधिक वर्ष हो वह **३-वय स्थविर जान ७-समनोज्ञ**= एक ही समाचारी का सम्यग् आचरण करने वाला अन्य समुदाय का साधु। **८-संघ**= साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका इन चार का समुदाय। **९-कुल**= एक ही जाति-समाचारी वाले, गच्छ समुदाय वाले जैसे कि-'चन्द्र कुल' आदि आदि। **१०- गण**=एक आचार्य की निश्रा में रहने वाले साधु समूह अर्थात् अनेक कुलों का समुदाय जैसे कि 'कौटिक गण' इत्यादि गण कहलाता है। इन दसों को अन्न, पान, वस्त्र, पात्र, उपाश्रय, पाट, तख्त, संथारा आदि धर्मोपकरण लाकर देना, सहायता करना और शरीर सेवा, औषध क्रिया, जंगल में विहार, रोग अथवा उपसर्ग आदि प्रसंग में उनकी रक्षा-सेवा आदि करनी चाहिए। इतना ही नहीं परन्तु वह सेवा करने वाला विनय वाला होना चाहिए। गुण-गुणी के प्रति पूज्य भाव प्रगट हो उसे ही विनय कहना चाहिए और उस गुण-गुणी की पूजा-सत्कार-सेवा को वैया-वच्च कहा जाता है। वैयावच्च का अर्थ सेवा ही नहीं अपितु शास्त्र के विधि-निषेध का ख्याल रखते हुए गुणवान के प्रति बहुमान प्रगट करके- उसके गुणों की वृद्धि हो- इस तरह उसके संयम कार्य में अपनी शक्ति का यथायोग्य उपयोग करना चाहिए, वह वैयावच्च है। इस प्रकार इसके दस भेद समझना।

५-ब्रह्मचर्य की गुप्ति = ब्रह्मचर्य रक्षण के उपाय नौ हैं। प्रवचन सारोद्धार में इस तरह कहा है कि-

वसहि कहनि सिज्जिन्दिय, कड्डुंतर पुव्व की लिए पणिए।
अइ माया हार विभूसणाई, नव बंभ गुत्ती ओ ॥५५८॥

अर्थात्- "ब्रह्मचारी को स्त्री, पशु या नपुसंक जिस स्थान पर रहते हों उस स्थान पर नहीं रहना वह **१-वसहि है**। इसके कारण आदि का विस्तार पहले पच्चीस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भावनाओं के वर्णन में आ गया है। केवल स्त्रियों को अकेले साधु ने धर्म-उपदेश रूप कथा व्याकरण नहीं सुनाना चाहिए, अथवा स्त्रियों के रूप, रंग आदि की बातें भी नहीं करनी चाहिएँ, वह **२-कथा त्याग** है। आसन त्याग अर्थात् स्त्रियों के साथ में एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए क्योंकि स्त्री द्वारा उपयोग किए आसन पर बैठने से पुरुष के चित्त में विकार होना संभव होता है। स्त्रियों को भी पुरुष के उपयोग किए आसन पर तीन प्रहर तक नहीं बैठना चाहिए। वह **३- निषधा गुप्ति** समझना।'' कहा है कि-

पुरिसासणे तु इत्थी, जामतिंअ जाव नो व उवविसइ ।
इत्थीइ आसणं मी, वज्जे अव्वा नरेण दो घड़िया ॥१॥

अर्थात् - ''पुरुष द्वारा उपयोग किए आसन पर स्त्री को तीन पहर तक नहीं बैठना चाहिए और स्त्री द्वारा उपयोग किए आसन पर पुरुष को दो घड़ी तक बैठने का त्याग करना चाहिए।''

४-इन्द्रिय को और उपलक्षण से स्त्री के अंग रूप मुख, नेत्र, स्तन, कटि भाग, जंघा आदि अवयवों को विकार भाव से ताक ताक कर अथवा आंखें फाड़कर स्थिर दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, क्योंकि इस तरह देखने से काम वासना जागृत होती है। यह इन्द्रियों से नहीं देखने रूप गुप्ति समझना। **५- दीवार के अन्तर से नहीं रहना'** अर्थात् भीत का अन्तर होने पर भी स्त्री-पुरुष के विषय में विकारी शब्द बातें आदि चलती हों या सुनायी देती हों ऐसे स्थान पर नहीं रहना चाहिए। **६-पूर्व क्रीड़ित** = पहले गृहस्थ अवस्था में भोगे हुए भोग रूप क्रीड़ा के स्मरण मात्र से विषय विष व्यापक बनता है, इसलिए उसको याद न करने से। **७-प्रणीत**= अर्थात् अति स्वादिष्ट स्निग्ध मादक आहार का त्याग करना। **८-अति मात्र आहार** = अर्थात् रूखा-सूखा भी अधिक मात्रा में नहीं खाना, ऊणोदरी रखना, गले तक ठूंस कर नहीं खाना। **९- विभूषा** = अर्थात् शरीर की शोभा, स्नान, विलेपन या नाखून आदि का संमार्जन आदि नहीं करना। ये नौ गुप्ति अर्थात् ब्रह्मचर्य के रक्षण के उपाय हैं।

जैसे शहर की रक्षा के लिए किले की और खेत के रक्षण के लिए बाड़ की आवश्यकता होती है वैसे ही अनादि विषय वासना से वासित वेदना से जीव को ब्रह्मचर्य का रक्षण अतीव दुष्कर है, इसलिए नौ बाड़ कही हैं। इन नौ में पहले पांच बाड़ बाह्य आक्रमण से रक्षण के लिये हैं और अन्तिम चार बाड़ अभ्यंतर आक्रमण से ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हैं, अत: उभय आक्रमण से बचने के लिए उनका पालन अतीव आवश्यक है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६. ज्ञानादि त्रय - जिससे वस्तु अवस्तु आदि जान सके, वह मति ज्ञानादि पांच प्रकार का ज्ञान तथा आदि शब्द से सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र -ये तीन समझना। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

वारस अंगाई यं, नाणं तत्तत्थ सद्द हाणंतु ।
दंसणमेव चरणं, विरई देसो अ सव्वे अ ॥५५६॥

अर्थात्- "बारह अंग, उपांग आदि जिन कथित श्रुत- यही ज्ञान है। तत्व रूप वस्तु में श्रद्धा करना- वह दर्शन है और पापकारी सावध व्यापार में अमुक अंश से अथवा सर्वथा रुक जाना- वह चारित्र समझना।"

७. तप- शरीर के धातु और कर्म को तपा दे इत्यादि जिसका लक्षण पूर्व में कहा है, वह तप छह बाह्य और अभ्यंतर भेद से बारह प्रकार का है। इसका वर्णन तप के अधिकार में विस्तार पूर्वक किया जायेगा।

८. क्रोधादि चार का निग्रह - क्रोध का और आदि शब्द से मान, माया और लोभ का निग्रह करना, उसके उदय को निष्फल करना। इसे चार प्रकार का जानना। ये सभी भेद चरण अर्थात् चारित्र रूप होने से 'चरण' और संख्या में सत्तर होने से 'सित्तरी'- इस तरह शास्त्रों में उसे चरण सित्तरी कहा है। इन भेदों में इतना विवेक है कि चौथे ब्रह्मचर्य व्रत के अन्तर्गत होने पर भी ब्रह्मचर्य की गुप्तियों को अलग कहकर उसे 'चतुर्थ व्रत के पालन में' अपवाद मार्ग नहीं है -इस तरह सूचन के लिए है। अतः प्रवचन सारेद्धार ५५२ गाथा की टीका में कहा है कि-

नय किंचि अणुण्णायं, पडि सिद्धं वा वि जिण वरिदेहिं ।
मुत्तुं मेहुण भावं न विणातं राग दोसेहिं ॥५५२॥

अर्थात्- "श्री जिनेश्वर भगवन्त ने एक मैथुन के सिवाय किसी का विधान या प्रतिषेध एकान्त रूप में नहीं कहा। मैथुन में एकान्त निषेध करने का यह कारण है कि वह राग अथवा द्वेष बिना संभावित नहीं होता।"

पांच महाव्रत कहने से वस्तुतः चारित्र आ जाता है फिर भी ज्ञानादि तीन में पुनः चारित्र कहा है। वह सामायिक चरित्र के सिवाय शेष छदोपस्थानीय, परिहार विशुद्ध, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात- इन चार चारित्र के निरूपण के लिए कहा है- ऐसा समझना। क्योंकि 'व्रत' शब्द से पांच चारित्र में से एक- सामायिक अंश का ही ग्रहण होता है और शेष चार चारित्र रह जाते हैं, इसलिए उनका निरूपण करने के लिये पुनः चरित्र कहा है, ऐसा जानना। दस विध श्रमण धर्म में संयम और तप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहने पर पुनः उसे अलग कहा है, उसमें मोक्ष प्राप्ति के लिए संयम और तप की मुख्यता बताने रूप कारण समझना। लोक भाषा में भी ऐसा न्याय देखने में आता है। जैसे कि ब्राह्मण आए और वसिष्ठ भी आए हों तो ऐसा बोलने से वसिष्ठ ब्राह्मण होने से ब्राह्मणों में आ जाते हैं फिर भी उनकी मुख्यता कहने के लिए अलग कथन किया जाता है। वैसे ही यहां भी संयम और तप को अलग कहा है, ऐसा समझना। संयम और तप की मुक्ति की साधना में मुख्यता इस तरह से स्पष्ट है कि संयम नये कर्मों के बन्धन को रोकता है और तप पूर्व में बन्धन हुए कर्मों को खत्म करने में हेतु भूत है। इत्यादि विचार करना। इसी तरह तप में वैयावच्च कहने पर भी पुनः अलग कह कर, वह वैयावच्च अपने को और पर को उपकारी होने से तप के 'अनशन' आदि दूसरे प्रकार करते अधिक अतिशय युक्त है, इस तरह बताने के लिए समझना। श्रमण धर्म में 'क्रोध निग्रह' आदि कहा है, फिर भी पुनः भिन्न भी कहा है वह 'उदय में आए क्रोधित को निष्फल करने रूप निग्रह' है और 'उदीरित क्रोधादि' के अनुदय रूप क्षमा, मृदुता आदि से है, इस तरह दोनों का भेद बताने के लिए समझना अथवा क्षमादि उपादेय है, और क्रोधादि हेय है- इस तरह उनमें भेद होने से अलग कथन समझना।

इस तरह से चारित्र के सत्तर मूल गुणों का स्वरूप कहा। अब इनके अतिरिक्त अन्य गुणों को 'करण सित्तरी' नाम से बताकर उन गुणों का निरतिचार पालन करना चाहिए- ऐसा बताने के लिए कहते हैं कि-

शेषाः पिण्ड विशुद्धायाद्याः स्युरूत्तर गुणाः स्फुटम्।
एषां चानति चाराणां, पालनं ते त्वमी मताः ॥११८॥

मूलार्थ- ''शेष रहे 'पिण्ड विशुद्ध आदि गुणों को निश्चय से 'उत्तर गुण' समझना। इन गुणों का निरतिचार पालन करना, वह सापेक्ष साधु धर्म है।'' वह उत्तर गुण इस तरह कहे हैं-

व्याख्या- शेष अर्थात् जो यहां कहे हैं उन मूल गुणों से उपरान्त दूसरे 'पिंड विशुद्ध' और 'आदि' शब्द से 'पिण्ड की निर्दोषिता, समितियां, भावना' आदि सत्तर भेद हैं। वह शास्त्र में उत्तर गुण रूप में प्रसिद्ध हैं। उसमें आदि शब्द से कहे वे सत्तर भेद इस तरह हैं। औघ निर्युक्ति भाष्य गाथा में कहा है कि-

पिंड विसो ही समिई, भावना पडिमा य इन्द्रिय निरोही।
पडि लेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "चार प्रकार के पिंड की विशुद्धि, पांच समितियां, बारह भावनाएं, बारह पडिमाएं, पांच इन्द्रियों का निग्रह, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्तियां और चार अभिग्रह- इस तरह कुल सत्तर भेद करण (साधन धर्म) के हैं अर्थात् उसे 'करण सित्तरी' कहते हैं। उसमें १-**पिंड विशुद्धि** अर्थात् पिंड प्राप्ति में पहले जैसा कहा है उन 'आधा कर्म' आदि बयालीस अथवा सैंतालीस दोषों का त्याग रूप शुद्धि है अर्थात् निर्दोषता को पिण्ड विशुद्धि जानना। यहां पिण्ड शब्द से १-चार प्रकार का आहार, २-शय्या (वसति), ३-वस्त्र और ४-पात्र जानना। इन चार वस्तुओं को लेना पूर्व में इस ग्रन्थ में दिनचर्या के वर्णन में कहा है। उसके अनुसार दोषों को रोकने रूप विशुद्धि करने से पिंड के भेद से पिंड विशुद्धि के भी चार भेद समझना।

२. पांच समिति- पांच प्रकार की सम्यक् चेष्टा जैन परिभाषा में 'समिति' नाम से प्रसिद्ध है, अर्थात् 'सम्यग्' = श्री अरिहंत के आगम के अनुसार निर्दोष, इति' = चेष्टा करना- उसका नाम सम + इति = 'समिति' जानना। वह इर्या, भाषा,, ऐषणा, आदान निक्षेप और परिष्ठापनि का ये पांच नाम वाली समितियां हैं, सम्यक् प्रवृत्तियां हैं। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

इरिया भासा एसणा, आयाणा ईसु तह परिट्ठवणा ।
सम्मं जा उ पवित्ती, सा समिई पंचहा एवं ॥५७१॥

अर्थात्- "चलने में, बोलने में, एषणा में आदान-निक्षेप आदि में और निरुपयोगी वस्तु को परठने में जो आगमानुसारिणी प्रशस्त प्रवृत्ति है, वह समिति शास्त्र में पांच प्रकार से कही है।"

१-इर्या समिति-उसमें त्रस और स्थावर जीव समूह को अभय दान देने के लिए, दीक्षित साधु को आवश्यक कार्य के लिए गमनागमन करते समय जीवों की रक्षा के लिए तथा अपने शरीर की रक्षा के लिए पैरों के अग्रभाग से लेकर घुसर-प्रमाण क्षेत्र अर्थात् चार हाथ प्रमाण भूमि तक दृष्टि रखकर चलना इर्या समिति कहलाता है। इर्या का अर्थ है-चर्या-गति और समिति का अर्थ -सम्यग् प्रवृत्ति करना अर्थात् गमन क्रिया में सम्यग् प्रवृत्ति करने को इर्या समिति कहते हैं। दशवैकालिक, अ० ५ उ० १ में कहा है कि-

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे ।
वज्जंतो बीअ हरि आइं, पाणे अ दगमट्टि अं ॥३॥
ओवायं विसमं खाणु, विज्जलं परिवज्जए ।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''मुनि पैर से युगमात्र (घूसर के आकार से शरीर प्रमाण) जमीन को देखते हुए, बीज, हरियाली, वनस्पति, जल, पृथ्वी काय और उपलक्षण से अग्नि, वायु आदि जीवों को बचाते हुए स्पर्श न हो ऐसे ढंग से जमीन पर चले। (३)॥ चलने में खड्डा ऊँची-नीची भूमि, खड्डे की लकड़ी आदि, कीचड़ का भी त्याग करके चले, और दूसरा मार्ग मिले वहां तक पानी आदि को पार करने के लिए गृहस्थादि द्वारा रखे अलग-अलग रूप में पत्थर, ईंट, लकड़ी आदि के ऊपर पैर रखकर भी न चले। (४)॥''

योगशास्त्र में उस मार्ग की विशेषता बताते हैं 'लोगों के आने जाने से मार्ग बहुत चलता हो और अविरत जिस मार्ग पर सूर्य की किरणे स्पर्श करती हों अर्थात् मार्ग भली भांति दिखता हो, उसी पर गमन का विधान है।'' प्रथम विशेषणोक्त मार्ग से आने जाने वाले मुनि से षट्कायिक जीव की विराधना नहीं होती। खराब मार्ग में भी नहीं जाना चाहिए, इसी हेतु से कहते हैं कि लोक-प्रचलित उक्त मार्ग पर भी रात को चलने से उड़कर आए हुए संपातिम जीवों की विराधना होती है। अंधकार में जीव जंतु पैर के नीचे आने से उसकी तथा किसी जहरीले जन्तु द्वारा अपनी भी हानि होने की संभावना है। अतः ऐसे मार्ग पर चलने का निषेध करने हेतु दूसरे विशेषण में 'सूर्य की किरण में चलने' को कहा है। इस प्रकार के उपयोग वाले मुनि से चलते-चलते यदि जीव की विराधना हो भी जाय तो भी जीव-वध का दोष नहीं लगता। ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

उच्चालियंमि पाए ईरिआ समियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जिज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तज्जोगमासज्ज ॥७८६॥

न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमोवि देसिओ समए ।
अणवज्जो उपओगेण, सत्व भावेण सो जम्हा ॥७५०॥

अर्थात्- ''इर्या समिति पालन करने में उपयोग वाला साधु चलते समय पैर ऊँचा करे उसमें कदाचित् कोई द्विन्द्रियादि जीव दबकर मर जाय तो उसके लिए शास्त्र में कहा है कि उस निमित्त से उसे जरा सा भी सूक्ष्म कर्म बन्धन नहीं होता, क्योंकि समभाव से सर्वथा पयोग पूर्वक की हुई यह निरवध प्रवृत्ति है अर्थात् अहिंसा परिणाम वाला और अप्रमत्त होने से निर्दोष है। योग शास्त्र टीका १/३६ में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है-

जिअदु व मरदु व जीवो, अजदा चारस्स निच्छओ हिंसा ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पय दस्सणत्थि बंधो, हिंसा मित्तेण समिदस्स ॥३१७॥

अर्थात्- ''अयतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से जीव मरे अथवा न मरे तो भी उसे हिंसा का पाप अवश्य लगता है और सम्यक् प्रकार से उपयोग पूर्वक एवं यतनापूर्वक गमनागमन करता है, उस साधक से कमी हो भी जाय तो भी उस हिंसा से कर्म बन्धन नहीं होता क्योंकि उसके परिणाम हिंसा के नहीं होते, अहिंसा (दया) के होते हैं।'

२. भाषा समति-वाक्य शुद्धि नामक दशवैकालिक सूत्र के सातवें अध्ययन में प्रतिपादित भाषादोष के अनुसार 'तू धूर्त है, तू कामी है, तू मांस खाने वाला है, तू चोर है या नास्तिक है' इत्यादि दुर्वचनों का निष्कपट भाव से त्याग करना चाहिए और वचन शुद्धि युक्त भाषा बोलनी चाहिए। जो सभी लोगों के लिए हितकारी, प्रिय, परिमित वाणी भी ऐसी बोले जो पर्याप्त प्रयोजन को सिद्ध करने वाली हो तथा स्पष्ट-निश्चित अर्थ वाली होनी चाहिए। वह भाषा समिति समझना। उपदेश माला में कहा है कि-

महूरं निउण थोवं कज्जा वडिअं अगव्वि अम तुच्छं ।
पुव्विं मइ संकलिअं, मणंति जं धम्म संजुत्तं ॥८०॥

अर्थात्- ''वही वचन बोलना चाहिए जो मधुर हो, बुद्धि युक्त हो, अल्प हो, कार्य साधन के लिए यथावश्यक, गर्व रहित, उदार, आशायुक्त, बुद्धि से पहले विचार कर रखा हो और धर्म युक्त हो। इस प्रकार की वाणी को भाषा समिति कहते हैं अथवा बोलने में सम्यग् प्रकार से सावधानी रखना भाषा समिति है। इस तरह की भाषा मुनियों को इष्ट होती है।'' शास्त्रों में बताया गया है कि बुद्धिमान साधक उस भाषा को न बोले जो सत्यामृषा हो, मृषा हो और पंडितों द्वारा आचरित न हो। परन्तु उस भाषा को बोले जो सम्यक्, निर्दोष एवं हितकर प्रवृत्ति वाली हो।

३. एषणा समिति- पूर्वोक्त गवैषणा, ग्रह ऐषणा, और गासैषणा के सतहत्तर दोषों से दूषित न हो- ऐसे अन्न-पानी आदि, निर्दोष रजोहरण, मुंहपत्ति आदि औधिक उपधि और शय्या, पाट, पट्टे, चर्म पंचक, दण्ड पंचक आदि जो पूर्व में कही है वे औपग्रहिक उपधि, ये सब निर्दोष लेना- उसे एषणा समिति जानना। कहा भी है कि-

उत्पादनोद् गमैषणा धूमाङ्गार प्रमाण कारणतः ।
संयोजनाच्च पिण्डं शोधयतामेषणा समितिः ॥१॥

अर्थात्- ''सोलह उत्पात दोष, सोलह उद्गम दोष, दस एषणा के दोष और धूम्र, अंगार, अप्रमाण, करणाभाव तथा संयोजन- ये पांच ग्रासैषणा के दोष, इस तरह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कुल ४७ दोषों को शोधन रूप पिंड शुद्धि की रक्षा करते, बारीकी से विश्लेषण करते हुए आहारादि में प्रवृत्ति करने हेतु मुनियों के लिए एषणा समिति बताई है ।

४. आदान-निक्षेप समिति-आसन, संथारा, पाट तख्ता, वस्त्र, पात्र, दण्डा आदि प्रत्येक उपकरण को आंखों से भली भांति देखकर और उपयोग पूर्वक रजोहरण आदि से पडिलेहन करके उठाना और आंखों से देखकर और प्रमार्जन की भूमि पर उपयोग पूर्वक रखना उसे, चौथी आदान-निक्षेप समिति जानना । इस तरह उपयोग बिना प्रतिलेखनादि पूर्वक उठाते-रखते हुए भी समिति शुद्ध नहीं गिनी जाती है क्योंकि उत्तराध्ययन के छत्तीसवें अध्ययन गाथा में २६ व ३० में कहा है कि- "प्रतिलेखना करते समय परस्पर बातें करे, देश कथादि करे, पच्चक्खान दे, स्वयं पढ़े अथवा दूसरे से वाचना ले, या दे, तो पडिलेहण में उपयोग न होने से वह प्रमादी साधु पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय-इन छह काय जीवों की विराधना करता है अर्थात् उपयोग के अभाव में इन सब जीवों की विराधना संभव होने से उसे विराधक जानना । " इसलिए जो कुछ भी उपकरण उठाए या रखे जायं, पहले उन पर दृष्टिपात करे, फिर आधे-रजोहरण से उसका प्रमार्जन कर फिर उसे ग्रहण करे या रखे । इस प्रकार की प्रवृत्ति को आदान-निक्षेप समिति कहते हैं ।

५. पारिष्ठापना समति-मल, मूत्र, कफ, थूक, श्लेष्म, शरीर का मैल अथवा निरूपयोगी वस्त्र तथ आहार-पानी आदि को जीव जन्तु रहित शुद्ध जमीन पर धूल या रेती में यत्न से उपयोग पूर्वक त्याग (परिष्ठापन) करते हैं वह परिष्ठापना समिति जानना । ये पांच समिति और आगे जो कही जायेंगी उन आगम प्रसिद्ध तीन गुप्तियों सहित आठ 'साधु' की माताएं कही हैं । योग शास्त्र में कहा है कि -

एताश्चारित्रस्य जननात् परिपालनात् ।
संशोधनाच्य साधूनां मातरोऽष्टौ प्रकीर्त्तिता ॥१-४५॥

अर्थात् - " उपर्युक्त पाच समितियां और तीन गुप्तियां साधुओं के चारित्र रूपी शरीर को माता की तरह जन्म देने से, उसका परिपालन करने से तथा उसकी अशुद्धियों को दूर करने से व उसे स्वच्छ-निर्मल रखने के कारण 'आठ प्रवचन माता' के नाम से प्रसिद्ध है । "

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जैसे माता पुत्र के शरीर को जन्म देती है, दुग्धादि पिलाकर शरीर की वृद्धि करती है और मल-मूत्र साफ करके बालकों को स्वच्छ रखती है तथा उनका रक्षण करती है वैसे ही साधु के चारित्र रूपी शरीर को जन्म देने वाली, उपद्रव का निवारण करके पालन करने वाली, पोषण करके बढ़ाने वाली, अतिचार से मलिन हो तो उसे साफ करके निर्मल करने वाली- ये अष्ट प्रवचन माताएं आगम-प्रसिद्ध हैं।''

३. बारह भावना - भाव का चिन्तन करना भावना कहलाती है अर्थात् चिन्तन द्वारा आगम शब्दों के अनुसार जगत् के उस पदार्थ (धर्म) का निरीक्षण जिस आलम्बन द्वारा हो सके, वे भावनाएं बारह प्रकार की हैं। उनके नाम इस प्रकार से है- १. अनित्य भावना, २. अशरण भावना, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचित्व, ७. आश्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक स्वभाव, ११. बोधि दुर्लभ और १२. धर्म कथन की सुन्दरता। इन १२ भावनाओं का स्वरूप क्रमशः बताया जायेगा। उसमें सर्व प्रथम अनित्य भावना का स्वरूप योग शास्त्र के चतुर्थ प्रकाश द्वारा कहते हैं -

१. अनित्य भावना -

यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने, यन्मध्याह्ने न तन्निशि ।
निरीक्ष्यते, भवेऽस्मिन् ही ! पदार्था नाम नित्यता ॥५७॥

शरीरं देहिनां सर्व पुरुषार्थ निबन्धनम् ।
प्रचण्ड पवनोद्धूत धनाधन - विनश्वरम् ॥५८॥

कल्लोल चपला लक्ष्मीः संगमाः स्वप्न सन्निभाः ।
वात्या व्यति करोत्क्षिप्त तूल तुल्यं च यौवनम् ॥५९॥

अर्थात् - ''प्रातः काल जो दिखाई देता है, वह मध्याह्न में नहीं दिखाई देता और मध्याह्न में जो दृष्टिगोचर होता है, वह रात में नजर नहीं आता। इसलिए अफसोस है, इस संसार में समस्त पदार्थ अनित्य हैं (५७)॥ देह धारियों का यह शरीर समस्त पुरुषार्थों का आधार है परन्तु वह भी प्रचण्ड वायु से उड़ाये गये बादलों के समान विनश्वर है (५८)॥ लक्ष्मी समुद्र की तरंगों के समान चपल है, प्रिय जनों के संयोग स्वप्न के समान क्षणिक है और यौवन वात्या चक्र (आंधी) से उड़ाई गई आक की रुई के समान अस्थिर है।''

इस सम्बन्ध में कुछ आन्तर श्लोक का भावार्थ प्रस्तुत करते हैं - अपने पर या दूसरे पर सभी दिशाओं से आपत्तियाँ आया ही करती हैं। जीव यमराज के दांत

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूपी यंत्र में पड़ा हुआ कष्ट से जी रहा है। चक्रवर्ती इन्द्रादि का शरीर व्रज के समान है किन्तु उसके साथ भी अनित्यता लगी है तो फिर केले के गर्भ समान निःसार शरीर वालों का क्या कहना ? जो निःसार शरीर में रहना चाहता है, मानो वह जीर्ण सूखे पत्तों से बने पुरुष के शरीर में रहना चाहता है। मृत्यु रूपी व्याध के मुख-कोटर में स्थिर शरीर धारी को बचाने में कोई भी मन्त्र, तन्त्र या औषध समर्थ नहीं है। आयुष्य की वृद्धि होने के साथ जीव को पहले वृद्धावस्था और बाद में यमराज अपना ग्रास बनाने की जल्दी करता है। धिक्कार हो जन्मधारी जीव को, जो यह भली भांति जानता है कि यह जीव यमराज के आधीन है, फिर वह आहार का एक भी कौर कैसे ले सकते हैं ? फिर आयुष्य कर्म की तो बात ही क्या कहें ? जैसे पानी में बुलबुला पैदा होकर तुरन्त ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जीव का शरीर उत्पन्न होकर क्षण भर में विनष्ट हो जाता है। धनवान हो या दरिद्र, राजा हो या रंक, पंडित हो या मूर्ख, सज्जन हो या दुर्जन, यमराज सबका एक समान हरण करने वाला है। उसमें गुणों के प्रति उदारता नहीं है, दोषों के प्रति द्वेष नहीं है। जैसे दावाग्नि सारे जंगल को जला कर भस्म कर देती है वैसे ही यमराज सब प्राणियों को नष्ट कर देता है। कुशास्त्र पर मोहित होने पर भी कोई ऐसी शंका नहीं कर सकता कि किसी भी उपाय से यह काया निरापद रह सके। जो मेरु पर्वत को दण्ड और पृथ्वी को छत्र रूप बनाने में समर्थ है वह भी अपने आपको या दूसरों को मृत्यु के मुख से बचाने में असमर्थ है, चींटी से लेकर देवेन्द्र तक कोई भी समझदार मनुष्य कभी ऐसा नहीं कहेगा कि "मैं यमराज के शासन में काल को ठग लूंगा।" और हे बुद्धिशाली ! यौवन को भी अनित्य ही जानो, क्योंकि बल और रूप का हरण करने वाला बुढ़ापा, उसे जर्जरित कर देता है। यौवन वय में जो कामिनियां काम की इच्छा से तुम्हारी अभिलाषा करती थीं वे वृद्धावस्था में तुम पर थूकती हैं, तुम्हारे पास भी नहीं फटकतीं। जिन धन वालों ने बहुत ही क्लेश पूर्वक जो कमाया, उसे बिना खर्च किए सुरक्षित रखा -उनका वह धन भी क्षण भर में नष्ट हो जाता है। विद्वानों ने धन को पानी के बुलबुले की अथवा बिजली के प्रकाश की उपमा दी है, जैसे ये चीजें देखते ही देखते नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही धन नष्ट हो जाता है। मित्र, बन्धु और सगे सम्बन्धियों के संयोग के साथ भी वियोग जुड़ा है। इस प्रकार हमेशा अनित्यता का चिन्तन करने वाला पुत्र की मृत्यु के समय भी शोक नहीं करता। नित्यता के ग्रह-भूत से ग्रस्त मूढ़ मनुष्य ही मिट्टी के बर्तन टूटने पर रोता है। इसलिए इस जगत् में केवल देहधारियों का शरीर, धन, यौवन या बन्धु-बांधव ही अनित्य नहीं हैं अपितु सचेतन-अचेतन सारा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ही विश्व अनित्य है । सत्य पुरुष कहते है - एक मात्र धर्म ही नित्य है । अब इस भावना का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि 'इस प्रकार स्थिर चित्त से प्रति क्षण तृष्णा रूपी काले भुजंग को में वश करने के मंत्र समान निर्ममत्व भाव को जगाने के लिए जगत् के अनित्य स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए । (६०)॥ '' जिससे समाधि टिके ।

२. अशरण भावना -

इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते यन्मृत्योर्यान्ति गोचरम् ।
अहो तदन्त कातंके कः शरण्यः शरीरिणाम् ॥६१॥

पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातुस्तनयानां च पश्यताम् ।
अत्राणो नीयते जन्तुः कर्मभिर्यम सद् मुनि ॥६२॥

शोचन्ति स्वजनानन्तं, नीय मानान् स्व कर्मभिः ।
नेष्यमाणं तु शोचन्ति नात्मानं मूढ बुद्धयः ॥६३॥

संसारे दुःख दावाग्नि ज्वलज्ज्वाला करालिते ।
वने मृगार्भकस्येव शरणं नास्ति देहिनः ॥६४॥

अर्थात् - '' अहो ! जब इन्द्र- उपेन्द्र आदि देव, वासुदेव चक्रवर्ती आदि मनुष्य भी मृत्यु का विषय बन जाते हैं, तब मृत्यु के आतंक के समय जीवों को शरण देने वाला कौन है ? मृत्यु के समय इन्द्र की भी कोई रक्षा नहीं कर सकता । (६१) ॥ पिता, माता, बहन, भाई और पुत्र आदि स्वजनों के देखते कर्म अत्राण-शरण विहीन प्राणी को चार गति रूप यमराज के सदन में ले जाते हैं । उस समय कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता । वास्तव में जीव अपने कर्मानुसार चतुर्गति रूप संसार में विविध गतियों व योनियों में जाता है । (६२)॥ मूढ़ बुद्धि लोग अपने कर्मों के द्वारा मृत्यु के द्वार पर ले जाए जाते हुए स्वजनों के लिए शोक करते हैं, परन्तु वे मूर्ख यों सोचकर अपने लिए शोक नहीं करते कि हम भी भविष्य में एक दिन मौत का शिकार बन जाएंगे । (६३) ॥ वन में सिंह का आक्रमण होने पर हिरन के बच्चे को कोई भी बचा नहीं सकता, इसी प्रकार दुःख रूपी दावाग्नि की जाज्वल्यमान भीषण ज्वाओं से जलते हुए संसार में जीव को बचाने वाला कोई नहीं है । (६४)॥''

सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र थे। लेकिन उन शरण रहित पुत्रों को ज्वलन प्रभ देव ने क्षण भर में तिनके की तरह एकदम जलाकर भस्म कर दिया । स्कन्दाकाचार्य की आंखों के सामने ही उनके पांच सौ शिष्यों को यमराज तुल्य पालक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परोहित कोल्हू में पीसकर मार रहा था तब उनका शरण दाता कोई भी नहीं हुआ । जिन्होंनें अपनी तलवार के बल पर सारी दुनियां को निष्कंटक बना दिया था वे ही शूरवीर यमराज की तनी हुई भ्रकुटि देखकर भय से दांतों तले उगली दबा लेते थे । इन्द्र भी जिसे स्नेहपूर्वक आलिंगन करके अपने आधे आसन पर बैठाते थे, वह श्रेणिक राजा भी अन्तिम समय में शरण रहित हो गया था । उसकी ऐसी दुर्दशा हो गयी कि सुनी भी न जा सके । इस प्रकार तीनों लोकों में भयंकर यमराज बेधड़क होकर ब्रह्मा से लेकर चींटी तक के तमाम जीवों से परिपूर्ण समग्र जगत् को कवलित करने से नहीं थकता । खेद है कि सारा जगत्, इससे परेशान हो रहा है । अतः धर्म की शरण स्वीकार करो ।

३. संसार भावना का स्वरूप -

श्रोत्रियः श्वपचः स्वामी पत्तिर्ब्रह्मा कृमिश्च सः ।
संसारे नाट्ये नटवत् संसारी हन्त ! चेष्टते ॥६५॥

न याति कतमां योनि, कतमां वा न मुञ्चति ।
संसारो कर्म समब्न्धादवक्रय कुटीमिव ॥६६॥

समग्र लोकाकाशेऽपि नाना रूपैः स्वकर्मतः ।
बालाग्रमपि तन्नास्ति यन्न स्पृष्टं शरीरिभिः ॥६७॥

अर्थात् - 'जैसे नाटककार भिन्न- भिन्न वेष बदल कर नाट्य मंच पर आता है, वैसे ही संसारी जीव भी विचित्र कर्म रूपी उपाधि के कारण विविध शरीरों को धारण करके संसार के रंगमंच पर आता है और नाटक का पार्ट अदा करता है । जो वेदगामी ब्राह्मण था वही कर्मानुसार चांडाल बनता है और जो स्वामी था वही मरकर सेवक के रूप में पैदा होता है। जो प्रजापति था वह वीर के रूप में जन्म लेता है । आश्चर्य है संसार की इस विचित्रता को देख कर । परमार्थ दृष्टि से तो उस आत्मा का रूप इस प्रकार का नहीं है । (६५) ॥ जीव समस्त योनियों में जन्म लेता है और मरता है। इस संसार में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की ८४ लाख जीव योनियों में से ऐसी कोई योनि नहीं है जहां संसारी जीव न गया हो अथवा जिस योनि को न छोड़ा हो । जैसे गृहस्थ किराए पर कोई मकान लेता है और जरूरत न होने पर उसे छोड़ देता है, वैसे ही संसारी जीव को कर्मों के सम्बन्ध से शरीर भी कुछ अर्से तक मिलता है, किन्तु कर्म भोगने के बाद उस योनि को छोड़ देता है एवं दूसरी योनि ग्रहण करता है । समय पाकर उस योनि को भी छोड़ देता है । किन्तु किसी एक नियत योनि को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पकड़े नहीं रखता । (६६)॥ समग्र लोकाकाश में बाल की नोक पर आए- इतना स्थान भी नहीं बचा है, जिसे शरीर धारियों ने अपने विविध कर्मों के उदय से नाना रूप में जन्म मरण पाकर स्पर्श न किया हो (६७) ।''

इस विषय में चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करने आदि से होते दु:ख की परम्परा का स्वरूप योग शास्त्र की टीका के आन्तर श्लोक से समझ लेना । बहुत विस्तार भय से वह यहां नहीं लिखा । उसके अन्तिम दो इस तरह दिये हैं कि - इस प्रकार चारों गतियों की स्थिति संसारी प्राणियों को इस संसार में जरा भी सुख नहीं है। इतना ही नहीं, सिर्फ शारीरिक और मानसिक दु:ख भी बहुत अधिक हैं । ऐसा समझकर यदि तुम भव भ्रमण के भय से सदा के लिए मुक्त होना चाहते हो तो ममता को दूर कर सतत शुद्ध आशय पूर्वक संसार भावना का सदा ध्यान करो ।

४. एकत्व भावना का स्वरूप-

एक उत्पद्यते जन्तुरेक एव विपद्यते ।
कर्माण्यनुभवत्येक: प्रचितानि भवान्तरे ॥६८॥

अन्यैस्तेना जितं वित्तं, भूय: सम्भूय भुज्यते ।
स त्वेको नरक क्रोड़े, क्लिश्यते निज कर्मभि: ॥६९॥

अर्थात् - ''यह जीव अकेला सहाय बिना ही उत्पन्न होता है और अकेला ही शरीर छोड़कर मर जाता है तथा जन्म - जन्मांतर में संचित कर्मों को भी यह अकेला ही भोगता है । (६८) ॥ उसके द्वारा महारंभ और महापरिग्रह आदि उपाय से अर्जित धन का उपयोग दूसरे बन्धु-बांधव, कुटुम्ब-परिवार, नौकर आदि मिलकर करते हैं, परन्तु धन का उपार्जन करने वाला तो अकेला ही अपने दुष्कर्मों से नरक की गोद में जाकर महादु:ख भोगता है । (६९) ॥''

दु:ख रूपी दावानल से भयंकर विशाल संसार रूपी अरण्य में कर्माधीन होकर यह आत्मा अकेला ही परिभ्रमण करता है । बन्धु, बांधव, स्वजन आदि कोई भी जीव सहायक या हिस्सेदार नहीं होते । यह काया पूर्व जन्म से ही साथ नहीं आई और न जन्मान्तर में साथ जायेगी । इसलिए शुभाशुभ करता हुआ जीव अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है और उन कर्मों के अनुभव फल भोगता है तथा मोक्ष लक्ष्मी को भी अकेला ही प्राप्त करता है । इसमें किसी सम्बन्धी का सम्बन्ध नहीं होता, और न काम आता है । अत: धन, शरीर आदि ममत्व से विमुख होकर ही एकाकी स्वस्थ आत्मा संसार समुद्र से पार हो सकता है । पाप करने से जीव अकेला ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नरक में जाता है। इसी प्रकार पुण्य करने से भी अकेला स्वर्ग में जाता है और पुण्य पाप का क्षय करके अकेला ही मोक्ष में जाता है। ऐसा समझकर निर्ममत्व प्राप्ति के लिए दीर्घकाल तक एकत्व भावना का ध्यान करना चाहिए।

५. अन्यत्व भावना का स्वरूप –

यत्राऽन्यत्वं शरीरस्य वैसादृश्याच्छशेरिणः ।
धन बन्धु सहायानां, तत्राऽन्यात्वं न दुर्वचम् ॥७०॥
यो देह धन बन्धुभ्यो, भिन्नमात्मानमीक्षते ।
क्व शोक शंकुना तस्य, हन्तातङ्क प्रतन्यते ॥७१॥

अर्थात् – "जहां आत्मा और शरीर आधार-आधेय, अरूपी-रूपी, चेतन-अचेतन, नित्य-अनित्य हैं, तथा शरीर जन्मान्तर में साथ नहीं जाता है जबकि आत्मा जन्मान्तर में भी रहता है। इससे शरीर और शरीरी-आत्मा की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। तब फिर वहां यह कहना सत्य है कि धन, बन्धु, माता, पिता, मित्र, सेवक, पत्नी, पुत्रादि तथा कथित सहायक आत्मा से भिन्न है। (७०) ॥ जो अपनी आत्मा को शरीर, धन, स्वजन, बन्धु आदि से भिन्न स्वरूप देखता है, उसकी आत्मा वियोग जनित शोक रूपी कील से भला कैसे आतंकित-पीड़ित हो सकती है ? (७१)॥"

जब आत्मा और शरीर की भिन्नता स्पष्ट है, तब शरीर पर प्रहार करो पर आत्मा को उसकी पीड़ा क्यों महसूस होती है ? उसका समाधान यों है – जिस व्यक्ति को आत्मा और शरीरादि में भेद बुद्धि नहीं है, जो इन दोनों को एक ही मानता है-उसके शरीर पर प्रहार करने से आत्मा को अवश्य पीड़ा होती है, लेकिन जिसने शरीर और आत्मा का भेद भली भांति हृदयंगम किया है उसे अपने शरीर पर प्रहार होने पर भी आत्मा में पीड़ा नहीं होती। अन्तिम भगवान महावीर प्रभु पर १२ वर्ष तक बहुत उपसर्ग हुए। संगम देव ने उन पर काल चक्र फेंका था, ग्वाले ने उनके पैरों पर खीर पकाई थी। फिर भी देह को आत्मा से अलग अनुभव करने वाले प्रभु की आत्मा में दुःख न हुआ। देह और आत्मा की भिन्नता जानने वाला नमिराज था। जब उसकी मिथिला नगरी जल रही थी तब इन्द्र ने उससे कहा – यह तुम्हारी मिथिला जल रही है। तब नमिराज, ने उत्तर दिया – इसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है। इस तरह पर पदार्थ में ममत्व बुद्धि रखने वाले भव्यात्मन् ! तुम इस का विवेक करो और मिथ्या भावना का परित्याग कर ममत्व छेदिनी अन्यत्व भावना का लगातार अवलम्बन लो।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६. अशुचि भावना का स्वरूप –

रसासृग्मांस मेदोऽस्थिमज्जा शुक्रान्त्र वर्चसाम् ।
अशुचीनां पदं कायाः, शुचित्वं तस्स तत्र कुतः ॥७२॥

नवस्रोतः श्रवदवि स्त्रसनिः स्यन्दपिच्छिले ।
देहेऽपि शौच संकल्पो महन्मोह विजृम्भितम् ॥७३॥

अर्थात् – "आहार करने के बाद उसका रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से मेद और मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य और वीर्य से आंतें और आंतें से विष्ठा बनती है । इस प्रकार यह शरीर अशुचि (गंदे) पदार्थों का भाजन है, तब फिर यह काया पवित्र कैसे हो सकती है ? (७२) ॥ तथा दो नेत्र, दो कान, दो नाक के नथुने, मुख, गुदा और लिंग– ये शरीर में नौ द्वार हैं । इन में से निरन्तर झरती रहती गंदगी से देह लिपटा रहता है । ऐसे घिनौने शरीर के बारे में पवित्रता की भी कल्पना करना, महामोह की ही विडम्बना है । (७३)॥"

वीर्य और रज के संयोग से उत्पन्न होने वाला मल, के रस से बढ़ने वाला और गर्भ में जरायु–पतली चमड़ी की झिल्ली से ढका हुआ यह शरीर कैसे पवित्र हो सकता है ? विलेपन करने के लिए यदि कपूर, चन्दन, कक्कोल, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ घिसकर लगाये हों तो वे भी कुछ देर के बाद मलिन हो जाते हैं, तब शरीर में शुद्धता कैसे हो सकती है ? स्वभाव से सुगन्धित गन्ध, धूप, फूल की माला आदि वस्तु भी शरीर के संपर्क से दुर्गन्धमय बन जाती है, तब इस शरीर को पवित्र कैसे कहा जाय ? शराब के गंदे घड़े के समान इस शरीर पर सैंकड़ों बार तेल मालिश करने या विलेपन करने पर अथवा करोड़ों घड़ों से इसे धोने पर भी यह पवित्र नहीं हो सकता । अतः शरीर की ममता छोड़कर उसे केवल धर्म का साधन बना दो ।

६. आस्रव भावना का स्वरूपः –

मनोवाक् काया कर्माणि, योगाः कर्म शुभाशुभिम् ।
यदा श्रवन्ति जन्तू नामाश्रवास्तेन कीर्तिता ॥७४॥

मैत्र्यादि वासितं चेत कर्म सूते शुभात्मकम् ।
कषाय-विषयाक्रान्तं वितनोत्यशुभं मनः ॥७५॥

अर्थात् – "मन, वचन और काया का व्यापार (प्रवृत्ति या क्रिया) योग कहलाता है । इन योगों के द्वारा ही जीवों में शुभाशुभ कर्म चारों ओर से खिंचकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आते हैं। इसलिए इस योग को ही आश्रव कहा गया है। (७४) ॥ तथा मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा (माध्यस्थ्य) लक्षण से युक्त, चार भावनाओं से भावित मन पुण्य रूप शुभ कर्म उपार्जित करता है। इससे शाता वेदनीय, सम्यकत्व, हास्य, रति, पुरुष वेद, शुभ आयुष्य, शुभ नाम और शुभ गोत्र प्राप्त करता है। जबकि वही मन क्रोधादि कषायों और इन्द्रिय विषयों से आक्रान्त-अभिभूत होने पर अशुभ कर्म उपार्जित करता है, इससे अशाता वेदनीय आदि प्राप्त करता है। (७५)॥''

अन्यत्र कहा है कि जगत् के सभी जीवों पर स्नेह रखना मैत्री भावना है। अपने से अधिक गुणी जनों को देखकर प्रसन्नता प्राप्त करना, उनके प्रति हृदय में भक्ति-अनुराग प्रगट करना प्रमोद भावना है। अविनीत, शिक्षा के अयोग्य जीव के प्रति माध्यस्थ्य (उपेक्षा) भावना तथा दीन, दुःखी, अनाथ, विकलांग एवं अशरण जीवों के प्रति करुणा (कृपा) भावना है। इस तरह सर्व जीवों के प्रति मैत्री आदि से हमेशा भाव रखने वाले पुण्यशाली का मन बयालीस प्रकार के शुभ-पुन्य कर्म का विस्तार करता है। तथा -

शुभार्जनाय निर्मिथ्यं श्रुतज्ञानाश्रितं वचः ।
विपरीतं पुनर्ज्ञेयं अशुभार्जन हेतवे ॥७६॥
शरीरेण सुगुप्तेन शरीरी चिनुत्ते शुभम् ।
सत तारम्भिणा जन्तुघातकेनाऽशुभं पुनः ॥७७॥
कषाया विषया योगाः प्रमादाऽविरती तथा ।
मिथ्यात्वमार्त्त रौद्रे, चेत्य शुभ प्रति हेतवः ॥७८॥

अर्थात् - ''शुभ कर्म के उपार्जन के लिए द्वादशांगी गणि पिटक रूप श्रुत ज्ञान के अनुकूल वचन बोलने चाहिएँ। इसके विपरीत अशुभ कर्म के उपार्जन के लिए श्रुत ज्ञान विरोधी वचन जानने चाहिएँ (७६) ॥ सावध कुचेष्टाओं से सुगुप्त-रक्षित काया की प्रवृत्ति अथवा कार्योत्सर्ग आदि निश्चेष्टा पूर्वक काया की प्रवृत्ति करना काया योग है। इससे जीव साता वेदनीय आदि शुभ पुण्य कर्मों का उपार्जन करता है, जबकि महारंभ या लगातार आरंभ में प्रवृत्त या जीवों के घातक शरीर से जीव असाता वेदनीय आदि अशुभ पाप कर्मों का उपार्जन करता है। (७७)॥ इसके उपरान्त भी क्रोधादि चार कषाय, पांच इन्द्रियों के विषय, अशुभ योग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व और आर्त-रौद्र ध्यान- ये सभी अशुभ कम बन्धन के हेतु हैं। (७८)''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ प्रश्न होता है कि - उपर्युक्त सब तो बन्धन के हेतु कहे हैं जैसे कि वाचक मुख्य श्री उमा स्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है **"मिथ्या दर्शना विरति प्रमाद कषाय योगा बन्ध हेतवः"** अर्थात् 'मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग- ये कर्म बन्ध के हेतु हैं (अ ८ सू. १)' तब फिर आश्रव भावना में आश्रव के हेतु न कहकर इन बन्ध हेतुओं को क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में कहना है कि तुम्हारा प्रश्न यथार्थ है। महापुरुषों ने इन्हें आश्रव भावना में ही कहा है, बन्ध को भावना के रुप में नहीं बताया। आश्रव भावना ही उसे समझा जा सकता है, क्योंकि आश्रव से ग्रहण किया हुआ कर्म पुद्गल आत्मा के साथ सम्बद्ध होने पर बन्ध कहलाता है। इसलिंए तत्त्वार्थ सूत्र में आगे कहा है कि **"सक षायत्वज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलाना दत्ते स बन्धः"** (अ. ६, सूत्र २) अर्थात् कषाय सहित जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, उसे बन्ध कहते हैं। इसलिए बन्ध और आश्रव दोनों के अन्तर की यहाँ विविक्षा नहीं की। फिर यह शंका उठाई जाती है कि आत्मा के साथ कर्म पुद्गल का क्षीर-नीर की तरह एक-मेक हो जाना बन्ध कहलाता है, तब फिर आश्रव को बंध क्यों नहीं कहा जाता ? इसका समाधान यह है कि - यद्यपि तुम्हारी बात युक्ति युक्त है, तथापि आश्रव द्वारा नहीं ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गल बन्ध के अन्तर्गत कैसे हो सकते हैं ? इस कारण कर्म पुद्गलों के ग्रहण के लिए कारणरूप आश्रव को बन्ध का हेतु बताने में कोई दोष नहीं है। फिर यह सवाल उठता है कि - तो फिर उपर्युक्त पांचों को आश्रव हेतु कहना चाहिए, बन्ध हेतु कहना व्यर्थ है। उत्तर में कहते हैं - ऐसी बात नहीं है। यहाँ बन्ध और आश्रव को एक रूपता की दृष्टि से कहा है। वस्तुतः यह पाठ आश्रव हेतु का है, इसलिए सब को अपनी अपनी जगह यथार्थ रूप में समझ लेना। यहां प्रत्येक कर्म प्रकृति के अलग-अलग विशेष हेतु रूप आश्रव का चिन्तन योग शास्त्र के आन्तर श्लोक अथवा कर्म ग्रन्थादि शास्त्रों से जान लेना।

८. संवर भावना का स्वरूप

सर्वेषामास्त्रवाणां तु निरोधः संवरः स्मृतः ।
स पुनर्भिद्यते द्वेधा, द्रव्यभाव विभेदतः ॥७६॥

यः कर्म पुद्गला दानच्छेदः स द्रव्य संवरः ।
भव हेतु किया त्यागः स पुनर्भाव संवरः ॥८०॥

येन येन ह्युपायेन, रुध्यते यो य आश्रवः ।
तस्स तस्स निरोधाय, स स योज्यो मनीषिभिः ॥८१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षमया मृदु भावेन, ऋजुत्वेनाऽप्यनीहया ।
क्रोध मान तथा माया, लोभं रुन्ध्याद् यथा क्रमम् ।।८२।।

असंयम कृतोत्सेकान्, विषयान् विषसन्निभान् ।
निरा कुर्याद खण्डेन, संयमेन महामतिः ।।८३।।

तिसृभि गुप्तिभिर्योगान्, प्रमादं चाप्रमादतः ।
सावध योग हानेनापि रतिं, चापि साधयेत् ।।८४।।

सद्दर्शनेन मिथ्यात्वं शुभस्थैर्येण चेतसा ।
विजयेतार्त्त रौद्रे च संव रार्थ कृतोद्यमः ।।८५।।

अर्थात् - "पूर्वोक्त सभी आश्रवों को रोकना संवर कहलाता है । यह तो अयोगी केवलियों में ही होता है । यह कथन सर्व संवर की अपेक्षा से है । एक दो, तीन, आदि आश्रवों को रोकना देश संवर कहलाता है । सर्व संवर अयोगी केवली नामक चौदहवें गुण स्थानक में होता है । सर्व संवर और देश संवर दोनों के द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो दो भेद होते हैं । (७९)॥ दो भेदों के सम्बन्ध में कहते हैं - आश्रव द्वारा कर्म पुद्गलों के आगमन का निरोध करना द्रव्य संवर है और संसार की कारणभूत क्रियाओं - योग व्यापार का त्याग करना भाव संवर है ।' ॥ (८०)॥ अब विरोधी उपाय की महत्ता बताते हैं - जो-जो आश्रव जिस-जिस उपाय से रोका जा सकता है, उसे रोकने के लिए विवेकी पुरुष उस-उस उपाय को काम में लाए । (८१) ॥ आश्रव के निरोधी उपाय बताते हैं - संयम प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाला योगी क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को और संतोष से लोभ को रोके । (८२)॥ अब विषयों का संवर कहते हैं - इन्द्रियों पर असंयम से प्रबल बने हुए विष तुल्य विषयों को महा बुद्धिमान मुनि अखंड संयम से रोके अर्थात् विषय सुख भोगते समय मधुर लगता है, लेकिन परिणाम में विष के समान होता है अतः स्पर्शादि विषयों में उन्मत्त बनी हुई इन्द्रियों की सामर्थ्य को अखण्ड संयम से रोका जा सकता है । (८३) ॥ प्रमाद अविरति के प्रतिपक्ष को कहते हैं - मन, वचन और काया के योग व्यापार को मन, वचन, काया की रक्षा रूप तीन गुप्तियों द्वारा, मद्यपान, विषय-सेवन, कषाय, निद्रा, विकथा रूप पांच प्रकार के, अथवा अज्ञान, संशय, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म में अनादर, योगों की दुष्प्रवृत्ति रूप आठ प्रकार के प्रमाद के प्रतिपक्षी अप्रमाद को सिद्ध करे और सावध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(पाप) व्यापार वाले योग को त्याग कर अविरति को विरति से सिद्ध करे। (८४)॥ अब मिथ्यात्व एवं आर्त्त- रौद्र ध्यान के प्रतिपक्षी कहते हैं - सम्यग् दर्शन से मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करे, धर्म ध्यान-शुक्ल ध्यान रूप चित्त की स्थिरता से आर्त्त रौद्र ध्यान पर विजय प्राप्त करे। वह कौन करे ? संवर के लिए उद्यम करने वाले योगी करें। (८५)''

जिस घर के चारों तरफ राजमार्ग हो और बहुत से दरवाजे हों, और वे बंद नहीं किए गए हों तो उनमें धूल अवश्य घुसती है और यदि अन्दर की दीवार, खिड़की या दरवाजे पर तेल लगा हो, वे चिकने हो तो धूल उन पर अच्छी तरह चिपक कर उनके साथ एक रूप हो जाती है, परन्तु दरवाजे बन्द रखे हों तो धूल अन्दर प्रवेश नहीं कर सकती। तालाब में पानी आने के सभी रास्ते खोल दिये जायं तो पानी तेजी से घुस जाता है, वे अगर बन्द कर दिये जायं तो जरा भी पानी उसमें नहीं आ सकता। जैसे नौका में छिद्र हो जाय तो उसमें पानी भर जाता है किन्तु छिद्र बंद कर दिया जाए तो उसमें जरा भी पानी प्रवेश नहीं कर सकता है, वैसे ही आश्रव द्वार रूप त्रियोगों को चारों तरफ से रोक दिया जाए तो संवर स्वरूप आत्मा में कर्म द्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता। कहने का मतलब यह है कि संवर करने से आश्रव द्वार का निरोध होता है और क्षमा आदि भेद से संवर अनेक प्रकार का है। जिसका संवर किया हो उसे उस संवर के नाम से प्रतिपादित किया जाता है। फिर जिस गुण स्थानक में जो जो संवर होता है उसे उसी संवर के नाम से पुकारा जाता है जैसे मिथ्यात्व का अनुदय हो तो उस गुण स्थानक में मिथ्यात्व संवर करना। इस तरह आश्रव निरोध के कारण रूप संवर का विस्तृत वर्णन किया। अतः भावना गुण समुदाय में शिरोमणि संवर भावना का भव्य जीव चिन्तन करे।

६. निर्जरा भावना का स्वरूप -

संसार बीज भूतानां, कर्मणां जरणा दिह ।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा, सकामा काम वर्जिता ॥८६॥

ज्ञेया सकामा यथि नाम् अकामात्वन्य देहिनाम् ।
पाकः स्वत् उपायाच्च कर्मणां स्याद्यथाऽऽम्रवत् ॥८७॥

अर्थात् - ''चार गति में भ्रमण रूप संसार के बीज रूप कर्मों के आत्म प्रदेश से अलग हो जाने को निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा दो प्रकार की होती है- सकाम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निर्जरा और अकाम निर्जरा। (८६) ॥ संयमी पुरुषों की निर्जरा सकाम होती है और उनके अतिरिक्त जितने भी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव हैं, उनकी निर्जरा अकाम है। जैसे फल दो प्रकार से पकता है- एक तो उपाय से, दूसरे स्वत: ही पेड़ पर, वैसे ही जिसमें कर्मों को तप आदि उपायों से शीघ्र भोग कर क्षय किया जाता है वह सकाम निर्जरा और जिसमें समय पर कर्म स्वत: उदय में आकर अनिच्छा से जबरन भोगे जाते हैं तब क्षय होते हैं, वह अकाम निर्जरा है। (८७)॥"

मेरे कर्मों की निर्जरा हो- इस अभिप्राय से जो संयमी पुरुष कर्म क्षय करने के लिए तपस्या करते हैं, उन्हें उस तपस्या से इहलौकिक या पारलौकिक सुख की इच्छा नहीं होती- वही सकाम निर्जरा है। संयमी के अतिरिक्त एकेन्द्रिय आदि जीवों को कर्म क्षय रूप फल से निरपेक्ष जो निर्जरा है- वह अकाम निर्जरा है वह। इस प्रकार- पृथ्वी काय से वनस्पति काय तक एकेन्द्रिय जीव सर्दी, गर्मी, वर्षा, जल, अग्नि, शस्त्र आदि के घाव, छेदन, भेदन आदि के कारण अशाता वेदनीय कर्म का अनुभव करते हैं, इससे नीरस कर्म अपने आत्म प्रदेश से अलग हो जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीव भूख, प्यास, ठंड, गरमी आदि के रूप में तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंच छेदन, भेदन, अग्नि, शस्त्र आदि के रूप में दु:ख कर्म भोगते हैं। नरक में तीन प्रकार की भयंकर वेदना भोगते हैं। यही हाल असंयमी मनुष्यों का है। वे परवश होकर भोगते कर्मों की अकाम निर्जरा करते हैं। इस तरह कर्मों की निर्जरा दो प्रकार से होती है। तप, संयम आदि गुणों से निर्जरा बढती हुई ममता से बंधन हुए कर्मों के फलरूप संसार का नाश करती है। इसलिए ऐसी निर्जरा भावना का चिन्तन करना चाहिए। अब सकाम निर्जरा के हेतु दृष्टान्त द्वारा स्पष्टत: समझाते हैं कि -

स दोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा ।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुद्धयति ॥८८॥

अर्थात् - "जैसे सदोष-मैल सहित सोना प्रदीप्त आग में तपाने से शुद्ध हो जाता है, वैसे ही अशुभ कर्म दोष से युक्त जीव भी तप रूपी अग्नि से तपने पर विशुद्ध हो जाता है।" अर्थात् - जिससे रस, रुधिर, मांस, चर्बी हड्डी, मज्जा और शुक्र आदि धातुएं एवं अशुभ कर्म तप करने भस्म हो जाएं उसे निरुक्ति (व्युत्पति) के अनुसार तप कहा है। वही निर्जरा का हेतु है। इस तरह संचित कर्मों को आत्मा तपस्या से जला देता है। वह तप दो प्रकार का है वाह्य- और अभ्यंतर। उनके छ:- छ: भेद हैं, उसमें भावों का चिन्तन करना चाहिए। तप संवर करने वाला होने से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वह आते हुए नये कर्म पुंज को रोकता है और पुराने कर्मों की निर्जरा भी करता है। यदि संवर और निर्जरा इन दोनों से कर्मों को क्षय करने का कार्य जारी रहे तो उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त करके निर्मल बुद्धि आत्मा एक दिन सर्व कर्म क्षय रूप मोक्ष प्राप्त करता है । इस प्रकार समग्र कर्मों की विघा तक, संसार समुद्र पार करने के लिए सेतु बंध के समान, ममता के घात में कारणभूत निर्जरा भावना का चिन्तन करना चाहिए ।

१०. लोक स्वभाव भावना का स्वरूप –

वैशाख स्थान स्थित करि स्थक युगनरा कृति लोकः ।
भवति द्रव्यैः गुर्णः स्थित्युत्पत्ति व्ययाक्रान्तैः ॥

अर्थात् – "यह श्लोक योग शास्त्र से मिलता तथा प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में है । इसका अर्थ है– दोनों हाथ कमर पर रखे हों और वैशाल संस्थान से दोनों पैर फैलाए हुए हों, इस प्रकार खड़े हुए पुरुष की आकृति के समान चौदह राज प्रमाण लोकाकाश क्षेत्र की आकृति का चिन्तन करना चाहिए । वह स्थिति, उत्पत्ति और व्यय रूप द्रव्यों से परिपूर्ण क्षेत्र है । स्थिति का अर्थ है ध्रुवता, स्थायी रूप से टिके रहना, कायम रहना । उत्पत्ति का अर्थ है उत्पन्न होना और व्यय का अर्थ नष्ट होना है । उसे भी जिनेश्वर ने उर्ध्व, अधो और तिर्यक– इस तरह तीन लोक से समझाया है। उसमें रुचक प्रदेश की अपेक्षा से मेरु पर्वत के समान गोस्तनाकार चार आकाश प्रदेश हैं । नीचे के भाग में उसी के अपरिभाग में भी उसी तरह दूसरे चार रुचक प्रदेश हैं । इसी तरह आठ रुचक प्रदेश के नीचे उच्च आकाश प्रदेश हैं। इससे ही दिशा और विदिशा की उत्पत्ति हुई है । उन रुचक प्रदेशों के नीचे और ऊपर नौ–नौ सौ योजन तक तिरछा लोक है । इसकी मोटाई अठारह सौ योजन प्रमाण है । तिरछे लोक के नीचे नौ सौ योजन छोड़ने के बाद लोक का अन्तिम भाग है । तिरछा लोक अनेक विचित्र जाति के पदार्थों से भरे हुए हैं । तिरछे लोक के ऊपर सात राज प्रमाण ऊर्ध्व लोक है और नीचे की सात राज प्रमाण अधो लोक है । उसमें रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा, बालुका प्रभा,पंक प्रभा, धूम प्रभा, तमः प्रभा और महातमः प्रभा– ये यथार्थ नाम वाली सात नरक भूमियां हैं उनके नीचे और आस–पास चारों ओर गोलाकर घिरा हुआ महाबलशाली घनोदधि (जमा हुआ ठोस धन समुद्र), फिर धन वात (जमी हुई ठोस वायु है) तदनन्तर तनु वात (पतली हवा) है जो पृथ्वी को धारण करने में समर्थ है । वहां नरक गति में रहे नरकी जीव प्यास, भूख, वध, प्रहार, शरीर को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फाड़ना, चीरना तथा काटना आदि नाना प्रकार के कष्ट हमेशा भोगता है। उसमें तिरछे लोक से प्रथम रत्न प्रभा की पृथ्वी में एक लाख अस्सी हजार योजन ऊंचाई अथवा मोटाई है। उसके ऊपर और नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर बीच में एक लाख ७८ हजार योजन के अन्दर भवन पति देवों के भवन (मकान) होते हैं, ऐसा जिनेश्वर भगवान ने कहा है। वे क्रमशः असुर, नाग, विद्युत, सुपर्ण, अग्नि, वायु, स्तनित, उदधि, द्वीप और दिक्कुमार नाम वाले हैं। उन भवनपति देवों के दक्षिणा दिशा और उत्तर दिशा में व्यवस्थित रूप से दो दो इन्द्र होते हैं। असुर कुमार देवों के चमरेन्द्र और बलीन्द्र नामक दो इन्द्र होते हैं। नाग कुमार देवों के धरणेन्द्र और भूतानंद इन्द्र होते हैं। विद्युत कुमार देवों के हरि और हरिसह नामक दो इन्द्र होते हैं। सुपर्ण कुमार देवों के वेणु देव और वेणु दालि नामक दो इन्द्र हैं। अग्नि कुमार देवों के अग्नि शिख और अग्नि माणव नामक इन्द्र हैं। वायु कुमार देवों के इन्द्र वेलंब और प्रमंजन हैं। स्तनित कुमार देवों के इन्द्र सुघोष और महाघोष हैं। उदधि कुमार देवों के इन्द्र जलकान्त और जलप्रभ हैं। द्वीप कुमार देवों के इन्द्र पूर्ण और वशिष्ठ हैं। दिक् कुमार देवों के इन्द्र अमित और अमित वाहन हैं। इस तरह दक्षिण-उत्तर दिशा में नौ निकाय के १८ इन्द्र मिलाकर कुल बीस भवनपति इन्द्र समझना। इसी रत्न प्रभा पृथ्वी के ऊपर एक हजार योजन में ऊपर नीचे के सौ सौ योजन छोड़कर, बीच में आठ सौ योजन में आठ प्रकार के 'पिशाच' आदि दक्षिण-उत्तर में बलवान वनचर व्यंतर निकाय देवों का नगर है। उनके नाम क्रमशः पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गंधर्व हैं। ज्ञानियों ने दक्षिण-उत्तर विभाग में दो दो इन्द्रों की व्यवस्था की है। वह इस प्रकार- पिशाचों के काल और महाकाल, भूतों के सुरूप और प्रतिरूप, यक्षों के पूर्ण भद्र और मणिभद्र, राक्षसों के भीम और महाभीम, किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुष के सत्पुरुष और महापुरुष, महोरग के अतिकाय और महाकाय तथा गन्धर्वों के गीतरति और गीतयथा नामक इन्द्र हैं। उसी रत्नप्रभा में भ्रमण सौ यौजन के नीचे और ऊपर के दस दस योजन छोड़कर बीच में अस्सी योजन में अप्रप्तिका - अणपन्नी, पण पन्नी आदि उतने ही दक्षिण और उत्तर दिशा में व्यवस्थित बने हुए, अल्प ऋद्धि वाले आठ वनचर निकाय -वाण व्यंतर निकाय देव हैं। यहाँ भी सुन्दर कान्ति वाले प्रत्येक निकाय में दो दो इन्द्र हैं, इस तरह बुद्धिमान को जानना चाहिये इस व्यंतर और वाण व्यंतर को नीचे नौ सौ योजन में रहने से तिरछे लोक में और भवनपति देवों को एक हजार योजन से नीचे होने से अधोलोक में गिना जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब शेष तिरछे लोक का वर्णन करते हैं- यह एक लाख योजन ऊँचा सुवर्णमय पिंड वाला और इस लोक के ठीक मध्य भाग में मेरू नामक पर्वत है। अन्य द्वीपों से इसकी विशेषता यह है कि इस जम्बूद्वीप में भरत आदि सात क्षेत्र हैं और उस प्रत्येक क्षेत्र के बीच में उसकी सीमा में हिमवान आदि छह पर्वत हैं। उसके ऊपर शाश्वत श्री जिन मंदिर है। इस तरह लाख योजन चौड़े जम्बू द्वीप के बाद गोलाकार चारों तरफ इससे दुगुना विस्तृत दो लाख योजन चौड़ा लवण नामक समुद्र है, फिर उससे दुगुना विस्तृत चौड़ा गोलाकार धात की खंड, फिर उतना ही कालोदधि आदि एक द्वीप, फिर एक समुद्र- इस तरह आखिर में स्वयंभूरमण नाम के समुद्र तक क्रमशः असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। उनमें से चार समुद्र भिन्न-भिन्न एक-एक रसवाले, तीन पानी के स्वाद वाले और शेष सब समुद्र गन्ने के रस समान पानी वाले कहे हैं। उनमें उत्तम जाति के द्रव्यों से बनी सुन्दर मदिरा के स्वाद जैसा पानी '(वारूणीवर) नामक समुद्र में है। अच्छी तरह उबाले हुए और खांड आदि द्रव्यों से स्वादिष्ट बने दूध के समान स्वाद वाला पानी 'क्षीरोदधि' समुद्र में है। अच्छी तरह गरम किए ताजा गाय के घी के स्वाद तुल्य पानी 'घृतवट' समुद्र में है और लवण समान खारे पानी से भरा 'लवण समुद्र' है। शेष 'कालोदधि, पुष्करवर, और स्वयं=भूरमण-इन तीनों में वर्षा के पानी के समान स्वाद वाला पानी है, किन्तु कालोदधि का पानी वर्ण में काला और भारी है। पुष्करवर का पानी फायदा कारक, हलका और स्वच्छ स्फटिक समान निर्मल है तथा स्वयंभूरमण समुद्र का पानी भी पुष्करवर के समान है। श्री जिनेश्वर ने शेष समुद्रों का पानी दाल चीनी, तमाल पत्र, इलायची और नाग केसर- ये चार सुजात द्रव्य डालकर उबालकर दो भाग जल गया हो फिर तीसरा भाग शेष रहे, ऐसा उबाले गन्ने के रस स्वाद समान स्वादिष्ट कहा है।

इस पृथ्वी समतल भूमि प्रदेश से ७९० योजन ऊपर जाने पर ज्योतिष्क देवों का प्रदेश है। उसके ऊपर दस योजन जाते सूर्य आता है उससे आगे अस्सी योजन पर चन्द्र है। उसके ऊपर बीस योजन में तारा और ग्रह हैं। इस तरह कुल ज्योति लोक एक सौ दस योजन मोटाई वाला है। इसलिए वह भी तिरछा लोक गिना जाता है। इस जम्बू द्वीप में दो चन्द्र और दो सूर्य भ्रमण करते हैं। लवण समुद्र में चार चन्द्र और चार सूर्य परिभ्रमण करते हैं। धातकी खण्ड में बाहर चन्द्र और बारह सूर्य हैं। कालोदधि समुद्र में ४२ चन्द्र और ४२ सूर्य हैं। पुष्करवरार्ध में ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य हैं। इस तरह मृत्युलोक-अढ़ाई द्वीप में कुल १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ये विमान ४५ लाख योजन प्रमाण वाले मनुष्य लोक में होते हैं। उसके बाद पचास पचास हजार योजन के बाद अन्तर में चन्द्र और सूर्य स्थिर रहते हैं। मनुष्य क्षेत्र से बाहर के चन्द्र सूर्य मनुष्य क्षेत्रान्तर्गत चन्द्र सूर्य के प्रमाण से आधे मान वाले हैं और जैसे-जैसे द्वीप समुद्र की परिधि-चौड़ाई के योग से वढ़ती जाय वैसे-वैसे संख्या में बढ़ते जाते हैं। अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र तक असंख्यात चन्द्र और सूर्य हैं। वे घंटे की आकृति के समान शुभ और मन्द तेज वाले सभी अत्यन्त स्थिर रहते हैं।

उसमें सम भूतल से डेढ़ राज लोक ऊपर दक्षिण उत्तर में बहुत ही संपत्ति-ऋद्धि वाले १-सौधर्म और २-ईशान नामक कल्प में वैमानिक देव लोक है। सम भूतल से अढ़ाई राज ऊँचे दक्षिण-उत्तर दिशा में समान माप वाला ३-सनत्कुमार और ४- महेन्द्र नामक दो सुन्दर देवलोक हैं। सम भूतल से साढ़े तीन राज ऊपर ऊर्ध्व लोक के मध्य में ५-ब्रह्म लोक है, वहां से आधा राज ऊपर ६-लांतक और उससे आधा राज ऊपर ७-महाशुक्र नामक देव लोक हैं। सम भूतल से पांच राज ऊँचा ८-सहसार और वहां से आधा राज ऊपर चन्द्र के समान गोलाकार ९-छह अणत और १०-प्राणत नामक देव लोक हैं इन दोनों का इन्द्र एक ही है। छः राज ऊँचा एक ही इन्द्र के अधिकार वाले ११-आरण और १२- अच्युत नाम के दो देवलोक चन्द्र के समान गोलाकार हैं। इस तरह कुल कल्प बारह कहे हैं। इन बारह कल्प के ऊपर एक राज में- तीन नीचे, तीन मध्य के और तीन ऊपर- इस तरह क्रमशः एक के ऊपर एक कुल, नौ ग्रैवयक-कल्पातीत अहमिन्द्र देवों के स्थान हैं। उसके ऊपर पांच अणुत्तर-अन्तिम श्रेष्ठतम विमान हैं। उनका अनुक्रम पूर्व में विजय, दक्षिण में वैजयन्त, पश्चिम में जयन्त, उत्तर में अपराजित और मध्य में सर्व से उत्तम सर्वार्थ सिद्ध नामक विमान कहा है। क्रमशः सौधर्म से लेकर सर्वार्थ सिद्ध विमान वासी देवों का आयुष्य प्रभाव, लेश्या, अवधि, ज्ञान की विशुद्धि, देह कान्ति और सुख आदि उत्तरोत्तर अधिक होता है, और क्रमशः ऊपर के ऊपर देवों का शरीर मान, गति शीघ्रता तथा गर्व, परिग्रह आदि क्रमशः हीनतर होते हैं। पहले दो कल्प के विमान धनोदधि के आधार पर, तीसरा चौथा पांचवा धनवात (वायु) के आधार पर, उससे ऊपर तीन देव लोक वायु और धनोदधि के आधार पर और उससे ऊपर प्रत्येक देव लोक के विमान केवल आकाश में निराधार रहते हैं। ये ऊर्ध्व लोक के विमानों के आधार पर रहे हैं। सर्वार्थ सिद्ध विमान से बारह योजन ऊँची हिम समान उज्जवल, ४५ लाख योजन लम्बी चौड़ी (मनुष्य लोक के समान गोल), मध्य में आठ योजन मोटी और अन्त में मक्खी के पंख समान सूक्ष्म, शुद्ध स्फटिक की निर्मल 'इषत् पाग् भार'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नामक जैन शास्त्र प्रसिद्ध शिद्ध शिला है। उसके ऊपर तीन कोस बाद चौथे कोस के आखिरी विभाग में सर्व रोग रहित सिद्धों की आत्मा रहती है। वे सिद्ध सदा अनन्त विज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन वाले, शाश्वत और लोक के ऊपर अन्तिम विभाग को स्पर्श कर परस्पर अवग्रह करके रहते हैं। इस प्रकार लोक स्वरूप का चिन्तन करते हुए भव्य जीव का मन संसार के कारण भूत विषयों में जाता ही नहीं है। अन्यान्य पदार्थों के चिन्तन से प्रगट होते ज्ञान में मस्त बनकर धर्म ध्यान में अति स्थिर होता है।

११-बधि दुलर्भ भावना का स्वरूप–

अकाम निर्जरा रूपात्, पुण्याज्जन्तो प्रजायते ।
स्थावरत्वात्त्र सत्वं वा, तिर्यक्त्व वा कथञ्चन ॥१०७॥
मानुष्यमार्य देशश्च, जातिः सर्वक्षपाटवम् ।
आयुश्व प्राप्यते तत्र, कथंचित्कर्म लाघवात् ॥१०८॥
प्राप्तेषु पुण्यतः श्रद्धा-कथक श्रवणेष्वपि ।
तत्व निश्चय रूपं तद्, बोधि रत्नं सुदुर्लभम् ॥१०९॥

अर्थात्- "अनंत पुद्गल परावर्त तक निगोदादि योनियों में जन्म मरण आदि के महादु:खों को बिना इच्छा से सहन करने से अकाम निर्जरा होती है अर्थात् आत्म के साथ लगे हुए बहुत से कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह पुण्य प्रकृति रूप को आत्मा को कर्म बोझ से हलका होता है, इससे जीव एकेन्द्रिय जातीय स्थावर पर्याय को छोड़कर त्रस पर्याय पा लेता है या पंचेन्द्रिय-तिर्यंच हो जाता है। (१०७) ॥ उसके बाद विशेष प्रकार से कर्मों के हलके होने पर जीव को मनुष्य-पर्याय, आर्य देश तथा उत्तम जाति में जन्म, पांचों इन्द्रियों की परिपूर्णता एवं दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति होती है। (१०८) ॥ उससे भी विशेष पुण्य के योग से अर्थात् शुभ कर्म के उदय से धर्माभिलाषा रूप श्रद्धा धर्मोपदेशक गुरु महाराज और उनके वचन श्रवण करने की प्राप्ति होती है। परन्तु यह सब कुछ होने पर भी तत्व-निश्चय रूप देव, गुरु और धर्म के प्रति दृढ़ अनुराग, तद्रूप बोधि-सम्यकत्व रत्न की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। (१०९)॥"

इस विषय के आंतर श्लोकों का भावार्थ कहते हैं-इस जैन शासन में चक्रवर्ती, इन्द्र पद आदि होना दुर्लभ नहीं कहा, किन्तु बोधि-मोक्ष वृक्ष के बीज सम्यकत्व रत्न की प्राप्ति करना अत्यन्त दुर्लभ बताया है। सभी जीवों ने जगत् के सभी भाव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पहले अनंत बार प्राप्त किए हैं परन्तु बोधि रत्न कभी प्राप्त नहीं किया, क्योंकि उनका भवभ्रमण चालू रहा । अनंतानंत पुद्गल परावर्तन काल बीत जाने के बाद जब अर्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहता है, जब संसार के सभी शरीर धारी जीवों के सर्व कर्मों की अंत कोटा कोटी स्थिति रह जाती है, तब कोई जीव ग्रन्थि का भेदन कर उत्तम बोधि की प्राप्ति करता है । कितने ही जीव यथा प्रवत्तिकरण करके ग्रन्थि के निकट प्रदेश में आते हैं, परन्तु बोधि रत्न की प्राप्ति किये बिना ही वापिस चले जाते हैं । कितने ही जीव बोधि-रत्न की प्राप्ति करते हुए वापिस गिर जाते हैं और फिर संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं । बोधि रत्न प्राप्ति के बिना चक्रवर्ती भी रंक के समान है और बोधिरत्न प्राप्त करने वाला रंक चक्रवर्ती से बढ़कर है । सम्य कत्व वाला जीव संसार में कदापि अनुराग नहीं करता । जिसने भी पहले मुक्ति पद को प्राप्त किया है और जो आगे प्राप्त करेंगे और वर्तमान काल में भी जो प्राप्त कर रहे हैं, वह सब अनुपम प्रभाव और वैभव स्वरूप बोधि रत्न का प्रभाव है । इसलिए इस बोधि रत्न की उपासना करो, इसी का श्रवण करो एवं आत्मिक सुख प्राप्त करो ।

१२- धर्म स्वाख्यातता भावना का स्वरूप-

स्वाख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जनोत्तमैः ।
यं समालम्ब मानो हि, न मज्जेद् भव सागरे ॥६२॥

संयमः सूनृतं शौचं, ब्रह्माकिंचनता तपः ।
क्षान्तिर्मार्दव मृजुता मुक्तिश्च दसधा स तु ॥६३॥

अर्थात्- "जिनोत्तम भगवन्तों ने इस धर्म का भली भांति प्रतिपादन किया है, उसका आलम्ब लेने वाला आत्मा निश्चय से संसार सागर में नहीं डूबता । (६२) ॥ इस कथन की सुन्दरता होने के कारण ये हैं-उन्होंने १-संयम, २-सत्य, ३-शौच, ४-ब्रह्मचर्य, ५-अकिंचनता, ६-तप, ७-क्षमा, ८-मृदुता ६-सरलता और १०-निर्लोभता- इस तरह दस प्रकार का धर्म कहा है । (६३)॥"

यहां यह भाव है कि संयम आदि दस प्रकार का सुन्दर धर्म श्री जिनेश्वर भगवन्त के कहने से वे सुन्दर धर्म कहने वाले हैं । उनके द्वारा कहा हुआ दस विध धर्म गुण स्वरूप और आत्मा को उत्तम गुणों की प्राप्ति कराने वाला है, इत्यादि धर्म की स्तुति करने से उसके प्ररूपक श्री अरिहंत भगवन्तों की विशिष्टता का ज्ञान होता है, उनका शुद्ध परिचय होता है और ऐसे उत्तम धर्म करने वाले होने से वे वास्तविक अरिहंत हैं- ऐसा दृढ़ सद्भाव आत्मा में प्रगट होता है, यही इस भावना का महान्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फल है। इस तरह दस प्रकार के यति धर्म अन्य दर्शनकार ने न देखा-माना है और यदि किसी ने कभी कहा है तो केवल वाणी से वर्णन किया है, आचरण से आचरित करके नहीं कहा है। किसी भी तत्व का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति की वाणी से होता है, किसी के मन में भी होता है परन्तु जो उसे आचरण में लाकर क्रियान्वित करता हो उसे समझना कि वह जैन धर्म का आराधक है । वेद शास्त्र के सूत्रों को कण्ठस्थ करने वाले तत्व से धर्म को लेश मात्र भी नहीं जानते । गोमेध, अश्वमेध आदि विभिन्न प्राणि वध मूलक यज्ञ करने वाले एवं प्राणि घात करने-कराने वाले याज्ञिक में धर्म कैसे हो सकता है ? अश्रद्धेय, असत्य एवं परस्पर विरोधी वस्तु का प्रलाप करने वाले पुराण और उनके रचयिता पौराणिक का यह कौन सा धर्म है ? रात दिन मुंह साफ करके खाने वाले, किन्तु भक्ष्य अभक्ष्य के विवेक से रहित बौद्ध धर्मियों का तप धर्म ही कहां है ? 'कोमल शय्या पर सोना, प्रातः काल मधुर रस का पान करना, दोपहर को भोजन करना, शाम को ठंडा पानी पीना और आधी रात को किशमिश और शक्कर खाना चाहिए' इस प्रकार इच्छानुसार खाने पीने में ही बौद्ध ने सुन्दर धर्म बताया है । जरा से अपराध पर क्षण भर में शाप देने वाले लौकिक ऋषियों में क्षमा धर्म का जरा भी अंश नहीं होता । 'हमारी ब्राह्मण जाति ही सर्वोत्तम है' इस प्रकार के जाति मद में मत्त, दुर्व्यवहार वाले एवं इसी प्रकार के चित्त वाले, चार आश्रमों में रहने वाले ब्राह्मणों में मार्दव धर्म कहां से हो सकता है ? हृदय में दम्भ के परिणाम चल रहे हों और बाहर से बकवृत्ति धारण करने वाले पाखण्ड व्रत धारकों में सरलता का अंश मात्र भी कहां से हो सकता है? पत्नी, घर, पुत्रादि परिवार और सदैव परिग्रह में रचे-पचे लोभ के एक मात्र कुलगृह-ब्राह्मण में मुक्ति - निर्लोभता धर्म भी कैसे हो सकता है ? इस तरह सद्गति के विरोधी अन्य सारे धर्मों में सुन्दरता कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं होती । उनके शास्त्रों में भी कहीं-कहीं वचनों में दया-सत्य आदि का कथन मिलता है । उसे समझदार पुरुषों को केवल वचन विलाप समझना चाहिए क्योंकि तत्त्व से उनका कहा हुआ दया-सत्य आदि कुछ वास्तविक नहीं है । जीव को अतिशय उद्यम और मदोन्मत्त हाथियों की संपियों वाला साम्राज्य (राज्य) मिलता है, हर प्रकार का हर्ष होता है- ऐसा वैभव मिलता है । पूर्णिमा के चन्द्र समान निर्मल गुण प्राप्त होते हैं, और सर्वश्रेष्ठ असामान्य सौभाग्य खिलता है । वह सारा श्री जिन कथित धर्म की ही लीला है अर्थात् वह सारा श्री जिन कथित धर्म से ही मिलता है । पानी की महान तरंगों की परम्परा वाला समुद्र पृथ्वी को डुबा नहीं देता, बादल बरसात से सर्व पृथ्वी को तृप्त कर उपकार करता है और हमेशा अंधकार का नाश

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करने वाले चन्द्र सूर्य का जगत् में उदय होकर परोपकार करना– वह सारा श्री जिन कथित धर्म का प्रभाव निश्चय ही विजयी है। श्री अरिहंत परमात्मा ने धर्म को कहा है, इसलिए वह सत्य है– ऐसा समझकर बुद्धिमान मनुष्य सर्व संपत्ति कारक एवं सर्व दुःख निवारक धर्म में अत्यंत दृढ़ स्थिर होता है– यही भावना का फल है। अर्थात् जिन कथित धर्म का इस लोक और परलोक में जो फल मिलता है वह तो गौण फल है, उसका मुख्य फल तो सर्वसंपत्ति कारक मोक्ष है। किसान खेती करता है या अनाज बोता है, वह अनाज प्राप्ति हेतु रूप इच्छनीय है, लेकिन घास भूसा आदि बीच में मिल जाते हैं, वे तो आनुषंगिक फल हैं। इसी तरह धर्म का यर्थाथ फल तो अपवर्ग–मोक्ष है, सांसारिक फल तो आनुषंगिक है। इस तरह जिन कथित सुन्दर धर्म भावना का बार–बार ध्यान करने से ममत्व रूप विषयाधिकारों के दोषों से मुक्त बनकर साधक परम प्रकर्ष पद प्राप्त करता है।

इस प्रकार प्रत्येक धर्मानुष्ठान के प्राणभूत भाव धर्म की साधना के लिए यह बारह भावना अतीव उपकारी हैं, इसलिए इन बारह भावनाओं का हमेशा चिन्तन–ध्यान करना चाहिए।

बारह प्रतिमायें = प्रतिमा का अर्थ है–विशिष्ट साधना की प्रतिज्ञा, जिसमें साधु संकल्प पूर्वक भिन्न–भिन्न प्रकार के अभिग्रह रूप नियमों का दृढ़ता पूर्वक पालन करता है, ऐसा समझना। वह १. एक महीने की, २. दो महीने की, ३. तीन महीने की, ४. चार महीने की, ५. पांच महीने की, ६. छह महीने की, ७. सात महीने की, ८. पहले सात अहोरात्र की, ९. दूसरी बार सात अहोरात्र की, १०. तीसरी बार सात अहोरात्र की, ११. एक अहोरात्र की और १२. एक रात्रि की होती है। इस तरह बारह प्रतिमायें हैं। प्रतिमा पंचाशक में तीसरी गाथा तथा प्रवचन सारोद्धार गाथा ५७४ में कहा है कि–

मासाई संतता, पढ़मा विइ तइ अ सत्त राइदिण।
अइराइ एगराई भिक्खू पडिमाण बार संग ॥१८–३॥

अर्थात् – "एक महीने की आदि से सात महीने तक सात, फिर प्रथम दूसरे तीसरे में, सात–सात अहोरात की, एक अहोरात और एक रात की– इस तरह साधुओं की प्रतिमायें बारह होतीं हैं।"

इसका भावार्थ यह है – प्रतिमा अंगीकार करने की इच्छा करने वाला साधु पहले जिन कल्पिक साधु के समान गच्छ–समुदाय में रह कर ही प्रतिमा पालन की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सामर्थ्य के लिए पांच प्रकार की तुलना करे और इस तरह योग्यता प्राप्त कर प्रतिमा को अंगीकार करे। प्रवचन सारोद्धार ५७५-५७६ में तथा पंचाशक में कहा है कि-

पडिवज्जइ एयओ, संघयण धिइ जुओ महासतो ।
पडिमाउ भावि अप्पा, सम्मं गुरुणा अणुण्णाओ ॥१८-४॥

गच्छे च्चिय निम्माओ, ना पुव्वा दस भवे असंपुण्णा ।
एवमस्स तइअवत्थू, होइ जहण्णो सुयाहिगमो ॥१८-५॥

अर्थात् - "प्रथम के तीन संघयण वाला, चित्त की स्वस्थता या स्थिरता रूप धैर्य वाला, महा सात्त्विक और सद्भावना से वासित मन वाला अथवा प्रतिमा की क्रिया का अभ्यास करके योग्य बना हुआ मुनिवर शास्त्र विधि के अनुसार गुरु महाराज की आज्ञा प्राप्त कर यह प्रतिमाएं अंगीकार करे। (४) ॥ वह गच्छ-समुदाय में रहकर ही प्रतिमाओं के अभ्यास के लिए आहार, उपधि आदि के परिकर्म में पारगामी (कुशल-योग्य) बना हो। (५)॥ परिकर्म का प्रमाण इस तरह है - मासिक, द्वैमासिक आदि सात में से जिसको जितना काल मान हो उस उस प्रतिमा का परिकर्म भी उतने काल तक करना होता है। उसमें भी इन प्रतिमाओं का स्वीकार और उसका परिकर्म वर्षा काल में नहीं कर सकता। इस तरह परिकर्म के साथ में पहले दो में छह महीने लगते हैं, इसलिए पहली दो एक हो वर्ष में, तीसरी-चौथी एक वर्ष में और पांचवी-छट्ठी-सातवीं ये तीन-एक वर्ष परिकर्म और दूसरा वर्ष प्रतिमा पालन में इस तरह दो-दो वर्ष में पूर्ण होती हैं। इस तरह करने से कुल नौ वर्ष में पहली सात प्रतिमायें पूर्ण होती हैं। ये प्रतिमायें स्वीकार करने वाले उत्कृष्ट से दस पूर्व धर से कम और जघन्य से नौवें प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तक के श्रुत ज्ञान वाला-पढ़ा हुआ हो, वही प्रतिज्ञा को धारण कर सकता है। इससे कम ज्ञान वाले को काल आदि ज्ञान नहीं हो सकता। इससे सम्पूर्ण दस पूर्वधर का वचन अमोघ होने से संघ का विशेष उपकार होते रूके इत्यादि शासन प्रभावना रूप लाभ का कारण होने से उनको प्रतिमादि स्वीकार करने का निषेध है, इससे वे प्रतिमा नहीं स्वीकार सकते। और भी प्रवचन सारोद्धार गथा ५७ में तथा प्रतिमा पंचाशक में कहा है कि-

वोसट्ठ चत्तदेहो, उवसग्ग सहो जहेव जिण कल्पी ।
एसण अभिग्गहीआ, भंते च अलेवयं तस्स ॥१-६॥

अर्थात् - "प्रतिमा धारी साधु ममता जन्य शरीर का परिकर्म छोड़ने से शरीर की परिचर्या का त्यागी और जिन कल्पी के समान दैवी आदि उपसर्गों को सहन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करने में समर्थ हो। एक दिन में संसृष्टा आदि जो पूर्व में कही हैं उन सात एषणाओं में अन्तिम पांच में से एक एषणा से आहार और एक से पानी लेने वाला, उसमें भी पूर्व कहे अनुसार अलेपकर आहार लेने वाला हो। प्रवचन सारोद्धार में ५७८ से ५८० तक एवं प्रतिमा पंचाशक में कहा है कि-

गच्छा विणिक्खमित्ता, पडिवज्जे मासिअं महापडिमं ।
दत्तेग भोयणस्सा, पाणस्सवि एग जा मासं ॥१८-७॥

पच्छा गच्छामईइ, एवं दुमासि तिमासि जा सत्त ।
णवरं दत्ति विवड्ढी, जा सत्त उ सत्त मासीए ॥१८॥

तत्तो य अट्ठमी खलु, हवइ इहं पढम सत्तराइंदी ।
तीए चउत्थ चउत्थेणऽपाणएणं अह विसेसो ॥१८-१४॥

अर्थात् - "गच्छ से निकलने के पहले एक महीने की महाप्रतिमा को स्वीकार करे। उसमें एक महीना पूर्ण होने तक प्रतिदिन आहार और पानी की एक-एक दत्ती ले। (७)॥ वह पूर्ण होने पर फिर गच्छ में आए। दूसरा परिकर्म करके दूसरी प्रतिमा स्वीकार करे। इस तरह द्वैमासिक, तीन मासिक से लेकर सात मासिक प्रतिमा को स्वीकार करे। केवल क्रमशः आगे प्रतिमा में एक-एक दत्ति आहार और पानी की बढ़ती है इस प्रकार सात मासिक प्रतिमाओं में आहार और पानी की सात सात दत्तियां ले सकता है। प्रत्येक प्रतिमा पूर्ण होने पर गच्छ में आकर उत्तर प्रतिमा का परिकर्म करके वापस उसे स्वीकार करे- इस क्रम से सातवीं प्रतिमा पूर्ण करे। (१३)॥ उसके बाद पहले सात अहोरात की आठवीं प्रतिमा स्वीकार करे। उसमें चौथ भक्त (एकान्तर उपवास) का चउ विहार तप करे अर्थात् उपवास में पानी भी नहीं ले और पारणे में भी ठामचोविहार आयंबिल करे। इस आठवीं प्रतिमा में दत्ति का नियम नहीं है। आगे उसी शास्त्र के अनुसार कहते हैं कि-

उत्ताणग पासल्ली, णेसज्जी वावि ठाणगं ठाउं ।
सह उवसग्गे घोरे, दिव्वाई तत्थ अविकंपो ॥१८-१५॥

अर्थात् - "आठवीं प्रतिमा में ऊर्ध्व मुख अथवा करवट बिना सोये अथवा एक समान बैठे या खड़ा रहे- इस तरह दश श्रुत स्कन्ध के अभिप्राय से गांव नगर आदि के बाहर सोये, बैठे, खड़े रहकर देव, मनुष्य अथवा तिर्यंच के घोर उपसर्गों को, मन से और काया से चलायमान हुए बिना, निश्चल रूप में सहन करे।" आगे भी दोनों ग्रन्थों में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दोच्चावि एरिसच्चिय, बहिया गामाइयाणं णवरं तु ।
उक्कड लंगड साई, दंडाययओ त्व ठाऊणं ॥१८-१६॥

अर्थात् - "सात अहोरात की दूसरी (नौवीं) भी चौथ भक्त तप के पारणे में आयंबिल और गांव शहर आदि के बाहर इत्यादि आठवीं प्रतिमा के समान करे। इसमें इतनी विशेषता है कि- इस प्रतिमा में 'उत्कट' अर्थात् मस्तक और हाथ के आधार पर केवल, बीच में साथल से अधर-सहारे बिना रहकर अथवा 'लंगड़' अर्थात टेढ़े मेढ़े लक्कड़ के समान केवल पीठ के आधार पर, जिसमें मस्तक व पैर जमीन को स्पर्श न हों, इस तरह अथवा दंड के समान पैर लम्बे करके सो कर उपसर्गादि सहन करे।" आगे दोनों ग्रन्थों में कहा है कि-

तच्चाएवि एवं, णवरं ठाणं तु तस्स गो दोही ।
वीरासण महवा विहु ठाएज्जा अंब खुज्जो वा ॥१८-१७॥

अर्थात् - "तीसरी (दसवीं) प्रतिमा भी इन दोनों के समान ही है। केवल उस में बैठने का विधान गाय दूहने के समय जिस आसन से बैठा जाता है, दोनों पैरों की एड़ियां जब भूमि से उठा ली जाती हैं, केवल परों की उंगलियों के आधार पर बैठे हों उसे गो दोहिकासन कहते हैं। उससे अथवा वीरासन से अर्थात् सिंहासन के ऊपर पैर नीचे लटकते रखकर बैठकर सिंहासन ले लेने पर वैसे ही बैठे रहे अथवा आम के समान वक्र शरीर से बैठने का विधान है। इनमें से किसी भी आसन से इस प्रतिमा का वहन-पालन कर सकता है।" आगे उन्हीं दोनों ग्रन्थों के द्वारा कहते हैं-

एमेय अहो राई, छट्ठ भत्तं अपाणंगे नवरं ।
गाय नगराण बाहिं वायारिय पाणिए ठाणं ॥१८-१८॥

अर्थात् - "एक अहोरात की ११ वीं प्रतिमा भी ऐसी ही है। विशेष यह है कि - उसमें छट्ठ भक्त-दो उपवास के दो दिन, चार भोजन का और आगे पीछे पारणा-उत्तर पारणे में एकासना करने से उस दिन के एक-एक भोजन का, इस तरह कुल छह भोजन का पानी सहित त्याग किया जाता है। यह प्रतिमा एक अहोरात्र तक पालकर फिर दो उपवास करने का नियम होने से तीन दिन में पूर्ण होता है। आगे पीछे ठामचोविहार एकासना और बीच में चोविहार दो उपवास करके गांव नगर के बाहर काउस्सग्ग मुद्रा के समान हाथ लम्बे करके खड़े रहकर इसका पालन करना। कहा भी है कि-"**अहोराइआ तहि पच्छा छट्ठ करे इति**" अर्थात् अहोरात की प्रतिमा का पालन करके फिर उसमें छट्ठ का तप करे।" इसी तरह दोनों ग्रन्थों में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एमेव एगराई, अट्ठम भत्तेण ठाण वाहिरओ ।
ईसीपव्यारगयो, अणिमिसणयणेणदि ट्ठीए ॥१८-१६॥

अर्थात् - "इसी तरह एक रात्रि बारहवीं प्रतिमा में अट्ठम भक्त तप करना। गांव शहर के बाहर सिद्धशिला के सामने अनिमेष दृष्टि लगाकर खड़े-खड़े उसका पालन करना अथवा नदी आदि के किनारे इत्यादि विषम भूमि पर खड़े होकर किसी एक पुद्गल पदार्थ पर खुली दृष्टि से आंखों को स्थिर करना। उन्हें चलायमान अथवा आंखें बन्द नहीं करना।"

इस बारहवीं प्रतिमा में अवधि ज्ञान आदि तीनों में से कोई भी एक ज्ञान आत्मा में प्रगट होता है। रात में उस प्रतिमा का पालन करने के बाद तीन उपवास करने से चार दिन में वह पूर्ण होती है। कहा है कि - **"एगराइआ चउहि पच्छा अट्ठमं करे इति"** अर्थात् इसके बाद अट्ठम तप के लिए एक रात्रि की प्रतिमा चार दिन में पूर्ण होती है। इस तरह बारह पडिमा (प्रतिमा) का वर्णन किया।

पांच इन्द्रियों का निरोध - स्पर्शन, रसना, नाक, नेत्र और कान- इन पांचों इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से रोकना चाहिए। इन्द्रिय रूपी घोड़े को काबू में न करने पर वह चंचल एवं उन्मार्ग गामी बनकर जीव को जबरन खींचकर उन्मार्ग पर चढ़ा देता है। अत: उसके इष्ट विषय में राग और अनिष्ट विषय में द्वेष न करे। इनकी विजय से मन शान्त एवं स्थिर होता है।

पच्चीस प्रतिलेखना - वस्त्र पात्रादि की पच्चीस पडिलेहणा के लिए पूर्व में सुबह की प्रतिलेखना के अन्दर जैसा कहा है उसके अनुसार विधि करना तथा तीन गुप्तियों- गुप्ति अर्थात् आत्म-संयम- का रक्षण करना। मोक्षार्थी को मन-वचन-काया के योग का निग्रह करना चाहिए। गुप्ति तीन प्रकार की है, उसमें -

१. मनोगुप्ति - तीन प्रकार की है प्रथम - आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान में कारणभूत मन:कल्पनाओं की परम्परा का वियोग, दूसरा-धर्म ध्यान का कारण भूत शास्त्रानुसार परलोक में हितकर नारी मन का मध्यस्थ परिणति भाव, और तीसरा-मन के कुशल अकुशल सर्व विकल्प के त्याग पूर्वक चौदहवें गुण स्थानक में योग निरोध अवस्था पैदा करने वाली आत्म रमणता अर्थात् अध्यात्म भाव में मन को लीन करना। इसका वर्णन योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश में तीन विशेषता कही हैं कि-

विमुक्त कल्पना जालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ।
आत्मारामं मन स्तद् ज्ञैर्मनो गुप्तिरूदाहृता ॥४१॥

अर्थात् - "मन की कल्पना-जाल से मुक्ति, समभाव में स्थिरता और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आत्माराम के अनुभव (चिन्तन) में रमणता अर्थात् आत्म गुणों में रमण करना ही मनोनिग्रह के वास्तविक उपाय हैं, ऐसा मनोगुप्ति के ज्ञाता पुरुषों ने मनोगुप्ति के विषय में कहा है।'' इस तरह तीन प्रकार मन की मनोगुप्ति समझना।

२. वचन गुप्ति - दो प्रकार की है- प्रथम संज्ञा अर्थात् दूसरों को अभिप्राय सूचित करने के लिए मुख, नेत्र, भृकुटि चढ़ाने, अंगुली से बताकर या चुटकी बजाने की चेष्टा करना आदि शब्द से कंकड़ फेंकना, उच्च स्वर से खांसना, हुंकार शब्द प्रगट करना इत्यादि चेष्टाए भी संज्ञा के अन्तर्गत समझना। इन सब संज्ञाओं का त्याग करके, बोलने की क्रिया बन्द करके मौन धारण करना अथवा वाणी की प्रवृत्ति को रोकना या कम करना, वैसा अभिग्रह करना प्रथम वचन गुप्ति है। यदि मौनावलम्बी साधक संज्ञा आदि से अपना अभिप्राय सूचित करता है तो उसका मौन निष्फल हो जाता है। हाँ, यदि आगम-सूत्रादि की वाचना देनी हो, तद् सम्बन्धी शंका पूछनी हो अथवा शंका का उत्तर देना हो तो उसे वाग्गुप्ति में लोक अथवा आगम से विरोध नहीं आता। इसी तरह मुख पर वस्त्रिका रखकर बोलना, वाणी पर नियन्त्रण करना भी वाग्गुप्ति का दूसरा भेद कहा है। योगशास्त्र में भी कहा है कि-

संज्ञादि परिहारेण, यन्मौनस्यावलम्बनम् ।
वाग् वृत्तेः संवृतिर्वा या, वाग् गुप्तिरिहोच्यते ॥१-४२॥

अर्थात्- ''संज्ञादि अर्थात् शरीर के अंगों द्वारा इशारे आदि का त्याग करके सर्वथा मौन का आलम्बन करना अथवा वचन की प्रवृत्तियों का संवर करना (रोकना) या सम्यकत्व वचन की ही प्रवृत्ति करना वचन गुप्ति कहलाता है।''

इन दोनों प्रकारों से दूषित वाणी के सर्वथा निरोध का, दूषित वाणी से वागिन्द्रिय की रक्षा करने का अथवा मौन रखने का- इन तीनों रूपों का प्रतिपादन किया है। भाषा समिति-सम्यकत्व प्रकार से बोलना है और वाग्गुप्ति वाणी की दूषणों से सम्यक् प्रकार से रक्षा करना है, इस तरह वाग् गुप्ति और भाषा समिति में इतना सा भेद है। उपदेश पद में कहा है कि-

समिओ निअमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणंमि भायणिज्जो।
कुसल वइ मुईरं तो, जं वइ गुत्तो वि समिओ वि ॥६०५॥

अर्थात्- ''समिति वाला निश्चय ही गुप्ति वाला होता है, परन्तु गुप्ति वाला समिति वाला होता भी है और नहीं भी होता है। इस तरह उसमें यजना जानना, क्योंकि कुशल वाणी को बोलते समय साधक वाग्गुप्ति और भाषा समति दोनों से युक्त होता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है ।'' यह गाथा बृहत्कल्प भाष्य ४४५१ में तथा निशीथ भाष्य ३७ में आयी है ।

३. काया गुप्ति- दो प्रकार की हैं । एक सर्वथा काय चेष्टा का त्याग और दूसरा आगमानुसार चेष्टा का नियम । उसमें परीषह उपसर्ग आदि प्रसंग में अथवा उसके बिना भी काउस्सग्ग आदि से काया को निश्चल करना अथवा सर्व योगों के निरोध के समय काय चेष्टा का निरोध करना, वह प्रथम काया गुप्ति कहलाती है । आगम में रात को ही निद्रा काल बताया है । इस दृष्टि से साधु को मुख्यतया दिन में शयन करने का निषेध है । बीमारी, अशक्ति या विहार की थकावट अथवा वृद्धावस्था आदि के सिवाय दिन में सोना नहीं चाहिए । रात को भी पहर बीत जाने के बाद, गुरु महाराज के सो जाने पर, सीमित अर्थात् कद अनुसार मर्यादित जगह देखकर, जमीन को पूंज कर, संस्तारक-बिछाने का आसन और उत्तर पट्टा खोल और बिछाकर, काया का सिर से पैर तक-ऊपर से नीचे तक, मुखवस्त्रिका का प्रमार्जनिका एवं रजोहरण से प्रमार्जन कर, संथारा करने के लिए गुरु महाराज की आज्ञा लेकर, 'नमस्कार मन्त्र एवं सामायिक सूत्र' पढ़कर, दाहिने हाथ का तकिया बनाकर, पैरों को सिकोड़कर या मुर्गे के समान आकाश में पैर रखकर प्रमार्जन करके फिर भूमि पर रखे और करवट लेते समय मुख वस्त्रिका से शरीर प्रमार्जन करे, किन्तु दोनों समय अति तीव्र निद्रा से शयन न करे । जिस आसन या स्थान पर बैठने की इच्छा हो, पहले उसका चक्षु से निरीक्षण कर रजोहरण से प्रमार्जन करे । बाहर का रजोहरण सम्बन्धी निशिथिया बिछाकर बैठे, बैठने के बाद भी पैर लम्बे करने हों या सिकोड़ने हों तो पहले कहे अनुसार निरीक्षण व प्रमार्जन करे । चौमासे के काल में चटाई, दर्भासन या पट्टे पर उपर्युक्त समाचारी से बैठे । दण्डा आदि उपकरण का भी निरीक्षण करके प्रमार्जन करे । आवश्यक कार्य के लिए साधु को बाहर जाना हो तो आगे घूसर-प्रमाण प्रदेश में दृष्टि डालकर अप्रमाद-भाव से त्रस और स्थावर जीवों का रक्षण करते हुए धीमी गति से गमन करना प्रशस्त है। कायोत्सर्गस्थ खड़े हो या सहारा लेकर बैठने के संथारा को पहले नजर डालकर पडिलेखन और दण्डासन से प्रर्माजन करना चाहिए । इन सभी चेष्टाओं पर नियंत्रण रखना और स्वैच्छ चेष्टाओं का त्याग करना दूसरी प्रकार की कायागुप्ति है । योग शास्त्र में कहा है कि-

उपसर्ग प्रसंगेऽपि कायोत्सर्गजुषो मुनेः ।
स्थिरी भावः शरीरस्य काया गुप्ति निर्गद्यते ॥१-४३॥

शयनासन निक्षेप पादन चक्र मणेषु यः ।
स्थानेष् चेष्टा नियमः कायुगुप्तिस्तु साऽपरा ॥१-४४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''कायोत्सर्ग ध्यान में युक्त मुनि के द्वारा उपसर्ग के प्रसंग में शरीर को स्थिर या निश्चल रखना प्रथम कायगुप्ति कहलाता है । (४३) ॥ तथा सोना, बैठना, रखना, लेना और चलना आदि कार्यों की क्रियाओं या चेष्टाओं पर नियंत्रण रखना, स्वैच्छ प्रवृत्ति का त्याग करना, उसे दूसरी कायगुप्ति कहा है । (४४)॥''

अभिग्रह- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक चार प्रकार की प्रतिज्ञा करना। यह मन का एक निश्चय-प्रणिधान रूप है। मन का ऐसा प्रणिधान आत्मा में एक विशिष्ट शक्ति प्रगट करता है और इसके बल से दुष्कर कार्य सरल बन जाता है। अत: निश्चय जितना बलवान हो उतना वह कार्य जल्दी होता है। इसलिए अभिग्रह की दुष्कर आराधना करने में आत्मा को विशिष्ट प्रेरणा मिलती है, एवं मन को उस आराधना में उत्साही और स्थिरता के लिए अभिग्रह आलंबन भूत है ।

यह 'पिण्ड विशुद्धि' आदि भेद बताये हैं । उनका मोक्षार्थी 'साधुओं द्वारा पालन करना चरण-चारित्र का साधन होने से 'करण' कहा है और उसके भेद सत्तर होने से 'करण सित्तरी' नाम है । जो प्रसंग पर किया जाय वह 'करण' और हमेशा अनुष्ठान किया जाय वह 'चरण' है, इस तरह दोनों में भिन्नता है । करण सित्तरी में भी इसी तरह विवेक है-एषणा समिति में पिंड विशुद्धि आ जाती है, फिर भी करण सित्तरी के भेद में पिण्ड विशुद्धि की मुख्यता बताने के लिए उसे अलग से भी कहा है ।

इस तरह साधु के मूल गुण और उत्तर गुण कहे हैं । अब उसके उपरान्त अतिचार से उनका रक्षण करना यति धर्म कहा है । अर्थात् इन मूल गुणों का एवं उत्तर गुणों का, उनमें अतिचार न लगे- इस तरह पालन रक्षण करना, वह सापेक्ष यति धर्म है इस तरह वाक्य सम्बन्ध जोड़ना । अतिचार न लगे- वैसा पालन करने के लिए अतिचार का भी ज्ञान होना आवश्यक है । इससे उन्होंने ही कहा है कि- **'ते त्वमी'** अर्थात् वह अतिचार जो जिनेश्वर भगवन्त ने कहा है, उनके अनुसार कहा जायेगा । प्रत्येक व्रत के अतिचारों को अलग-अलग कहने की इच्छा से प्रथम व्रत के अतिचार के लिए कहते हैं कि-

आद्यव्रतेह्यतिचारा, एकाक्षिदिव पुष्मताम् ।
सघंट्ट परितापोपद्रावणाद्या: स्मृता जिनै: ॥११६॥

मूलार्थ- ''एकेन्द्रियादि जीवों का संघट्टा-स्पर्श करना, परिताप या उपद्रव आदि करना उसे श्री जिनेश्वर ने पहले व्रत का अतिचार कहा है ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याख्या- जिसकी केवल स्पर्शन रूप एक इन्द्रिय हो वह एकेन्द्रिय अर्थात् पृथ्वी, पानी आदि पांच स्थावर, आदि शब्द से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ऐसा शरीर जिनका है उन सब जीवों का 'संघट्ट' अर्थात् स्पर्श करना, 'परिताप' अर्थात् सर्व प्रकार से संताप-दु:ख देना और 'उपद्रव' अर्थात् अतिशय पीड़ा करना इत्यादि 'अहिंसा' नाम के पहले व्रत में जिनेश्वर ने अतिचार कहा है । ऐसा अर्थ करना । पंचवस्तुक में कहा है-

पढंममी एगिंदिय विगलिंदि पणिंदि आण जीवाणं ।
संघट्टण परिआंबण मोहद्दवणाईणि अइआरा ॥६५५॥

अर्थात्- ''एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों का स्पर्श, विशेष संताप तथा महापीड़ा आदि देना प्रथम व्रत में अतिचार कहा गया है ।'' अब दूसरे व्रत के अतिचार कहते हैं-

असौद्विधाऽणु स्थूलाभ्यां, तत्राद्यः प्रचलादितः ।
द्वितीयः क्रोध लोभादेर्मिथ्या भाषा द्वितीय के ॥१२०॥

मूलार्थ- ''दूसरे व्रत में अतिचार अणु-छोटे और स्थूल-बड़े इस तरह दो प्रकार के हैं, उसमें 'प्रचला' नाम की निद्रा आदि के योग से मिथ्या बोलना उसे छोटा और क्रोध-लोभादि के वश हो कर मिथ्या बोलना उसे बड़ा अतिचार बताया है ।''

व्याख्या- दूसरे मृषावाद विरमण व्रत में सूक्ष्म और बादर-दो अतिचार लगते हैं । उसमें 'प्रचला' नाम की निद्रा आदि के वश में नींद में ही झूठ बोलना- उससे सूक्ष्म अतिचार लगता है, जैसे-दिन में कोई बैठा सोता हो और उससे कहे-क्या सो रहा है ? ऐसा पूछने पर वह कहे कि मैं सोता नहीं हूँ तो इससे सूक्ष्म अतिचार लगता है । दूसरा क्रोध, लोभ, हंसी मखौल द्वारा झूठ बोलने से बादर (मोटा) अतिचार लगता है । बोलने वाले के परिणाम के भेद से सूक्ष्म बादर भेद जानना । पंच वस्तु में कहा है कि-

विइअम्मि मुसावाए सो सुहुमो वापरो उ नाभव्वो ।
पय लाइ होइ पठमो, कोहादभिभासणं विइओ ॥६५६॥

अर्थात्- ''दूसरे मृषावाद विरमण व्रत में सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के अतिचार लगते हैं । उसमें प्रचला आदि से पहला और क्रोध आदि के वश में होकर जो बोला जाता है वह दूसरा अतिचार है । '' अब तीसरे व्रत का अतिचार कहते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं कि-

एवं तृतीयंऽदत्तस्य, तृणादेर्ग्रहणादत्तुः ।
क्रोधादि भिर्बादरोऽन्यसचित्ताद्यपहारतः ॥१२१॥

मूलार्थ - ''इसी तरह तीसरे व्रत में भी बिना दी हुई तृण आदि वस्तु को लेने से सूक्ष्म अतिचार लगता है और क्रोध के वश में होकर दूसरे की सचित्तादि वस्तु का हरण करने से बादर अतिचार लगता है ।''

व्याख्या - तीसरे व्रत में दो प्रकार के अतिचार कहे हैं, उसमें किसी भी चीज को स्वामी के दिये बिना या उनकी आज्ञा बिना ग्रहण करने से अतिचार लगता है, उनमें तृण तो प्रसिद्ध है और आदि शब्द से मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, घास आदि, शौच का साधन, राख आदि समझना । वह तृणादि वस्तु अनजाने में ली जाय तो साधु को सूक्ष्म अतिचार लगता है और जान बूझ कर ले तो अनाचार लगता है । क्रोधादि कषायों से अन्य अर्थात् साधर्मिक, साधु, साध्वी, 'चरक' आदि विधर्मी साधु अथवा गृहस्थों की सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र- कोई भी वस्तु हरण करने के परिणाम (भावना) बनाने से दूसरा-बादर अतिचार लगता है एवं लेने से अनाचार लगता है । पंच वस्तुक में कहा है कि -

तइ अम्मि वि एमेव य, दुविहो खलु एस होइ विन्नेओ ।
तण डगल छार मल्लग, अविदिन्नं गिण्हओ पठमो ॥६५७॥

साहम्मि अन्न साहम्मि आण गिहि गाण कोह माई हिं ।
सचिंत्ता चित्ताई, अवहरओ होइ विइओ उ ॥६५८॥

अर्थात् - ''दूसरे व्रत के समान तीसरे व्रत में भी अतिचार सूक्ष्म और बादर- दो प्रकार के जानना । उसमें तृण, मिट्टी का टुकड़ा, राख, शराव आदि वस्तु दिये बिना अनजाने में लेने से पहला सूक्ष्म अतिचार है और साधर्मिक साधु, साध्वी तथा चरक आदि अन्य धर्मी साधुओं अथवा गृहस्थों की सचित्त अचित्त या मिश्र वस्तु क्रोधादि के वश में होकर हरण करने के परिणाम जागृत होने से दूसरा बादर अतिचार लगता है ।'' अब चौथे व्रत के अतिचार कहते है कि-

ब्रह्मव्रतेऽतिचारस्तु, कर कर्मादि को मतः ।
सम्यक्तदीय गुप्तीनां, तथा चाननुपालनम् ॥१२२॥

मूलार्थ - ''चौथे ब्रह्म व्रत में 'हस्त कर्म' आदि करने से तथा ब्रह्मचर्य की बाड़ों का सम्यग् रूप से पालन नहीं करने से अतिचार लगता है ।''

व्याख्या - 'ब्रह्म व्रत' अर्थात् मैथुन विरमण व्रत में तो 'हस्त कर्म' आदि करने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से तथा अध्यवसाय की विचित्रता से 'तदीय गुप्ति' अर्थात् भाव शुद्धि पूर्वक ब्रह्मचारी, जहां स्त्री आदि हो- ऐसे स्थान उपाश्रय आदि हों तो उनका त्याग करना चाहिए, इत्यादि नौ बाड़ों का पालन नहीं करता है तो उसे अतिचार कहा है। पंच वस्तु में कहा है कि -

मेहुन्नस्सऽइ आरो, कर कम्माईहि होइ नायव्वो ।
तग्गुत्तीणं च तहा, अणुपालणमो ण सम्मं तु ॥६५६॥

अर्थात् - "मैथुन विरमण व्रत में 'हस्त कर्म' आदि क्रिया करने से अतिचार लगता है और उसकी नौ बाड़ों का भावपूर्वक पालन नहीं करने से भी अतिचार लगता है।" अब पांचवें व्रत का अतिचार कहते हैं कि-

काकादि रक्षणं बाल ममत्वं पञ्चमेऽप्यणुः ।
द्रव्यादि ग्रहणं लोभात् स्थूलश्चाधिक धारणम् ॥१२३॥

मूलार्थ- "कौए आदि से आहारादि वस्तु का रक्षण करना, तथा बालक के ऊपर कुछ अल्प ममत्व रखना अथवा वस्त्र-पात्रादि भी आवश्यकता से अधिक रखना- उसे स्थूल अतिचार कहा है।"

व्याख्या- 'पांचवें परिग्रह विरमण व्रत में भी सूक्ष्म और बादर दो अतिचार कहे हैं। उसमें कौए आदि शब्द से कुत्ता, बिल्ली, गाय आदि से गृहस्थ-शय्यातरादि के आहारादि का रक्षण करना, वह खा न जाय- इस तरह प्रयत्न पूर्वक रखना-संभालना आदि, शय्यातरादि के प्रति ममत्व करना तथा कुछ अल्प बाल अर्थात् लघु-छोटे शिष्य अथवा गृहस्थ के बालक के प्रति ममत्व करना सूक्ष्म अतिचार है और लोभ के परिणम से 'सुवर्ण' आदि द्रव्य ग्रहण करना और वस्त्र-पात्रादि उपाधि भी शास्त्र में कही संख्या से और माप से अधिक रखना, संग्रह करना बादर अतिचार कहा गया है। उसमें इतना विवेक है कि-पुस्तक आदि ज्ञानादि के उपकरण अधिक रखने में दोष नहीं है, उसके सिवाय संग्रह से अतिचार जानना। पंचवस्तुक में कहा है कि-

पंचमगम्मि अ सुहुमो, अइआरो एस होइ नायव्वो ।
कागइ साण गोणे, कप्पट्ठगरणाममत्ते ॥६६०॥
दव्वाइ आण गाहणं लोहा पुण वायरो मुणे अव्वो ।
अइरित्तु धारणं वा मोत्तुं नाणाइ उवयारं ॥६६१॥

अर्थात् - "पांचवें व्रत में कौए आदि से तथा कुत्ता- गाय से, शय्यातर गृहस्थों सुखाने के लिए जो तिल आदि फैलाकर रखा हो उस वस्तु का रक्षण करना अथवा गृहस्थ के बालक या बाल शिष्य के प्रति अल्पमात्र ममत्व करना- इससे भी सूक्ष्म अतिचार लगता है। (६६०)॥ एवं लोभ से धन आदि लेना, रखना या ज्ञान आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के उपकरणों के अतिरिक्त वस्त्र, पात्रादि उपधि का जिनाज्ञा से अधिक संग्रह करना- उसे बादर अतिचार समझना । (६६१) ॥

यहां कहने का भावार्थ यह है कि निष्कारण द्रव्य को ग्रहण करने का विचार करना भी अतिचार है और कारण से तो ग्रहण करने पर भी अतिचार नहीं लगता। बृहत्कल्प तथा स्थानांग सूत्र में कहा है कि-**''अट जायंमि निग्गंथि निग्गंथे गिण्ह माणे वा अबंलबमाणे वा नाइक्कम इति''** ॥ बृहत्कल्प उ०६ सूत्र १८ ॥ अर्थात् अर्थजात साध्वी के लिए द्रव्य लेने अथवा रखने में आये तो व्रत में अतिक्रम नहीं होता ।' यहां अर्थ अर्थात् द्रव्य-उसका प्रयोजन आ जाय वह अर्थ जातिका कहलाता है । संयमी होने पर भी साध्वी के कारण योग से अर्थ का प्रयोजन आ जाय तो उन कारणों से वृहत्कल्प निर्युक्ति में कहा है कि-

सेवग भज्जा ओमे, आवण्ण अणत्त बोहिए तेणे ।
ए तेहिं अट्ठजातं, उप्पज्जति संजम ठिताए ॥६२८७॥

अर्थात्- ''सेवक की स्त्री के लिए, दुर्भिक्ष के योग से, दासत्व प्राप्त होने से, कर्जदार होने से, म्लेच्छों के उपद्रव से और चोरों के उपद्रव से- इतने कारणों से संयम में रहते हुए भी साध्वी के विषय में अर्थ का प्रयोजन आ जाता है ।''

कहने का भावार्थ यह है कि यदि कोई राज सेवक अपनी स्त्री को छोड़कर परदेश गया हो, **बहुत समय** तक उसके वापिस न आने से उसकी स्त्री ने दीक्षा ली हो और उसके बाद उसका पति आकर जब अपनी स्त्री को मांगे तब उस स्त्री संयम की रक्षार्थ-यदि वह बीमार न **हो तो** भी किसी उपाय से (कोई औषध आदि देकर) बीमार कर दे, फिर भी उसे यदि न छोड़े तो उसके पति को धन देकर भी साध्वी को छुड़वा दें अर्थात् संयम की रक्षा करने के लिए सेवक की स्त्री के लिए धन का प्रयोजन होता है । कोई व्यापारी पूरे परिवार सहित दीक्षा लेने वाला हो, वह अपनी छोटी उम्र वाली दीक्षा के लिए अयोग्य पुत्री को अपने किसी मित्र को सौंपकर दीक्षित बना हो । उसके बाद वह मित्र मर जाय और फिर दुष्काल पड़ने पर उसके पुत्र द्वारा उस पुत्री के पालन में अनादर होने से, पुत्री किसी के यहां दासी बन जाए । उस पुत्री के दीक्षित पिता यदि विहार करते कालान्तर में वहां पहुच जायें और सारी बात जानकर दीक्षार्थी बने हुए भी अपनी पुत्री को छुड़ाने के लिए उसके मालिक को उपदेश करें, अन्य भी शास्त्रीय उपाय करें, फिर भी यदि वह न छोड़े तो दीक्षा लेते समय स्वयं यदि द्रव्य रखा हो तो वहां मंगवाकर उसे देकर भी छुड़ा दें, ऐसा धन यदि न हो तो अपने पूर्वावस्था के किसी सम्बन्धी को खोजकर भी उसका प्रबन्ध करवा कर पुत्री को छुड़वा दे । इस तरह दासत्व से छुड़ाने के लिए धन का प्रयोजन होता है । इसी तरह दुर्भिक्ष में, म्लेच्छ या चोर के उपद्रव के समय या कर्जदार आदि के विषय में स्वयं विचार कर लेना । यहां सर्व प्रसंग में परिणाम के आश्रित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतिचार-अनतिचार का स्वरूप कहा है । इस तरह पांचवें व्रत के अतिचार कहे हैं । अब छठे व्रत के अतिचार कहते हैं-

दिनात्त दिन भुक्तादि चतुर्भङ्गा यादिरन्तिमे ।
सर्वेष्वप्येषु विज्ञेया, दोषावातिक्रमादिभिः ।।

मूलार्थ-''दिन में लाना और दिन में खाना, इत्यादि चार विभाग सेवन करने आदि से छठे व्रत में अतिचार लगता है, अथवा सर्व व्रतों में अतिक्रमादि से दोष-अतिचार जानना ।''

व्याख्या-'पहले दिन लाकर रखा हुआ दूसरे दिन खाने से संनिधि दोष लगता है । इसलिए दिन में लिया हुआ दिन में खाना इत्यादि चार भाग वाले चतुर्भंगी सेवन करने आदि से अन्तिम छठे व्रत में अतिचार लगता है । इस तरह प्रसंग के अनुसार समझ लेना । इसमें पहले दिन में लिया दूसरे दिन खाना- प्रथम विभाग, दिन में लिया रात में खाना- दूसरा विभाग, रात में लिया दिन में खाना- तीसरा विभाग और रात में लिया रात में खाना- चौथा विभाग है । इन चारों विभाग से तथाविध परिणाम के अनुसार अतिचार समझना । आदि शब्द से अति मात्रा से- प्रमाण से ज्यादा आहार करना इत्यादि भी छठे व्रत में अतिचार समझना।

अब मूल गुण और उत्तर गुणों में समान रूप दोष किस तरह लगते हैं ? उसे कहने के लिए बताते हैं कि केवल व्रतादि में ही नहीं किन्तु समस्त मूल गुण और उत्तर गुणों में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार अथवा अनाचार दोष समझ लेना । व्यवहार भाष्य में आधाकर्मिक दोष के आश्रित अतिक्रमादि का स्वरूप कहा गया है, वह इस प्रकार है-

आहाकम्म निमंतण पडि स्ुण माणे अइक्कमो होइ ।
पय भेयाइ वइक्कय, गहिए तइ अतरो गलिए ।।४३।।

अर्थात्- 'आधा कर्म' दोष से दूषित वस्तु को देने की विनती करते दातार की विनती सुने, उसके लिए तैयारी करते हुए उपयोग का कायोत्सर्ग आदि करके जाने के लिए पैर न उठाए- तब तक अतिक्रम दोष गिना जाता है । वहां जाने के लिए पैर उठाए, वहां से लेकर गृहस्थ के घर में प्रवेश करे और पात्र रखे-तब तक व्यतिक्रम गिना जाता है । आधा कर्मिक वस्तु ग्रहण करे और उपलक्षण से ग्रहण करके वापिस उपाश्रय में आये गुरु के सामने आलोचना करे, भोजन के लिए बैठकर मुख में वह वस्तु डाले, परन्तु जब तक गले में उतारे नहीं- तब तक अतिचार नाम का तीसरा दोष लगता है और जब गले में उतार दे तब चौथा अनाचार किया माना जाता है ।'' इस तरह से मूल गुणों में एवं उत्तर गुणों में अतिक्रमादि दोष की घटना स्वयमेव जानना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहां इस तरह से विवेक करना-मूल गुणों में अतिक्रमादि तीन दोष लगने से चारित्र में मलिनता समझना, इससे 'आलोचना-प्रतिक्रमण' आदि प्रायश्चित्त से उनकी शुद्धि हो सकती है। चौथे अनाचार से तो मूल गुण भंग होता है, इसलिए यदि अनाचार दोष लगा हो तो इस गुण की पुनः उपस्थापना करना ही योग्य है। उत्तर गुणों में अतिक्रमादि चार दोष लगने पर भी चारित्र की मलिनता कही है, भंग नहीं होता अर्थात् वह प्रायश्चित से शुद्ध होता है। इस प्रकार मूल उत्तर गुण के अतिचार कहे हैं।

अब मूल गुणों के विषय में लगभग कहा जा चुका है, फिर भी ज्ञानाचारादि का संयम जीवन में मुख्यत्व बताने के लिए उन आचारों को अलग से कहते हैं-

ज्ञानादि पञ्चाचाराणां पालनं च यथागमम् ।
गच्छवास कुसंसर्ग त्यागोऽर्थ पद चिन्तनम् ॥१२५॥

मूलार्थ- ''ज्ञानाचारादि पांच आचारों का आगमानुसार पालन करना, गच्छ में रहना, कुसंसर्ग का त्याग करना एवं आगम पदों का सूक्ष्म बुद्धि से अर्थ द्वारा चिन्तन करना। यह सापेक्ष यति धर्म है।''

व्याख्या - ज्ञानादि अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य-इन पांच आचारों का पालन विपरीत भी होता है। इसलिए कहते हैं कि आगम के अनुसार पालन करना-वह सापेक्ष यतिधर्म है, ऐसा वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना। उसमें १. 'ज्ञान' अर्थात् तत्त्व का सम्यग बोध होना, वह भी ज्ञानाचार में हेतुभूत होने से यहां बारह अंग उपांग आदि श्रुत ज्ञान को समझना। २. 'दर्शन' - अर्थात् तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा रखना, ३. 'चारित्र' अर्थात् ज्ञान और श्रद्धापूर्वक सर्व पाप पृत्तियों का त्याग करना, ४. 'तप' अर्थात् इच्छाओं का निरोध- रोकना और ५. 'वीर्य' अर्थात् शक्ति को प्रगट करना। इन पांच में ज्ञान, दर्शन और चारित्र- इन तीन आचारों के आठ-आठ भेद हैं- वे पहले भाग के उपदेश अधिकार में धर्म बिन्दु ग्रन्थ के आधार पर बताया ये हैं- उनसे विपरीत करना अतिचार है। उसके कुल चौबीस अतिचार समझना। तप के आचार भेद छः बाह्य और छः अभ्यन्तर- इस तरह बारह भेद हैं। उनमें छहः बाह्य भेद तरह दशवैकालिक निर्युक्ति में इस तरह बताये हैं-

अणसणमूणोअरिया, वित्ति संखे वणं रसच्चाओ ।
काया किलेसो संलीणया य, वज्झो तवो होइ ॥४७॥

व्याख्या -''**१. अनशन** - आहार का त्याग करना। वह दो प्रकार का होता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है - एक अमुक मर्यादित काल तक और दूसरा आजीवन तक। उसमें पहले 'नमस्कार सहित' तप से आरंभ कर श्री वीर परमात्मा के शासन में उत्कृष्ट छह महीने तक, श्री ऋषभदेव भगवान के शासन में उत्कृष्ट एक वर्ष तक और मध्य के बाईस तीर्थंकर भगवन्त के शासन काल में उत्कृष्ट आठ महिने तक होता है। दूसरा जावत्जीव आहार त्याग रूप अनशन होता है। यह १. पादपोपगमन, २. इंगित मरण और ३. भक्त परिज्ञा- तीन प्रकार से होता है। इसका स्वरूप मूल ग्रन्थ से कहा जायेगा।

२. ऊणोदरी - ऊण अर्थात् जिस तप में खाने का उदर-पेट ऊण-अपूर्ण रहे, उसे ऊणोदरी कहते हैं यही ऊणोदरता शब्द की व्याख्या है। आचरण से तो अपूर्णता को ऊणोदरता कहते हैं। वह ऊणोदरी-अपूर्णता द्रव्य से एवं भाव से-इस तरह दो प्रकार से होती है। उसमें द्रव्य से ऊणत्व एक उपकरण के कारण और दूसरा आहार-पानी के कारण से होता है। उपकरण के कारण से जिन कल्पी को होता है। आहार पानी के आश्रित तो अल्पाहार आदि के भेद से पांच प्रकार का होता है। दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा ४७ की टीका में कहा है कि -

अप्पाहार अवड्ढा, दुभागपत्ता तहेव किं चूणा।
अट्ठ दुवालस सोलस, चउ वीस तहेक्क तीसा य ॥४७॥ टीका।

अर्थात् - "१. अल्पाहार आठ, २. अपार्द्ध बारह, ३. द्विभाग सोलह, ४. प्राप्त चौबीस और ५. किंचिन्न्यून इकतीस ग्रास तक आहार लेने और उनके नाम से ऊणोदरी के भेद कहे हैं। उसमें भी प्रत्येक के जघन्यादि भेद हैं। जैसे-जघन्य एक ग्रास केवल उत्कृष्ट आठ ग्रास और मध्यम दो से सात ग्रास आहार लेने से अल्पाहार ऊणोदरी होती है। इस तरह अन्य भेदों में भी जघन्यादि स्वरूप स्वयमेव समझ लेना।"

सामान्य से आहार का प्रमाण पुरुष के लिए बत्तीस और स्त्री के लिए अट्ठाईस ग्रास माना गया है। उसके अनुसार कम आहार अल्पाहार होता है। अल्पाहार आदि के भेद समझ लेना। यह द्रव्य ऊणोदरी के विषय में कहा है। भाव ऊणोंदरी का अर्थात् क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं का यथा शक्य त्याग करना। इस प्रकार के ऊणोंदरी का स्वरूप कहा।

३. वृत्ति संक्षेप - जिससे जी सके वह वृत्ति अर्थात् आजीविका, वह साधु को भिक्षा से होती है, उसका संक्षेप करना वह 'वृत्ति संक्षेप' समझना। उसमें गृहस्थादि एक साथ में जितना दे वह एक दत्ति कहलाती है। उन दत्तियों का प्रमाण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करना, जैसे एक दो, या तीन आदि अमुक दत्तियों से ज्यादा नहीं लूँगा तथा इतने घरों से अधिक घरों में अथवा गली, मौहल्ला, गांव अथवा आधे गांव आदि अमुक क्षेत्र से अधिक क्षेत्र में से नहीं लेने का नियम करना- वह 'वृत्ति संक्षेप' तप है। करण सत्तरी में द्रव्य, काल, भाव सम्बन्धी अभिग्रह की इस वृत्ति संक्षेप तप का ही भेद है।

४. रस त्याग – इस अर्थात् विशिष्ट रस वाले, मादक या विकार वाले पदार्थों का त्याग करना, यानि विगई शब्द से पहिचाने जाते मद्य, मांस, मक्खन और मदिरा इन चार अभक्ष्य विगइयों तथा दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और मिठाई-इन छह भक्ष्य विगइयों का त्याग करना-वह रस त्याग जानना।

५. कायक्लेश – 'काया' – अर्थात् शरीर, उसे –शास्त्र विरोध न हो इस तरह- क्लेश-पीड़ा उत्पन्न करवानी। यद्यपि शरीर जड़ है, उसे कष्ट देने से तप नहीं गिना जाता, फिर भी यहां शरीर और शरीरी अपेक्षा से एक होने से कायक्लेश से आत्मक्लेश भी सम्भावित है ही, इसलिए उसे तप कहा है। वह कायक्लेश अमुक विशिष्ट आसन करने से तथा शरीर की सार संभाल या परिचर्या नहीं करने से, अथवा केश का लोच करना आदि से कर सकता है। यह काय-क्लेश स्वयं किए क्लेश के अनुभव रूप हैं और परिषह स्वयं तथा अन्य द्वारा किए क्लेश के अनुभव रूप हैं। इस तरह कायक्लेश और परिषहों में भिन्नता है।

६. संलीनता – गोपनीय रूप है। १. इन्द्रियों, २. कषाय और ३. योग को गोपने से तथा ४. पृथग् (निर्जरादि प्रदेश) में शयन, आसन करना सोने, बैठने- इस तरह चार भेद होते हैं। उसमें इन्द्रिय, कषाय और योग के गोपन का वर्णन तो पहले कहा जा चुका है। पृथक् सोने बैठने का अर्थ यह है कि - एकान्त, बाधा रहित, जीव संसक्ति से और पशु, नपुंसक आदि से रहित शून्यधर, देव कुलिका, सभा या पर्वत की गुफा आदि किसी स्थान में रहना। वह छह प्रकार का बाह्य तप कहा है।

यह बाह्य तप छः प्रकार का है, क्योंकि संसार में स्थूल दृष्टि वाले लोग भी इस तप से परिचित हैं और लोक में बाह्य रूप- प्रगट रूप में दिखाई देता है, बाह्य शरीर को तपाता है तथा अन्य धर्मी तपस्वी आदि गृहस्थ भी इसे करते हैं अतः इसे बाह्य तप कहा है। अब अभ्यंतर तप का वर्णन करते हैं, दशवैकालिक निर्युक्ति में कहा है -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पायच्छित्तं विणओ, वैयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गोवि अ, अब्भिंतरओ तवो होइ ॥४८॥

अर्थात् - "१. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावच्च, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६. कायोत्सर्ग- इस तरह आभ्यंतर तप के छः भेद हैं।" वे इस प्रकार हैं-

१. प्रायश्चित्त - मूल-उत्तर गुण में लगा अति सूक्ष्म भी अतिचार चित्त को मलिन करता है, इस कारण से उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त कहा है । उसकी व्युत्पति इस तरह है कि प्रायः अतिचार से मलिन हुए चित्त का विशोधन-विशुद्ध करना प्रायश्चित्त कहलाता है, अथवा '**प्र**' = प्रकर्ष से अर्थात् विशेषतया आचार रूप धर्म जिससे '**अयते**' = प्राप्त होता है वह 'प्रायः' अर्थात् मुनि लोक -साधु अतिचार की विशुद्धि के लिए चिन्तन = स्मरण करे वह प्रायश्चित्त है, अथात् वह एक प्रकार का अनुष्ठान समझना । उसके दस भेद हैं, वह आगे कहेंगे । **२. विनय**- आठ प्रकार के कर्म जिससे 'विनीयते' = दूर किए जायें वह 'विनय' कहलाता है, ज्ञानादि विषय भेद से सात प्रकार का है । दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा ४८ की टीका में कहा है कि-

नाणे दंसण चरणे, मण वय काओ वयार विणओ ।
नाणे पंचु वयारो, मइ नाणाईण सद्दहणं ॥१॥

भत्ती तह बहुमाणो, तद्दिट्ठत्थाण सम्म भावणया ।
विहि गहण ब्भासोवि अ, एसा विणओ जिणाभिहिओ ॥२॥

अर्थात् - ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मनो विनय, वचन विनय, काय विनय, और उपचार विनय- इस तरह विनय सात प्रकार का है। उसमें ज्ञान विनय पांच प्रकार का है- १. मतिज्ञान आदि ज्ञान के स्वरूप में श्रद्धा करना, २. ज्ञान वाले ज्ञानियों के ज्ञान साधनों की बाह्य सेवा रूप भक्ति करना, ३. हृदय से उनके प्रति 'बहुमान' करना, ४. उसमें बताए अर्थों का सम्यक् विचार करना और ५. विधिपूर्वक 'ज्ञान पढ़ना,' बारम्बार अभ्यास करना । इस तरह श्री जिनेश्वर ने पांच प्रकार से ज्ञान विनय कहा है । अब दर्शन विनय के लिए आगे दशवैकालिक टीका में कहते हैं-

सुस्सूसणा आणासायणा य, विणओ अ दंसणे दुविहो ।
दसण गुणाहिएसुं, किज्जइ सुस्सूसणा विणओ ॥१॥

सक्कारब्भुट्ठाणे, सम्माणा सण अभिग्गहो तह य ।
आसण अणुप्प याणं, किइ कम्मं अजलि गहो अ ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इंतस्सणु गच्छणया, ठि अस्स तह पज्जु वारुणा भणि या ।
गच्छं ताणुव्वयंण, एसो सुस्सूसणा विणयो ।।३।।

अर्थात् - ''दर्शन विनय के १. शुश्रुषा और २. अनाशातना- ये दो भेद होते हैं। उसमें दर्शन गुण में अधिक निर्मल-श्रद्धा वाले हों उनका शुश्रुषा रूप विनय करना। (१)॥ वह कहते हैं - उनकी स्तुति आदि रूप सत्कार करना, वे जब आएं तब खड़ा होना, जब जायें तब खड़ा होना इत्यादि अभ्युत्थान करना, वस्त्र आदि भेंट देकर सम्मान करना, खड़े हुए को 'आसन पर पधारो, बैठो आदि विनती रूप आसनाभिग्रह करना, उनका आसन उनकी इच्छानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखना इत्यादि आसन का अनुप्रदान करना, कृति कर्म अर्थात् उनको वन्दन-नमस्कार करना, उनके दर्शन होते ही तुरन्त अंजलि जोड़कर दो हाथ मस्तक पर लगाना, जब वे आएं तब सामने जाना, वे जहां बैठे हों वहां सेवा करना और जब वे जायें तब पीछे-पीछे छोड़ने जाना, इत्यादि शुश्रुषा विनय जानना। अब अनाशातना विनय के पंद्रह भेद कहते हैं-

तित्थयर धम्म आयरिअवायगे, थेर कुलगणे संघे ।
संभोइअकिरिआए, मइनाणाईण य तहेव ।।१।।

कयव्वापुण भत्ती, बहुमाणा तहय वन्नवाओ य ।
अरिहंत माइ आणं, केवलनाणवसाणाणं ।।२।।

अर्थात् - ''१. तीर्थंकर, २. चारित्र अथवा श्रमादि धर्म, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय, ५. स्थविर, ६. कुल, ७. गण, ८. संघ, ९. सांभोगिक साधु, १०. क्रिया अर्थात् अस्तित्ववाद और ११ से १५ तक मति ज्ञान आदि पांच ज्ञान इन पंद्रह ज्ञानियों की बाह्य सेवा रूप भक्ति करना, हार्दिक प्रतिरूप बहुमान करना और वर्णवाद अर्थात् उनके गुणों की प्रशंसा करना, उपलक्षण से आशातना का त्याग करना एवं दोष नहीं बोलना। इस तरह अरिहंत आदि केवल ज्ञानी तक के पंद्रह ज्ञानियों की भक्ति आदि करना-इसे दर्शन अनाशातना विनय जानना।''

चारित्र विनय कहते है-

सामाइ आइ चरणस्स सद्दहाणं तहेव काएणं ।
संफासणं परू वणमहपुरओ, भव्य सत्ताणं ।।१।।

अर्थात्- ''सामायिक आदि पांच प्रकार के चारित्र की मन से श्रद्धा करना,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

काया से उसका स्पर्शन-पालन करना, और वचन से भव्य प्राणियों के आगे उसकी प्ररूपणा करना- इसे चारित्र विनय समझना।'' ४ से ६ तक मन, वचन और काया विनय भी वहां इस तरह कही हैं -

मण वइ काइअ विणओ, आयरिआईण सव्व कालंपि ।
अकुसलमणोणि रोहो, कुसलाण उदीरणं तहय ॥१॥

अर्थात्- ''आचार्य आदि प्रत्येक पूज्य के प्रति सर्वदा दुष्ट मन-दुर्भाव, दुष्ट वचन, अविनयी आचरण आदि का रोकना और प्रशस्त मन- सद्भाव, प्रशंसा, सेवा भक्ति आदि का उदीरण करना- उसे अनुक्रम से मनोविनय, वचन विनय और काया विनय कहा है अर्थात् मन से दुष्ट चिन्तन करना, वचन के द्वारा कठोर आदि बोलना और काया से दुष्ट आचरण करना इत्यादि योग की अकुशल प्रवृत्ति नहीं करना, उल्टा मन से उनके प्रति बहुमान-पूज्यभाव आदि रखना, वचन से उनके गुणों की स्तुति करना और काया से उनकी सेवा आदि करना आदि तीन योगों की कुशल प्रवृत्ति करना।''

७-उपचार विनय-'उपचार' अर्थात् विनय के पात्र सामने वाले को सुखकारक क्रिया विशेष, यानि क्रिया द्वारा विनय करना। वह औपचारिक विनय जानना। उसके सात भेद जानना। दशवैकालिक टीका में कहा है कि-

अब्भासऽच्छण छंदाणुवत्तणं, कयपडिक्किई तह य ।
कारिअ निमित्त करणं, दुक्खत्त गवेसणं तह य ॥१॥

तह देस काल जाणण, सव्वत्थे तह य अणुमई भणिआ ।
उवयामोरिओ उ विणओ, एसो भणिओ समासेणं ॥२॥

अर्थात्-'**१-अब्भासच्छण** = श्रुत पढ़ने के समय के अलावा अन्य समय में भी गुर्वादि के पास में बैठना। **२-छंदाणुवत्तणं** = उनकी इच्छानुसार = हार्दिक भाव देखकर या जानकर अनुकूल वर्तन करें। **३-कयपडिकिई** = भक्ति करने से केवल एक निर्जरा के लिए ही नहीं अपितु 'प्रसन्न बने गुरु महाराज मुझे सूत्र अध्ययन करवाएंगे इत्यादि प्रत्युपकार भी करेंगे। ऐसा समझकर आहारादि लाकर देना आदि भक्ति में उद्यम करना। **४-कारित निमित्त करणं** = इन गुरुदेव ने मुझे श्रुत ज्ञान दिया है इत्यादि उनका उपकारों का निमित्त बताकर उनकी सेवा भक्ति आदि विनय में विशेष प्रवृत्ति करना। **५-दुःखर्त्तगवेषणा** = वे जब बीमार हों तब स्वयं अथवा अपने आश्रित शिष्यादि द्वारा भक्ति औषध आदि करवाना। **६-देश काल ज्ञान** = देश, काल आदि का ज्ञान जानना, उस काल, उस क्षेत्र में उनकी आवश्यकताओं को समझकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसके अनुसार करना ७-**सर्वार्थेष्वनुमति** = सर्व अर्थों में अनुमति अर्थात् सर्व विषय में उनकी इच्छा को देखकर उसी तरह अनुकूल प्रवृत्ति करना। यह संक्षेप में उपचार विनय कहा गया है।'' अथवा बावन प्रकार से विनय होती हैं। प्रवचन सारोद्धार में गाथा ५४६-५५० में तथा दशवैकालिक निर्युक्ति में कहा है कि-

तित्थयर सिद्ध कुल गण संघ किरअ धम्म नाण नाणीणं।
आयरिअ थेरूवज्झाय गणीणं तेरस पयाइं ॥३२५॥

अणसायणा य भत्ती, बहुमाणो तह य वण्णा संजलणा।
तित्थयराई तेरस, चउग्गुणा होंति वावन्ना ॥३२६॥

अर्थात्-''१-तीर्थंकर, २-सिद्ध, ३-नागेन्द्र आदि कुल, ४-कोटिक आदि गण, ५-चतुर्विध संघ, ६-अस्तित्व आदि क्रिया, ७-श्रुतधर्म-चारित्र धर्म, ८- मति आदि पांच ज्ञान, ६-ज्ञानी जन, १०-पांच प्रकार के आचार्य, ११-तीन प्रकार के स्थविर, १२-उपाध्याय और १३-गण के अधिपति गणधर, इन प्रत्येक का ।(३२५) ॥ १-हलकाइ-अपमान आदि आशातना नहीं करना, २-सेवा भक्ति करना, ३-अंतर में प्रीति रूप बहुमान करना और ४-उनके गुण उपकार आदि की प्रशंसा करना, इस तरह से चार प्रकार से तेरह विनय करने से बावन भेद होते हैं। (३२६)॥'' इस प्रकार विनय के भेद प्रभेद अनेकहैं।

३. वैया वच्च - अर्थात् सेवा दस प्रकार की है, वह चरण सित्तरी में कही है। उसके अनुसार समझ लेना।

४. स्वाध्याय- सु + आ + अध्याय = स्वाध्याय है अर्थात् 'सु'= अर्थ सम्यग् प्रकार से 'आ' = काल समय को छोड़कर विनयादि ज्ञानाचारपूर्वक अथवा पोरिसी की मर्यादा से, **अध्याय** = पढ़ना- उसे स्वाध्याय कहते हैं। उसके वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुपेक्षा और धर्म कथा- इस तरह पांच भेद हैं। उसमें, १- **वाचना** = शिष्य को पढ़ाना, २-**पृच्छना** = पढ़ने में शंका हो उसे पूछना, ३-**परिवर्त्तना** = पढ़ा हुआ भूल न जाय इस लिए वह 'घोष' आदि उच्चारण की शुद्धि पूर्वक विधि से बारम्बार पढ़ना-बोलना। ४- **अनुप्रेक्षा** = भूल न जाय इसलिए अर्थ का बारम्बार चिन्तन करना और ५-**धर्म कथा** - पढा हुआ इसी तरह बारम्बार अभ्यस्त-परिचित होने के बाद धर्म का कथन करना, अन्य को पढ़ाना- समझाना। इस तरह पांच प्रकार का स्वाध्याय है।

५. ध्यान - प्रतिक्रमण के अर्थ में चार प्रकार का ध्यान कहा है। उसमें धर्म

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ध्यान और शुक्ल ध्यान दोनों को तप में गिना गया है ।

६. उत्सर्ग - त्याग करने योग्य अर्थात् उपयोग रहित वस्तु का त्याग करना। उत्सर्ग बाह्य और अभ्यंतर- इस तरह दो भेद हैं । उसमें अधिक निरुपयोगी उपधि और अशुद्ध आहार आदि बाह्य वस्तु का त्याग करना उत्सर्ग है और कषाय आदि दोषों का तथा मृत्यकाल में शरीर का त्याग करना अभ्यंतर उत्सर्ग समझना । यह उत्सर्ग दस प्रकार के प्रायश्चित्त में गिना गया है- वह अतिचार की शुद्धि के लिए और यहां तप में कहा है उसे सामान्य निर्जरा के लिए समझना अर्थात् पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

ये छह प्रकार का तप लोक में तप रूप में प्रसिद्ध नहीं है । अन्य दर्शनी इसे भाव से नहीं करते । मोक्ष की प्राप्ति में ये अंतरंग कारण भूत हैं और अभ्यंतरिक कर्मों को तपाने-नष्ट करने वाले हैं, इस कारण से ये 'आभ्यंतर' तप कहलाते हैं । यह तपाचार कहा ।

५. वीर्याचार- इसके तीन प्रकार हैं- मन, वचन और काया प्राप्त सामर्थ्य के अनुसार धर्म कार्यों को करने से तीन प्रकार से वीर्याचार का पालन होता है ।' इस तरह पालन करने के लिए पंचाचार का मुख्य ध्येय कहा है । जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति की भूमिका है ।

इस तरह १२५ वां श्लोक उत्तरार्द्ध तथा १२६ व १२७ श्लोक पूर्ण-अढ़ाई श्लोक से महाव्रत के पालन में उपाय भूत सापेक्ष यति धर्म के कई आवश्यक कर्त्तव्य-अनुष्ठान करने के लिए श्लोक १२५ के उत्तरार्द्ध में 'गच्छवास' आदि कहा है । उसमें **'गच्छ'** अर्थात् गुरु-शिष्य प्रशिष्यादि साधु मुनिराज परिवास और उसमें **'वास'** अर्थात् रहना, उसे सापेक्ष यति धर्म कहा है । इस तरह वाक्य सम्बन्ध जोड़ना । गच्छ में रहने से अपने से अधिक गुणवान कई साधुओं का विनय कर सकते हैं एवं स्वयं अन्य नव दीक्षित आदि को विनय का कारण होता है अर्थात् स्वयं विनयन करे तो वह देखकर अन्य द्वारा भी ऐसा विनय करना सीख सकता है । विधि आदि का उल्लंघन करके वह प्रवृत्ति करते कई साधुओं को उस विषय के कर्त्तव्य में स्मरण करवा सकते हैं और स्वयं भी जब वैसी भूल करें तब दूसरे स्मरण करा सकते हैं । इस तरह गच्छ में रहने से स्व-पर उभय के कर्त्तव्य का स्मरण करने रूप स्मारणा है, अकार्य से रोकने रूप वारणा है प्रेरणा रूप नोदना, और बारम्बार प्रेरणा रूप प्रतिनोदना भी करना-करवाना हो सकता है । इससे परस्पर विनयादि योग में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रवृत्ति करने वाले-कराने वाले गच्छवासी साधु को अवश्य मोक्ष की साधना होती है। इस कारण से गच्छवास भी सापेक्ष यति धर्म का मुख्य धर्म है। पंच वस्तुक में कहा है कि-

गुरु परिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण निज्जरा विउला ।
विणयाओ तह सारण-माईहिं ण दोस पडिवत्ती ॥६६६॥

अण्णोण्णा विक्खाए, जोगंमि तहिं तहिं पयट्टंतो ।
णियमेण गच्छ वासो, असंग पद साहगो भणिओ ॥६६६॥

अर्थात्- "साधु मुनिराज के शिष्य परिवार के समूह को गच्छ कहा जाता है। उसमें रहने वालों को परस्पर विनय से बहुत निर्जरा होती है तथा स्मारणा अर्थात् परस्पर याद कराने आदि से चारित्र में दोष नहीं लगते। अन्योन्य सहायक होने से उस विनयादि योग में प्रवृत्ति करने वाले गच्छवासी साधु को अवश्य असंग-मोक्ष पद का साधक कहा है।" गच्छ में होने वाले स्मारणा-भूल को याद करना, वारणा-अविधि से होते रोकना आदि गुण कारक योगों से घबड़ाकर अर्थात् लाभ के स्थान पर दु:ख मानकर गच्छ-समुदाय छोड़ देने वाले साधुओं को ज्ञानादि गुण की हानि होती है। ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

जह सागरंमि मीणा, संखोहं सागरस्स असहंता ।
णिंति तओ सुहकामी, निग्गय मित्ता विणस्संति ।

एवं गच्छ समुद्दे, सारण वीईहिं चोइआ संता ।
णिंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा विणस्संति ॥११७॥

अर्थात्- "जैसे सुख की इच्छुक मछली समुद्र में समुद्र के उपद्रवों को सहन नहीं करने से बाहर निकले तो निकलते ही उसका विनाश हो जाता है वैसे ही गच्छ रूपी समुद्र में रहते स्मारणा-वारणादि रूप तरंगों से क्षोभित होकर घबड़ाकर सुख की इच्छा से जो साधु गच्छ को छोड़कर बाहर निकलकर अकेला विहार करता है, वह जल बिना मछली के समान विनष्ट होता है।" जिस गच्छ में स्मारणा, वारणा आदि न होता हो वह गच्छ छोड़ने योग्य ही है, क्योंकि परमार्थ से वह गच्छ ही नहीं है। पंच वस्तु के अन्दर कहा है कि-

सारणमाइ विउत्तं, गच्छंपि हु गुण गणेहिं परिहीणं ।
परिव चणाइवग्गो, चइज्ज तं सुत्त विहिणा उ ॥७००॥

अर्थात्- "जिसने आत्म कल्याण के लिए ज्ञाति वर्ग का भी त्याग किया है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उस साधु को जहां स्मारणादि न होता हो, उस ज्ञानादि गुणों के समूह से रहित गच्छ को भी शास्त्रोक्त विधि के अनुसार त्याग करना चाहिए।''

ऐसा भी गच्छ तब छोड़े कि जब अन्य गच्छ में संक्रम-आश्रय मिले अन्यथा उत्तम आश्रय यदि न मिले तो आत्मरक्षा-संयम रक्षा आदि के लिए स्वयं गीतार्थ हो फिर भी समझते हुए, प्रजा के साथ में मूर्ख बनकर राजा ने अपने राज्य की रक्षा की, वैसे ही कारण से प्रमादी गच्छ में भी रहे, परन्तु आधार बिना अकेला विहार न करे। इस विषय में विवेक बताया है। उपदेश पद में कहा है कि

अग्गीया दाइण्णे खेत्ते अण्णत्य ठिइअ भावम्मि ।
भावाणु बधायणु वत्तणाए, तेसिं तु वसि अव्वं ॥८४१॥

अर्थात्- ''अगीतार्थ तथा आदि शब्द से गीतार्थी को भी अन्य अगीतार्थ आदि जहां हों, उस क्षेत्र में दुष्काल आदि के कारण वहां रहने की स्थिति न हो तब पार्श्वस्थ आदि जहां हों उस क्षेत्र में जाकर भी शुद्ध परूपणा रूप और शुद्ध समाचारी के पालन रूप अपने चारित्र परिणाम को हानि न पहुँचे, इस तरह अनको 'वाणी से नमस्कार करना' इत्यादि औचित्य का रक्षण कर उनके क्षेत्र में रहना चाहिए।'' इस तरह बाह्य दिखावे के रूप में उनके अनुसार आचरण से उनके हृदय में बहुमान प्रगट हो और इससे वे दुष्काल आदि के संकट में सहायक भी हो सकते हैं। यहां दृष्टान्त रूप में कहा है कि-

एत्थं पुण आहरणं, विण्णेयं णाय संगयं एअं ।
अगहिल गाहिलो राया, बुद्धए अणट्ठरज्जो अ ॥८४३॥

अर्थात्- 'इस विषय में न्याय युक्ति यह उदाहरण समझना कि-पृथ्वीपुर में पूर्ण नामक राजा था और सुबुद्धि नाम का मन्त्री था। एक दिन निमित्तिक ने राजसभा में आकर कहा कि 'महीने के बाद जहरी बरसात होगी, उसका जो पानी पियेगा वह उन्मादी बनकर पागल हो नाचेगा और पुनः कुछ समय के बाद अच्छी वृष्टि होगी, उसका पानी पीने से सभी स्वस्थ होंगे।' यह जानकर राजा ने पानी संग्रह की उद्घोषणा करवायी, स्वयं ने भी संग्रह किया। फिर महीने के बाद वर्षा हुई, तब उसका पानी किसी ने नहीं पिया, परन्तु संग्रह किया हुआ पानी जैसे-जैसे खत्म होने लगा वैसे-वैसे नया पानी पीने से लोगों में उन्माद बढ़ता गया। ऐसा करते समग्र प्रजा वर्ग पागल हो गया। राजा और मन्त्री के पास विशाल जल संग्रह होने से वे दोनों स्वस्थ रहे। उन सबको उन्मादी मानकर उनके कार्यों में साथ न देने से, उन्मादी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लोगों ने परस्पर मंत्रणा की कि-'हमारे सहयोग से राजा सुखी बना है, यदि हम इसका साथ न देते तो दुःखी हो जाता, परन्तु यह राजा हमारे जैसा कुछ भी नहीं करता इसलिए राजा को बांध देना चाहिए।' यह बात मंत्री ने जान ली और राजा को भी कह दी। उन्मादी लोगों से अपना और राज्य का रक्षण करने का दूसरा उपाय ही न रहने से मन्त्री की सलाह-परामर्श से राजा कृत्रिम रूप में उन्मादी हो गया और प्रजा समूह के साथ उन्मादी के समान जीवन का दिखावा किया। इससे सब शान्त हो गये। कुछ दिनों के बाद पुनः सुवृष्टि हुई और उसका पानी पीने से सब स्वस्थ हो गये और राजा भी पूर्व के समान जीवन व्यतीत करने लगा। जिस तरह पागल के साथ पागल बन करके भी राजा ने अपना और राज्य का रक्षण किया, वैसे ही गीतार्थों को भी समय को जानकर अपनी एवं संयम की रक्षा के लिए पासत्थादि के साथ में रहना चाहिए। परन्तु आत्मा में शुद्ध चारित्र परिणाम भाव होना चाहिए।

यहां प्रश्न करते हैं कि-प्रथम कथन गुरुकुल वास के वर्णन में 'गच्छवास' का अर्थ आ ही जाता है, क्योंकि 'गच्छ अर्थात् गुरु परिवार ऐसा' अर्थ होने से गुरुकुल वास और गुरु परिवार रूप गच्छवास इन दोनों का अर्थ एक ही होता है। इसलिए यह वर्णन पुनः दूसरी बार कहने रूप दोष वाला है, उसका क्या कारण है ? इसका उत्तर देते हैं कि-तुम्हारा प्रश्न सत्य है, परन्तु जैसे गुरुकुल वास से 'एक गुरु का विनय आदि' होता है वैसे ही गच्छवास से अन्यों का भी विनय आदि हो सकता है, इसलिए गच्छ में रहना चाहिए, इस तरह कहने के लिए गुरुकुल वास कहने पर भी गच्छवास को भिन्न कहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि-गुरुकुल वास केवल एक शुरु का ही विनयादि करने से होता है और गच्छवास से अन्य का भी विनयादि होता है, इसलिए गच्छवास को अलग बताया है अर्थात् अन्य साधुओं को भी एक दूसरे से उपकार हो इस तरह गुरु महाराज के पास में रहना – उसका नाम गच्छवास कहा गया है। अन्यथा परस्पर साधुओं का उपकार न हो तो गच्छ में रहने पर भी नहीं रहने के समान है। पंच वस्तु में कहा है कि-

मुत्तूण मिहुवयारं, अन्नोन्न गुणइ भाव संबंधं ।
छत्त मढछत्त तुल्लो, वासो उ ण गच्छ वासो त्ति ॥७०४॥

अर्थात्- "परस्पर के गुण आदि में बहुमान आदि करने रूप भाव सम्बन्ध से मुख्य भाव से अर्थात् पूज्य पूजक रूप के सम्बन्ध से गच्छवासी साधुओं का परस्पर उपकार न हो तो वह गच्छवास छत्र मठ-ढके मठ के छत्र तुल्य समझना, वस्तुतः उसे गच्छवास नहीं कहा जाता। तात्पर्य यह है कि जैसे ऊपर से ढके छप्पर वाले

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मठ (आश्रम) के ऊपर छाता हो तो वह केवल शोभा रूप है, उससे कुछ भी कार्य नहीं होता। अथवा ऊपर छप्पर के बिना, मढ के ऊपर केवल छत्री बांधने से बरसात या चोर आदि से रक्षण नहीं होता, वैसे ही गच्छ में रहने पर भी यदि गुणवान रत्नाधिक साधुओं के प्रति छोटों के मन में सम्मान न जागे अथवा रत्नादिक को छोटे के प्रति परस्पर प्रीति न उत्पन्न हो तो गच्छ में रहने पर भी उसका प्रायः कुछ भी फल प्राप्त नहीं है। वह गच्छवास केवल परस्पर की शोभा के लिए ही गिना जाता है छत्र के समान दिखाने के लिए चाहे साथ में रहे अथवा रखे, परन्तु परस्पर कोई उपकार नहीं होता। केवल जीवन निर्वाह के लिए गच्छवास नहीं है, परन्तु गच्छगत् सर्व छोटे बड़े मुनि के प्रति गुणानुराग से यथा योग्य वात्सल्य और बहुमान तथा पूज्यभाव प्रगट करना ही वास्तविक गच्छवास है। गच्छ में रहने पर भी विशिष्ट आत्मिक लाभ हो सके, परस्पर चारित्र में सहायक बने, और भवोभव– इस सम्बन्ध को दृढ़-मजबूत बनाकर उत्तरोत्तर मोक्ष में पद प्राप्त करना इत्यादि– शास्त्र में गुरुगुलवास और गच्छवास का बहुत महत्व बताया है।

कुसंसर्ग का त्याग – यहां 'कु' अर्थात् उत्तम पुरुषों को जो शोभा न दे ऐसा संसर्ग अर्थात् सहवास-परिचय आदि का त्याग करना, वह सापेक्ष यतिधर्म है। यहां पाप मित्र के समान पासत्थादि के साथ में साधु का सम्बन्ध रखना, कुसंसर्ग कहलाता है। उनके साथ में रहने से अपने भी उनके समान शिथिलादि परिणाम अवश्य हो जाते हैं। पंचवस्तुक में कहा है कि–

जो जारि सेण मितिं, करेइ अचिरेण तारिसो होइ।
कुसुमेहिं सह वसंता, तिला वि तग्गंधिया हुँति ॥७३१॥

अर्थात् – "जैसे पुष्पों के साथ में रहने से तिल भी पुष्प की गंध वाला होता है, वैसे ही जो जिसके साथ में मित्रता करता है, वह शीघ्र ही वैसा हो जाता है।" इससे पासत्थादि का संसर्ग भी शास्त्र में गर्हणीय बताया है तथा आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि–

असुइट्ठाणे पडिआ, चंपगमाला ण कीरईसीसे।
पासत्थाई ठाणे सुं, वट्टमाणा तह अपुज्जा ॥१११॥
पक्कण कुले वसंतो, सउणी पारो वि गरहिओ होइ।
इअ गरहिआ सुविहिआ, मज्झि वसंता कुसीलाणं ॥१११२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''जैसे विष्टा वाले अशुचि स्थान में पड़ी चंपा के पुष्पों की माला भी मस्तक पर नहीं चढ़ायी जाती वैसे ही पासत्थादि के स्थान पर साथ में रहने वाला सुसाधु भी अपूज्य समझना चाहिए। जैसे निंदनीय चंडाल कुल में रहता चौदह विद्या का पारंगामी भी निंदनीय गिना जाता है, वैसे ही पासत्थादि कुशील के साथ में रहने से सुविहित साधु भी निंदनीय समझा जाता है।''

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि- पासत्थादि के संसर्ग मात्र से गुणवंत को किस तरह दोष लगता है ? क्योंकि - वैदूर्य मणि कांच के टुकड़ों के साथ में चिरकाल तक रहने पर भी, अपने गुण की विशेषता के कारण कभी भी कांच रूप नहीं बनता है, अथवा नल (नड) नामक वनस्पति गन्ने के खेत में उगने पर भी अपने दोष से मधुरता को नहीं प्राप्त करता है। अन्यत्र भी कहा है कि-

असाधुः साधुर्वा भवति खलु जात्यैव पुरुषः,
न सङ्गद्दौर्जन्यं न च सुजनता कस्यचिदहो ।
प्ररूढे संसर्गे मणि भुजगयोर्जन्म जनिते,
मणिर्नहिद्दोषान् स्पृशति न च सर्पे मणिगुणान् ॥१॥

अर्थात् - ''पुरुष निश्चर्य ही अपनी जाति की योग्यता से ही अच्छा या खराब होता है, संग से किसी में दुर्जनता या सज्जनता प्रगट नहीं होती है। सर्प और उसके मस्तक के मणि का जन्म से अति दृढ़ संसर्ग होने पर भी मणि सर्प के दोष को अथवा सर्प मणि के गुणों को स्पर्श भी नहीं करता है।''इसलिए गुणवान साधु भी पासत्थादि के संसर्ग से अपने गुणों का त्याग नहीं करता।

गुरु महाराज उत्तर देते हैं कि- तुम जो कहते हो वह द्रव्य के परिणाम विचित्र होने से एकान्त नहीं है। द्रव्य दो प्रकार का होता है, एक भावुक और दूसरा अभावुक। उसमें 'विरुद्ध धर्म वाले द्रव्य अपने गुण दोष से अन्य को अपने समान बनाता हैं अर्थात् अन्य द्रव्य के ऊपर अपने गुण दोष का असर छोड़ते हैं।' अथवा 'विरुद्ध धर्म वाला जो द्रव्य अन्य द्रव्य के संसर्ग-संयोग से उसके समान होता है वह द्रव्य भावुक है और शेष अभावुक कहलाता है।' जीव भावुक द्रव्य है। अनादि काल से स्वरूप से शुद्ध होने पर भी पासत्था आदि के द्वारा आचरण किए प्रमाद भाव से वह विपरीत परिणामी बनता है, इससे वह शुद्ध होते हुए भी कुशील के संसर्ग से अशुद्ध-कुशील बन जाता है। तुम कहते हो कि वैदूर्य मणि तथा नड नामक वनस्पति आदि तो अभावुक द्रव्य हैं, इसलिए उस दृष्टान्त के बल से भावुक जीव को भी संसर्ग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जन्य गुण दोष नहीं होता, इस तरह कह नहीं सकते हैं। जीवों में भी जो केवली-वीतराग बने हो और जो अभव्य हों, वह तो अभावुक ही हैं। जो जीव सरागी और भव्य है, वह पासत्थादि के साथ रहने से वैसा बनता है। इसमें इतना विशेष है कि-सरागियों में भी जो ज्ञानादि योग से परिपक्व बना है, वह उत्कृष्ट ज्ञान के परिणाम वाला जीव यद्यपि अभावुक है, फिर भी जो मध्यम दशा में वर्तन करते है वे तो भावुक ही होते हैं। इसलिए उन पासत्थादि के साथ थेड़ा सा- केवल बातों आदि का भी संसर्ग सुविहित मुनियों को करना निषेध है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि -

ऊणगसय भागेणं, बिंबाइं परिणमंति तब्भावं ।
लवणागराइसु जहां वज्जेह कुसीलसं सग्गिं ॥१११८॥

अर्थात् - "शतांश से भी कम, विरोधी किसी अन्य पदार्थ के सम्पर्क में यदि आ जाय तो (भावुक) द्रव्य 'नमक' के बर्तन आदि में पड़े अन्य पदार्थ खारे हो जाते हैं, वैसे ही साधक विराधक के पास रहने से वैसा बन जाता है। यहां आदि शब्द से मिसरी, खांड स्वादिक रस से वह दूसरा पदार्थ भी स्वादिष्ट होता है, अर्थात् अच्छे केपास-चारित्रशील के पास रहने से सामान्य व्यक्ति भी चारित्रशील बनता है इत्यादि समझ लेना। अधिक क्या कहें ? लोहा भी नमक के संसर्ग से यदि उसके सदृश हो जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है तो अन्य पदार्थों के लिए क्या ही कहना ? इसी तरह सुविहित साधु भी यदि पासत्थादि के साथ में केवल एक बोलना-वार्तालाप जितना भी संसर्ग करता है, तो उसके सदृश होने की संभावना हो सकती है। इसलिए कुशील आदि का संसर्ग अवश्यमेव त्याग करना चाहिए।

जिस समय साधु बहुत अधिक संवेगी हो उस काल की अपेक्षा से यह उत्सर्ग मार्ग बताया है। अपवाद मार्ग से तो संक्लिष्ट बहुत जीव हों उस काल में शुद्ध संवेगी साधु सहायक यदि न मिले तो पासत्था, कुशील आदि किसी योग्य शिथिलाचारी के साथ में भी रह सकता है। पंचकल्प भाष्य के अन्दर कहा है कि-

कालंमि संकिलिट्ठ, छ काय दया वरोवि वंविग्गो ।
कय जोगीणमलंभे, पणगन्नयरेण संवसइ ॥१॥

अर्थात् - "कषाय आदि से जब काल संक्लिष्ट हो तब तथाविध कृत योगी अर्थात् कृतकृत्य गीतार्थ का यदि संयोग न मिले, तो छः काय जीवों की दया के परिणाम वाले संवेगी साधु को पासत्था, अवसन्न, यथाच्छंद, बकुश और कुशील-इन पांच में से किसी में केवल एक-आधे दोष वाले के साथ में रहना चाहिए परन्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दो-तीन आदि अधिक दोषों से दूषित के साथ में नहीं रहना चाहिए। क्योंकि दोष-गुण के संयोग की तारतम्यता के आश्रित विराधक-आराधक भाव में भी थोड़ा बहुत तारतम्य होता है। उपदेश माला में कहा है कि-

एगागी पासत्थो, सच्छंदो ठाणवासी ओसन्नो ।
दुगमाई संजोगा, जह बहुआ तह गुरु हुं ति ॥३८७॥
गच्छगओ अणुओवी, गुरुसेवी अनियओ गुणाउत्तो ।
संजोएण पयाणं, संजम आराहगा भणिआ ॥३८८॥

अर्थात् - "एकाकी, पासत्था, स्वच्छंदी, एक ही स्थान में रहने वाला और आवश्यकादि क्रिया में शिथिल हो- ये पांच तथा उसके द्विक् संयोगी आदि विभाग भी होते हैं। जैसे कि-कोई एकाकी और पसत्था, कोई पासत्था और स्वच्छंदी, कोई अकेला, और स्वच्छदी, कोई अकेला और नियतवासी इत्यादि द्विक् संयोगी के दस विभाग होते हैं। त्रिसंयोगी में कोई अकेला, पसत्था और स्वच्छंदी; कोई अकेला स्वच्छंदी और अनियतवासी आदि दस विभाग होते हैं। इसी तरह चार संयोगी पांच और पांच संयोगी विभाग एक होते हैं। इस तरह संयोग के आश्रित के विभाग बहुत होते हैं। उसमें संयोगी जितने प्रमाण में बढ़ते हैं उतने ही दोष बड़े-कठोर होते हैं (३८७)। इससे विपरीत गच्छवासी, ज्ञानादि गुण वाला, गुरु आज्ञा का पालन करने वाला, अनियत-अप्रतिबद्ध विहारी और चारित्र गुण युक्त अप्रमादी- इन पांच के भी एक संयोगी आदि विभाग क्रमशः पांच, दस, दस, पांच और एक होते हैं उसमें जैसे जैसे संयोग पद बढता है वैसे वैसे गुण वृद्धि से अधिक आराधक होता है। (३८८)॥" उपदेश पद में पासत्थादि के संसर्ग में रहने के लिए कहा है, इससे **'अग्गी आदारण्णे'** आदि (८४१) की गाथा यहां चालू अधिकार में कही है। उपदेशमाला में भी कहा है कि-

सुबहु पासत्थाणं, नाऊणं जो न होइ मज्झत्थो ।
न य साहेइ सकज्जं कागं च करेइ अप्पाणं ॥५१०॥

अर्थात् - "जो साधु अपने समूह में बहुत पासत्थादि को देखकर माध्यस्थ्य (उपेक्षा) का सेवन न करे, वह स्वकार्य को साध नहीं सकता और अपने को काग तुल्य बनाता है अर्थात् पासत्थादि का अधिक विरोध करने से, वह उसकी निन्दा करके निर्दोष स्वयं को भी दूषित बनाता है।"

यहां प्रसंगोपात पासत्थादि को वंदना आदि करने के विषय में उत्सर्ग और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपवाद मार्ग कहते हैं। उनको वन्दनादि करने का निषेध-विवेक पहले भाग में गुरुवंदन अधिकार के अन्दर '**पासत्थाइ वंदमाणस्स**' गाथा द्वारा कहा है और उनको अभ्युत्थान आदि विनयादि करने से इस तरह प्रायशित्त कहा है कि-

अहच्छंद ब्भुट्ठाणं अंजलि करणे य हुंति चउ गुरुआ ।
अण्णेसुं चउ लहुआ, एवं दाणाइ सुवि णेयं ॥१॥

अर्थात् - "उनका अभ्युत्थान आदि विनय करने से प्रायश्चित्त कहते हैं कि- यथाच्छंद को अभ्युत्थान तथा अंजलि-दो हाथ जोड़कर नमन यदि करता है तो उस प्रत्येक क्रिया का प्रायश्चित्त 'चतुर्गुरु' समझना। उसमें अभ्युत्थान के छः भेद हैं- १. सामने खड़े रहना, २. आसन देना, ३. क्या कार्य करूं ? इस तरह उनके कार्य की याचना करना, ४. धर्म से गिरे को पुनः धर्म में जोड़ने के लिए अभ्यास करना- समीप में जाना, परिचय में आना, ५. अभेद रूप अविभक्ति अर्थात् एकमेक व्यवहार करना और ६. इन पांचों प्रकार से उनसे सम्बन्ध स्थापित करना। इन छः में चौथे अभ्यास करण के अतिरिक्त अन्य पांच प्रकार का सेवन करने से और सामर्थ्य होने पर भी अभ्यास करण नहीं करने से प्रायश्चित्त लगता है। अंजलि करण के भी छः प्रकार हैं- १. पच्चीस आवश्यक पूर्वक द्वादशावर्त वंदन करना, २. मस्तक नमाकर वंदन करना, ३. एक या दो हाथ जोड़ना, ४. बहुमान पूर्वक हृदय से 'नमो खमासमणाणं' कहना, ५. आसन बिछा कर देना और ६. इन पांचों प्रकार से संयोग करना। इस तरह छह प्रकार से यथाच्छंद का विनयादि करने से प्रायश्चित्त लगता है। शेष पासत्थादि को आठ तथा गृहस्थ को नौ (१. पासत्था, २. अवसन्न, ३. कुशील, ४. संसक्त, ५. यथाच्छंद, ६. नियतवासी, ७. सारूपी, ८. सिद्धपुत्र, ९. पश्चात्कृत और १०. गृहस्थ- इन दस में यथाच्छंद को भिन्न कहने से शेष नौ ही समझना) इनको कृतिकर्म-वंदन और अंजलि करने से 'चतुर्लघु' प्रायश्चित्त' आता है। उनको दान अनुप्रदान आदि करने से भी इसी तरह प्रायश्चित्त समझ लेना। पासत्था को अशन, पान आदि देने से और लेने से भी 'चतुर्लघु' प्रायश्चित्त लगता है, क्योंकि वे 'उद्गम-उत्पादन' आदि दोषों का सेवन करने वाले होते हैं इससे उनको अशनादि देने से उस दोष की भी अनुमोदना-पुष्टि होती है अर्थात् वह आहारादि उपयोग कर वे वैसे दोषों का सेवन करते है। उनका दूषित अशनादि लेने से भी वे दोष सेवन किए गिने जाते हैं। कहा भी है कि-

पासत्थो सन्नाणं, कुशील संसत्तनीअवासीणं ।
जे भिक्खू मसणाई, दिज्ज पडिच्छिज्ज वाऽऽणाई ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उग्गम दोसाईआ, पासत्थाई जओ न वज्जंति ।
तम्हा उ तव्वि सुद्धो, इच्छतो ते विवज्जिज्जा ॥२॥
सूइज्जइ अणुरागो, दाणेणं पीइओ अ गहणे तु ।
संसग्गया दोसा, गुणा अ इअ ते परिहरेज्जा ॥३॥

अर्थात् –''पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त या उनके साथ में रहने वाले– उनको जो साधु अशन आदि दे अथवा ले, उसे आज्ञा भंग, अनवस्था आदि दोष लगते हैं क्योंकि पार्श्वस्थ आदि प्रमादी एषणा समिति में उद्गम आदि दोषों का निवारण नहीं करते, इसलिए एषणा की विशुद्धि को चाहने वाले साधु को उनसे अशनादि आहार पानी नहीं लेना–देना चाहिए, वह देने से अनुराग का जन्म होता है और लेने में प्रीति होती है । इस तरह संसर्ग से गुण दोष उत्पन्न होने से उसका त्याग करना चाहिए।

पार्श्वस्थ आदि को वस्त्र देने से अथवा उनके पास से प्रतिहारिक अर्थात् वापिस देने के भाव से भी लेने में 'चर्तुलघु' प्रायश्चित्त लगता ही है । उनको पढ़ाने– अभ्यास कराने में अथवा उनके पास पढ़ने में भी सूत्र लेने देने में 'चतुर्लघु' और अर्थ पढ़ने पढ़ाने से 'चतुर्गुरु' तथा यथाच्छंद को पढ़ाने अथवा उसके पास में पढ़ने से सूत्र का 'चतुर्गुरु' और अर्थ का 'षड्लघु' प्रायश्चित्त आता है । वह भी अनेक दिन तक पढ़ने पढ़ाने में '**सत्तरत्तं तवो होइ**' अर्थात् सात दिन रात तक तप का प्रायश्चित्त लगता है इत्यादि शास्त्रोक्त क्रम से प्रायश्चित्त की वृद्धि समझना । पार्श्वस्थादि को पढ़ाने में, पढ़ने में वंदन करने में, या उसका वंदन लेने में, उनके दुष्ट संसर्ग आदि अनेक दोष संभवित हो सकते हैं। इससे वाचना के निषेध–उपसर्ग मार्ग से उनको वंदन आदि भी नहीं करना चाहिए । इस तरह निश्चय हुआ । एवं कारण–अपवाद मार्ग में तो वंदनादि करना चाहिए, अतः प्रथम वंदन के विषय में कहते हैं । वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि–

गच्छ परिरक्खणट्ठा, अणागयं आउवाय कुसलेणं ।
एवं गणाहि वइणा, सुहसीलगवेसणा कुज्जा ॥४५४२॥

अर्थात् – ''दुष्काल, राजभय आदि के समय में अथवा बीमारी में अशन, पान आदि द्वारा गच्छ का उपकार करने के कारण, उसका परिपालन करने के लिए 'अनागत' अर्थात् भविष्य में ऐसा दुष्कालादि प्रसंग आए उसके पहले ही 'लाभ के उपाय में कुशल' पासत्था आदि की सहायता से निर्विघ्न संयम पालन हो– ऐसा योग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिलाने में मुनि वैसा उपाय करे अर्थात् पासत्थादि को वंदन किए बिना केवल उनके शरीर की कुशलता-सुखशाता आदि पूछकर उनको प्रसन्न करे। इस तरह करने से उनको अप्रीति नहीं होगी, परन्तु वे 'अहो ! यह स्वयं तपस्वी होने पर भी इस तरह मेरे प्रति स्नेह रखता है।' इत्यादि समझते हैं। इस तरह लाभ और उसके उपाय करने में कुशल गणनायक बाद में कहते हैं- उस तरह सुखशील पासत्था आदि के आश्रय की शोध करना।" उससें सुख शातादि कहां पूछना चाहिए ? वह वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

वाहिं आगमण पहे, उज्जाणे देउले सभाए वा ।
रच्छ उपस्सय बहिआ, अंतो जयणा इमा होइ ॥४५४३॥

अर्थात् - "पासत्था आदि जहां रहते हों उस गांव नगरादि के बाहर आए हुए संवेगी साधु यदि वहां उन पासत्थादि को देखें तो वहां शरीर की सुख शातादि पूछें और भिक्षादि के लिए उस गांव आदि में जब जायें तब पासत्थादि आने के रास्ते में खड़े रहें- वहां पर भी पूछे। दर्शनार्थ उद्यान में आते यदि उनको देखे तो चैत्य वंदन के निमित्त वहां जाए और वहां भी पूछे। इसी तरह देव कुल अथवा व्याख्यान में यदि देखने में आए अथवा गली में भिक्षा के लिए घूमते समय सामने मिले, तो वहां भी उनसे कुशलतादि पूछे। यदि किसी प्रसंग पर वह कहे कि- 'हमारे उपाश्रय में आप कभी भी नहीं आते' तो उनकी इच्छानुसार उनके उपाश्रय में साथ जाय, परन्तु वहां बाहर खड़े रहकर उनसे सुखशातादि सर्व कुशल समाचार पूछे, यदि वे आग्रह करें तो उपाश्रय में जाकर भी वैसे पूछ सकता है।" अब कैसे पुरुष विशेष को वंदनादि विवेक करना या न करना, वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि -

मुक्कधुरा संपाडगसेवी चरणाकरण पब्भट्ठे ।
लिंगा वसे समित्ते, जं कीइइ तारिसं वोच्छ ॥४५४४॥

वायाइ नमुक्कारो हत्थुस्सेहो य सीस नमणं च ।
संपुच्छणाऽच्छणं, छोभवंदणं वंदणं वापि ॥४५४५॥

ए आइं अकुव्वंतो, जहारिहं अरिह देसिए मग्गे ।
ण हवइ पवयण भत्ती, अभंतिमं ताइआ दोसा ॥४५४६॥

अर्थात् - "पहले भाग में दिनचर्या के अन्दर पच्चक्खान के बाद के कर्त्तव्य में इस तरह कहा गया है कि-संयम के कष्ट सहन करने जिसने छोड़ दिए हैं, जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धर्म की निन्दा से नहीं डरते, प्रगट रूप में मूल-उत्तर गुण में जो दोष सेवन करते हैं, इससे वे गुण उसमें रहे भी नहीं है, ऐसे केवल वेषधारी को वंदन करने-नहीं करने के विषय में क्या कहना ? उसके लिए कहते हैं कि-स्थंडिल भूमि आदि जाते समय यदि गांव आदि के बाहर वह मिले तो 'सुख शाता पूछना, मत्थएण वंदामि कहना' इत्यादि वचन व्यवहार करना, यदि वह अभिमानी हो तो हाथ भी जोड़ना, यदि वह प्रभावशाली हो तो मस्तक भी नमाना और यदि वह प्रभावक हो तो बाहर से सद्भाव भी दिखाना, शरीरादि का कुशल पूछना, बहुमान के लिए थोड़े समय वहां खड़े रहना और विशेष कारण से तो उनके उपाश्रय में जाना चाहिए। इसके उपरान्त यदि जरूरत दिखे तो थोमवंदन अथवा अधिक लाभ के लिए सम्पूर्ण वंदन भी करना। विशेष कारण से पासत्थादि को श्री अरिहंत भगवन्त के कहे अनुसार विधि से जो यथा योग्य वंदनादि नहीं करता है उसकी प्रवचन-शासन की आराधना नहीं होती, उल्टी शासन की अभक्ति आदि दोष लगते हैं।" अब किस कारण से वंदन करना ? उसके लिए वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

परि आय परिस पुरिसं, खेत्तं कालं च आगमे नच्चा।
कारण जाए जाए जहारिहं जस्स जं जोग्गं ॥४५५०॥

अर्थात्- "इसका भावार्थ भी वहां कह दिया है कि-चारित्र पर्याय अथवा शिष्यादि परिवार यदि बड़ा हो, विनीत साधुओं की बड़ी पर्षदा उसकी आज्ञा में हो, जिसका संघ में व्यक्तित्व हो, संघ-कुल-गण आदि की रक्षा के कार्य जिसके आधीन हों, विहार के क्षेत्र भी उसके स्वाधीन हों, उसकी अनुमति बिना अन्य क्षेत्रों में रहना दुःशक्य हो, दुर्भिक्ष आदि काल विषम हो, और आगम ज्ञान अन्य स्थान में मिलना मुश्किल हो, अन्य पढ़ाने वाला कोई न हो तो अभ्युत्थान, विनय, वंदन आदि जो जो करने से उनकी उस विषय में सहायता मिले, वह उतने प्रमाण में करना चाहिए।" विपरीत कारण से उनको वन्दन न करने से प्रायश्चित्त भी वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

उपन्न कारणं मि किइ कम्मं न कुज्ज दुविहं पि।
पासत्थाई आणं, उग्घाया तस्स चत्तारि ॥४५००॥

अर्थात्- "उपर्युक्त किसी कारण से जब आ पड़े, तब भी यदि पासत्थादि का 'वंदन अभ्युत्थान रूप' दो प्रकार से विनय नहीं करता, उसे 'चतुर्लघु' प्रायश्चित्त लगता है। इत्यादि समझ लेना।" इसी तरह आहार वस्त्र आदि देने-लेने में भी कारणों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का विचार करके आचार करना। और भी कहा है कि-

असिवे ओमो अरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने ।
अद्धाण रोहए वा, दिज्जा अहवा पडिच्छेज्जा ॥१॥

अर्थात्- "मरकी, मारी आदि के उपद्रव प्रसंग पर, दुष्काल में, जब राजा द्वेषी बना हो तब, चौरादि के भय में, बीमारी और विहार के लिए राजादि का विरोध होता हो उस समय में पासत्था को भी आहार वस्त्र आदि देना और आवश्यकता पड़े तो ले भी सकते हैं।"

भिक्षुक अथवा भिक्षुकी जब गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए जाय, उस समय ऐसा विचार करे कि-यहां कोई निर्ग्रन्थ मुनि, कोई यति, ब्राह्मण, गांव का कोई भिक्षुक या अतिथि पहले भिक्षा के लिए आए हैं, तो यह जानकर दातार के चित्त में क्षोभ अथवा ग्राहक को अन्तराय न हो उसके लिए देखे, अथवा निकलने वाले द्वार के पास में भी खड़ा न रहे, परन्तु भिक्षार्थ आए उस श्रमणादि को जानकर, वे न जानें इस तरह स्वयं एकान्त, एक ओर हटकर- कोई न देखे इस तरह खड़ा रहे। फिर भी वहां खड़े हुए उसे देखकर दातार पूर्व में आए हुए को अशन, पान, खादिम या स्वादिम- इन चारों में कोई प्रकार का आहार लाकर दे और उनको यदि इस तरह कहे कि 'हे आयुष्यमान् श्रमणादि ! यह अशन आदि, सब को बांट कर देने में मैं समर्थ नहीं हूँ इसलिए सबको इकट्ठा देता हूँ, इसे आप अपनी इच्छानुसार अकेले लो अथवा बांट लो।' इस तरह कहे तो वह अशनादि उत्सर्ग मार्ग से ही नहीं लेना, कोई दुष्काल या महा अटवी पार करते परिश्रमादि कारण से अपवाद मार्ग से यदि लेना पड़े तभी लेना। वह लेने के बाद मौनपूर्वक नहीं जाना तथा ऐसी कल्पना भी नहीं करना कि 'मुझे अकेले को ही दिया है, इसलिए मैं अकेला ही खा जाऊं।' क्योंकि ऐसा करने से मायादोष लगता है। तब क्या करना चाहिए ? वह कहते हैं कि-अशनादि लेकर उन श्रमणादि के पास में जाना। वहां जाकर पहले वह अशनादि उसे दिखाना और कहना कि 'हे आयुष्यमान् श्रमणादि ! यह अशन आदि वस्तु दाता ने तुमको हमको सबके लिए दी है, इसलिए एकत्रित खा लें अथवा बांट लें।' इस तरह कहने के बाद सामने से कोई ऐसा कहे-'आयुष्यमान् श्रमण ! आप ही इसे बांट दो।' तब बंटवारा करते समय उसमें का 'खद्ध' अर्थात् लड्डू आदि, शाग, वर्ण, गंध आदि से श्रेष्ठ स्वादवाला, मनोज्ञ-मन पसंद, विगई वाला, अथवा लूखा जो जो मिला हो वह स्वयं न लेकर उसमें मूर्छा, गृद्धि प्रीति या आसक्ति किए बिना सभी को समान रूप में जहां तक हो सके- थोड़ा भी कम ज्यादा न हो वैसे बांटना। यदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सामने वाला यह कहे कि- 'हे आयुष्यमान् श्रमण ! इसे बांटो मत' हम सब साथ में आहार करेगें, अथवा उसको समय देना।' इस तरह होने पर अन्य धर्मियों के साथ में तो एकत्रित आहार नहीं करना। यदि वह स्वधर्म वाला भी पासत्था आदि या अपना संभोगिक हो तो आलोचना करके उनके साथ में आहार करे। परन्तु उसमें विधि समझना कि जो बहुत अच्छी, अच्छे वर्ण वाली, रसदार, मन पसंद या विगइ आदि श्रेष्ठ हो उसे मूर्छादि से स्वयं ही न खाए किन्तु मूर्छा, आसक्ति अथवा लोलुपता के बिना प्रत्येक वस्तु समान हिस्से से ही आहार करना और पीने का पानी इत्यादि आचरांग सूत्र, द्वितीय श्रुत स्कंध, अध्ययन पहला, उद्देश ५-२६ में कहा है।

वस्त्र आदि के लेने-देने में भी ऐसी ही विधि है। उसमें इस तरह अपवाद कहा है कि जो गृहस्थ या कोई अन्य धर्मी साधु दीक्षा लेना चाहे, तो उसे अपने वस्त्र-पात्रादि दे सकता है, वस्त्र सुलभ हो तब पार्श्वस्थादि के पास से लिया अथवा उसे दिया जाय। यदि मार्ग में जाते समय विहार में चोर से लुट जाय तो ऐसे प्रसंग पर अन्य से वस्त्र यदि न मिले तो पासत्थादि के पास से भी ले सकते हैं। किसी ठंडी वाले प्रदेश में जब शीतादि परीषह सहन न हो तब परिहारिक (उधार) भी ले सकता है, अथवा कोई बीमार साधु हो उसके लिए बिछाने योग्य यदि आवश्यकता पड़े तो याचना करके भी ले सकते हैं, इत्यादि अपवाद मार्ग समझना।

पार्श्वस्थादि को वाचना देने में भी इसी तरह अपवाद है कि जब कोई पार्श्वस्थादि उद्यत बिहारी के पास में उप संपदा स्वीकार करे तब वह यदि उद्यत विहारी से आचरण करे तो उसे वाचना देनी चाहिए (मूल छपी प्रति में 'न' और 'वा' है, वह अधिक रूप समझा जाता है या उसका उद्यत विहारी से आचरण हो फिर भी उसमें यदि योग्यता न दिखती हो तो वाचना नहीं देनी चाहिए- ऐसा अर्थ करना) अथवा पासत्थादि होने पर यदि संवेगी जीवन स्वीकार करना चाहे, तो वह जब तक संवेगी न बने तब तक पासत्थादि रूप में वाचना नहीं देनी चाहिए। इत्यादि यहां प्रसंगानुसार कहा है। अब मूल में कहा है कि-

अर्थपद चिन्तन- पद या वाक्य के आधार पर अर्थ का जो ज्ञान होता है वह 'अर्थपद' कहलाता है। ऐसे पद, वाक्य आदि के आधार पर अर्थ का चिन्तन करना, अर्थात् पदादि के विषय का विचार करके जो पदादि जिस अर्थ का वाचक हो उस अर्थ को घटाना चाहिए। उसे अर्थ पद का चिन्तन कहते हैं। कहने का भावार्थ यह है कि-सूक्ष्म बुद्धि से चिन्तन मुख्य बनाकर शास्त्र पाठ के अर्थों का विचार करना चाहिए। इस तरह स्वयं विचारकर, अन्य बहुश्रुत के पास से उस अर्थ का निश्चय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करके, जो पद जिस अर्थ में होता हो उसी अर्थ का निश्चय करना चाहिए। इस तरह शास्त्र पाठों के अर्थ का विचार किए बिना धर्म में श्रद्धा प्रगट नहीं होती है। परमर्षियों का कथन है कि-श्री अरिहंत भगवन्त के द्वारा कथित धर्म को सुनकर, उसके अथ 'पद को शुद्ध सोच विचार करके निश्चय किया हुआ अर्थ आदि शुद्ध गिना जाता है, इसलिए उस पदादि का विचार करके उसके अर्थ को निश्चित करना चाहिए। जैसे-

बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ आदि ने साथ में दीक्षाबली थी। उसमें साधुओं को आहार पानी आदि लाकर बाहु मुनि देता था और सुबाहु सब की वैयावच्च में विशेष रुचि प्रगट करता था। एक दिन गुरु के द्वारा उनकी प्रशंसा सुनकर पीठ और महापीठ ने विचार किया कि "हम इतना तप स्वाध्याय आदि करते हैं, फिर भी गुरुजी प्रशंसा नहीं करते और बाहु-सुबाहु की प्रशंसा करते हैं। वस्तुतः सब अपना काम करने वालों की प्रशंसा करते हैं।" इत्यादि विकल्प करने से स्त्रीवेद बंधन किया। अतः सूक्ष्म भी अतिचार यदि ब्राह्म सुन्दरी आदि के समान स्त्री रूप में जन्म आदि का कारण बना तो प्रमत्त गुणस्थान में रहने वाले साधु का चारित्र अतिचार सहित होने से क्या मोक्ष का कारण बन सकता है ? इस तरह शास्त्र में कहना कैसे घट सकता है ? गुणस्थान के प्रमाद युक्त होने से वहां अतिचार बहुत लगता है।

[उपाख्यान- इसका समाधान इस तरह विचार करना कि-यदि साधु दीक्षित होने पर सूक्ष्म भी अतिचार का सेवन करे तो उसका विपाक अति रौद्र-कठोर ही होता है, किन्तु उस अतिचार के प्रतिपक्षी शुद्ध अध्यवसाय ही प्रायः उस अतिचार जन्य पाप को क्षय कर सकते हैं। आलोचना आदि प्रायश्चित्त करने मात्र से उसका क्षय नहीं होता क्योंकि ब्राह्मी सुन्दरी के पूर्व जन्म के जीव पीठ और महापीठ ने भी आलोचना तो की थी, फिर भी अतिचार का क्षय नहीं हुआ था। इस ग्रन्थ में संवर भावना में कहे अनुसार उन क्रोधादि के प्रतिपक्षी क्षमादि का अध्यवसाय समझना। इस तरह उस अतिचार के प्रतिपक्षी तुल्य गुण वाला-समान बल वाला अथवा अधिक गुण वाला शुद्ध अध्यवसाय जिसमें प्रगट होता है उस प्रमत्त चारित्रवंत को भी चारित्र का पालन अघटित नहीं होता। जैसे अच्छी तरह से प्रतिकार करने से जहर अपना काम नहीं कर सकता है वैसे ही अतिचार भी उसके समान गुण वाले प्रतिपक्षी अध्यवसायों द्वारा प्रतिकार होने से निष्फल होता है, अपना काम कर नहीं सकता है।

यहां प्रश्न करते हैं कि-यदि इस तरह प्रतिपक्षी अध्यवसाय से अतिचार का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रतिकार हो सकता है तो प्रायश्चित्त आदि करने करवाने का व्यवहार (बाह्य व्यवहार रूप होने से) निरर्थक है ? इस का उत्तर देते हैं कि-प्रायश्चित्त आदि यतना-संयम का व्यवहार जहां अतिचार के तुल्य न कर सकें, अर्थात् प्रायत्तित करने पर भी जहां अतिचार कठोर होने से निष्फल नहीं होता, वहां 'प्रतिपक्षी अध्यवसायों के साथ वह आलोचना प्रायश्चित्त करना' ऐसा कहने से प्रायश्चित्त की विशिष्टता बताने वाला 'प्रतिपक्षी अध्यवसाय पूर्वक' यह विशेषण सफल है, घटता ही है क्योंकि विशेषण द्वारा विशेष्य का उत्कर्ष होने से विशेष्य सफल होता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिपक्षी अध्यवसाय पूर्वक प्रायश्चित्त सफल हो सकता है, इसलिए प्रायश्चित्त करने पर भी वह 'प्रतिपक्षी अध्यवसाय पूर्वक करना चाहिए। 'ऐसा कहना निरर्थक नहीं है। फिर भी विशेष्य-विशेषण में कौन बलवान् है ? उसका निर्णय करने में नय के भेदों की अपेक्षा रहती है, इससे इसके निर्णय का अभाव रोकना यानि निर्णय करना दुष्कर ही है।

यहां फिर प्रश्नकार कहते हैं कि- उपर्युक्त समाधान स्वीकार करने पर भी यह प्रश्न उठता है कि बार-बार किया गया प्रमादाचरण क्रमिक होता है, उसे प्रतिपक्षी एक अध्यवसाय से कैसे रोक सकते हैं ? क्योंकि बारम्बार मिथ्या दुष्कृत देने पर भी बारम्बार किए अतिचार रुक नहीं सकते है। उत्तर-यह समाधान करने के लिए ही यहां केवल 'प्रतिपक्षी अध्यवसाय' इस तरह कहा है। इससे यह सममझना कि केवल एक ही बलवान प्रतिपक्षी से बहुत भी अनाथों का जैसा पराभव (नाश) होता है, वैसे ही कर्म जनित जड़ता से अनेक अतिचार भी निर्बल हैं। इसके सामने आत्म के स्वभाव से प्रगट हुआ छोटा भी चैतन्य रूप प्रतिपक्षी अध्यवसाय बलवान होने से उसका नाश करता है। यह उपदेश पद आदि ग्रन्थों में प्रगट रूप कहा ही है।

प्रश्नकार कहते हैं कि-'चाहे यह बात स्वीकार करें कि मानसिक विकार प्रतिपक्षी अध्यवसाय से मानसिक शुद्धि से निवृत्त होता है परन्तु कायिक दुष्ट प्रवृत्ति रूप अतिचार मानसिक अध्यवसायों से किस तरह रुक सकता है ?' उत्तर-'इसका समाधान इस तरह विचार करना कि संज्वलन कषाय के उदय से लगने वाले अतिचार भी मानसिक विकार रूप हैं और द्रव्य अतिचार रूप कायिक दुष्ट वृत्ति आदि तो जड़ हैं, इससे वह थोड़ी ही भाव शुद्धि से रुक सकते हैं, इत्यादि यहां दिशा सूचन मात्र समझना।]

इस तरह शास्त्र वाक्य-पदों को गंभीरता पूर्वक अर्थ तर्क और समाधान रूप में चिन्तन करना, इससे श्रद्धा शुद्ध होती है। यह अर्थ पद चिन्तन कहा है, उसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बारम्बार चिन्तन करना और निश्चित करना पांच प्रकार के स्वाध्याय में चौथा 'अनुपेक्षा' नाम का भाव स्वाध्याय कहा है, वाचना पृच्छना आदि द्रव्य स्वाध्याय हैं। भाव स्वाध्याय बिना अर्थ का ज्ञान नहीं होता और अर्थ ज्ञान के बिना श्रद्धा प्रगट नहीं होती, श्रद्धा और भावश्रुत बिना चारित्र के अध्यवसाय का स्थान प्राप्त नहीं होता या उसकी विशुद्धि नहीं होती। इसलिए अर्थ पद का चिन्तन सविशेष आवश्यक है। इस तरह १२५ वें श्लोक का वर्णन पूर्ण हुआ। अब शेष कर्त्तव्य कहते हैं-

विहारोऽप्रति बद्धश्च, सम्यग्गीतार्थ निश्रया ।
महामुनि चरित्राणा, श्रवणं कथनं मिथः ॥१२६॥

मूलार्थ- "गीतार्थ की निश्रापूर्वक आगमानुसार अप्रतिबद्ध विहार करना और महामुनियों के जीवन चरित्र सुनना तथा परस्पर कहना, यह भी सापेक्ष यति धर्म है।"

व्याख्या- द्रव्य, क्षेत्र आदि के प्रतिबन्ध से होने वाले राग द्वेषादि छोड़कर मास कल्प आदि क्रम से अन्य अन्य स्थान में जाने रूप विहार करना, सापेक्ष यति धर्म है। विहार के विषय में द्रव्यादि निमित्त के भेद से चार प्रकार का प्रतिबन्ध बंधन रूप कहा है। उसमें द्रव्य विषय में अर्थात् भक्ति वाले श्रावक आदि में, क्षेत्र विषय में अर्थात् प्रतिकूल पवन-प्रकाशादि रहित उपाभय आदि में, काल विषयों में शीत आदि परिषह के हेतु भूत शिशिर आदि ऋतुओं में और भाव विषय में अर्थात् शरीर पुष्टि आदि में, इस तरह अनुकूल-प्रतिकूल द्रव्यादि चार के प्रति राग-द्वेष करने रूप चार प्रकार से प्रतिबन्ध समझना।

यहां इस प्रकार समझना कि-उपर्युक्त प्रतिबन्ध से अर्थात् सुख के लालच से उत्सर्ग मार्ग में एक मास से अधिक एक स्थान पर नहीं रहना। विचरने में भी द्रव्यादि का प्रतिबन्ध नहीं करना। तात्पर्य यह है कि-मास कल्प आदिं के क्रम से भी यदि द्रव्यादि में प्रतिबन्ध रहित हो तो उसका विहार सफल व संयम साधक होता है। इससे उलटे 'अमुक शहर आदि क्षेत्र में रहकर बहुत श्रीमंतों को श्रावक बनाऊँ और ऐसा उपदेश करूँ कि मेरे अतिरिक्त वे अन्य के भक्त न बनें।' इस तरह भक्त, आहार, पात्र आदि द्रव्यों के प्रतिबन्ध से, तथा अमुक क्षेत्र में 'पवन रहित उपाश्रय आदि होने से वह क्षेत्र इष्ट सुख को देने वाला है, इसलिए वहां जाऊँ' इस तरह क्षेत्र के प्रतिबन्ध से, एवं 'अमुक क्षेत्र में ऋतु सुखकर-अनुकूल है, इसलिए उस ऋतु में वहां

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाऊं।' इस तरह काल के प्रतिबन्ध से और 'स्निग्ध, मादक, मधुर आदि आहारादि मिलने से मेरे शरीर की पुष्टि आदि सुख होगा, यहां ऐसी आहारादि पुष्टिकर सामग्री मिले, ऐसा नहीं है। इसलिए जहां वह मिल सके वहां विहार करूं इत्यादि भाव प्रतिबन्ध से उग्र-लम्बे विहार करे। इतना ही नहीं, परन्तु 'इस तरह उग्र विहार से विचरते हुए मुझे लोग उग्र विहारी मानेंगे और अमुक साधु को तो शिथिल मानेंगे' इत्यादि भाव प्रतिबन्ध से यदि विचरण करें तो भी संयम रक्षा के बदले में पौद्गलिक सुख की इच्छा आदि होने से ऐसा शास्त्रनुसार मास कल्प आदि क्रम से विहार किया हो फिर भी कार्य-संयम साधक नहीं बनता। इससे एक स्थान पर रहे या विहार करे, परन्तु जो साधु उपयुक्त द्रव्यादि के प्रतिबन्ध से रहित हो उसे ही विहार अथवा विशेष कारण से स्थिर वास भी श्रेयस्कर है।

कारण से तो अधिक-कम मास कल्प भी कर सकता है। उसके कारण रूप में प्रतिकूल दुष्ट द्रव्यादि रूप दोष समझना। उसमें जहां के आहार पानी आदि द्रव्य शरीर या संयम के अनुकूल न हों वह द्रव्य से प्रतिकूल, संयम को उपकार न करे ऐसे उपाश्रयादि वह क्षेत्र से प्रतिकूल, दुष्काल आदि समय काल से प्रतिकूल और बीमारी या ज्ञान हानि होती हो, वृद्धि न होती हो इत्यादि भाव से प्रतिकूल, इस तरह द्रव्यादि की प्रतिकूलता रूप दोष समझना। क्योंकि बाह्य दृष्टि से मास कल्पादि विहार न हो सके तब भी भाव से उपाश्रय, मोहल्ला, गली आदि अथवा उस उपाश्रय में ही संथारे की भूमि कोना बदल कर भी एक ही गांव आदि में रहना हो तो भी प्रति मास स्थान बदलना चाहिए। पंच वस्तु में प्रश्नोत्तर रूप में कहा है कि-

मोंत्तुण मास कल्पं, अन्नो सुत्तम्मि नत्थि उ विहारो।
ता कह माइग्गाइणं ? कज्जे ऊणाइ भावा ओ ॥८६६॥

अर्थात्- "यहां प्रश्न करते हैं कि सूत्र में मास कल्प की मर्यादा रहित विहार नहीं कहा, तो यहां आदि शब्द क्यों कहा गया ? उत्तर-तथाविध ज्ञानादि की वृद्धि आदि के प्रयोजन से मास कल्प कम ज्यादा भी हो सकता है, संयम के कारण से कम ज्यादा भी होता है, इसलिए 'आदि' शब्द कहा गया है।" प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

कालाइदोसओ जह न दव्व ओ एस की रए नियमा।
भावेण तहवि कीरइ, संथारग वच्च याईहिं ॥ ७७४ ॥

अर्थात्-"काल आदि के दोष से जिस द्रव्य से परिवर्तन मास कल्पादि विहार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न कर सकता हो तो भी संथारे की भूमि बदलनी चाहिए। इत्यादि भाव से तो नियम विहार करना ही चाहिए।'' इस तरह एक ही गांव में रहकर भी भाव से स्थानान्तर करते साधुओं को वैसा करना जिनाज्ञा से विरुद्ध नहीं है। उपदेश माला में कहा है कि-

पंच समिया ति गुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे ।
वाससंयपि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिआ ॥३६१॥

अर्थात्- ''पांच समिति से समित, तीन गुप्ति से गुप्त और सत्तर विध संयम में, बारह प्रकार के तप में और चारित्र अनुष्ठान में उद्यमी साधुओं को सौ वर्ष तक एक स्थान पर रहने पर भी आराधक कहा है।''

इस तरह होने पर अजयणा वाले को भी विहार तो हो सकता है, इसलिए उसके प्रतिकार के लिए मूल में कहा है कि-विहार 'सम्यग्' अर्थात् द्रव्यादि की जयणा से करना। उसमें द्रव्य से मार्ग में जीवों को देखते हुए क्षेत्र से आगे चार हाथ भूमि को देखते हुए काल से चलना आवश्यक हो वहां तक जाना और भाव से उपयोग पूर्वक चलना, इस तरह द्रव्यादि यतना से विहार करना। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

दव्वाओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं तु खित्तओ ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्तो अ भावओ ॥७७१॥

अर्थात्-''द्रव्य से आंखों से देखना, क्षेत्र से युग प्रमाण आगे भूमि को देखना, काल से जब तक चले तब तक, और भाव से उपयोग पूर्वक- इस तरह चार प्रकार से जयणा पूर्वक विहार करना।'' ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

थंयं तु वच्चा माणो जुगंतरं चक्खुणा व पडिलेहे ।
अइदू रचक्खु पाए, सुहुमतिरिच्छग्गय न पेहे ॥३२५॥

अर्थात्-''मार्ग में चलते हुए मुनि एक युग जितनी भूमि को नेत्र से पडिलेहन करते- देखते चलते हैं क्योंकि दृष्टि यदि अति दूर पड़ती है तो भूमि के ऊपर के सूक्ष्म जीवों को देख नहीं सकते। और भी कहा है कि-

अच्चा सन्न निरोहे, दुक्खं दट्ठुंपि पाय संहरणं ।
छक्काय विउ रमणं सरीर तह भत्त पाणे य ॥३२६॥

अर्थात् -''यदि दृष्टि को अति नजदीक रोके तो भूमिगत जीव को बचाना मुश्किल हो जाता है। इस तरह होने पर भी यदि बचाने का प्रयत्न करे तो गिर जाने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से छः काय के जीव की विराधना तथा शरीर में चोट आदि आ सकती है और आहार पानी भी गिर जाता है ।'' इसलिए ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

उड्ढमुहो कहरत्तो, आवियक्खंतो वियक्खमाणो य ।
वातरकाए वहए, तसेयरे संजमे दोसा ।।३२७।।

अर्थात्- ''मुख ऊँचा करके, बातों मे रत बनकर, पीछे देखते और आगे भी सर्व दिशाओं में जहां तहां देखते हुए यदि चलें तो त्रस और पृथ्वी कायादि स्थावर जीवों की भी हिंसा होने की संभावना हो सकती है । स्वयं में दोष अथवा असंयम हो सकता है ।''

इस तरह जयना पूर्वक विहार यथाच्छंदक-शिथिलाचारी को भी हो सकता है, वह इष्ट नहीं है । इसलिए यहां कहा है कि-गीतार्थ की निश्रा में विहार करना चाहिए । उसमें 'गीत' अर्थात् कृत-अकृत्य जिसने जाना हो वह 'अर्थ' अर्थात विभाग उसे गीतार्थ कहते हैं, अथवा 'गीत' अर्थात् सूत्र से और 'अर्थ' अर्थात् अर्थ से जो युक्त हो, अर्थात् शास्त्रों के वचन और रहस्य को जो जानता हो उसे गीतार्थ समझना । कहा है कि-

गीअं भण्णइ सुत्तं, अत्थो पुण होइ तस्सा वक्खाणं ।
गीएण य अत्थेण य, जुत्तो सो होइ गीअत्था ।।१।।

अर्थात्- ''सूत्र को गीत कहते हैं और उसकी व्याख्या-वाच्य को अर्थ कहा जाता है । उस गीत और अर्थ से जो युक्त हो उसको गीतार्थ कहा जाता है ।'' ऐसे गीतार्थ की निश्रा में अर्थात् उनकी आज्ञानुसार विचरण-विहार आदि करना चाहिए । वह अगीतार्थ की निश्रा में नहीं होना चाहिए । उपदेश माला में कहा है कि-

गीअत्थो अ विहारो, बीओ गीअत्थ मीसिओ भणिओ ।
एत्ता तइअ विहारो, नाणुण्णाओ जिणवरेहिं ।।१२१।।

अर्थात्- ''एक स्वयं गीतार्थ बना हो वह तथा दूसरा गीतार्थ से मिश्रित अर्थात् गीतार्थ के साथ में- इस तरह प्रकार से विहार कहा है । इसके अतिरिक्त तीसरे विहार की श्री जिनेश्वर भगवन्त ने आज्ञा नहीं दी है ।'' कहने का तात्पर्य यह है कि-जो गीतार्थ हो वही कार्य अकार्य को जान समझकर, देखकर, जिससे संयम में लाभ हो वैसा वर्तन कर सकता है । अज्ञानी साधु अपनी बुद्धि से आचरण करते हैं । इससे संयम की विराधना होती ही है । वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुंकादी परिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वणि ओ चिट्ठं ।
एमेव य गीअत्थो, आयं दट्ठुं समायरइ ॥६५२॥

अर्थात्- "जैसे व्यापारी- राज्यादि का दान, मकान आदि का किराया, ब्याज-सूद, नौकरादि का खर्च आदि सब देने के बाद- यदि लाभ हो तो ऐसी प्रवृत्ति- व्यापार करे और यदि इतना लाभ न हो तो न करे । इसी तरह गीतार्थ भी ज्ञानादि गुणों के लिये यदि अधिक लाभ की संभावना हो तो छोटे दोष रूप अपवाद का सेवन करें, अन्यथा सेवन न करें" इस कारण से ही शास्त्र में गीतार्थ को केवली तुल्य कहा है । वृहत्कल्प भाष्य में भी कहा है कि-

सव्वं णेय चउहा, तं बेइ जिणो जहा तहा गीओ ।
चित्तमचित्तं मीसं, परित्तणंतं च लक्खणतो ॥६६३॥

अर्थात्- "सारे ज्ञेय भाव के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव- चार भेद हैं । उन चारों को श्री जिनेश्वरों ने जिस तरह वर्णन किया है, उसी तरह से गीतार्थ भी वर्णन कर सकते हैं, क्योंकि सचित, अचित या मिश्र, प्रत्येक या साधारण सर्व पदार्थों को श्री जिनेश्वर ने केवल ज्ञान से जानकर जितना कहा है उतना गीतार्थ जिन कथित शास्त्र में कहे लक्ष्णों से जान सकते हैं, इसलिए दोनों का कथन समान होता है ।"

यहां प्रश्न करते हैं कि "केवल ज्ञानी सर्व समूह के त्रिकालिक पर्याय आदि जानते हैं और गीतार्थ श्रुत ज्ञानी केवल ज्ञान के अनंतवें भाग को जानते हैं, इसलिए उनको केवली तुल्य कहने में दोष क्यों नहीं लगता ?" इसका उत्तर देते हैं कि वृहत्तकल्प भाष्य में कहा है कि-

कामं खलु सव्वन्नु, नाणेणऽहिओ दुवाल संगीतो ।
पन्नत्तीइ उ तुल्लो, केवल नाणं जओ मूयं ॥६६३॥

अर्थात्- "काम' अर्थात् निश्चय से हम भी मानते हैं कि- सर्वज्ञ केवली द्वादशांगी धारक श्रुत केवली के ज्ञान से अधिक है, किन्तु 'प्रज्ञप्ति' से अर्थात् कथन से केवली भी श्रुत केवली के समान है, क्योंकि -केवल ज्ञान गूंगा अर्थात् अनक्षर- अवाच्य है ।" तात्पर्य यह है कि जितने पदार्थों को श्रुत केवली कह सकते हैं उतने ही पदार्थ केवली भी कह सकते हैं । श्रुत ज्ञान के विषय के बाहर अधिक जिस भाव को केवली भगवन्त जानते हैं, वही कह सकते हैं- ऐसा नहीं होने से केवली भी उसे नहीं कह सकते, इसलिए प्ररूपण-कथन में दोनों की समानता है । इत्यादि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विस्तार करना यहां आवश्यक नहीं है। आगे विहार का स्वरूप को बताने वाला पाठ अन्य प्रति में प्रायः अधिक है, उसे कहते हैं।

प्रसंगानुसार विहार की कुछ विधि वृहत् कल्प भाष्य के अनुसार कहते हैं। गच्छ में आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, भिक्षुक और क्षुल्लक- ये पांच प्रकार के साधु होते हैं। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

निप्फत्तिं कुणमाणा, थेरा विहरंति तेसिमा मेरा ।
आयरिय उवज्झाया, भिक्खू थेरा य खड्डा य ॥१४४७॥

अर्थात्- "शिष्यों की-उपलक्षण से उपकरण की प्राप्ति को करते गच्छ वासी साधु अप्रतिबद्ध भाव से विचरण करें। उनकी मर्यादा-समाचारी इस प्रकार से है- वे गच्छ वासी साधु आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक (छोटे- नव दीक्षित) ये पांच प्रकार के होते हैं।"

उन शिष्यों की उत्पत्ति करते अर्थात योग्य जीवों को दीक्षा देते आठ महीने तक विचरण (विहार) करे। तब जो प्रत्युपेक्षक अर्थात् उपधि-वसति आदि प्राप्त करवा कर देने वाले गीतार्थ होते हैं वे क्षेत्र की प्रत्युपेक्षणा-विचरण करने योग्य क्षेत्र का शोध करते हैं, यदि करने में कोई विघ्न कारण हो तो वे कार्तिक चौमासा पूर्ण होते ही पहले अथवा बाद भी निकलें और यदि कोई विघ्न कारण न हो तो कार्तिक चौमासा का प्रथम दिन प्राप्त होते ही निकले और अषाढ़ चौमासा पूर्ण होते (जहां चौमासा रहे हो, उस क्षेत्र से) बाहर जाकर ही पच्चक्खान पारे एवं आहार पानी ले। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

निग्गमणम्मि उ पुच्छा, पत्तम पत्ते अइच्छिए वावि ।
बाधायंमि अपत्ते, अइच्छिए तस्स असतीए ॥१४५०॥

अर्थात्- "जहां चौमासा किया हो, वहां से विहार करने के विषय में शिष्य प्रश्न करते हैं कि-कार्तिक चौमासा बैठने के पहले अथवा बैठ जाने के बाद कब विहार करना चाहिए ? गुरु उत्तर देते हैं कि-यदि कोई विघ्न हो तो कार्तिक चौमासा के प्रारंभ के पहले अथवा पीछे निकलना चाहिए और विघ्न का अभाव हो तो कार्तिक चौमासा जिस दिन प्रारंभ हो उसी दिन निकलकर गांव, के बाहर जाकर पच्चक्खान पारना चाहिए। इस तरह पूर्वार्द्ध से शिष्य का प्रश्न और उत्तरार्द्ध से गुरु का उत्तर जानना।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उस व्याघात = विघ्न का वर्णन इस प्रकार है कि-कार्तिक चौमासा के दिन अथवा उसके पहले विहार के लिए आचार्य को नक्षत्र आदि मुहूर्त्त अनुकूल न हो, अथवा अन्य लोक में कार्तिक पूर्णिमा का महोत्सव चालू होने से साधु को जाते देखकर अज्ञानी लोग अमंगल-अपशकुन समझकर उनको उपद्रव करें, इसलिए कार्तिक चौमासा के पहले दिन के जाने के बाद विचरण-विहार करना अथवा चौमासे के प्रथम दिन या उसके बाद के दिनों में नक्षत्र आदि अनुकूल न हो- कार्तिक महोत्सव में लोगों को अमंगल की कल्पना होना संभावित हो अथवा विशिष्ट ज्ञान से 'भविष्य में बहुत बरसात होगी' इस तरह यदि स्वयं जानता हो तो कार्तिक चौमासे के प्रारंभ से पहले ही निकले। इस प्रकार निकलने का समय निश्चय करके क्षेत्र की गवेषणा के लिए गीतार्थ को पहले इस तरह भेजे, कि उन्हें जहां जाना हो वहां जाकर क्षेत्र नक्की करके वापिस जब आएं तब निकलने का समय भी आ जाय, अर्थात् उस क्षेत्र की गवेषणा करके वापिस विहार करते जिससे निकलने के समय से पहले आ मिलें वैसे उनको पहले भेजे। और भी कहा है कि-

पत्तमपत्ते रिक्खं असाहगं पुण्णमासिणि महो वा ।
पडिकुल त्ति य, मा वोच्छिइ तो अईअम्मि ॥१४५१॥
पत्ते अइच्छिए वा असाहगं तेण णिंति अप्पत्ते ।
नाउं निग्गम कालं, पडिचरए पेसविंति तहा ॥१४५२॥

अर्थात्- "जिस दिन कार्तिकी चौमासा बैठे उस दिन या पहले, मुहर्त्त अनुकूल न हो, अथवा कार्तिकी पूर्णिमा का महोत्सव होने से साधु को आते देखकर अज्ञानी लोग 'यह साधु हमारे विरोधी हैं, इसलिए ऐसे दिन जाकर हमें अपशकुन करते हैं।' इत्यादि यदि बोलते हों तो चौमासा के एक दिन जाने के बाद विहार करे (१४५१)। और यदि चौमासे के पहले या उसके बाद के दिन भी नक्षत्र अनुकूल न हो तो उपलक्षण से, अतिशायी ज्ञान द्वारा भविष्य में बरसात होगी या मार्ग में कादव की संभावना दिखे तो चौमासा बैठने से पहले भी निकलना। इस तरह जाने के समय को जानकर क्षेत्र की गवेषणा करने वाले स्थविर को इस तरह भेजना कि निकलने (विहार) के पहले वापिस आ जाय (१४५२)।"

जहां जाना हो वह क्षेत्र पूर्व में देखा हो अथवा न देखा हो फिर भी उसकी प्रत्युपेक्षणा-जानकारी अवश्य करनी चाहिए। अन्यथा जब वहां जाए तब वह स्थान न मिले, आदि दोष का कारण बनता है। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अप्पडिलेहिय दोसा, वसही भिक्खं व दुल्लहं होज्जा।
वालाइ गिलापाण व, पाउग्गं अहव सज्झाओ ॥१४५३॥

अर्थात्- "पहले क्षेत्र की जानकारी प्राप्त किए बिना वहां जाने से दोष का कारण बनता है। जैसे-यदि पूर्व में देखे उपाश्रय को भी किराए आदि से किसी को दे दिया हो, वह गिर गया हो, अथवा अन्य साधु वहां रुके हों तो रहने का स्थान न मिले, बिना अनुमति वहां जाने से उस क्षेत्र के लोगों की यदि अरुचि हो गयी या हो जाय तो भिक्षा भी न मिले, अथवा बाल या बीमार आदि साधुओं के योग्य आहारादि वस्तु दुर्लभ हो जाय, यदि मांस खूनादि बारम्बार पड़ता हो तो वहां स्वाध्याय नहीं हो सकता है, इत्यादि दोष विघ्न खड़े हो सकते हैं।"

क्षेत्र की शोध के लिए गीतार्थों को भेजने की विधि इस प्रकार है-शाम में प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रिया पूर्ण होने के बाद आचार्य सब साधुओं को एकत्रित करके उनको पूछकर चारों दिशाओं में अथवा अशिव आदि उपद्रव यदि हो तो शेष तीन, दो या एक दिशा में प्रत्युपेक्षक को भेजे। यदि साधुओं को पूछे बिना भेजा जाय तो जाने वाले को मार्ग में चोर आदि का अथवा वहां पहुँचने के बाद किसी दुश्मन आदि का भय उत्पन्न हो तो पीछे रहे साधु उसकी शोध-सहायता के लिए नहीं जायेंगे। उसमें भी प्रत्येक दिशा में उत्कृष्ट से सात, यदि इतने न हो तो पांच अथवा जघन्य से तीन-तीन अभिग्रहधारियों को भेजना चाहिए। वृहत्कल्प भाष्य गाथा १४६३ के उत्तरार्द्ध में कहा है कि- **"चउदिसि तिदुइक्कं वा, सत्तग पण तिग जहन्ना य।"** अर्थात् 'चार, तीन, दो या एक दिशा में सात-सात अथवा पांच- पांच अथवा जघन्य से तीन-तीन साधुओं को भेजना चाहिए' इत्यादि। यदि ऐसे अभिग्रह वाले न हों तो गणावच्छेदक अर्थात् गच्छ के सर्व कार्यों की चिन्ता करने वाले को जाना चाहिए, उसके अभाव में कोई अन्य गीतार्थ जाय, उसके अभाव में अनुक्रम से अगीतार्थ, योगद्वाही, तपस्वी, वृद्ध, बाल और यदि वह भी न हो तो वैयावच्चकारक को भेजना चाहिए। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

वेयावच्चगरं बाल, बुड्ढ खमयं बहंतऽगीअत्थं ।
गणवच्छेइ अगमणं, तस्स व असती य पडिलोभं ॥१४६४॥

अर्थात्- "वैयावच्चकार, बाल साधु, वृद्ध तपस्वी, योगवाही और अगीतार्थ को क्षेत्र की खेज के लिए ल्भेजना, परन्तु गणाव छे च्छेक को भेजना चाहिए, उसके अभाव में दूसरे गीतार्थ को और यदि वह भी न हो तो पश्चानुपूर्वी से पहले कहे गये अगीतार्थ योगवाही आदि को भेजना चाहिए।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गच्छ की निश्रा में रहने वाले यथालन्दिक अर्थात् जिन कल्प समान चारित्र पालन करने वाले मुनि, जिसका वर्णन निरपेक्ष यति धर्म में कहा जायेगा, वह तो दो भी एक ही दिशा में जायं और शेष की तीन दिशाओं में गये गच्छवासी मुनि यथालन्दिक के योग्य क्षेत्र की खोज करें, ऐसा समझना। उसमें भी यदि अगीतार्थ को भेजना हो तो उसे ओघ सभाचारी-सामान्य विधि समझाकर भेजे। उसके अभाव में यदि योगवाही को भेजना हो तो निक्षेप करके अर्थात् योग छुड़वाकर भेजे, और यदि तपस्वी को भेजे तो पहले पारणा करवाकर फिर 'तप नहीं करूंगा' ऐसा कहकर भेजे। यदि वैयाच्च करने वाला जाय तो पीछे रहे साधुओं के स्थापना कुल अर्थात् किसी कारण से आवश्यक पड़े तब आहारादि की प्राप्ति के लिए रखा गया घर जहां हर रोज साधु बहोरने के लिए नहीं जाते बल्कि किसी खास जरूरत पर ही जाते हैं- वह बताने के बाद जाय और यदि बाल या वृद्ध को भेजना पड़े तो सशक्त-युवा को साथ भेजना चाहिए। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

सामायारिमगीए, जोगीमणा गाढ खमग पारावे ।
वैया वच्चे दायण, जुयल समत्थं व सहियं वा ॥१४७१॥

अर्थात्- "अगीतार्थ को यदि भेजना पड़े तो समाचारी समझाकर भेजे। अनागाढ़ योगी को निक्षेप करके, तपस्वी को यारणा करके- आगे तप नहीं करने की सूचना करके, वैयावच्चकार को उससे स्थापनाकुल पूछकर फिर भेजे, बाल-वृद्ध समर्थ हो अथवा यदि निर्बल भेजना पड़े तो समर्थ साधु को साथ में भेजें।"

यदि वह जाता है तो अपनी उपधि पीछे रहने वाले साधु को सौंपकर परस्पर क्षमा याचना करके और फिर गुरु महाराज को पूछकर जाय, नहीं तो प्रायश्चित्त लगता है। इस तरह भेजा हुआ उसका मार्ग सुगम है या दुर्गम ? तथा कहां किस दिशा में मुड़ता है ? इत्यादि जानकर धारण कर ले। इसके उपरान्त बड़ी नीति-लघु नीति के योग्य भूमि, पानी मिलने के स्थान, विश्राम के स्थान, भिक्षा सुलभ या दुर्लभ है ? बीच में रहने के लिए उपाश्रय स्थान मिलता है या नहीं ? मार्ग में चोर लुटेरे हैं या नहीं ? अथवा दिन और रात्रि में कौन से, कैसे विघ्न आदि आने संभव है, इत्यादि सारा जान लेना चाहिए। आगे कहा है कि-

पंथुच्चारे उदए, ठणे भिक्खंतरा य वसहीओ ।
तेणा सावय वाला, पच्चवाया य जाण विही ॥१४७३॥

अर्थात्- "मार्ग प्रश्रवण और उच्चार की भूमि, पानी के स्थान या जहां बाल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि साधुओं को योग्य प्रासुक् पानी मिल सके तथा विश्राम के स्थान, बीच में कहां-कहां भिक्षा मिलने या न मिलने की संभावना का संभव है, यदि बीच में रहना हो तो उसके लिए उपाश्रय सुलभ है अथवा दुर्लभ ? चोर, शिकारी, प्राणी या सर्प आदि का उपद्रव कहां, कैसा है ? एवं दिन या रात में कौन से विघ्न संभावित हैं, इत्यादि सारा अच्छी तरह देखते जाना चाहिए।'' यह जाने की विधि बताई गई।

जाने वाले मार्ग में द्रव्य से कांटे, चोर आदि हैं या नहीं ? इत्यादि जान लें। क्षेत्र से खड्डे, ऊँची नीची आदि भूमि प्रदेश कैसा है ? विहार सुगम है या दुर्गम, कैसा है ? और भाव से अपने धर्म वाले अथवा अन्य पक्ष के कौन-कौन से मनुष्य मार्ग में भाव वाले हैं इत्यादि जान लेना चाहिए। क्षेत्र की खोज करने के लिए जाने वाला गच्छ वासी प्रत्यपेक्षक पढ़े परन्तु सूत्र पोरिसी-अर्थ पोरिसी न करे। जब तक वापिस आए तब तक स्वाध्याय को गौण करे। अन्यथा विलम्ब होने से गुरु महाराज को इतने काल तक स्थिर वास करना पड़ता है, इत्यादि दोष लगता है। यथालन्दिक साधु जायें तो वे सूत्र-अर्थ पोरसी के क्रम से पढ़ते जायें।

वहां से निकलने के बाद गच्छ वासी प्रत्युपेक्षक नजदीक के गांव में से भिक्षा लाकर, उसे खाकर, मध्याह्न के बाद विवक्षित-अपेक्षित क्षेत्र में जाय। वहां शाम को प्रतिक्रमण करके रात्रि में काल ग्रहणादि विधि को करे, सुबह स्वाध्याय करते आधी पोरसी जब पूर्ण हो तब दो साधु साथ में भिक्षार्थ फिरें, क्योंकि फिरने से वहां बाल, वृद्ध तपस्वी आदि के योग्य भिक्षा तीनों काल मिलने वाली है या नहीं ? इत्यादि जान सकते हैं यदि वहां भिक्षा मिले तो 'क्षेत्र योग्य है' ऐसा समझ लेना। इस भ्रमण में भी क्षेत्र के तीन भाग करके एक एक भाग में तीन काल में भिक्षा के लिए फिरे। यह भिक्षा के लिए फिरने की विधि समझना। उसमें जहां जहां गृहस्थ भोजन सुबह करते हों वहां वहां अथवा सुबह के बाद दिन को कल्पनीय आहार मिलता हो वहां सुबह फिरे, मध्याह्न और शाम को भी इसी ही तरह समझ लेना अर्थात् जब गृहस्थ के भोजन का समय हो कि जिस समय आहारादि मिल सके उस समय आहार के लिए फिरे और घरों में से अमुक घरों में बाल, वृद्ध तपस्वी आदि के योग्य आहार है अथवा नहीं है ? इत्यादि सम्यग् रूप में निश्चय करे। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

बाल बुड्ढे सेहे आयरिय गिलाण खमग याहुणए।
तिन्नि य काले जहियं, भिक्खायरिया उपाउग्गा ॥१४८१॥

अर्थात्- ''बाल, वृद्ध नव दीक्षित, आचार्य, ग्लान, तपस्वी तथा प्राघूर्णक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साधुओं के योग्य-अनुकूल आहार पानी आदि जिस क्षेत्र में तीनों काल में मिले वह क्षेत्र गच्छ के लिए योग्य समझना।''

उसमें क्रम इस तरह है-सुबह को दो साधु साथ में भिक्षा के लिए फिरें और तीसरा रक्षक के रूप में उपाश्रय में रहे। जाने वाले दो में से एक साधु की क्षुधा शान्त हो जाय इतना आहार लेकर वापिस आ जाय और लाये आहार को जाने वाले दोनों में से एक आहार करे। मध्याह्न में वह आहार करने वाला रक्षा के लिए रहे और जो सुबह को रक्षापाल रहा हो उसे लेकर दूसरा, इस तरह दो साथ में भिक्षा के लिए जायें। उस समय भी अकेले जितना आहार लेकर वापिस आएं, और जो दो बार फिरा हो वह साधु उस आहार को खाए। तीसरी बार उसे रक्षापाल रखकर शेष दो जायें, एक के जितनी भिक्षा लेकर वापिस आएं और जिसने आहार न किया हो वह तीसरा साधु आहार करे। इस तरह तीन समय में प्रत्येक को दो-दो बार भिक्षा के लिए फिरना और एक बार रक्षा के लिए बैठना- यह क्रम रखना। तथा कहा है-

ओसह भेसज्जाणि य, काले अ कुले अ दाणसड्ढाई।
सग्गामे पहित्ता पेहंति तओ परग्गामे ॥१४८६॥

अर्थात्- ''हरड़े आदि औषधि, कांजी या त्रिफला आदि भैषक, आहार अथवा औषधादि जब आवश्यकता पड़े तब कब किस घर में से मिलना संभव है? तथा 'दान की श्रद्धा' आदि गुण वाले गृहस्थों के घर कहा है ? इत्यादि सारा स्व गांव में अर्थात् गच्छ को विहार करके जहां जाना हो जहां रहने का निश्चय किया हो वहां और पर गांव- अन्य गांव में भी जान लेना चाहिए।'' इसमें दान की श्रद्धा वाला आदि घर- इस तरह समझना। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

दाणे अभिगम सड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते।
मामाए, अचियते, कुलाइँ जाणंति गीअत्था ॥१४८६॥

अर्थात्- ''दान में श्रद्धालु अर्थात् प्रकृति से दान रुचि वाले के घर, 'अभिगम श्राद्ध' अर्थात् जिन्होंने अणुव्रत स्वीकार किया हो ऐसे व्रतधारी श्रावकों के घर, इस तरह 'सम्मते' अर्थात् अविरति सम्यग् दृष्टि श्रावकों के घर, 'मिच्छत्ते' अर्थात् मिथ्या दृष्टियों के घर, 'मामाए' अर्थात् मेरे घर साधुओं को नहीं आना- ऐसा के प्रतिषेध करने वाला और 'अचियत्ते' अर्थात् साधु आए तो जिसको अप्रीति हो -ऐसों के घर आदि, भिक्षा के लिए फिरते साधु को उन कुलों को जान लेना चाहिए।''

सदोष-निर्दोष उपाश्रय को भी जान लेना चाहिए। फिर जानकर पूर्व कहे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुसार पूर्व दिशा की ओर मुख करके बायी करवट बैठे बैल के आकार समान क्षेत्र के आकार की अपनी बुद्धि से कल्पना कर उसमें के प्रशस्त स्थान में उपाश्रय को ग्रहण करे-याचना करे। इस तरह से गृहस्थ के पास से स्थान की याचना करते समय गच्छ के साधुओं के योग्य तृण, डगल, राख, प्याला आदि आवश्यक वस्तुएं, वस्त्र पात्र को धोने के लिए मकान के बाहर भूमि, स्वाध्यायादि प्रयोजन के लिए प्रांगण में बैठने के व्यवस्था, यदि अकाल में बड़ी नीति करना हो तो उसको त्याग करने की भूमि और ग्लान तथा प्राघूर्णक आदि को समाधि के लिए वायु रहित या वायु वाले स्थान में रखने आदि अनुमति की याचना करे।

यदि मकान का मालिक शय्यातर पूछे कि-'आप मेरे मकान में कब तक स्थिरता करोगे ?' तो कहे 'तुम्हें और हमारे गुरु को जब तक अनुकूलता दिखेगी तब तक रुकना होगा। समान्यत: यदि किसी प्रकार का विघ्न न आए तो एक स्थान पर एक महीने रहने का हमारा कल्प-आचार है और यदि कोई कारण आ जाय तो कम ज्यादा भी रहना हो सकता है।' इस तरह उत्तर दें, परन्तु 'अमुक समय तक रहेंगे' इस तरह निश्चयात्मक न बोलें। यदि गृहस्थ पूछे कि-'आप कितने साधु रहेंगे ?' तो उत्तर में 'हमारे गुरुदेव समुद्र के समान हैं, इसलिए किसी समय बहुत और किसी समय थोड़े साधुओं के साथ में रहते हैं।' इस तरह कहे। और यदि पूछे कि- 'कब वापिस आओगे ?' तो उत्तर में 'अन्य दिशा में भी अन्य प्रत्युपेक्षक गये हैं,' वापिस आने के बाद गुरुदेव के विचार में यहां आने का योग्य लगेगा और किसी प्रकार विघ्न न आए तो इतने दिनों में आयेंगे और यदि विघ्न आए तो इससे जल्दी या देरी भी हो सकती है।' इस तरह अनिश्चित कहना। यदि मकान का मालिक अमुक संख्या में या अमुक साधु का नाम निश्चय करके इतने ही रहने की अनुमति दे तो यदि दूसरी वसति न मिले तभी वैसा स्थान लेना अन्यथा नहीं लेना तथा 'आयेंगे ही' ऐसा निश्चय भी नहीं करना क्योंकि इस तरह कहने से गृहस्थ मकान का परिकर्म-सफाई, लीपण आदि करे तो दोष लगने की संभावना रहती है, तथा 'नहीं आयेंगे' ऐसा भी नहीं कहना। क्योंकि ऐसा कहने से यदि मकान किराये पर दे दे तो कभी आना हो तब वह स्थान नहीं मिलता। इसलिए, अन्य वसति की खोज करने वाले प्रत्युपेक्षकों के वापिस आने के बाद गुरु महाराज की इच्छानुसार निर्णय करेंगे।' इस तरह कहना।

उसके बाद दो साधु गुरु के पास जाकर स्वयं देखे क्षेत्र का स्वरूप कहें। इस तरह दूसरी दिशा में गये प्रत्युपेक्षक भी आकर स्वयं निश्चय किए क्षेत्र का स्वरूप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहें। फिर गुरू सर्व क्षेत्रों का स्वरूप विचार कर 'कब कहां जाना ?' उसका निश्चय करके समग्र गच्छ की संमति पूर्वक जो क्षेत्र निर्दोष दिखे उस ओर जाने के लिए निर्णय करें। जाने के पहले दिन शाम को प्रतिक्रमण करने के बाद जिसके मकान में रहें हो, उस गृहस्थ को धर्मोपदेश देकर अपने जाने का समय बतायें। यदि पहले से जाने को कह दें तो गुरु महाराज जायेंगे– ऐसा विचार कर अच्छा स्वादिष्ट भोजन बनाएगा और यदि जाते समय कहें तो गुरु विरह के दुःख से रोयेगा, इत्यादि अनेक दोष लगते हैं। उसके बाद दूसरे दिन सुबह सूत्र व अर्थ की दो पोरसी पूर्ण कर वाचना के बाद और अपवाद से सूर्योदय के बाद या पहले भी विहार करे। वृहत्कल्प भाष्य १५४३ गाथा में कहा है कि–"**तदुभय सुत्तं पडिलेहण य उग्गयमणुग्गए वापि**" अर्थात् 'सूत्र पोरसी और अर्थ पोरसी उभय कर विहार करे, यदि क्षेत्र दूर हो तो पादोन पोरिसी में पात्र का पडिलेहन करके, यदि अधिक दूर हो तो सूर्योदय के बाद उसी समय अथवा यदि बहुत अधिक दूर हो तो सूर्योदय से पहले भी विहार कर सकते हैं।' सब साधु मकान से बाहर निकलकर साथ में चलें, एकाकी या बहुत आगे पीछे चलने से चोर का भय या सूर्योदय से पहले अंधेरे में चलने से परस्पर बोलने से आवाज होने पर गृहस्थ जागकर दिनचर्या आरंभ करे इत्यादि दोष लगते हैं। यदि कोई बहुत सोने वाला जल्दी जाग न सके अथवा कोई धर्म श्रद्धालु अंधकार में चलना न चाहता हो तो उनको 'अमुक मार्ग पर अमुक क्षेत्र में आना' आदि संकेत करके उसके साथ में अन्य सहायक साधु को रखकर जाय। इसके उपरान्त जो पीछे रहे जाय उसे उठाने के लिए पुरानी उपधि हो वह दे देना कि जिससे उसे चोरादि के उपद्रव का भय न रहे।

विहार के दिन साधु सुबह पडिलेहन करते ही वस्त्रों को लपेट ले-फिर 'चरम' अर्थात् पादोन पोरसी तक स्वाध्याय कर जब समय हो तब पात्रों का पडिलेहन करके उसे गांठ आदि में बांधकर फिर विहार करे। बाद में शुभ मुहूर्त्त में विहार करते वृषभ-प्रौढ़ साधु साधु गुरु महाराज की उत्कृष्ट उपधिरूप अक्ष-स्थापना जी लेकर शकुन देखकर पहले चले, क्योंकि गुरु पहले चलें और कभी अपशकुन के कारण यदि वापस आना पड़े तो उनका हलकापन दिखता है, इसलिए गुरु वृषभ को शुभ शकुन होते ही शय्यातर की अनुमति लेकर फिर चलें। शेष साधु परदा बांधकर उसके अन्दर उपाश्रय का संमार्जन करके उपधि को एकत्रित करें, उसमें बाल, वृद्ध या राजा आदि दीक्षित बने हों जो अशक्त हों वे उपधि जितनी उठा सकें उठायें और शेष को वैयावच्च के अभिग्रह वाले महामुनि बांटकर उठा लें और यदि ऐसे अभिग्रह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाले न हों तो दूसरे समर्थ साधु उठा लें। उसमें भी एक कंधे पर गुरु की उपधि और दूसरे कन्धे पर अपनी उपधि लपेट कर उठा ले।

उसके बाद क्षेत्र प्रत्युपेक्षक के बताये अनुसार उस मार्ग में चलकर क्रमशः मूल गांव में जहां जाने का निश्चय किया हो वहां पहुँचे वहां पहुंचने के बाद प्रथम क्षेत्र की गवेषणा करने वाला प्रत्युपेक्षक परदा, दण्डा और दंडासण लेकर जहां उतरने का निश्चय किया हो वहां जाए और 'हमारे गुरू महाराज पधारे हैं' इस तरह शय्यातर को बताकर वसति का प्रमार्जन करें, दरवाजे पर परदा बांधें तथा धर्म कथा करने वाले एक साधु को वहां शय्यातर के पास छोड़कर दूसरा वापिस गुरु के पास जाकर सारा निवेदन करे। फिर वृषभ साधु शकुनों को देखते हुए अक्ष-स्थापना जी लेकर आगे चले, क्योंकि यदि गुरु महाराज पहले चलें और मकान व्याघात (कोई विघ्न) वाला हो तो उस निमित्त से वापिस आने से हल्कापन होता है। गुरु के पीछे शेष साधु थोड़े थोड़े प्रवेश करें, परन्तु सब एक साथ में प्रवेश न करें। यदि धर्म कथन करने वाले को वहां रखा हो तो वह गृहस्थ को धर्म कथा-उपदेश सुनाये और यदि एक गुरु-आचार्य के अलावा अन्य पदस्थ- रत्नाधिक आदि बड़े साधु पधारें तो भी खड़े होकर वह उनका सत्कार न करे। फिर शुभ शकुन देख कर वृषभ साधु मकान में प्रवेश करें और फिर आचार्य-गुरु प्रवेश करें। प्रवेश करते समय मकान मालिक को मिलें और यदि वह न बोले तो भी आचार्य उसे बुलाएं अन्यथा उसे असद्भाव आदि होने की संभावना रहती है। इस तरह जब धर्म उपदेश पूर्ण हो जाय और अपने आसन-स्थान के लिए मकान में जायें, तब आचार्य 'शय्यातर को वसति देने से होने वाले लाभ' आदि प्रासांगिक धर्मोपदेश दें।

क्षेत्र प्रत्युपेक्षक, शय्यातर ने जिसकी अनुमति दी हो वह ग्लान आदि को लघु नीति करने की, पात्र धोने की आदि भूमि बताए। संथारा-आसन करने के लिए पवन युक्त, पवन रहित और मध्यम- इस तरह तीन भूमियां गरु-आचार्य के लिए रखकर शेष भूमि में रत्नादिक के क्रम से 'किसको कहां आसन करना है वह सर्व साधुओं को समझाए। प्रत्युपेक्षक भी स्वयं अपनी रखी उपधि उठा ले। फिर अपने स्वयं को जहां स्थान मिले वहां रखे जिससे कि सबको एक समान रूप में भूमि का बंटवारा किया जा सके।

उसमें के तपस्वी प्रवेश करते ही चैत्यवंदन करें और प्रत्युपेक्षक उसी समय ही उनको स्थापना कुल बताए जिससे वे जल्दी आहार पानी लाकर पारण कर सकें। गुरु आचार्य नित्य भोजी साधुओं में से दो-तीन पात्र वाले साधु और शेष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सब साधु पात्र रहित साथ में लेकर प्रथम संघ के मंदिर में चैत्यवंदन करे, फिर घर के मंदिर में चैत्यवंदन करे। उसमें घर के मंदिर के अन्दर चैत्यवन्दनार्थ जाते समय साथ में पडिलेहन पात्र वाले कई साधुओं को लेकर जाय और यदि गृहस्थ आहार पानी के लिए निमंत्रण करे तो लाभ दे वहां जाते-आते मार्ग में ही पूर्व कहे अनुसार उस दान में श्रद्धावान आदि जो क्षेत्र प्रत्युपेक्षकों ने पहले नक्की किया हो, वे घर गुरु और साधु को बता दें उसे देखकर उपाश्रय में आते ही गुरु प्रथम इर्यापथिक कायोत्सर्ग करे, फिर सर्व साधुओं को अपने पास में बुलाकर उन घरों की व्यवस्था करके दे अर्थात् कौन कहां जाये या नहीं जाना इत्यादि समझाना। इस तरह आभिग्रहिक मिथ्यात्वियों के घर यदि साधु आए तो निषेध करने वाले तथा अप्रीति करने वालों के घरों में नहीं जाना चाहिए इसके अतिरिक्त जहां दान रुचि वाले हों, व्रतधारी अथवा सम्यग् दृष्टि श्रावकों के घर हों वहां गुरु महाराज आदि को भी वैयावच्च करने वाले एक गीतार्थ के साथ में जाना चाहिये। साधु को भी वहां गुरु अथवा प्राघूर्णक साधु के प्रायोग्य आहार पानी आदि के लिए जाना चाहिए। हमेशा अथवा निष्कारण नहीं जाना चाहिए। वहां जाना सर्वथा बन्द भी नहीं करना चाहिये क्योंकि बहुत दूध देने वाली गाय को भी दोहना बन्द करने से वह दूध देना बन्द कर देती है और पुष्पों को भी चुनना बन्द करने से वृक्ष पर नये पुष्प उत्पन्न नहीं होते वैसे ही वहां पर आहार के लिए सर्वथा जाना बंद करने से उनकी दान देने की प्रवृत्ति और रुचि भी रुक जाती है। अत: आवश्यकता होने पर कभी-कभी कभार आहार के लिए जाना चाहिए।

ऐसे स्थापना कुल-घरों में यदि असांचयिक अर्थात् जिन्हें न रख सके ऐसी दूध आदि वस्तुएं बहुत प्रमाण में दिखें तो लेनी चाहिएं और सांचयिक अर्थात् जिनका संग्रह हो सके ऐसा घी आदि बीमार प्राघूर्णक आदि के लिए जब विशेष आवश्यक हो तब लेना चाहिए। यदि गृहस्थ अति आग्रह करें तो उसके कारण बिना भी लेना, किन्तु प्रतिदिन नहीं लेते, एक-दो दिन के बाद में लेना। इस तरह सांचयिक वस्तुएं लेने में अपवाद समझना। इस अपवाद में भी ऐसा अपवाद है कि-यदि श्रावक की दान रुचि तीव्र हो, उसके घर में वस्तुएं बहुत हों, दुष्काल आदि काल खराब होने से अन्य स्थान पर मिलनी दुलर्भ हों और किसी बीमार साधु की पुष्टि के लिए अथवा बाल-वृद्ध आदि के संतोष के लिए उसकी आवश्यकता हो इत्यादि कारण से तो सांचयिक वस्तुएं भी प्रतिदिन भी ले सकते हैं। परन्तु वह तब तक ले सकते हैं जब तक कि दातार की दान रुचि खत्म न हो। इस प्रकार संक्षेप में विहार की विधि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कही ।

'महामुनि चरित्राणां श्रवणं कथनं मिथः' अर्थात् 'महात्मा, स्थूल भद्र मुनि, आर्य वज्र स्वामी जी आदि पूर्व कालीन महा मुनियों के जीवन चरित्रों का परस्पर श्रवण करना करवाना भी सापेक्ष यति धर्म है ।' कहने का भावार्थ यह है कि-साधु को प्रतिदिन दिनचर्या रूप में स्वाध्याय, पडिलेहन, प्रतिक्रमणादि कार्यों को करना चाहिए और स्वाध्यायादि करते जब थक जाय तब 'स्थिर आसन' आदि विधि पूर्वक बैठकर संवेग अर्थात् संसार का उद्वेग और मोक्ष का राग बढ़ता जाय, इस प्रकार महर्षियों की कथा-बातें करनी एवं सुननी चाहिएं । पंचवस्तु में कहा है कि-

सज्झायाई संतो, तित्थयर कुलाणुरूप धम्माणं ।
कुज्जा कहं जईणं, संवेग विवड्ढणं विहिणा ॥६०२॥

अर्थात्-"स्वाध्याय आदि करते श्रमित बने साधु 'स्थिर आसन' आदि विधि पूर्वक बैठकर तीर्थंकर के कुल के अनुरूप धर्म को सेवन करने वाले महामुनियों की, संवेग की वृद्धि करें इस प्रकार, धार्मिक बातें करनी चाहिये अथवा सुननी चाहिएं ।"

इस तरह उत्तम कथाओं के कथन एवं श्रवण करने से स्वयं को और दूसरों को भी चारित्र में स्थिरता, उत्साह इत्यादि बहुत गुणों की प्राप्ति होती है- यह स्पष्ट है। अब आगे गाथा में अन्य विशेष कर्त्तव्य कहते हैं कि-

अतिचारा लोचनेन, प्रायश्चित्त विधेयता ।
उपसर्ग तितिक्षा च, परीषह जायस्तथा ॥१२७॥

मूलार्थ- "अतिचार की आलोचना करना, गुरू महाराज द्वारा दी हुई प्रायश्चित्त को स्वीकार करना, उपसर्ग को सहन करना तथा परीषहों का जय करना भी सापेक्ष यति धर्म है ।"

व्याख्या- मूल गुण और उत्तर गुण में लगे हुए तथा पूर्व में कहे ज्ञानाचार आदि पांच आचारों से विपरीत वर्तन या सेवन करने से जो भी अतिचार लगा हो उसकी आलोचना लेना अर्थात् गुरु के सन्मुख यथार्थ रूप में कहना और गुरु महाराज द्वारा उस विषय में दी हुई आलोचना-प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित्त को करना- वह सापेक्ष यति धर्म है । आलोचना की विधि पहले भाग में श्राद्ध धर्म के अधिकार के अन्दर कही गई है । यहां यह समझना है कि-पुलाक (यह साधु विभाग है, इसका स्वरूप आगे अधिकार में कहा जायेगा) एवं प्रतिसेवा कुशील- ये दो मूल गुण के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विराधक होते हैं और इन दो के साथ बकुश को गिनने से तीन उत्तर गुण के विराधक होते हैं अर्थात् पुलाक और प्रतिसेवा कुशील दोनों मूल-उत्तर दोनों गुण के तथा बकुश केवल उत्तर गुण के विराधक होते हैं। इसके बिना कषाय कुशील आदि दोष वाले होने पर भी मूल गुण-उत्तर गुण के विराधक नहीं हैं। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

मूलुत्तर गुण विसया, पडि सेवा सेवए पुलाए य ।
उत्तर गुणे सु वउसो, पडिसेवणा रहिया ॥७२६॥

अर्थात्- "मूल गुण और उत्तर गुण के विराधक प्रतिसेवना कुशील और पुलाक होते हैं, एक ही उत्तर गुण के विराधक बकुश होते हैं और शेष का एक भी नहीं होता है।" यहां प्रसंगानुसार पुलाक आदि निर्ग्रन्थों का अर्थात् साधुओं का स्वरूप कहते हैं। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

मिच्छत्तं वेय तिगं, हासाई छक्कगं च नायव्वा ।
कोहाईण चउक्कं, चउदस अब्भितरा गंथा ॥७२१॥

अर्थात्- "मिथ्यात्व, स्त्री, पुरुष और नपुंसक के तीन वेद, हास्य रति, अरति, भय, शोक और दुर्गछा ये छः तथा क्रोधादि चार कषाय- इस तरह कुल चौदह अभ्यन्तर ग्रन्थ (बंधन) कहलाते हैं।"

ये चौदह अभ्यन्तर और भूमि आदि दस अर्थात् १-भूमि, २- मकान, ३-धन धान्य, ४-मित्र एवं जाति वाले, ५-वाहन, ६-शयन, ७-आसन, ८-दास, ९-दासी और १०-कुप्य-बाह्य ग्रन्थ-बन्धन से निर्गत अर्थात् छोड़ने से साधु निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। वह चौथे प्रकार का है। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

पंच निपंठा भणिया, पुलाय वउसा कुशील निग्गंथा ।
होइ सिणाओ य तहा, एकेक्का सो भवे दुविहो ॥७७९॥

अर्थात्- "साधु पांच प्रकार के कहे हैं-१. पुलाक, २. बकुश, ३. कुशील, ४. निर्ग्रन्थ और ५. स्नातक। इन प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं।" यद्यपि पांचों में चारित्र का सामान्यतया तो सद्भाव होता है, परन्तु मोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि की विचित्रता के योग से उनमें भेद बताये हैं।

१. पुलाक - सत्व बिना का अर्थात् चावल रहित छिलका आदि असार अनाज जैसे पुलाक कहलाता है, वैसे ही असार चारित्र जिस साधु को होता है उसे भी पुलाक के समान होने से 'पुलाक' कहा जाता है। अर्थात् तप और श्रुत की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आराधना से प्रगट हुई, संघ आदि किसी प्रयोजन के लिए वाहन और सेना आदि से युक्त चक्रवर्ती आदि को भी चूर्ण करने में समर्थता, इस तरह की अपनी लब्धि-शक्ति के प्रयोग करने से ज्ञानादि (चारित्र) गुणों में अतिचार लगने से जो संयम के सर्वसार को गला दे-असार कर दे वह छिलके के समान निःसार चारित्र वाला साधु पुलाक कहलाता है । उसके दो भेद हैं १-लब्धि पुलाक और-२-प्रतिसेवा पुलाक । उसमें लब्धि पुलाक इन्द्र के समान समृद्ध बनाने की लब्धि वाले होते हैं । पंच निर्ग्रन्थी में कहा है कि-

संघाइयाण कज्जे, चुण्णेज्जा चक्कवट्टिमवि जीए ।
तीए लद्धीए जुओ, लद्धिपुलाओ मुणे यव्वो ॥७॥

अर्थात्-"श्री संघ आदि के प्रयोजन के लिए जो लब्धि से चक्रवर्ती को भी चूर्ण कर सके ऐसी लब्धि वाले साधु को लब्धि पुलाक समझना ।"

दूसरे ऐसा कहते हैं कि-आसेवना पुलाक के भेद में ज्ञान प्रति सेवना पुलाक का स्वरूप कहा जायेगा उसे यह लब्धि होती है इसलिए इस ज्ञान प्रति सेना पुलाक को ही लब्धि पुलाक समझना । उससे अलग दूसरे नहीं हैं । दूसरा प्रतिसेना पुलाक के दर्शन, चारित्र, लिंग, यथा सूक्ष्म- इस तरह पांच भेद होते हैं । उसमें सूत्र के अक्षर-पाठ में स्खलना करे तथा कम पाठ को जहां तहां मिला देना इत्यादि द्वारा ज्ञान विराधना करके आत्मा को असार कर दे वह ज्ञान पुलाक है । इस तरह मिथ्या दर्शनियों की प्रशंसा आदि करके सम्यग् दर्शन की विराधना करने वाला दर्शन पुलाक कहलाता है। मूल गुण-उत्तर गुण की विराधना करे वह चारित्र पुलाक कहलाता है। शास्त्रोक्त मुनि वेश में वृद्धि करे या भेद करे अथवा बिना कारण से अन्य साधु के समान वेष करे वह लिंग पुलाक है और केवल कुछ प्रमाद से अथवा अन्य साधुओं को न कल्पे ऐसा अकल्पनीय पदार्थ ग्रहण करे उसे यथा सूक्ष्म पुलाक जानना । अन्यत्र तो यह कहा है कि-इन ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वेश में जो थोड़ी थोड़ी विराधना करे उसे ही यथा सूक्ष्म समझना ।

२. बकुश - अर्थात् शबल, कर्बूर, विचित्र आदि अर्थात् कुछ दोष वाला कुछ निर्दोष ऐसा रंग-बिरंगा चारित्र जिसका हो, वह साधु बकुश कहा जाता है । अतिचार वाला होने से चारित्र को भी बकुश कहते हैं और ऐसे चरित्र वाला होने से उस साधु को भी बकुश कहते हैं अर्थात् अतिचार युक्त शुद्धाशुद्ध-मिश्र चारित्र वाला होता है । यह बकुश उपकरण बकुश एवं शरीर बकुश इस तरह दो प्रकार का होता है । उसमें अन्त काल में-बिना कारण चोलपट्टा, अन्दर ओढ़ने के वस्त्र आदि वस्त्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को धोने वाला, बाह्य शौच में आसक्ति-प्रीति वाला शोभा के लिए पात्र-दण्डा आदि को भी तेल आदि से सुशोभित करके अथवा रंगकर उपयोग करना उपकरण बकुश है तथा प्रगट रूप में गृहस्थादि के देखते शरीर की शोभा के लिए हाथ पैर धेना, मेल उतारना इत्यादि असत्प्रवृत्ति करने वाला शरीर बकुश जानना । इन दोनों प्रकार के बकुश के आभोग, अनाभोग, सवृंत्त, असंवृत्त और सूक्ष्म इस तरह पांच भेद हैं । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

उवगरण सरीरेसु, वउसो दुविहोवि होइ पंचविहो ।
आभोग अणा भोए, संवुड असं वुडे सुहुमे ॥७२४॥

अर्थात्-''उपकरण और शरीर में बकुश- इन दो प्रकार के बकुश के आभोग, अनाभोग, संवृत्त, असंवृत्त और सूक्ष्म- ये पांच भेद होते हैं।''

जैसा पहले कहा गया है उसके अनुसार 'शरीर और उपधि दोनों की शोभा साधु को अकरणीय है' इस प्रकार का ज्ञान होने पर भी जो ऐसी शोभा करता है, समझ करके भी भूल करता है वह १-अभोग बकुश है। पहले कही गई दोनों प्रकार की शोभा को अकरणीय मानने पर भी सहसा-इरादा बिना करने वाला २-अनाभोग बकुश है । जिसके दोष लोकों में अप्रगट रहें हो वह गुप्त भूल करने वाला ३-संवृत्त बकुश है। प्रगट रूप में भूल करने वाला निष्ठुर-निर्लज्ज ४-असंवृत्त बकुश है और आंखों का मैल दूर करना आदि कुछ अल्प मात्र भूल करने वह ५-सूक्ष्म बकुश कहलाता है । हरेक बकुश को सामान्यतया वस्त्र-पात्रादि ऋद्धि और प्रशंसादि यश की इच्छा वाला, बाह्य सुख में गौरव का मानी, उसमें आदर करने वाला, अविविक्त परिवार वाला और दीक्षा पर्याय का छेदन करने रूप छेद प्रायश्चित्त के योग्य सदोष-निर्दोष शबल चारित्र वाला समझना। उसमें 'अविविक्त' अर्थात् असंयम से दूर नहीं रहने वाला यानि समुद्र फेन आदि से साथन को घिसने वाला, तेल आदि को शरीर पर मसलने वाला, कैंची से बाल काटने वाला इत्यादि शिष्यादि जिसके हों उसे 'अविविक्त परिवार वाला' जानना ।

३. कुशील = मूल व उत्तर गुणों की विराधना से अथवा संज्वलन कषायों के उदय से जिसका आचार कुत्सित हो, वह कुशील कहलाता है । उसमें भी आसेवना कुशील और कषाय कुशील दो प्रकार के होते हैं। आसेवना अर्थात् संयम से विपरीत आचरण करने वाला कुशील १-आसेवना कुशील और संज्वलनादि कषाय करने वाला २-कषाय कुशील तो स्पष्ट है । इन दोनों के भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और यथा सूक्ष्म- ये पांच भेद हैं । पंच निर्ग्रन्थी प्र २३, प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

आसेवणा कसाए, दुहा कुसीलो दुहा वि पंच विहो ।
नाणे दसंण चरणे, तवे य अह सुहुमए चेव ॥७२५॥

अर्थात्-''आसेवना से और कषाय से- कुशील दो प्रकार का होता है। दोनों प्रकार के कुशील ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और यथा सूक्ष्म पांच प्रकार के होते हैं ।''

अपने-अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप गुण से जो आजीविका प्राप्त करने वाला हो वह अनुक्रम से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप प्रति सेवना वाला कहलाता है । अन्य आचार्य तो चौथा तप के स्थान पर 'वेश' कहते हैं । इसके उपरान्त 'यह तपस्वी है, ज्ञानी है, श्रद्धालु है' इत्यादि लोगों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर खुश होता है वह ५-यथा सूक्ष्म कुशील कहलाता है । कषाय कुशील भी पांच प्रकार का है । अपने ज्ञान के, दर्शन के और तप के कारण जो क्रोधादि का उपयोग करता है अर्थात् ज्ञानादि से क्रोधादि करता है उसे अनुक्रम से ज्ञान, दर्शन और तप कुशील, यदि किसी को भी शाप दे तो चारित्र कुशील और मन से केवल जो द्वेष आदि करता है उसे यथा सूक्ष्म कुशील समझना ।

४. निर्ग्रन्थ - मोहनीय कर्म रूप ग्रन्थि-बन्धन से निकला हुआ 'निर्ग्रन्थ' कहलाता है। उसके उपशान्त मोह निर्ग्रन्थ और क्षीण मोह निर्ग्रन्थ दो भेद हैं इन दोनों के भी इस तरह पांच पांच भेद होते हैं । ये १-प्रथम समय निर्ग्रन्थ, २-अप्रथम समय निर्ग्रन्थ, ३-चरम समय निर्ग्रन्थ, ४-अचरण समय निर्ग्रन्थ और ५-यथा सूक्ष्म निर्ग्रन्थ हैं । पंच निर्ग्रन्थी में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

उव सामगो य खवगो, दुहा नियंठो दुहावि पंच विहो ।
पठम समओ अपठमो, चरमा चरमो अहा सुहुमो ॥७२६॥

अर्थात् - ''उपशामक एवं क्षपक इस तरह दो प्रकार के निर्ग्रन्थ होते हैं । उन दो के भी प्रथम समय, अप्रथम समय, चरम समय, अचरण समय और यथा सूक्ष्म ये पांच-पांच भेद होते हैं ।''

उसमें चार भेद स्पष्ट हैं अर्थात् श्रेणि के अन्तर्मुहूर्त्त के प्रथम समय में रहते, पहले बिना किसी भी समय में रहते, श्रेणि की समाप्ति का अन्तिम समय में रहते और अन्तिम समय से पहले किसी भी समय में रहते, इस तरह पूर्वानुपूर्वी और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पश्चानुपूर्वी से दो दो भेद गिनते चार हुए और पाचवां सम्पूर्ण श्रेणी के किसी भी समय में वर्तन करना और पहले अन्तिम आदि के समय की विवक्षा बिना जिस श्रेणि के सर्व समय में किसी भी समय में रहना वह यथा सूक्ष्म है। दोनों निर्ग्रन्थ के इस तरह पांच भेद समझना, अर्थात् इन दोनों के पूर्वानुपूर्वी से और पश्चानुपूर्वी से, उस समय की विवक्षा से और विवक्षा बिना पांच भेद हैं। उसमें श्रेणि को प्रारंभ करने वाला क्षीणमोह-क्षपक क्षेणि वाले निर्ग्रन्थ उत्कृष्ट से एक समय में एक सौ आठ और जघन्य से एक, दो आदि होते हैं तथा उपशान्त मोह-उपशम श्रेणि का प्रारंभ करने वाले उत्कृष्ट से यौवन और जघन्य से एक दो आदि होते हैं। इस तरह से श्री जिनेश्वर भगवन्त ने ज्ञान से जाना है। भिन्न भिन्न समय में प्रविष्ट श्रेणि में रहते सर्व क्षीण मोह वाले उत्कृष्ट से शत् पृथक्त्व दो सौ से नौ सौ और उपशान्त मोह वाले संख्याता होते हैं। दोनों श्रेणियों का काल अन्तर्मुहूर्त होने से असंख्यात समय का होता है, फिर भी श्रेणिगत आत्मा संख्याता से अधिक नहीं होते। उसमें यह कारण है कि-प्रति समय श्रेणि शुरू करने वाला नहीं होता है, बीच में बहुत समयों का अन्तर पड़ता ही है। उत्कृष्ट से मनुष्य संख्याता और उसमें भी साधु तो बहुत छोटी संख्या में होने से प्रति समय श्रेणि प्रारंभ करने वाले नहीं मिलते।

५. स्नातक - स्नान से सारे मैल को धोया जाता है वैसे ही जिसने घाती कर्मों रूपी आत्म मैल को सर्वथा धोया हो वह 'स्नातक' कहलाता है। उसके सयोगी और अयोगी दो भेद हैं। पंच निर्ग्रन्थी पृ० ३२ तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

सुहझाणजल विसुद्धो, कम्ममलाविक्ख या सिणाओत्ति।
दुविहो अ सजोगी, तथा अयोगी विणिद्दिट्ठो ॥७२८॥

अर्थात् - "शुक्ल ध्यान रूपी जल के द्वारा सर्व घाती कर्म रूपी मैल धोने की अपेक्षा से 'स्नातक' कहलाता है। उनके संयोगी और अयोगी दो भेद कहे हैं। मन, वचन और काया रूप योग के व्यापार वाला संयोगी कहलाता है और इस योग का जिसने निरोध किया हो वह अयोगी कहलाता है।"

इस तरह पांच प्रकार के साधु होते हैं। उसमें निर्ग्रन्थ स्नातक, और पुलाक-इन तीन का आर्य श्री जम्बू स्वामी के समय से विच्छेद हो गया है। और जब तक श्रवण भगवान श्री महावीर स्वामी का शासन चलेगा तब तक बकुश और कुशील दो प्रकार के ही साधु रहेंगे। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि -

निग्गंथ सिणा याणं, पुलाग सहियाण तिण्ह वोच्छेओ।
समणा वउस कुसीला, जा तित्थं ताव होहिंति ॥७३०॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "निर्ग्रन्थ, स्नातक तथा पुलाक इन तीनों का आर्य जम्बू स्वामी के समय विच्छेद होने से शेष बकुश और कुशील साधु शासन के अन्त तक रहेगा।" वर्तमान काल में चारित्र वंत योग्य जीवों का उपकार उनके द्वारा होता ही है, इसलिए उनकी सेवा द्वारा अपनी योग्यता प्रगट करनी चाहिए।

इस तरह प्रसंग आने पर पंच निर्ग्रन्थों का स्वरूप कहा है। अब दस प्रकार के प्रायश्चित्त का वर्णन करते हैं। १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. मिश्र, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्यता और १०. पारांचिक। आवश्यक निर्युक्ति गाथा १४१८ पंचाशक १६१२, व्यवहार भाष्य ५३ तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

आलोअण पडिक्कमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे।
तवच्छेय मूल अणवट्ठया य पारंचित चेव ॥७५०॥

अर्थात् - "आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्यता और पारांचित, इस तरह प्रायश्चित्त दस प्रकार कहा है।"

१. आलोचना - गुरु के आगे अपने अपराध को प्रगट कहना। उस आलोचना में यदि एक ही अपराध सेवन किया हो तो उसका क्रम इस प्रकार है, जो प्रायश्चित्त अल्प-छोटा हो वह पहले कहना, फिर उससे अधिक प्रायश्चित्त कहना, फिर उससे भी अधिक प्रायश्चित्त। कहना इस तरह प्रायश्चित का क्रम है। इस तरह दो प्रकार से होता है, वह पहले भाग में कहा है। यह आलोचना गोचरी के लिए फिरना, विहार करना, स्थंडिल भूमि में जाने आने आदि कार्य के लिए सौ हाथ से दूर जाने आने रूप आवश्यक कार्यों में सम्यग् उपयोग वाले और इससे शुद्ध भावना के योग से जिसको अतिचार न लगा हो ऐसे छद्मस्थ होने पर भी अप्रमत्त साधु के लिए समझना, क्योंकि-अतिचार वाले साधु को पूर्व के प्रायश्चित्त लगने संभव हैं और केवली भगवन्त तो कृत कृत्य होने से उनको आलोचना-प्रायश्चित्त भी नहीं होता। यहां प्रश्न होता है कि-आगम के अनुसार आचरण करने से जिसको प्रायश्चित्त लगा न हो ऐसे अप्रमत्त साधु को आलोचना निष्फल होने से वह किसलिए करे ? उसका उत्तर देते हैं- तुम्हारा प्रश्न युक्त है, किन्तु शुद्ध भाव और उपयोग पूर्वक करते केवल शुद्ध चेष्टा (प्रवृत्ति) से और उनकी क्रिया में सूक्ष्म प्रमाद निमित्त भूत होने से भी उनको क्रिया आश्रव-कर्म बन्ध वाली होने की संभावना है। इसलिए उनको आलोचना करना सफल ही है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. प्रतिक्रमण - अतिचार का पक्ष त्याग करके 'प्रतीप' अर्थात् उलटा 'क्रमण' अर्थात् पीछे हटना उसे प्रतिक्रमण कहते हैं अर्थात् पश्चात्ताप से मिथ्या दुष्कृत देना और 'पुनः ऐसा अपराध नहीं करूंगा' ऐसा बोलना निश्चय करना उसे प्रतिक्रमण समझना। समिति-गुप्ति आदि के पालन में जब सहसाकार-अचानक अथवा उपयोग के अभाव में प्रमाद से भूल जाय तब गुरु के सम्मुख आलोचना किए बिना भी मिथ्या दुष्कृत देने रूप यह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करने में आता है।

३. मिश्र - उपर्युक्त आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों जिसमें हों उस प्रायश्चित्त को मिश्र कहा है। उसमें प्रथम शुरू के समक्ष अतिचार की आलोचना करे, फिर गुरु के आदेशानुसार 'मिच्छामि दुक्कडं' देना चाहिए। यह प्रायश्चित्त इष्ट शब्दादि विषयों में राग-द्वेष आदि का जिसको संशय हो उसे समझना ; परन्तु राग-द्वेष आदि किए का निश्चय हो उसे छठा 'तप प्रायश्चित्त आता है।

४. विवेक - दोष वाला आहार, पानी, उपकरण वसति, आदि का त्याग करना, उसका उपयोग नहीं करना- उसे विवेक कहा है। यह विवेक सम्यग् उपयोग पूर्वक 'यह वस्तु शुद्ध है' इस तरह समझकर लेने पर आहारादि वस्तु 'अशुद्ध है' इस प्रकार जब बाद में ख्याल आए तब उसका त्याग करने से होता है। उपलक्षण से जैसा पहले पिंड विशुद्धि में कहा है वह क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त आदि का भी त्याग करना चाहिए। वह सब 'विवेक' प्रायश्चित्त समझना।

५. व्युत्सर्ग - उपर्युक्त अनेषणीय-दोषित आदि का त्याग, गमन, आगमन, सावध, स्वप्न दर्शन, नाव से जलाशय उतरना, बड़ी नीति, लघु नीति परठना आदि प्रवृत्ति करने के बाद विशिष्ट एकाग्रता पूर्वक मन, वचन, काया के व्यापार का त्याग-कायोत्सर्ग करना, उसे व्युत्सर्ग कहा है।

६. तप - छेद ग्रन्थों में अथवा जीत कल्प में कहे अनुसार जिस जिस तप के द्वारा जिस अतिचार की शुद्धि हो वह तप आलोचना को देना और उसके अनुसार वह करना- उसे तप प्रायश्चित्त समझना। यह प्रायश्चित्त सचित्त पृथ्वी आदि का स्पर्श जब हो तब जघन्यतया नीवि से लेकर उत्कृष्ट छह महीने के उपवास तक दिया जाता है।

७. छेद - तप प्रायश्चित्त देने पर भी यदि सुधरता न हो तो ऐसे साधु को पांच अहोरात्रि, दस अहोरात्रि आदि क्रम से चारित्र पर्याय से छेदन करना चाहिए अर्थात् दीक्षा पर्याय को घटाना चाहिए वह छेदन प्रायश्चित जानना। जिस आत्मा को तप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रायश्चित्त से सुधार न सके, ऐसे क्लिष्ट अट्ठमादि तप करने में समर्थ साधु को तप से उलटा अभिमान आता है कि 'चाहे कितना भी तप करवा दे, इससे मुझे क्या कष्ट होने वाला है ।' ऐसे साधु को अथवा तप करने में असमर्थ बीमार आदि को अथवा बिना कारण से अपवाद मार्ग-दोष को सेवन की रुचि वाले को यह छेद प्रायश्चित्त देने में आता है ऐसा समझना ।

८. **मूल** - महाव्रतों को पुनः उच्चारण करना अर्थात् पूर्व के सारे दीक्षा पर्याय को छेदन करना वह- प्रायश्चित्त मूल कहलाता है । यह प्रायश्चित्त 'आकुट्टी थी' अर्थात् जो बारम्बार या जानबूझकर पंचेन्द्रिय जीव का वध करता है, गर्व-अंहकार से मैथुन सेवन करता है, उत्कृष्ट से मृषावाद बोलता है, अदत्तादान या परिग्रह करता है अथवा अल्प भी इन मृषावादादि दोष को जानने पर भी बारम्बार सेवन करता है, उसे यह प्रायश्चित देने में आता है ।

९. **अनवस्थाप्यता** - 'अवस्थापन' अर्थात् पुनः व्रतोच्चारण भी न कर सके ऐसी बड़ी विराधना करने वाले साधु को 'अनवस्थाप्य' कहते हैं । ऐसे अति दुष्ट परिणाम वाले को दिया हुआ तप जब तक वह पूर्ण न करे तब तक पुनः व्रत नहीं देना चाहिए । ऐसा प्रायश्चित्त भी अनवस्थाप्य कहलाता है । ऐसे विराधक को तपकर्म भी इतना दिया जाता है कि उसे पूर्ण करते उसमें 'उठने बैठने आदि कार्य करने की भी शक्ति न रहे' और जब वह तप करते सर्वथा अशक्त बन जाय तब अन्य साधुओं से प्रार्थना करे कि-'हे आर्यों ! मुझे खड़े होने की इच्छा है' तब अन्य साधु इसके साथ बात भी न करें, केवल उसका काम कर दें । इस तरह तप करने के बाद उसे व्रतोच्चारण करवाया जाय । जो साधु लट्ठी, मुट्ठी आदि मारने मरवाने का भी भय छोड़कर निर्दयता से अपना अथवा पर को प्रहार करने रूप अति दुष्ट रौद्र अध्यवसायों का सेवन करे उसे यह प्रायश्चित दिया जाता है ।

१०. **पारांचिक** - जिससे बड़ा अन्य प्रायश्चित्त अथवा अपराध न होने से सारे प्रायश्चित्तों का पार प्राप्त किया हो ऐसा आखिरी प्रायश्चित्त उसे 'पारांचिक' कहते हैं । यह प्रायश्चित्त 'साध्वी अथवा राज पत्नी का सेवन किया हो अथवा साधु-साध्वी या राजा आदि उत्तम मनुष्यों का वध आदि किया हो' इत्यादि अति बड़ा अपराध करे- उसे कुल, गण और संघ से भी बाहर करने के लिए दिया जाता है । वह जघन्य से छह महीने और उत्कृष्ट से बाहर वर्ष तक का होता है । इतने काल के बाद जब अपराधी अतिचार से पार हो जाय तब शुद्ध बने को पुनः दीक्षा दी जाती है, अन्यथा नहीं दी जाती । यह पारांचिक प्रायश्चित्त आचार्य को ही दिया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाता है और प्रायश्चित्त के दरमियान वह अप्रगट रूप में साधु का वेश रखकर- लोगों में साधु रूप में जाना जाय इस तरह जिन कल्पिक मुनि के समान, स्वयं जिस क्षेत्र में विचरण किया हो- जहां लोग जानते हो उस क्षेत्र से दूर अन्य प्रदेश में रहकर अति कठोर तप करे। वह तप पूर्ण होता है। उपाध्याय को तो दसवें प्रायश्चित्त के योग्य अपराध करने पर भी अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त ही दिया जाता है, पारांचिक नहीं दिया जाता है। इस तरह सामान्य साधु को भी अनवस्थाप्य या पारांचिक के योग्य बड़ा अपराध करने पर भी आठवां मूल प्रायश्चित्त तक ही दिया जाता है। ऐसा समझना।

इस अनवस्थाप्य के दो भेद हैं- १. आशातना अनवस्थाप्य और २. प्रति सेवा अनवस्थाप्य। उसमें पहला तीर्थंकर, गणधर आदि उत्तमोत्तम पुरुषों की अवहेलना- अनादर करे उसे जघन्य से छह महीने तक का और उत्कृष्ट से एक वर्ष तक का प्रायश्चित्त दिया जाता है। दूसरे में तो हाथ से मारना, समान धर्म वाले साधु की अथवा अन्य धर्मी की चोरी करना इत्यादि कुकृत्य करने वाले को जघन्य से एक वर्ष तक और उत्कृष्ट से बारह वर्ष तक दिया जाता है। शास्त्रों में भी यही कहा है कि **"तत्थ आसायणा अण वट्ठप्पो जहन्नेण छम्मासा उक्को सेणं संवच्छरं, पडिसेवणाअण वट्ठप्पो जहण्णेणं बारस मारना, उक्कोसेणं वारस संवच्छराणि"** इसका भावार्थ पूर्व में आ गया है। नौवां और दसवां दो प्रायश्चित्त चौदह पूर्वी तथा प्रथम संघयण वाले साधु तक का होता है, उसके बाद विच्छेद हो गया है। मूल तक के आठ तो आचार्य श्री दुप्पसहसूरिजी तक रहेगा। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

दस ता अणु सज्जंती, जा चउदस पुव्वि पढम संघयणी ।
तेण परं मूलंतं, दुप्पसहो जाव चारित्ती ॥७५८॥

अर्थात् - "दसों प्रायश्चित्त चौदह पूर्वी एवं प्रथम संघयण वाले जहां तक रहते हैं वहां तक रहता है। उसके बाद विच्छेद होता है और उसके बाद आठवां मूल प्रायश्चित्त तक श्री आचार्य दुप्पसह सूरि जी के काल तक चलेगा।" इस तरह दस प्रकार के प्रायश्चित्त का स्वरूप अल्प मात्र कहा है।

'उपसर्गतितिक्षा'- उसमें 'उप' अर्थात् समीप में और 'सर्ज' अर्थात् सर्जन करना अर्थात् देवादि के समीप में आना- उसे उपसर्ग कहते हैं अथवा जिससे परेशान किया जाय उसे उपसर्ग कहते हैं। इसके लिए योगशास्त्र-प्रकाश तीसरा-श्लोक १५३

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की टीका में कहा है कि- '(१) देव कृत, (२) मनुष्य कृत, (३) तिर्यंच कृत और (४) स्वत: कृत- ये चार प्रकार के उपसर्ग होते हैं। इन प्रत्येक के चार-चार भेद हैं - १. हास्य से, २. द्वेष से, ३. विचार-विमर्श राग से और ४. दुराचारी की सोहबत से। देवकृत उपसर्ग देवता द्वारा होता है। मनुष्य सम्बन्धी उपसर्ग हास्य, द्वेष, विमर्श और दु:शील संग के होते हैं। तिर्यंच-विषयक उपसर्ग भय, क्रोध, आहार अथवा परिवार के रक्षण के लिए होता है। वह इन कारणों से प्रेरित होकर मारता है, गिराता है या रोकता है। शरीर में वेदना हो अथवा वात, पित्त, कफ और सन्निपात होने से भी उपसर्ग होता है- यह शारीरिक रोग जन्य समझना। उस प्रत्येक उपसर्ग को समतापूर्वक सहना करना सापेक्ष यति धर्म है।

'परीषह जय' अर्थात्त मोक्ष मार्ग में स्थिर-दृढ़ अचल होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जो कष्ट बारम्बार सहन करने में आए वह परीषह कहा जाता है। धर्म पालन करते समय आने वाले परीषहों (कष्टों) से जरा भी घबराना या विचलित नहीं होना चाहिए। परीषह बाइस हैं। वे इस प्रकार से हैं- १. क्षुधा परीषह, २. तृष्णा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंश-मशक, ६. अचेलत्व, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या-विहार, १०. निषधा, ११. शय्या-उपाश्रय, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृण स्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान और २२. अदर्शन परीषह। इन २२ परीषहों पर विजय प्राप्त करना अर्थात् उनका पराभव करना सापेक्ष यतिधर्म है। योग शास्त्र, प्रकाश तीसरा, श्लोक १५३ की टीका में परीषहों का स्वरूप कहते है कि-

१. क्षुधा परीषह - क्षुधा-भूख से पीड़ित शक्तिशाली विवेकी साधु गोचरी की एषणा का उल्लंघन किए बिना, अदीन वृत्ति से, घबराये बिना, केवल अपनी संयम यात्रा के निर्वाह के लिए भिक्षार्थ जाए। साधक भूख लगने पर सम भाव से सहन करे।

४. तृषा परीषह- तत्त्वज्ञ मुनि विहार करते समय मार्ग में प्यास लगने पर भी नदी, तलाब, कुएं आदि का सचित पानी देखकर उसे पीने की इच्छा न करे, परन्तु दीनता छोड़कर अचित जल की गवेषणा करे और प्यास को सम भाव से सहे।

३. शीत परीषह - उत्तम मुनि ठंड से पीड़ित होने पर, पास में वस्त्र या कम्बल न हो फिर भी अकल्पनीय वस्त्रादि ग्रहण नहीं करे। ठंड मिटाने के लिए आग न जलाए या आग तापे भी नहीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. उष्ण परीषह - धरती तपी हो फिर भी मुनि गर्मी की निन्दा, छाया का स्मरण न करे और न ही पंखे या स्नान आदि की अभिलाषा करे अथवा शीतल उपचार भी न करे ।

५. दंश- मशक परीषह-डांस, मच्छर, खटमल आदि जीवों द्वारा डसने या काटने का उपद्रव होने पर भी उन्हें त्रास न देना ।' सर्व जीवों को आहार प्रिय है' ऐसा समझकर ज्ञानी मुनि उससे द्वेष न करे, उसे हटाये नहीं, उपेक्षा करे और पीड़ा को सम भाव से सहन करे ।

६. अचेलक परीषह- जीर्ण और सामान्य वस्त्र पहनने पर भी मुनि 'मेरे पास वस्त्र नहीं हैं अथवा अशुभ वस्त्र हैं या यह वस्त्र अच्छा है' । इत्यादि राग द्वेष रूप विचार न करे परन्तु लाभालाभ में-लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम की विचित्रता का विचार करे, परन्तु वस्त्र के अभाव में दु:ख न माने- अचेलक परीषह को सहन करे ।

७. अरति-परीषह- धर्म रूपी उद्यान में आनन्द करते हुए साधु या साधक विहार करते, उठते-बैठते अथवा संयम-अनुष्ठान करते या धर्म का पालन करते हुए कभी अरति-खेद, अरुचि या उदासीनता न लाए बल्कि मन को सदा स्वस्थ रखे और मस्ती का अनुभव ही करे ।

८. स्त्री-परीषह- 'दुर्ध्यान कराने वाली, संग रूप कर्म पंक में मलिन करने वाली, मोक्ष द्वार की अर्गला के समान स्त्री को स्मरण करने मात्र से धर्म का नाश होता है' ऐसा समझकर इसे याद ही न करना चाहिए ।

९. चर्या-परीषह- गांव, नगर, कस्बे आदि में अनियत रूप में रहने वाला साधु किसी भी स्थान में ममत्व रखे बिना, विविध अभिग्रह धारण करते हुए पडिमाधारी अकेला भी हो फिर भी नियमानुसार विहार आदि की चर्या करे-विचरण करे ।

१०. निषधा परीषह- स्मशानादिक स्थान में रहना निषिध-स्थान कहलाता है। उसमें स्त्री, पशु या नपुंसक के निवास से रहित स्थान में अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग सहन करते हुए निभर्यता और शरीर की ममता से रहित रहना ।

११. शय्या परीषह-शुभ अथवा अशुभ शय्या मिलने पर अथवा सुख या दु:ख प्राप्त होने पर मन में राग द्वेष नहीं करना चाहिए । इसे सुबह तो छोड़ना ही है, ऐसा विचार कर हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१२. आक्रोष परीषह- यदि कोई आक्रोश करे तो अपने आप को क्षमाश्रमण समझकर उस पर क्रोध नहीं करना अपितु क्षमा रखना, सम भाव से रहना। क्योंकि क्षमा रखने वाला या क्षमा देने वाला श्रमण कहलाता है । बल्कि आक्रोश करने वाले को उपकारक नहीं परन्तु उपकारी बुद्धि से देखना चाहिए और अपने समता धर्म की साधना के लिए वह निमित्त रूप देता है- इस तरह समझकर प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिए ।

१३. वध परीषह- यदि मुनि को कोई मारे-पीटे तो भी समता से सहन करे और उस समय विचार करे कि इससे आत्मा का नाश तो कभी नहीं होता । क्रोध की दुष्टता से कर्म बन्ध और क्षमा के द्वारा गुण-उपार्जन होता है, ऐसा सोचकर उसका सामना न करे, मारने का तो चिन्तन भी न करे । परन्तु उसके कर्म बन्धन होने की करुणा चिन्तन करे, अपितु वध परीषह सहन करे ।

१४. याचना परीषह- भिक्षा जीवी साधु दूसरों के द्वारा दिए हुए दान से अपनी जीविका चलाते हैं । अत: याचना करने में साधु साध्वी न तो शर्म रखे और न दु:ख ही माने । किसी से इन्कार सुनकर याचना से घबराकर याचना का दु:ख न माने और पुन: गृहस्थ जीवन की इच्छा न करे ।

१५. अलाभ परीषह-लाभान्तराय कर्म के उदय से नहीं मिलने वाले तथा क्षयोपशम से मिलने वाले आहार, वस्त्र, पात्रादि अपने लिए या दूसरे के लिए यदि गृहस्थ दातार पास से न मिलें तो खेद न करे और यदि मिलें तो अभिमान या हर्ष भी न करे। इतना ही नहीं, यदि वह न मिलें तो उसमें अपने अन्तराय कर्म के उदय का कारण भूत मान कर समता धारण करे, परन्तु दूसरे की निन्दा न करे। अन्य लब्धिवान साधु को मिले तो उसे देखकर द्वेष भी न करे परन्तु उनके प्रति आदर करे ।

१६. रोग परीषह-जब शारीरिक रोग आने पर घबराये नहीं । कर्मोदय जन्य रोग को समता से सहन करते हुए उसकी चिकित्सा करने की अभिलाषा न रखे बल्कि अदीन मन से शरीर और आत्मा की भिन्नता समझकर उस रोग को सहन करे ।(यदि चिकित्सा की आवश्यकता पड़े तो भी संयम के ध्येय से करे ।)

१७. तृण स्पर्श परीषह - वस्त्रों के अभाव में या वस्त्र थोड़े हों तो तिनके, घास आदि का बिछौना बिछाया हो, इसके कारण उसकी नोंकें चुभती हों, दर्द होता हो तो सहन करे, परन्तु कोमल गुदगुदी शय्या की इच्छा न करे ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१८. मल परीषह-धूप या पसीने से सारे शरीर पर मैल जम गया हो, उससे मुनि उद्विग्न न हों। पानी में डूबकर स्नान करने की इच्छा न रखें और न मैल घिसकर दूर करने की इच्छा रखें। परन्तु शरीर की अशुचि का चिन्तन करते उसे समता से सहन करें।

१९. सत्कार परिषह-किसी की ओर से विनय, पूजा, दान, सम्मान, प्रतिष्ठा या वाहवाही की अपेक्षा उत्तम साधु को नहीं रखनी चाहिए। यदि सत्कार मिले तो हर्ष या अभिमान न करे। किन्तु यह सत्कार चारित्र धर्म का होता है, ऐसा समझे-ऐसा चिन्तन करे।

२०. प्रज्ञा परीषह- दूसरे को अधिक बुद्धिमान देखकर और अपनी अल्प बुद्धि जानकर मन में खेद न करें और स्वयं में अधिक बुद्धि हो तो उसका अभिमान न करें। अधिक बुद्धि वाले का विनय करें तथा अल्प ज्ञान वाले के प्रति अनादर न कर वात्सल्य करें, न ही दूसरों को ज्ञान देने में खिन्न हों।

२१. अज्ञान परीषह- यदि पढ़ा न हो तो 'मैं पढ़ा हुआ नहीं हूँ और ज्ञानी और चारित्र वाला होने पर भी मैं छद्मस्थ होने से बहुत अज्ञानी हूँ' ऐसा खेद न करे एवं विचार करे कि ज्ञान की प्राप्ति क्रमानुसार क्षयोपशम से ही होती है। ऐसा समझकर पुरुषार्थ करे और अज्ञान को समता से सहन करे।

२२. अदर्शन परीषह- सम्यकत्व प्राप्त न होने से वस्तु तत्व को यथार्थ रूप से न समझने या न मानने पर दुःख न करें। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर उसका अभिमान न करें और मानें कि-जिनेश्वर भगवन्त कथित जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, पुनर्जन्म आदि भाव परोक्ष होने पर भी सत्य है, झूठा नहीं है। उससे किसी भी प्रयत्न से चलित न हों।

इस तरह स्व-पर से होने वाले शारीरिक तथा मानसिक या प्राकृतिक परीषहों को मन, वचन और काया के विजेता मुनि कर्मों की निर्जरा के लिए निर्भय-अदीन बनकर सम भाव से सहन क़रें। ये परीषह ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों से उदय होते हैं। वेदनीय कर्म से १. क्षुधा, २. तृषा, ३.शीत, ४.उष्ण, ५. दंशादि, ६. चर्या ७. शय्या, ८. वध, ९. रोग, १०. तृण स्पर्श और ११. मैल परीषह उत्पन्न होते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से १२. प्रज्ञा और १३. अज्ञान परीषह होते हैं तथा अंतराय कर्म के उदय से १४. अलाभ परीषह होता है। ये चौदह परीषह छद्मस्थ को होते हैं। वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश, चर्या,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वध, मल, शय्या, रोग, तृण स्पर्श- ये ग्यारह परीषह छद्मस्थ के उपरान्त जिन-केवली को भी हो सकते हैं ।' अन्यत्र कहा है कि-परीषहों की घटना दो प्रकार से होती हैं- एक कर्म प्रकृतियों के उदय से और दूसरे गुणस्थानक की अपेक्षा से । उसमें प्रथम प्रकार इस प्रकार से है । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

दंसणमोहे दसंण परीसहो पन्नऽनाण पढमंमी ।
चरमेऽलाभ परीसह, सत्ते व चरित्त मोहंमी ॥६८७॥

अक्कोस अरइ इत्थी, निसीहि आऽचेल जायणा चेव ।
सक्कार पुरक्कारे, एक्कारस वेयणिज्जंमि ॥६८८॥

पञ्चेव आणुपुव्वी, चरिया सेज्जा तहेव जल्ले य ।
वह रोग तणफासा, सेसुसुं नत्थि अवयारो ॥६८६॥

अर्थात्- "दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से दर्शन परीषह, ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह, अंतराय कर्म के उदय से एक अलाभ और चारित्र मोहनीय के उदय से सात परीहषह होते हैं । (६८७) ॥ वह इस प्रकार- आक्रोश, अरति, स्त्री, निषधा (आसन), अचेलक, याचना और सत्कार-पुरस्कार- ये सात चारित्र मोहनीय के उदय से होते हैं और आगे के ग्यारह वेदनीय कर्म से होते हैं । (६८८) ॥ वह अनुपूर्वी से अर्थात् क्रमशः क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश- ये पांच तथा चर्या, विहार, शय्या, अपाश्रय, मैल, वध, रोग और तृण स्पर्श -ये ग्यारह वेदनीय कर्म के उदय से जानना । शेष कर्मों के उदय में परीषह नहीं होते । (६८६)॥"

इस तरह बाईस परीषहों में एक दर्शन मोहनीय से, दो ज्ञानावरणीय से, एक अंतराय से, सात चारित्र मोहनीय से और ग्यारह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं। यह कर्म की अपेक्षा से कहा है । अब दूसरे प्रकार से अर्थात् गुणस्थानक की अपेक्षा से कहते हैं । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

बावीसं बायरसंपराय, चउदस सुहुमरायम्मि ।
छउ मत्थ वीयरागे, चउदस एक्कार सजिणंमि ॥६६०॥

अर्थात् - "बादर संपराय (नौवें) गुण स्थानक तक बाईस, सूक्ष्म संपराय (दसवें) में चौदह, छद्मस्थ वीतराग को ग्यारहवें बारहवें में चौदह और केवली को ग्यारह परीषह होते हैं ।" एक काल में एक साथ उत्कृष्ठ से और जघन्य से एक जीव के परीषह कहते हैं कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वीसं उक्कोसपए वट्टंति जहन्नओ य एक्को य ।
सीओसिण चरियं निसीहिआ य जुगवं न वट्टंति ॥६६१॥

अर्थात्- "एक साथ में जीव को उत्कृष्ट से बीस और जघन्य से एक ही परीषह होता है, क्योंकि शीत और ऊष्ण तथा विहार और उपाश्रय शय्या- ये दो परस्पर विरुद्ध होने से एक ही साथ में दो में से किसी एक का ही होता है ।" इस तरह परीषहों का वर्णन किया ।

गच्छ वास, कुसंसर्ग त्याग, अर्थ पद चिन्तन, विहार, आलोचना, प्रायश्चित्त करना, उपसर्ग को सहन करना तथा परीषहों को जीतना इत्यादि चारित्रानुष्ठानों का भावपूर्वक निर्मल मन से पालन करने वाले को चारित्र के अध्यवसायों का रक्षण होता है। इतना ही नहीं, कभी न प्रगट हुए हों ऐसे विशुद्ध अध्यवसाय भी इस गच्छ वास आदि पालन रूप उपयोग से प्रगट होते हैं । इसलिए उसका यथाविधि से पालन करना चाहिए । यदि केवल व्रत स्वीकार करने से ही परिणाम की रक्षा या वृद्धि होती हो तो अभव्य को भी होती है, क्योंकि अभव्य भी व्रत को स्वीकार करता है । अतः छद्मस्थ को भी गुरु की आज्ञा के पालन रूप पालन से ही उपास्थाना अर्थात् स्वीकार किए महाव्रत सफल होते हैं, ऐसा समझकर उनकी आज्ञा अनुसार पूर्व कहे गच्छादि प्रत्येक कार्य का यथाविधि पालन करना चाहिए । अधिक क्या कहें ? उत्सर्ग मार्ग में गुरु आज्ञा का पालन करने से ही महाव्रतों का उत्कृष्ट मुक्ति रूप फल मिलता है । इसलिए ही यहां 'गच्छवासादि कर्त्तव्यों का पालन करना ही चाहिए' ऐसा नियम बताया है । अन्यथा 'केवल सामायिक चारित्र को प्राप्त कर भी' अनंता सिद्ध होने से उपस्थापना और गच्छ वास आदि यह सारा विधान निष्फल गिना जाता है। हां, केवल सामायिक से मुक्ति होती है, परन्तु वह राजमार्ग नहीं है । राजमार्ग तो महाव्रत स्वीकार रूप छेदोपस्थापना नामक दूसरे प्रकार के चारित्र को स्वीकार कर गुरु महाराज की आज्ञा के पालन पूर्वक गुण स्थान की वृद्धि करना है । इसलिए यहां गच्छ वास आदि कहना वास्तविक है । गोविन्द वाचक आदि के समान व्रतों के उच्चारण करते समय में न हो ऐसे भी चारित्र के परिणाम इस गच्छ वास आदि पालन से भी प्रगट होते हैं, इसलिए गच्छ वासादि का पालन उद्यमपूर्वक करना चाहिए ।

तत्व दृष्टि से तो इस तरह चारित्र पालन करना ही ज्ञान और श्रद्धा है अर्थात् उसका फल है । इसके बिना केवल कोरा ज्ञान या कोरी श्रद्धा सफल नहीं है । पंचाशक में कहा है कि-

णिच्छय णयस्स चरणाय विघाए, णाणदंसण वहोऽवि।
ववहारस्स उ चरणे, हयम्मि भयणा उ सेसाणं ॥११-४५।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''निश्चय नय के मतानुसार चारित्र रूप आत्म स्वभाव का विघात होने से ज्ञान और दर्शन का भी विघात माना जाता है । निश्चय से ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों अभिन्न हैं, इसलिए एक का घात होने से तीनों का घात गिना जाता है। व्यवहार नय के मतानुसार तो चारित्र का विघात होने पर भी दर्शन-ज्ञान का विघात हो अथवा न भी हो । अनंतानुबन्धी के उदय से यदि चारित्र का घात हो तो दर्शन और ज्ञान नष्ट होता है, अप्रत्याख्यानीय के उदय से तो एक ही चारित्र का घात होता है ।''

यहां प्रश्न होता है कि ''**सिज्झंति चरण रहिया, दंसण रहिआ ण सिज्झंती**'' अर्थात् 'चारित्र रहित आत्मा सिद्ध होते हैं, परन्तु दर्शन रहित सिद्ध नहीं होते' इस तरह आगम में दर्शन की प्रधानता सुनी जाती है तो जो आपने कहा वह कैसे हो सकता है ? उसका उत्तर देते हैं-तुम्हारा प्रश्न बराबर नहीं है । जैसे दीनार एक प्रकार का धन है और विशेष संपत्ति के उत्पन्न करने में हेतु है, वैसे ही दर्शन की मुक्ति होने के पहले बीच में चारित्र रूप कार्य की सिद्धि कराने से मुक्ति का कारण है, अर्थात् चारित्र की प्राप्ति से सम्यग्दर्शन मुक्ति का परम्परा कारण है । इससे उसकी मुख्यता योग्य है, अन्यथा नहीं है । इसलिए ही भाव की अपेक्षा से सम्यग्दर्शनादि गुण क्रमशः प्रगट होते हैं । इसलिए विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि-

समंचमि उ लद्धं, पलियपुहुत्तेणं सावओ हुज्जा ।
चरणो वसमखयाणं, सागर संखतरा हुंति ॥१२२२॥

एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देव मणु अजम्मेसु ।
अण्णयर सेढि वज्जं, एग भवेणं तु सव्वाणिं ॥१२२३॥

अर्थात्- ''कुछ कम क्रीड़ा एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम कर्मों की स्थिति जब शेष रहे तब सम्यकत्व प्राप्त करता है । उसके बाद उसमें से दो से नौ पल्योपम स्थिति घटते देश विरति होती है । उसमें से भी संख्याता सागरोपम घट जाय तब सर्व विरति बनता है । उसमें से संख्याता सागरोपम स्थिति घटते ही उपशम श्रेणि और उससे भी संख्याता सागरोपम स्थिति घटते श्रपक श्रेणि के (अध्यवसाय) प्रगट होते हैं । (१२२२) ॥ अप्रतिपतित सम्यकत्व वाला जो जीव देव और मनुष्य का ही जन्म करे, उसके विषय में इस क्रम से उन गुणों की प्राप्ति जानना, अथवा किसी को दो में से किसी एक श्रेणि के सिवाय सम्यकत्व आदि सर्व भाव एक ही जन्म में भी प्राप्त होते हैं । एक जन्म में दो श्रेणियां नहीं होतीं, इसलिए एक ही जन्म में सर्व भावों को प्राप्त करने वाला भी अन्यतर श्रेणि नहीं करता । (१२२३)''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसलिए यहां 'चारित्र बिना मुक्ति नहीं होती' ऐसा जो कहा है वह भाव चारित्र के आश्रित युक्त है। द्रव्य चारित्र (वेष) की प्राप्ति में ऐसा नियम नहीं है। वेष बिना भी मोक्ष होता है, क्योंकि सोमेश्वर आदि अंतकृत केवली को द्रव्य चारित्र-वेष का अभाव था ही, परन्तु उनको भी जो भाव चारित्र से अंतकृत केवलीत्व प्राप्त हुआ था, वह भाव चारित्र पूर्वजन्म के द्रव्य चारित्र का फल था। क्योंकि गृहस्थ जीवन के त्याग बिना मोक्ष साध सकता है ऐसा चरम शरीरीत्व प्राप्त करना अतीव उत्तम है और इससे ही वह अनेक जन्मों तक कुशल-शुभ योग के अभ्यास करने से प्राप्त होता है। उसकी विजय बहुत ही दुष्कर है, उस मोह पर अनेक जन्मों तक चारित्र की आराधना से ही विजय पा सकते हैं। मेरुदेवा माता आदि का द्रव्य चारित्र का अभाव आश्चर्यभूत होने से विरोध नहीं मानना।

यहां प्रश्न होता है कि- 'आश्चर्य तो दस ही कहे हैं और उसमें मरुदेवा माता का नाम तो नहीं गिना है, फिर इसको आश्चर्य क्यों कहते हो ?' उसका उत्तर देते हैं कि-आश्चर्य दस ही नहीं हैं, शास्त्रों में दस कहे हैं तो दूसरे उपलक्षण रूप हैं अर्थात् दस के उपलक्षण से अन्य भी आश्चर्य हुए हैं, ऐसा समझना। पंच वस्तु में कहा है कि-

णणु णेयमिहं पढिअं, सच्चं उवलक्खणं तुए आइं ।
अच्छेरग भूअं पिअ, भणिअं ने अंपि अणवरयं ॥६२८॥

अर्थात्-"प्रश्न-इस मरुदेवा के दृष्टान्त को दस आश्चर्य में नहीं कहा ? उत्तर-तुम्हारा प्रश्न सम्यग् है, किन्तु ये दस आश्चर्य उपलक्षण भूत हैं अत: अन्य भी आश्चर्य हुए हैं। मरुदेवा माता को पूर्व जन्म में द्रव्य चारित्र बिना मोक्ष हुआ- वह भी आश्चर्य भूत माना है, क्योंकि ऐसा सदा नहीं बनता है। अपितु वनस्पति में से अनन्तर जन्म में मनुष्य होकर, उसी ही जन्म में मुक्ति अनंत काल में कोई ही जाता है इसलिए वह आश्चर्य रूप ही है।"

इस प्रकार सर्व कथन सुघटित है। इसलिए गच्छ वास आदि के पालन में प्रयत्नशील होना चाहिए। इस उत्तम क्रिया की आराधना करते कोई साधु पर्याय पूर्ण होते गण की अनुज्ञा (गणी पद) के योग्य भी बनता है। इसलिये अब गणी पद रूप सापेक्ष यति धर्म को कहने के लिए क्रम की प्रस्तावना कहते हैं-

अनुयोग गणानुज्ञाऽप्यनवध क्रमागता ।
तमेव सूत्र विदितं, वर्ण यामो यथा स्थितम् ॥१२८॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूलार्थ- ''अनुयोग और गच्छ की अनुज्ञा को भी कहने का शास्त्रोक्त क्रम अब प्राप्त हुआ है, अतः शास्त्र में कहे उस क्रम को यथास्थित कहते हैं ।''

व्याख्या- 'अनुयोग' अर्थात् सूत्र के अर्थ का व्याख्यान और 'गण' अर्थात् गच्छ-समुदाय, इन दोनों की अनुज्ञा अर्थात् अनुमति देना वह भी, यानि पूर्व कहे अनुसार गच्छ वासादि ही नहीं, परन्तु व्याख्यान और गच्छ की अनुमति देना और लेने वाले लेना, वह भी देने वाले-लेने वाले उभय का सापेक्ष यति धर्म है । इस अनुज्ञा की विशिष्टता कहते हैं कि-वह 'अनवध' अर्थात् साधु धर्म को पालन करने के शुद्ध क्रम के योग्य बना आत्मा को 'प्राप्त हुए' को देना । तात्पर्य यह है कि-दीक्षा लेकर ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा प्राप्त आदि क्रम से अराधना करके जिसने अनुज्ञा की योग्यता प्रगट की हो उसे यह अनुज्ञा प्राप्त हुई गिनी जाती है । अब उनको अनुज्ञा देना वह सापेक्ष यति धर्म है । इस कारण से उस क्रम का यथार्थ स्वरूप शास्त्रों में कहा है । उसके अनुसार कहते हैं । इस तरह प्रतिज्ञा करके अब उस क्रम से ही कहते हैं-

व्रतग्रहोऽष्टौ सूत्रार्थ-विहारे द्वादश क्रमात् ।
पञ्चचत्वारिंश वर्षे, योग्यतैवं गणि स्थितेः ॥१२६॥

मूलार्थ- ''व्रत ग्रहण करने में आठ वर्ष तथा सूत्र, अर्थ और विहार में बारह बारह वर्ष, इस तरह कुल चवालीस वर्ष व्यतीत होने के बाद पैंतालीसवें वर्ष में अनुयोग और गण की अनुज्ञा के लिए योग्यता प्रगट होती है ।''

व्याख्या- चारित्र की प्राप्ति के लिए आठ वर्ष कहा है क्योंकि इससे कम उम्र वाले को चारित्र नहीं दिया जाता, छोटी उम्र वाले का पराभव आदि हो इस कारण से आठ वर्ष से कम वाले को द्रव्य चारित्र नहीं देना चाहिए । अध्यवसाय की प्राप्ति भी इससे कम उम्र वाले को न होती । इसलिए द्रव्य-भाव दोनों चारित्र का आठ वर्ष से पूर्व का निषेध है । **'सूत्रार्थ विहार'** इन तीन पदों का समाहार द्वंद्व समास होने से सूत्र पढ़ने में, अर्थ पढ़ने में और विहार में अर्थात् भिन्न-भिन्न देशों का अनुभव ज्ञान प्राप्त करने में तथा भव्य जीवों को धर्म के उपदेश करते विचरने में, इस तरह तीन अनुक्रम से बारह बारह वर्ष व्यतीत हों- इस क्रम से जब चवालीस वर्ष की उम्र पूर्ण हो जाय और जब पैंतालीसवां वर्ष प्राप्त हो तब सूत्रों के अनुयोग की अर्थात् व्याख्यान और गच्छ को संभालने की अनुज्ञा प्राप्ति की योग्यता प्रगट होती है । प्राचीन समाचारी के ग्यारहवें द्वार में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अठवरिस दिक्ख बारस, सुत्ते अत्थे य वायगत्ते अ ।
पणया लीसे एरिस गुणजुत्तो होइ आयारिओ ।।२।।

अर्थात्- ''आठ वर्ष की उम्र में दीक्षा, उसके बाद बारह-बारह वर्ष सूत्र में, अर्थ में और व्याख्यान करते देश-प्रदेश विचरण में- इस तरह कुल चवालीस वर्ष व्यतीत हो जायें, पैंतालीसवां वर्ष आ जाय तब गुण वाला मुनि आचार्य पद को प्राप्त करने के लिए योग्य हो सकता है।'' अब वह योग्यता प्रगट होने के बाद का कर्त्तव्य दो श्लोक से कहते हैं कि-

ईदृग् पर्याय निष्पन्नः षद् त्रिंशद् गुण संगतः ।
दृढ व्रतो यति युतो, मुक्त्यर्थी संघ सम्मतः ।।१३०।।

श्रुतानुयोगानुज्ञायाः पात्रं न तु गुणोज्झितः ।
अपात्रे तत्प्रदाने यन्महत्याशातना स्मृता ।।१३१।। युग्मम्

मूलार्थ- ''इस तरह पर्याय-उम्र होने पर छत्तीस गुणों से युक्त दृढ़-अखण्ड व्रत वाला, शिष्यादि परिवार मुक्त, मक्ति का अर्थी और संघ मान्य इत्यादि गुणों से युक्त मुनि श्रुति की अनुज्ञा के पात्र हैं, परन्तु गुण के बिना या अपात्र में आचार्य पद स्थापना करने से महान् आशातना कही है।''

व्याख्या- पूर्व कहे अनुसार पर्याय-उम्र जिसकी पूर्ण हुई हो तथा जो छत्तीस गुणों से युक्त हो वही गणी पद के लिए योग्य है। वे गुण पंचदिय सूत्र में इस तरह दिये हैं-

पंचिंदिअ संवरणो, तह नव विह बंभचेर गुत्ति धरो ।
चउव्विह कसाय मुक्को, अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो ।।१।।

पंच महव्वय जुतो, पंच विहाचार पालण समत्थो ।
पंच समिओ तिगुत्तो, छत्तीस गुणो गुरु होइ ।।२।।

अर्थात्- ''पांच इन्द्रियों को वश में रखने वाले तथा नौ प्रकार से ब्रह्मचर्य की गुप्ति को धारण करने वाले, क्रोधादि चार प्रकार के कषायों से मुक्त- इस तरह अठारह गुणों से संयुक्त। (१)॥ पंच महाव्रतों से युक्त, पांच प्रकार के आचारों का पालन करने में समर्थ, पांच समिति से युक्त और तीन गुप्ति से युक्त- इस प्रकार गुरु-आचार्य-गणी कुल छत्तीस गुणों से युक्त होते हैं।''

यद्यपि गुरु के गुण शास्त्र में बहुत प्रकार से कहे हैं, परन्तु यहां बहुत विस्तार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होने के भय से अन्य प्रकारों को छोड़कर जो प्रसिद्ध हैं उन्हीं को ही कहते हैं - ऐसा समझना। जिसके महाव्रत खण्डित न हों, शिष्य परिवार रूप साधुओं से युक्त हो, मुक्ति रूप परम पद का अभिलाषी हो, किन्तु अल्प मात्र भी सांसारिक सुख की स्पृहा वाला न हो, साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध श्री संघ को मान्य हो- ऐसे मुनि को श्रुत के अनुयोग की अर्थात् श्री जिनागम के व्याख्यान की अनुमति है यानि 'तू द्रव्य, गुण और पर्याय रूप तीन अपेक्षाओं से श्री जिन प्रवचन का व्याख्यान कर' ऐसी अनुमति के लिए पात्र कहा है अर्थात् उसे आचार्य पद में स्थापना करने योग्य कहा है। प्राचीन समाचारी द्वार ११ में कहा है कि-

देस कुलपभिइ छत्तीस गुण गणालं किओ दढ चरित्तो।
जयणा जुत्तो संघस्स, समंओ मुक्खकंखीय ॥

अर्थात्- "आर्य देश के अन्दर उत्तम कुल में जन्म लिया हो आदि छत्तीस गुणों से शोभित, दढ़-अखंडित चारित्र वाले, जयणा युक्त, श्री संघ को माननीय तथा मोक्षार्थी मुनि को आचार्य पद के योग्य जानना।" इस प्रकार गुणवंत को योग्य कहा है, परन्तु इन गुणों से सर्वथा रहित को योग्य नहीं गिनना चाहिए। हां, काल आदि के प्रभाव से वह एक दो आदि गुणों से हीन हो तो अयोग्य नहीं है। आगे प्राचीन समाचारी द्वार ११ में भी कहा है कि-

कालाइ वसा इक्काइ गुण विहीणोऽवि सुद्धगीअत्थो।
ठाविज्जइ सूरिपए, उज्जुत्तो सारणाई सु॥

अर्थात् - "काल संघयण आदि वर्तमान कालीन दोषों के वशाधीन एकादि गुण की कमी हो फिर भी जो विशुद्ध गीतार्थ-शास्त्रों के रहस्यों के ज्ञाता, विरागी एवं शिष्यादि को सारणा आदि करने में कुशल हो उसे सूरि पद पर स्थापित करना चाहिए।" इस हेतु से ही पंच वस्तुक में कहा है कि-

जम्हा वय संपन्ना, कालो चिअगहि असंयल सुत्तत्था।
अणु ओगाणुन्नाए जोगा भणिआ जिणिं देहिं ॥६३२॥

अर्थात्- "जिन्होंने व्रतों की अच्छी तरह से आराधना की हो, उस काल में विद्यमान सकल सूत्र अर्थ के जानकार साधु को श्री जिनश्वरों ने अनुयोग की अनुज्ञा (आचार्य पद) के लिए योग्य कहा है।" पंचाशक में भी कहा है-

गुरु गुण रहिओवि इहं, दट्ठव्वो मूल गुण विउतो जो।
ण उ गुणमेत्त विहीणो त्ति, चंडरूद्दो उदाहरणं ॥११-३५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''यहां आचार्य पद की योग्यता में जो मूल गुण-व्रतादि से रहित हों उनको गुरुपद के लिए योग्य गुणों से रहित समझना। जो सामान्य गुणों से रहित हों वे अयोग्य नहीं हैं। इस विषय में चंडरूद्राचार्य उदाहरण भूत है।'' इस योग्यता की आवश्यकता किसलिए है ? उसे कहते हैं कि- श्री जिनेश्वर भगवान ने अयोग्य को अनुयोग की अनुमति (आचार्य पदवी) देने में श्री तीर्थंकर आदि की महान आशातना कही है। प्राचीन समाचारी द्वार ११ में कहा है कि-

सुगुणाभावे न पुणो, गुण परिहीणो ठविज्जए सूरी ।
अप्पत्ते सूरि पयं दितस्स गुरू दोसो ।।

अर्थात्- ''सद्गुणी के अभाव में भी गुणहीन की आचार्य पद पर स्थापना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि गुण से अप्राप्त-अयोग्य को सूरि पद देने वाले गुरु को महान दोष लगता है।'' तथा पंच वस्तुक में भी कहा है कि-

इहरा उ मुसावाओ, पवयण खिंसा य होइ लोगम्मि ।
सेसाणवि गुण हाणी, तित्थुच्छे ओ अ भावेणं ।।६२३।।

अर्थात्- ''अन्यथा अयोग्य को आचार्य पद देने से देने वाले गुरु को मृषावाद दोष लगता है, लोगों में शासन की अपभ्राजना-निन्दा होती है, योग्य नायक के अभाव में अन्य को भी गुणों की हानि होती है और सम्यग्ज्ञानादि गुणों में वृद्धि न होने से वस्तुत: तीर्थ धर्म का भी उच्छेदन होता है।''

उसमें भी जो उस काल में विद्यमान-उपयोगी सारे सूत्रों को और अर्थ को जानता न हो, उसे 'तू व्याख्यान कर' इस तरह नहीं कहना चाहिए। उसके पास में व्याख्यान करने का ज्ञान नहीं होने से दरिद्र पुत्र को 'तुम रत्नों का दान करो' इस तरह कहने के समान होने से असत्य है। यदि अल्प मात्र अध्ययन किया हो, फिर भी वह व्याख्यान का विषय नहीं बनता। इसलिए अयोग्य को अनुज्ञा-आचार्य पद देने वाले को मृषावाद दोष लगता है। जब लोग अनुयोगी का (आचार्य का) आश्रय संशय का निवारण करने के लिए और नि:शंक ज्ञान-बोध प्राप्ति के लिए करें, तब वह आचार्य बना हुआ बिचारा स्वयं ही जब अज्ञानी और गंभीर पदों के अर्थ समझने में असमर्थ होता है तो फिर लोगों को सूक्ष्म भाव किस तरह समझा सकता है ? फिर भी साहस करके यदि कुछ असंबद्ध बोले तो विद्वान वह सुनकर उसके प्रति ऐसी अवज्ञा करते हैं- 'इस अज्ञानी को आगमधर किसने बनाया होगा ? वास्तव में यह शासन ही असार है कि जिसका नायक ऐसा अज्ञ है।' इत्यादि शासन की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हलकापन होता है। शिष्यों को भी जन्म-मरणादि का नाश करने वाली ज्ञानादि संपत्ति को वह अज्ञानी किस तरह प्राप्त करवाएगा ? शिष्य भी अन्य ज्ञानी के पास से ज्ञानादि प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि 'मैं भी आचार्य हूँ ही तो मेरे शिष्य अन्य के पास क्यों पढ़ेंगे ?' ऐसा उसे मिथ्या अभिमान होगा। इससे शिष्यों को भी वह अनुमति नहीं देगा और गुरु की अनुमति बिना अन्य के पास यदि पढ़ें तो शिष्यों को भी गुरु की अवज्ञा होती है। इस तरह उसके शिष्य भी मूर्ख ही रह जाते हैं। इस तरह परम्परा से ज्ञानादि गुणों की हानि होती है और ज्ञानादि गुणों के अभाव में तो 'मस्तक मुंडाये भिक्षा के लिए फिरना' इत्यादि सारा चरक आदि अन्य धर्मी साधुओं के समान अनर्थकारी ही बनता है। क्योंकि जैसे अज्ञानी होने पर भी अपनी मति कल्पना से यदि रोग का औषध करे तो वह अनर्थ कारक होता है वैसे अज्ञानी स्वमति कल्पना से धर्म करता है या करवाता है तो वह भी प्रमाण भूत नहीं होता। इस तरह केवल द्रव्य वेष प्रायः अनर्थ का हेतु होने से भाव से गुणवृद्धि की अपेक्षा से तो तीर्थ-शासन का ही उच्छेदन होता है। इसलिए उस काल में विद्यमान उचित सकल सूत्र-अर्थ जिसने निश्चित जाना हो उसको ही व्याख्यान-आचार्य पद की अनुज्ञा देनी चाहिए, जिसने केवल सूत्र अर्थ सुने हों उसे नहीं देनी चाहिए। श्री सिद्ध सेन सूरि जी ने भी सन्मति प्रकरण में कहा है कि-

जह जह बहुस्सु असंमओ, अ सीस गण संपरिवुडो अ।
अविणिच्छि ओ अ समए, तह तह सिद्धंतडिणीओ ॥६६॥

अर्थात् - "जैसे जैसे लोक में बहुश्रुत रूप में प्रसिद्धि होवे और जैसे जैसे शिष्य परिवार बहुत बढ़ता जाय, फिर भी यदि सिद्धान्त के अध्ययन-अर्थ में सुनिश्चित न हो तो वह गुरु उत्तरोतर सिद्धान्त का शुत्र होता है।" तो कैसे साधु को किस तरह आचार्य बनाना चाहिए ? उसे कहते हैं कि -

तस्मादुक्त गुणाढयाय देयं सरि पदं ध्रुवम् ।
विधि पूर्वं विधिश्चात्र, समाचार्या प्रपञ्चित ॥१३२॥

मूलार्थ- "इस कारण से जैसा यहां कहा है, उन गुणों से युक्त को सूरि पद विधिपूर्वक देना चाहिए। उसकी विधि समाचारी ग्रन्थ में कही है।"

व्याख्या- इसलिए जो पूर्वोक्त गुणों से सम्पूर्ण हो उसको गरु द्वारा निश्चय रूप से आचार्य पद विधिपूर्वक दिया जना चाहिए। यह विधि प्राचीन समाचारी के ११वें द्वार में इस तरह विस्तार पूर्वक कही है-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जई गुण काल निसिज्जा, चिइवंदुस्सग्ग नंदि सग थोभा ।
मंतक्ख नाम वंदण, अणु सिद्धि निरूद्ध गणणुण्णा ॥

अर्थात्- "साधु में सूरि पद के योग्य गुणों की परीक्षा करना, पदवी उत्तम समय में शुभ लग्न में देना, दो आसन करना, चैत्य वंदन और गुरु वंदन करना, सत्ताइस श्वासो च्छ्वास का कायोत्सर्ग करना, नंदि सूत्र कहना या सुनना, सात खमासमण को विधि पूर्वक देना, सूरि मंत्र और अक्ष का दान देना, नाम स्थापना करना, गुर्वादि सर्व संघे नूतन आचार्य को वंदन करना, नये आचार्य को और शिष्यादि को हित शिक्षा देना, गुरु और नये आचार्य दोनों से निरुद्ध करना, नये आचार्य को गण सौंपना और आचार्य पद के लाभ समझाना ।

इनमें जो गुण पूर्व में कहे हैं वे गुण हैं या नहीं ? उसकी परीक्षा करके, तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त्त, लग्न आदि उत्तम हो- इस तरह सुलग्न में सूरि पद देना चाहिए। वह देने के पूर्व उस दिन प्राभातिक काल ग्रहण करके गुरु शिष्य दोनों को सज्झाय परठना चाहिए। फिर श्री जिन मंदिर आदि उत्तम स्थान पर शिष्य को (किसी प्रति में स्थापनाचार्य को) और गुरु के योग्य दो आसनों की स्थापना कर आचार्य पदवी की अनुज्ञा करने के लिए जिसके सर का केश लोच किया हो, उस शिष्य के मुंडित मस्तक पर गुरुमहाराज प्रथम मंत्रित वास क्षेप डालें, फिर प्रथम भाग के अन्दर जो सम्यकत्व आदि उच्चारण विधि दी है उसके अनुसार विधि से देव वंदन करना चाहिए, फिर गुरुदेव को दो वंदन देकर अनुयोग की अनुज्ञा के लिए गुरु-शिष्य सत्ताईस श्वासोच्छ् वास का कायोत्सर्ग करें, उसके बाद लोगस्स कहकर स्वयं अथवा दूसरे योग्य साधु, जिसने योग किए हों, वह खड़े खड़े तीन बार नवकार महामंत्र अस्खलित उच्चारण करते विधिपूर्वक बड़ा नंदी सूत्र प्रगट उच्चारण पूर्वक सुनायें और शिष्य भी महामंगल रूप उस सूत्र को आधी काया से नमाकर, मस्तक पर दो हाथ से अंजलि करके, मुख वस्त्रिका दोनों हाथ की अन्तिम अंगुलियों के बीच रख कर मन को एकाग्र करके बढ़ते संवेग पूर्वक सुने, फिर चतुर्विध श्री संघ को वासक्षेप सहित अक्षत बांटना। फिर शिष्य वंदन करके खमासमणा देकर कहे कि '**इछाकारि भगवन्! तुम्हें अम्हं अणुओगं अणुजाणाहं ।**' गुरु कहे- '**अहमे अस्स साहूस्स दव्व-गुण-पज्जवेहिं खमासमणाण हत्थेणं अणुओगं अणुजाणेमि**' फिर दूसरा 'खमा' देकर शिष्य कहे-'**संदिसह किं भणामि ?**' गुरु कहे '**वन्दित्ता पवेयह**'। तीसरा 'खमा' देकर शिष्य कहे- '**इच्छाकारि भगवन तुम्हें अम्ह अणुओगो अणुन्नाओ, इच्छामो अणुसट्ठि**' तब गुरु-'**सम्म अवधारय, अन्ने सिं च पवेयहं**'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऐसा कहे । चौथा 'खमा' देकर शिष्य कहे-'**तुम्हाणं पवेइओ, संदिसह साहूणं पवेएमि ?**' गुरु '**पवेयह**' कहे, तब शिष्य '**इच्छ**' कहे, फिर पांचवां खमासमण देकर चारों तरफ एक एक नवकार महा मंत्र गिनते हुए समवसरण (नंदी) को और गुरु महाराज को प्रदक्षिणा दे। इस तरह तीन बार प्रदक्षिणा देने के बाद छठा खमासमण देकर शिष्य कहे-'**तुम्हाणं पवेइओ साहूणं पवेइओ, संदिसह काउस्सग्ग करेमि ?**' गुरु '**करेह**' कहे। शिष्य 'इच्छ' कहकर सातवां खमा समण देकर '**अणु ओग अणु जाणावणिअं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थं**' इत्यादि कहकर सत्ताईस श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग करके, पारकर, ऊपर प्रगट 'लोगस्स' कहे। फिर शिष्य गुरु के दिये आसन को लेकर गुरु को तीन प्रदक्षिणा देकर वंदन करके गुरु महाराज की दाहिनी भुजा के पास में आसन के ऊपर बैठे। इस तरह बैठे हुए शिष्य के दाहिने कान में शुभ लग्न के समय गुरु, गुरु परम्परागत सूरि मंत्र के पद तीन बार कहे। उसके बाद बढ़ते तीन मुट्ठी अक्ष देना। (अक्ष का अर्थ सामान्यतया स्थापनाचार्य होता है और स्थापनाचार्य रखने का मुख्य अधिकार आचार्य को है। क्योंकि यहां अक्ष स्थापनाचार्य समझना। कुछ समाचारी ग्रन्थों में '**सुगंधिआओं**' पाठ है। इससे ऐसा समझ में आता है कि-सुगंधि युक्त चूर्ण (वास) वाले अक्षतों के साथ में स्थापनाचार्य देने की विधि होगी। स्व० आचार्य श्री खान्ति सूरि जी सम्पादित वृहद् योग विधि पुस्तक में '**स्थापनाचार्य दे**' ऐसा बतलाया है। वर्तमान काल में केवल वासक्षेप सहित अक्षत की तीन मुट्ठी देने का प्रचलन देखने में आता है। उसका कारण यह है कि स्थापनाचार्य सूरि पद देने से पूर्व भी गुरु द्वारा दिया गया है। अथवा अक्ष अर्थात् सुगन्धिमय वासक्षेप यदि करे तो वह भी घटित है क्योंकि उस समय में सूरि मंत्र देने में आता है। इससे नये आचार्य को सूरि मंत्र का पट गिनने का अधिकार मिलता है। उसमें यदि गुरु परम्परागत चलता आया वासक्षेप सूरि मंत्र के पट को पूजने के लिए उपयोगी होने से दिया जाता हो तो भी वह घटित है क्योंकि इस तरह गुरु परम्परा से पूर्व महात्माओं का वासक्षेप भी चालू रखने का आशय हो सकता है। इस विषय में अनुभवियों के अनुभव को प्रामाणिक समझना।)

शिष्य उपयोग पूर्वक उसे दोनों हाथों के सुंपट से ग्रहण करे। फिर गुरु महाराज नये आचार्य की नाम स्थापना करके आसन से उठें और शिष्य उस आसन पर बैठे। तब यथा संनिहित सर्व संघ सहित गुरु उस नये आचार्य को वंदन करे। इस वंदन द्वारा 'दोनों अब से समान गुण वाले हैं' इस तरह बताने वाला होने से करने वाले एवं कराने वाले दोनों को दोष नहीं है। प्राचीन समाचारी में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आयरिय निसिज्जाए, उवविसणं वंदणं च तह गुरुणो ।
तुल्लगुण खावणत्थं, न तया दुट्ठं दुवेण्हं पि ॥

अर्थात्-''शिष्य का आचार्य (गुरु) के आसन पर बैठना तथा गुरु का शिष्य को वंदन करना, यह वंदन 'गुण से दोनों की समानता बताने के लिए है' इसलिए वह दोनों को दोष रूप नहीं है।''

उसके बाद जब गुरु महाराज 'व्याख्यान करो' इस तरह कहें तब वहां बैठे-बैठे ही नूतन आचार्य नंदि का प्रारंभिक मंगल आदि अथवा सुनने वाली पर्षदा के अनुरूप व्याख्यान करे। वह जब समाप्त हो तब संघ वंदन करे। उसके बाद नये आचार्य आसन से उठें और गुरु वहां बैठकर 'उपबृंहण' अर्थात उत्साह बढ़े इस तरह प्रेरणा-हित शिक्षा दे जैसे कि-''हे महाभाग्यशालियों ! तुम धन्य हो कि संसार रूप पर्वत को भेदन करने वाला, वज्र के समान दुर्भेद्य, जिनागम का बोध अर्थ पूर्वक तुमने प्राप्त किया है। (१) ॥ जिस आचार्य पद की तेरे जीवन में आरोपण-स्थापना की है, वह पद (आत्म) संपत्ति प्राप्त करवाने का ऐसा उत्तम स्थान है कि जिस स्थान को श्री गौतम प्रभु, श्री सुधर्मा गणधर आदि अनेकानेक महामुनियों ने शोभायमान किया है। (२)॥ हे भद्र आत्मा ! यह पद धन्य पुरुषों को ही दिया जाता है और धन्य पुरुष ही उससे पार उतरते हैं, यथार्थ सफल करते हैं । इतना ही नहीं, वह धन्य आत्मा है जो इस पद को पार उतर कर-इस पद की जवाबदारी पूर्ण कर, इस संसार समुद्र से पार भी होते हैं। (३) ॥ संसार रूपी अटवी से भयभीत बने ये साधु समूह अब संसार से मुक्त करवाने में समर्थ तेरी शरण में आए हैं। (४)॥ इसलिए यथा योग्य 'सारणा, वारणा' आदि करके, सारे विघ्नों से बचाकर, इस संसार रूपी अटवी से तुझे प्रयत्नपूर्वक उन्हें पार उतारना चाहिए। (५)॥'' इस प्रकार से नये आचार्य को उपबृहंणा-उत्साह बढ़ाकर शिष्य समुदाय को भी हित शिक्षा दे जैसे कि-

''तुम भी संसार सागर से पार उतारने वाले सुन्दर वाहन समान इस गुरु को कदापि नहीं छोड़ना। (१)॥ इनसे प्रतिकूल आचरण नहीं करना। सदा अनुकूल होने में प्रयत्नशील बनना जिससे तुमने गृहत्याग करके जो दीक्षा ली है वह सफल हो। (२)॥ उनका विनयादि नहीं करने से श्री जिनेश्वर देव की आज्ञा का लोप किया गिना जाता है एवं इससे लोक-परलोक में भयंकर विडम्बनाएं उठानी पड़ती हैं। (३) ॥ इसलिए यदि किसी काम में वे उलाहना दें, फिर भी हे भव्यात्माओं! कुलवान स्त्री के समान तुम्हें जावज्जीव तक उनके चरण का शरण नहीं छोड़ना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चाहिए। (४) ॥ जो सदा गुरुकी सेवा करते हैं, वही सम्यग्ज्ञान के पात्र बनते हैं। इतना ही नहीं- वह धन्य है, वह निर्मल समकित वाला भी है और वह दृढ़-निर्मल चारित्र वाला भी है (५)॥" इस प्रकार हित शिक्षा देकर दोनों निरुद्ध करें अर्थात् गणीपद आदि पद देने वाला व लेने वाला- दोनों तप का पच्चक्खान करें, और दोनों पद प्रदान के बाद सज्झाए परठें और फिर काल मांडला करें। श्री व्यवहार भाष्य के छठे उद्देश्य में इस तरह आचार्य के पांच अतिशय कहे हैं कि-

भत्ते पाणे धोवण पसंसणा हत्थ पाय सोए अ ।
आयरिए अइ सेसा, अणाइ सेसा अणायरिए ॥२२६॥

उप्पन्न नाणा जह नो अंडतो, चुत्तीस बुद्धाइसया जिविंदा।
एवं गणी अ गुणो व वेओ, सत्था व नो हिंउइ इद्धिंमं तु ॥१२५॥

गुण हिडणं मि गुरुगा, वसमेलहुगाऽ निवास स्यंतमि।
गी आगीए गुरु लहु आणाईआ बहुत दोसा ॥१२६॥

पंच वि आयारिआई, अच्छंति जहन्न एवि संथरणे ।
एवं पि संथरंते, सथमेव गणं अडइ गामे ॥१७६॥

अर्थात्- "१-आहार और २-पानी- ये दो आचार्य को विशिष्ट देना, ३-उनके मलिन वस्त्रों को धोना, ४-उनकी प्रशंसा करना और ५-उनके हाथ पैर धोना इत्यादि शौच करना, इस तरह आचार्य के ये पांच अतिशय करने योग्य हैं। अनाचार्य के वे अतिशय अर्थात् करने योग्य नहीं हैं। (२२६) ॥ जैसे सर्वज्ञ रूप के चौंतीस अतिशय वाले श्री जिनेश्वर भगवन्त के समान केवल ज्ञान होने के बाद भिक्षा के लिए नहीं जाते-फिरते नहीं हैं, वैसे ही आठ प्रकार की गणी-आचार्य पद की संपत्ति-गुणों से युक्त आचार्य भी तीर्थंकर के समान ऋद्धिमान होने से भिक्षा के लिए नहीं फिरते। (१२५)॥"

आचार्य श्री- जो आठ विषयों से विशिष्ट होते हैं, वह आठ विषयों की गणि संपत्ति कहलाती है। वे आठों इस प्रकार हैं-

१. आचार सम्पत्ति- उसके चार भेद हैं-१ चारित्र में हमेशा समाधि रहे- ऐसा उपयोग होता है। २. अपनी उच्च जाति-कुल आदि के आग्रह-गौरव का अभाव होता है। ३. अनियत, अप्रतिबद्ध विहार और ४. शरीर और मन के विकारों का अभाव आदि।

२. श्रुत सम्पत्ति- इसके भी चार भेद हैं-१-बहुश्रुत-अन्य की अपेक्षा से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विशिष्ट ज्ञान वाला, २-सूत्र-आगम का दृढ़ परिचय, ३-स्व, पर सिद्धान्त रूप विविध सूत्रों का ज्ञाता, और ४-अदात्त, अनुदात्त आदि स्वरों के शब्दादि उच्चारण करने में कुशल होते हैं ।

३. शरीर सम्पत्ति- इसके चार भेद में १-शरीर की ऊँचाई-चौड़ाई आदि काल के उचित हों, २-लज्जा न प्राप्त हो -ऐसे सर्व अंग शोभायुक्त हो, ३-खामी रहित पांचों इन्द्रियों से पूर्ण और ४-शरीर संघयण-गठन मजबूत हो ।

४. वचन सम्पत्ति- इसके भी चार भेद हैं, १-उनके वचन आदेय-सर्वमान्य होते हैं, २-मधुर होते हैं, ३-मध्यस्थ होते हैं और ४-संदेह रहित होते हैं ।

५. वाचना सम्पत्ति- उसके चार भेद हैं, १-शिष्य की योग्यता को देखकर उसके लिए उपकारक हो, उतना सूत्र का उद्देश करे और अयोग्य-अनधिकारी को उपदेश न करे । २-उपदेश के समान योग्यता को देखकर अर्थात् शिष्य परिणत है या अपरिणत है ? उसे विचार कर समुपदेश करे, ३-पूर्व में दिया हुआ श्रुत-आलापक पूर्ण रूप से समझाने के बाद नया श्रुत दे और ४-पूर्वापर संगत हो- उस तरह से सूत्रों का अर्थ समझाने वाला हो।

६. मति सम्पत्ति- उसके १-अवग्रह, २-इहा, ३-अपाय और ४-धारणा- ये चार भेद हैं । उसमें इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का केवल निराकार ग्रहण करना अवग्रह है, उसका विचार-विमर्श करना इहा है, निर्णय करना अपाय और इहा-अपाय द्वारा आए संस्कारों को धारण कर रखना इसे धरणा समझना ।

७. प्रयोग सम्पत्ति- यहां प्रयोग अर्थात् वाद करना ऐसा समझना । इसके चार भेद हैं । उससें १-वाद आदि करने में अपना आत्म बल-ज्ञान बल कितना है वह, समझे । २. सामने वादी कौन है ? किस नय की अपेक्षा से वाद करना चाहता है इत्यादि वादी को सर्व प्रकार से समझ सकता हो । ३-जिस क्षेत्र में वाद करने का है वह क्षेत्र-नगर, गांव, देश किसके पक्ष में है ? किस धर्म का रागी है ? इत्यादि समझे । और ४-जिस सभा में वाद करना है उसका सभापति, सभा सदस्य-राज मन्त्री, प्रजाजन, पंडित पुरुष आदि को जान सके ।

८-संग्रह परिज्ञा सम्पत्ति - अर्थात् संयम के उपकारक वस्तुओं के संग्रह का ज्ञान । उसके चार भेद हैं -१-बाल-वृद्ध-ग्लान आदि सबको अनुकूल रहे- ऐसा क्षेत्र पसंद करने का ज्ञान हो । २-पाट, चौकी आदि आवश्यक वस्तु प्राप्त करने का ज्ञान हो । ३-स्वाध्याय, भिक्षा, भोजन आदि कार्यों को करवाने का ज्ञान हो और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४-छोटे-बड़े, योग्य-अयोग्य आदि कौन साधु किसको वंदनीय हैं, इत्यादि विनय सम्बन्धी ज्ञान हो।

गृहस्थ की द्रव्य सम्पत्तियों के समान आचार्य के पास यदि आठ प्रकार की भाव (गुण) सम्पत्तियां हों तभी ही गच्छ का पालन-रक्षण करके भाव प्राण रूप ज्ञानादि गुणों की रक्षा स्वयं कर सकते हैं, दूसरों के द्वारा करवा सकते हैं। इसलिए उसे सम्पत्ति कहा है। उसके बिना दरिद्र के परिवार समान सर्व साधुओं का संयम जीवन शिथिल होता है और इसलिए आचार्य श्री की जावाबदारी होने से उनका भव भ्रमण बढ़ता है। इत्यादि स्वयं विचार करना चाहिए। आगे कहते हैं कि-

इसके उपरान्त' आचार्य श्री भिक्षार्थ जाने की इच्छा करते हैं' इस तरह जानने के बाद वृषभ (श्रेष्ठ) साधु यदि उन्हें रोके नहीं तो उसे 'चतुर्लघु' प्रायश्चित्त आता है। रोकने पर भी यदि आचार्य न रुकेंतो उस साधु को निर्दोष समझना, और आचार्य को 'चतुर्गुरु' प्रायश्चित्त लगता है। यदि गीतार्थ साधु न रोके तो उसे 'मास 'गुरु' प्रायश्चित्त आता है, यदि अगीतार्थ साधु न रोके तो उसे 'मास लघु' प्रायश्चित है और दोनों से रोकने पर यदि न रुके तो आचार्य को प्रत्येक का 'चतुर्गुरु' प्रायश्चित्त आता है, उपरान्त जिनाज्ञा का भंग आदि दूसरी भी दोष लगते हैं। (१२६)॥ अन्य साधुओं से यदि गच्छ का जघन्य निर्वाह होता हो तो आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक स्थविर और गणावच्छेदक ये- पांचों गोचरी के लिए न जायें और यदि मध्यम अथवा उत्कृष्ट निर्वाह भी होता हो तो नियम से न जायें, परन्तु अन्य साधुओं द्वारा यदि गच्छ का जघन्य निर्वाह न हो सके तो आचार्य श्री भी स्वयं गांव में आहारादि लेने के लिए जायें। (१७३)''

इस तरह अनुयोग की अनुज्ञा होने के बाद, नये आचार्य को व्याख्यान करने की विधि कहते हैं-

ततोऽसौ नित्यमुद्युक्तः कार्ये प्रवचनस्य च।
व्याख्यानं कुरूतेऽर्हेभ्यः, सिद्धान्त विधिना खलु ॥१३३॥

मूलार्थ- ''आचार्य पद की अनुज्ञा होने के बाद नये आचार्य शासन (संघ) के कार्यों में हमेशा उद्यम करने के साथ ही आगमोक्त विधि से योग्य साधुओं को अवश्य व्याख्यान सुनाना चाहिए।''

व्याख्या- आचार्य पदवी प्राप्त करने के बाद नये आचार्य हमेशा आगम के अथवा संघ के कार्यों में अवश्य उद्यम करें और आगमोक्त विधि के अनुसार ये योग्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शिष्यों को निश्चय रूप व्याख्यान (वाचना) भी दें, वह सापेक्ष यति धर्म है। इस तरह वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना। यहां जो सर्व विषयों में राग-द्वेष रहित, बुद्धिमान और परलोक के भय वाला हो, उनको सामान्यतया सिद्धान्त को सुनाने की योग्यता वाला समझना, क्योंकि वे सर्व विषयों में असदाग्रह के वश में हुए बिना छोटी-बड़ी अपनी भूलों को स्वीकार कर सकते हैं और जैसे हड नामक वृक्ष नमता रहता है वैसे विनय से नम्र बने वे धन्य आत्मा अज्ञान रूपी अगाध जल से पार भी हो सकते हैं आगम। पढ़ने वाला 'प्राप्त' आदि विशेषणों से विशिष्ट होना चाहिए। उनको ही विशिष्ट सूत्रों को पढ़ाने के लिए योग्य-अधिकारी कहा है। यहां प्राप्त अथात् पर्याय से और योग्यता से अधिकारी बना हुआ, उसे जैन आगम में 'कल्पिक' कहा है। उसमें भी आवश्यक आदि सूय गडांग सूत्र तक जो पढ़ा हो उसे प्राप्त समझना, अर्थात् विशिष्ट सूत्र पढ़ने में योग्य समझना। यहां 'सूय गडांग सूत्र तक पढ़ा हुआ इस' तरह कहने में यह अपेक्षा है कि-इतना पढ़ने वाला तर्क से निर्मल और सूक्ष्म बुद्धि वाला बना हो उसे योग्य समझना। छेद ग्रन्थ आदि पढ़ने-सुनने में तो पर्याय से योग्य बना हो, फिर भी जो सद्भावना युक्त, चारित्र और श्रुत धर्म में प्रीति वाला, पाप भीरु और पारिणामिक हो- उसे अधिकारी समझना। पारिणामिक अर्थात् उस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि की अपेक्षाओं के अनुसार उत्सर्ग मार्ग के विषय में उत्सर्ग का और अपवाद के विषय में अपवाद का, इस तरह जहां वह उचित हो वहां दोनों का विवेक रख सके- ऐसा समझना। ऐसे गुणवान को छेद आदि सूत्रों का व्याख्यान सुनाना चाहिए। वह निर्मल बोध आदि में हेतु बनाने से हितकर होता है। अति परिणामक अथवा अपरिणामक को सुनाने से तो उन के विचित्र कर्मों के दोष से अहितकर ही होता है- ऐसा समझना, क्योंकि ऐसों को ऐसा विषय सुनाने से प्रायः अनर्थ होता है। पूज्य श्री हरिभद्र सूरि जी ने पंचवस्तुक में कहा है कि

आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणा सेइ ।
इअ सिद्धंतर हस्सं, अप्पाहारं विणासेई ॥६८२॥

अर्थात् - "जिस प्रकार कच्चे घड़े में भरा हुआ पानी उस घड़े को नष्ट करता है वैसे ही अल्प आधार-अपात्र को सिद्धांत का रहस्य देने से उस आत्मा का विनाश करता है।"

इतना ही नहीं परन्तु परम्परा से अन्य श्रोताओं को भी उस अतिपरिणत और अपरिणत उपदेशक द्वारा शुद्ध पुरुषार्थ-मोक्ष मार्ग का लाभ नहीं होता, क्योंकि जीव को अनादि काल से सेवन किया मिथ्या आग्रह होना सुलभ है। इसलिए जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपसंपन्न-पढ़ने के लिए आया हो उसे तथा पूर्व कहे ऐसे गुणावान को पहले सूत्र-बाद में अर्थ इत्यादि क्रम से और वह भी केवल तोते के प्रलाप के समान नहीं, परन्तु सुनिश्चित बोध हो, इस तरह व्याख्यान सुनाना। उप संपदा की विधि तो पहले बता दी गई है। व्याख्यान को पदार्थों का व्याख्यान इस तरह करना, चाहिये जिससे श्रोता को सम्यग् ज्ञान हो, आगम गम्य पदार्थ आगम वचनों से ही और युक्ति गम्य पदार्थ युक्ति पूर्वक ही समझाना चाहिए। उसमें 'स्वर्ग में अप्सराए होती हैं, कुरु देश उत्तर में है' इत्यादि श्रद्धेय विषय आगम वचन के आधार पर और 'आत्मा का प्रमाण, स्वदेह प्रमाण से छोटा-बड़ा होता है' इत्यादि युक्ति गम्य विषय युक्ति पूर्वक समझाना चाहिए। पंच वस्तुक में कहा है कि-

आणागिज्झो अत्थो आणाए चेव सो कहे अव्वो ।
दिट्ठं तिअ दिट्ठंता, कहण विहि विराहणा इहरा ॥६६४॥

जो हेउ वायपक्खंमि, हेउओ आगमे अ आगमिओ ।
सो ससमयपण्णवओ, सिद्धंत विराहओ अन्नो ॥६६५॥

अर्थात् - "जिनाज्ञा से ग्राह्य अर्थ को 'श्री जिनेश्वर देव ने ही इस तरह कहा है' इस प्रकार समझाकर और दृष्टान्त से समझाने योग्य अर्थ को युक्ति से - दृष्टान्त से ही समझाना चाहिए। इस तरह न करने से आगम की विराधना होती है। (६६४)॥ जो युक्ति गम्य वस्तु है, उसे युक्ति द्वारा और आज्ञा-श्रद्धा ग्राह्य अर्थ को जिन वचन की श्रद्धा के बल से समझाते हैं उन्हें श्री जिनेश्वर ने स्व सिद्धान्त का प्ररूपक कहा है। ऐसा न कर-युक्ति न लगे वहां अपनी मति कल्पना से युक्ति को आगे करे और युक्ति गम्य होने पर युक्तिपूर्वक न समझा सके वह जिन वचन की लघुता करने वाला होने से उसे सिद्धान्त का विराधक कहा है। (६६३) ॥"

अधिक क्या कहना ? निश्चय आदि अनेक नय सापेक्ष अर्थात् भिन्न-भिन्न अपेक्षा से, भिन्न-भिन्न अर्थ से मुख्य पदार्थों का व्याख्यान इस तरह करना कि श्रोताओं को संसार के प्रति उदासीनता एवं मोक्ष मार्ग में उत्साह रूप संवेग उत्पन्न हो और इस मोक्ष मार्ग के दर्शक सर्वज्ञ भगवन्त के प्रति विश्वास उत्पन्न हो। इरादा पूर्वक व्याख्यान द्वारा जिन वचन को असत्य करना वह विषादि के समान है, क्योंकि उसका विपाक-फल अति दारुण-महा दुःखदायी बनता है। दूसरी ओर वीतराग की आज्ञा के प्रति बहुमान होने रूप योग बल (आत्म सामर्थ्य) एक महामंत्र के समान है क्योंकि वह समस्त दोषों को निवारण करने वाला है। इसलिए वर्तमान काल में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी मूढ़ता छोडकर सूक्ष्म बुद्धि का अभ्यास कर जिनाज्ञा का पालन करने में यथा शक्ति प्रयत्न करना चाहिए। व्याख्यान की विधि उपसंपदा के प्रसंग पर पूर्व में **'मज्जण निसोज्ज'** आदि गाथा में कहा है- उस तरह समझना।

इस तरह योग्य शिष्य को 'नन्दी' आदि आगम ग्रन्थों का, दृष्टिवाद का अथवा उसमें से उद्धृत देवेन्द्रस्तव आदि विविध स्तवो का परिज्ञा (पर्यालोचन) आदि ग्रन्थों का व्याख्यान करना। इस तरह व्याख्यान करने से निपुण बुद्धि से समझाना योग्य भावों का भी होता है और जटिल विविध संशयों का नाश होने से शासन शोभा-आगम की महिमा में वृद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि जिनागम की महत्ता द्वारा जैन शासन की भी महत्ता बढ़ती है, इस उद्देश्य से पूर्व कहे अनुसार शिष्यों को व्याख्यान देना चाहिए। यहां तक अनुयोग-सूत्रदान की अनुज्ञा की विधि कही है। अब गच्छ की अनुज्ञा रूप सापेक्ष यति धर्म का वर्णन करते हैं -

एतस्यैव गणानुज्ञाऽन्यस्य वा गुण योगिनः ।
गुरुणा विधिना कार्या, गुण योगी त्ययं मतः ॥१३४॥

मूलार्थ - "पूर्व में कहे हैं उन अनुयोगाचार्य को ही अथवा अन्य गुणयोगी को गुरु ने विधिपूर्वक गच्छ की अनुज्ञा देनी चाहिए। गुणयोगी तो ऐसे गुणवान् को माना है।"

व्याख्या - यह अनुयोगी कौन से होते हैं ? वह नये आचार्य की ही अथवा अन्य गुण के योग वाले-गुणवंत की, पद देने वाले गुरु द्वारा जैसी कि बाद में बताई जायेगी उस विधिपूर्वक गच्छाचार्य पद पर स्थापना करनी चाहिए। जिस गुणवान को श्री जिनेश्वर भगवन्त ने गुणयोगी कहा है उसे कहते हैं-

सूत्रार्थज्ञः प्रियदृढधर्मा सर्वानुवर्त्तकः ।
सज्जाति कुल संपन्नो, गम्भीरो लब्धिमांस्तथा ॥१३५॥

संग्रहोपग्रह परः श्रुत रागी कृत क्रियः ।
एवं विधो गणस्वामी, भणितो जिन सत्त मैः ॥१३६॥ युग्मम्

मूलार्थ- "सूत्र-अर्थ का ज्ञाता, धर्म में प्रीति वाला और दृढ़, सर्व को अनुकरण करने वाला, उत्तम जाति-कुल वाला, गम्भीर, लब्धिवंत, शिष्यादि का संग्रह करने वाला तथा उनको आश्रय एवं आलम्बन देने वाला श्रुत का रागी और प्रति-लेखनादि सर्व क्रिया-अनुष्ठानों का अभ्यासी जो होता है उसे श्री जिनेश्वर देवों ने गच्छाधिपति पद के लिए योग्य कहा है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याख्या- ''सूत्र, अर्थ और उन दोनों का ज्ञाता = पूर्ण अभ्यासी अर्थात् १-सूत्र का ज्ञाता अर्थ से अज्ञात, २-अर्थ का ज्ञाता सूत्र से अज्ञात, ३-दोनों का ज्ञात-और ४-दोनों से अज्ञाता, इन चार विभागों में तीसरे विभाग वाला होना चाहिए क्योंकि शेष सर्व गुण होने पर भी छेद सूत्र के अर्थ का ज्ञाता न हो तो भाव से इसे अव्यवहारी अर्थात् आमात्य व्यवहार लिए अनधिकारी कहा है। व्यवहार भाष्य के दसवें उद्देश्य में कहा है कि-

जो सुअ महिज्जइ बहुं, सुत्तत्थं निउणं न याणेइ ।
कप्पे ववहारं मि अ, सो न पमाणं सुअ हराणं ॥६०४॥

जो सुअमहिज्जइ बहु सुत्तत्थं निउणं विआणाइ ।
कप्पे वप हारंमि अ सो उ पमाणं सुअ हराणं ॥६०५॥
कप्पस्स उ णिज्जुत्तिं, ववहारस्स य परमणि उणस्स ।
जो अत्थओ ण याणइ, ववहारी सोणऽणुण्णाओ ॥६०६॥

कप्पस्स उ निज्जुत्तिं, ववहारस्स य परम णिउणस्स ।
जो अत्थओ विआणाइ, ववहारी सो अणुण्णाओ ॥६०७॥

अर्थात्- ''जो कल्प और व्यवहार को मूल सूत्र से सम्पूर्ण और अच्छी तरह जाने परन्तु उसके अर्थ को न जाने, ऐसा ज्ञानी श्रुतधरों को मान्य नहीं है। (६०४)॥ जो कल्प और व्यवहार को मूल सूत्र से जाने और अर्थ से भी यथार्थ रूप में जाने, ऐसा ज्ञानी-गुणी श्रुतधरों को मान्य व प्रमाण भूत है। (६०५) ॥ जो मूल सूत्र से व्यवहार और कल्प में अति निपुण होने पर भी व्यवहार और कल्प की निर्युक्ति को अर्थ से न जानता हो, वह व्यवहारी-गच्छाधिपति होने योग्य मान्य नहीं है। (६०६) ॥ परन्तु मूल व्यवहार और कल्प में अति निपुण जो व्यवहार और वृहत्कल्प की निर्युक्ति-अर्थ को भी जानता है, उसे व्यवहारी-गच्छाधिपति रूप में मान्य रखा है। (६०७)॥''

द्रव्य और भाव संपत्ति रहित व्यवहार के लिए अयोग्य होने से गच्छ की अनुज्ञा करने का शास्त्र में निषेध है। व्यवहार सूत्र के तीसरे उद्देश के पहले सूत्र में कहा है कि - **''भिक्खू इच्छेज्जा गणं धारित्तए भगवं से अपलिच्छन्ने, एवं से णो कप्पइ गणं धारित्तए त्ति ।३/१।''**

अर्थात्- ''भाग्यवान ऐसे गच्छ को कोई साधु धारण करने-गण का अधिपति बनना चाहे और वह यदि अपरिच्छद-द्रव्य भाव संपत्ति रहित हो तो ऐसे गच्छ को धारण करना कल्पता नहीं है।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसमें द्रव्य परिच्छद-संपत्ति सचित्तादि तीन प्रकार से हैं- १-सचित्त अर्थात् शिष्यादि, २-अचित्त अर्थात् उपधि-उपकरणादि और ३-मिश्र अर्थात उपाधि युक्त शिष्यादि । दूसरा भाव परिच्छद-गुण संपत्ति सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और विनय रूप समझना । इन उभय परिच्छद-संपत्ति से जो युक्त हो उसे ही गच्छाधिपति-उत्तम व्यवहारी माना है । इस कारण से सूत्र और अर्थ दोनों का जानकार होना ही गच्छाधिपति का मुख्य गुण है । इस तरह फलितार्थ हुआ । इस कारण से जो इस प्रकार परिच्छन्न-द्रव्यभाव संपत्ति से युक्त हो, उसे ही कर्म निर्जरा के लिए गच्छ चलाने की इच्छा करना योग्य है, न कि जो अपरिच्छन्न हो उसको । इसलिए ही जिसका उचित अध्ययन और तीन वर्ष के पर्याय भी पूर्ण न हुए हों ऐसा शिष्य यदि शेष सर्व श्रुत को पढ़ने की इच्छा करे तो अपवाद से उसे अनुज्ञा करने का विधान इस तरह व्यवहार सूत्र में कहा है कि-

''णिरुद्धवास परि आए समणे निग्गंथे आयरिय उवज्झत्ताए उद्दिसित्तए समुच्छे अ कप्पंसि, तत्थ णं आयारप कप्पस्स देसे अहिज्जिए भवइ, देसेणो अहिज्जिए, अहिज्जिस्सामित्ति अहिज्जि जजा एवं से कप्पइ आयरि उवज्झायत्तं उद्दिसित्तए ।'' त्ति । ३/१०॥

अर्थात्- ''यहां 'णिरुद्ध' अर्थात् विनाशित यानि पूर्व पर्याय का छेदन किया हो तथा उस कारण से वर्तमान काल में जिसका तीन वर्ष का पर्याय पूर्ण न हुआ हो उसे 'समुच्छेद कल्प से' अर्थात् आचार्य श्री का काल धर्म होने के बाद दूसरा पूर्ण लक्षण वाला बहुश्रुत-स्थविरादि न हो, इससे गच्छाधिपति के अभाव में गच्छ का विच्छेद होने का समय आ जाय तब अपरिपूर्ण-पर्याय वाले श्रमण-निग्रन्थ की आचार्य पद अथवा उपाध्याय पद में स्थापना कर सकते हैं । उसमें 'आचार प्रकल्प' अर्थात् निशीथ अध्ययन का देश से जिसने अध्ययन किया हो और देश (हिस्से) से शेष शेष रहा हो 'वह अध्ययन पूर्ण करूँगा' ऐसा कहे और 'पूर्ण करेगा' इस तरह यदि ख्याल में आए तो उसे आचार्य-उपाध्याय पद दे सकते हैं ।'' अर्थात् उत्सर्ग से तो जैसा पहले कहा है वैसे सूत्र अर्थ दोनों का ज्ञाता होना चाहिए । इस विषय में अब अधिक विस्तार से क्या कहें ?

प्रिय-दृढ़धर्मा- अर्थात् श्रुत और चारित्र धर्म में प्रीति वाला और पालन में दृढ़-समर्थ होना चाहिए । इन दो पदों के-१-प्रिय -अदृढ़, २-अप्रिय-अदृढ़, ३-प्रिय-दृढ़ और ४-अप्रिय-दृढ़- इस तरह चार भाग होते हैं । उसमें से तीसरे विभाग वाला योग्य है । **सर्वानुवर्तक** अर्थात् सर्व के अनुकूल वर्तन कर-करा सके ,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् सर्व की प्रकृति के अनुकूल रहकर प्रसन्नता पूर्वक सभी को धर्म मार्ग में जोड़ने वाला हो । **उत्तम जाति-कुल वाला** अर्थात् जिसका माता पक्ष और पितृ पक्ष-निष्कलंक सदाचारी उत्तम हो तथा **गंभीर** अर्थात् उदार हृदय वाला, शुभाशुभ निमित्तों में भी प्रसन्न रहने वाला एवं गंभीर मुख मुद्रा रखने वाला, गुप्त बातों को जहां तहां प्रगट नहीं करने वाला हो । **लब्धिमान** अर्थात् शिष्यों को उपयोगी संयम के उपकरण आदि प्राप्त कराने की लब्धि-शक्ति वाला हो, तथा **संग्रह उपग्रह में तत्पर** = यहां संग्रह अर्थात् धर्मोपदेश आदि देकर शिष्यों को बनाना, उनको आश्रय देना इत्यादि और 'उपग्रह' अर्थात् उनको संयम में उपकारी वस्त्र-पात्र आदि प्राप्त कर देना, इन दोनों में तत्पर होता है । इस विशेषण से द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की सहायता करने वाला समझना। तात्पर्य यह है कि सबका- दोनों लोक का हित करने वाला, उसके चार विभाग होते हैं जैसे कि-१-वस्त्र, पात्र, आहार, पानी आदि सारा पूर्ण रूप में प्राप्त करके दे, परन्तु संयम में प्रमाद करने वाले को सारणा वारणादि न करे । वह इस लोक में हितकारी है । परलोक में नहीं । संयम में प्रमादी को सारणा-वारणादि करें परन्तु वस्त्रादि आवश्यक वस्तुएं प्राप्त कर न दे, वह परलोक का हित कारी है और इस लोक का नहीं, ३-वस्त्र-पात्रादि सर्व सामग्री पूर्ण कर दे और जो संयम में प्रमाद करे उसकी सारणादि से रक्षा भी करे, वह दोनों लोक में हितकारी है और ४-वस्त्रादि वस्तु पूर्ण न करे और प्रमाद से रक्षा भी न करे, वह दोनों लोक में अहित करता है । इन चार विभाग में अन्तिम विभाग वाला तो गण की अनुज्ञा के लिए सर्वथा अयोग्य ही है और पहले विभाग वाला भी अयोग्य समझना । व्यवहार भाष्य में कहा है कि-

जीहाए वि लिहंतो, ण भद्दओ जस्स सारणा णत्थि ।
दंडेण वि ताडंतो, स भद्दओ सारणा जत्थ ॥ उ०१-३८२॥

अर्थात् - "जीभ आदि से चाटना अर्थात् मान-सत्कार करे, बाह्य सुख की सम्पूर्ण सामग्री पूरी करने इत्यादि हर प्रकार से सुख दे, फिर भी यदि गुरु संयम में शिथिल होते शिष्य की सारणा-वारणादि रक्षा न करे तो वह हितस्वी नहीं है । चाहे दंडादि से मारे परन्तु सारणादि करे वह हितस्वी है ।"

श्रुत रागी अर्थात् श्रुत ज्ञान और उसके साधन भूत आगम ग्रन्थ आदि में राग-भक्ति-बहुमान धारण करने वाला हो, और **कृतक्रिय** अर्थात्-सर्व क्रिया-अनुष्ठानों में कुशल हो, ऐसा गुणवंत साधु गच्छाधिपति हो सकता है- इस प्रकार श्री जिनेश्वर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भगवान ने कहा है । ऐसे गुणवान-गुणयोगी के वर्णन द्वारा गच्छाधिपति के गुण कहे । अब प्रसंगानुसार प्रवर्तिनी के गुण कहते हैं-

गीतार्था कुलजाऽभ्यस्त सत्क्रिया पारिणामिकी ।
गम्भीरोभय तो वृद्धा, स्मृताऽऽर्याऽपि प्रवर्तिनी ॥१३७॥

मूलार्थ- "साध्वी भी गीतार्था, कुलवती, प्रशस्त, क्रियाओं में कुशल, परिणत-प्रौढ़ बुद्धि वाली, गम्भीर और उभयता वृद्ध हो- उसे प्रवर्तिनी पद के लिए योग्य कहा है ।"

व्याख्या- गीतार्था-श्रुत के विभागों-उत्सर्ग, अपवाद, व्यवहार, निश्चय द्रव्य, -क्षेत्र, काल, भाव आदि की अपेक्षाओं को समझने वाली, **कुलजा** = उत्तम कुल जाति में जन्म लिया हो, अभ्यस्त सत्क्रिया = प्रति लेखनादि सर्व उत्तम क्रियाओं के दृढ़ अभ्यास वाली-कुशल, **गंभीरा** = गम्भीर हृदय वाली-शुभाशुभ निमित्तों में- सुख दु:ख आदि में हर्ष शोक नहीं करने वाली, गुप्त बातों को नहीं प्रगट करने वाली, **उभय तो वृद्धा** = दीक्षा पर्याय और वय दोनों से वृद्ध हो अर्थात् चिर दीक्षित और प्रौढ-परिणत उम्र वाली- साध्वी भी यदि ये गुण वाली हो तो उसे प्रवर्तिनी पद दे सकते हैं ।

यह गच्छ की अनुज्ञा की विधि भी समाचारी में से जानने योग्य है । वह इस तरह से-पूर्व कहे अनुसार गुण वाला- जिसको पूर्व काल में अथवा तत्काल अनुयोग के लिए आचार्य पद दिया हो उनको ही गच्छ की अनुज्ञा देनी चाहिए । जब प्रशस्त तिथि, करण, नक्षत्र, लग्न आदि हो तब शुभ समय में गुरु के समक्ष खमासमण देकर शिष्य कहे कि-'**इच्छाकारि तुम्हें अम्ह दिगाइ अणुजणावणि अं नंदि करावणिअं वास निक्खेवं करेह**' इत्यादि । पूर्व कहे अनुसार देव वंदन और गुरु वंदन पूर्वक कायोत्सर्ग करना, नन्दी सूत्र सुनाना, सुगन्धमय वासक्षेप का दान करना, सात खमासमण देना और काउसग्ग करना' इत्यादि सारी विधि करने के बाद सूरि जी का समीप में आसन पर बैठे उस नये गच्छाधिपति को साधु साध्वी आदि श्री संघ वंदन करे। उसके बाद मूल गुरु उसे इस तरह हित शिक्षा दे। पंच वस्तुक गाथा १३४६ से १३५१ में कहा है कि-

"संसार के कष्टों से दु:खी जीवों की रक्षा करने में समर्थ एवं श्रेष्ठ ज्ञानादि गुणों को प्राप्त कर जो संसार से भयभीत बना जीवों का दृढ़ सुन्दर रक्षण करता है, वह धन्य है । (१) ॥ अज्ञान रूप व्याधि से दु:खी जीव यद्यपि इस त्याग प्रधान धर्म

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को करने में सम्यग् प्रकार से आदर-मान वाला नहीं होता, तथापि भाव वैद्य रूपी उत्तम गुरु उनकी अज्ञान आदि व्याधि को दूर करते हैं ।(२) ॥ अब तुम भाव वैद्य हो और संसार के दु:खों से पीड़ित ये जीव तेरी शरण में आए हैं, इसलिए सुप्रयत्न पूर्वक इनको संसार से मुक्त करना चाहिए । (३)''

इसके बाद गच्छ को भी इस तरह शिक्षा देना । पंच वस्तुक गाथा १३५४-१३५८ तथा १३५९ में कहा है कि-''तम भी संसार अटवी रूपी महा संकट में से पार उतारने वाले और शिवपुर नगर के सारथी के समान इस गुरु को कभी नहीं छोड़ना । गुरु कुल वास में रहने वाला साधु ज्ञान का भागी बनता है तथा श्रद्धा एवं चारित्र में स्थिर होता है । इसलिए धन्य पुरुष जहां तक जिये वहां तक गुरुकुल वास को छोड़ना नहीं चाहिए । इसी तरह ही साध्वी समुदाय को भी आचार्य श्री हितशिक्षा दें और आर्या चंदना और आर्या मृगावती के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन करे ।'' इत्यादि ।

जो उपर्युक्त गुणों से रहित हो उसे गच्छ सौंपने से जो दोष लगता है, उसे आगे कहते हैं ।

एतद् गुण वियोगे तु गणीन्द्रं वा प्रवर्तिनीम् ।
स्थापयेत्स महापाप, इत्युक्तं पूर्व सूरिभिः ॥१३८॥

मूलार्थ- ''ऐसे गुणों के अभाव में भी जो अयोग्य साधु की गच्छाचार्य पद अथवा साध्वी की प्रवर्तिनी पद पर स्थापना करता है, वह महा पापी है- इस तरह पूर्वाचार्यों ने कहा है ।''

व्याख्या- इस श्लोक का भावार्थ स्पष्ट है । पंचवस्तुक में कहा है कि-ये गुण जिसमें न हों उसे जो गणिपद अथवा प्रवर्तिनी पद दे और अयोग्य होने पर यश की इच्छा से जो उसे स्वीकार करे, वे दोनों आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधनादि के हिस्सेदार होते हैं । (१३१८) ॥ श्री गौतम स्वामी आदि महात्माओं ने जो 'गणधर' शब्द को वहन किया है अर्थात् जो 'गणधर' शब्द से महापुरुष जाने जाते हैं- उस पद को जो जानता है और फिर भी अपात्र-अयोग्य में उस पद की स्थापना करता है, वह महापापी अर्थात् मूढ़ात्मा है ।(१३१९) ॥ इसी तरह जो 'प्रवर्तिनी' शब्द (पद) आर्या श्री चन्दना आदि महासतियों ने वहन किया-स्वीकार किया था उस पद की यदि अपात्र में स्थापना करता है, तो उसे भी महापापी समझना । (१३२०)॥'' इत्यादि अन्य ग्रन्थों से भी जान लेना चाहिए ।

गच्छ को सौंपने के लिए योग्य गुण यद्यपि महा निशीथ अध्ययन ५ सूत्र १५

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में बहुत कहे हैं । उनमें से कुछ ही इस तरह कहते हैं-"श्री गौतम गणधर प्रभु श्री महावीर से पूछते हैं कि-'हे भगवन्त्! कैसे गुण वाले गुरु गच्छ का निक्षेप-पालन कर सकते हैं ?' भगवान कहते हैं कि- 'गौतम ! जो सुन्दर व्रत वाला हो, अच्छे शील वाला हो, दृढ़ व्रत वाला, दृढ़ चारित्री, अनिंदित अंगवाला-पांचों इन्द्रियों से परिपूर्ण-शारीरिक दोष रहित, निरोगी, योग्य-पूजनीय, राग रहित जो दोष रहित हो, मोहनीय और मिथ्यात्व मैल रूपी कलंक रहित, इसीलिए ही उपशम भाव को प्राप्त करने वाला, जगत् के स्वरूप का यथास्वरूप में ज्ञाता, इससे उत्तम महावैराग्य में दृढ़ प्रीति वाला, इससे ही स्त्री कथा का द्वेषी-त्यागी, भक्त कथा का विरोधी, चोर कथा का विरोधी, राज कथा का विरोधी, देश कथा का विरोधी, अत्यंत दयालु-द्रव्य भाव दया के स्वभाव वाला, परलोक के कष्टों से डरने वाला, कुशील-दुराचारियों से दूर रहने वाला, शास्त्र के मर्म का जानकार, इससे शास्त्र रहस्य को प्राप्त करने वाला, प्रतिदिन-प्रति समय अहिंसा के लक्षणों रूप क्षमा आदि दस प्रकार के यति धर्म में स्थिर, बारह प्रकार के तप कर्म में दिन रात-प्रति समय उद्यम वाले, पांच समिति के पालन में श्रुत के उपयोग वाला, तीन गुप्तियों से सदा सुगुप्त अर्थात् अकुशल व्यापारों से मन-वचन-काया का रक्षण करने वाला, स्व शक्ति अनुसार अठारह हजार शीलांग-सदाचार का आराधक, स्व शक्ति अनुसार एकान्त में सत्तरह प्रकार से संयम का अविराधक, उत्सर्ग मार्ग में रुचि वाला, तत्व की रुचि रखने वाला, शत्रु-मित्र में समान दृष्टि वाला, राग-द्वेष के वश में नहीं होने वाला, सात भय स्थानों से मुक्त, निर्भय, आठ मद स्थानों से रहित, ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ो की विराधना के भय वाला, बहु श्रुत, आर्य उत्तम कुल में जन्म लेने वाला, दीनता रहित, कृपणता रहित, आलस रहित, साध्वी-स्त्री वर्ग से दूर रहने वाला, सतत धर्मोपदेश देने वाला, ओघ समाचारी-साधु के आचार का सतत प्ररूपक, मर्यादा का उल्लंघन नहीं करने वाला, असमाचारी-दुष्ट वर्तन से डरने वाला, शिष्यादि की आलोचना अनुसार योग्य प्रायचित्त देने में समर्थ, वंदन मंडली की विराधना का, प्रतिक्रमण मंडली की विराधना का स्वाध्याय मंडली की विराधना का, व्याख्यान वाचना मंडली की विराधना, आलोचना मंडली की विराधना का, उद्देश मंडली की विराधना का, समुद्देश मंडली की विराधना का, दीक्षा-प्रदान की विराधना का, उपस्थापना-महाव्रत उच्चारण की विराधना का जानकार, उद्देश-समुदेश-अनुज्ञा इन तीनों की विराधना का जान्कार, काल, क्षेत्र, द्रव्य, भाव और भव-संसार के अन्तर-भेद का जानकार काल, क्षेत्र द्रव्य और भाव के आलम्बनों-निमित्तों की अपेक्षा बिना का, बाल, वृद्ध,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्लान, नवदीक्षित और शिक्षा के योग्य साधुओं को तथा साध्वियों को अनुकूल-आज्ञा पालक बनाने में कुशल, ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तपरूप गुणों को समझने वाला, ज्ञान दर्शन-चारित्र तप गुणों को स्मरण करने वाला- कराने वाला, धारक-धारण करने वाला, प्रभावना करने वाला, महिमा बढ़ाने वाला, दृढ़ सम्यकत्वी, हमेशा परिश्रम करने पर भी श्रमित नहीं होने वाला धीमान्-विशिष्ट बुद्धि वाला, गंभीर-किसी के मर्म को अथवा अपने सुख-दुःख को प्रगट नहीं करने वाला, चन्द्र समान सौम्य लेश्या वाला, प्रशान्त आकृति वाला, तप-तेज से सूर्य के समान, दूसरे से पराभव नहीं होने वाला, शरीर-प्राण के नाश होने पर भी छः काय जीवों की हिंसा नहीं करने वाला, दान, शील, तप और भाव रूप चार प्रकार के धर्म के अंतराय-विघ्न से डरने वाला, सर्व-गुरु की तेंतीस या देव गुरु ज्ञान आदि सर्व की आशातनाओं से डरने वाला, ऋद्धि-रस शाता गौरव और आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान से विशेषतया मुक्त, बाह्य-अभ्यंतर ग्रन्थि रूप परिग्रह से मुक्त, सर्व आवश्यक कार्यों में-संयम के योगों में उद्यमी-प्रमाद से रहित, विशिष्ट लब्धियों से युक्त, आपत्ति से पीड़ित किसी अन्य द्वारा कोई अनुचित कार्य करने की याचना करने पर भी पाप कार्य को नहीं करने वाला, बहुत निद्रा नहीं करने वाला, बहुत आहार नहीं करने वाला-अल्प निद्रा-अल्पाहारी, सर्व आवश्यक स्वाह चाप, ध्यान, प्रतिमा पालन, और द्रव्यादि अभिग्रह आदि अनुष्ठान को करने वाला, घोर परीषह और उपसर्ग होने पर भी उस परीषह-परिश्रम का विजेता-धीर, सुपात्र-शिष्यादि का संग्रह करने वाला, अपात्र को छोड़ने वाला, विधि का भी जानकार, सशक्त और अखंड शरीर वाला, स्व-पर शास्त्रों को अच्छी तरह समझाने वाला, क्रोध, मान, माया, लोभ, ममता, रति, हास्य, रमत, काम चेष्टा और नास्तिकवाद से मुक्त धर्म का कथन करने वाला, संसार वास और विषय की अभिलाषा आदि में वैराग्य उत्पन्न करने वाला और भव्य प्राणियों को प्रतिबोध - सम्यग् ज्ञान दान करने वाला हो- उस साधु को गच्छाधिपति बनाना योग्य है। वह गणी है, गणधर है, तीर्थ है, तीर्थंकर है, अरिहंत है, केवली है, जिन है और तीर्थ का प्रभावक भी है। वह वंदनीय है, पूजनीय है, नमस्करणीय है, दर्शनीय है, परम् पवित्र है, परम कल्याण है और परम मंगल भी है। वह सिद्धि है, मुक्ति है, शिव है एवं मोक्ष है, वह त्राता-रक्षक है, सन्मार्ग है वह, आश्रय-सद्गति है और स्वर्ग पाठान्तर में शरण करने योग्य है, वह सिद्ध है, बुद्ध है, मुक्त है, पारंगत है, देव है, और देवों का भी देव है। हे गौतम ! ऐसे को गण का निक्षेप-गच्छाधिपति कर सकते हैं, ऐसे को गण का निक्षेप करवा सकते हैं और ऐसे के गणनिक्षेप की अनुमोदना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी कर सकते हैं । अन्यथा, हे गौतम! जिनेश्वर की आज्ञा का भंग होता है । इति ।''

इस प्रकार कहने पर भी काल के उचित 'महाव्रत के पालन में दृढ़ता, शुद्ध गीतार्थत्व और सारणा वारणा आदि करना' आदि गुण तो जघन्य से भी होने चाहिएं क्योंकि व्यवहार भाष्य में तीसरे उद्देश में प्रश्नोत्तर द्वारा कहा है कि-

पुव्वं वण्णेऊणं दीहपरियाय संघयण सद्धं ।
दस पुव्वीए धीरे, मज्जार रू अपरूवण या ॥१६७॥

व्याख्या- ''प्रश्न-पूर्व (प्रथम) में आचार्य पद की योग्यता वाले को दीर्घ पर्याय कहा है, अति विशिष्ट संघयण कहा है, श्रद्धा भी अति उत्तम कही है, आगम की अपेक्षा से आचार्य पद के योग्य दस पूर्वी धर, धीर और औत्पाति की आदि चार बुद्धि से कथित बताया है, इस तरह विशिष्ट वर्णन करके पुनः प्ररूपणा करते, जो पर्याय से तीन वर्ष पर्याय वाला और आचार प्रकल्प (महानिशीथ) तक के श्रुत को धारण करने वाला हो, उसकी उपाध्याय पद पर स्थापना करना, पांच वर्ष दीक्षा पर्याय वाला और दश कल्प व्यवहार तक के श्रुत को धारण करने वाला आचार्य पद के योग्य जानना, इत्यादि कहा है, तो यह प्ररूपणा बिलाव के रुदन के समान है- जैसे बिलाव पहले बड़ी आवाज से रोता है और फिर धीरे-धीरे स्वयं भी न सुन सके- ऐसा रोता है, वैसे हे आचार्य ! तुमने पहले तो बड़े-बड़े गुण वाले और बाद में थोड़े-थोड़े अर्थात् अल्प गुण वाले को योग्य कहा है । वह कैसे युक्त है ? उसका गरू उत्तर देते हैं कि-यह सत्य है, केवल पहले अतिशय वाली वस्तु स्थिति अर्थात् विशिष्ट काल विशिष्ट गुणवान् आदि को कहा और फिर वर्तमान काल के अनुरूप बताया, इसलिए ये दोनों रूप कहने में नीचे का दोष नहीं है । इस विषय में नीचे का दृष्टान्त समझाने योग्य है । व्यवहार सूत्र में तीसरे उद्देश में आगे कहते हैं कि-

पुक्खरणी आयारे, आणयणा तेण गा य गीयत्थे ।
आयरि अंमि उ एए, आहरणा हुंति णायव्वा ॥१६८॥

सत्थ परिन्ना छक्कांय अहिगमे पिं उत्तरज्झाए ।
रूक्खे अवसभ गावो, जाहा सोही अ पुक्खर णी ॥१६९॥

अर्थात्- ''आचार्य पद की योग्यता में १-बावड़ी, २-आचार प्रकल्प (निशीथ) सूत्र को पूर्व में से लाना, ३-उद्धरणा, ३-चोरी ४-गीतार्थ- ये चार। (१६८) ॥ तथा १-शस्त्र परिज्ञान के स्थान में छः जीव निकाय अध्ययन, २-पिंड,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३- उत्तराध्ययन सूत्र, ४- कल्पद्रुम आदि वृक्ष, ५- वृषभ, ६- गाय, ७- योद्धा, ८- शोधि और ९- बावड़ी, इस तरह कुल १३ उदाहरण हैं। (१६९) ॥ अब आगे व्यवहार सूत्र की गाथाओं के अंक के साथ में केवल अर्थ कहते हैं -

पूर्व काल के अन्दर जैसी बावड़ियां थीं ऐसी वर्तमान काल में नहीं हैं, फिर भी वर्तमान काल की बावड़ियां कार्य साधक रूप हैं। (१७०) ॥ आचार प्रकल्प-निशीथ अध्ययन और प्रायश्चित्त भी पहले नौंवे पूर्व में थे, उसमें से उद्धरण किया। वर्तमान काल के अन्दर आचारांग सूत्र में है, तो क्या वह आचार कल्प नहीं है ? और उससे क्या प्रायश्चित्त नहीं होता ? (१७१) ॥ पूर्व काल में ताले खोलने के और अवस्वापि की निद्रा के विद्याबल से चोरी करने वाले थे, हाल में ऐसे नहीं हैं। फिर भी क्या वर्तमान काल में चोरी करने वाले नहीं हैं ? (१७२) ॥ पूर्व काल में गीतार्थ चौदह पूर्वी थे, वर्तमान काल में जघन्य से महा निशीथ के और मध्यम से बृहत्कल्प सूत्र के धारक होते हैं, तो क्या वे गीतार्थ में नहीं गिने जाते ? (१७३) ॥ पूर्व काल में आचारांग सूत्र का शस्त्र परिज्ञा अध्ययन पढ़ने के बाद उपस्थापना-बड़ी दीक्षा दी जाती थी। वर्तमान में दशवैकालिक के छज्जीव निकाय अध्ययन पढ़ने के बाद होती है तो क्या वह उपस्थापना नहीं मानी जाती ? (१७४) ॥ पूर्व काल में आचारांग सूत्र के दूसरे 'लोक विजय' नामक अध्ययन के पांचवें उद्देश में "**सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधी परिव्वय**" सूत्र (८७) अर्थात् 'सर्व आमगंध को (गोचरी के सर्व दोषों को) जानकर जो दोष को न लगाये वह पिंड लाने में अधिकारी है' इस तरह कहने से सूत्र और अर्थ से इतना पढ़ने वाला आहारादि पिंड लाने में अधिकारी था, फिर भी वर्तमान में दशवैकालिक के पांचवें पिंडैषणा अध्ययन तक पढ़ा हुआ भी अधिकारी होता है। (१७५)॥ पूर्व काल में आचारांग सूत्र के बाद उत्तराध्ययन सूत्र का अध्ययन था। वर्तमान काल में दशवैकालिक के बाद- आचारांग के पहले होता हैं, तो क्या वह अध्ययन नहीं है ? (१७६) ॥ पूर्व काल में 'मत्तंग' आदि दस प्रकार के श्रेष्ठ कल्पवृक्ष होते थे, वर्तमान में वे नहीं हैं इससे क्या आम आदि के वृक्ष नहीं हैं ? पूर्व में वृषभ आदि बड़े यूथ-गाय के समूह का अधिपति श्वेत' सुन्दर सींग वाला और बलवान होते थे और वर्तमान में पांच-दशादि छोटे यूथ वाले होते हैं, पूर्व के जैसे नहीं हैं। इससे क्या वृषभों का सर्वथा अभाव है ? (१७७) ॥ पूर्व में नंद गोप आदि के करोड़ की संख्या वाला गायों का यूथ था, वर्तमान काल में ऐसा नहीं है तो क्या वर्तमान में पांच पंद्रह आदि गायों का यूथ होता वह यूथ नहीं है ? (१७८)॥ पूर्व काल में 'सहस्र मल्ल' आदि महा बलिष्ठ और साहसिक योद्धा थे, वैसे आज

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं हैं तो जो वर्तमान में हैं वह क्या योद्धा नहीं हैं ? (१७९)॥ पूर्व काल में परिहार तप अथवा छः महीने के तप से शुद्धि-प्रायश्चित्त होता था और आज नीवि पंच कल्याणक-दस कल्याणक रूप थोड़े ही शुद्ध तप द्वारा प्रायश्चित्त होता है- वह क्या शुद्धि नहीं है ? (१८०) ॥ अर्थात् जैसे पूर्व काल की और वर्तमान काल की बावड़ियों में वस्त्र आदि शुद्ध होते थे और होते हैं वैसे ही शोधि प्रायश्चित्त भी नीवी आदि तप से भी होता ही है । (१८१) ॥ इस तरह पूर्व में चौदह पूर्वधर आदि विशिष्ट गुण वाले आचार्य आदि थे और वर्तमाल काल में काल के अनुरूप होते हैं, इस तरह समझना । (१८२) ॥

तथापि उन कालोचित गुणों में भी गीतार्थ रूप और सारणा-वारणा आदि करने का तो अवश्य अपेक्षित है अर्थात् वर्तमान काल में भी वह तो होना ही चाहिए। क्योंकि प्राचीन समाचारी द्वार ११ में कहा है कि-

काला इवास इक्काइ गुण विहीणोऽवि सुद्ध गीअत्थो ।
ठाविज्जइ, सूरीपए उज्जुसो सारणाइ सुं ॥

अर्थात्- "काल संघयण आदि की कमजोरी के अधीन एक-दो आदि गुणों से हीन होने पर शुद्ध गीतार्थ और सारणा-वारणादि में यदि उद्यमी हो तो उसकी सूरि पद में स्थापना कर सकते हैं ।"

यह उचित भी है, क्योंकि गुरु ने आचार्यत्व आदि पद दिया हो या नहीं दिया हो परन्तु यदि गीतार्थ उसे स्वीकार करें तभी वह मान्य होता है और यदि अस्वीकार करें तो अमान्य होता है । इस तरह व्यवहार भाष्य के चौथे उद्देश में कहा है कि-

आसुकारोवरम् अठाविए गणहरे इमा मेरा ।
चिलिमिलि हत्थाणुन्ना, परिभव सुत्तत्थ हावणया ॥१७२॥

व्याख्या - "आशुकारेण' अर्थात् शूल आदि आकस्मिक कारण से आचार्य 'उपरत' = काल धर्म हो जाय और 'उठाविए गणहरे' = नये आचार्य की यदि स्थापना न हुई हो तो 'इमा मेरा' = इसके अनुसार मर्यादा-विधि है, वह मर्यादा कहते हैं कि- स्थविरों को आचार्य के मृतक शरीर को 'चिलि मिलि' अर्थात् परदे में गुप्त रखना और बाहर के साधु मंडल को बताना कि 'आचार्य के शरीर में अतीव अशुभ है, बोलने की भी शक्ति नही हैं' इस तरह बाहर वालों को समझाकर, जो साधु आदि आचार्य पद के योग्य हों, उन्हें परदे के बाहर बैठाकर मृत आचार्य से पूछे कि-'सूरि पद में किसकी स्थापना करनी चाहिए ?' इस तरह बोलकर परदे में रहे गीतार्थ-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थविर आचार्य का मृतक हाथ-आचार्य पद जिसको देना हो उसके सन्मुख लम्बा कर के अन्यों को दिखाए एवं कहे कि - 'आचार्य पद यह अमुक को देने की गुरु की अनुज्ञा है, परन्तु वे मुख से उच्चारण नहीं कर सके, हाथ लम्बा करके अनुज्ञा करते हैं । इसलिए इसके मस्तक पर हम सूरि पद का वास निक्षेप करते हैं इसके बाद में आचार्य पद में इस साधु की स्थापना करते हैं।' ऐसा कहकर फिर 'आचार्य अचानक कालगत हो गये हैं' इस प्रकार जाहिर करे । 'परिभव सुत्तत्थ हावणया' अर्थात् जो नये आचार्य का पराभव करने की बुद्धि से उनके योग्य विनय न करे, उस साधु के सूत्र अथवा अर्थ काट दे अर्थात् उसे नहीं पढ़ाना चाहिए ।''

इस प्रकार परमार्थ से गुरु द्वारा नहीं दी हुई भी दिशा अर्थात् दिगाचार्य की पदवी स्थविरों द्वारा ही दी गिनी जाती है । अब गुरु द्वारा देने पर भी गीतार्थ-स्थविर उसे स्वीकार न भी करें । कारण यह है कि पुराने आचार्य ने कहा भी हो कि- 'अमुक को इस आचार्य पद पर स्थापना करना' तब उसके दोष-गुण जानकर ही स्थविर को 'आचार्य पद पर स्थापना करना' इसके लिए सूत्र में विकल्प सुना जाता है । इससे 'स्थविरों की ही अनुमति आचार्य पद-दिग् दान में मुख्य है ।' इस तरह सिद्ध हुआ । व्यवहार भाष्य में कहा है कि-

''आयरिय उवज्झाए गिलायमाणे अण्णयरं वएज्जा अज्जो ! मए मामं सि णं काल गयं सि समाणं सि अयं समुक्क सि अव्वे, से असमुक्क सणारिहे समुक्क सि अव्वे, से अणो समुक्क सणारिहे णो समुक्क सि अव्वे, अत्थि अ इत्थ केइ अण्णे समुक्क सणारिहे से समुक्क सि अव्वे, णत्थि अ इत्थ (याइंत्थ अन्ने) केइ समुक्क सणारिहे से चेव समुक्क सि अव्वे, तंसि च समुक्कट्ठंसि परो वइज्जा 'दुस्समुक्कट्ठे अज्जो ! णिक्खिवणा (वा) हिं ! तस्स णं णिक्खिवमाणस्स (अणिक्खिवमाणस्स वा) णत्थि कोई छेए वा परिहारिए (रे) वा जे ते साहम्मिआ अहा कप्पेणं (नो अब्भुट्ठे ति ट्ठाविहरति) सव्वे सिं ते सिं तप्पत्तिए (अं) छेए वा परिहारे वा०'' इच्चाइ । व्यवहार भाष्य उ० ४ सूत्र - १३ ॥

इस सूत्र का अर्थ इस तरह है - आचार्य अथवा उपाध्याय धातु के क्षोभ-विकार आदि किसी कारण से अचानक बीमार हो जायें और यदि उपाध्याय, प्रवर्त्तक, गणावच्छेदक अथवा साधु में किसी को पूर्व में किसी कारण से बड़ा आचार्य बना न सके हों, तो इस बीमारी के समय एक अमुक साधु को आचार्य बनाने की इच्छा से गुरु कहें कि-'हे आर्यो मेरा काल धर्म हो जाय तब अमुक को आचार्य बना देना।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह जिसको आचार्य बनाने को कहा हो उसकी स्थविरों को परीक्षा करके, यदि वह योग्य हो तो, उसकी आचार्य पद पर स्थापना करना परन्तु यदि वह बड़प्पन का अर्थी हो, रस ऋद्धि शातागारव वाला हो, अपने गुरु को असमाधि मरण का भय होने से गुरु ने डरकर उसे आचार्य बनाने के लिए कहा हो, भिन्न-भिन्न देश में विचरण कर विविध भाषा आदि जानकार न बना हो अथवा पद देने के बाद कठोर भाषी बना गया हो, तो पूर्व में यद्यपि गुरु के समक्ष स्वीकार किया हो फिर भी उपर्युक्त कारणों से ऐसा लगे कि वह आचार्य बनने योग्य नहीं है तो उसे आचार्य नहीं बनाना। और पूर्व में स्वीकार रखा हो, वह मधुर-सर्व की प्रीति संपादन करता हो, फिर भी असंग्रह शील- शिष्य, उपधि अथवा सूत्रार्थ को प्राप्त करने की, रक्षण करने की वृत्ति से रहित और योग्यता अनुसार वाचना देकर शिष्यों को योग्य-ज्ञानी बनाने की कला से रहित हो, इस तरह गुणों से जो रहित हो, उसे भी आचार्य नहीं बनाना चाहिए, अथवा काल धर्म आचार्य का एक भी शिष्य गुरु के हयाति में योग्य न होने से गुरु ने अंत समय में 'जब मेरा शिष्य योग्य बने तब तुम इसे आचार्य बनाना और मेरा दिया यह आचार्य पद तब छोड़ देना' ऐसी कबूलात स्वीकार के अन्य गच्छीय कोई साधु उप संपदा स्वीकार कर रहा हो उसे अथवा विशिष्ट प्रतिमा आदि गुणों से भविष्य में योग्य बनाने की संभावना हो, ऐसे अपने शिष्य होने पर भी वह वर्तमान में श्रुत से या पर्याय से अपूर्ण हो तब पर्याय श्रुत से पूर्ण होते अपने किसी अन्य शिष्य को जैसे पूर्व में कहा वैसे कबूलात स्वीकार करके गुरु उसे गच्छाधिपति स्थापित करे, फिर भी दोनों- अन्य गच्छीय या अपना शिष्य प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर यदि अपना स्थान-पद न छोड़े तो उनको छेद, परिहार अथवा सप्त रात्र का तप इत्यादि प्रासंगिक प्रायश्चित्त देना। आचार्य ने काल धर्म होते समय यदि योग्य को भविष्य में गच्छाधिपति बनाने के लिए कहा हो वह स्वयं आचार्य की मृत्यु के बाद अभ्युद्यत-विहार (जिन कल्प आदि एकाकी रूप) अथवा अभ्युद्यत मरण-अनशन करना चाहे तब यदि दूसरा कोई उसी गच्छ का साधु गच्छाधिपति पद के लिए योग्य हो तो उसे गच्छाधिपति बनाकर अन्य गच्छीय को छोड़ देना, परन्तु यदि दूसरा योग्य साधु न हो तो गीतार्थ-स्थविरों को जो उद्यत विहार या अनशन करना चाहता तो उससे कहना कि-'दूसरे को गीतार्थ बनाने तक तुम गच्छाधिपति पद का पालन करो, दूसरा योग्य तैयार होने के बाद तुमको जैसा योग्य लगे वैसा करना' इस तरह प्रार्थना करके उसे ही आचार्य बनाना चाहिए। इस विधि से उस गणधर पद को स्वीकार करके किसी एक को योग्य बनाये। यदि बाद में उसके चित्त में इस प्रकार समा जाय कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'अभ्युद्यत विहार की अपेक्षा से भी गच्छ का पालन करना महान् निर्जरा का कारण है, इसलिए मैं ही गच्छ को संभालूगा' और गीतार्थ उससे कहें कि-अब 'गणधर पद छोड़ो' तब वह कहे कि 'नहीं छोड़ूगा, मैं ही गच्छ का पालन करना चाहता हूँ।' ऐसे समय में क्षोभ प्राप्त कर यदि दूसरे ऐसा कहे कि- 'अयोग्य तुझे आचार्य पद गलत दिया, तुझे तेरा आचार्य पद चाहे रुचिकर हो परन्तु हमको रुचिकर नहीं है।' तो उनको 'चतुर्गुरु' प्रायश्चित्त आता है, तथा पूर्ण-योग्य न हुए को यदि आचार्य पद दिया जाए तो उसे भी उतना ही प्रायश्चित्त आता है। ऐसा समझना। इतना ही नहीं, इस अगीतार्थ आचार्य की गच्छ के साधु भविष्य में सेवा करेंगे उतना उसे प्रायश्चित्त अधिक आता है। हां, पूर्ण-योग्य होने के बाद उसे आचार्य पद देने पर छेद, परिहार अथवा सप्त रात्रि तप- एक भी प्रायश्चित नहीं लगता। और गच्छ के जो साधु पूर्व में कहे अनुसार जिसको इत्वरिक आचार्य पद दिया हो वह अपने गच्छ के अथवा उपसंपदा लेकर रहे अन्य गच्छीय साधु को आचार्य बनाने के बाद कल्प के अनुसार अपनी अपनी मर्यादा अनुसार वंदन आदि से उनका विनयादि नहीं करें, उनको भी यथायोग्य छेद, परिहार अथवा सप्त रात्रि का तप आदि प्रायश्चित्त लगता है।" इस तरह यहां संक्षेप से कहा।

यहां प्रश्न करते हैं कि गुरु ने आचार्य पद देने की आज्ञा दी हो, फिर भी यदि गीतार्थ उसे छीन लेता है, आचार्य पद नहीं देता तो गुरु की आज्ञा का भंग होता है तो उसका क्या करना ? उत्तर- वहां ऐसा नहीं है, वस्तुतः प्रस्तुत विषय में आज्ञा का पालन केवल शाब्दिक रूप से समझने के लिए नहीं है, भाव रूप में समझने के लिए है। गुरु ने भी गच्छ की रक्षा के भाव से आचार्य पद दिया होगा अथवा देने का सूचन किया होगा, इसलिए यदि उसके अनुसार गच्छ की रक्षा न होती हो तो वहां गुरु की आज्ञा का अभाव ही समझना। इतना ही नहीं, परन्तु अयोग्य का त्याग करना वह निश्चय से गुरु की आज्ञा का पालन ही है, उलटा असद् व्यवहार करने पर भी यदि पद को नहीं छीना जाय तो स्थविरों ने गुरु की आज्ञा का भंग किया माना जाता है। इस तरह भी विचार करना चाहिए कि महानिशीथ सूत्र में कुगुरु को संघ से बाहर करने के लिए कहा है, वह भी पदवी के अपहरण बिना कैसे घट सकता है ? इसलिए गुरुदेव की और श्री जिनेश्वर देव की यह एक ही आज्ञा है यह, नक्की हुआ। कुगुरु को संघ से बाहर करने का शास्त्र पाठ अभी ही प्रगट किया जायेगा। शुद्ध गीतार्थ उसे जानना कि-जब कोई कार्य आ जाय, तब जो मायावी, मृषावादी, अशुचि-आहारादि के लिए असदाचारी और ज्योतिषादि पाप श्रुत का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्ररूपक-आश्रय नहीं लेने वाले भी न हों क्योंकि उस दोष के कारण से उनको तो जहां तक जीवे वहां तक आचार्य पद आदि देने का ही निषेध है। इस व्यवहार के तीसरे उद्देश में २३ से २६ तक सात सूत्रों से कहा है। वह सूत्र इस तरह से है-

१. "भिक्खू बहूस्सूए वज्झागमे आगाढा गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावसुओ जीवी जावज्जीवाए तस्स तप्पत्ति अं णो कप्पइ आयरिअत्तं वा जाव गणावच्छेइ अत्तं वा उद्दिसित्तए एवं २. गणावच्छेइए वि, ३. आयरिय उवज्झाए वि, ४. बहवे भिक्खुणो, ५. बहवे गणावच्छेइआ, ६.बहवे आयरिअ उवज्झाया बहुस्सु आ बज्झा गमा बहुसु आगाढा गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पापसु ओव जीवी जावज्जीवं एते सिं तप्पत्ति अं णो कप्पइ आयरि अत्तं वा उवज्झायत्तं वा पवित्तितं वा गण हरत्तं वा गणावच्छेइ अत्तं वा उद्दिसित्तए वा (धारित्तए वा)।" सू० २६ तः २८, "७. बहवे भिक्खुणो ५ बहवे गणावच्छेइवा वहवे आयरिअ उवज्झाया० जाव धारित्तए।"

अर्थात्-"कोई एक भिक्षुक (साधु) बहुश्रुत (मूल सूत्र का ज्ञाता) हो, बहु आगम- अर्थ का ज्ञान हो उसे वारम्बार कुल-गण या संघ के उद्देश्य से आये सचित्तादि का व्यवहार से त्याग करना अथवा नहीं लेना चाहिए, फिर भी अगाढ़-अनागाढ़ अर्थात् आवश्यक-अनावश्यक कारण से माया करे, मृषा वचन बोले, अशुचि-आहारादि के लिए एषणा का भंग करे अथवा पाप श्रुत-ज्योतिषादि निमित्त का उपयोग करे, तो उस दोष के कारण से उसे प्रायश्चित्त कहा है कि उसे पूरे जीवन तक आचार्य, उपाध्याय, गच्छाधिपति, प्रवर्त्तक, गणावच्छेदक पद भी नहीं देना चाहिए, उसे स्वयं को भी नहीं लेना चाहिए। इसी अर्थ वाला दूसरा सूत्र एक गणावच्छेदक को और तीसरा सूत्र एक एक आचार्य और उपाध्याय के उद्देश्य से कहा है। इस तरह २३ से २५ तक सूत्रों के अर्थ जानना।

२६ वें सूत्र से बहुत साधुओं को, २७ वें सूत्र से बहुत गणावच्छेदकों को और २८ वें सूत्र से बहुत आचार्य- उपाध्यायों के विषय में यह विधान समझना। अर्थ तो प्रत्येक सूत्र का पूर्व के अनुसार ही समझना, केवल २३ से २५ तक के सूत्र एक एक व्यक्ति होने से एक वचन हैं और २६ से २८ तक के सूत्र अनेक व्यक्तियों के लिए होने से बहुवचन हैं। २६ वां सूत्र धर्म संग्रह में नहीं छपा, व्यवहार में है। वह बहु साधु, बहुत गणावच्छेदक और बहुत आचार्य-उपाध्याय इस तरह तीनों का एकत्रित होने से बहुवचन है। अर्थ प्रत्येक का समान है अर्थात् ऐसों को जीवन तक वह पद नहीं दिया जा सकता। यहां 'सौ अपराध करने वाले को मारना योग्य नहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और हजार अपराध करने वाले को दण्ड भी करना योग्य नहीं' इत्यादि लौकिक न्याय के अनुसार बारम्बार बहुत अपराध करने वाले को प्रायचित्त भी नहीं दिया जाता, क्योंकि बहुत देने पर भी उसकी शुद्धि नहीं होती। इस कारण से जावज्जीव के लिए उसे निवृत्त करना-पद छोड़ देना चाहिए, इसलिए बहुवचन के प्रयोग वाला यह सूत्र कहा है, इस तरह पूर्वाचार्यों का अभिप्राय है ।

तथा गच्छाचार्य में गीतार्थ होने के समान सारणा गुण भी अवश्य अपेक्षा रखता है, क्योंकि-गीतार्थ भी आचार्य यदि गच्छ की सारणा-वारणादि न करे और दुष्ट शिष्यों का भी त्याग न करे तो उसे महा प्रायश्चित्त आता है। महानिशीथ सूत्र की पहली चूला के तेरहवें सूत्र में इस प्रकार कहा है कि-

"से भयवं ! जे णं गणी अप्पमाई भवित्ता णं सुआणु सारेणं जहुत्त विहाणेहिं चेव सययं अहन्निसं गच्छं न सारवेज्जा, तस्स किं पायच्छित्तं उवइ सेज्जा ? गो० अप्पीउत्ती पारंचिअं उवर सेज्जा ॥" तथा,

"से भयवं जस्स उण गणिणो सव्वपमाया लंवण विप्प मुक्कस्सावि णं सु आणु सारेणं जहुत्त विहाणेहिं चेव सययं अहिन्नसं गच्छं सारवे माणस्स उ केइ तहा विहे दुट्ठ सीसे न सम्मग्गं समाय रेज्जा तस्स णं किं पच्छित्तं उवइ सेज्जा ? गो० उवइ सेज्जा" से **"भयवं केणट्ठेणं ? गो० जओ णं तेणं अपरिक्खिय गुण दोसे णिक्खमाविए हविज्जा एतेणं अट्ठेणं ॥"**

"से भयवं किं तं पच्छित्तं उवइ सेज्जा ? गो० जे णं एवं गुण कलिए गणी से णं जया एवं विहे पावसीले गच्छे तिविहं तिविहेणं वोसिरित्ताणं आयहियं णो समणुट्ठेज्जा तया णं संघ वज्झे उवइ सेज्जा ॥"

"से भयवं जया णं गणिणा गच्छे तिविहं तिविहेण वोसिरिए हविज्जा तया णं गच्छे आदरिज्जा ? गो० जइ संविग्गे भवित्ता णं जहुत्तं पच्छित्तमणु चरित्ता अन्नस्स गच्छाहिवइ णो उवसंपज्जित्ता णं सम्मग्गम णु सरेज्जा तओ णं आयरेज्जा, अहा णं सच्छंदत्ताए तहेव चिट्ठे तओ चउव्विहस्सावि समणसंघस्स वज्झं तं गच्छो नो आयरेज्जा ॥" प्रथम चूला, सूत्र ॥

अर्थात्-"हे भगवन्त ! जो गणी अन्य कार्यों में अप्रमादी होकर सूत्र के अनुसार यथोक्त उपायों से निश्चयपूर्वक अहोनिशि हमेशा गच्छ को न संभाले, सारणा वारणादि न करे उसका क्या प्रायश्चित दिया जाता है ?" भगवान ने कहा- "हे गौतम ! गच्छ की सारी प्रवृत्ति का परिहार रूप छोड़ने से पारांचित दिया जाता है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा "**हे भगवंत ! जो सर्व प्रमाद के** कारणों से मुक्त-अप्रमादी गणी सूत्र के अनुसार **यथोक्त उपायों से सतत् रात** दिन गच्छ की सार संभाल लेते हों फिर भी उनका कोई **दुष्ट शिष्य यदि सन्मार्ग** में न आए, तो क्या गुरु को प्रायश्चित्त दिया जाता है ?" **भगवन्त ने कहा "हे गोतम !** दिया जाता है।" फिर पूछा- "हे भगवन्त! किस कारण से वह दिया जाता है ?" तब भगवन्त ने कहा- "हे गौतम ! उसने गुण-दोष की परीक्षा किए बिना दीक्षा दी, इस कारण से प्रायश्चित्त आता है।" "हे भगवन्त ! उसको कौन सा प्रायश्चित्त आता है ?" "हे गौतम ! ऐसे गुणों से युक्त भी जो गच्छाधिपति-पापचारी गच्छ-शिष्य को त्रिविध त्रिविध वोसिराकर अपने हित-संयम साधना के लिए सम्यग् उद्यमी न हो उसे संघ से बाहर करना चाहिए।"

"हे भगवन्त ! यदि उस गणी ने गच्छ-स्व शिष्य को त्रिविध त्रिविध वोसिराया हो तो उसे गच्छ में स्वीकार कर सकते हैं ?" "हे गौतम ! यदि संविग्न बनकर, यथोक्त प्रायश्चित्त करके, अन्य गच्छाधिपति की उपसंपदा-आज्ञा स्वीकार करके सन्मार्ग के अनुसार आचरण करे तो स्वीकार किया जा सकता है और यदि स्वच्छंद रूप से वैसा ही वर्तन करे तो चतुर्विध श्री संघ से बाहर किए गये उसे गच्छ भी स्वीकार न करे।"

यदि प्रमादी गच्छ की सारणादि न करे, उसे तो अन्य सर्व साधुओं के प्रायश्चित्त का एकत्रित जोड़ लगाने से जितनी कुल संख्या आती है उससे चार गुणा प्रायश्चित्त लगता है। महानिशीथ सूत्र में कहा है कि-

"इणमो सव्वमपि पच्छित्तं गोअमा ! जावइअं एगत्थ संपिंडिअं हविज्जा, तावइ अंचेव एगत्थ गच्छाहि वईणो मह यरपवित्तिणीए चउग्गुणं उवइ सेज्जा, जओ णं सव्वमपि एएसिं पसंसिअं हवेज्जा, अहाणं इमे चेव पमायवसं गच्छेज्जा तओ अन्नेसिं संते धीबल वीरिए सुट्ठुत रागमब्भुज्जमं हवेज्जा, अहाणं किंचि सुमहंत मवि तओऽणुट्ठाण मबभुज्ज भेज्जा ताणं न ता रिसाए धम्म सद्धाए किंतु मंदुच्छाहे समुट्ठेज्जा, भग्ग परिणामस्स य निरत्थगमेव काय किलेसे, जम्हा एअं तम्हा उव चिंताणं त णि रणु बंधे पुन्नपुन्न पब्भारेणं समुज्जमाणे वि साहूणो ण संजुज्जंति, एवं सव्वमपि गच्छाहिव यादीण दोसेणेव पवत्तेज्जा, एएणं पवुच्चइ गोअमा ! जहा णं गच्छाहि वाई णं इणमो सव्वमपि पच्छितं जावइ अं एगत्थ संपिंडिअं हविज्जा तावइ अ चेव चउग्गुण उवइ सेज्जा ॥ (महानिशीथ, प्रथम चूला, सूत्र-१२)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''इन सबका भी प्रायश्चित्त' हे गौतम ! एकत्रित करने-जोड़ने से जितना होता है उससे चार गुणा एक गच्छाधिपति को अथवा महत्तरा अथवा प्रवर्तिनी-साध्वी को देना चाहिए, क्योंकि गच्छ की सारणा आदि नहीं करने से अन्य साधु जो अतिचार आदि सेवन करते हैं वह सारा **'अनिषिद्धम अनुमतम्'** इस न्याय से गच्छाधिपति द्वारा स्वीकार किया माना जाता है, और यदि इस तरह गच्छाधिपति अथवा प्रवर्तिनी स्वयं ही प्रमाद करे तो अन्य साधु-साध्वी को बुद्धिमान और पराक्रम होने पर भी आगम के प्रति जिनाज्ञा पालन के लिए सुन्दर उद्यम नहीं होता, इससे वे कुछ बड़ा तप आदि अनुष्ठान करे तो भी ऐसी सुन्दर धर्म श्रद्धा से नहीं करते, किन्तु मंद उत्साह से करते हैं। ऐसा टूटे मन्द परिणाम वाले का अनुष्ठान भी काय क्लेश मात्र निरर्थक कहा है, तो अचिंत्य चिन्तामणी समान और अनंत सानुबन्धी अर्थात् परम्परा से भी बढ़ता जाय ऐसे पुण्य के बल से उद्यम करने योग्य साधु भी उद्यम न कर सके-लाभ न ले सके, इस तरह गच्छ प्रमादी बने तो वह सब गच्छाधिपति आदि के दोष से ही होता है। इस कारण से यह कहा है कि हे गौतम ! उन सबका जोड़ करके सब साधुओं-गच्छ का प्रायश्चित्त जितना होता है उससे चार गुणा गच्छाधिपति आदि को देना चाहिए।''

शिष्य को भी ऐसे कुगुरु-गच्छाधिपति को सर्वथा छोड़ देना चाहिए और गुरु-शिष्य रूप का सम्बन्ध छोड़ना, उस सम्बन्धी लेख लिखाकर उनका अधिकार तोड़कर, अन्य सुविहित गच्छ को स्वीकार करके घोर तप एवं कठोर संयम का अनुष्ठान करना चाहिए। फिर भी इस तरह अराधना के लिए उद्यमशील शिष्य को यदि गुरु हस्ताक्षर से लिखकर न दे, न छोड़े, उस महापापी प्रसंग करने वाले गुरु को संघ से बाहर करना चाहिए। तथा महानिशीथ सूत्र की प्रथम चूला, सूत्र १४ वें में कहा है कि-

''से भयवं जया णं सीसे जहुत्त संजम किरिआए तहा विहे अ केई दिक्खं परू विज्जा, तया णं सीसे किं समणुट्ठेज्जा ? गोयमा० ! घोर वीर तव संजमे! से भयवं ! कहं ? गौतम अन्नत्थ गच्छे पवि सित्ताणं, तस्स संतिए णं सिरिगारेणऽविहए समाणे गच्छेसु पचेसमेव णं लभेज्जा तया णं किं कुव्विज्जा ? गो० ! सव्व पयारेणं तस्स संतिअं सिरिकारं फसाविज्जा, से भयवं केणं पयारेणं तस्स संतिअं सिरिआर सव्व पयारेणं फुसिज्जं हविज्जा ? गो० ! अक्खरेसु, से भयवं किं णामे ते अक्खरे ? गो० ! जहा णं अपडिग्गही कालंतरे सुंपि अहं इमस्स सीसाणं सीसिणीणं वा, से भयवं ! जया णं एवं विहे अक्खरे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

णं पयाइ तयाणं किं करिज्जा ? गो० ! जया णं एवं विहे अक्खरे णं पयाइ तया णं आसन्न पावयणीणं पक हि त्ताणं चउत्था दीहिं समक्क मित्ता णं अक्खरे दावेज्जा, से भयवं ! जया णं एएणं पयारेणं से णं कुगुरु अक्खरे पदेज्जा तया णं किं कुज्जा ? गो० ! जया णं एएणं पयारेणं से णं कुगुरु अक्खरेण पदेज्जा, तयाणं संघ बज्झे उवइ सेज्जा ।" प्रथम चूला सूत्र-१४ इत्यादि ।

अर्थात्- "हे भगवान ! जब यथोक्त संयम की क्रिया तथा प्रकार के उत्तम शिष्य को किसी कुगुरु ने दीक्षा दी हो, तब उस शिष्य को क्या करना चाहिए" ? "हे गौतम ! शिष्य को कठोर-वीरता पूर्वक तप संयम की साधना करनी चाहिए ।" "हे भगवन्त ! किस तरह वह करे ?" " हे गौतम ! दूसरे गच्छ में रहकर करनी चाहिए ।" " हे भगवन्त ! उस कुगुरु का अधिकार छुड़ाये बिना अन्य गच्छ में जा भी नहीं सकता" "उसे अन्य कोई रखेगा भी नहीं, तो क्या करना चाहिए ?" "हे गोतम ! सर्व प्रकार-उपायों से उसका अधिकार छुड़ाना चाहिए ।" "हे भगवन्त ! कैसे उपायों से उसका सर्व अधिकार सर्व प्रकार से छूट सकता है ?" "हे गौतम ! शब्दों के द्वारा- लेख लिखाने से ।" " हे भगवन्त! वह शब्द लेख कैसा होना चाहिए ?" "हे गौतम ! जैसे कि-कालान्तर में भी मैं इस शिष्य को, उसके शिष्यों को अथवा उसकी शिष्याओं को भी वापिस नहीं ग्रहण करूँ गा- इस प्रकार लिखवाकर रखना चाहिए ।" "हे भगवन्त ! जब वह ऐसा शब्द न लिखकर दे तब क्या करे?" "हे गौतम ! जब ऐसा शब्द नहीं लिख कर दे तब कुल-गण आदि सम्बन्ध से नजदीक के और ऐसे नजदीक में यदि न हो तो अन्य क्षेत्र में नजदीक रहे आचार्य को सब कहकर चार पाँच आदि अन्य साधुओं के द्वारा आग्रह करवाकर बल-जबरदस्ती से शब्द लिखाकर के लेना चाहिए ।" "हे भगवन्त ! यदि इस प्रकार से भी वह कुगुरु शब्द न लिखकर दे तो क्या करना चाहिए ?" "हे गौतम ! यदि इस प्रकार से भी वह कुगुरु शब्द नहीं लिख कर दे तो उसे से संघ बाहर कर देना चाहिए ।" इत्यादि ।

इस तरह से कुगुरु का त्याग भी, अन्य गण-समुदाय का जब आश्रय मिलने वाला हो तब ही, विधिपूर्वक करना उचित गिना जाता है, अन्यथा त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि बृहत्कल्प सूत्र के अन्दर उद्देश ४, सूत्र २३वें में कहा है कि-

"भिक्खू अ गणा ओ अवक्कमं इच्छेज्जा अन्न गणं संमो गवडि आए उवसंप- ज्जित्ताणं विहरित्तए, नो से कप्पइ से अणा पुच्छित्ता अणायरिअं वा, जाप अन्नं गणं संभेग वडिआए उवसंप ज्जित्ताणं विहरिचए, कप्पइ से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आपुच्छित्ता आयरिअ (वा) जाव विहरित्तए, ते अ से णो विरंति एवं सेणो कप्पइ जाव विहरित्तए, जत्थुत्तरिअं धम्म विणयं न लभेज्जा, एवं स णो कप्पइ अन्नं गणं जाव विहरित्तए'' त्ति ॥

अर्थात् - ''यदि कोई साधु अपने गच्छ में से निकल कर अन्य गच्छ के साथ में आहार-पानी आदि का सम्बन्ध करना चाहे तो उसे आचार्य-उपाध्याय-गणी-प्रवर्त्तक-गणावच्छेदक के पूछे बिना अन्य गच्छ के साथ आहार पानी (भोजन) आदि के सम्बन्ध करने के लिए, उसका स्वीकार करना, जब तक उनके साथ में रहना अथवा विचरणा नहीं कल्पता, किन्तु आचार्य आदि को पूछकर उनकी अनुमति प्राप्त करके आहार पानी आदि का व्यवहार करना, साथ में रहना या विचरणा कल्प सकता है। वे आचार्य आदि यदि उसे आज्ञा दें तो वैसा करना कल्पता है और यदि वे आज्ञा न दें तो नहीं कल्पता । जहां उत्तरिक अर्थात् विशेष-विशिष्ट धर्म का-विनय का सारणा-वारणादि का लाभ होने वाला हो, वहां अन्य गच्छ स्वीकार करना चाहिए अर्थात् साथ में रहना, साथ में विहार आदि कल्पता है, परन्तु जहां उत्तर धर्म का अर्थात् विशेष विनयादि अथवा सारणा-वारणादि का लाभ न होता हो, वहां जाना, रहना, स्थिरता करना नहीं कल्पता ।''

अन्य गच्छ में सक्रमण-प्रवेश करने के चार विभाग होते हैं- १. संवेगी साधु संवेगी गच्छ में प्रवेश करे, २. संवगी साधु असंवेगी गच्छ में जाय, ३. असंवेगी साधु संवेगी गच्छ में जाय और ४. असंवेगी साधु असंवेगी गच्छ में संक्रमण करे । उसमें पहले विभाग में जितने संवेगी से अलग-दूर रहे, उसके पहले दिन से लेकर जहां तक जाय वहां जब तक आचार्यादि के समक्ष विहारादि की आलोचना न करे, तब तक अशुद्ध और जब आलोचना करे तब से शुद्ध समझना । दूसरे विभाग में असंवेगी पासत्थादि का आश्रय लेने से ज्ञानादि गुणों का नाश आदि बहुत से दोष लगते हैं, तीसरे विभाग में असंवेगी होते हुए भी जाने वाला यदि गीतार्थ हो तो स्वयं महाव्रतों का उच्चारण कर मार्ग में ही पूर्व की दूषित उपधि को छोड़ दे, नयी उपधि प्राप्त कर अन्य गच्छ में जाय और अगीतार्थ हो तो वहां जाकर गुरु के द्वारा व्रतों को स्वीकार करके पहले की दूषित उपधि का जब त्याग करता है तब शुद्ध होता है और चौथे विभाग में संक्रमण-प्रवेश करने में ही अविधि है, इत्यादि विस्तार पूर्वक जानकारी बृहत्कल्प के चौथे उद्देश की भाष्य गाथा ५४५८ वीं से तथा अन्य ग्रन्थों से जान लेना। इस विषय में अधिक विस्तार का प्रयोजन नहीं है । अब 'स्वलब्धिक साधु' की योग्यता का वर्णन करते हैं-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दीक्षावयः परिणतो, धृतिमान नुवर्त्तकः ।
स्वलब्धि योग्यः पीठादि-ज्ञाता पिण्डैषणादि वित् ॥१३६॥

मूलार्थ- ''दीक्षा और वय से पूर्ण, धैर्यवान्, सर्व का अनुवर्तन करने वाला, बृहत्कल्प सूत्र की पीठिका की निर्युक्ति आदि का तथा पिण्डेषणादि का जानकार साधु 'स्वलब्धिक' कहा जाता है ।''

व्याख्या-दीक्षार्थी और उम्र से परिणत अर्थात् चिरदीक्षित एवं प्रौढ़ उमर वाला, धृतिमान अर्थात् संयम मार्ग में अच्छी तरह से स्थिर चित्त, अनुवर्तक अर्थात् शिष्यादि सर्व के चित्त को अनुकूल वर्तन करने वाला-कराने वाला, पीठ अर्थात् वृहत्कल्प सूत्र की पीठिका आदि ग्रन्थों के अर्थ का जानकार तथा आहारादि की शुद्धि-अशुद्धि आदि को समझने वाला साधु 'अपनी लब्धि-शक्ति से आहार, पानी, वस्त्रादि की प्राप्ति के लिए योग्य' कहा गया है । अर्थात् पूर्व में उसे जिस वस्त्र-पात्रादि की प्राप्ति हुई हो उसकी गुरु शुद्ध-अशुद्ध आदि परीक्षा करे, उसके बाद शुद्ध गिनी जाती है । अब उपर्युक्त योग्यता के कारण से स्वयं परीक्षा करने की योग्यता प्राप्त होनी चाहिए, ऐसा इसका भावार्थ समझना ।

अब उसकी ही विहार विधि कहते हैं-

ऐसोऽपि गुरुणा सार्द्धं, विहरेद्वा पृथग्गरोः ।
तद्दत्ताई परिवारोऽन्यथा, वा पूर्ण कल्प भाग् ॥१४०॥

मूलार्थ- ''यह स्वलब्धिमान भी साधु गुरु के साथ में अथवा गुरु द्वारा दिए योग्य शिष्य परिवार के साथ में या अन्य रूप में, पूर्ण कल्प वाला गुरु से अलग भी विचरण करे ।''

व्याख्या- गुरु की लब्धि से पराधीन तो गुरु महाराज के साथ में विहार करे, परन्तु पूर्व कहने के अनुसार स्व-लब्धिवान साधु भी उत्सर्ग मार्ग से गुरु के अर्थात् अपनी लब्धि से आहार-वस्त्रादि लाने के लिए अनुज्ञा देने वाले आचार्य के साथ में विचरण करे-ग्रामानुग्राम विहार करे । इसमें अपवाद कहा है कि-जिसको गुरु महाराज ने योग्य शिष्य परिवार साथ में दिया हो वही अलग विचरण कर सकता है । उसमें भी अपवाद मार्ग कहते हैं कि-'अन्यथा' अर्थात् गुरु ने योग्य परिवार साथ में जब नहीं दिया हो, तब यदि स्वयं पूर्ण कल्प अर्थात् समाप्त कल्प हो जाय तो अलग विचरण करे । समाप्त कल्प का स्वरूप पंचकल्प की गाथा में व्यवहार भाष्य उ० ४/१५ तथा पंचवस्तुक में इस तरह कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाओ अ अजाओ अ, दुविहो कप्पो उ होइ णायव्वो ।
एक्किक्कोऽवि अ दुविहो, समत्त कप्पो अ असमत्तो ॥१३२८॥

अर्थात्- ''जात और अजात – इस तरह दो प्रकार का कल्प होता है, अर्थात् विचरने का सम्यग् आचार है । उसमें 'जता' अर्थात् श्रुतज्ञान रूपी संपत्ति युक्त होने से जिसने आत्म लाभ प्राप्त किया हो ऐसे साधु मुनिराज । उससे अभिन्न होने से कल्प को भी 'जात' कहा है । इससे विपरीत अर्थात् इस प्रकार श्रुत ज्ञान रूपी संपत्ति प्राप्त नहीं करने वाला साधु का कल्प 'अजात' कल्प जानना । इन दोनों के दो-दो भेद होते हैं - एक समाप्त कल्प और दूसरा असमाप्त कल्प । उसमें समाप्त कल्प अर्थात् साधु आदि का परिपूर्ण सहायक वाला और असमाप्त कल्प-इससे विपरीत-पूर्ण सहायक रहित समझना । इन 'जात' आदि चार की व्याख्या करते हैं । व्यवहार भाष्य ४/१६ तथा पंचवस्तुक में कहा है कि-

गीअत्थ जाय कप्पो, अग्गीओ खलु भवे अजाओ उ ।
पणगं समत्त कप्पो, तदूणगो होइ असमत्तो ॥१३२९॥

उउबद्धे वासासु उ, सत्त समत्तो तद्णगो इयरो ।
असमत्ता जा याणं, ओहेण ण होइ आहव्वं ॥१३३०॥

अर्थात्- ''गीतार्थ के साथ में साधु का जो विहार होता है उसे 'जात कल्प' कहते हैं क्योंकि उसे गीतार्थ रूप में विचरण का अधिकार स्पष्ट रूप में मिलता है । इससे विरुद्ध अगीत = अगीतार्थ रूप में-गीतार्थ की सहायता के बिना विचरण करे उसे 'अजात कल्प' समझना क्योंकि सूत्रार्थ पूर्ण नहीं होने से वह स्वतन्त्र विचरण करने के लिए अनाधिकारी है । उसमें १३३० वीं गाथा में '**उउबद्धे**' पद है, उसका यहां सम्बन्ध होने से 'ऋतुबद्ध' अर्थात् वर्षा ऋतु से अलग आठ महीने में जघन्य से पांच साधुओं के साथ में जो विचरते हैं उनको समाप्त कल्प कहलाता है और इससे कम- दो, तीन या चार साधुओं के साथ में जो विचरते हैं उनका कल्प 'असमाप्त' अर्थात् पूर्ण सहायता बिना का- अपरिपूर्ण कहलाता है । वर्षा काल में तो जघन्य से सात साधुओं के साथ में जो रहे- वह 'समाप्त कल्प' और इससे न्यून- दो से छह साधुओं के साथ में रहे तो वह 'असमाप्त कल्प' समझना । इस तरह सात साधुओं के साथ में रहने का कारण यह है कि-वर्षा ऋतु में यदि किसी को बीमारी आदि हो तो दूसरे साधु सहायता में आ नहीं सकते, तब उनको अल्प सहायता का निमित्त नहीं होता है इसलिए । वर्षाकाल में कम से कम सात और शेष काल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में पांच संख्या में साथ में विचरना चाहिए। क्योंकि यदि इससे कम हों तो आहारादि लेने के लिए, स्थंडिल भूमि में जाने के समय अथवा अन्य कार्य के समय बाहर जाते हुए अकेले साधु को जाना होता है। दो-दो साथ में जाने से उपाश्रय में कोई न रहे। गीतार्थ होने पर भी गुरु को उपाश्रय में अकेला रहना पड़ता है। अकेले स्त्री आदि का या प्रत्यनीक आदि का भय रहता है। वस्त्र-पात्र आदि उपधि के चोर आदि चोरी कर जायें, और यदि कोई बीमार साधु हो तो वैयावच्चादि नहीं हो सकती, इत्यादि अनेक विघ्न आते हैं। इस कारण से समाप्त कल्प से विचरना चाहिए। साध्वी को तो सामान्यतया भी संयम की रक्षा दुष्कर होने से साधु से द्विगुणा संख्या में विचरण करना चाहिए। अतः जात कल्प और समाप्त कल्प की व्यवस्था संयम की रक्षा के लिए अति उपयोगी होने से आत्मार्थी को उसका पालन करना हितकारी है और शासन प्रभावना आदि विशेष लाभदायक होता है।

इस कारण से असमाप्त कल्प वाले और अजात कल्प वाले साधु को उत्सर्ग मार्ग में वे जहां रहें वह क्षेत्र अथवा वहां से प्राप्त हुआ शिष्य-आहार-पानी-वस्त्र-पात्र आदि कुछ भी शास्त्र प्रसिद्ध व्यवहार से 'आभव्य' अर्थात् उसके मालिक का नहीं होता, मतलब यह है- अगीतार्थ और अपूर्ण संख्या वाले साधु जहां विचरते हैं, वहां से उनको मिली वस्तुओं में अथवा क्षेत्र में उनका अधिकार नहीं माना जाता। वह अधिकार किसका, किस तरह माना जाता है ? पंच वस्तुक में कहा है कि-

हवइ समत्ते कप्पे, कयम्मि अन्नोन्न संग याणंपि ।
गीय जुआणा भव्वं जहसंगारं दुवेण्हं पि ॥१३३१॥

अर्थात्- "भिन्न-भिन्न कुल, गण आदि के आसंभोगिक साधु भी परस्पर गीतार्थ सहित जब मिलें, तब उनको जो जो शिष्य, वस्त्र, पात्र, आहार आदि मिलें, वह उनको किए संकेत के अनुसार गीतार्थ या अगीतार्थ मालिक वाला होता है या गिना जाता है।"

कल्प अर्थात् व्यवस्था, उसके दो भेद हैं- १-जात और २-अजात। उसमें जिस साधु वर्ग के नायक गीतार्थ हों वह जात कल्प है और जो अगीतार्थ की निश्रा वाला साधु समूह हो उसे अजात कल्प समझना। इन दोनों के भी समाप्त और असमाप्त- दो भेद होते हैं। जिसमें ऋतु बद्ध काल में कम से कम पांच और चौमासे में सात साधु साथ में रहें वह समाप्त और जो इससे कम साधु की संख्या वाला हो उसे असमाप्त कल्प समझना। यहां कहने का आशय है कि जो जात कल्प और समाप्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कल्प हो उसे तो शिष्य, वस्त्र, पात्रादि जो मिले वह उसका माना जाता है परन्तु यदि समाप्त न हो ऐसे भिन्न-भिन्न कुल-गण के साधु किसी क्षेत्र में एकत्रित हों वहां शिष्य-वस्त्र-पत्रादि मिले उसकी व्यावस्था यह है कि भिन्न-भिन्न कुल-गण आदि के भी थोड़े-थोड़े साधु एकत्रित मिलने से समाप्त कल्प होता है और उन दोनों के नायक गीतार्थ होने से जात कल्प होता है तब तो वे गीतार्थ स्वयं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के ज्ञाता होने से परस्पर संकेत करें, उसके अनुसार आभाव्य गिना जाता है। यदि दोनों समूह में एक का नायक गीतार्थ हो और दूसरे का अगीतार्थ हो तो भी परस्पर किए संकेतानुसार आभाव्य समझना, तथा दोनों समूह का नायक अगीतार्थ होने से अजात कल्प होता है तब भी उनका परस्पर किए संकेतानुसार आभाव्य समझना। इस तरह से स्वलब्धि के विहार की विधि जानना।

अब साध्वी सम्बन्धी विषय कहते हैं। साध्वी भी शेष साध्वियों में से गुणों में जो अधिक हो तथा दीक्षा पर्याय और उम्र से परिणत-प्रौढ़ हो, उसे स्वलब्धि के लिए योग्य कहा है। पंच वस्तुक में कहा है कि-

वइणी वि गुण गणेणं जा अहिआ सेस वइणीणं।
दिक्खासु आइणा परिणाया, य जोग्गा सलद्धीए ॥१३३२॥

अर्थात्- "साध्वी भी अन्य सर्व साध्वियों में गुण समूह से जो अधिक गुण वाली और दीक्षा पर्याय तथा श्रुत ज्ञान से परिणत-प्रौढ़ हो वह स्वलब्धि के लिए योग्य है।"

यहां कोई यह कहता है कि साध्वियों को स्वलब्धि नहीं होती, क्योंकि उनको प्रायः वस्त्रादि सर्व गुरु की परीक्षा से ही लेना होता है, क्योंकि स्वलब्धि से वस्तु लेने से उनको लाघव-अपमान-अनादर जन्य दोष अवश्य लगता है। उसका उत्तर देते हैं कि तुम्हारा कथन सम्यग् नहीं है, क्योंकि शिष्या या भिक्षा आदि स्व उचित वस्तु प्राप्ति में उनको अवश्य स्वलब्धि होती है तथा वह सबको नहीं परन्तु परिणत उम्र वाली प्रौढ़ साध्वी को यह स्वलब्धि रूप कल्प परम्परागत है अर्थात् प्रौढ़ साध्वी को यह अधिकार आचरित है और योग्य पात्र-प्रौढ़ गुण वाली को इससे लघुता आदि दोष भी नहीं लगते। इस विषय में प्रश्नोत्तर पूर्वक पंच वस्तु में कहा है कि-

केइ ण होइ सलद्धी, वयणीणं गुरु परिक्खियं तासिं।
जं सव्वमेव पायं, लहु सगदोसा य नियमेणं ॥१३३३॥

तं च ण सिस्सिणि गाओ, उचिए विसयंमि होइ उवलद्धी।
कालायरणाहिं तह, पत्तं मि ण लहुत्त दोसा वि ॥१३३४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''कोई प्रश्न करता है कि साध्वी को स्वलब्धि नहीं होती क्योंकि उनको प्राय: शिष्या, भिक्षा या वस्त्रादि सर्व गुरु से परीक्षा कराके लेना होता है, स्वत: लेने में उनको अवश्य लघुता आदि दोष लगता है। उसका उत्तर देते हैं कि-यह कथन योग्य नहीं है, क्योंकि शिष्या या भिक्षा आदि उचित वस्तु लेने का उनको अधिकार होता है, उन्हें अधिकार नहीं होता- ऐसा नहीं है तथा काल और आचरण से परिणत वय वाली साध्वी द्वारा यह आचरित है और जहां लेने वाला योग्य पात्र हो वहां लघुता रूप दोष भी नहीं होते।''

साध्वी को बहुत दोषों की संभावना होने से जात कल्प और समाप्त कल्प के विषय में सूत्रानुसार साधु से 'द्विगुणा' आदिक विभाषा करनी चाहिए अर्थात् समाप्त कल्प के विषय में साध्वियों को साधुओं के समान संख्या नहीं समझना। वहीं पंच वस्तुक में कहा है कि-

जाय समत्त विभासा, बहुतर दोसा इमाण कायव्वा।
सुत्ताणु सारओ खलु, अहिगाइ कयं पसंगेणं ॥१३३५॥

अर्थात्- ''साध्वियों को संयम में बहुत ज्यादा दोषों की संभावना होने से जात कल्प और समाप्त कल्प में सूत्रानुसार संख्या से दो गुणा अधिक आदि विभाषा है। इसलिए विशेष कहने से क्या प्रयोजन ?'' यहां तक अनुयोग और गण की अनुज्ञा रूप सापेक्ष यति धर्म विस्तार पूर्वककहा। अब शेष दो पदों की अनुज्ञा का अर्थात् अति देश सूचना रूप कहते हैं-

उपाध्याय पदादीनाम्प्यनुज्ञैवमेव च।
गीतार्थत्व गुणस्तुल्य स्तेषु व्यक्तया त्वमी क्रमात् ॥१४१॥

मूलार्थ- ''उपाध्याय पद आदि अन्य पदों की अनुज्ञा भी इसी तरह से करना चाहिए। गीतार्थ रूप का गुण समान देखकर उसके उपरान्त व्यक्तिगत गुण कैसा होना चाहिए- वह क्रमश: इस प्रकार प्रकार समझना।''

व्याख्या- उप = जिसके समीप में आकर शिष्य अध्येति = अध्ययन करे, वह उप + अध्याय = उपाध्याय और उसका पद वह 'उपाध्याय पद' है। आदि शब्द से प्रवर्त्तक, स्थविर और गणावच्छेदक पद भी समझना। केवल आचार्य पद की नहीं, 'अपि' शब्द से उस पद की अनुज्ञा भी इसी प्रकार से अर्थात् गणी पद की अनुज्ञा अनुसार ही जानना। यह अनुज्ञा लेना-देना, वह लेने वाले और देने वाले दोनों का सापेक्ष यति धर्म है, इस तरह वाक्य सम्बन्ध जोड़ना। कहने का भावार्थ यह है कि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपाध्याय पद आदि चारों पदों की अनुज्ञा की सारी विधि गण की अनुज्ञा की विधि के अनुसार समझना। केवल उपाध्याय पद देते समय जिसको पद देना हो, उस शिष्य का आसन करना तथा नंदि सूत्र कहने के बाद गुरु को लग्न समय में दाहिने कान में बृहद्वर्धमान विद्या रूप नीचे के मंत्र को तीन बार सुनाना चाहिए।

"ॐ नमो अरिहंताणं, ॐ नमो सिद्धाणं, ॐ नमो आयारियाणं, ॐ नमो उवज्झायाणं, ॐ नमो सुव्वसाहूणं, ॐ नमो ओहि जिणाणं, ॐ नमो परमोहि जिणाणं, ॐ नमो सव्वोहि जिणाणं, ॐ नमो अणंतोहि जिणाणं, ॐ नमो अरहओ भगवओ महावीरस्स, सिज्झउ मे भगवई महई महाविज्जा, वीरे वीरे महावीरे जयवीरे, सेण वीरे वद्धमाण वीरे जए विजए जयं ते अपराजिए अणिहए ॐ ह्रीं स्वाहा ॥"

उपाध्याय को चतुर्थ भक्त तप करके एक हजार बार जाप करने साधना करके इस मन्त्र की साधना करनी चाहिए। प्रव्रज्या, उपस्थापना, गणीपद, भोग, प्रतिष्ठा और अनशन इत्यादि कार्यों में इस मन्त्र का सात बार जाप करके वास निक्षेप करने से उस अधिकार का-स्वरूप कार्यों का पार होता है और पूजा-सत्कार को प्राप्त करता है।

प्रवर्त्तक, स्थविर और गणावच्छेदक पद की अनुज्ञा में भी इसी तरह करना, केवल उनका आसन नहीं करना। मन्त्र रूप में नीचे की वर्द्धमान विद्या सुनाना। वह इस प्रकार से है-

"ॐ नमो अरिहंताणं, ॐ नमो सिद्धाणं, ॐ नमो आयरियाणं ॐ नमो उवज्झायाणं, ॐ नमो लोए सव्व साहूणं, ॐ नमो अरहओ भगवओ महर महावीर वद्धमाण सामिस्स, सिज्झउ मे भगवई महई महाविज्जा वीरे वीरे महावीरे जयवीरे सेण वीरे वद्धमाण वीरे जए विजए जयं ते अपराजिए अणिहए ॐ ठः ठः ठः स्वाहा ॥" इति

ये पांचों आचार्यादि पदस्थ यदि पर्याय से छोटे हों फिर भी पर्याय से बड़े भी अन्य साधुओं के वे वंदनीय हैं, क्योंकि कहा है **"ए ए ओ मा वि वंदिज्जंति"** अर्थात् 'पदस्थ यदि कम पर्याय वाला हो फिर भी उनको वंदन करना चाहिए।' ऐसा आगम का प्रमाण है। और भी कहा है कि-

तत्थ न कप्पइ वासो, गुणागारा जत्थ नत्थि गच्छं मी ।
आयरिअ उवज्झाए, पवित्ती थेरे अ रा णिए ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''साधु को वहां नहीं रहना कल्पता कि जिस गच्छ में गुणों की खान समान आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और रत्नाधिक-गणावच्छेदक नहीं हें।'' यह पांच पदस्थ जिसमें हों उसी गच्छ को प्रमाणिकता रूप कहा है। यति दिनचर्या में भी कहा है कि-

सो किं गच्छो भन्नइ, जत्थ न विज्जंति पंच वरपुरिसा।
आयरिय उवज्झाया, पवत्ति थेरा गणावच्छा ॥१०२॥

अर्थात्- ''आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक और गणावच्छेदक- ये पांच उत्तम पुरुष जिस गच्छ में नहीं हैं, वह कुत्सित गच्छ कहलाता है। वह गच्छ गच्छ नहीं है।''

जैसे लौकिक राज्य व्यवस्था के लिए प्रजा में से विशिष्ट व्यक्ति को अधिकारी पद स्थापना करने में आता है और प्रजा उसकी विनय-गौरव आदि करती है वैसे ही लोकोत्तर शासन की व्यवस्था के लिए भी इसी मार्ग की आवश्यकता है। इस कारण ही साधु मंडल में जो गुणों से विशिष्ट योग्य हो उस साधु की योग्यता अनुसार आचार्य-उपाध्याय-प्रवर्त्तक आदि पद का अधिकार दिया जाता है। अधिकारी बना वह पर्याय से भले ही छोटा हो परन्तु गुणों से बड़ा होता है, इसलिए शेष साधुओं को वह वंदनीय-माननीय होता है यह युक्ति संगत है। उनकी सहायता से अपने संयम जीवन की रक्षा कर सकता है। इसलिए प्रत्येक गच्छ में ये पांच पदस्थ-गच्छ पालक होने चाहिएं। इन पदस्थों से गच्छ की शोभा है एवं पदस्थ को भी रत्नाधिक साधु की अवगणना नहीं करनी चाहिए परन्तु उनकी ओर बहुमान और विनय वृत्ति दिखानी चाहिए। जैसे राजा बना हुआ पुत्र भी पितादि के विनय को नहीं छोड़ता, केवल राज्य भार संभालने के लिए स्वयं राजा माना जाता है- वैसे ही यहां भी पदस्थ साधु को पर्याय ज्येष्ठ साधु के प्रति विनय वृत्ति अखंड रखनी चाहिए तथा राजा जैसे प्रजा की पिता समान वात्सल्य से संभाल करता है वैसे ही छोटे बड़े सर्व साधुओं की वात्सल्य भाव से रक्षा करनी चाहिए। ये पांच पदस्थ जिस गच्छ में न हों वह गच्छ कुत्सित-बुरा है, अर्थात् इन पांचों पदस्थों की सहायता बिना शेष साधु स्व कल्याण साध नहीं सकते। जैसे धनवान के धन की रक्षा के लिए राज्याधिकारी की अपेक्षा रहती है वैसे संयम धन की रक्षा के लिए आचार्य-उपाध्याय आदि पांचों पदस्थों की सहायता की आवश्यकता होती है। उनकी सहायता बिना ज्ञानादि गुणों की रक्षा या प्राप्ति नहीं होती। इस तरह संयम जीवन की साधना के लिए पदस्थ अति महत्वपूर्ण हैं। इससे दोनों का कल्याण है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस उपाध्याय पद आदि की अनुज्ञा कैसे मुनिवर को की जाती है ? उसके लिए जानने योग्य गुणों को कहते हैं कि उस उपाध्याय पद आदि को स्वीकार करने वाले मुनि में गीतार्थ रूप का गुण सदृश सर्व में साधारण रूप में होना चाहिए अर्थात् ये चारों पद सामान्यतया गीतार्थ को ही दे सकते हैं। इसके उपरान्त कौन से गुण होने चाहिएं वह अनुक्रम से उपाध्यायादि चार पदों को स्वीकार करने वाले के विशेष व्यक्तिगत गुण जानना। उन गुणों को ही गुणी के वर्णन से चार श्लोक में क्रमानुसार कहते हुए मूल ग्रंथकार उपाध्याय पद के योग्य गुण कहते हैं-

सम्यकत्व ज्ञान चारित्र-युगाचार्य पदोचितः ।
सूत्रार्थ विदुपाध्यायो, भवेत् सूत्रस्य वाचकः ॥१४२॥

भावार्थ- "सम्यकत्व, ज्ञान और चारित्रवान्, भविष्य में आचार्य पद के योग्य (युगाचार्य), सूत्र तथा अर्थ का ज्ञाता एवं सूत्रों की वाचना देने वाले-पढ़ाने में कुशल इत्यादि गुणों से जो युक्त हो वह साधु उपाध्याय पद के योग्य होता है।" अब प्रवर्त्तक के गुणों का वर्णन करते हैं कि-

तपः संयम योगषु, योग्यं यो हि प्रवर्त्तयेत् ।
निवर्त्तयेदयोग्यं च, गणचिन्ती प्रवर्त्तकः ॥१४३॥

भावार्थ- "तप, संयम आदि प्रशस्त कार्यों में जिसमें जो योग्यता हो उसे उसमें जोड़ने-लगाने वाला और अयोग्य को रोकने वाला- इस तरह गच्छ की चिन्ता करने वाला-संचानक साधु प्रवर्त्तक पद के योग्य गिना जाता है।" अब स्थविर के योग्य गुण कहते हैं कि-

तेन व्यापारितेष्वर्थें एव नगारांश्च सीदतः ।
स्थिरी करोति सच्छक्तिः स्थविरो भवतीह सः ॥१४४॥

भावार्थ - "प्रवर्त्तक के द्वारा तप, संयम आदि कार्यों में लगाने पर यदि साधु प्रमाद आदि के कारण सम्यग् प्रकार से वर्तन न करते हों तो उन साधुओं को उचित उपायों से जो स्थिर करे, दृढ़ बनाये, उस गुण रूपी सुन्दर सामर्थ्य वाले को श्री जिन मत में 'स्थविर' कहा है, अन्य को नहीं कहा।" इस तरह भाव समझना। अब गणावच्छेदक के योग्य गुणों का वर्णन करते हैं-

प्रभावनोद्भावनयोः क्षेत्रोपध्येषणासु च ।
अविषादी गणावच्छेदकः सूत्रोर्थ विन्मतः ॥१४५॥

मूलार्थ- "शासन की प्रभावना करना, गच्छ के लिए दूर-दूर प्रदेश में विहार करना, क्षेत्र, वसति, उपधि और आहारादि की शुद्धि गवेषणा करना इत्यादि कार्यों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में खेद नहीं करने वाला तथा सूत्र-अर्थ का जानकार साधु गणावच्छेदक कहा जाता है।''

व्याख्या- जो साधु 'प्रभावना' अर्थात् श्री जैन शासन की विशिष्ट महिमा फैलाना और 'उद्भावन' अर्थात् गच्छ के उपकार के लिए दूर-दूर क्षेत्र आदि में शीघ्रमेव जाना आना- इन दो में तथा 'क्षेत्र' अर्थात् गांव-शहर आदि योग्य स्थान और 'उपधि' कपड़े, पात्र, औषध आदि इन सर्व की 'गवेषणा' अर्थात् निर्दोष प्राप्ति करने में, इत्यादि प्रत्येक कार्य में खेद (श्रम) नहीं प्राप्त करने वाला-समर्थ, तथा सूत्रार्थ का जानकार अर्थात् स्व स्व काल आदि की अपेक्षा से उचित सूत्र और अर्थ का ज्ञाता इत्यादि गुण वाला हो, उसे श्री जिनेश्वरों ने 'गणावच्छेदक' कहा है, गुण रहित को नहीं कहा। इस तरह भाव समझना।

ऊपर के गुणों के अनुलक्षण से ही इन पांचों को असाधारण-विशिष्ट और भिन्न भिन्न अधिकारी इस तरह बताया है। यदि दिनचर्या में कहा है कि-

गच्छे अत्थं सुत्तं तवपमुहं तत्थ चेव य थिरत्तं।
खित्तो वहि गहणाई, सूरिप्पमुहा पसाहं ति ॥१०४॥

अर्थात्- ''गच्छ में आचार्य आदि पदस्थों में अनुक्रम से आचार्य अर्थ पढ़ाते हैं, उपाध्याय सूत्र पढ़ाते हैं, प्रवर्त्तक तप आदि में जोड़ते हैं, स्थविर शिथिल को स्थिर करते हैं और गणावच्छेदक क्षेत्र-उपधि आदि संयम के साधन प्राप्त करवा कर देते हैं। इस तरह अधिकार के अनुसार कार्यों को साधन करते हैं।''

यहां प्रसंगानुसार वाचनाचार्य पदवी भी इसी तरह ही समझ लेना। ये वाचनाचार्य गुरु की अनुमति से आचार्य के समान सर्व कार्य कर सकते हैं। वन्दन के विषय में तो पर्याय से जो बड़ा हो उसे बड़ा समझना अर्थात् लघु पर्याय वाला ही उनको वंदन करे। गोचरी जाने का भी वाचना चार्य को निषेध नहीं है। अनुयोगाचार्य पद से सर्व सूत्र-अर्थ के व्याख्यान का अधिकार प्राप्त होता है और इस पद को प्राप्त करने की उसकी विशिष्ट योग्यता के योग से भविष्य में दिगाचार्य अर्थात् गणी-गच्छाचार्य पद दे सकते हैं, उपाध्याय पद भी इसी तरह ही विशिष्ट योग्यता वाले को दिया जाता है।

तथा पूर्व में जिसका स्वरूप कहा गया है उस प्रवर्त्तिनी को आगम की परिभाषा के अनुसार 'अभिषेका' भी कहते हैं। इस पद देने की सारी विधि महत्तरा के विधि अनुसार समझना। केवल मंत्र रूप में 'वद्धमान विधा' और पर्याय क्रम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से कम पर्यायवाली ही साध्वी उसे वंदन करे– इतना भेद समझना।' वासक्षेप करना' इत्यादि महत्तवा पद की सारी विधि भी उपाध्याय पद के समान ही जानना। यह महत्तरा पद भी सर्व साध्वियों के लिए वंदनीय समझना अर्थात् दीर्घ पयार्य वाली साध्वी भी महत्तरा को वंदन करे। साध्वी समूह में भी गच्छाचार्य के समान सब की रक्षा करने वाली मुख्य साध्वी महत्तरा होती है। महत्तरा पद देकर उसे इस तरह से हित शिक्षा देना कि 'सर्वज्ञ परमात्मा ने उपदेश में इस 'महत्तरा पद' को सर्वश्रेष्ठ फल देने वाला कहा है। आर्या ब्राह्मी, आर्या सुन्दरी और चन्दन बाला आदि महा सतियों ने उसकी सम्यक् प्रकार से आराधना की है और सर्व पदों में वह श्रेष्ठ पद है। इसलिए संसार से भयभीत तुम्हारी शरण में आयी अन्य साध्वियों का तुम्हें सारणा, वारणा, नोदना और प्रतिनोदना आदि के द्वारा रक्षण करना चाहिए' अन्य साध्वियों को भी इस तरह हित शिक्षा देना कि 'किसी कार्य के समय में यदि उलाहना दे फिर भी कुलवधु जैसे पति को नहीं छोड़ती, वैसे तुम्हें इस महत्तरा का शरण जीवन तक नहीं छोड़ना चाहिए। ज्ञान के भंडार समान इस महत्तरा के आदेश से विरुद्ध वर्तन कभी भी नहीं करना चाहिए। इस तरह उनकी आज्ञा के पालन से तुम्हारा गृहस्थवास त्याग करना भी सफल होगा।' इत्यादि प्राचीन समाचारी १६ द्वारा जान लेना।

यहां तक 'गच्छ की अनुज्ञा' आदि विस्तारपूर्वक कहा है, अब शेष सापेक्ष यति धर्म की आराधना के लिए काल के विषय में कहते हैं–

विधिना गुर्वनुज्ञात-गण्य दि पद पालनम्।
तावद्यावच्च चरम-कालो न स्यादुपस्थितः ॥१४६॥

मूलार्थ– ''विधि पूर्वक गुरु महाराज द्वारा दिये गये गणी पद आदि पदों का पालन वहां तक करना चाहिए कि जहां तक अंत काल नजदीक नहीं आता है, तब तक करता रहे।''

व्याख्या– गुरु अर्थात् अनुज्ञाचार्य ने आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणावच्छेदक और प्रवर्त्तिनी आदि जो जो पद–अधिकार दिया हो उसका सुन्दर रूप पालन यावत्जीवन अर्थात् अन्तिम समय तक करना चाहिए। इस तरह करते हुए अन्त में क्या करना चाहिए ? उसे कहते हैं कि–

उपस्थितेऽथ तस्मिंस्तु, सम्यग् संलेखना कृतिः।
सा चोत्कृष्टादि भेदेन, त्रिंविधा गदिता जिनैः ॥१४७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूलार्थ-''उसके बाद वह अंतकाल उपस्थित होते ही सुन्दर संलेखना करना चाहिए। यह संलेखना श्री जिनेश्वर ने 'उत्कृष्ट' आदि के भेदों से तीन प्रकार से कहा है।''

व्याख्या- गणी आदि पदों का पालन करने के बाद जीवन का अन्तिम काल जब आ जाय, तब यह विशिष्ट कार्य करना चाहिए। वह कहते हैं कि-'सम्यक्' अर्थात् अब आगे सम्यग् प्रकार वह कहेंगे। 'संलेखना' अर्थात् जिससे 'देह कषाय' आदि की संलेखना हो यानि कषाय, शरीर आदि जिससे घिसते हों-क्षीण होते हों, ऐसी तप क्रिया करना। ऐसी तपस्या को अंतकाल में करना, वह सापेक्ष यति धर्म है, इस तरह अर्थ का सम्बन्ध जानना। यद्यपि सारी तप की क्रिया कषाय आदि को निर्बल करने वाली है ही, फिर भी यहां चरम (अन्तिम) काल में देह का त्याग करने के लिए जो तप क्रिया है उसे अन्य की अपेक्षा से विशिष्ट समझना अर्थात् वह ही संलेखना कहलाती है क्योंकि- गणिपद आदि का पालन करने के बाद, गच्छ के रक्षण पालन का उत्तरदायित्व पूर्ण होने पर साधु को अभ्युद्यत विहार-जिन कल्प आदि को स्वीकार करना अथवा अभ्युद्यत मरण (अनशन) स्वीकार करना ही उचित है। पंच वस्तुक में कहा है कि-

परिवालि ऊण विहिणा, गणि माइपयं जईण मिअमुचिअं।
अब्भुज्जु ओ विहारो, अहवा अब्भुज्जु अं मरणं ॥१३६॥

अर्थात्- ''साधु को विधिपूर्वक 'गणि पद' आदि का पालन करने के बाद अभ्युद्यत विहार अथवा अभ्युद्यत मरण स्वीकार करना उचित है।''

उसमें अभ्युद्यत विहार का स्वरूप सापेक्ष यति धर्म के बाद में निरपेक्ष यति धर्म के रूप में स्वतंत्र अलग कहा जायेगा। अभ्युद्यत मरण प्रायः संलेखनापूर्वक होता है, इसीलिए यहां प्रथम संलेखना कहते हैं। यह संलेखना गृहस्थ भी कर सकते हैं, किन्तु साधु-श्रावक दोनों की समान होने से गृहस्थ धर्म में नहीं वर्णन करते। साधु धर्म के प्रसंग पर उसका वर्णन किया है, इस तरह समझना। उसके भेद कहते हैं कि उस संलेखना के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य- तीन भेद श्री जिनेश्वरों ने कहे हैं। उसमें-

उत्कृष्ट संलेखना-बारह वर्ष का प्रमाण है। प्रथम चार वर्ष तक चतुर्थ भक्त, षष्ठ भक्त और अष्टम भक्त आदि विचित्र प्रकार का तप करके पारणा, सर्व काम-गुणवाले या पांच इन्द्रियों के पोषक और उद्गमादि दोषों से रहित-विशुद्ध आहार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से । उसके बाद दूसरे चार वर्षों तक इसी तरह विचित्र प्रकार का तप करे, किन्तु पारणा विगई से रहित निवि का आहार से करे । उसके बाद दो वर्ष तक एकान्तर आयंबिल करे अर्थात् एक दिन चतुर्थ भक्त उपवास और एक दिन आयंबिल- इस तरह उपवास का पारणा आयंबिल करे । इस तरह दस वर्ष बीतने के बाद ग्यारहवें वर्ष में प्रथम छह महीने चतुर्थ भक्त अथवा षष्ठ भक्त करे, अष्टम तप आदि अति विशेष कठोर तप न करे और पारण के दिन ऊणोदरि सहित आयंबिल तप करे । उसके बाद के छह महीने विकृष्ट अष्टम भक्त आदि उग्र तप करे और मृत्यु जल्दी न हो जाय इस कारण से पारणा में परिपूर्ण-जैसे तृप्ति हो वैसा आयंबिल करे, ऊणोदरि न करे और बारहवें वर्ष में कोटि सहित पच्चक्खान से अर्थात् बीच में तप किए बिना अखण्ड-हमेशा आयंबिल करे । निशीथ चूर्णी में कहा कि-

"दुवाल सयं वरिसं निरंतरं हायमाणं उसिणोदएणं आयंबिल करेइ, तं कोडि सहिअं भवइ, जेणायं बिलस्स कोडी कोडीए मिल इति ॥" अर्थात्- बारहवें वर्ष में हमेशा घटते हुए आहार से गरम पानी के साथ में आयंबिल करे, वह तप 'कोटि सहित' कहलाता है , क्योंकि पहले आयंबिल का छेड़ा-अन्तिम भाग दूसरे आयंबिल के पूर्व भाग के साथ में मिलता है अर्थात् एक आयंबिल पूर्ण होने के साथ में ही दूसरा आयंबिल करने से दोनों का भाग मिलता है- इसलिए वह कोटि सहित कहलाता है ।

इस बारहवें वर्ष में प्रतिदिन भोजन करने में एक एक कौर-कवल कम करते हुए आहार वहां तक कम करता जाय जब आखिर में एक कवल आहार करे । उसके बाद में एक कवल में से भी एक एक दाना घटाता जाय और आखिर में एक ही दाना खाने में उपयोग करे । जैसे दीप में तेल और बाट-बत्ती दोनों का क्षय एक साथ में हो, इसी तरह यहां शरीर बल और आयुष्य दोनों का क्षय एक साथ में होना चाहिए । इसलिए जैसे-जैसे आयुष्य भोगता जाय वैसे-वैसे शरीर को इस तरह घिसता जाय कि जिससे आखिर में शरीर भी पूर्ण रूप में घिस (खत्म) हो जाय ।

इस बारहवें वर्ष के अन्तिम चार महीने में संलेखना करने वाला एकान्तर- एक दिन के बाद दिन में तेल का कुल्ला-चिरकाल तक मुख में भरकर रखे, गले में न जाय यह ख्याल रखे, उसके बाद श्लेष्म के प्याले की भस्म (राख) में वह कुल्ला थूंककर मुख को गरम पानी से शुद्ध करे । यदि इस तरह से तेल का कुल्ला न करे तो वायु से मुख-जबड़ा सूख जाने से बन्द हो जाने का भय है और अन्तिम समय में श्री नवकार मंत्र का उच्चारण भी न हो सके । जिससे शान्ति सुख-पूर्वक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

महामंत्र का उच्चारण हो सके इसलिए तेल विधान कहा है। इस प्रकार यह परिपाटी से, अनुक्रम से बारह वर्ष तक का उत्कृष्ट संलेखना तप जानना।

मध्यम संलेखना- बारह वर्ष की उत्कृष्ट संलेखना करके शरीर संघयण (बल) जिसको न हो, उसके लिए मध्यम बारह महीने तक संलेखना करना चाहिए। जिससे आत्मा में समाधि रहे।

जघन्य संलेखना- उत्कृष्ट के समान जघन्य संलेखना बारह पखवारा तक करने को कहा है। इसमें तप करने की सर्व विधि-उत्कृष्ट के समान समझना। तात्पर्य यह है कि मध्यम में बारह वर्ष के स्थान पर बारह महीने और जघन्य में बारह वर्ष के स्थान में इतने पखवारे समझना। पंच वस्तुक में कहा है कि-

चत्तारि विचित्ताइं, विगई णिज्जूआइं चत्तारि ।
संवच्छरे उ दोण्णि उ, एगं तरिअ च आयामं ॥१५७४॥

णाइविगिट्ठो अ तवो, छम्मासे परिमिअं च आयामं ।
अण्णे वि अ छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवो कम्मं ॥१५७५॥

वासं कोडी सहिअं, आयामं तह य आणु पुव्वीए ।
संघयणादणुरूवं, एत्तो अद्धाइ नियमेण ॥१५७६॥

अर्थात्- "पारणे में विगइ के उपयोग पूर्वक चार वर्ष तक छट्ठ आदि विचित्र तप करे, चार वर्ष पारणा में विगइ बिना करे। उसके बाद दो वर्ष आयंबिल-उपवास एकान्तर करे। (१५८४) ॥ छः महीने अति कठोर तप न करे, उपवास-छट्ठ आदि करे और पारणे के दिन परिमित ऊणोदरी सहित आयंबिल करे। उसके बाद छह महीने विकृष्ट अष्टम आदि का तप करे, उसमें पारण आयंबिल परिपूर्ण करे। (१५७५) ॥ एक वर्ष कोटि सहित प्रतिदिन आयंबिल करे। उसमें क्रमशः आहार कम करता जाय। आखिरी चार महीने मुख में तेल का कुल्ला आदि करे। इस तरह संघयण-शक्ति आदि के अनुसार आधा अथवा आधे से भी आधा यानि छह, तीन वर्ष आदि की संलेखना करे (१५७६) ॥"

शरीर की संलेखना न करने से मांस आदि धातुओं के एक साथ क्षीण होने से मृत्यु काल में आर्त्तध्यान होता है और उपर्युक्त विधिपूर्वक क्रमशः थोड़ा-थोड़ा धातुओं को क्षीण करने से संसार रूपी वृक्ष की बीज भूत आर्त्तध्यान न हो इस कारण से संलेखना करना युक्ति युक्त-आवश्यक है। इस तरह केवल शरीर और आयुष्य का ही मेल मिलाने से संलेखना पूर्ण नहीं होती, इसमें अभ्यंतर संलेखना मुख्य साध्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। इसलिए जिन आगम से भाव वाला मति युक्त ज्ञानी अथवा ऐसे ज्ञानी की निश्रागम आत्मा जिन वचन के बल से जड़-चेतन का विवेक करके जड़ता के राग को घटाता जाय, परिणाम रूप में कषाय का एवं विषय वासना का जोर मंद होता जाय। जीवन-मृत्यु उभय के प्रति उपेक्षा जन्म ले और आत्म गुण-स्वभाव में रमणता का अभ्यास करना, जैसे सर्प कंचुकी उतार देता है वैसे निर्मम भाव में देह को छोड़ देना- वही भाव संलेखना को प्राप्त कर सकता है। भाव संलेखना ही मनुष्य जीवन का वास्तविक सार-साध्य है। साधु धर्म को स्वीकार भी इस उद्देश्य से ही करना चाहिए। यह संलेखना जब न कर सके तब भी उसका बहुमान करने से जीव को महान लाभ मिल सकता है।

यहां प्रश्न होता है कि- यदि 'स्व की, पर की और स्व-पर उभय की, इस तरह तीन प्रकार की अतिपात क्रिया मरण-हिंसा जीव को बहुत काल तक बारम्बार अनिष्ट फलों को देने वाली है' इस तरह सूत्रों में कहा है तो आत्मवध करने के निमित्त भूत यह संलेखना करना समभाव में आचरण करने वाले साधु पुरुष को योग्य कैसे मानी जाय ? इसका उत्तर देते हैं- तीन प्रकार की अतिपात क्रिया के लिए जैसा कहा है वह सत्य है, किन्तु यह संलेखना आत्मवध में निमित्त रूप नहीं है क्योंकि वध लक्षण उसमें नहीं घटता। वध का लक्षण तो यह है कि प्रमाद-मोहादि के योग से होने वाला वध स्वरूप में नियम से राग-द्वेष आदि दोषों से पूर्ण एवं जिनाज्ञा विरुद्ध होता है, अर्थात् शास्त्र से विरुद्ध हो तब वह वध कहलाता है। पंच वस्तुक में कहा है कि-

जा खलु पमत्त जोगा, णिअमा रागाइ दोस संसत्ता ।
आणाओ बहि भूआ, सा होअइ वाय किरिआ य ॥१५८६॥

अर्थात्- "जो निश्चयपूर्वक प्रमाद के योग से रागादि दोष से संयुक्त हो और शास्त्र से पर अर्थात् जिनाज्ञा से रहित हो, वह अतिपात क्रिया कहलाती है।" परन्तु जो इन लक्षणों से रहित होने से भविष्य में निश्चय शुभ भाववर्धक हो उसे शुद्ध क्रिया कहा है, क्योंकि उससें शुद्ध क्रिया का लक्षण घटता है। आगे पंच वस्तुक में कहा है कि-

जा पुण एअ विउत्ता, सहुभाव विवड्ढणा अ नियमेणं ।
सा होइ सुद्धकिरिआ, तल्लक्खण जोग ओ चेव ॥१५८७॥

अर्थात्- "जो क्रिया वध के लक्षणों से रहित होने से निश्चय से शुभ भाव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को बढ़ाने वाली होती है, उसे उसके लक्षण योग से ही शुद्ध क्रिया समझना ।''

अतिपात अर्थात् आत्मघात या आपघात, निश्चय नय से आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करना, करवाना या अनुमोदना करना वह हिंसा कहलाती है । व्यवहार नय से अकाल में मरना-मारना उसे हिंसा कहते हैं, परन्तु वह द्रव्य हिंसा है । प्रत्येक जीव को आयुष्यादि द्रव्य प्राणों का वियोग उसकेसंयोग के साथ में जुड़ा हुआ होने से अनिवार्य है, अवश्य होता ही है, तो भी मरने वाला अथवा मारने वाला अप्रशस्त ध्यान के वश में होकर अपना अथवा पर के प्राण का वियोग करे, करवा दे अथवा अनुमोदना करे, तो उसे कर्मबन्धन होता है । इसलिए वह हिंसा भी त्याग करने को कहा है । निश्च यनय से तो भाव प्राणों का-ज्ञानादि गुणों का विनाश भाव हो वैसा कोई कार्य करना हिंसा कहा है और उन गुणों का अविर्भाव-प्रगटीकरण करने के उद्देश्य से किये जाने वाले किसी भी प्रयत्न को अहिंसा कहा है। वास्तव में तो अज्ञान और मोह से अधीन बना मूढ़ात्मा जो सावध (पाप) योग की प्रवृत्ति करता है- इससे स्वयं अपनी हिंसा ही कर रहा है । उसमें से बचने बचाने के लिए जैन शासन की स्थापना है और यह उसमें उसका मार्ग व्यवस्थित करता है । इस कारण से जैन दर्शन की सर्वोपरिता मानी गयी है । व्रतादि के पालन के समान संलेखना भी शुभ ध्यानपूर्वक आत्मशुद्धि यानि कर्म निर्जरा के लिए होती है तो उसमें जिनाज्ञा पालन है, कर्म निर्जरा का साधन होने से वह करने वाले को ज्ञानादि गुणों में वृद्धि होती है । परिणाम से आपघात नहीं होता परन्तु आत्मगुणों की रक्षा होती है, इसलिए सात्विक आत्माओं को वस्तुत: वह करणीय है । इस संलेखना के स्वरूप का चिन्तन करने समझ में आयेगा कि-संलेखना तो भाव दया से वासित आत्मा को दुगर्तियों के अनंतानत दु:खों में से बचने का समझपूर्वक शुद्ध एवं सफल उपाय है ।

जिसका कर्त्तव्य शेष आराधना इस जन्म में पूर्ण हुआ हो और केवल शुभ-समाधि मरण का कार्य शेष हो वही यह संलेखना स्वीकार करता है, क्योंकि उसकी यह संलेखना की शुद्ध क्रिया स्वरूप बनकर भविष्य में अनेक जन्म-मरण का प्रतिकार भूत बनता है । उपर्युक्त न्याय से जैसे 'गंडच्छेद'-ऑपरेशन आदि की क्रिया मरण के लिए नहीं अपितु मृत्यु से बचने के लिए हितकर है, वैसे ही यह संलेखना भी आत्म विराधना के लिए नहीं है, परन्तु अनेक मृत्यु में से बचाने के हितकारी है । इसलिए चरम अयोगी-शैलीशी गुणस्थानक को साधक स्वभाव की-कायोत्सर्ग की वृद्धि निमित्त से इस संलेखना की आराधना अवश्य करनी चाहिए - यह निश्चित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हुआ । इस तरह संलेखना के स्वरूप का वर्णन किया । अब उसके अतिचार कहते हैं-

ऐहिका मुष्मिका शंसाऽऽशंसा जीवित कालयोः ।
निदानं चेत्यतिचारा, मता संलेखना व्रते ॥१४८॥

मूलार्थ- "इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी इच्छा, जीने की और मरने की इच्छा और निदान, ये संलेखना के पांच अतिचार कहे हैं ।

व्याख्या- इस जन्म सम्बन्धी पूजा, सत्कार, कीर्ति आदि की इच्छा ऐहिक इच्छा और परलोक सम्बन्धी स्वर्ग सुख आदि की इच्छा आयुष्मिक सुख इच्छा कहलाती है । उसमें ऐहिक सुख इच्छा संलेखना का प्रथम अतिचार है और आयुष्मिक सुख इच्छा वह दूसरा अतिचार समझना । जीवित और काल अर्थात् जीवन और मृत्यु-इन दोनों की इच्छायें दो अतिचार हैं । उसमें संलेखना स्वीकार करने के बाद अपनी पूजा होते देखकर, बड़े परिवार की सद्भावना आदि देखकर तथा सभी लोक प्रशंसा करते हैं- यह सुनकर इस तरह माने कि 'चारों प्रकार के आहार का त्याग करने वाले मेरे उद्देश्य से लोग मेरी इस प्रकार की शोभा करते हैं, इसलिए अधिक जीऊँ तो अच्छा है ।' ऐसी इच्छा करना जीवित इच्छा नामक तीसरा अतिचार है, और जब संलेखना-अनशन स्वीकार करने पर भी कोई न उसका पूजा सत्कार द्वारा आदर महिमा करे या न कोई प्रशंसा करे तब उसके चित्त में ऐसे परिणाम हों कि 'अब जल्दी मर जाऊँ तो अच्छा है, ऐसी दुष्कर क्रिया करने पर भी कोई आदर सत्कार नहीं करता, अतः अधिक जीने से क्या प्रयोजन है, इस तरह मृत्यु की इच्छा करना चौथा अतिचार है । उसके उपरान्त निदान अर्थात् प्रार्थना यानि 'इस दुष्कर तप से अन्य जन्म में चक्रवती वासुदेव, बलदेव अथवा राजा, महाराजा हो जाऊँ, सौभाग्य शाली बनूँ, रूपवान अथवा स्वामी बनूँ इत्यादि प्रार्थना-अभिलाषा करना- यह पांचवां अतिचार है । यह संलेखना के अतिचार कहे । अब उसके बाद का कर्त्तव्य कहते हैं-

मरणस्याभ्युद्यतस्य, प्रपत्तिर्विधिना ततः ।
तदप्युक्तं, पदपोपगमनादि त्रिभेदकम् ॥१४९॥

मूलार्थ- "उसके बाद विधिपूर्व अभ्युद्यत मरण का स्वीकार करना- वह मृत्यु भी 'पादपोपगमन' आदि तीन प्रकार की कही है ।"

व्याख्या- संलेखना करने के बाद अभ्युद्यत मरण को यानि पंडित मरण को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वीकार करना- वह सापेक्ष यति धर्म है। इस तरह वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना। वह संलेखना केवल तीन ही प्रकार से है, ऐसा नहीं है वह। पंडित मरण भी 'पादपोपगमन' आदि तीन भेद वाला हैं। (१) पादपोपगमन, (२) इङ्गि और (३) भक्त परिज्ञा- इस तरह तीन प्रकार श्री जिनेश्वर भगवान ने कहे हैं। उसमें 'पादप' अर्थात् वृक्ष और 'उप' उपमा तथा सदृश अर्थ में भी उपयोग होता है, इससे जो पादप की समानता करे वह अर्थात् पादप के सदृश होने से १-पादपोगमन अनशन 'वृक्ष के समान निश्चल' समझना। दूसरा प्रति नियत प्रदेश में ही जिस अनशन क्रिया में इङ्गि अर्थात् अमुक मर्यादित चेष्टाएं कर सकते हैं वह 'इङ्गि' अनशन कहा है। मतलब यह है कि जिसमें शास्त्रोक्त मर्यादा अनुसार अमुक क्रिया विशेष नियत स्थान में कर सकते हैं वह २-अनशन 'इङ्गि' जानना। तीसरा 'भक्त' अर्थात् भोजन- उसे परिज्ञा अर्थात् ज्ञान से जानना-समझना और पच्चक्खाण द्वारा त्याग करना। इस तरह जिसमें समझपूर्वक भोजन का त्याग किया जाय उसे ३-'भक्त परिज्ञा अनशन' कहा है।

अब इन तीनों का स्वरूप कहते हैं-

आद्य संहननिनामेव, तत्रादिमम चेष्टने ।
इङ्गिनी मरणं, चेष्टावतामाहार वर्जनात् ॥१५०॥

आहारस्य परित्यागात्, सर्वस्य त्रिविधस्य वा ।
भवेद्भक्त परिज्ञाख्यं, द्विधा सपरिकर्मणाम् ॥१५१॥

मूलार्थ- "उसमें पहला 'पादपोपगमन' अनशन पहले संघ यण वाले मनुष्यों को ही सर्व चेष्टाओं का त्याग करना होता है। 'इङ्गि' मरण सर्वआहार का त्याग करने और अमुक मर्यादित चेष्टा करने की जयणा वाले को होता है। (१५०) ॥ एवं सर्व आहार का अथवा पानी बिना त्रिविध आहार का त्याग तथा स्वयं और दूसरों द्वारा इस तरह उभय प्रकार की परिकर्मणा (शरीर सेवा) करने वाले को भक्त परिज्ञा नाम का अनशन होता है। (१५१) ॥"

व्याख्या- उन तीन प्रकार के मरण में प्रथम 'पादपोपगमन' मरण होता है। वह प्रथम वज्रऋषभ नाराच संघयण वाले को ही हो सकता है। यह अनशन 'अचेष्ट को' अर्थात् सर्व चेष्टा के अभाव-हिलना, चलना आदि सर्व चेष्टाओं का त्याग करने से और 'आहार वर्जनात्' अर्थात् चारों प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग करने से होता है। इस तरह क्रिया पद का सम्बन्ध समझना। यहां कहने का भावार्थ यह है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि-पूर्व में कहे अनुसार अनशनी को द्रव्य से शरीर को और भाव से कषायों को पतले करके, गृहस्थ को वापिस देने योग्य पाट तख्त आदि वस्तुएं वापिस सौंप कर, गुरु महाराज आदि को तथा गुरु के पास रहे शेष साधुओं को भी यथायोग्य क्षमापना करके, अनशन के लिए उद्यमशील होना चाहिए। 'सर्व संयोग के अन्त में वियोग होता है' इस तरह जीव को समझाकर, देव वंदन करके और गुरुदेव आदि को भी वंदन नमस्कार करके गुरु के पास में चारों प्रकार के आहार का त्याग करे। उसके बाद समता से भावित बना स्वयं सर्व बाह्य इच्छाओं का त्याग कर, पर्वत की गुफा में जाकर जहां त्रस-स्थावर कोई भी जीव न हो ऐसी शुद्ध भूमि में शरीर को दंडाकार के समान लम्बा-दंडायत आदि आसन (आकार) वाला करके, उन्मेष-निमेष (आंखों की बरौनी को हिलाना) आदि भी त्याग कर जीवन तक वृक्ष की जड़ता के समान हलन-चलनादि सर्व चेष्टाओं को त्यागकर समभाव में स्थिर रहे, उसे पादपोपगमन अनशन कहा है। इस अनशन से प्रसिद्ध मरण की भी 'पादपोपगमन' कहलाता है। इसी प्रकार आगे भेदों में भी अनशन के नाम से मृत्यु को भी उसी नाम से समझ लेना।

यह अनशन दो प्रकार का है। प्रथम व्याघात रहित और दूसरा व्याघात-आयुष्य के उपक्रम सहित होता है। उसमें प्रथम तो पूर्व कहे अनुसार समझना। पंच वस्तुक में कहा है कि-

णिव्वाघाइ अमेअं, भणिअं इह पक्कमाणु सारेणं।
स भवइ अ इयरं पि हु, भणियमिणं बीअ रागेहि ॥१६१६॥

अर्थात्- "निर्व्याघात पादपोपगमन अनशन यहां जैसा पूर्व में कहा है उसके अनुसार समझना, और दूसरा सव्याघात पादपोपगमन भी संभव होता है- इस तरह श्री वीतराग परमात्मा ने कहा है।" तथा-

निष्फाइआ य सीसा गच्छो परिपालिओ महाभागो।
अब्भुज्जओ विहारो, अहवा अब्भुज्जु अं मरणं ॥१॥

अर्थात्- "शिष्यों को ज्ञान-क्रिया से संपन्न किया, आचार्यादि पद के योग्य गीतार्थ बनाया और महाभाग श्री गच्छ का पालन भी पालन भी किया। अब अभ्युद्यत विहार अथवा अभ्युद्यत मृत्यु स्वीकार करनी चाहिए।"

सव्याघात वाला पादपोपगमन तो आयुष्य दीर्घ होने पर किसी प्रकार की कठोर व्याधि की पीड़ा से अथवा सिंह आदि के आक्रमण से उत्पन्न हुई महावेदना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होने से 'अब आयुष्य का उपक्रम लगता है, लम्बा जीवन नहीं दिखता' इस तरह जान कर गीतार्थ करते हैं । पंच वस्तु में कहा है कि-

सीहाई अभिभूओ, पायवगमणं करेई थिर चित्तो ।
आउंमि पहुप्पंते, विआणिउं नवरि गीअत्थो ॥१६२०॥

अर्थात्- ''सिंह आदि के आक्रमण से पराभव होने पर भी स्थिर चित्त वाला कोई गीतार्थ ही ज्ञान से आयुष्य का अन्त जानकर यदि थोड़ा आयुष्य लम्बा हो तो पादपोपगमन अनशन स्वीकार करे।'' ये दोनों प्रकार का पादपोपगमन अनशन चौदह पूर्वधारी मुनियों के साथ विच्छेद हुआ है । व्यवहार भाष्य दसवें उद्देश्य में कहा है कि-

पढमं मि अ संघयणे, वट्टंते सेल कुड्ड सामाणा ।
तेसिं पि अ वोच्छे ओ, चउद्दस पुव्वीण वोच्छेए ॥५७३॥

अर्थात्-''पहले संघयण वाले मुनि पर्वत कूट के समान समर्थ शरीर वाले होते हैं । चौदह पूर्व का विच्छेद होते ही उस अनशन का भी विच्छेद होता है ।'' इस तरह पादपोपगमन अनशन का स्वरूप कहा ।

२. इङ्गि मरण - परिमित-मर्यादित चेष्टा वालों को होता है और वह भी सर्व आहार का त्याग करने से होता है । कहने का भावार्थ यह है कि-

इङ्गि मरण को स्वीकार करने वाले पूर्व बताये क्रम से गच्छ के कार्यों से मुक्त होकर, अपना आयुष्य थोड़े समय में अंत जानकर, वैसे समर्थ संघयण के अभाव में पादपोपगमन अनशन करने में अशक्त आयुष्य के अनुसार थोड़े समय संलेखना करें । फिर गुरु के समक्ष दीक्षाकाल से लेकर आज दिन तक के अतिचारों की आलोचना करके निश्चय से चार प्रकार के आहार का त्याग करे । उसके बाद वह पदपोपगमन के समान ही पवित्र स्थल में अकेला, छाया से ताप में और ताप से छाया में जाने आने की अनुमति पूर्वक निश्चित किये हुए- मर्यादित प्रदेश में चेष्टा करने पर भी सम्यग् ध्यान में लीन बनकर प्राण को त्याग करें । इस अनशन वाला दूसरे द्वारा परिकर्मणा (सेवा) न करवाए, परन्तु स्वयं करे । पंच वस्तु में कहा है कि-

उव्वत्तइ परिअउत्तइ, काइ अ माईसु होइ उ विभासा ।
किच्चंपि अप्पणु च्चिअ, जुजइ नियमेण धिइ बलिओ ॥१६२५॥

अर्थात्- ''काया से उद्वर्तन और परावर्तन करे अर्थात् करवट-बाजू बदलते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रहें, धातुओं की समता होने पर लघु-बड़ी नीति करे अथवा न भी करे और धैर्य बलवाला-दीनता बिना अपने प्रतिलेखनादि कार्य स्वयंमेव करे-किसी कार्य में दूसरे का आश्रय न ले।'' इसके अनुसार इङ्गि का अनशन जानना।

३. भक्त परिज्ञा- सर्व अर्थात् चार प्रकार का अथवा पानी बिना तीन प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग करके, जिसके लक्षण पूर्व में कह गये हैं, वह 'भक्त परिज्ञा' नाम का अनशन होता है। इस तरह मूल श्लोक के क्रिया पद का सम्बन्ध जोड़ा है। यह अनशन किसको होता है ? उसे कहते हैं कि-परिकर्म अर्थात् वैयावच्च करने वाले को होता है। परिकर्म तो इङ्गि से मरने वाले को भी होता है, इसलिए मूल श्लोक में कहा है 'द्विधा' अर्थात् स्वयं परिकर्म करने वाले और दूसरों के द्वारा कराने वाले को यह अनशन होता है अर्थात् इङ्गि में स्वयं परिकर्म करे और भक्त परिज्ञा में स्व-पर उभय द्वारा करे कराये। इङ्गि में चार आहार का त्याग होता है और भक्त परिज्ञा में पानी पी सकता है। यहां भावार्थ इस तरह है कि-दीक्षा काल के आरंभ से सेवन किए अतिचारों की आलोचना करके, पूर्व में जिसका जीवन शिथिल-प्रमादी हो, वह भी बाद में संवेग गुण प्रगट होने पर यथोचित संलेखना करके गच्छ में रहकर ही कोमल संथारा का आश्रय लेते हुए, शरीर और उपधि के ममत्व को छोड़कर, तीन प्रकार अथवा चार प्रकार के आहार का त्याग करके, स्वयं श्री नवकार महामंत्र के उच्चारपूर्वक अथवा समीप में रहे साधु सुनाते जायें- इस प्रकार उद्वर्तन-परिवर्तन-करवट आदि बदलते हुए समाधि से काल धर्म के अधीन होना, उसे भक्त परिज्ञा मरण समझना। अस अनशन वाला दूसरों के द्वारा वैयावच्च करवा सकता है, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि-उष्कृष्टता से उस अनशन करने वाले के अन्तकाल में आराधना कराने वाले अड़तालीस निर्यामक होते हैं। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

''उव्वत्त दार संधार कहगवाई य अग्गदारं मि ।
भत्त पाण वियारे कहग-दिसा जे समत्थाय ॥६२६॥

एए सिं तु पयाणं, चउक्कगेणं गुणिज्जमाणाणं ।
निज्जाय माण संखा होइ जहासमय निद्दिट्ठा ॥६३०॥

व्याख्या-१- 'उव्वत्त' = अनशन करने वाले में जब शक्ति का अभाव हो, तब शरीर की करवट बदलना, बैठना, उठना, बाहर ले जाना, अन्दर ले आना इत्यादि शरीर की सर्व परिचर्या-सेवा करने वाला हो। २- 'दारो' = बहुत मनुष्य एकत्रित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होने से अनशनी को असमाधि हो, इसलिए अन्दर के द्वार के पास बैठकर आगन्तुक बहुत लोगों को रोकने वाला, जिससे अनशनी की रक्षा के लिए शान्ति रहे । ३-'संथार' = शरीर को शाता उत्पन्न हो ऐसा 'सुकोमल स्पर्श' आदि गुण वाला कोमल संथारा बिछाने वाला हो । ४-'कहग' = अनशनी यदि तत्त्व का जानकार हो, फिर भी उसे अन्त समय में समाधि-संवेग बढ़े इस तरह से उत्तम धर्म कथा सुनाने वाला हो । ५-'वादी' = अनशन से होने वाली धर्म प्रभावना सहन नहीं करने वाला कोई धर्मद्वेषी-दुरात्मा यदि सर्वज्ञ के शासन की निंदा करे तो उसके साथ में वाद-विवाद करके धर्म का सत्य-वास्तविकता समझाने वाला हो । ६-'अग्गदार' = कोई अन्य धर्मी-शत्रु वहां आकर अनशनी को उपद्रव असमाधि न करे इस उद्देश्य से बाहर के दरवाजे पर रहने वाला हो । ७-'भत्ते' = आहार का त्याग करने पर भी जब आहार मांगे तब 'कोई पत्यनी देव अनशनी के शरीर में अधिष्ठान करके अनशन तोड़ने के लिए आहार मांगता है या अनशनी स्वयं भूख से पीड़ित सावधानीपूर्वक मांगता है ?' उसकी परीक्षा करके, यदि वह पीड़ा से मांगता हो तो उसे आर्त्त ध्यान से बचाने के लिए उचित आहार की गवेषणा करके आहार लाने वाला यदि योग्य आहार न दे तो आर्तध्यान से तिर्यंच में अथवा भवन पति आदि हलकी देव योनि में उत्पन्न हो अथवा शासन का प्रत्यनीक व्यंतर हो तो क्रोध के वश होकर बाद में साधु अथवा संघ को उपद्रव करे, इसलिए उसे उचित आहार लाकर दे और उसकी समाधि की रक्षा करने वाला हो । ८-'पाण'= शरीर दाह आदि यदि हो तो उसकी शान्ति के लिए उचित कल्पनीय पानी लाने वाला हो । ९- 'वियार' = अनशनी यदि बड़ी नीति करे और १०-लघु नीति करे तो उसे परठने वाला हो । ११-'कहग' = बाहर से दर्शन-वंदनार्थ आए हुए अन्य भव्य आत्माओं को बाहर विभाग में बैठाकर धर्म कथा द्वारा अनशन धर्म का-जैन शासन की महिमा समझाने वाला-व्याख्याता । और १२-'दिसा' यही 'समत्था' पूर्वादि चारों दिशा में यदि क्षुद्रोपद्रव हो तो उसकी रक्षा करने वाले सहस्रयोधी-महामल्ल समान समर्थ । इस तरह बारह कार्यों में चार-चार अर्थात् बारह पदों को चार से गुणा करते निर्यामक की शास्त्र में कथित अड़तालीस की उत्कृष्ट संख्या होती है । इतने प्रमाण में यदि साधुओं की व्यवस्था न हो तो एक-दो आदि संख्या करते जघन्य से दो निर्यामक तो अवश्य होने चाहिएं । उसमें से एक अनशनी के पास में रहे और दूसरा गवेषणा करते आहार-पानी आदि प्राप्ति के लिए बाहर भ्रमण करे । केवल एक ही निर्यामक के आश्रय से अनशन स्वीकार नहीं करना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चाहिए। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

एगो जइ निज्जवगो, अप्पा चत्तो परो पवयणं च ।
सेसाणमभावे वि हु, ता बीओऽवस्स कायव्वो ॥ ६३५ की टीकरा ॥

अर्थात्-"यदि अनशन कारी एक ही निर्यामक के आश्रय से अनशन स्वीकार करता है तो उसने अपनी आत्मा और जिन प्रवचन दोनों को छोड़ दिया है- ऐसा समझना, क्योंकि सहायक के अभाव में अपने को असमाधि होती है और प्रवचन की भी निंदा होती है। अतः यदि अधिक न हो सके, फिर भी दो निर्यामक अवश्य करना चाहिए। इस भक्त परिज्ञा अनशन को सर्व साध्वियाँ आदि भी स्वीकार कर सकती हैं।" उत्तराध्ययन सूत्र ५ अध्ययन गाथा २ की टीका में कहा है कि-

सव्वावि अ अज्जाओ, सव्वेवि अ पढम संघयण वज्जा ।
सव्वेवि देस विरया, पच्चक्खाणेण उमरंति ॥२-टीका॥

अर्थात्-"सर्व साध्वियां, प्रथम संघयण रहित सर्व साधु और सर्व देश विरतिधर भी पच्चक्खान अर्थात् 'भक्त परिज्ञा' अनशनपूर्वक मरते हैं।"

इन तीनों का फल मोक्ष अथवा वैमानिक देवलोक की प्राप्ति होती है। उत्तराध्ययन ५-२ की टीका में कहा है कि-

एअं पच्चक्खाणं, अणु पालेऊण सुविहिओ सम्मं ।
वेमाणिओ व देवो, हविज्ज अहवा पि सिज्झिज्जा ॥२॥

अर्थात्- "इस पच्चक्खान-अनशन को विधिपूर्वक सुन्दर-अखंड रूप में पालन करने वाला जीव वैमानिक देव उत्पन्न होता है अथवा संसार से सर्वथा मुक्त-सिद्धात्मा होता है।" इसके अनुसार अभ्युद्यत मरण का स्वरूप कहा है।

यहां प्रसंगानुसार प्रवचन सारोद्धार में कथित उस विशिष्ट पुरुष के आश्रित बीमार आदि के सेवा-पालन करने में विवेक कहते हैं। वह इस तरह से है-

जावज्जीवं गुरुणो, असुद्ध सुद्धेहिं वावि कायव्वं ।
वसहे वारस वासा, अट्ठारस भिक्खुणो मासा ॥८६३॥

व्याख्या- "शुद्ध अथवा यदि मिले तो अशुद्ध भी आहार-पानी अथवा औषधादि द्वारा साधुओं और श्रावकों को आचार्य आदि का परिपालन करना चाहिए। उसमें गुरु-गच्छाधिपति का जब तक जीवन रहे तब तक परिपालन करना, क्योंकि- वे सारे गच्छ के आधारभूत और यथाशक्ति सूत्र अर्थ के दान में एवं शासन-संघ के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रक्षण आदि में निरंतर प्रवृत्ति करने वाले होते हैं, तथा वषृभ = उपाध्याय आदि का परिपालन बारह वर्ष तक करना, उसके बाद उनका रोग आदि असाध्य दिखे और सशक्त हों तो आहार छुड़वाना-अर्थात् अनशन करवाना, जिससे उतने काल में उनके स्थान पर उपाध्याय आदि उस पद के योग्य दूसरे साधु तैयार हो सकें । इस तरह सामान्य साधु का भी अट्ठारह महीने तक दूषित आहार से भी पालन करना । उसके बाद भी यदि रोग न शान्त हो तो पूर्व कहे अनुसार उसे भी आहार का विवेक (त्याग) करवाना चाहिए ।''

यहां पर शुद्ध-अशुद्ध आहार आदि से भी पालन करने को कहा है । वह रोग आदि के कारण, गुरु आदि का शरीर अस्वस्थ बना हो एवं क्षेत्र-काल आदि की हानि के कारण से बीमारी के योग्य आहारादि न मिलता हो, उस समय पर वह लेने को कहा है । किन्तु स्वस्थ अवस्था में जब कि शुद्ध आहार आदि मिलता हो तब इस तरह अशुद्ध आहार का उपयोग नहीं करना चाहिए । व्यवहार भाष्य में तो सर्व सामान्य किसी भी ग्लान साधु के उद्देश्य से परिपालन करने की व्यवस्था इस तरह से कही है-

छम्मासे आयरिओ, कुलं च संवच्छराइ तिण्णि भवे ।
संवच्छरं गणो वि, जावज्जीवा य संघो उ ॥२००१॥

व्याख्या-''ग्लान की चिकित्सा प्रथम छह महीने तक आचार्य करवाए, यदि वहां तक आरोग्यता-स्वस्थ न हो तो उस बीमार को कुल की निश्रा में रख दे । उसके बाद कुल तीन वर्ष चिकित्सा करवाए, फिर भी यदि स्वस्थ न हो तो उसे गण को सौंप दे । गण भी एक वर्ष तक चिकित्सा करवाए, यदि फिर भी रोग शान्त न हो तो बीमार को संघ (गृहस्थ) की निश्रा में सौंप देना । उसके बाद संघ जब तक जीता रहे तब तक शुद्ध आहार-पानी आदि से उपचार करे, शुद्ध के अभाव में अशुद्ध से भी रक्षा करे । यह विधान यदि आहार को छोड़ने (अनशन करने) के लिए अशक्त हो, उसके लिए समझना । जो अनशन करने में शक्तिमान हो, उसकी तो प्रथम अट्ठारह महीने तक चिकित्सा करवानी चाहिए । क्योंकि विरति धर्म युक्त मानव जीवन पुनः पुनः संसार में प्राप्त होना अतीव मुश्किल है । ऐसा करने यदि रोग शान्त हो जाय तो बहुत अच्छी बात है, परन्तु यदि रोग शान्त न हो तो फिर आहार छोड़ना अर्थात् अनशन स्वीकार करवाना चाहिए ।'' कर्म जनित रोगादि उपसर्गों के समय भी असमाधि-दुर्ध्यान से आत्मा को बचा लेना चाहिए । समभाव में विवेक दृष्टि से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समझपूर्वक उपसर्गों को सहन कर कर्मों से मुक्त होना– यही साधु जीवन का फल है ।

आचार्यादि पदस्थों का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि अपनी निश्रा में आए भव्य आत्माओं को कर्मबन्धन से बचाकर विशिष्ट निर्जरा करवाने में सहायता करें। यदि रोग के समय में इस तरह औषध आदि से सहायता करवाने में न आए तो संभव है कि ग्लान को चारित्र के प्रति अनादर उतपन्न हो और जन्मान्तर में दुर्लभ बोधि बन जाय तथा उपाय होने पर भी उपेक्षा करने वाला भी निमित्त भूत बनता है, इससे उसे भी मिथ्यात्व का बंधन होता है और वह भी दुर्लभ बोधि होता है । व्यवहार से भी ग्लान–बीमार की सेवा न करने से धर्म का हलकापन दिखता है इत्यादि अनेक कारणों से ग्लान की, सेवा करने का विधान शास्त्रकारों ने किया है । इतना ही नहीं ग्लान की सेवा सर्व आराधना से भी विशिष्ट कही है । वस्तुत: जिनाज्ञा का पालन भी उसे ही कहा है। जो ग्लान सेवा की उपेक्षा करके उग्र भी तप–जप अथवा विविध आराधना करता है, उसे जिनाज्ञा का विराधक कहा है । फिर भी स्वाध्याय–ध्यान आदि साधुता के साध्य नाश न हो उसके लिए यहां कही व्यवस्था बहुत श्रेष्ठ है । इसमें धर्म के साधन भूत ग्लान के शरीर की रक्षा का भी स्थान है और अन्य साधु का स्वाध्यायादि न नष्ट हो, इस पर भी पूर्ण ध्यान दिया है । इसके उपरान्त जैन शासन की प्रभावना होती है ऐसी व्यवस्था है, इसलिए आत्मार्थी को स्व–पर कल्याण का यह एक विशिष्ट मार्ग है ।

अब अनशन में अवश्य त्याग करने योग्य दुष्ट भावनाओं का वर्णन कहते हैं–

कान्दर्प्पी कैल्विषिकी, चाऽभियोगिक्या सुरी तथा ।
सांमोही चेति पञ्चानां, भावनानां विवर्जनम् ।।१५२।।

मूलार्थ–'' १–कान्दर्पी, २–कैल्विषिकी, ३–आभियोगिकी, ४–आसुरी और ५–सांमोही– इन पांच दुष्ट भावनाओं का अनशन में त्याग करना ।''

व्याख्या– 'कन्दर्प' = काम में जो मुख्य है ऐसा हमेशा मखौल कुतूहल, क्रीड़ा आदि में आसक्ति के कारण कामुक समान कन्दर्प जाति का देव होता है । उसकी भावना को १–'कान्दर्पी' कहा है। इस तरह से 'किल्विष' अर्थात् पापकारी होने से अस्पृश्य आदि स्वरूप वाला देव को 'किल्विष' कहा है, उनकी भावना को २–'कैल्विषिकी' समझना । 'आभियोगिक = 'आ' अर्थात् सर्व प्रकार से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'अभियोग' अर्थात् जोड़ना, यानि प्रत्येक कार्य में लग सके वह 'अभियोगा' अर्थात् किंकर तुल्य देवों की जाति की भावना को ३-'आभियोगिकी' जानना। 'आसुरा' अर्थात् भवनपति देवों की एक जाति । उसकी भावना को ४- 'आसुरी' कहा है। संमोह = संमोह हो जाना-मुरझा जाना, ऐसे मूढ़ देवों को 'संमोहा' कहा है, उन देवों की भावना ५-'सांमोही' जानना। ये पांच दुष्ट भावनायें हैं अर्थात् बारम्बार उस स्वभाव वाला वर्तन करने का अनशन करने वाले को सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योंकि आत्मशुद्धि के लिए अनशन में तो वह अवश्य त्याग करने योग्य है। इस दुष्ट आचरण का त्याग करना सापेक्ष यति धर्म कहा है, इस तरह पूर्व के साथ में वाक्य का सम्बन्ध समझना। चारित्रवान् भी यदि ऐसे संक्लेश-दुष्ट स्वभाव से भावनाओं का सेवन करे तो वह ऐसी हलकी देव जाति में उत्पन्न होता है। पंच वस्तुक में कहा है कि-

जो संजओ वि ए आसु, अप्प सत्थासुव हइ कहिं चि।
सो तव्वि हेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरण हीणो ॥१६२६॥

अर्थात् - "संयमी होने पर भी यदि व्यवहार में भाव की मंदता से इन अप्रशस्त भावनाओं का सेवन करे तो वह वैसे प्रकार के हलके देवों में उत्पन्न होता है और उसमें चारित्र धर्म की भजना (पीड़ित) होती है अर्थात् वह सर्वथा भाव चारित्र अथवा द्रव्य चारित्र रहित हो, इससे कदाचित वैसी देव जाति में और कदाचित् नारक, तिर्यंच अथवा मनुष्य जाति में भी उत्पन्न होते हैं।" इन पांचों भावनाओं में से प्रत्येक के पांच-पांच भेद हैं। वह इस प्रकार हैं :-

१- कान्दर्पी भावना- १-कन्दर्प, २-कौत्कुच्य, ३-द्रुत शीलत्व, ४-हास्य और ५-पर विस्मय- इन पांच प्रकार की चेष्टाओं के योग से पांच भेद हैं। पंच वस्तुक में कहा है कि-

कंदप्पे कुक्कुइए, दवसीले आवि हासण परे अ।
विम्हा हिं तो अ परं, कन्दप्पं भावणं कुणइ ॥१६३०॥

व्याख्या- '**१. कन्दर्प** - अर्थात् अट्टहास करना अथवा स्वभाव से हंसना, गुरु महाराज आदि को भी निष्ठुर, कठोर या वक्रता आदि से दुष्ट वचन कहना, काम-विषय वासना की बातें करना, वैसा उपदेश देना अथवा काम कथा की प्रशंसा करना इत्यादि सर्व 'कन्दर्प' समझना। **२-कौत्कुच्य**- भांड के समान चेष्टा करना। वह काया से और वचन से दो प्रकार की होती है। उसमें भ्रकुटी, नेत्र आदि शरीर के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवयवों का विकार करके स्वयं हंसना और दूसरों को हंसाना वह 'काया कौत्कुच्य' और हास्य जनक वचन को बोलकर दूसरों को हंसाना वह 'वचन कौत्कुच्य' कहलाता है। **३-द्रुतशीलत्व–** अविरति रूप में संभ्रम के आवेश से जल्दी बोलना, जल्दी चलना, जल्दी कार्य करना तथा स्वभाव से बैठे-बैठे भी अहंकार के अतिशय से फूलना, **४-हास्य–** अर्थात् भांड-बहुरूपी के समान विचित्र प्रकार का वेश पहनकर या विचित्र प्रकार के वचन बोलकर अपना या पर का हास्य उत्पन्न करना। **५-परिविरविस्म–** दूसरों के छिद्र-दूषण खोजना और 'इन्द्रजाल' आदि कुतूहल-कौतुक करके दूसरों को आश्चर्य करवाना अथवा प्रहेलिका अर्थात् गूढ़ आशय वाले प्रश्न अथवा बातों से और चमत्कारी मंत्र-तंत्र आदि से स्वयं विस्मित नहीं होते हुए भी दूसरों के मन में विस्मय प्रगट करना इस तरह पांच प्रकार की कान्दर्पी भावना-चेष्टा का त्याग करे।

'भाव' मन का कार्य है। इस कारण से भावनाएं मानसिक व्यापार रूप होती हैं। फिर भी यहां कान्दर्पी और उसके बाद की चार भावनाओं में प्रायः कायिक-वाचिक व्यापार बतलाया है। वह मानसिक भावों के योग से संभावित है अथवा दूसरों को वैसा मनोभाव प्रगट करने वाला है, इसलिए उसे भावना कहना अनुचित नहीं है। सामान्यतया साधु जीवन ही औचित्य और शिष्टता से सुशोभित होता है, वहां ऐसी दुष्ट प्रवृत्ति रखना युक्त नहीं है। फिर भी अनादि वासनाओं से वासित जीवात्मा को ऐसा वर्तन होना संभावित होता है, इसलिए उसका त्याग करना चाहिए और अनशन समय में विशेष रूप से अवश्य त्याग होना चाहिए।

२. कैल्विषिकी - १-द्वादशांगी रूप श्रुत ज्ञान, २-केवली, ३-धर्माचार्य, ४-सर्व साधु- इन चार के विषय में अवर्णवाद बोलना तथा अपने दोषों को छुपाने के लिए कपट करना। इस तरह पांच प्रकार की कैल्विषिकी भावना है। पंच वस्तुक में कहा है कि-

नाणस्स केवलीणं धम्मायरि आण सव्व साहूणं।
भासं अवण्णमाई, किव्विसिअं भावणं कुणइ ॥१६३६॥

व्याख्या- 'शास्त्रों में यही छः काय जीवों की या व्रत आदि की बातें बारम्बार कही हैं। बारम्बार अप्रमाद का ही वर्णन किया है। मोक्ष के लिए ज्योतिष आदि निमित्त शास्त्रों की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि दुष्ट बोलना, वह १-श्रुतज्ञान की निन्दा है। केवली भगवन्त होने पर भी सबको नहीं तारते अतः वे पक्षपाती हैं, सबको

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समान उपदेश नहीं देते इत्यादि अवर्णवाद बोलना, वह २-केवल ज्ञानियों की निन्दा है । अमुक आचार्य की जाति हलकी है, इत्यादि उनकी सच्ची झूठी निंदा करना, प्रसंग पर भी सेवा नहीं करना, छिद्र-दोष देखना इत्यादि ३-आचार्य की निंदा है । साधु निष्ठुर हैं, सहनशील नहीं हैं, विहार नहीं करते अथवा गांव गांव में घूमते रहते हैं, पराधीन भिखारी हैं, बारम्बार रोष-तोष करते रहते हैं इत्यादि प्रकार से विरुद्ध बोलना वह ४-सर्व साधुओं की निंदा जनाना । अपने दोषों को छुपाना, दूसरों के गुण होने पर छुपा देना, चोर के समान सर्व से शंकाशील रहना और सब कार्यों में गूढ़ हृदय वाला रहना वह, ५-मायाकरण कहलाता है । ये पांच प्रकार की कैल्विषिकी भावना हैं उनका त्याग करना चाहिए ।

३. आभियोगिकी भावना - १-कौतुक, २-भूति कर्म, ३-प्रश्न, ४-प्रश्नाप्रश्न और ५-निमित्त- इन पांच उपायों से आजीविका प्राप्त करना, ये पांच प्रकार आभियोगिकी भावना के हैं । पंच वस्तुक में कहा है कि-

कोउअ भूई कम्मे, पसिणा इअरे णिमित्तमा जीवी ।
इड्ढिरससाय गुरुओ, अभिओगं भावणं कुणइ ॥१६४३॥

अर्थात्- "कौतुक, भूति कर्म, प्रश्न, प्रश्नाप्रश्न और निमित्तों से जीने वाले तथा रस, ऋद्धि और शातागार वाले जीव को अभियोगिकी भावना वाला जानना ।"

उसमें १-कौतुक अर्थात् बालक आदि की रक्षा के लिए मंत्र स्नान करवाना, सिर और शरीर पर मन्त्रोच्चारपूर्वक हाथ फेरना, थुथुकार करना अथवा बलिदान-धूप आदि करना । २-भूति कर्म अर्थात् मकान-शरीर या पात्र आदि वस्तुओं की रक्षा के लिए भस्म अथवा मिट्टी लगाना अथवा सूत्र धागा आदि बांधना । ३-प्रश्न अर्थात लाभ हानि आदि जानने के लिए दूसरे को प्रश्न पूछना, अथवा दूसरे द्वारा प्रश्न का उत्तर देना, स्वयं अंगूठा, दर्पण, तलवार, पानी देखना इत्यादि । ४-प्रश्नाप्रश्न अर्थात् स्वयं या विद्या से-अधिष्ठाता देवी से कहा हुआ गुप्त अन्य को कहना । ५-निमित्त अर्थात् तीनों काल की वस्तु को जानने वाला ज्ञान विशेष रूप से पढ़ना-जानना । रस गारव, ऋद्धि गारव, शाता गारव में आसक्त होकर उन पदार्थों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना । अत: इन पांचों का सेवन करने वाले साधु को उस अभियोग (नौकरी) करने वाले के नीच गोत्र कर्म बन्धन का कारण होता है, इसलिए ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए । अपवाद समय पर नि:स्पृह भाव से शासन प्रभावना के लिए ऐसे करने वाले को आराधना है और उच्च गोत्र कर्म का बन्धन होता है । पंच वस्तुक में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एआणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभिओगिअं बधे ।
बीअं गारवर हिओ, कुव्वइ आराहगुच्चं च ॥१६४८॥

अर्थात्- ''गारव-बड़प्पन के लिए कौतुक आदि करने वाला आभियोगिक अर्थात् देव आदि की नौकरी करने वाला कर्म बन्धन होता है।'बीअं' अर्थात् द्वितीय-अपवाद मार्ग (पद) में जो गौरव रहित होकर नि:स्पृहता से शासन प्रभावना के लिए ऐसा करता है वह आराधक होता है और उच्च गोत्र कर्म का बन्धन होता है।''

४-आसुरी भावना-इसके भी १-सदा विग्रह करने का स्वभाव, २-संसक्त तप, ३-निमित्त कथन, ४-निष्कृषा और ५-अनुकंपा रहित ये पांच भेद होते हैं। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

सइ विग्गह सीलत्तं, संसत्त तवो निमित्त कहणं च ।
निक्कि वयावि य अवरा, पंच मगं निरणु कंपत्तं ॥६४५॥

अर्थात्-''१-सदा विग्रह शीलत्व' अर्थात् कलह करने के बाद भी पश्चात्ताप न हो और क्षमापनादि करने पर भी प्रसन्नता न हो- ऐसा विरोध (वैर) की परम्परा बढ़ाने वाला स्वभाव, २-'संसक्त तप' अर्थात् आहारादि की अभिलाषा से किया हुआ तप, ३-'निमित्त कथन अर्थात' अष्टांग-निमित्तों को कहने वाला, ४-'कृपा रहितता' अर्थात् स्थावर जीवों की विराधना करने पर भी पश्चात्ताप-दु:ख न हो, ऐसी निर्दयता और ५-'अनुकंपा रहितत्व' अर्थात् किसी को दु:खी होते देखकर मन में जरा भी दया जागृत न हो, उलटी कठोरता हो। ये पांचों करने वाले को आसुरी भावना वाला कहते हैं। इसका अनशन में त्याग करना चाहिए।

५. सांमोही भावना– इसके १-उन्मार्ग का उपदेश देना, २-मार्ग को दूषित करना, ३-मार्ग से विपरीत चलना, ४-मोह करना और ५-मोह करवाना- ये पांच भेद होते हैं। पंच वस्तु में कहा है कि-

उम्मग्ग देसओ मग्ग दूसओ मग्ग विप्पडी वत्ती ।
मोहेण य मोहित्ता, संमोहं भावणं कुणइ ॥१६५५॥

अर्थात्- ''१- 'उन्मार्ग देशक' अर्थात् ज्ञानाचार आदि पंचाचार रूप स्वयं स्वीकार किए मोक्ष मार्ग को दूषित बताकर, इससे विपरीत असत्य मार्ग को सत्य मार्ग के रूप में बताकर उपदेश देना, उसे उन्मार्ग देशना-उपदेश कहलाता है, इस तरह का उपदेश देने वाला। २- 'मार्ग दूषक' अर्थात् भाव मार्ग अर्थात् मोक्ष मार्ग को तथा उस मार्ग को प्राप्त किए साधु साध्वी आदि को दूषण देने वाला। ३- 'मार्ग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विप्रति पत्तिक' अर्थात् झूठे दूषणों से सत्य मोक्ष मार्ग को दूषित करके जमाली के समान देश-अमुक अंश से उन्मार्ग को स्वीकार करने वाला। ४- 'मोह मूढ़' अर्थात् अन्य धर्मियों की समृद्धि देखकर सूक्ष्म भाव में-गहन अर्थ में मोह करने वाला मूढ़ बना और ५- 'मोह जनक' अर्थात् स्वभाव से अथवा कपट से दूसरे को उलटे मार्ग में चढ़ाने वाला। इन पांच प्रकार से वर्तन करने वाला सांमोही भावना वाला कहलाता है।" इन सबका त्याग करना चाहिए। ये पांचों भावनाएं अशुभ फल देने वाली हैं। पंच वस्तु में कहा है कि-

एआ ओ भावणाओ, भावित्ता देव दुग्गइं जंति ।
तत्तोऽवि चुआ संता परिंति भव सागर मणंतं ॥१६६१॥

अर्थात्- "इन भावनाओं का चिन्तन करके जीव देव की दुर्गति को प्राप्त करता है अर्थात् देव की हलकी जाति में उत्पन्न होता है, और वहां च्यवन कर अनंत काल तक संसार समुद्र में भ्रमण करता है।"

यद्यपि इन भावनाओं का चारित्रवंत को सर्वदा त्याग करना ही योग्य है, तथापि अनशन करने के समय अथवा चारित्र की विशुद्धि करने के लिए तो विशेष रूप में त्याग ही करना चाहिए। यह बताने के लिए यहां अनशन के अधिकार में इसका वर्णन किया है। इस तरह समझना। पंच वस्तु में आगे कहा है कि-

एयाओ विसेसेणं, परिहरई चरण विग्ध भूआओ ।
एअ निरोहा ओ च्चिअ सम्मं चरणंपि पावेइ ॥१६६२॥

अर्थात्-"चारित्र मार्ग में विघ्नभूत इन भावनाओं का अनशन करने वालों को त्याग करना चाहिए, क्योंकि इनके निरोध से ही सम्यक् चारित्र की भी प्राप्ति होती है।"

यहां प्रश्न करते हैं कि-ये भावनाएं चारित्र की सर्वथा विरोधी नहीं हैं क्योंकि पूर्व में कहा है कि "**जो संजओवि एआसु**" इत्यादि पंच वस्तु की १६२६ वीं गाथा में बताया है कि- संयमी होने पर भी यदि व्यवहार में भाव की मंदता से इन अप्रशस्त भावनाओं का सेवन करे तो वैसे ही हलके देवों में उत्पन्न होता है। इसका उत्तर देते हैं कि असंक्लिष्ट परिणाम वाला होने पर भी कोई साधु यदि 'कन्दर्प' आदि करे तो उसे यह भावना होने पर भी व्यवहार नय के अभिप्राय से चारित्र होता है। फिर भी निश्चय नय के मतानुसार इन भावनाओं का सेवन करने वाले को चारित्र नहीं होता, क्योंकि-निश्चय नय में सदैव उचित प्रवृत्ति करने से निश्चय निरतिचार गुणस्थानक वाले को ही चारित्र माना है। पिण्ड निर्युक्ति कार भी कहते हैं कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जो जहवायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हू को अन्नो ?
वड्ढेर य मिच्छतं, परस्स संकं जणे भाणो ॥१८६॥

अर्थात्- "देश-काल संघयणादि के अनुरूप और शक्ति अनुसार, शास्त्र नीति के समान अनुष्ठान को 'यथावाद' यानि यथार्थ सम्यकत्व कहा है। इस पर भी जो शक्ति छुपाकर इस प्रकार यथावाद अनुष्ठान वर्तन नहीं करता है उससे अधिक दूसरा मिथ्या दृष्टि कौन हो सकता है ? अर्थात् वह मिथ्या दृष्टि ही है, क्योंकि शक्ति होते हुए भी जो शास्त्र अनुसार वर्तन नहीं करता, वह श्री जिनागम में अन्य को शंका उत्पन्न करता है और इससे परम्परा द्वारा मिथ्यात्व की वृद्धि करता है ॥"

जैसे व्यवहार में राज्य या समाज के कायदे-कानून हितकारी होते हैं। उनका पालन करना लाभदायक होता है परन्तु जो उसके नियम-बन्धन तोड़कर उल्टा मार्ग अपनाता है वह द्रोही और शिक्षापात्र गिना जाता है। वैसे ही धर्म शास्त्र के नियम-समाचारी जगत् के सभी जीवों के लिए हितकारी हैं। उसके यथार्थ पालन से धर्म मार्ग अबाधित रहता है। यदि सशक्त-अशक्त प्रत्येक उस मार्ग का पालन करता रहता है तभी धर्म मार्ग-शासन चलता है। बिना ही कारण से उससे विरुद्ध आचरण करने वाला धर्म और धर्मी का द्रोही बनता है और अनेक आत्माओं को उन्मार्ग में चलाने का निमित्त होता है। इसलिए उत्सूत्र कथन करने वाला तथा आचरण करने वाला शासन द्रोही एवं अनन्त संसारी कहा गया है। जैसे उत्सूत्र कथन से मिथ्या मार्ग की पुष्टि होती है वैसे ही बिना कारण से शास्त्र विरुद्ध आचरण करने वाले प्रमादी से भी मिथ्या मार्ग को पोषण मिलता है और अनेक आत्माएं उसे देखकर उसका अनुकरण करते हुए उन्मार्ग में चढ़ जाती हैं। इस तरह उन्मार्ग का उपदेश देने वाला, सन्मार्ग को दूषित करने वाला और मोह मूढ़ बनकर उन्मार्ग का आचरण करने वाला मिथ्यादृष्टि शासन द्रोही गिना जाता है। परन्तु थोड़ा भी शुद्ध सन्मार्ग आचरण स्व-पर का उपकार करता है। प्रायः लोग अनुकरणशील होते हैं, अतः शुद्ध सन्मार्ग को अपनाना चाहिए।

इस तरह भी नहीं कहा जा सकता है कि कंदर्पादि भावनाओं का सेवन करना वह यथावाद अर्थात् शास्त्रानुसार है, क्योंकि किसी सूत्र में ऐसा सुना नहीं है कि चारित्रवान् आत्मा ने कंदर्प आदि का सेवन किया हो। इसलिए 'कन्दर्प' आदि का सेवन करना चारित्रवाद का विरोधी ही है। इस प्रकार निश्चय नय की अपेक्षा से कहा है। तारतम्य रूप भेद से अर्थात् कम बेशी के हिसाब से तो चारित्र में भी सजातीय भेद की अपेक्षा से उस गुण स्थानक के असंख्यात् संयम-अध्यवसाय स्थानक आगम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में कहे हैं। इससे कोई दोष नहीं रहता, क्योंकि-कंदर्प आदि करने वाले को भी तथा-विध कोई संयम स्थान घट सकता है। इससे अनशन करने वाले को, पूर्व में सेवन की भी हों तो उन भावनाओं का पश्चात्ताप आदि करते हुए शुभ भाव से अनशन में तो उनका विशेषतया अवश्य त्याग करना चाहिए, इस तरह भावार्थ समझना। विशेष विस्तार करने का अब प्रयोजन नहीं रहा। इस भक्त परिज्ञा की विधि का विस्तार समाचारी में से जानने योग्य है। वह प्राचीन समाचारी के १६वें द्वार में चौबीस द्वार से इस तरह कहते हैं कि-

गंधा संधो चिइ संति, सासणा खित्त भवण सव्व सुरा।
सक्कत्थय संति थुत्ता राहण देवी चउज्जो आ ॥१॥

सोही खामण सम्मं, समइय वय तिन्नि मंगला लावा।
चउ सरण नमो अणसण, वास थुइ अणुसट्ठि उववूहा ॥२॥

अर्थात्- "इन गाथाओं का भावार्थ यह है कि-१-प्रथम गुरु उत्तम अर्थ के लिए-अनशन की आराधना के लिए वासक्षेप को मंत्रित कर ग्लान के मस्तक पर डाले, २-उसके बाद यदि जिन प्रतिमा हो तो गुरु चतुर्विध श्री संघ सहित ग्लान के साथ में, ३-जिन प्रतिमा जी जिस भगवान की हो उस प्रभु की स्तुति बोलकर चैत्य-देव वंदन करे, उसके बाद, ४-श्री शन्तिनाथ स्वामी के आराधनार्थ कायोत्सर्ग करे, ५-शासन देवता का, ६-क्षेत्र देवता का, ७-भवन देवता और ८-समस्त वैयावच्य करने वाले देव देवियों का कार्योत्सर्ग करके उनकी स्तुतियां कहना, उसके बाद ९-शक्रस्तव कहे, १०-शन्ति-अजित शान्ति स्तव बोले और फिर ११-आराधना की अधिष्ठात्री देवी का कार्योत्सर्ग चार लोगस्स के चिन्तन पूर्वक करे।" बाद में कायोत्सर्ग पारकर यह स्तुति कहे-

यस्याः सांनिध्यतो भव्या, वाञ्छितार्थ प्रसाधकाः।
श्रीमदाराधना देवी, विघ्न प्रातापहाऽस्तु वः ॥१॥

अर्थात्- "जिसकी सानिध्यता से भव्य आत्मा इच्छित अर्थ की साधना करते हैं, वह श्रीमती आराधना देवी तुम्हारे विघ्न समूह को दूर करने वाली हो।" यह प्राचीन समाचारी द्वार १६वां की गाथा है।

उसके बाद १२- आसन पर बैठकर गुरु ग्लान को पास में रखकर उससे बाल्यकाल से सेवन किए अतियाचारों की इस तरह आलोचना करायें। प्राचीन समाचारी द्वार १६ में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जे मे जाणंति जिणा, अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु ।
तेऽहं आलोएउं, उवट्ठिओ सव्व भावेणं ॥१॥

छउ मत्थो मूढमणो, कित्तियमित्तंपि सं भरइ जीवो ।
जं च न संभरामि अहं, मिच्छा मे दुक्कडं तस्स ॥२॥

जं जं मणेण वद्धं, जं जं वायाए भासिअं पावं ।
काएण य जं च कयं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥३॥

हा ! दुट्ठु कयं हा ! दुट्ठु, कारिअं अणुमय पि हा दुट्ठं ।
अलो अंतो उज्झइ, हिययं पच्छाणु तावेणं ॥४॥

ज च सरीरं सुद्धं कुडुंब उवगरण रूव विन्नाणं ।
जीवोवधाय जणयं, संजायं तंपि निंदामि ॥५॥

गहिऊण य मुक्काइं, जम्मण मरणे सु जाइं देहाइं ।
पावेसु पसत्थाइं वोसिरि आइंमए ताइं ॥६॥

अर्थात्- "मेरे इस विषय में जो जो अपराध हुए हैं- वे श्री जिनेश्वर भगवन्त जानते हैं, उनकी मैं अप्रमत्त भाव से आलोचना करता हूँ। (१) ॥ छद्मस्थ मूढ़ मन वाला मेरा जीव कितना सा याद रखे ? इसलिए मुझे जो याद न रहा, उसका भी मेरा मिच्छामि दुक्कडं हो। (२) ॥ जो जो पाप मन से बन्धन किया हो, जो जो पाप वचन से कहा हो, जो जो पाप काया से भी किया हो- उन सब में मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। (३) ॥ हा हा ! मैंने जो दुष्ट आचरण किया हो, हा ! मैंने दूसरों द्वारा जो कोई दुष्ट आचरण करवाया हो और हा ! मैंने जो दुष्ट कार्यों का अनुमोदन किया हे, तत्सम्बन्धी पाप पश्चात्ताप से मेरे हृदय का अंतर-बीच बीच में जलता है अर्थात् मुझे उस का पश्चात्ताप दुःख होता है। (४) ॥ मेरा जो जो शरीर, धन, कुटुम्ब उपकरण रूप और विज्ञान भी जीव हिंसा आदि कराने वाला बना हो उन सबकी भी मैं निन्दा करता हूँ। (५)॥ भूतकाल के अनंत जन्म-मरणों में जो जो शरीर ग्रहण करके मैंने छोड़ दिया है उस उस पाप में प्रशस्त (पापकारक) सर्व शरीरों को मैं वोसिराता- त्याग करता हूँ। (६)॥" उसके बाद १३-संघ से क्षमापना करवाये। इस विषय में प्राचीन समाचारी द्वार १६ में कहा है कि-

साहूण साहूणीण य, सावय सावीण चउ विहो संघो ।
जं मण वय काए हिं, साइओ तं पि खामेमि ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मीए कुल गणे अ (जंइत्यादि) ॥२॥
खामेमि सव्व जीवे (सव्वे जीवा संमतु मे इत्यादि) ॥३॥
सव्वस्स (सम संघस्स, भगवओ इत्यादि) ॥४॥
सव्वस्स (जीव राशिस्स, भावओ इत्यादि) ॥५॥

अर्थात्- "सर्व साधुओं की, सर्व साध्वियों की तथा सर्व श्रावक-श्राविकाओं की- इस तरह चतुर्विध पूज्य श्री संघ की मन, वचन या काया के द्वारा जो जो आशातनाएं की हों उन सबकी मैं क्षमा मांगता हूँ। (१) ॥ आचार्य उपाध्याय, शिष्य साधर्मिक (शेष साधु), कुल और गण, इन सबके प्रति मैंने जो कोई कषाय किये हों- करवाए हों, उन सबकी मैं मन, वचन और काया से क्षमा मांगता हूँ। (२)॥ मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें, मेरी जीवों के साथ मैत्री (मित्रता) है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है। (३) ॥ तथा श्रमण जिसमें मुख्य हैं उस भाग्यवान् श्री संघ से मैं मस्तक पर हाथ जोड़ करके सब से क्षमा मांगता हूँ और मैं भी सबको क्षमा करता हूँ। (४) ॥ अन्तःकरण से अपने चित्त को धर्म भावना में स्थिर करके जगत् के सकल जीव समूह से क्षमा मांगकर, मैं भी उनको क्षमा करता हूँ। (५)॥"

इत्यादि यथा योग्य क्षमापना करवाकर फिर १४- श्री नमस्कार महामंत्र के उच्चारण पूर्वक **'अरिहंतो मह देवो'** यह गाथा तीन बार सुना कर सम्यकत्व उच्चारण करना चाहिए। उसके बाद १५- श्री नमस्कार मंत्र और 'करेमि भंते!०' सूत्र तीन बार सुना कर सर्व विरति सामायिक उच्चारण करायें। फिर १६-इसी ही तरह पांच महाव्रत तथा छठा रात्रि भोजन विरमण व्रत, इन छह व्रतों का तीन तीन बार उच्चारण करायें, और अन्त में **'इच्चेइ आइं'** इत्यादि' यह गाथा तीन बार सुनाकर पुनः व्रत स्वीकार करायें। फिर प्राचीन समाचारी द्वार १६ में कहा है कि-

चउ सरण गमण दुक्कड गरिहा, सुकडाणु मोयणं गुणसु।
सुह भावणं अणसणं, पंच नमुक्कार सरणं च ॥१॥

अर्थात्- "चार शरण को स्वीकार करो, दुष्कृत की गर्हा करो और सुकृत की अनुमोदना करो। मैत्री आदि चार भावनाओं अथवा अनित्यादि बारह शुभ भावनाओं का चिन्तन करो, अनशन-आहार का करो और पंच नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करो। इस तरह कह कर १७-पंच परमेष्ठ महा मंगल श्री नवकार मंत्र का तीन बार उच्चारण करे, फिर १८-**'चतारि मंगलं'** इत्यादि तीन गाथा कह कर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चार शरण स्वीकार करवाए फिर। १६-**"समणस्स भग वओ महावीरस्स उत्तमट्ठे ठाइ माणो पच्चक्खाइ १-सव्वं पाणाइ वायं २-सव्वं मुसा वायं, ३-सव्वं अदित्ना दाणं, ४-सव्वं मेहुणं, ५-सव्वं परिग्गहं, ६-सव्वं कोहं, ७-सव्वं माणं, ८-सव्व माय, ६-सव्व लोभं, १०-पिज्जं, ११-दोसं, १२-कलह, १३-अभक्खाणं, १४-अरइ-रइं, १५-पेसुन्नं, १६-परपरिवायं, १७-मायामोसं, १८-मिच्छा दसंण सल्लं च इच्चेइ आइं अट्ठारस पाप ठाणाइं जाव-ज्जीवाए विविहं तिविहेणं जाव वोसिरामि।"** (प्राचीन समाचारी द्वार १६) यह पाठ बोले अर्थात् श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी के द्वारा कथित अनशन को स्वीकार करता हुआ आत्म १-सर्व प्राणातिपात, २-सव्व मृषावाद (झूठ), ३-सव्व अदत्ता दान (चोरी), ४-सव्व मैथुन, ५-सव्व परिग्रहं, ६-सव्व क्रोध, ७-सव्व मान, ८-सव्व माया, ६-सव्व लोभ, १०- राग, ११-द्वेष, १२- कलह, १३-आक्षेप-अभ्याख्यान, १४-रति अरति, १५ चुगली-पैशुन्य, १६-दूसरे को अवर्णवाद-अयोग्य वचन बोलने की क्रिया, १७-माया-मृषावाद और १८-मिथ्यात्व दर्शन रूपी शल्य इन अट्ठारह पाप स्थान को जब तक जीवन है तब तक त्रिविध त्रिविध मन, वचन, काया से करना, करवाना और अनुमोदना रूप को वोसिराता-त्याग करता हूँ।

उसके बाद २०-शकुन एवं स्वजनादि संमत होने पर गुरु महाराज को वंदन करके नमस्कार महामंत्र के उच्चारण पूर्वक बीमार साधु इस तरह अनशन उच्चारण करे **"भवचरिमं पच्चक्खामि, तिविंहपि आहारं-असणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणा भोगेणं सहसागारेणं महत्तरा गारेणं सव्व समाहि वत्ति आगारेणं वोसिरामि।"** इस तरह आगार सहित अनशन में तीन आहार का त्याग करे। यदि आगार रहित करना हो तो अन्तिम दो आगार छोड़कर **"भवचरिमं निराकारं पच्चक्खामि, चउव्विहंपि आहारं, सव्वं असणं, सव्वं पाणं, सव्वं खाइमं, सव्वं साइमं अन्नत्थणा भोगेणं सहसागारेण वोसिरामि"** इस तरह पच्चक्खान करे। इन साकार-निराकार दोनों पच्चक्खानों में **'वोसिरामि'** पद के पहले अरिहंतादि पांच की साक्षी अर्थात् **"अरिहंत सक्खियं, सिद्ध सक्खियं, साहू सक्खियं, देव सक्खियं, अप्प सक्खियं वोसिरामि"** इस तरह बोलना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि अरिहंत की, सिद्धों की, साधु-गुरु की, देव-शासन देव की और आत्मा की- इस तरह पांच की साक्षी में पच्चक्खान करना चाहिए। अथवा अन्य रूप में इस तरह भी अनशन स्वीकार करे। प्राचीन समाचारी द्वार १६ में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्स इमाइ वेलाए ।
आहार मुवहि देहं सव्व तिविहेण वोसिरिअं ॥१॥

अर्थात्- ''यदि यह मेरा शरीर इस समय में ही प्रमाद-वियोग या मरण हो जाय तो अभी से सर्व आहार, पानी, वस्त्र, उपकरण और यह शरीर- इन सब का मन वचन और काया से त्याग करता हूँ ।''

इसके बाद २१- श्री संघ '**नित्थार परगा होह**' अर्थात् 'संसार समुद्र का पार प्राप्त करो' इस तरह आशीर्वाद देकर शान्ति के लिए ग्लान को वासक्षेप करें । बाद में २२- '**अट्ठा वयंमि उसहो**' अर्थात् श्री ऋषभदेव भगवान ने अष्टापद पर्वत पर निर्वाण पद प्राप्त किया इत्यादि स्तुति कहे और ''**पच्छानुत्तर सरणा०**'' आदि स्तोत्र कहे। उसके बाद में २३-गुरु महाराज ''**जम्म जरा मरण जलै०**'' इत्यादि का उपदेश दें । उसके बाद २४-उपवृंहणा अर्थात् ग्लान का उत्साह बढ़ता जाय इस तरह अनशन की और अनशनी की विशिष्टता सुना करके उत्साह बढ़ाना और उसे संवेग प्रगट हो इस प्रकार 'उत्तराध्ययन' आदि शास्त्र प्रतिदिन सुनाना चाहिए । यह विशेष विधि साधु के आश्रित जानाना ।

श्रावक की विधि भी इसी ही तरह समझना । केवल श्रावक सम्यकत्व की गाथा के स्थान पर सम्यकत्व दंडक अर्थात् सम्यकत्व उच्चारण के अलावा-'**अहं णं भंते ! तुम्हाणं समीपे०**' इत्यादि बोले और महाव्रतों के स्थान पर श्रावक के बारह व्रतों का उच्चारण करे, यथा शक्ति सात क्षेत्रों में धन का उपयोग करे यानि खर्च करे और यदि सामग्री हो तो उसके बाद संस्तारक दीक्षा को भी स्वीकार करे ।

इस प्रकार भक्त परिज्ञा आदि की मृत्यु से मरे हुआ साधु मृतक को अन्य साधुओं ने विधि पूर्वक परठना चाहिए । इससे अब महा पारिष्ठपनिका की विधि भी यहां प्रसंगानुसार कहनी चाहिए । उसके ग्यारह द्वार हैं । वह इस प्रकार हैं-

दिसि वत्थ चिंध नक्खत्त रक्खत्त चुन्ने य कप्प उस्सग्गो ।
चिइ गुरु पासुस्सग्गो, अट्ठुसासा असज्झाओ ॥२०॥

अर्थात्- ''१-'**दिशा**' अर्थात् नौकल्पी विहार के क्रम से चार्तुमास रहने के लिए योग्य क्षेत्र में प्रवेश करते समय साधु उत्सर्ग से नैऋत्य दिशा में नजदीक, मध्य और दूर- तीन बड़ी स्थंडिल भूमियों का प्रमार्जन करे । किसी समय साधु काल करे तब उसके मृत शरीर को परठने के लिए निरवध भूमिया देखकर रखे । वास्तव में गांव के नैऋत्य कोने में नजदीक मध्यम और दूर भूमियां प्रमार्जन करने का उत्सर्ग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मार्ग है । उस दिशा में यदि न मिले तो २-दक्षिण दिशा में, यदि वहां न मिले तो ३-पश्चिम दिशा में, यदि वहां न मिले तो वहां ४- अग्नि कोने में, इस तरह उस दिशा में यदि न मिले तो उत्तरोत्तर ५-वाचव्य, ६-पूर्व, ७-उत्तर और ८-ईशान दिशा में भूमियों का प्रमार्जन करना । इस क्रम का बिना कारण से यदि उल्लघंन करता है तो महा दोष उत्पन्न होता है और क्रम के पालन से बहुत गुण होते हैं । नैऋत्य दिशा में मृतक को परठने से आहार, पानी, वस्त्र, पात्रादि सुलभ होता है और समाधि होती है। बिना कारण से उसे छोड़कर दक्षिण दिशा में परठने से आहार पानी-नहीं मिलता, इससे संयम की विराधना होती है अथवा ऐषणा समिति का भंग होता है अथवा आधे चौमास में यदि विहार करना पड़े तो मार्ग में महा विराधना होती है । हाँ, नैऋत्य दिशा में यदि भूमि न मिले तो दूसरी दक्षिणी दिशा में परठने से पहले जितना ही लाभ होता है । दूसरा स्थान होने पर भी तीसरी पश्चिम दिशा में यदि परठे तो उपकरण, वस्त्र, पात्रादि न मिलें । इस तरह उत्तरोत्तर चौथी दिशा में परठने से स्वाध्याय में विघ्न होता है । पांचवीं दिशा में परठने से परस्पर साधु को गृहस्थों से अथवा साधु को अन्य धर्म के साधु के साथ में कलह होता है, इससे शासन की निन्दा होती है । छठे में गच्छ के टुकड़े होते हैं अथवा चारित्र धर्म खत्म होता है । सातवीं दिशा में परठने से साधु को बीमारी आती है और आठवीं दिशा में अन्य साधु की मृत्यु होती है । इस तरह उत्तरोत्तर दिशा में परठने से दोष होता है और पूर्व पूर्व के अभाव में ही उत्तर उत्तर दिशा में परठने से प्रथम दिशा के समान लाभ होता है ।

२-**'वत्थ'** = जब कोई साधु काल धर्म प्राप्त करे तब उसके मृतक शरीर को उपयोगी बनें- ऐसे नये कोरे तीन वस्त्रों का संग्रह करे । गच्छाचार्य को गच्छ के अनुसार से मृतक के उद्देश्य के नये कोरे तीन-तीन वस्त्रों का संग्रह करना चाहिए । कम से कम एक मृतक के लिए तीन रखना, क्योंकि चातुर्मास में जब एकाएक कोई साधु काल धर्म प्राप्त करे तब नये वस्त्र नहीं ले सकते, पुराने या मैले वस्त्र सहित मृतक को निकालने से अन्य लोगों में धर्म का हलकापन दिखता है- जैसे 'यह साधु धर्म दुष्ट है कि बिचारे को मरने पर भी पूरे वस्त्र नहीं मिले तो फिर परलोक में क्या मिलने वाला होगा ?' नये उज्जवल वस्त्र देखकर वे लोग धर्म की प्रशंसा करते हैं, धर्म को स्वीकार करते हैं । उस वस्त्र को साधु पाक्षिक चौमासी या सवंत्सरी के दिन पडिलेहन करे । हमेशा पडिलेहन करने से मैला हो जाने से निरुपयोगी बन जाता है । दिन या रात में मरे हुए साधु के मृतक शरीर के हाथ-पैर के अंगूठे अंगुलियों के साथ में बांधना अथवा अंगुलियों की रेखा में कुछ अल्प

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

छेदन करना। इसमें कारण यह है कि मृतक साधु के शरीर में कुछ व्यंतरादि प्रत्यनीक देव अधिष्ठान करके नाचना, कूदना, दौड़ना, आदि उपद्रव न करें। यदि अखंड शरीर हो तो प्रवेश कर सकता है, छेदन-खंडित करने के बाद उसमें प्रवेश नहीं करता। यह छेदन या अंगुली बंधन किए बिना रात्रि के अन्दर मृतक के पास में बैठकर यदि सो जाय या जागे तो जिनाज्ञा का भंग होता है और व्यंतरादि का उपद्रव संभव होता है। उपरान्त मृतक को स्नान करवाकर कुंकुम (चंदन) आदि से विलेपन करें। उसके बाद नये अखंड चोल पट्टक (अधो वस्त्र) पहनाना। मुख में जीव जन्तु न घुस जाय इसलिए मुख पर वस्त्र बांध कर एक वस्त्र संथार के नीचे बिछा कर, ऊपर दूसरा वस्त्र ओढ़ाना, और संथारे को रस्सी से कटि भाग के साथ में बांध देना चाहिए।

३. **'चिंध'** = मुखवस्त्रिका और चखली (छोटा ओघा)– ये दो साधु के चिह्न मृतक के पास रख दे। क्योंकि देव गति में गयी उसकी आत्मा अवधि-ज्ञान आदि से कभी पूर्व जन्म का ध्यान करे तब उसे यह साधु धर्म का फल है-ऐसा समझने से समकित दृष्टि बनता है, ऐसा चिह्न न दिखने से मिथ्या दृष्टि होता है, इसलिए साधु की निशानी रखना चाहिए। निडर गीतार्थ वृषभ साधु रात्रि में मृतक के पास में बैठकर रक्षण व जागरण करे, नव दीक्षित या बाल आदि को मृतक के पास में नहीं बैठाना चाहिए। जो महा पराक्रम वाला हो उनको ही बैठाना। मृतक के पास मात्रा का प्याला रखना और वृषभ मुनि जागते रहें। मृतक यदि किसी व्यंतरादि के अधिष्ठान से उठे या बैठ जाय तो बायें हाथ में मात्रा लेकर **'बुज्झ बुज्झ गुज्झगा'** अर्थात् 'हे गुह्यक (यक्ष) समझ ! समझ !!' इस तरह कहकर उस मृतक के ऊपर छिड़काव करे। ४-'नक्खत्तं' अर्थात् मृत्यु नक्षत्र के अनुसार बिम्ब (पुतले) करे। प्राचीन समाचारी द्वार २० में कहा है कि-

दुन्नि अ दिवड्ढ खेत्ते दब्भमया पुत्तलाउ कायव्वा ।
समखित्तंमि य इक्को, अवड्ढ अभीइ न कायव्वो ॥१॥

तिन्नेव उत्तराइं पुणव्वसु रोहिणी विसाहा य ।
दो पुतलगा एसु, पुत्ति चिखली जुआ कुज्जा ॥२॥

अभिजिअ सयभिस भरणी, अद्दा अस्सेस साइ जिट्ठा य ।
एएसु न कायव्वा, एवो सेसेसु कायव्वो ॥३॥

अर्थात्- "तीन उत्तरा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा- इन छह चन्द्र नक्षत्रों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में यदि साधु काल धर्म हो जाय तो उसके मृतक के साथ में मुख वस्त्रिका और चखली सहित दो पुतले (दर्भ के) करके रखना। अभिजित्, शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा- इन सात नक्षत्रों में एक भी पुतला नहीं रखना और शेष पंन्द्रह नक्षत्रों में एक-एक पुतला करके रखना।''

क्योंकि यह विधि नहीं करने से समाचारी का भंग होता है और उसके परिणाम से पुतले नहीं करने से उतने साधुओं की मृत्यु होती है।

५-मृतक को उठाकर ले जाने वाले, चार उठाने वालों की रक्षा करना अर्थात् उपले की राख का तिलक करना तथा कुमारी द्वारा काते हुए तीन तार वाले सूत्र को 'वाम आवर्त से अर्थात् वाम भुजा के नीचे से आरंभ कर दाहिने कंधे के ऊपर जनेऊ के समान बांधकर रक्षा। करना ऐसा करने से उठाने वाले को कोई व्यतंरादि उपद्रव नहीं हो सकता। मृतक को वसति-मकान में से बाहर निकालते समय उसके पैर आगे और मस्तक पीछे रखना। क्योंकि उठकर यदि वह नाचे तो भी वसति में जाने के बजाय बाहर जाय। गांव आदि के बहार जाने के बाद मृतक का मस्तक आगे करके पैर पीछे रखना चाहिए।

६-दण्ड धारक, गीतार्थ, वाचनाचार्य जिसने पूर्व में परठने की भूमि देखी हो, उसको सराव संपुट में केसरा- अन्य ग्रन्थों में कृश नामक वनस्पति के तृण- एक हाथ चार अंगुल प्रमाण समान मापना, यदि वह न मिले तो केसरा और उसके अभाव में चूर्ण साथ में लेना और पीछे देखे बिना आगे चलना चाहिए। अन्य साधुओं ने पात्र में असंस्पृष्ट-मृतक को परं पर भी स्पर्श न हो- इस तरह पानी साथ में लेना। यदि कोई गृहस्थ मृतक को परठने को देखे तो परठने वाले के हाथ पैर के शौच- शुद्धिकरण के लिए वह पानी उपयोग में लेना। उप लक्षण से अन्य लोगों में धर्म की निन्दा न हो, उसके लिए करने योग्य सारा करना। उपाश्रय में रहे साधुओं को मृतक के बड़ी नीति-लघु नीति के तथा श्लेष्म आदि पात्र कुंडी (प्याला) आदि परठना, फिर वसति का प्रमार्जन कर परठना। जाने वाला जिस मार्ग से जाय, उस मार्ग से वापिस न आए। क्योंकि पीछे से मृतक उठकर यदि गांव में आए तो उपद्रव करता है, इसलिए अन्य रास्ते से वापिस आना चाहिए। परठने के लिए भूमि में यदि पानी भर गया हो अथवा वनस्पति उत्पन्न हो गयी हो या मूल भूमि को भूल गया हो, इससे वापिस आना हो तो भी अन्य मार्ग से वापिस आना चाहिए, यह भावार्थ है। परठने की भूमि पर पहुँचने के बाद वाचनचार्य उस भूमि का प्रमार्जन कर साथ में लाए केसराओं की अखंड धारा से उस भूमि पर उल्टा 'तो' का आलेखन करे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(लिखे) (समाचारी में और आवश्यकादि ग्रन्थों में 'वत' को लिखने का विधान है। यद्यपि वर्तमान में यह समाचारी पालन नहीं दिखता, फिर भी उसमें कोई विशिष्ट तत्त्व रहा है। मृतक को परठने का संथारा बराबर न हो- वह भी अहितकर कहा है। यदि ऊपर मस्तक के विभाग में विषम हो तो आचार्य को, यदि मध्य में विषम हो तो वृषभ (श्रेष्ठ) साधुओं को और यदि नीचे के भाग में विषम हो तो अन्य साधुओं को मृत्यु अथवा रोग आदि होता है, ऐसा कहा है। उसके बाद उसके ऊपर मृतक को स्थापन कर, अमुक के शिष्य-अमुक नाम के साधु ने काल धर्म प्राप्त किया है, अमुक आचार्य का, अमुक उपाध्याय के निश्रा वर्ती अमुक साधु को काल धर्म हुआ है, इत्यादि सब का नाम पूर्वक उच्चारण करना। साध्वी को काल धर्म हो तब अमुक की शिष्या, अमुक साध्वी ने काल धर्म प्राप्त किया है, अमुक प्रवर्त्तिनी का नाम भी आचार्यादि के नाम के पीछे बोलना। वर्तमान काल में गण, शाखा, आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्त्तिनी का नामोच्चारण पूर्वक काल धर्म प्राप्त करने वाले का नाम लेकर वोसिराया जाता है, यह उस विधि का अनुकरण है। इस तरह नामोच्चारण पूर्वक **'तिविहं तिविहेणं यह वोसिराया जाता है।'** इस तरह तीन बार बोल कर विसिराये।

मृतक को परठने के बाद यथाजात उपकरण मुंहपत्ति, रजोहरण (चखली) और चोल पट्टा उनके साथ में ही रखना चाहिए। यदि वह न रखे तो यह साधु का मृतक है- इस तरह जानकारी न होने से गृहस्थ को मार डाला है- ऐसा मानकर लोग साधुओं को उपद्रव करें। मृतक ले जाते समय यदि उस मकान में ही खड़ा हो जाय तो वह मकान, यदि गली में उठे तो गली, यदि मौहल्ले में उठे तो मौहल्ला, यदि गांव के मध्य में उठे तो गांव का आधा भाग, यदि गांव के दरवाजे पर उठे तो गांव, यदि गांव और उद्यान के बीच में उठे तो उस देश का अमुक छोटा भाग, यदि उद्यान में उठे तो देश का मंडल से बड़ा अमुक भाग, यदि उद्यान और स्थंडिल की भूमि के बीच में उठे तो छोटा देश और यदि स्थंडिल भूमि में उठे तो उस राज्य को छोड़कर अन्यत्र विहार कर जाना, उस प्रदेश में नहीं रहना। वहां रहने से व्यंतरादि उपद्रव करें अथवा अन्य साधु के प्राण लें इत्यादि अहित होने की संभावना है। मृतक को परठने के बाद दो घड़ी गीतार्थ साधु को एक ओर खड़े रहना, वह यदि उठे और वहीं गिरे तो उपाश्रय छोड़ना, यदि उद्यान और स्थंडिल के बीच पड़े तो गली छोड़े, यदि उद्यान में पड़े तो मौहल्ला छोड़ना, यदि उद्यान और गांव के बीच में पड़े तो आधा गांव, यदि गांव के दरवाजे में गिरे तो सम्पूर्ण गांव छोड़, यदि गांव के बीच

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में गिरे तो मंडल, यदि मौहल्ले में गिरे तो देश का अमुक भाग यदि गली में गिरे तो देश, यदि वापिस आकर मकान में गिरे तो समग्र राज्य, यदि दूसरी बार वापिस मकान में आकर गिरे तो दो राज्य और यदि तीसरी बार आकर गिरे तो तीन राज्य छोड़कर अन्यत्र चले जाना चाहिए। अशिवादि कारण से यदि विहार न हो सके तो प्रत्येक साधु को सविशेष तप करवाना, जैसे नमुक्कारसी वाले को पोरसी, पोरसी वाले को परिमार्द्ध और यदि सामर्थ्य हो तो आयबिंल करवाना, यदि वह न कर सके तो नीवि और इतना भी न हो तो एकासणा करवाना। इसी तरह परिमार्द्ध वाले को उपवास, उपवास वाले को छट्ठ, छट्ठ वाले को अट्ठम, इत्यादि दो गुणा तप करवाना। यदि मृतक किसी साधु का नाम उच्चारण करे तो जिनका नाम बोले उतने साधुओं का तुरन्त लोच करना और पांच उपवास करवाना एवं उन साधुओं को अन्य गच्छ में भेज देना।

परठने के बाद वापिस आते समय मृतक की प्रदक्षिणा न हो– इस तरह जहां खड़े हों वहां से सीधा वापिस आ जाना। ७–परठने के बाद वस्त्र उतार लेना, ८–**महापारिट्ठा वणिया वोसिरणत्थं** कायोत्सर्ग करना। उसमें एक नवकार मंत्र का चिन्तन कर। "**तिविहं तिविहेण वोसिरिअं**" इस तरह प्रगट रूप में बोलना। उसके बाद वस्त्र उलटा पहनकर, यथा रत्नाधिक का क्रम छोड़कर वहां से चैत्यधरम्–नंदी के पास जाय और उलटे हाथ में औघा उलटा पकड़कर गमनागमन की आलोचना करे। उसके बाद इरियावही प्रतिकमण करे। उसके बाद उलटा चैत्य वंदन करे और उसमें 'अजित शांति' स्तवन कहे। उसके बाद सीधे क्रम से इरियावही प्रतिक्रमण करे, ९–देव वंदन करे, स्तवन में अजित शान्ति स्तव कहकर १०–आचार्य श्री के सन्मुख आकर वंदन करे और परठने में अविधि हुई हो उसका काउस्सग्ग करे, उसमें एक नवकार मन्त्र का चिन्तन कर ऊपर प्रगट रूप में नवकार बोले, ११–यदि कोई महर्द्धिक–आचार्य, अनशनी महान तपस्वी, बहुश्रुत अथवा बहुजन मान्य साधु काल धर्म हो गये हों तो अस्वाध्याय का पालन करे और उस दिन उपवास करे। सर्व साधु के निमित्त में अस्वाध्याय अथवा उपवास करने की विधि नहीं है। वह भी यदि उपद्रव न हो तो यह विधि करने की है। अशिवादि उपद्रव समय में तो उपवास, अस्वाध्याय और अविधि से परठने का कायोत्सर्ग, इतना नहीं करना। यह समाचारी पूर्व काल में साधु मृतक को जंगल में जाकर परठते थे, उस समय की बात है। वर्तमान काल में मृतक को वोसिरा कर गृहस्थ को सौंप देते हैं। उसके बाद गृहस्थ उत्सव महोत्सव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पूर्वक उनकी क्रिया करते हैं। फिर भी उपर्युक्त शक्य पालन करने में जिनाज्ञा का पालन होता है और उपर्युक्त विविध अनिष्टों से बच सकते हैं यह, निःसन्देह सत्य है। इससे साधु से जो हो सके वह साधु को करना और गृहस्थों से जो शक्य हो वह गृहस्थों के द्वारा करना। इस तरह महा पारिष्ठापनिका की विधि कही। अब सापेक्ष यति धर्म का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि-

सापेक्षो यति धर्मोऽयं, परार्थ क रणादिना ।
तीर्थ प्रवृत्ति हेतु त्वाद् वर्णितः शिव सौख्यदः ॥१५३॥

मूलार्थ- "शिव सुख को देने वाले यह सापेक्ष यति धर्म, परोपकार आदि करने से तीर्थ की अविच्छिन्न प्रवृत्ति का हेतु होने से यहां उसका वर्णन किया है, अर्थात् सापेक्ष यति धर्म की आराधना से परम्परा से मोक्ष और स्व-पर कल्याणादि होता है, उससे जैन शासन का प्रवाह अखंड रहता है।"

व्याख्या- यह यहां तक जो कहा है वह सापेक्ष यति धर्म है अर्थात् गच्छवासी साधुओं को गुरु के अन्तेवासी रूप से लेकर मृत्यु तक का यहां वर्णन किया है। वह धर्म शिव अर्थात् मोक्ष का सर्व बाधाओं (विघ्नों) से रहित सुख को देने वाला है, अर्थात् उसका फल मोक्ष है। यहां मोक्ष रूप उत्तम फल देने में यह हेतु है कि इस धर्म तीर्थ की अर्थात् चतुर्विध श्री संघ की अथवा आगम-प्रवचन की प्रवृत्ति अविच्छिन्न प्रवाह का कारण है। तीर्थ को चलाने वाला-रक्षा करने वाला होने से सापेक्ष यति धर्म मोक्ष रूप फल को देने वाला है, इस तरह समझना। तीर्थ प्रवृत्ति में यह कारण हेतु भूत है कि परार्थ अर्थात् दूसरों को उपदेश द्वारा सम्यकत्व आदि गुणों को प्राप्त करवाने में परोपकारक होने से और आदि शब्द से परोपकार द्वारा अपने भी कर्त्तव्य की पूर्णाहूति होने से, इस तरह स्व- परक का उपकारक होने से उससे तीर्थ प्रवृत्ति अखंड चलती है। इस प्रकार परोपकारादि करने के द्वारा तीर्थ प्रवृत्ति अखंडन चलती है। इस प्रकार परोपकारादि करने के द्वारा तीर्थ प्रवर्ताने वाले होने से मोक्ष रूप फल को देने वाला है। इस प्रकार इस श्लोक का भावार्थ समझना।

(प्रति में इसके बाद वृहत्कल्पोक्त २७ प्रकार की समाचारी प्रक्षिप्त-विशेष रूप से बढ़ाया हुआ है। यहां उसका सम्बन्ध नहीं है। फिर भी प्रति में लिखा हुआ होने से हम भी यहां उसका अर्थ लिख रहे हैं।)

[उपाख्यान- बृहत्कल्प भाष्य उद्देश १ गाथा १६२४ से १६३३ में तो स्थविर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कल्प वाले साधुओं की समाचारी के सत्ताईस द्वार कहे हैं। वह इस प्रकार हैं-"१-श्रुत, २-संघयण, ३- उपसर्ग, ४-आतंक, ५-वेदना, ६- कितने जन ? ७-स्थंडिल, ८-वसति, ९ कितना काल ? १०-बड़ी नीति, ११ लघु नीति, १२-अवकाश, १३-तृण पाट चौकी, १४-संरक्षण, १५- संस्थापना, १६- प्राभृतिका, १७- अग्नि, १८-दीपक, १९-अवधान, २०- कितने ? २१-भिक्षाचरी, २२-पानी, २३-लेपालेप, २४-अलेप, २५-आयंबिल, २६-पडिमा और २७- मासकल्प।" इस द्वार के विषय में पूर्व में यथास्थान पर विचार करने पर भी उसमें जो विशेषता है वह यहां कहते हैं-

१-श्रुत- गच्छवासी साधु को जघन्य से अष्ट प्रवचन माता का ज्ञान होना चाहिए और उत्कृष्ट से चौदह पूर्व तक का होता है। **२-संघयण**-मन का आलम्बन रूप धीरता, उसमे गच्छवासी दुर्बल या बलवान अर्थात् कोई धीर-शान्त स्वभाव का होता है और कोई धैर्य बिना का भी होता है। **३-उपसर्ग**-देव आदि कृत उपसर्ग को सहन करना- इसका पूर्व में वर्णन किया है। **४- आतंक**- अर्थात् दुःसाध्य अथवा शीघ्रघातक रोग, इन दोनों को सामान्यतया सहन करे और ज्ञानादि की रक्षा रूप किसी विशेष लाभार्थ सहन न भी करे अर्थात् औषधादिक से प्रतिकार न भी करे। **५-वेदना**- सामान्यतया सहन भी करे और विशेष कारण से सहन न भी करे। वह वेदना दो प्रकार की है, एक तो स्वीकार की हुई और दूसरी उपक्रम से उत्पन्न हुई। उसमें लोच आदि की स्वीकार की हुई वेदना और वृद्धावस्था आदि की उपक्रम जन्य कहलाती है। **६-कितने ?**-जघन्य से तीन और उत्कृष्ट से बत्तीस हजार साधु एक गच्छ में होते हैं। ७-**स्थंडिल**-अनागाढ़ पहली अनापात-असंलोक आदि निर्दोष भूमि में, अगाढ़ कारण से शेष आपातादि दूषण वाली भूमि में भी परठना। **८-वसति**-उपाश्रय में ममत्व न रखे और जो केवल प्रमार्जन बिना, लिपाई आदि क्रिया बिना की हो उसमें रहे। नवदीक्षित-अपरिणत आदि साधु तो राग होने के कारण से उसके ममत्व वाला भी होता है और यदि निर्दोष न मिले तो लिपाई आदि परिकर्म वाली भी उपयोग करे। **९- कहां तक ?** वसति का मालिक पूछे कि-आप यहां कहां तक रहोगे ? तब 'यदि कोई विघ्न हो तो एक महीने तक और यदि विघ्न आ जाय तो इससे कम अथवा अधिक भी रहने का हो सकता है।' इस तरह कहे। **१०-बड़ी नीति** और **११-लघु नीति** = शय्यातर ने ये दोनों जहां परठने की अनुमति दी हो वहीं परठना चाहिए। बीमारी आदि के कारण से तो प्याले आदि का उपयोग करके बाहर ही परठना चाहिए। **१२-अवकाश**- बाहर खुली भूमि में बैठना, पात्र धोना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इत्यादि शय्यातर की अनुमति जहां हो वहीं करें और कारण से बड़े पात्र आदि भी धोकर बाहर परठना। **१३- तृण-तख्ता**-संथारे के लिए तृण (घास) अथवा तख्ता आदि वस्तुएं भी जैसी शय्यातर की अनुमति मिले उसके अनुसार उपयोग करना। दूसरा ढंग नहीं। **१४-संरक्षण**-जहां स्थिरता की हो, वहां गृहस्थ कहे कि-पशु आदि से मेरे मकान की रक्षा करना अथवा समीप में अमुक मकान है उसकी रक्षा करना, तब अशिवादि कारण से यदि रहने जैसा हो तो कहे कि 'हम रहेंगे तो रक्षण करेंगे या ध्यान रखेंगे।' **१५-संस्थापन**-गृहस्थ कहे कि वसति का संस्कार करना, सजाना, सुधारना इत्यादि मकान की मरम्मत आदि करना, तब यह कहे कि 'ऐसे कार्य में हम साधु लोग कुशल नहीं हैं।' **१६- प्राभृतिका**-जहां बलि-नैवेद्य तैयार हुआ हो ऐसी वसति उतरने को प्राभृतिका कहते हैं। कारण से यदि ऐसे स्थान में रहना पड़ता हो तो अपने उपकरणों का अच्छी तरह से रक्षण करें और जब तक गृहस्थ बलि तैयार करे, तब तक एक ओर रहें।

१७-अग्नि और **१८- दीपक** यदि मकान में अग्नि या दीपक जलाया हो, वहां यदि कारण से रहना पड़े, तो आवश्यक प्रतिक्रमण बाहर-उसके प्रकाश से बचकर जहां किया जाय वहां करें। **१९-अवधान**-यदि गृहस्थ बाहर खेत आदि को जाते हुए कहे कि 'हमारे घर आदि की सार संभाल रखना' तब भी यदि कारण से रहना पड़ता हो तो स्वयं उपयोग रखे अथवा उपस्थापना किए बिना का यदि सामायिक चारित्र वाला नया साधु हो तो उसके द्वारा सार संभाल रखनी चाहिए। **२०-कितने ?** यदि गृहस्थ पूछे कि कितने साधु मेरे मकान में रहोगे ? तब यदि कारण से वहां रहना पड़ा हो और 'अमुक संख्या में रहेंगे, अधिक नहीं रहेंगे' ऐसा निर्णय गृहस्थ को बताकर रहे हों तो फिर यदि अन्य साधु आएं हो तो उनको रखने के लिए पुनः गृहस्थ से अनुमति मांगनी चाहिए। यदि अनुमति देता है तो वहीं उतारे, नहीं तो अन्य मकान में व्यवस्था करे। **२१-भिक्षाचरी** और **२२- पानी**-आहार-पानी किसी समय नियत द्रव्यादि विभाग से और किसी समय अनियत द्रव्य, अनियत क्षेत्र से, अनियत काल में भी ग्रहण करे। **२३- लेपालेप** और **२४-अलेप**-किसी समय आहार पानी लेपकृत, तो किसी समय अलेप कृत वहोरना चाहिए। **२५- आयंबिल**-किसी समय आयंबिल करे तो किसी समय न भी करे। **२६- पडिमा**-'भद्रा' आदि पडिमाओं को वहन करना, अविरुद्ध करना अर्थात् स्वीकार करना है। और **२७- मासकल्प**- गच्छवासी मास कल्प आदि अभिग्रह भी कर सकते हैं। इस तरह गच्छवासी-स्थविर कल्पी मुनियों की समाचारी का कथन किया गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गच्छवासी मुनियों की स्थिति (कथन) भी बृहत्कल्प वृत्ति उद्देश पहले गाथा १६३४ से १६५६ तक में इस तरह उन्नीस द्वार से कही है । उसमें १-क्षेत्र, २-काल, ३-चारित्र, ४- तीर्थ, ५-पर्याय, ६-आगम, ७-कल्प, ८-वेद, ९-लिंग, १०-लेश्या, ११-ध्यान, १२-गणना, १३-उनका अभिग्रह, १४-दीक्षा और १५-मुंडन विषय में उनकी स्थिति कैसी हो ? १६-मन के द्वारा उपराध होते चतुर्गुरु अनुद्घात प्रायश्चित्त (बृहत्कल्प की गाथा १६५५ में स्थविर कल्प साधु को मानसिक अतिचार में तप प्रायश्चित्त देना निषेध करके केवल आलोचना और प्रतिक्रमण दो होने का कहा है, इससे यह सिद्ध होता है कि-यहां 'चतुलघु अनुद्घात' कहा है वह जिन कल्पी आदि के उद्देश्य से होना चाहिए । इस ग्रन्थ में भी चालू अधिकार के सोलहवें द्वार के विवेचन में 'स्थविर कल्पी को मानसिक अतिचार में तप प्रायश्चित्त नहीं होता' ऐसा कहा है। १७-कारण, १८- निष्प्रति कर्म तथा १९-आहार-विहार कब करना? इन उन्नीस द्वारों के विषय में कुछ कहते हैं-

१- क्षेत्र द्वार- गच्छवासी स्थविर कल्पी मुनि जन्म और सद्भाव की अपेक्षा से पंद्रह कर्म भूमियों में होता है और संहरण किए तो अकर्म भूमियों में भी होता है ।

२- काल द्वार-जन्म से और सद्भाव से दोनों प्रकार से भी अवसर्पिणी में, तीसरा, चौथा व पांचवां इन तीनों आरे में होते हैं, उत्सर्पिणी काल में जन्म से दूसरा, तीसरा और चौथा आरा में होता है और सद्भाव से चारित्र धारी तो तीसरे, चौथे आरा में ही होते हैं अर्थात् दूसरे आरा में जन्म लें परन्तु चारित्र तो तीसरे, चौथे आरा में ही लेता है तथा नो उत्पर्पिणी-अवसर्पिणी में अर्थात् युगलिक क्षेत्र में जहां सदा अवस्थित काल है, वहां जन्म से और साधुता से दोंनो प्रकार से दुषम-सुषमा जैसे काल होता है, उस महा विदेह में और संहरण से तो सुषमादि के समान काल वाला देव कुरु आदि सर्व क्षेत्रों में रहता है ।

३- चारित्र द्वार- चारित्र को प्राप्त करते भिन्न व्यक्ति की उपेक्षा से दो सामायिक व छदोपस्थापना चारित्र वाला होता है और पूर्व प्रतिपन्न परिहार विशुद्ध आदि सर्व चारित्र वाला होता है ।

४- तीर्थ द्वार- स्थविर कल्पी साधु नियम से जब से शासन की स्थापना हो तब से लेकर जब तक शासन चले, तब तक तीर्थ में ही रहते हैं, तीर्थ स्थापना के पहले अथवा उसका विच्छेद होने के बाद नहीं होते ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५- पर्याय द्वार- पर्याय दो प्रकार का होता है- एक गृहस्थ पर्याय, दूसरा दीक्षा पर्याय। उसमें गृहस्थ पर्याय जघन्य से आठ वर्ष और उत्कृष्ट से कोई करोड़ वर्ष के आयुष्य वाला अन्तिम अवस्था में दीक्षा ले तो उसे पूर्व करोड़ वर्ष का भी होता है। चारित्र पर्याय जघन्य से-दीक्षा के बाद तुरन्त काल धर्म प्राप्त करे अथवा चारित्र धर्म से पतन हो इत्यादि कारण से अंतर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट से अंश (आठ वर्ष) कम पूर्व करोड़ वर्ष होता है। इससे अधिक नहीं होता। क्योंकि करोड़ पूर्व से अधिक आयुष्य वाला हो, उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होती- युगलिक अवस्था होती है।

६- आगम द्वार- यहां मूल प्रति में 'पूर्व श्रुताध्ययनम' पाठ वह अशुद्ध दिखता है जब कि बृहत्कल्प की टीका में 'अपूर्व श्रुतम' पाठ है। यह संगत एवं शुद्ध दिखता है क्योंकि जिन कल्पी नया श्रुत ज्ञान नहीं पढ़ते और स्थविर कल्पी साधु श्रुत ज्ञान पढ़े अथवा न भी पढ़े -यह कहने का मतलब है।

७- कल्प द्वार- स्थविर कल्पी साधु स्थित और अस्थित दोनों कल्प वाले होते हैं। कल्पसूत्र में कहा है अचेलकत्व आदि दस कल्पों में जिसका नियत पालन करना वह स्थित कल्प है और मध्यम तीर्थंकरों के काल में जिसका अनियत पालन करना वह अस्थित कल्प है, ऐसा समझना।

८- वेद द्वार- स्थविर कल्पियों को चारित्र प्राप्ति के समय वेद का उदय ही होता है, और उसके बाद तो कोई अवेदी भी होता है।

९- लेश्या द्वार- स्थविर कल्प भी प्राप्ति के समय पहले तीन (अन्तिम) तीन में कोई शुद्ध लेश्या वाला होता है और बाद में छह लेश्या में से किसी एक लेश्या वाला होता है।

१०- ध्यान द्वार-चारित्र की प्राप्ति के समय में धर्म ध्यानी होता है और बाद में आर्त्तध्यान आदि चार में कोई भी ध्यान वाला होता है।

११- लिंग द्वार- द्रव्य लिंग-रजोहरणादि हो अथवा न हो, भाव लिंग अर्थात् चारित्र के परिणाम तो निमय से सदैव होते हैं।

१२- गणन द्वार- चारित्र गुण स्थानक को प्राप्त करते संख्या में उत्कृष्ट से दो हजार से लेकर नौ हजार होते हैं और किसी काल में एक भी नहीं होता। चारित्र प्राप्त करने वाले जघन्य-उत्कृष्ट उभय प्रकार से दो हजार करोड़ से नौ हजार करोड़ (सहस्त्र पृथकत्व क्रोड़) होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१३- अभिग्रह द्वार- द्रव्यादि चार प्रकार के अभिग्रह वाला होता है ।

१४- दीक्षा द्वार, और १५- मुण्डापन द्वार- दीक्षा देना, मुंडन करना, ज्ञान-क्रिया सिखाने रूप दोनों शिक्षाएं देना, उपस्थापना, बड़ी दीक्षा देना, साथ में आहार पानी करना और साथ में रहना- ये छह प्रकार का सचित द्रव्य अर्थात् शिष्य करने रूप जो कल्पनीय है उसका पालन करे । यहां भी मूल प्रत में 'कर्माचरन्ति' तथा वृहत्कल्पभाष्य में 'कल्पमाचरन्ति' का पाठ आया है- यह शुद्ध समझना । अथवा इस कल्प में स्वयं यदि असमर्थ हो तो मुमुक्षु को उपदेश देकर अन्य गच्छ में भेजना।

१६- प्रायश्चित्त द्वार- मन से यदि अपराध होता है तो भी प्रथम दो आलोचना-प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करना चाहिए अर्थात् मानसिक दोष में प्रायश्चित होता है अन्यथा नहीं होता।

१७- कारण द्वार- ज्ञानादि पुष्ट आलम्बन में अर्थात् सबल कारण में अपवाद मार्ग का भी आचरण करे ।

१८- प्रतिकर्म द्वार- कारण बिना शरीर का प्रतिकर्म-शुश्रुषादि न करे । कारण से तो बीमार, वादी, आचार्य और व्याख्यानकार का पैर धोना, मुख साफ करना, शरीर दबाना इत्यादि प्रतिकर्म भी होता है, अन्यथा नहीं होता ।

१९- भिक्षाटन और विहार द्वार- ये दो कार्य उत्सर्ग से तीसरे प्रहर में और अपवाद मार्ग से शेष प्रहरों में भी करने चाहिएं । इस तरह से स्थविर कल्पी का स्वरूप बृहत्कल्प भाष्य की गाथाओं के अनुसार कहा गया है ।

इसके बाद प्रति में 'तीर्थ द्वारे, इत्यादि पास दिखता नहीं है, फिर भी उसमें की हुई टिप्पणी के 'यथालन्दिक स्वरूपे, क्षेत्रे, काले-चारित्रे च जिन वदिति' इन शब्दों के आधार पर वह किसी प्रति में से लिया गया संभव है । उसका स्वरूप इस प्रकार से है-

यथालंदिक चारित्र- जिसका स्वरूप निरपेक्ष यति धर्म में कहा जायेगा, उसका शेष-पीछे से मिलाया हुआ वर्णन इस तरह से यहां उन्नीस द्वार से कहा है-

१ से ३ तक- क्षेत्र, काल और चारित्र द्वार में-यथालंदिकों का वर्णन आगे कहा जायेगा उसके अनुसार जिन कल्पी मुनि के समान समझना । **४- तीर्थ द्वार**- यथालंदिकों का नियम तीर्थ के अस्तित्व में ही होता है, जाति स्मरणादि के योग से भी तीर्थ स्थापना के पहले अथवा विच्छेद होने के बाद नहीं होता । **५- पर्याय द्वार**- जघन्य से गृहस्थ पर्याय उन्नतीस वर्ष का और साधु पर्याय बीस वर्ष का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होता है और उत्कृष्ट से गृहस्थ-साधु दोनों पर्याय अंश कम पूर्व करोड़ वर्ष का होता है । **६- आगम द्वार**- नया श्रुत न पढ़े, क्योंकि स्वीकार किए उचित योग के- यथालंदिक कल्प की आराधना से वह कृतार्थ है । पूर्व में पढ़ा हुआ तो विस्मृति से क्षय नहीं होता, उस निमित्त से एकाग्र चित्त से सम्यग् स्मरण करता है । **७- वेद द्वार**- प्रतिपत्ति काल में पुरुष वेद-नपुंसक वेद दोनों होते हैं, फिर उपशम श्रेणी की अपेक्षा से वेदोदय वाला अथवा कोई वेदोदय रहित भी होता है । (साध्वी यथालंदिक नहीं होती) । **८- कल्प द्वार**- प्रतिपत्तिकाल में तीन शुद्ध लेश्या वाला और फिर छह लेश्याओं वाला भी होता है । **१०- ध्यान द्वार**- प्रतिपत्ति काल में विशुद्ध होते- बढ़ते धर्म ध्यान वाला होता है । फिर आर्त, रौद्र ध्यान वाला भी होता है, तथापि प्राय उसका दुर्ध्यान निरनुबन्धी अर्थात् अनुबन्ध रहित होता है । **११- लिंग द्वार**- यथालंदिक को वस्त्र-पात्रादि साधु वेश होता है, अथवा जो जल पात्र होता है, उसे नहीं भी होता । **१२- गणना द्वार**- यथालंदिक कल्प को स्वीकार करने वाला जघन्य से पांच पांच के तीन गुना होने से पंद्रह पुरुष होते हैं और उत्कृष्ट से सहस्र पृथकत्व होते हैं । उसमें विशेष यह है कि यदि ग्लानत्वादि के कारण से कोई वापिस गच्छ में जाय अथवा दूसरे को लेने आए तो कम ज्यादा होते स्वीकार करने वाले जघन्य से एक या दो भी होते हैं और उत्कृष्ट से एक सौ भी होते हैं । पूर्व प्रतिपन्न तो जघन्य और उत्कृष्ट दोनों की अपेक्षा से करोड़ पृथकत्व होता है । यह दो द्वार वृहत्कल्प भाष्य के आधार पर यहां लिखे गये है । **१३- अभिग्रहद्वार**- यथालंदिक कल्प अभिग्रह स्वरूप होने से उस में द्रव्यादि अभिग्रह नहीं होते । **१४- दीक्षा द्वार** और **१५- मुंडापन द्वार**- यथालंदिक कल्प वाला अन्य को दीक्षा नहीं देता और मुंडता भी नहीं है । हां, केवल उपदेश देता है और यदि कोई दीक्षा लेने को तैयार होता है तो अन्य को सौंप देता है । **१६- प्रायश्चित द्वार**- मन से भी अपराध होने से उनको 'अनुद्घात' अर्थात् कम से कम 'चतुर्गुरु' का प्रायश्चित्त आता है । **१७- करण द्वार**- करण अर्थात् ज्ञानादि का प्रयोजन, उसमें यथालंदिको का कल्प निरपवाद चरित्र के पालन करने का होने से ज्ञानादि पुष्ट आलम्बन से भी अपवाद मार्ग सेवन न करें । **१८- प्रतिकर्म द्वार**- ये महात्मा नेत्र का मैल भी दूर नहीं करते अर्थात् शरीर का किसी प्रकार का प्रतिकर्म सर्वथा नहीं करते । और **१९- भिक्षाटन-विहार द्वार**- भिक्षा, भ्रमण और विहार तीसरे प्रहर में ही करते हैं, शेष प्रहर में प्राय: कायोत्सर्ग और अल्पमात्र निद्रा होती है । जंघाबल क्षीण होने पर भी अपवाद मार्ग सेवन नहीं करते, किन्तु विहार के अभाव में भी जहां रहते हैं, वहां कल्प के अनुसार से अपने ज्ञानादि योगों की साधना करते हैं ।]

For Private and Personal Use Only

(इसकी व्याख्या आदि जो पाठ हैं, उसका अर्थ मूल श्लोक १५१ की टीका के लगभग भावार्थ आ गया है, वह जान लेना ।

इति परम गुरु भट्टारक श्री विजयानंद सूरि जी के मुख्य शिष्य
पण्डित श्री शान्ति विजय गणि चरण सेवि महोपाध्याय
श्री मानविजय गणि विरचित स्वोपज्ञ श्री धर्म संग्रह
की टीका 'सापेक्ष यति वर्णन' इस नाम वाला
तीसरे अधिकार का तीसरे विभाग का
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ।

॥ 卐 ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

卐 ॐ अर्हं नमः 卐

नमः श्री जिन प्रवचनाय

धर्म संग्रह

अधिकार चौथा

अब निरपेक्ष यति धर्म का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम उसकी योग्यता बताते हैं –

प्रमाद परिहाराय, महासामर्थ्य संभवे ।
कृतार्थानां निरपेक्ष-यति धर्मोऽति सुन्दरः ॥१५४॥

मूलार्थ– "गच्छ वास में सापेक्ष यति धर्म को पूर्ण रूप में पालन करने से कृतार्थ बने अति सामर्थ्य वाले साधु को प्रमाद का त्याग करने के लिए निरपेक्ष यति धर्म स्वीकार करना अति सुन्दर है ।"

व्याख्या– '**महासामर्थ्य संभवे**' – प्रथम तीन संघयणों में से कोई एक होने से वज्र की भींत के समान, धैर्य के योग से काया का बल और काया मजबूत होने से मन का बल, अर्थात् कार्या की और मन की शक्ति होने से '**प्रमाद परिहाराय**' अर्थात् पूर्व में जिसका वर्णन किया है और आठ प्रकार के प्रमाद का त्याग करने के लिए जो मुनि '**कृतार्थानाम्**'– शिष्यों को आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणावच्छेदक इन– पांच पदों के योग्य बनाकर अपने संघ के विषय का कर्त्तव्य पूर्ण करना भूल गया हो, उनको '**निरपेक्ष**'– सहायक की अपेक्षा न होने के कारण गच्छ से मुक्त होने रूप '**यति धर्म**'– साधु धर्म '**अति सुन्दर**'– विशेष निर्जरा (कल्याण) कारक है अर्थात् कृतकृत्य हुए आचार्य आदि को प्रमाद (मोह) के विजय के लिए निरपेक्ष यति धर्म स्वीकार करना अति श्रेष्ठ है ।

यहां यह जानना है कि निरपेक्ष साधु तीन प्रकार के होते हैं । १–जिन कल्पिक, २– शुद्ध परिहारिक (परिहार विशुद्ध) वाले और ३– यथालंदिक । उसमें जिनेश्वर भगवन्त के समान जिसका कल्प–आचार हो वह 'जिन कल्प' अर्थात् उग्र विहार–आराधना जिसने आचरण किया हो वह साधु 'जिन कल्पिक' कहलाता है । दूसरा 'परिहार' अर्थात् विशिष्ट जाति का तप जिसने आचरण किया हो वह साधु परिहारिक कहलाता है और उसे 'शुद्ध' विशेषण लगने से 'शुद्ध पारिहारिक' कहलाता है और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीसरा 'यथालंद' अर्थात् कल्प के अनुरूप अमुक काल तक काल कल्प के अनुसार से आचरण करे वह साधु 'यथालंदिक' कहलाता है । यद्यपि इसके उपरान्त बारह प्रतिमाओं का पालन करना भी निरपेक्ष यति धर्म है, परन्तु उसे पहले कह दिया है इसलिए नहीं कहेंगे यहां तो जैसा पूर्व कहा है उन तीन भेदों का ही स्वरूप कहा जायेगा । इस निरपेक्ष यति धर्म का अधिकारी प्रायः आचार्य आदि पदस्थ पुरुष नही है । साध्वी को यह धर्म स्वीकार करने का अधिकार नहीं है । पंच वस्तु में कहा है कि-

गणि उज्झाय पवित्ती, थेरगणच्छेइआ इमे पंच ।
पायमहि गारिणो इह तेसिमिमा होइ तुलणा उ ॥१३७८॥

अर्थात्- "गणी-गच्छाधिपति-आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणावच्छेदक ये- पांच पुरुष प्रायः इस निरपेक्ष यति धर्म के अधिकारी हैं, उनको इसकी तुलना-योग्यता के लिए प्रयत्न करने को कहा है ।"

इस धर्म को स्वीकार करने की इच्छा वाले प्रथम तो पूर्व की रात्रि में और पिछली रात्रि में विचार करना कि-'गच्छ वास में रहकर दीर्घ पर्याय तक चारित्र का पालन किया हो, योग्य जीवों की वाचना भी दी हो और अनेक शिष्यों को आचार्य आदि पद के लायक बनाया हो, तो अब इसके बाद में मुझे क्या करना योग्य है ?' इत्यादि विचार कर यदि ज्ञान हो तो अपना आयुष्य कितना शेष है ? वह स्वयं चिन्तन करे और ऐसा विशिष्ट ज्ञान यदि न हो तो अन्य अतिशायी ज्ञानी को पूछे । यदि इस तरह जाने कि मेरी आयुष्य अल्प मात्र शेष है तो पूर्व में कहे अनुसार अपनी शक्ति बल के अनुसार उसमें से किसी एक का अनशन स्वीकार करे, आयुष्य लम्बा हो परन्तु जंघा बल यदि क्षीण हो गया हो तो स्थिर वास स्वीकार करे और यदि शक्ति मजबूत-अच्छी हो, तो कल्प आदि किसी अभ्युद्यत विहार-निरपेक्ष धर्म को स्वीकार करे । किसी प्रकार के कल्प को स्वीकार करने के पहले उस आचार्य आदि ने प्रथम स्वयं जिस कल्प की इच्छा हो उस विषय में इस तरह तुलना अर्थात् अपने सामर्थ्य का विश्वास होना चाहिए । इसके उपरान्त आचार्य यदि जिन कल्पादि को स्वीकार करना चाहे तो उसे प्रथम स्व गच्छ को अमुक समय के लिए अन्य योग्य पालक आचार्य की निश्रा में सौंपना चाहिए उपाध्यायादि यदि निरपेक्ष धर्म स्वीकार करना चाहे तो 'साधु को वाचना देना' इत्यादि अपने उस कार्य को उसके योग्य अन्य साधु को सौंपे और इसी तरह उन नये आचार्य-उपाध्याय आदि उस कार्य को करने में कितने योग्य हैं ? वह अधिकार के योग्य हैं या नहीं हैं ? उसकी परीक्षा करे । क्योंकि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

योग्यता वाले को भी इस अधिकार पद का निर्वाह करना-निरभिमानी रहना दुष्कर है । पंच वस्तु में कहा है कि-

गणणिक्खे वित्तरिओ, गणिस्स जो वाठि ओ जहिं ठाणे।
तो तं अप्प समस्स उ णिक्खिवई इत्तरं चैव ॥१३७६॥

अर्थात्- "आचार्य अमुक काल के लिए अपने गण-समुदाय अन्य को सौंप दे, अथवा जो उपाध्याय आदि जो जो पद हों, उस उस स्थान पर अपने तुल्य अन्य की अमुक काल के लिए स्थापना करनी चाहिए । क्योंकि आगे पंच वस्तु में कहा है कि-

पिच्छामु ताव एए, केरिसया होंति मस्स ठाणस्स ?
जोग्गाणवि पाएणं, णिव्वहणं दुक्करं होइ ॥१३८०॥

अर्थात्- "वहां तक देखना कि वह इस अधिकार के लिए कैसा योग्य है? क्योंकि योग्यता वाले को भी प्रायः कर इस स्थान के अधिकार का निर्वाह करना या पचाना अति दुष्कर है ।" क्योंकि पद के अहंकार से कुछ का कुछ कर बैठता है । उसके बाद निरपेक्ष यति धर्म स्वीकार करने की इच्छा वाला अपनी पांच तुलनाओं से आत्मा की तुलना करे अर्थात् अपनी शक्ति की योग्यता की जानकारी प्राप्त करे। प्रवचन सारोद्धार तथा वृहत्कल्प भाष्य गाथा १३२८ में कहा है कि-

तवेण सत्तेण, सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य ।
तुलणा पंचहा वुत्ता, जिण कप्पं पडिवज्जओ ॥४६६॥

अर्थात्- "तप, मानसिक सच्च, श्रुत, एकत्व और कायिक तथा मानसिक- इन पांच प्रकार से तुलना जिन कल्प को स्वीकार करने वाले को करने के लिए कहा है ।" उसमें-

१. तप द्वारा- आत्मा को ऐसा योग्य बनाए कि कोई देव उपसर्ग आदि करे, शुद्ध आहार आदि न मिले, ऐसे प्रसंग पर यदि खड़ा करे तो छह महीने तक क्षुधा सहन करे, उसमें बाधा न आए । ऐसी तप की भावना हो ।

२. सत्व द्वारा- भय और निद्रा का विजय करे । यह सत्व की तुलना प्रायः पांच प्रकार से होती है । पहली-जब रात्रि में सर्व साधु निद्राधीन हों उस समय उपाश्रय में ही कार्योत्सर्ग ध्यान करने और शेष चार उपाश्रय के बाहर आदि अन्य प्रदेश में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कार्योत्सर्ग करना होता है । वृहत्कल्प भाष्य गा० १३३५ में तथा पंच वस्तु में कहा है कि-

पढमा उवस्सयंमी, बीआ बाहिं तिया चउक्कंमी ।
सुन्न धरंमि चउत्थी अह पंचमिआ मसाणं मि ।।१३६५।।

अर्थात्- "सत्त्वशाली को पहली तुलना उपाश्रय में, दूसरी उपाश्रय के बाहर, तीसरी चौक, चौथी शून्य घर-निर्जन खण्डहर में और पांचवीं श्मशान में अर्थात् उत्तरोत्तर धैर्य का अभ्यास करते अन्तिम रात्रि में श्मशान में भी भय न लगे- इस तरह निर्भयता का अभ्यास करना चाहिए ।"

३. सूत्र भावना द्वारा- सूत्र को अपने नाम के समान अति परिचित कर देना चाहिए कि दिन अथवा रात में शरीर छाया आदि समय को जानने के अन्य साधनों का अभाव होता है फिर भी सूत्र परावर्तन करके उसके अनुसार एक उच्छ्वास या प्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त्त आदि उस समय को अच्छी तरह जान सकता है अर्थात् सूत्र पढ़ते जो समय लगता है उसके अनुसार काल का माप निकाल सकता है, इस तरह सूत्र का अति परिचय दृढ़ करता है ।

४. एकत्व भावना द्वारा- एकान्त में रह सके- ऐसा प्रयत्न करना । उसमें प्रथम गुरु आदि का दर्शन और उनके साथ में बोलने का भी बंध करे । इस तरह करते हुए जब बाह्य वस्तु का ममत्व मूल में से ही खत्म हो जाय, तब शरीर, उपधि आदि का ममत्व भी दूर करते आत्मा को शरीर आदि से भिन्न समझते उत्तरोत्तर शरीर उपधि का भी राग तोड़ देता है ।

५. बल भावना द्वारा- शरीर और मन- इन दोनों का बल प्राप्ति का अभ्यास करे । उसमें शरीर बल शेष मनुष्यों से अतिशायी-विशेष समझना, ऐसे बल के अभाव में भी धैर्य बल से (मन से) आत्मा को ऐसा दृढ़-मजबूत बना दे कि कठोर से कठोर भी परीषह और उपसर्गों को सहन करने में उसे बाधा-रुकावट न आ सके । ऐसा बलवान् बन जाय ।

इन पांच भावनाओं से युक्त बना-जिन कल्पी के समान बना स्वयं गच्छ में रहकर ही उपधि और आहार दोनों की परिकर्मणा करे अर्थात् योग्यता का अभ्यास करे । उपधि के परिकर्म में यदि अपने को करपात्री अर्थात् हाथ में भोजन-पानी आदि लेने पर एक बिन्दु भी नीचे न गिरे, किन्तु ऊपर शिखा बढ़ती जाय ऐसी लब्धि हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तो उसे अनुरूप परिकर्म करे और ऐसी लब्धि यदि न हो तो पात्रधारी रूप का परिकर्म करने के लिए यथा योग्य उद्यम करे। आहार परिकर्म में तो तीसरे पहर का प्रारम्भ होने के बाद राजमा, चने आदि प्रमाणोपेत, गृहस्थ को बढ़ गया हो और सूखा लेप रहित भोजन भी जो पूर्व में कहा गया है वह असंसृष्ट, संसृष्ट, उद्धृत आदि सात पिंडेषणाओं में से आखिर उद्धृत आदि अर्थात् उद्धृत, अल्प लेपिका, उद्ग्राहित, प्रग्राहित और उज्झित धर्मा- इन पांच में से कोई भी दो अभिग्रह धारण करके, उन दोनों से आहार पानी ग्रहण करे। उसमें भी एक एषणा से भोजन और दूसरे से पानी ग्रहण करे।

इसके अनुसार विधिपूर्वक आत्मा को संस्कारी बनाकर सकल संघ को एकत्रित करके सारे साधुओं से 'खमत खामणा' कर और अपने स्थान पर स्थापित आचार्य को हित शिक्षा देकर वह काल यदि हो तो श्री तीर्थंकर परमात्मा के पास में, उनके अभाव में श्री गणधर भगवन्त के समीप में, उनके अभाव में चौदह पूर्वधारी के पास में, उनके अभाव में दस पूर्वधर के पास में और वह भी यदि न मिले तो वट, अशोक आदि उत्तम वृक्ष के नीचे स्वयं, बड़े आडम्बर से अर्थात् चतुर्विध श्री संघ की उपस्थिति में जिन कल्प को स्वीकार करे। इस जिन कल्पी को पूर्व में जो दस विध चक्रवाल कहा है, उस समाचारी में १- आवश्यिकी, २- नैषेधिकी, ३- मिथ्याकार, ४- गृहस्थ के पूछने रूप पृच्छा और ५- (गहस्थ की) उपसंपदा – ये पांच समाचारी होती हैं, अन्य आचार्यों ने कहा है कि आवश्यिकी, नैषेधिकी और गृहस्थ की उपसंपदा- ये तीन ही होती हैं, क्योंकि आराम उद्यान आदि में रहने वाले जिन कल्पी को सामान्यतया गृहस्थ की अनुमति लेना आदि भी असंभावित है।

यहां पूर्व में स्थविर कल्प में जो श्रुत आदि सत्ताईस द्वार कहे हैं वही २७ द्वार जिन कल्प के आचार की मर्यादा स्वरूप अल्पमात्र कहते हैं-

१. श्रुत- श्रुत संपत्ति जिन कल्पी को जघन्य से नौंवे पूर्व की तीसरी वस्तु तक होता है, क्योंकि कम से कम इतने ज्ञान वाले को भविष्य का ज्ञान होता है, भविष्य ज्ञान के बिना जिन कल्प स्वीकार नहीं कर सकता। उत्कृष्ट से तो अपूर्ण दस पूर्व होता है क्योंकि सम्पूर्ण दस पूर्वी सफल उपदेश की लब्धि वाला होने से शासन प्रभावना और भव्य जीवों का उपकार करना इत्यादि द्वारा स्थविर कल्प से ही बहुत निर्जरा कर सकता है, इससे वह जिन कल्प को स्वीकार नहीं करते।

२. संघयण- उनका संघयण पहला ही होता है, इससे जिन कल्पी की धैर्यता, स्थिरता वज्रमय भीत के समान दृढ़ होती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. उपसर्ग- देव आदि से उपसर्ग हो अथवा न भी हो । यदि वह हो तो मानसिक पीड़ा-दुर्ध्यान बिना समाधिपूर्वक सहन करते हैं ।

४. आतंक- आतंक आ जाय अथवा न भी आए, यदि वह आ जाय तो जिन कल्पी को शरीर की प्रतिकर्मणा-रक्षा होने से सहन करते हैं परन्तु चिकित्सा नहीं कराते ।

५. वेदना- लोच आदि की स्वकृत और वृद्धावस्था आदि की उपक्रम रूप- ये दोनों वेदनाएं होने पर, शुभ से सहन करें ।

६. कितने ?- वसति आदि में रहते हों, वहां अन्य हों फिर भी दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं रखते अपितु भाव से अकेले ही होते हैं, और एक स्थान पर उत्कृष्ट से सात संभव होने से द्रव्य से तो अनेक भी होते हैं ।

७. स्थंडिल- परठने की भूमि-बड़ी नीति, लघु नीति और जीर्ण वस्त्रों को जिन कल्पी अनापति-असंलोक आदि जैसे पूर्व में कहे हैं, उसके अनुसार दस गुण वाली भूमि में ही परठना चाहिए । दूषित स्थान में न परठे ।

८. वसति- क्षेत्र का ममत्व-मास कल्प अथवा चातुर्मास कल्प के लिए जहां रहे उस क्षेत्र के छह विभाग की कल्पना करे और एक दिन में जिस विभाग में भिक्षा के लिए फिरे, वहां पुनः सातवें दिन भिक्षा के लिए भ्रमण करे अर्थात् छह विभाग में एक दिन ही भ्रमण करे । स्थान या गांव का ममत्व न रखे, प्रमार्जना को जरूर करे ।

९. कहां तक स्थिरता रहेगी ?

१०. बड़ी नीति,

११. लघुनीति- किस स्थान पर परठना, अमुक स्थान पर नहीं ।

१२. अवकाश- यहां बैठना, वहां नहीं बैठना इत्यादि ।

१३. तृण, पट्टा आदि उपयोग लेना अथवा नहीं लेना ।

१४. मकान की रक्षा आदि,

१५. वसति का संस्कार करना, साफ या मरम्मत आदि करना ।

१६. बलि- नैवेद्य तैयार होता हो उस वसति में नहीं रहना ।

१७. अग्नि और **१८. दीपक**- जलते हों उस बसति में न रुकना ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१६. गृहस्थ की वस्तु का रक्षण करना

२०. कितने रहोगे ?

इन द्वारों में यदि गृहस्थ पूछे एवं उसकी पराधीनता हो तो ऐसे स्थान में जिन कल्पी को नहीं रहना। क्योंकि जहां सूक्ष्म भी अप्रीति हो वहां जिन कल्पी महात्मा नहीं रुके। इतने द्वार जिन कल्पी को निषेध रूप समझना।

२१. भिक्षाचरी और **२२. विहार**- आहार (निहार) और विहान दोनों तीसरे प्रहर में ही करे। काल का ज्ञान होने से चौथा पहर प्रारंभ होते ही अवश्य वहां रुक जाय।

२३. लेपालेप और **२४. अलेप**- पूर्व कहे अनुसार सात में से दो एषणा के अभिग्रह पूर्वक आहार पानी यदि अलेपकृत मिले तो ही स्वीकार करे, लेपकृत आहारादि न ले।

२५. आचाम्ल- विगइ वाला अशनादि न ले और अनाचामाम्ल (आयंबिल) भी लेपकृत न ग्रहण करे अर्थात् तुच्छ उज्झित धर्मा मिले तभी ग्रहण करे।

२६. पडिमा- भद्रा आदि पडिमा किसी जात की स्वीकार नहीं करते, क्योंकि जिन कल्प विशेष अभिग्रह रूप होता है, उसका पालन करने से ही कृत कृत्य होता है।

२७. मास कल्प- एक क्षेत्र के छह विभाग की कल्पना कर प्रतिदिन एक एक विभाग भ्रमण करे। किसी क्षेत्रादि में एक दिन भी ममत्व न करे, इसलिए अन्तिम तीन द्वार भी निषेध रूप समझना।

विशेष में क्या कहना ? सिंह, बाघ आदि हिंसक जीव यदि सामने आएं तो मार्ग छोड़कर उज्जड़ मार्ग में चलकर ईर्यासमिति को भंग न करे परन्तु उसी मार्ग से चलता रहे इत्यादि जिन कल्पी की समाचारी बृहत्कल्प भाष्य उद्देश्य पहले गाथा १३८२ से १४१२ तक में कही है। वह जान लें।

अब यहां जिन कल्प की स्थिति-स्वरूप बताने के लिए कई द्वार कहते हैं। वह १-क्षेत्र, २-काल, ३-चारित्र, ४-तीर्थ, ५-पर्याय, ६-आगम, ७-वेद, ८-कल्प, ९-लिंग, १०-लेश्या, ११-ध्यान, १२-गणना, १३-अभिग्रह, १४-प्रव्राजन, १५-मुंडापन, १६-निष्प्रतिकर्मता, १७-भिक्षा और १८-पंथ- ये अट्ठारह तथा १९-कारण तथा २०- प्रायश्चित- ये दो मिलाकर कुल बीस होते हैं। उसमें १-तीर्थ,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२- पर्याय, ३- आगम, ४- वेद, ५- ध्यान, ६- अभिग्रह, ७- प्रवज्या देना, ८- मुंडन करना, ९- निष्प्रतिकर्मता, १०- भिक्षा और ११- पंथ ये- ग्यारह द्वार परिहार विशुद्धिक के द्वार अनुसार आगे कहे जायेंगे और शेष नीचे मुताबिक हैं-

१. क्षेत्र द्वार- जन्म से और सद्भाव से जिन कल्प प्रतिपन्न पंद्रह कर्म भूमिओं में होते हैं। संहरण से तो कर्म भूमि-अकर्म भूमि में भी होते हैं। यहां छपी हुई प्रति में न छपा है वह अधिक रूप है, क्योंकि वृहत्कल्प भाष्य गाथा १४१५ में संहरण से कर्म भूमि-अकर्म भूमि में होता है। इस तरह कहा है।

२. काल द्वार- जिन कल्पी का जन्म अवसर्पिणी के तीसरे चौथे आरे में ही होता है, व्रतधारी जिन कल्प प्राप्त होना तो तीसरे, चौथे और पांचवें आरे में भी होता है अर्थात् पांचवें आरे में जन्म लेने वाला जिन कल्प को स्वीकार नहीं कर सकता। उत्सर्पिणी में तो जिन कल्प को प्राप्त करने वाला तीसरे, चौथे आरे में ही होता है और जन्म से तीसरे, चौथे तथा दूसरे आरे में होता है, अर्थात् दूसरे आरे में जन्म हुआ भी व्रत तीसरे आरे में ले सकता है। अवस्थित काल में तो अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी के दु:षमा सुषमा काल में-उन आरों में जन्म लेने वाला और व्रतधारी भी हो सकता है, क्योंकि महाविदेह क्षेत्र में वह सदैव होता है। संहरण से तो सर्व आरों के काल में भी होता है क्योंकि देव, कुरु आदि प्रत्येक क्षेत्र में संहरण से होना संभव है।

३. चारित्र द्वार- इस कल्प को अंगीकार करने वाला प्रथम और दूसरे- दो चारित्र वाला ही होता है। उसमें महाविदेह में और भरत तथा ऐरावत में बाईस तीर्थंकरों के शासन में सामायिक चारित्र वाला और पहले-अन्तिम तीर्थंकर के काल में छेदोप-स्थापनीय चारित्र वाला होते हैं। कल्प को स्वीकार करने के बाद तो चौथा सूक्ष्म संपराय और पांचवें में यथाख्यात चारित्र वाला भी होता है, परन्तु वह उपशम श्रेणी वाला होता है, क्षपक श्रेणी वाला नहीं होता। क्योंकि "**तज्जम्मे केवल पडिसेह भावाओ**" अर्थात् 'जिन कल्प स्वीकार करने वाले को उस जन्म में केवल ज्ञान की प्राप्ति का निषेध है' इस तरह कहा है। क्षपक श्रेणी वाला तो अवश्य केवली होता ही है, अत: यह श्रेणी जिन कल्पी को नहीं होती।

४. कल्प द्वार- स्थित कल्प में ही होता है, अस्थित कल्प जिन कल्पी को नहीं होता।

५. लिंग द्वार- जिन कल्प को स्वीकार करते समय द्रव्य एवं भाव लिंग दोनों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवश्य होते हैं । स्वीकार करने के बाद भाव लिंग अवश्य होता है । द्रव्य लिंग-रजोहरणादि उपकरण कोई उठाकर ले जाए अथवा जीर्ण हो गया हो इत्यादि के कारण से न भी हो, अर्थात् उसका अभाव हो सकता है ।

६. गणना द्वार- जिन कल्प स्वीकार करने वाला प्रतिपद्यमान जघन्य से एक अथवा दो से लेकर उत्कृष्ट शत पृथकत्व (दो सौ से नौ सौ तक) होता है और स्वीकार किए हुए पूर्व प्रतिपन्न जघन्य-उत्कृष्ट दोनों प्रकार से सहस्र पृथकत्व ही होता है ।

७. पंथ-विहार द्वार- यह द्वार छपी हुई प्रति में नहीं है परन्तु बृहत्कल्प भाष्य में होने से उसके आधार पर लिया है । गोचरी भ्रमण और विहार अवश्य तीसरे पहर में ही करना चाहिए । शेष प्रहर में प्रायः कायोत्सर्ग ध्यान में रहना चाहिए ।

इस तरह अट्ठारह द्वारों का वर्णन किया, **१९वां कारण द्वार** यहां नहीं लिया। उसमें कारण अर्थात् पुष्टि निमित्त, जिन कल्पी किसी भी ऐसे पुष्ट आलम्बन को अपवाद से भी नहीं सेवन करते, और **२० वें प्रायश्चित द्वार** में मन के सूक्ष्म भी अतिचार का जिन कल्पी को जघन्य से भी 'चतुर्गुरु' का प्रायश्चित्त आता है । इत्यादि जिन कल्पी का स्वरूप कहा । अब दूसरा, शुद्ध पारिहारिक का स्वरूप कहते हैं-

पारिहारिक अर्थात् परिहार विशुद्ध नामक चारित्र वाले साधु दो प्रकार के होते हैं । एक निर्विशमान अर्थात् विवक्षित् अमुक तप को पूर्ण कर दिया हो । ऐसे कल्प वालों का समुदाय नौ साधु का होता है, उसमें चार तप करने वाले, चार उनकी अनुचार्या अर्थात् वैयावच्च करने वाले और एक कल्प स्थित वाचनाचार्य होता है । वह सारे श्रुत के अतिशय वाले होकर भी आचार ऐसा है कि उनमें से किसी एक की कल्प स्थित-वाचनाचार्य पद पर स्थापना करना । इस पारिहारिक कल्प में प्रवेश (उसको स्वीकार) करने वाले का तप जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट- इस तरह तीन प्रकार का होता है । उसमें ग्रीष्म काल में अनुक्रम से जघन्य चतुर्थ भक्त, मध्यम षष्ठ भक्त और उत्कृष्ट अष्ट भक्त होता है, शीतकाल में अनुक्रम से षष्ठ भक्त, अष्ट भक्त और दस भक्त होता है और वर्षा काल में जघन्य अष्ट भक्त, मध्यम दस भक्त एवं उत्कृष्ट द्वादश भक्त होता है । पारण में तीनों काल में आयंबिल करने को कहा है, तथा भिक्षा ग्रहण जिन कल्प के समान सात में से आखिरी पांच एषणा में से किन्ही दो का अभिग्रह करके एक से आहार और दूसरे से पानी ग्रहण करे । यह तप कल्प करने वालों के लिए समझना । शेष वाचनाचार्य और वैयावच्च करने वाले मिलकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पूर्व कहे अनुसार वे पांच तो अभिग्रह करके दो एषणा से आहार-पानी ग्रहण करें और हमेशा आयंबिल करें। इस तरह छः महीने तक तप पूर्ण करके तप करने वाले वैयावच्च और वैयावच्च करने वाले उस कल्प को स्वीकार कर तप प्रारंभ करें। वाचनाचार्य जो हो वही रहे। इस तरह छः महीने तक दूसरे चार आराधना करें। कुल बारह महीने पूर्ण होने पर, जो वाचनाचार्य हो वह छह महीने पारहारिक कल्प पूर्व कहे अनुसार तप करे। शेष आठ में से एक को वाचनाचार्य स्थापित करे और सात वैयावच्च करे। उसमें भी तप करने वाले आहार पानी अलग करें और वाचनाचार्य तथा वैयावच्च करने वाले साथ में खायें। इस तरह यह कल्प कुल अट्ठारह महीने का है। कल्प पूर्ण होने के बाद पुनः उस कल्प को स्वीकार करे, जिन कल्प को स्वीकार करे अथवा वापिस गच्छ में मिल जाय।

यह परिहार विशुद्धक चारित्र वाला दो प्रकार का होता है, एक अमुक काल तक और दूसरा जावज्जीव तक कल्प पालने वाला। उसमें यदि कल्प पूर्ण होते अट्ठारह मास बाद फिर वही कल्प स्वीकार करे अथवा यदि वापिस गच्छ में आ जाए, वह अमुक काल वाला-इत्वरिकऔर जो जिन कल्प को स्वीकार करे वह जीवज्जीव तक के यावत् कथिक जानना। उसमें भी यदि प्रथम प्रकार का इत्विरिक हो, वह इस कल्प की महिमा से ही उपसर्ग और आतंक रहित हो वह जिन कल्प स्वीकार करे उस यावत् कथिक को तो जिन कल्प की मर्यादा समझना अर्थात् जिन कल्पी के समान उनको उपसर्ग और आतंक हो अथवा न भी हो। इस कल्प का स्वीकार तीर्थंकर के समीप में अथवा तीर्थंकर के समीप में परिहार विशुद्धक कल्प स्वीकार किया हो उनके पास में ही होता है, दूसरे के पास में नहीं होता। इसकी प्ररूपणा के लिए भी जिन कल्पी के लिये जो कहे हैं वे बीस द्वार यहां कहते हैं, उसमें-

१. क्षेत्र द्वार- परिहार कल्प वाला जन्म से और सद्भावना से पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्रों में पहले-अन्तिम तीर्थंकर के काल में तीसरे चौथे आरे के अन्त में होता है, अर्थापत्ति से मध्यम तीर्थंकरों के शासन में और महाविदेह क्षेत्र में नहीं होता। उनको संहरण नहीं होता।

२. काल द्वार- अवसर्पिणी में तीसरे और चौथे आरे में जन्म में और कल्प पालन करने वाला तीसरे-चौथे के उपरान्त पांचवें आरे में भी होता है। उत्सर्पिणी में दूसरे, तीसरे अथवा चौथे आरे में जन्म लेने वाला और कल्प का पालन करने वाला तीसरे अथवा चौथे आरे में होता है। महाविदेह में उसका अभाव होने से चौथे आरे में तीर्थंकरों के शासन में भी वह नहीं होता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. चारित्र द्वार- परिहार कल्प वाले को चारित्र एक ही परिहार विशुद्धिक होता है। उसके संयम (अध्यवसाय) स्थानक प्रथम दो चारित्र के जघन्य असंख्यात संयम स्थानक के बाद के भी असंख्यात् लोकाकाश प्रदेश स्थान को छोड़कर उसके बाद के असंख्यात् लोकाकाश के प्रदेश जितने होते हैं अर्थात् चारित्र के अध्यवसाय स्थानकों में प्रथम सामायिक और छेदोपस्थापनीय इन दो चारित्र के जघन्य अध्यवसाय स्थानक असंख्यात् होते हैं। उसके बाद के असंख्यात् लोकाकाश के प्रदेश जितने असंख्यात छोड़ कर, उसके पीछे के असंख्यात् लोकाकाश के प्रदेश जितने असंख्यात् स्थानक परिहार विशुद्ध योग्य होते हैं। उसके पहले दो चारित्र वाले को भी होता है, परन्तु उनको वह मध्यम गिना जाता है अर्थात् परिहार विशुद्ध के स्थान पर सामायिक और छेदोपस्थापनीय वाले को होता है, किन्तु उनको वह मध्यम गिना जाता है। उसके बाद के असंख्यात् लोकाकाश के प्रदेश जितने अध्यवसाय स्थानक प्रथम के दो चारित्र में उत्कृष्ट स्थान रूप में कहा है और इससे पूर्व स्थानक को सूक्ष्म सम्पराय चारित्र के योग्य कहा है। (बृहत्कल्प भाष्य गा० १४३३)।

४. तीर्थ द्वार- यह तप करने वाला नियम से जब तीर्थ शासन चलता हो तब ही होता है, तीर्थ का विच्छेद होने के बाद अथवा स्थापना से पहले तीर्थ के अभाव में जाति स्मरण आदि से भी नहीं होता।

५. पर्याय द्वार- जघन्य से गृहस्थ पर्याय उन्तीस वर्ष का तथा साधु पर्याय बीस वर्ष का होता है और उत्कृष्ट से गृहस्थ और साधु दोनों का पर्याय अंश कुछ कम पूर्व करोड़ वर्ष का होता है।

६. आगम द्वार- इस चारित्र वाला नया श्रुत ज्ञान नहीं पढ़ता, क्योंकि ग्रहण किए कल्प की उचित आराधना करने से ही वे कृतार्थ होते हैं। जो पूर्व में पढ़ा हो उसकी विस्मृति न हो या नाश न हो जाय- इसके लिए हमेशा एकाग्र मन से उसका स्मरण करते हैं।

७. वेद द्वार- प्रवृत्ति काल में-परिहार कल्प पालन करते पुरुष और नपुंसक ये दो होते हैं, क्योंकि स्त्रियों को इस चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। पूर्व में जिसने कल्प स्वीकार किया हो या पूर्ण किया हो, वह तो दो वेद वाला अथवा अवेदी भी हो सकता है।

८. कल्प द्वार- इस चारित्र वाला स्थिर कल्प में ही होता है, परन्तु अस्थित कल्प में नहीं होता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

९. लिंग द्वार- नियम से द्रव्य और भाव-दोनों लिंग होते हैं, एक का भी अभाव नहीं होता ।

१०. लेश्या द्वार- तीनों शुद्ध लेश्या के उदय समय में यह कल्प स्वीकार किया जाता है, पूर्व प्रतिपन्न (उसके बाद) तो छहों लेश्या वाला भी होता है ।

११. ध्यान द्वार- बढ़ते धर्म ध्यान से इस कल्प का स्वीकार होता है । पूर्व प्रतिपन्न तो आर्त-रौद्र ध्यानी भी होता है किन्तु वह ध्यान निरनुबन्धी होता है, परंपरा वाला नहीं होता ।

१२. गणना द्वार- जघन्य से तीन ही गण और उत्कृष्ट से एक सौ गण भी स्वीकार करता हो, स्वीकार किए तो जघन्य से और उत्कृष्ट से सैकड़ों गण होते हैं । पुरुष की अपेक्षा से जघन्य से द्वारा स्वीकार करते २७ हैं । उत्कृष्ट से हजारों (यहां मूल प्रति में 'सहस्र' शब्द है वह अशुद्ध दिखता है क्योंकि बृहत्कल्प भाष्य की गाथा १४३६ की टीका के अन्दर 'सहस्रपृथकत्व' शब्द का पाठ है तथा ऊपर गण सैंकड़ों कहा है तो एक गण के नौ नौ साधु गिनते भी हजारों की संख्या होती है, इसलिए यहां दो हजार से नौ हजार संगत दिखता है ।) और स्वीकार किए जघन्य से सैंकड़ों और उत्कृष्ट से हजार होते हैं । जब कल्प में से कोई एक निकल जाय दूसरा प्रवेश करता है, तब तो स्वीकार करने वाला जघन्य से अथवा दो से नौ भी होता है और अकेले द्वारा अंगीकार किए भी जघन्य-उत्कृष्ट इस तरह विकल्प से होता है ।

१३. अभिग्रह द्वार- परिहार विशुद्धिक को द्रव्यादि अभिग्रह नहीं होता । क्योंकि यह कल्प अभिग्रह रूप होने से उसके ही पालन से कृतार्थ बना है ।

१४. प्रव्रज्या और १५. मुंडापन द्वार- इस कल्प में रहने वाले किसी को दीक्षा नहीं देते और मुंडन भी क्रिया नहीं है ।

१६. प्रायश्चित्त द्वार- मन से भी सूक्ष्म अपराध होने पर नियम से इस कल्प वाले को 'चतुर्गुरु' प्रायश्चित्त कहा है, क्योंकि 'इस कल्प में एकाग्रता की मुख्यता है और इस कारण से एकाग्रता टूटने से महादोष माना गया है ।

१७. कारण द्वार- कारण अर्थात् आलम्बन (निमित्त), उसमें अति पुष्ट शुद्ध निमित्त ज्ञान आदि को गिना जाता है, परन्तु नया पढ़ना आदि तो इस कल्प वाले को नहीं होता अर्थात् कल्प का पालन निरपवाद करना होता है, इसलिए ऐसे निमित्त का आश्रय इस कल्प में नहीं होता ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१८. निष्प्रति कर्म द्वार- इस कल्प की आराधना करने वाला महात्मा नेत्र का मैल उतारने जैसी भी शरीर की सार संभाल नहीं करते ।

१९. भिक्षाटन और **२०. विहार द्वार**- इस कल्प वाले ये दोनों कार्य तीसरे प्रहर में ही करते हैं और शेष प्रहरों में कार्योत्सर्ग करते हैं । निद्रा भी अल्प होती है, जंघा बल क्षीण होने पर भी अपवाद मार्ग का आश्रय नहीं करते । स्थिर वास रहकर भी कल्प के आचार अनुसार अपने योग की साधना करते हैं । इस तरह परिहार विशुद्ध चारित्र का स्वरूप कहा है । अब यथालंदिक का स्वरूप कहते हैं-

उसमें 'लंद' का अर्थ सिद्धान्त की परिभाषा से 'काल' कहा है । वह काल जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट- इस तरह तीन प्रकार का है । उसमें पानी से भीगा हाथ इस लोक में सामान्य से जितने समय में सूख जाय, उतना काल 'जघन्य' समझना । जघन्य काल अति सूक्ष्म समय आदि को भी कहते हैं, फिर भी इस कल्प वाले को जघन्य काल ऊपर कहे अनुसार है । उसका कारण यह है कि उसका पचक्खान या अमुक नियम आदि में इतना जघन्य काल विशेषतया उपयोगी है । उत्कृष्ट काल तो पूर्व करोड़ वर्ष प्रमाण जानना । वह भी अधिक से अधिक यह चारित्र इतने काल तक ही होता है- इस अपेक्षा से समझना । अन्यथा तो पल्योपम, सागरोपम आदि महाकाल को भी कह सकते हैं । इन दोनों के बीच का सर्व काल मध्यम समझना । उसमें यहां उत्कृष्ट यथालंद पांच अहोरात्रि का होता है, क्योंकि इस कल्प में उसका ही उपयोग किया जाता है । उसमें यह कारण है कि पूर्व में चित्र सहित बताया है कि भिक्षाटन की 'पेटा-अर्द्धपेटा' आदि किसी एक वीथिक्रम से भिक्षा लेने के लिए पांच रात दिन तक ही भ्रमण करे, इसलिए विवक्षित यथालंद (काल) पूर्ण होन से वे यथालंदिक बनते हैं । इन वालों का गच्छ पांच पुरुष प्रमाण होता है । पंच वस्तु में कहा है कि-

जम्हा उ पंच रत्तं, चरंति तम्हा उ हुंतिऽहालंदी ।
पंचेव होइ गच्छो, तेसिं उक्कोस परिमाणं ॥१५४०॥

अर्थात्- "एक वीथि में पांच अहोरात्र भिक्षार्थ भ्रमण करने से उत्कृष्ट यथालंद पांच दिन का होता है और उनका गण-समुदाय पांच पुरुषों का होता है । उनका यह उत्कृष्ट प्रमाण समझना ।" यथालंदकों की सर्व मर्यादा जिन कल्प वाले के समान ही समझना। केवल सूत्र, भिक्षा और मास कल्प में भिन्नता है । पंच वस्तु में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जा चेव जिण कप्पे, मेरा सच्चेव लंदिआणं पि ।
णाणत्तं पुण सुत्ते, भिक्खाचरि मास कप्पे अ ॥१५४१॥

अर्थात्- ''जिन कल्प में जो मर्यादा है वही मर्यादा यथालंदिकों की भी है। केवल सूत्र, भिक्षाचरी और मास कल्प- इन तीन में भिन्नता है ।''

यथालंदिक दो प्रकार का है- एक गच्छ से प्रतिबद्ध और दूसरा अप्रतिबद्ध। उस प्रत्येक के भी जिन कल्पी और स्थविर कल्पी दो प्रकार होते हैं । उसमें जो यथालंदिक कल्प के बाद जिन कल्प स्वीकार करे उसे जिन कल्पी और जो गच्छ का आश्रय ले उसे स्थविर जानना । जिसका अर्थ ज्ञान अंश से यदि शेष हो तो वह पूर्ण करने के लिए पुनः गच्छ का आश्रय ले, अन्यथा जिन कल्पिक बने । पंच वस्तु में कहा है कि-

पडिबद्धा इयरेवि अ, एक्किक्का ते जिणा य थेरा य ।
अत्थस्स उ देसंमी, असमत्ते तेसिं पडिबन्धो ॥१५४२॥

अर्थात्- ''यथालंदिक गच्छ के प्रतिबन्ध वाले और प्रतिबंध के बिना होते हैं। उन दोनों के जिन तथा स्थविर-इस तरह दो भेद होते हैं । अर्थ ज्ञान कुछ कम(अपूर्ण) होने से उनको गच्छ का प्रतिबंध होता है ।''

यदि लग्न बल, चन्द्र बल आदि मुहूर्त्त पहला अच्छा हो और दूसरा शुभ मुहूर्त्त दूर हो तो संपूर्ण सूत्रार्थ ग्रहण किए बिना भी उस कल्प को स्वीकार करे । फिर उस कल्प को स्वीकार कर गुरु जहां विराजमान हों उस क्षेत्र के बाहर ही विशिष्ट क्रिया का पालन करते हुए शेष के अर्थ को पढ़े । उसमें विधि यह है कि-आचार्य स्वयं वहां जाकर उनको शेष अर्थ पढ़ावें, क्योंकि वे अर्थ पढ़ने के लिए यदि गांव में आएं तो इस तरह से दोष लगता है । वहां आने के बाद उनको वंदन करने वाले गच्छ वासी साधुओं को प्रतिवंदन (अनुवंदन) न करे तो लोग में गर्हा-निंदा होती है कि-'ये साधु लोक व्यवहार को भी नहीं जानते, अथवा दूसरे गच्छ वासी साधु शील सदाचार से रहित हैं' इत्यादि लोगों में बदनामी होती है । उनकी मर्यादा तो ऐसी है कि एक आचार्य के अलावा अन्य किसी को वह वंदन न करे और यदि गच्छवासी साधु बड़े हो, तो भी यथालंदिक को वंदन करे अर्थात् गांव में आने के बाद जब गच्छ वासी वंदन करें तब यदि प्रतिवंदन करे तो मर्यादा खत्म होती है और यदि वंदन न करे तो लोगों में बदनामी होती है, इसलिए आचार्य को स्वयं जहां यथालंदिक रहे वहां जाकर अर्थ पढ़ाना चाहिए । यदि आचार्य वृद्ध होने से वहां न जा सके तो यथालंदिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गांव की ओर बीच की पल्ली तक आए और आचार्य वहां तक जाकर अर्थ पढ़ावें। फिर दोनों अपने अपने मूल स्थान पर वापिस आएं। बीच की पल्ली अर्थात् आचार्य के क्षेत्र से अढ़ाई कोस रहना, बीच का गांव-खेड़ा-छोटा गांव है। यदि वहां भी आचार्य नहीं आ सके तो यथालंदिक को मूल-आचार्य के क्षेत्र से दो कोस दूर क्षेत्र में आना चाहिए। आचार्य यदि वहां भी न आ सके तो मूल क्षेत्र के बाहर किसी प्रदेश में यथालंदिक आए और वहां जाकर आचार्य को पढ़ाना चाहिए। इतनी भी शक्ति न हो तो आचार्य के मकान में भी यथालंदिक आए और वहां आचार्य उसे शेष अर्थों को पढ़ावें।

इस तरह पूर्ण अर्थ करने के बाद वह गच्छ से मुक्त होकर विचरण करे। यहां सूत्र के विषय में जिन कल्पी से भिन्नता कही है। भिक्षा के विषय में भिन्नता इस तरह है कि दोनों प्रकार के यथालंदिक भी ऋतुबद्धकाल में बड़े गांव आदि जिस क्षेत्र में रहे हों उस क्षेत्र के घरों की पंक्ति रूप (पेटा, अर्धपेटा, अंतर शंबूका, बाह्य शंबूका, पतंग वीथि और गो मूत्रिका, ये छः गली-मौहल्ले की कल्पना करके एक एक गली में पांच पांच दिन भिक्षा के लिए भ्रमण करे और वहीं ही रहे। इस तरह एक गांव में छः गली-मौहल्लों में एक मास कल्प पूर्ण करे। कल्पभाष्य में कहा है कि-'**एक्केक्कं पंच दिणे पणएण य निद्दिठओ मासो**' अर्थात् 'प्रत्येक गली-मौहल्ले में पांच पांच दिन भ्रमण करते छः वीथियों में एक मास पूर्ण होता है।'

जो यथालंदिक गच्छ प्रतिबद्ध होता है उनको तो स्वयं जहां रहा हो उस क्षेत्र से एक कोस और एक योजन-पांच कोस तक आचार्य का अवग्रह गिना जाता है, अर्थात् इतने अवग्रह में उन आचार्य का अधिकार माना जाता है। वहां से जो वस्तु मिले वह वस्तु आचार्य श्री की मानी जाती है। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

गच्छे पडिबद्धाणं अहलंदीणं, तु अह पुण विसेसो।
उग्गह जो तेसिं तु, सो आयरियाण आभवइ ॥६१६॥

अर्थात्-''गच्छ प्रतिबद्ध यथालंदिक की यह विशेषता है कि उनके अवग्रह में सेवा योजन क्षेत्र में आचार्य का अधिकार माना जाता है।''

गच्छ से अप्रतिबद्ध (छूट) को तो जिन कल्पी के समान क्षेत्र का अवग्रह होता ही नहीं है तथा जिन कल्पी व यथालंदिक नियमा शरीर के प्रतिकर्म-सार संभाल से रहित होते हैं। स्थविर-यथालंदिक व्याधिग्रस्त-यथालंदिक साधु को परिचरण-वैयावच्च के लिए गच्छ को सौंपना चाहिए और उसके स्थान पर अन्य साधु को अपने यथालंदिक गण में स्वीकार करे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्थविर यथालंदिक एक एक पात्रधारी और वस्त्रधारी होते हैं तथा जिन कल्पिक यथालंदिक को तो जिन कल्प के समान सेवन करने वाला समझना अर्थात् पात्रधारी एवं वस्त्रधारी होते हैं अथवा पानी पात्री हो उसके बिना वस्त्र-पात्र भी नहीं रखते। गण के आश्रय से यथालंदिक के जघन्य से तीन गण और उत्कृष्ट से शत पृथकत्व गण होता है। पुरुष की गणना से पंद्रह और उत्कृष्ट से सहस्र पृथकत्व होता है। परन्तु कल्प पूर्ण होते ही यदि कोई साधु जिन कल्प स्वीकार करे अथवा गच्छ में आ जाय तो उसके स्थान पर अन्य को मिलाते, जघन्य से प्रतिपद्यमान-स्वीकार करते एक दो आदि भी होते हैं और उत्कृष्ट से सैंकड़ों भी होते हैं। पूर्व प्रतिपन्न अर्थात् पालन करते या पालन कर दिया हो उनको जघन्य से और उत्कृष्ट से भी करोड़ पृथकत्व ही होता है। इस तरह निरपेक्ष यति धर्म की पद्धति कही। अब उस धर्म के भिन्न भिन्न सूत्रों में से संक्षिप्त रूप में समझाने के लिए ग्रन्थकार तीन श्लोक के द्वारा कहते हैं कि-

स चाल्पोपधिता, सूत्र गुरु तोग्रविहारिता ।
अपवाद परित्यागः, शरीरेऽप्रति कर्मता ॥१५५॥

देशनायामप्रबन्धः सर्वदा चाप्रमत्तता ।
उर्ध्व स्थानं चं बाहुल्याच्छुभ ध्यानै कतानता ॥१५६॥

उद्धृताद्येषणा भिक्षा, क्षेत्रे षड्भाग कल्पिते ।
गमनं नियते कालं, तुर्ये यामे व्ववस्थितिः ॥१५७॥

मूलार्थ- "उस निरपेक्ष यति धर्म में अल्प उपधि है, अपना ज्ञान ही गुरु है, उग्र विहार, अपवाद मार्ग का त्याग, शरीर की सार संभाल का अभाव, उपदेश सुनने में आया हो उसके ऊपर भी राग का अभाव, सर्वदा अप्रमत्त भाव, अधिकतया खड़े रहना, शुभ ध्यान में एकाग्रता, उद्धृतादि किन्हीं दो एषणा द्वारा क्षेत्र के छह विभाग की कल्पना कर आहार पानी लेना, नियत काल में विचरणा और चौथे प्रहर में स्थिर रहना इत्यादि दृढ़-मजबूत बनकर पालन करना चाहिए।"

व्याख्या- निरपेक्ष यति धर्म में '**अल्पोपधिता**' आदि जो तीन श्लोक में कहा है, उसके अनुसार ही मर्यादा है। वह इस तरह से-अल्प अर्थात् स्थविर कल्प की अपेक्षा से वस्त्र-पात्र आदि कम रखने रूप अल्प उपधि कहा है। मूल उपधि का प्रमाण तो इस ग्रन्थ में पहले कहा ही है। सूत्र का अर्थ आगम है, यही गुरु है, अर्थात् सर्व प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में आगम ही उनका उपदेशक-मार्ग दर्शक है, इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार आगम विहारी होते हैं । तथा उग्र विहारी-सदा विचरणे के स्वभाव वाले हों। विहारी और 'उग्र' अर्थात् गांव में एक रात्रि, नगर में पांच रात्रि आदि उग्र विहार से विचरने वाले उग्र विहारी होते हैं । यहां कहने का मतलब यह है कि जब प्रतिमा कल्प रूप निरपेक्ष यति धर्म स्वीकार किया हो, तब ऋतुबद्ध (शेष) काल के अन्दर गांव में अज्ञात रूप में एक अथवा दो रात्रि में रहे । कहा है कि-"**नो एगरायवासी एगं च दुगं च अन्नाए**" अर्थात्-'प्रगट रूप में एक अहोरात भी न रहे, अज्ञात रूप में एक अथवा दो रात्रि में रहे । दशश्रतु स्कंध के सातवें अध्ययन में तो प्रगट रूप में एक अहोरात और अज्ञात रूप में रहे तो एक अथवा दो अहोरात एक गांव में रहे-इस तरह कहा है । जिन कल्पिक यथालंदिक और परिहार विशुद्धक निरपेक्ष धर्म वाला तो ज्ञात और अज्ञात रूप में भी एक गांव में एक मास रहे । अपवाद अर्थात् उत्कृष्ट की अपेक्षा से शिथिलवाद का त्याग करे क्योंकि निरपेक्ष यति धर्म वाला सापेक्ष यति के समान उत्सर्ग मार्ग में यदि कार्य सिद्ध न हो तो भी अपवाद मार्ग का आश्रय नहीं लेता । अपवाद को स्वीकार करने से अल्पदोष और बहुत लाभ वाला कार्य भी न करे । किन्तु केवल उत्सर्ग से प्राप्त होने वाले अकेले लाभ को ही साधना है । तात्पर्य यह है कि अपवाद सेवन रूप थोड़ा भी दोष नहीं लगाने देते । इसलिए ही शरीर की अप्रतिकर्मिता (रक्षा बिना के) होते हैं । इस कारण से कोई ग्लान अवस्था (बीमारी) में रोग भी रोग का प्रतिकार-चिकित्सा न करते हैं और करवाते भी नहीं हैं ।

उपदेश अर्थात् धर्म कथा करने में श्रोता के प्रति राग नहीं होता, अर्थात् ऐसे उत्तम प्राणी धर्म सुनने में आए फिर भी उनकी दाक्षिण्यता नहीं करते । निरपेक्ष यति निश्चय से एषणा आदि के कारण बिना किसी के साथ में नहीं बोलते, शास्त्र में कहा है कि- "**एगवयणं दुवयण**" अर्थात् एक, दो शब्द-वाक्य आदि अमुक प्रमाण में ही बोलते हैं । सर्वदा अर्थात् रात और दिन में अप्रमत्त होते हैं अर्थात् निद्रा आदि प्रमाद सेवन नहीं करते तथा बाहुल्यात अर्थात् प्रायः कर अधिक समय का उस्सग्ग मुद्रा में खड़े रहते हैं । किसी समय जिन कल्पिक आदि बैठे तो भी नियम से उत्कटुकासन अर्थात् जमीन से लगी हुई एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं, तब उत्कटुकासन होता है वैसे- बैठते हैं, आसन पर नहीं बैठते, क्योंकि उनको औधिक उपकरण-आसन होता ही नहीं । शुभ ध्यान अर्थात् धर्म ध्यान आदि में एक तान रहते हैं । 'तान' अर्थात् चित्त का संचार उनका एकाग्र होता है । यानि धर्म ध्यान में ही एक मात्र एकाग्रता-उत्तरोत्तर चित्त की स्थिरता होती है । संसृष्ट असंसृष्ट,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन दो एषणाओं को छोड़कर शेष उद्धृत, अल्पलेपा, उद्गृहीत: प्रगृहीता, और उज्झित धर्मा- इन पांच एषणाओं से भिक्षा ग्रहण करे। मतलब यह है कि इन पांचों में से किन्हीं दो एषणाओं का अभिग्रह करके एक एषणा से भोजन और दूसरे से पानी को ग्रहण करे। ऐसी भिक्षा कहां से लेनी चाहिए ? वह कहते हैं कि स्वयं गांव आदि जिस क्षेत्र में रहे, उसके स्व बुद्धि से छः विभाग की कल्पना कर छः दिनों में अलग-अलग एक-एक विभाग से भिक्षा ग्रहण करे। नियत अर्थात् तीसरे प्रहर में नियत काल में ही गमन करे अर्थात् आहार संचार की क्रिया प्रारंभ करे। कहा है कि-''**भिक्खापंथो अतइयाइ**'' अर्थात् 'भिक्षा एवं पंथ में चलना (विहार) यह तीसरे प्रहर में ही करें।' दिन के चौथे प्रहर में तो अवस्थित (स्थिर) रहे अर्थात् जहां पर हों वहीं खड़े रहें। इस तरह निरपेक्ष यति धर्म की मर्यादा है। इस तरह का इसका सम्बन्ध जानना। अब इस धर्म की प्ररूपणा (कथन) का उपसंहार करते हैं कि-

संक्षेपान्निरपेक्षाणां, यतीना धर्म ईरितः ।
अत्युग्र कर्म दहनो, गहनोग्र विहारतः ॥१५८॥

मूलार्थ- ''यह पालन करने में कष्टकारी होने से अति कठोर कर्म को भी जलाने में समर्थ निरपेक्ष साधुओं का धर्म इस तरह संक्षेप में कहा है।''

व्याख्या- जिन कल्पिक आदि गच्छ चार से निरपेक्ष साधुओं का 'अल्प उपधि रूप' आदि धर्म संक्षेप से अर्थात् अल्प मात्र कहा है। यह धर्म कैसा है ? अति उग्र कठोरतम दुःख देने वाले कर्म को जलाने वाला नाश करने वाला है। किस कारण से ? 'गहन' अर्थात् मुश्किल से पालन हो सके, ऐसा उग्र विहार कठोरतम आचरण वाला है इसलिए अति उग्र कर्म को तोड़ने वाला है।

इति परम गुरु भट्टारक श्री विजयानंद सूरीश्वर जी शिष्य मुख्य पण्डितवर्य श्री शान्ति विजय गणि चरण सेवि महामहोपाध्याय श्रीमान् विजय गणि विरचित स्वेपज्ञ श्री धर्म संग्रह की वृत्ति में निरपेक्ष यति धर्म वर्णन नामक चौथा अधिकार (तीसरा विभाग) समाप्त हुआ।

अब सकल शास्त्रार्थ (ग्रन्थ) को समाप्त करते हुए कहते हैं कि-

इत्येष यदि धर्मोऽत्र, द्विविधोपि निरूपितः ।
ततः कात्स्न्येन धर्मस्य, सिद्धिमाप निरूपणम् ॥१५९॥

मूलार्थ- ''इस तरह यहां दोनों प्रकार का-सापेक्ष व निरपेक्ष यति धर्म कहा ७४है। इससे धर्म का निरूपण-कथन सम्पूर्ण सिद्ध हुआ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याख्या- जिस तरह पूर्व में कहा है उसी प्रकार अर्थात् इस शास्त्र में यहां प्रत्यक्ष कहा है, वह सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार का यतिधर्म- जिसकी व्याख्या प्रारंभ में कही है वह साधुओं को धर्म कथन किया अर्थात् प्रथम भाग में सामान्य गृहस्थ धर्म, दूसरे भाग में विशेष गृहस्थ धर्म निरूपण किया है और इस तीसरे भाग में दो प्रकार का यति धर्म कहने से ग्रन्थ के आदि में 'धर्म का कथन कहेंगे।' ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी, वह प्रतिज्ञा सर्व प्रकार से सिद्ध हुई अर्थात् सम्पूर्ण हुई।

इस तरह श्री धर्म संग्रह प्रकरण मूल सूत्र (श्लोकों) से और वृत्ति अर्थात् टीका से समाप्त हुआ। संस्कृत अक्षरों को गिनने से इस ग्रन्थ में चौदह हजार छः सौ और दो (१४६०२) अनुष्टुप का (बत्तीस अक्षरों का एक अनुष्टुप होता है) प्रमाण गिना है एवं संशोधन युक्त श्लोक मिलाने से कुल पंद्रह हजार छः सौ और आठ होते हैं।

ग्रन्थकार की प्रशस्ति

श्रीमद् वीर जिनेश्वर की पाट परम्परा रूपी सती स्त्री के शणगार स्वरूप सत्पुरुषों में अग्रेसर एवं सर्वत्र जग प्रसिद्ध पूज्य आचार्य श्री हीर विजय सूरीश्वर जी महाराज प्रभु श्री महावीर की ५८ वीं पाट पर हुए हैं कि-श्री केशी गणधर ने जैसे प्रदेशी राजा को प्रतिबोध कर के स्वर्ग सुख का भोक्ता बनाया था वैसे ही उन्होंने अति दुष्कर्म करने वाले 'अकबर' नामक मुसलमान बादशाह को भी धर्म का प्रतिबोध करके सुगति के योग्य बनाया था। (१)॥ उस सद्गुरु के पाट पर प्रौढ़ प्रताप शाली और सर्वत्र विजय प्राप्त करने वाले आचार्य श्री विजयसेन सूरीश्वर जी ने अत्यन्त शोभायमान और सूर्य जैसे अपनी किरणों से तारों को निस्तेज करता है वैसे ही उन्होंने बादशाह की विशाल सभा में वादियों को जीतकर निस्तेज बना दिया है। (२)॥ उनकी पाट पर, के पूर्वांचल ऊपर जैसे सूर्य का उदय होता है वैसे ही बहुत आचार्यों में अग्रेसर ज्ञान गुण से सूर्य समान आचार्य श्री विजय तिलक सूरीश्वर जी हुए हैं। उन्होंने सर्वत्र शुद्ध उपदेश रूपी किरणों को फैलाकर कुमति रूपी अंधकार का नाश करके भव्य जीव रूपी कमलों को विकसित बनाया है। (३)॥ उनकी पाट पर विजयी सद्गुरु महाराज आचार्य श्री विजयानंद सूरीश्वर जी हुए हैं जो महा यशस्वी, तेजस्वी, मधुर वचन वाले, सौम्य मूर्ति-मुखवाले, कषायों के विजेता, प्रशमता गुण से युक्त, विधि मार्ग का सुन्दर पालन करने वाले

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एवं तप गच्छ के नायक थे तथा सर्व राजा भी उनकी पूजा सेवा करते थे । (४) ॥ उनके पास सारे गुणों से महान् , शिष्ट पुरुषों से प्रशंसा का पात्र, जिनकी विजय लक्ष्मी सर्व दिशाओं में विशाल रूप में फैली, पुण्यशाली के उग्र प्रभाव वाले, सकल शास्त्रों के पारंगामी और मिथ्यात्व के जाल को नाश कर रहे हैं- ऐसे वर्तमान काल में आचार्य श्री विजयराज सूरीश्वर जी विजेय हो रहे हैं । (५) ॥ उनके बाद अतुल भाग्य के भंडार, बुद्धिमान और श्रीमान् विजय जिनका प्रसिद्ध नाम है उनको वर्तमान तप गच्छ के नायक श्री विजय राज सूरीश्वर जी ने अभी पट्टधर बनाया है । (६)॥

इस तरह जो पूर्व कहा है वे आचार्य श्री विजयानंद सूरी जी के शिष्य जो विनय गण से युक्त हैं, पंडितों में शिरोमणी हैं, उनका नाम श्री शान्ति विजय है, वह शासन में शोभायमान हैं । (७)॥ उन श्री शान्ति विजय जी में जन्म से लेकर शील, सत्य, मृदुता, क्षमा, सरलता और अत्यन्त गुरु भक्ति आदि अनेक सुन्दर गुण होने पर भी गुणार्थी को प्रोत्साहन देने के लिए, उन गुणों से प्रसन्न हुए उनके गुरु ने स्वयं गच्छ के सारे कार्य सौंपकर उनको समग्र भूतल पर प्रसिद्ध किया है । (८) ॥ उनके शिष्य उपाध्याय मान विजय नाम के हैं। उनका मैंने अति आदर-सम्मानपूर्वक इस ग्रन्थ में विवरण किया है । मति मंदता के कारण इस ग्रन्थ में जो क्षतियां रह गयी हों, उन्हें मेरे ऊपर कृपा करके बुद्धिमान सुधार लें (९) ॥

तर्क शास्त्र जैसे कठिन शास्त्रों के रहस्यों को भी समझाने में अति तीक्ष्ण एवं निपुण बुद्धि द्वारा जो समग्र दर्शनों में प्रमाणभूत प्रख्यात रूप बने हैं, तप गच्छ में जो अग्रेसर हैं, काशी में परदर्शनियों की सभा में वादियों को जीतकर जिन्होंने श्री जैन धर्म को सर्वत्र फैलाया है । (१०)॥ पूर्व के समर्थ विद्वानों द्वारा रचित तर्क-प्रमाण नय आदि कठिन विषयों का विवेचन करके पूर्व काल में हो गये उन श्रुत केवलियों के श्रुत केवली पने को उन्होंने प्रकाश में लाया है तथा उपाध्यायों की पंक्ति में मुख्य श्री यशो विजय जी वाचक ने इस ग्रन्थ का परिशोधन करके जो कमी थी, उसे परिपूर्ण करके मेरे ऊपर अतीव उपकार किया है । (११)॥ इसमें अधिक क्या कहूँ ? बालक के समान शास्त्रों में मंद गति वाला भी मैं समाचारी-चरण करणानुयोग के चिन्तन रूप इस अति गहन ग्रन्थ में गति कर सका हूँ, वह उनके हस्तावलम्बन का ही फल है अर्थात् उनकी सम्पूर्ण सहायता के बल से ही यह महा ग्रन्थ रचने में मैं सफल हो सका हूँ । (१२)॥ और [उपा० आगम, व्याकरण, छंद शास्त्र आदि सर्व शास्त्रों में निष्णात वाचकेन्द्र श्री लावण्य विजय जी वाचकवर्य ने इस ग्रन्थ को सम्यक् प्रकार से शुद्ध किया है ।] (१३) ॥ विक्रम संवत् १७३१ वर्ष में वैशाख

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शुद्ध तीज-अक्षय तृतीया के पवित्र दिन में पवित्र ग्रन्थ रचना का यह प्रयत्न सफल हुआ है । (१४) ॥

समग्र देशों में उत्तम श्री गूर्जत (गुजरात) देश के अन्दर अहम्मदाबाद (वर्तमान में इसे अहमदाबाद कहते हैं) नामक मुख्य शहर है, वहां श्रीमाल वंश में जन्म लेने वाला और शुभ कार्यों को करने वाला श्री 'मनिआ' नामक उत्तम बनिया (व्यापारी) था । (१५) ॥ उसके घर में हमेशा महान दानशाला चलती है, उसने श्री जैन शासन की उन्नति हो- इस तरह तीर्थाधिराज श्री शत्रुजंय गिरिराज आदि सर्व तीर्थों की यात्रा एवं अपनी प्राप्त हुई लक्ष्मी को सात क्षेत्रों में सद्व्यय आदि किया है, उसका वर्णन करना हमारे लिए अशक्य है । (१६) ॥ इस 'मनिया' श्रावक को सदाचारी, उत्तम गुणों के भंडार और पृथ्वी पर उसका नाम सुप्रसिद्ध है-ऐसा: 'श्री शान्तिदास' नाम का पुत्र हुआ । प्रसिद्ध 'श्री जगडुशा' सेठ से भी अधिक सत्कार्यों को करने वाले उसने रंकों को अन्न, वस्त्र, औषध आदि दान देकर दुष्काल का नाम निशान भी खत्म कर दिया तथा उत्तम जाति भाई एवं साधर्मिकों का अनेक प्रकार का वात्सल्य करके सत्कार सम्मान किया है । (१७) ॥ वृद्धावस्था में समस्त घर के कार्यों को अपने पुत्रों को सौंपकर हमेशा जिन सिद्धान्त (आगम शास्त्र) का श्रवण करना इत्यादि धर्म कार्यों में अति आदर-मान वाले बने हैं । उस श्री शान्ति दास सेठ को साधु धर्म और श्रावक धर्म- इस तरह दो प्रकार के धर्म की विधि (ग्रन्थ रूप संग्रह) रचना करवाकर, उसे श्रवण करने की तीव्र उत्कंठा जागृत हुई । इस योग से उसके प्रार्थना करने पर इस ग्रन्थ रचना में मेरा प्रयत्न हुआ है । (१८) ॥ अर्थात् उसकी प्रार्थना पर यह महाग्रन्थ लिखा गया है तथा ज्ञान की आराधना करने की बुद्धि वाले एवं विनयादि गुणों से युक्त श्री कान्ति विजय गणि ने इस ग्रन्थ को सबसे प्रथम पुस्तक रूप में लिखा है । (१९)॥

संपत्ति को धारण करने वाली पृथ्वी को समुद्र सहित जब तक शेष नाग ने अपने मस्तक पर धारण किया है, अपने अति उच्च सुवर्णमय शिखरों से देवों के मार्ग को जिसने स्पर्श किया है, ऐसे मेरु पर्वत जब तक कायम रहें और जगत को प्रकाश करते चन्द्र और सूर्य जब तक उस मेरु पर्वत के चारों तरफ भ्रमण करते रहें, वहां तक पंडित पुरुषों के द्वारा पढ़ते- अध्ययन करते यह ग्रन्थ भी जयवंत रहे ! शाश्वत बनें । (२०) ॥ जो ग्रन्थ के भावों के प्रगट करने में अति निपुण हैं और जो सम्यग् गुणों को ग्रहण करने वाले हैं, वे सत्पुरुष इस ग्रन्थ द्वारा मेरे ऊपर प्रसन्न हो जायें । खल पुरुषों का मुझे क्या प्रयोजन है ? जैसे मारवाड़ की भूमि में ग्रीष्म ऋतु के अन्दर बरसात के छींटे भी नहीं दिखते, वैसे ही जिसके चित्त में शुद्ध और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुन्दर वचन रूपी अमृत के रस द्वारा हमेशा तत्वा बोध रूप पानी जरा भी नहीं दिखता है। (२१) ॥

अब ग्रन्थकार ग्रन्थ की समाप्ति रूप अन्तिम मंगल करते हैं-

विलोक्यानेक शास्त्राणि विहिताद् ग्रन्थतस्त्विह ।
प्रेत्यापि बोधिलाभोऽस्तु, परमानन्द कारणम् ॥२२॥

अर्थात्- "अनेक शास्त्रों को देखकर लिखे हुए इस ग्रन्थ के फल रूप अन्य जन्म में भी मुझे परमानंद (मोक्ष) के कारणभूत बोधि (सम्यकत्व) का लाभ हो। यही मेरी अन्तिम इच्छा है। (२२) ॥"

इस तरह गुरु भट्टारक आचार्य श्री विजयानन्द सूरीश्वर जी के शिष्य, पंडित प्रवर श्री शान्ति विजय गणी के चरणोपासक, महोपाध्याय श्री मान विजय गणी विरचित स्वोपज्ञ श्री धर्म संग्रह तीसरा भाग पूर्ण होने के साथ यह महा ग्रन्थ समाप्त हुआ।

अनुवादक प्रशस्ति

इस तरह श्री धर्म संग्रह का श्रमण भगवान महावी स्वामी की शासन परम्परा के ७३वें पट्ट पर संवेगी शाखा में तपा गच्छाधिपति परम पूज्य प्रातः स्मरणीय न्यायाम्भो निधि पंजाब देशोद्धारक आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वर जी प्रसिद्ध नाम (आत्मा राम) जी महाराज हो गये हैं। उनके पट्ट पर युगवीर भारत दिवाकर कलि काल कल्पतरु आचार्य विजय वल्लभ सूरीश्वर जी महाराज हुए। उनके अनुपम पट्टधर मरुधर देशोद्धारक आचार्य देव श्री मद् विजय ललित सूरीश्वर जी महाराज हुए। उनके पट्टधर महान् तपस्वी ज्योतिष मार्तण्ड, वात्सल्य मूर्ति, सरलात्मा आचार्य श्री देव श्रीमद् विजय पूर्णानंद सूरीश्वर जी महाराज हुए। उनके पट्टालंकार कौशाम्बी, कम्पिला, इलाहाबाद आदि तीर्थोद्धारक, पंजाब जैन संघों के जन-जन में धर्म भावना प्रगट करने वाले, उत्तर प्रदेशोद्धारक, शासन दीपक महातपस्वी आचार्य देव श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी महाराज के शिष्य पंन्यास पद्मविजय ने हिन्दी अनुवाद वीर सम्वत् २५१६ विक्रम सम्वत् २०४६ कार्तिक शुद्ध पंचमी (ज्ञान पंचमी) पवित्र दिन दिनांक ३०-१०-१९९२, शुक्रवार को तमिलनाडु की राजधानी महिमामयी मद्रास नगरी के अन्दर, ३८ वेंकटाचलम् स्ट्रीट, सूलै श्री चन्द्र प्रभु जैन श्वेताम्बर मंदिर के पास उपाश्रय में गुरु त्रयी के जन्म तिथि का अष्टाह्निका मंगलमय महोत्सव की पूर्णाहुति के दिन यह ग्रन्थ भी संपूर्ण किया।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



For Private and Personal Use Only